श्री काशी संस्कृत ग्रन्थमाला ११८

गोभिलगृह्यसूत्रम्

[GOBHILA GṚHYASŪTRAM]

प्रथमे द्वितीये च प्रपाठके म० म० श्रीमुकुन्दझाबख्शीसंकलितया
'मृदुला' संस्कृतव्याख्योपेतम्

तथा च

तृतीये चतुर्थे च प्रपाठके-'सरला'-संस्कृत-'अनाकुला'-हिन्दीव्याख्यासहितम्



डॉ० सुधाकर मालवीयः



चौखम्भा संस्कृत संस्थान

पोस्ट बाक्स नं० ११३६

वाराणसी – २२१००१ (भारत)

The
KASHI SANSKRIT SERIES
118

GOBHILA GṚHYASŪTRAM

With the Sanskrit Commentary **Mṛdulā** of M. M. Shri Mukund Jha Bakshi on First & Second Prapāṭhaka
and
SARALĀ Sanskrit Commentary on Third & Fourth Prapāṭhka with **ANĀKULĀ** Hindi Translation

By
Dr. SUDHĀKARA MĀLAVĪYA
M. A. Ph. D. Sāhityācārya
Department of Sanskrit, Arts Faculty,
Banaras Hindu University
Varanasi - 5

CHAUKHAMBHA SANSKRIT SANSTHAN
Publishers and Distributors of Oriental Cultural Literature
Post Box No. 1139
K. 37/116, Gopal Mandir Lane (Golghar Near Maidagin)
VARANASI (INDIA)

Phone : 333445, 335930
Edition : Second, 1997 [Firstly with Hindi Translation]

Branch Office--
CHAUKHAMBHA SANSKRIT BHAWAN
Post Box No. 1160
Chowk (Banaras State Bank Bldg.)
VARANASI - 221001
Phone : 320414

श्रीमद्गुरुवर्याणां

श्रीमद्अप्पय्यदीक्षितकुलावतंसानां

प्रोफेसर पं० रामनाथ दीक्षितमहोदयानाम्

करकमलयोः सादरं समर्पयति –

सुधाकर मालवीयः

गृह्णन्ति सर्वे गुणिनं सदैव
न निर्गुणं वाञ्छति कोऽपि किन्तु ।
यो निर्गुणञ्चापि गुणीकरोति
प्रकीर्त्यतेऽसौ भुवने गरीयान् ॥

प्रस्तावना

परमकारुणिकस्य भगवतः श्रीमतो लक्ष्मीनारायणस्य चरणारविन्दप्रसादात् तत्रभवतो श्रीमद्गोभिलाचार्यकृत — गोभिलगृह्यसूत्रस्य भाषाभाष्यं मुद्रयित्वा प्राकाश्यं नीयते । यद्यपि पण्डितप्रकाण्डेन महामहोपाध्यायेन श्रीमता **मुकुन्दझाबख्शी**महोदयेन 'मृदुला' संस्कृत टीकापि सङ्कलिता तथापि सम्पूर्णस्यापि ग्रन्थस्य टीका नोपलभ्यते । अतः अत्र तृतीये चतुर्थे च प्रपाठके 'सरला' संस्कृतटीकापि नियोजिता वर्तते । ग्रन्थेऽस्मिन् निबद्धानां शास्त्रप्रमाणानां वेदमन्त्राणाञ्च यथा सम्भवमाकरस्थादिनिर्देशपूर्वकं तेषां व्याख्यानं पाठान्तरादिकञ्च समुपस्थापयितुं कृतः श्रमः। ग्रन्थान्ते गोभिलगृह्यसूत्रपाठः, गोभिलीयश्राद्धकल्पसूत्रपाठः, गोभिलीयसन्ध्यासूत्रपाठः अथ च गोभिलीयस्नानसूत्रपाठोऽपि नियोजितः ।

अथ गोभिलगृह्यसूत्रे **प्रथमप्रपाठके**ऽग्निसमाधानमुपक्रम्य तत्रावश्यकर्त्तव्यसायम्प्रात–होमादिदर्शपौर्णमासान्तो विधिरभिहितः । तत्र च जायायाः पाणिञ्जिघृक्षन्नित्याधानकालविशेषण–तयाऽभिहितम् । **द्वितीयप्रपाठके** विवाहाद्युपनयनान्तो दशकर्मविधिरनुक्तपूर्वम् उच्यते । **तृतीय–प्रपाठके** — इदानीमुपनयनसंस्कारसंस्कृतेन गुरुशुश्रूषुणा ब्रह्मचारिणा वेदव्रतादिकं तपश्चरतासाङ्गो वेदोऽधिगन्तव्यः । अतः अत्र समावर्तनविधिरुक्तः । पञ्चमकण्डिकायां स्नातकव्रतोपदेशः, ६ गवां पुष्टिप्रकारकथनम् ७, श्रवणाकर्मकथनम्, ८, आश्वयुजीकर्मकथनम् ९, आग्रहायणीकर्म कथनम् १०, अष्टकानिरूपणम् । तत्र दशमकण्डिकायां मांसाष्टकाप्रकरणे पशुसंज्ञपननिरूपणे अष्टकाहोमादि–विधिरभिहितः । अत एव् **चतुर्थप्रपाठके** वपाश्रपणीयहोमः अथ च मांसाष्टकाया अवश्यकर्त्तव्यतादिः उक्तः । द्वितीयकण्डिकायां अन्वष्टक्यनिरूपणम् ६–९ काम्यकर्मषु विधिकथनम् ७, वास्तुकर्माणि, अथ च दशमकण्डिकायां स्वस्त्ययनकर्म अर्हणप्रयोगश्च उक्तः ।

अत्र गोभिलेन द्वितीयप्रपाठके पुण्ये नक्षत्रे दारान् कुर्वीतेत्यनेन सूत्रेण दारकरणं सूत्र–यित्वा कन्यालक्षणं परीक्षामभिधाय, आसन्नविवाहायाः स्नपनरूपं ज्ञातिकर्मोक्त्वा पाणिग्रहणे पुरस्ताच्छालाया अग्निरुपसमाहितो भवतीति सूत्रेणाग्निस्थापनमभिधाय, अथ जन्यानामेको ध्रुवा–णामपां कलसं पूरयित्वेत्यादिना द्रव्यासादनं सूत्रयित्वा, अथ यस्याः पाणिं ग्रहीष्यन् भवति सशिरस्का साप्लुता भवतीत्यादिना स्नानं वासःपरिधापनञ्चाभिधाय, प्रावृतां यज्ञोपवीतिनीमभ्युदानयम् जपेदित्यनेन वध्वा अग्निसमीपनयनमभिधाय परतो विवाहेतिकर्तव्यतायाः सूत्रणात्, पारस्करेण च उपलिप्ते ।

उद्धृतावोक्षितेऽग्निमुपसमाधाय इत्यनेन सूत्रेणाग्निस्थापनमभिधाय, उदगयन आपूर्यमाणपक्षे पुण्याहे कुमार्याः पाणिं गृहणीयादिति पाणिग्रहणं कर्त्तव्यतया सूत्रयित्वा, अथैनां वासः परिधाप–यतीत्यनेन वासःपरिधापनमुक्त्वा, पित्रा प्रत्तामादाय गृहीत्वा निष्क्रामयतीत्यभिधानाद् गोभिलीयानां पारस्करीयाणाञ्च दानात् पूर्वमग्निस्थापनं कर्तव्यम् । यद्यपि गोभिलेन कन्यादानं नोक्तम्, तथाऽपि वासः परिधापनानन्तरमग्निसमीपनयनाभिधानात् पारस्करेण च प्रत्ताया निष्क्रमणाभिधानात् वासः

परिधापनानन्तरमग्निसमीपनयनाच्च पूर्वं पारस्करीयाणामिव गोभिलीयानामपि प्रदानं करणीयं भवति। उभयत्रैव तुल्यवदभिधानात्, यत्राऽऽम्नातं स्वशाखायामित्यादिच्छन्दोगपरिशिष्टाच्च। यजुर्वेदशाखापठितं खल्वग्निहोत्रं छन्दोगैः क्रियते, दातुरेतं कर्मेति कृत्वा तु दारकरणमुपदिदिक्षुर्गोभिलो न प्रदानं कन्यायाः सूत्रयाञ्चकार । शास्त्रान्तरोपदिष्टे त्ववसरे प्रदात्रा तत् करणीयम्, यतः कस्मिंश्चिदवसरे तेन तदवश्यं कर्तव्यम्, स चावसरः स्नानवासः परिधानात् परतोऽग्निसमीपनयनाच्च पूर्वत एव समीचीनः ।

तत्र विषयेष्वेषु कर्मप्रदीपे अथ च पारस्करगृह्यसूत्रेण सह विस्तृतसमालोचनमुपस्थापयितु-मीहा वर्त्तते, द्वितीयावृत्तौ चावसरे यदि तावत् कालमस्मान् भगवान् भूतभावनो शङ्करो निरुपद्र-वानविकलांश्च संरक्षेत् ।

दैवदुर्विपाकादस्मद्दृष्टिविषयवर्तिनी त्रुटिरपि वर्ततेऽस्मिन् ग्रन्थे । सा तु द्वितीयावृत्त्य-वसरे प्रदर्शयिष्यते । अन्ते स्खलनमत्र भाषाभाष्ये यत् पुनरस्माभिरननुभूतसंभाव्यं तद् भवद्भिः क्षन्तव्यं, ज्ञापयितव्यं च कृपयेति सविश्रम्भं प्रस्तौति –

भवतामनूचानानां विधेयः
सुधाकर मालवीयः

दीपावली
३०.१०.१९९७
सं० २०५४ कार्तिक

भूमिका

वेदसम्बन्धी अध्ययन के प्रारम्भिक काल से वेदार्थ—ज्ञान के महत्त्व का वैदिक विद्वानों ने निरन्तर प्रतिपादन किया है । अर्थज्ञान के बिना वेदों की आवृत्ति करने वाले को भारहार बताया गया है: —

स्थाणुरयं भारहार: किलाभूद्
अधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम् ।
योऽर्थज्ञ इत् सकलं भद्रमश्नुते
नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा ।।

ब्राह्मण ग्रन्थों से ही वेदार्थ की बहुमुखी व्याख्या का प्रारम्भ हुआ । तदनन्तर युगानुसार अध्येता की क्षमता को ध्यान में रख कर वेदाङ्गों का प्रणयन किया गया । वेदाङ्ग शब्द की यह व्युत्पत्ति इनके अर्थद्योतकत्व को ही अभिव्यक्त करती है — **'अङ्ग्यन्ते ज्ञायन्ते वेदा एभिरिति वेदाङ्गा: ।'** वैदिक कार्यकलाप के लिए प्रत्येक वेदाङ्ग का अपना अपना महत्त्व है ही, तथापि मानव के अभ्युदय एवं नि:श्रेयस् की प्राप्ति के उपायों के निर्देशक होने के साथ ही उसकी दैनन्दिन जीवनचर्या के भी दिग्दर्शक होने से कल्पसूत्रों का विशेष महत्त्व है । व्यक्तिगत कल्याण के साधनों का परिचय श्रौत, गृह्य तथा शुल्वसूत्रों में उपलब्ध है तथा सामाजिक परिवेश में मानव के कर्तव्याकर्तव्यों का निर्णय धर्मसूत्रों में वर्णित है, जिनके विषय का पल्लवन बाद में स्मृतियों में हुआ । इस प्रकार मनुष्य के व्यक्तिगत एवं सामाजिक ऐहिक तथा आमुष्मिक, सभी प्रकार के कल्याण के साधनों का कल्पसूत्रों में विशद वर्णन मिलता है । सूत्र शैली में विरचित इन कल्पसूत्रों में श्रौतयाग, वेदिसम्बन्धी ज्ञातव्यकर्म; गृह्यसंस्कार तथा वर्णाश्रम धर्म का सुव्यवस्थित वर्णन संक्षेप में अनायास उपलब्ध होता है । कल्पसूत्रों में भी गृह्यसूत्रों की सामग्री साधारण जन के लिए विशेष रूप से उपादेय है । वस्तुत: समाज में ऐसी मान्यता थी कि व्यक्ति को द्विजत्व की प्राप्ति तथा वेदाध्ययन का अधिकार गृह्य—संस्कारों के द्वारा ही मिलता था —

'जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेय: संस्काराद् द्विज उच्यते ।'
विद्याभ्यासी भवेद् विप्र: त्रिभिर्श्रोत्रियलक्षण: ।।

— पद्मपुराण, सृष्टिखण्ड ।

वेद के छ: अङ्ग हैं — १. शिक्षा, २. कल्प, ३. निरुक्त, ४. व्याकरण, ५. छन्द और ६. ज्योतिष । षड्गुरुशिष्य द्वारा वेद के इन अङ्गों को हाथ और पैर के समान कहा गया है —

छन्द: पादौ शब्दशास्त्रं च वक्त्रं
कल्पं पाणी ज्योतिषं चक्षुषी च ।

शिक्षा घ्राणं श्रोत्रमुक्तं निरुक्तं
वेदस्याङ्गान्याहुरेतानि षड् हि[१] ॥ १ ॥

वेद पुरुष के अङ्गों में 'कल्प' को हस्तस्थानीय माना गया है । जिस प्रकार हाथ के बिना कोई भी कार्य नहीं किया जा सकता उसी प्रकार 'कल्पशास्त्र' के ज्ञान के बिना कोई भी कार्य नहीं किया जा सकता । वेद का मुख्य प्रयोजन कर्मकाण्ड अथवा यज्ञीय प्रक्रिया है । षडङ्ग वेद में से कल्पशास्त्र में इसी यज्ञीय अनुष्ठान का व्यवस्थित वर्णन है।

कल्प— 'कल्प' वेदविहित कर्मों की क्रमपूर्वक व्यवस्था करने वाला शास्त्र है ।[२] अथवा **'कल्प्यते समर्थ्यते यागप्रयोगोऽत्र'** इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'कल्प' वह है जिसमें यज्ञ के प्रयोगों का समर्थन या कल्पना की जाय । यज्ञीय प्रयोगों के वर्णन ब्राह्मण ग्रन्थों में प्राप्त हैं । किन्तु ये विवेचन इतने जटिल हैं कि उनको स्पष्टत: क्रमपूर्वक व्यवस्थित करने के लिए 'कल्पसूत्रों' की रचना हुई । 'सूत्र—ग्रन्थों' में शास्त्रीय विषय को व्यवस्थित रूप में संक्षिप्तत: प्रस्तुत किया जाता है । अधिक अर्थ को संक्षेप से कहना ही 'सूत्र' है ।[३]

कल्पसूत्र

कल्पसूत्र मुख्यत: चार प्रकार के हैं —

१. **श्रौतसूत्र** — वेदोक्त अग्नित्रय—साध्य कर्मों (श्रौतयाग) के अनुष्ठानक्रम के बोधक 'श्रौतसूत्र' होते हैं ।

२. **गृह्यसूत्र** — एकाग्निसाध्य जातकर्मादि संस्कार—कर्मों के प्रतिपादक 'गृह्यसूत्र' होते हैं ।

३. **धर्मसूत्र** — साधारण वर्णाश्रम धर्म के प्रतिपादक 'धर्मसूत्र' होते हैं ।

४. **शुल्वसूत्र**— यज्ञ—वेदि के निर्माण की रीति के प्रतिपादक 'शुल्वसूत्र' होते हैं

वैदिक सूत्रसाहित्य का संक्षिप्त इतिहास

श्रौतसूत्र

ऋग्वेदीय श्रौतसूत्र दो हैं — १. आश्वलायन और २. शाङ्खायन । आश्वलायन श्रौतसूत्र आश्वलायन महर्षि द्वारा प्रणीत है, और शाङ्खायन श्रौतसूत्र[४] शाङ्खायन महर्षि द्वारा । इन श्रौतसूत्रों में पुरोनुवाक्या, याज्या, तत्तत् शस्त्रों और उनके अनुष्ठान प्रकारों का उल्लेख

---

१. ऋक्सर्वा ० की षड्गुरुशिष्य कृत भूमिका श्लोक ९ ।

२. 'कल्पो वेदविहितानां कर्मणामानुपूर्वेण कल्पनाशास्त्रम् ।'

३. अल्पाक्षरमसन्दिग्धं शाश्वद् विश्वतोमुखम् ।
अक्षोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदु: ॥ विष्णुधर्मोत्तरपुराण ।

४. हिलेब्रान्त के द्वारा संपादित और बिब्लि० इण्डिका, १८८८ ई० में कलकत्ते से प्रकाशित । सम्प्रति पं० रामनाथ दीक्षित द्वारा संपादित, का० हि० वि० वि० से (१९८० में) अरत्नी की व्याख्या के साथ प्रकाशित ।

करते हुए उनके देशकाल व कर्ता आदि का विधान, स्वर—प्रतिगर,[१] न्यूङ्ख[२] और प्रायश्चित्त आदि प्रधानतया अभिहित हैं ।

कृष्ण यजुर्वेद के छः श्रौतसूत्र हैं — इनमें १. बौधायन, २. आपस्तम्ब, ३. हिरण्यकेशी, ४. भारद्वाज, और ५. वैखानस —ये पाँच श्रौतसूत्र तैत्तिरीय शाखा के हैं, और ६. मानव श्रौतसूत्र मैत्रायणीयसंहिता का है ।

शुक्ल यजुर्वेद का मात्र एक ही श्रौतसूत्र है । यह शुक्लयजुर्वेद की पन्द्रह शाखाओं को अधिकृत करके वर्णित है । विशेषतः यह काण्व और माध्यन्दिन शाखीय है । इसमें २६ अध्याय हैं ।

सामवेद का एक लाट्यायन श्रौतसूत्र है, दूसरा द्राह्यायण श्रौतसूत्र और तीसरा मशककल्पसूत्र है । इनके अलावा प्रायः ५२ परिशिष्ट भी मिलते हैं ।

अथर्ववेद का एक ही सूत्र कौशिक श्रौतसूत्र उपलब्ध होता है । विशेषता यह है कि यह श्रौतसूत्र मात्र श्रौतविषयों का ही प्रतिपादन न करके गृह्यविषयों का भी प्रतिपादन करता है। 'वितानसूत्र' नामक श्रौतसूत्र किस वेद का अवलम्बन करके प्रतिपादित है यह अज्ञात है । इसके २६ परिशिष्ट उपलब्ध होते हैं, जिनमें कुछ श्रौत विषय और अधिकतर स्मार्त विषय प्रतिपादित हैं ।

गृह्यसूत्र

ऋग्वेद के गृह्यसूत्र

१. **आश्वलायन गृह्यसूत्र**— इसमें चार अध्याय हैं जो खण्डों में विभाजित हैं । इसमें गृह्यकर्म और संस्कारों के वर्णन के साथ—साथ अन्यत्र अप्राप्त प्राचीन आचार्यों के नाम भी निर्दिष्ट है (३ . ३) ।

२. **शाङ्खायन गृह्यसूत्र** — यह ६ अध्यायों में विभक्त है । संस्कारों के वर्णन के साथ—साथ इसमें गृहनिर्माण और गृहप्रवेश आदि का भी वर्णन है । इसके रचयिता सुयज्ञ हैं ।

३. **कौषीतकि गृह्यसूत्र** — इसमें पाँच अध्याय है । इनमें प्रथम चार अध्याय विषय की दृष्टि से शाङ्खायन गृह्यसूत्र के ही समान है । ग्रन्थ के आरम्भ में विवाह संस्कार और जात शिशु के संस्कारों के परिचय के बाद उपनयन वर्णन है । वैश्वदेव, कृषिकर्म के बाद श्राद्ध का और अन्त में पितृमेध का वर्णन है । पितृमेध, शाङ्खायन—गृह्य में नहीं है; किन्तु शाङ्खायन—श्रौतसूत्र (४.१४—१६) में हैं ।

कृष्णयजुर्वेद के गृह्यसूत्र

१. **बौधायन गृह्यसूत्र** — यह कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा का है । यह गवर्नमेण्ट ओरियण्टल लाइब्रेरी, मैसूर से प्रकाशित है ।

---

१. यज्ञे शस्त्रं प्रयुञ्जानस्य होतुरुत्साहजनकमध्वर्योर्वचनं प्रतिगरः ।

२. नितराम् अत्यन्तविषमप्रकारेण ऊङ्खनमुच्चारणं न्यूङ्खः ।

द्र० आश्व० श्रौ० ७. ११. १—५ ।

२. **आपस्तम्ब कल्पसूत्र** – तीन प्रश्नों या अध्यायों में विभक्त आपस्तम्ब कल्पसूत्र के प्रथम तेइस प्रश्न श्रौतसूत्र हैं, २४ वाँ प्रश्न परिभाषा है और २५ एवं २६ प्रश्नों में गृह्यकर्म के मन्त्रों का संकलन है तथा २७ वाँ प्रश्न गृह्यसूत्र है । २८ और २९ प्रश्न धर्मसूत्र है तथा अन्तिम ३० वाँ प्रश्न शुल्वसूत्र है । आपस्तम्ब गृह्यसूत्र में ८ पटल एवं २३ खण्ड है । यह विन्टरनित्स द्वारा सम्पादित और १८८७ में वियना से प्रकाशित हुआ और चौखम्बा से भी दो बार प्रकाशित हुआ ।

३. **हिरण्यकेशी गृह्यसूत्र** – तैत्तिरीय शाखा के इस गृह्यसूत्र को 'सत्याषाढगृह्यसूत्र' भी कहते हैं । यह संस्कृत टीका के साथ डा० क्रिस्ते द्वारा सम्पादित व वियना से प्रकाशित है । इसमें उपनयन से लेकर विवाह तक शालाकर्म, शूलगव, नवान्नप्राशन, मासिकश्राद्ध, अष्टका, श्रवणाकर्म, आग्रहायणी, उपाकर्म आदि कृत्यों का विधान है । इसका विभाग प्रश्न और पटल में है ।

४. **भारद्वाजगृह्यसूत्र** – कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा का चौथा गृह्यसूत्र भारद्वाज गृह्यसूत्र है । यह लाइडेन से १९१३ में प्रकाशित हुआ ।

५. **मानवगृह्यसूत्र** – यह कृष्णयजुर्वेद की मैत्रायणी शाखा से सम्बद्ध है । अष्टावक्र की टीका के साथ यह गायकवाड ओरियण्टल सीरीज से प्रकाशित है । इसमें उपनयन, सन्ध्या, उपाकर्म, उत्सर्ग, विवाह एवं गर्भाधान आदि, दीक्षा, और्ध्वदेहिककर्म, नित्यहोम, स्थालीपाक, आश्वयुजी, आग्रहायणी, नवान्न, पशुयाग, स्वस्तराष्टका, लाङ्गलयोजन, गृहप्रवेश, वैश्वदेव, षष्ठीकल्प, विनायकादि–शान्ति कर्म प्रतिपादित हैं । इसका विभाग पुरुषों और खण्डों में हैं ।

६. **काठकगृह्यसूत्र** —— यह कृष्णयजुर्वेद की कठ शाखा से संबद्ध है । इसे लौगाक्षि गृह्यसूत्र भी कहते हैं । एक विभाग के अनुसार इसमें ७३ कण्डिकाएँ हैं । दूसरे विभाग के अनुसार यह पॉच बड़े–बड़े खण्डों अथवा अध्यायों में विभक्त है जिसके कारण इसे 'गृह्यपञ्चिका' भी कहा जाता है । इसके तीन प्रसिद्ध व्याख्याकार १. आदित्यदर्शन, माधवाचार्य के पुत्र, २. ब्राह्मणबल तथा ३. हरिपाल के पुत्र देवबल हैं । डा० कैलेन्ड ने इसका संस्करण लाहौर से प्रकाशित किया था । इस गृह्यसूत्र में गर्भाधानादि, गृहशान्ति, लाङ्गल, श्राद्ध, अष्टका, शूलगव, वैश्वदेव, श्रवणाकर्म फाल्गुनीकर्म, होलाकर्म आदि विषय प्रतिपादित हैं ।

शुक्लयजुर्वेद के गृह्यसूत्र

१. **पारस्कर गृह्यसूत्र** ही शुक्ल यजुर्वेद का एकमात्र गृह्यसूत्र है । इसमें तीन काण्ड हैं; और काण्डों के अन्तर्गत कण्डिकाएँ हैं ।

सामवेद के गृह्यसूत्र

१. **गोभिल गृह्यसूत्र** – यह सामवेद की कौथुम शाखा से सम्बद्ध है । इसमें चार प्रपाठक हैं । इसके मुख्य प्रतिपाद्य विषय–परिभाषा, अग्न्याधान, वैश्वदेव, स्थालीपाक, विवाह, चतुर्थीकर्म, गर्भाधान से उपनयन तक के कर्म, उपाकर्म, गोपालनविधि, श्रवणाकर्म, आश्वयुजी, नवान्नप्राशन, अष्टका, पिण्डपितृयज्ञ, काम्यकर्म, वास्तुयज्ञ और मधुपर्क आदि हैं।

गोभिल की यह विशेषता है कि वह सिंहावलोकित न्याय से सूत्र निबद्ध करते हैं। इस सम्बन्ध में गृह्यासंग्रह में स्वयं कात्यायन ने कहा है —

पुनरुक्तमतिक्रान्तं यच्च सिंहावलोकितम्।
गौभिले ये न गृह्णन्ति न ते ज्ञास्यन्ति गौभिलम् ॥ २.९ ॥

गोभिल गृह्यसूत्र का सर्वप्रथम प्रकाशन बिब्लि० इण्डि० सीरीज में हुआ। यह डा० क्नौयेर द्वारा एस० बी० ई० (जिल्द ३०) में अनूदित है। इस पर महाबल के पुत्र भट्ट नारायण का भाष्य है। यह रघुनन्दन के श्राद्धतत्त्व में वर्णित है। इसकी प्रतिलिपि १५४९—५० ई० में की गई थीं। इस पर यशोधर का भाष्य है जो गोविन्दानन्द की दानक्रियाकौमुदी में एवं श्राद्धतत्त्व में वर्णित है (१५०० ई० के पूर्व)। भट्ट नारायण के भाष्य के साथ श्रीचिन्तामणिदेवशर्मा द्वारा सम्पादित बहुत अच्छा संस्करण १९३६ में कलकत्ता से प्रकाशित है, जिसका पुर्नमुद्रण दिल्ली से मुंशीराम मनोहरलाल के द्वारा १९८२ में हुआ है।

इस ग्रन्थ की अन्य टीकाएँ भी है १. 'सरला' टीका तिथितत्त्व एवं श्राद्धतत्त्व में वर्णित है (१५०० ई० के पूर्व)। २. टीका सायण द्वारा, ३. टीका सुबोधिनी पद्धति — मथुरा के अग्निहोत्री विष्णु द्वारा, ४. टीका कारिकार्थबोधिनी — विश्राम के पुत्र शिवराज द्वारा, स्टीन कैटलाग पृ० १५ एवं २५० पर उद्धृत हैं। गोभिल के नाम से प्राप्त होने वाले अन्य ग्रन्थों का विवरण इस प्रकार है —

गोभिल परिशिष्ट

सन्ध्या सूत्र, स्नान सूत्र एवं श्राद्धकल्प पर गोभिल का परिशिष्ट है। यह टीका के साथ बिब्लोथिका इण्डिका सीरीज में प्रकाशित है। यह टीका प्रकाश, नारायण तथा रघुनन्दन द्वारा वर्णित है।

गोभिलश्राद्धसूत्रभाष्य — इसका उल्लेख रघुनन्दन द्वारा तिथितत्त्व एवं श्राद्धतत्त्व मे है। सम्भवत: यह महायशा का भाष्य ही है।

गोभिलस्मृति — यह कात्यायन का कर्मप्रदीप है। यह आनन्दाश्रम से मुद्रित 'स्मृतिसमुच्चय' पृ० ४९—७१ में है।

गोभिलपरिशिष्ट — यह ग्रन्थ अनिष्टकारी ग्रहों की शान्ति, ग्रहयाग आदि पर निर्मित है नो० (जिल्द १० पृ० २०१—२०२)।

गोभिलीयश्राद्धकल्प — (भाष्य) महायशा द्वारा। सम्भवत: यह महायशा उपर्युक्त यशोधर ही हैं। टी० समुद्रकर द्वारा, भवदेव के स्मृतिचन्द्र की श्राद्धकला में वर्णित है और रघुनन्दन के श्राद्ध तत्त्व में वर्णित है।

२. **खादिर गृह्यसूत्र** — यह सामवेद की राणायनीय शाखा से संबद्ध है। यह गोभिलगृह्यसूत्र से मिलता जुलता है। यह मैसूर से प्रकाशित है। इसमें विवाह आदि, नित्यहोम, वैश्वदेव, स्थालीपाक, उपाकर्म आदि, आश्वयुजी, आग्रहायणी, अष्टका और पौष्टिक कर्मों का विधान है।

३. **द्राह्यायण गृह्यसूत्र** — यह भी राणायनीय शाखा से सम्बद्ध है । इसका हिन्दी के साथ एक संस्करण प्रकाशित है । इसमें परिभाषा, पाकयज्ञ, विवाह, गर्भाधान; उपनयन, उपाकर्म, आश्वयुजी, स्रस्तरारोहण, अष्टका, और्ध्वदेहिक कर्म, मधुपर्क, आदि विषय सन्निविष्ट हैं । यह पटल और खण्डों में विभक्त है ।

४. **जैमिनीय गृह्यसूत्र** — इस गृह्यसूत्र का सम्बन्ध जैमिनीय शाखा से है । इसमें दो खण्ड है : प्रथम खण्ड में चौबिस कण्डिकाएँ हैं और द्वितीय खण्ड में नौ कण्डिकाएँ हैं । इसके प्रसिद्ध टीकाकार श्रीनिवासाध्वरी है । यह लाहौर से प्रकाशित हुआ है । इसमें

पाकयज्ञ, पुंसवन से उपनयन तक के कर्म, नान्दीश्राद्ध, विवाहोपाकर्म, नित्यहोम, सन्ध्या, वैश्वदेव आदि, अद्‌भुतशान्ति, ग्रहशान्ति आदि विषयों का प्रतिपादन है ।

अथर्ववेद के गृह्यसूत्र

१. **कौशिक गृह्यसूत्र** — अथर्ववेद का यही एकमात्र गृह्यसूत्र है । इसमें चौदह अध्याय है । यह प्राचीन भारतीय यातुविद्या { = जादू की विद्या } की दृष्टि से अत्यन्त उपादेय है । इसमें वैद्यकशास्त्र के विषय भी वर्णित है । इसके अतिरिक्त वराह गृह्यसूत्र भी प्राप्त होता है ।

गोभिलगृह्यसूत्र का प्रस्तुत संस्करण

गोभिलगृह्यसूत्र का यह प्रस्तुत संस्करण महा महोपाध्याय मुकुन्द झा बख्शी के द्वारा १९३६ में सम्पादित किया गया था । यह ग्रन्थ अधूरा था । अत: प्रस्तुत संस्करण में इसे पूर्ण किया गया है । इसमें प्रथमत: हिन्दी जोड़ी गई है । तृतीय और चतुर्थ प्रपाठक में सरला संस्कृत टीका भी संयोजित है । परिशिष्ट में १. गोभिलीयगृह्यसूत्रपाठ, २. गोभिलीयश्राद्ध— कल्पसूत्रपाठ, ३. गोभिलीयसंध्या सूत्रपाठ, और ४. गोभिलीयस्नानसूत्रपाठ मुद्रित किया गया है ।

इस ग्रन्थ को वर्तमान रुप प्रदान करने का श्रेय चौखम्बा संस्कृत संस्थान के संचालकों को है, जो संस्कृत एवं भारतीय संस्कृति की सेवा और प्रतिस्थापना में अहर्निश संलग्न हैं । मैं उनका अत्यन्त आभारी हूँ । अन्त में मै अपने पूजनीय गुरुवर्य पं० रामनाथ दीक्षित (भूतपूर्व प्रोफेसर एवं संकाय प्रमुख, संस्कृत महाविद्यालय) का अत्यन्त कृतज्ञ हूँ, जिन्होने अत्यन्त स्नेह से इस ग्रन्थ में मुझे प्रवेश कराया । उन्हीं श्रद्धेय गुरुवर्य के कर—कमलों में यह श्रद्धासुमन समर्पित है ।

विद्वद्वशंवद:
डॉ० सुधाकर मालवीय:

विक्रमसंवत् २०५४
दीपावली (३०.१०.१९९७)
३१/२१ लंका, वाराणसी २२१००५
संस्कृत विभाग, कला संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

गोभिलीयगृह्यसूत्रस्य भूमिका

समुपजोषमद्य मुद्रापयित्वा प्रकाश्यतेऽदः कौथुमीयानां त्रैवर्णिकानां कृते महर्षिणा (पारस्कराऽपरपर्याय–कात्यायन–पित्रा) श्रीमद्गोभिलाचार्येण प्रणीतं गृह्य (कल्प) सूत्रम्, यत्र सर्वकर्मसाधारणविधिमुखेनाग्न्याधानप्रभृति–विवाहादि–दशकर्मान्तो भागः सपरिकरः प्रकाशितोऽस्ति । यद्यप्यत्र (गो० गृ० सूत्रे) अन्येऽपि विधय उपनिबद्धा महर्षिणा किन्तु तेऽस्मिन्नलसप्राये त्रैवर्णिकसमाजे क्रमेण नामशेषतामापादिता इति पुरा महामहत्तकवीरेश्वरादिभिर्दशैव संस्कारविधयः प्रामाणिकगृह्यसूत्रानुसारिण–स्सामगानां वाजसनेयिनाञ्च कृते सुस्पष्टम्पद्धतिरूपेण निर्माय प्रथिताः सन्ति । एष्वपि नित्या नामकरण–चूड़ाकरणो–पनयन–विवाहा एव यथाकथञ्चिदनुष्ठीयन्ते नाऽपरे । येषाञ्चातीवावश्यकत्वं स्मृतिशास्त्रेषूपवर्णितमस्ति ।

तथाहि–संस्कारा एवात्र खलु सर्वेषां स्वरूपप्रतिपादका भवन्तिं । यानन्तरा अचेतना अपि व्यवहार्या न भवन्ति किमुतचेतनाः । मानुषादिशरीराणि हि शुक्रशोणित–सम्बन्धात्पितृमातृतो भवन्ति संस्कारैरेव पूयन्ते । येषामेव हि ते (संस्कारा) भवन्ति त एव संस्कारोत्कर्षक्रमेण जात्युत्कर्षं भजन्ते । येषाञ्च ते न कथञ्चिदपि सन्ति त एवासंस्कृतजातयोऽस्पृश्या अच्छोपाश्चोच्यन्ते ।

तथा चाहस्म भगवान्मनुः –

"वैदिकैः कर्म्मभिः पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम् ।
कार्य्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च ।।"

इति । निषेकादिः गर्भाधानादिः । प्रेत्य–परलोके । इह–अस्मिँल्लोके ।

तथा – "गार्भैर्होमैर्जातकर्म्म–चौल–मौञ्जीनिबन्धनैः ।
वैजिकार्भिकञ्चैनोद्विजानामपमृज्यते ।।"

इति । गार्भैः–गर्भसंस्कारार्थैः । होमशब्दोऽत्र जहदजहल्लक्षणया कर्म–विशेषोपलक्षकः । तेन गर्भाधानादेः परिग्रहः । बैजिकं–शुक्रश्लेष्मजम् । गार्भिकं–गर्भाशयस्थशोणितसम्बन्धजम् । एनः पापम् । अत्र यद्यपि पापक्षयरूपफलदर्शनात्सर्वेषां संस्काराणां काम्यत्वमेवायाति । तथापि चूड़ाकरणं नित्यम् । आवश्यकशिषाधार–णार्थत्वात्[1] । नामकरणमपि नित्यम् आवश्यकाभिवादनादिकर्म्मार्थत्वात्[2] । अत एव

---

१. "विशिषोव्युपवीतश्च यत्करोति न तत्कृतम्" ।। इति कात्यायनवचनात् ।

२. "अभिवादात्परं विप्रो ज्यायांसमभिवादयन् । असौ नामाहमस्मीति स्वंनाम परिकीर्त्तयेत्" इति स्मरणात् । विप्र इत्युपलक्षणम् ।

यथोचितकालाननुष्ठिते नामकरण–चूड़ाकरण–कर्मणी उपनयनाव्यवहितपूर्वकालेऽ–नुतिष्ठन्ति शिष्टाः । उपनयनमपि तथा (नित्यम्)

"अत ऊर्ध्वं पतन्त्येते सर्वकर्मबहिष्कृताः" ।।

इति याज्ञवल्क्येन गौणकालपर्यन्तमप्यनुपनीतेषु पातित्याभिधानात् । विवाहो–ऽपि नित्यः । आवश्यकसत्प्रजोत्पादनार्थत्वात् ।

"तस्मात्सर्वप्रयत्नेन कर्त्तव्यो दारसंग्रहः" ।। इति देवलवचनात् ।

"दारान् सर्वप्रयत्नेन विशुद्धानुद्वहेत्ततः" ।। इति कश्यपवचनाच्च ।

गर्भाधानादि तु न तथा । अत एव अनावश्यकत्वान्ना–नुतिष्ठन्ति बहव इति मुरारिमिश्रादयः । अत्र गर्भाधानं क्षेत्रसंस्कारद्वारा अपत्यसंस्कारकम् । पात्रसंस्का–रस्य प्रक्षालनादेस्तत्रस्थजलादिसंस्कारकत्ववत् । पुंसवनसीमन्तोन्नयने अपि तथा । स च क्षेत्रसंस्कारः प्रथमगर्भएव संपन्नश्चेन्नैतेषां त्रयाणां प्रतिगर्भमावृत्तिः । आरम्भणीया–न्यायात् –

"सकृच्च संस्कृता नारी सर्वगर्भेषु संस्कृता ।
यं गर्भं प्रसूयन्ते स सर्वः संस्कृतो भवेत्" ।।

इति हरीतवचनाच्च । पत्नीभेदे तु भवत्येव त्रयाणामावृत्तिः । "प्रधानावृत्तौ गुणावृत्तिरि" – ति न्यायात् । जातकर्म्मादिकन्तु न स्त्रीद्वाराऽपत्यसंस्कारकमिति न तत्प्रत्यपत्यमावर्त्तते । अत्र याज्ञवल्क्यः–

"ब्रह्म–क्षत्रिय–विट्–शूद्रा वर्णास्त्वाद्यास्त्रयो द्विजाः ।
निषेकाद्याः श्मशानान्तास्तेषां वै मन्त्रतः क्रियाः" ।।
मातुर्यदग्रे जायन्ते द्वितीयं मौञ्जिबन्धनात् ।
ब्राह्मण–क्षत्रिय–विशस्तस्मादेते द्विजाः स्मृताः" ।। इति ।।

इमे च संस्काराः पुंसामिव स्त्रीणामपि चातुर्वर्ण्येषु नियमिता महर्षिभिः । केवलमेषु विवाह एव समन्त्रकोऽन्ये संस्कारा अमन्त्रका एव भवन्तीति –

"तूष्णीमेताः क्रियाः स्त्रीणां विवाहस्तु समन्त्रकः ।

इति स्मृत्योक्तम् । तूष्णीम्–अमन्त्रिकाः । एता–जातकर्म्मादिकाः । यत्त्वत्र "निषेकाद्या' इति मुरारिमिश्रैरुक्तं–तदयुक्तम् । जन्मतः पूर्वं स्त्रीत्वनिर्णयासम्भवात् ।

मनुः – "अमन्त्रिका तु कार्येयं स्त्रीणामावृदशेषतः ।
संस्कारार्थं शरीरस्य यथाकालं यथाक्रमम् ।।
वैवाहिको विधिः स्त्रीणामौपनायनिकः स्मृतः ।
पतिसेवा गुरौ वासो गृहार्थोऽग्निपरिक्रिया" ।।

इति । औपनायनिकः । उपनयनकार्य – (प्रायत्य–) कारी । स्त्रीणामुप–नयनस्थाने विवाह एवेति यावत् । गुरुशुश्रूषणस्थाने–पतिसेवा । अग्निपरिचरण स्थाने गृहकार्यम् । एतेसंस्काराः शूद्राणाममन्त्रका भवन्ति ।

तथा च यमः— "शूद्रोऽप्येवंविधः कार्यो विना मन्त्रेण संस्कृतः ।
न केनचित्समसृजच्छन्दसा तं प्रजापतिः ।।"

इति । एवंविधोऽदुष्टकर्म्मा । यथोदितकर्मा च । "अशूद्राणामदुष्टकर्म्मणामि" —ति आपस्तम्बेनोपनयने शूद्रपर्युदासात्तस्यामन्त्रकमप्युपनयनं निषिद्धम् । अत एव—

"तस्मादस्याधिकारोस्ति न वेदेषु न च स्मृतौ" ।।

इति तस्य वेदाद्यध्ययननिषेधः ।

तथा — "विवाहमात्रसंस्कारं शूद्रोऽपि लभतां सदा ।"

इत्यत्र मात्रग्रहणाद्विशेषविहितव्यतिरिक्तनिवृत्तिरिति नोक्तवचनविरोधः । इदं वाक्यं विवाहे कन्यादानादिवाक्यसम्बन्धो भवति । संस्कारान्तरेषु च लौकिकवैदिक—सर्वविधवाक्यनिवृत्तिरित्येतत्तात्पर्यकमित्यपरे वदन्ति ।

अथास्य प्रकाशेन निदानम्

एकदावर्त्तमानमिथिलेश—तातपादा रहस्येतमर्थमस्माभिः सविनयं प्रबोधिता यदेतेः संस्कारा नाधुना पठनपाठनक्रमेण समादृता इति यथापुस्तकमधीतशास्त्रान्तरा अपि पौरोहित्यमनुतिष्ठन्तो "यथालिखितपाठक" — तया

"गीती—शीघ्री —शिरः कम्पी यथालिखितपाठकः ।
अनर्थज्ञोऽल्पकण्ठश्च षडेते पाठकाधमाः ।।"

इति पाणिनिशिक्षया पाठकाधमेषु परिगणिताः सन्तो यथावत्कर्म्मकारयितुम—पारयन्तः पुरोहिता अपि पुरोऽहिताः प्रायो वृत्त्या सम्बोभुवति तत एष कर्म्मकाण्डग्रन्थ—पठनपाठनक्रमोऽभिनवोद्घाटितमुजफ़्फरपुरीयधर्म्मसमाजसंस्कृतमहाविद्यालये धर्म्य इति कृत्वा स्थापितश्चेद्भविता तदा महती धर्म्मोन्नतिः (धर्म्यकर्मज्ञानेन) सम्पादिता स्यादिति।

एवमस्मदभ्यर्थनया लुप्तप्रचारस्यास्य (कर्मकाण्डग्रन्थपठनपाठनक्रमस्य) सम्पाठनमुखेन राजकीयपरीक्षायामपि शास्त्रान्तरवदुपयोजयितुमावर्जितस्वान्तैरुक्ता—स्मत्प्रभुवरैर्म्मिथिलामहीमहेन्द्रैः श्रीमद्रमेश्वरसिंहवीरविक्रान्तैर्विहारोत्कलप्रान्तीयः सम्राड्—द्वितीयप्रतिनिधिः सपुरस्कारं तदर्थमार्थिकसाहायकदानेनानुकूलितः । ततश्चास्य श्रौत—स्मार्त्तागमऽऽभेदभिन्नस्य त्रिविधस्यापि कर्मकाण्डस्य सर्वा अपि प्रथमादिका उपाध्यन्ताः परीक्षास्तेन तत्र महाविद्यालये कालेन प्रवर्त्तिताः ।

अथ तत्रोक्त विषयाध्यापनायोक्तप्रभुवरैरहमेव तत्र नियोजयितुमुपश्लोकितो—ऽथानुमतश्च " गवर्निङ्बाड़ी"—समाख्यसभया समलमकार्षमुक्ताध्यापनस्थानम् । अथ गते बहुतिथे काले विहारोत्कलप्रान्तीय—"संस्कृत—कौन्‌भोकेसन" सभायाः सभ्येष्वन्यतमः संवृत्तः ।

अथ तत्र (सभायां) सभ्यैरनतिप्रचाराणां दुर्बोधानाञ्च कर्म्मकाण्डे पाठ्यग्रन्थनां ससरलव्याख्यं प्राकाश्यमभिलष्यमाणानां प्राचीनानां मध्ये लाट्यायनीयश्रौतसूत्रस्य

तावज्ज्योतिऽष्टोमान्तभागस्य तत्प्रास्तुवन् । यत्र च पुरस्कारदानमपि यथानियमं सभायामुद्घोषितमाकर्ण्य प्रावर्त्तिषि तन्निर्माणेऽन्तेवसङ्गिरभ्यर्थितः । सुसम्पाद्य च तां यथावकाशमग्रिमे वर्षे तस्यां (पूर्वोक्त सभायां) समर्पितवान् । अथ यथाकालं सभ्यैः सुपरीक्षितायां तस्यां पादोनशतमुद्राः पारितोषिकं ततो लब्ध्वा काश्यां कृतनिवासायै दरभङ्गामहीमहेन्द्रस्य स्वर्वासि–श्रीमल्लक्ष्मीश्वरसिंहवीरविक्रान्तस्य ज्येष्ठायै धर्म्मपत्न्यै पूर्वं द्वादशवर्षाणि यावत्संसेवितायै संक्षिप्त–तज्जीवनचरित्रवर्णनात्मकखण्डकाव्येन सह सादरं समर्पितवान् । ताञ्च काशिकचौखम्बासंस्थानस्थितविद्याविलासयन्त्रालया–ध्यक्ष द्वारा मुद्रापयित्वा परारि प्रकाशितवानस्मि । यत्र च सर्वोऽप्यधिकारः पुनर्मुद्रापणे तस्मा एव प्रत्तोऽस्ति ।

अथापरं सामगानां गृह्य(कल्प)सूत्रमप्येतत्प्राधान्येन चन्द्रकान्तभाष्य नारायण–भाष्य–भवदेव–मुरारिमिश्र–तत्त्वकारादीनां व्याख्यानमवलम्ब्य स्वोपज्ञ व्याख्यया "मृदुलया" सह मुद्रापयितुमुपक्रान्तं प्रामाणिकैश्छन्दोगपरिशिष्ट–गृह्यासाङ्ग्रहादिभिः कातीय–गोभिलीयैरन्यैरपि वचनजातै–रुपबृंहितं मिथिलामहीमहेन्द्र–महाराजरुद्रसिंहस्य पौत्र पत्न्यै श्रीमज्जनेश्वरीदेव्यै संक्षिप्त–तज्जीवनचरित्रवर्णनात्मकखण्डकाव्येन सह सादरं समर्पितवांस्तामथैनां तेभ्यः काशिकचौखम्बासंस्थानस्थितविद्याविलासयन्त्रालयाध्यक्षेभ्यः ससर्वाधिकारं समर्पितवानस्मि।

अस्यैव परिशिष्टरूपेण गोभिलीयं श्राद्धकल्पमपि राजकीयोक्तपरीक्षायां सन्नि–वेशितमिति तदपि महता यत्नेन सुसरलया दिशा भाष्याद्यनुसारिण्योक्तव्याख्यया संवलितमनतिविस्तृतमुक्तवैश्यवरेभ्य एव मुद्रापयितुं समर्पितवानस्मि । यदम्यल्पीयसैव कालेनैतत्प्रकाशनानन्तरं मुद्रापयितुं प्रतिश्रुतवन्तः सन्तीति सप्रमोदम्पाठकमहाभागेभ्य आवेदयामः ।

अथापरमप्येतदभ्यर्थयामहे ।

"मुद्राप्रमादजं दोषं दृष्टिदोषञ्च मामकम् ।
संशोध्य धीधनैरैतदुपयोज्यं स्वकर्मसु ।। १ ।।

अथ च –

गच्छतः स्खलनं क्वापि सुपथिष्वपि स्यान्नृणाम् ।
हसन्त्यसावस्तत्र समादधति सज्जनाः ।। २ ।।

इति सहृदयोक्तमनुस्मृत्य विरमामो निरर्थकाद्विस्तरादिति शम् ।

वै० संवत् १९९२ (खिष्टाब्दः १९३६) **मुकुन्द झा बख्शी**

विषयानुक्रमणिका

प्रथमप्रपाठके

द्वितीयप्रपाठके

——— * ———

गोभिलगृह्यसूत्रम्

अथाऽतो गृह्याकर्म्माण्युपदेक्ष्यामः ॥ १ ॥

* अनाकुला *

नमो रुद्राय, यद्गृह्यं श्रीगोभिलेन निर्मितम् ।
सुधाकरार्यः कुरुते तस्य व्याख्यामनाकुलाम् ॥

इसके अनन्तर गृह्याग्नि से सम्बन्धित (अग्निहोत्र आदि नित्य कर्त्तव्य कर्म और उसके अङ्गभूत 'अग्न्याधान') कर्मों का उपदेश करेंगे ॥ १ ॥

विमर्श—यहाँ सूत्र में 'अथ' शब्द ग्रन्थारम्भ प्रकट करने वाला निपात है। गृह्य में दीर्घ अकार छान्दस-प्रयोग है। गृह्य शब्द गृह के लिए हितकर होने से गृह्य अग्नि के लिए योगरूढ है ॥ १ ॥

इति अत्राथशब्दोग्रन्थारम्भार्थद्योतको निपात इति कश्चित् । आनन्तर्य्य-वचनो मङ्गलप्रयोजनकश्चेति[1] राद्धान्तिकाः ॥

"मङ्गलानन्तरारम्भ प्रश्नकात्स्न्र्येष्वथो अथ" इत्यमरात् ।
ॐ कारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा ।
कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातौ तस्मान्माङ्गलिकावुभौ" ॥ इति स्मरणाच्च ॥

अथ--वेदाध्ययन-तदर्थावगमानन्तरम् यतो यथावद्विचारशास्त्र-[2]मधिगत्य स्थितानां स्नातकानां गार्हस्थ्यानुसरणं शास्त्रार्थः ।

"अतः परं समावृत्तः कुर्याद् दारपरिग्रहम्" इति ।
"वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं[3] वापि यथाक्रमम् ।
अविप्लुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममावसेत्" ॥ इति चैवमादिस्मरणात् ।

यतश्च--

"यस्मात्त्रयोऽप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्नेन चान्वहम् ।
गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माच्छ्रेष्ठो गृहाश्रमी" ॥

इत्यादिस्मृतेस्तस्यो[4]त्तमत्वमवगतम् । अतः—एतस्मात्कारणाद् गृह्या-

---

१. यथा यात्राकाले दधि-मत्स्यादि-दर्शनं मङ्गलं, यथा वा मृदङ्गादिध्वनिश्रवणम् । तथैतदुच्चारणस्मरणे महतेऽभ्युदयाय ग्रन्थारम्भेऽवकल्पेत इति भावः । अनुपदमुपदर्शयिष्यमाणस्मृतौ माङ्गलिकावित्यस्य मङ्गलप्रयोजनकावित्यर्थे (पा० ५।१।१०९) ठका साधनात् । एतद्योतकत्ववाचकत्वे उभावपि पक्षौ निपातेषु व्यवस्थिताविस्त्येवमवधृतम् ।

२. मीमांसाम् ।

३. वेदशब्दोऽत्र विभिन्नशाखापरः । स्वशाखाध्ययनपूर्वकं वेदशाखानां त्रयं द्वयमेकां वा शाखां मन्त्रब्राह्मणक्रमेणाधीत्य गृहस्थाश्रमं गृहस्थविहितकर्म्मकलापरूपमावसेदनुतिष्ठेदिति तदर्थः । कृतदारपरिग्रहो गृहस्थः ।

४. गृहस्थाश्रमस्य ।

कर्म्माणि। गृहे गृहस्थाश्रमे साधूनि (योग्यानि) "तत्र साधुः' (पा० ४।४।९८) इति साध्वर्थे यत्प्रत्ययः। लक्षणया गृह्याग्निसाध्यानि वा कर्माणि धर्मभूतानि[1] आदित एव। उपदेक्ष्यामः[2] = कथयिष्याम इत्यर्थः। गृह्येति दीर्घश्छान्दसः।[3] (पा० ६।३।१६७) 'छन्दोवत्सूत्राणि भवन्ति" इति हि पातञ्जलमहाभाष्यम्॥ तदनेन सूत्रेणाभिधेयादीनि[4] शिष्यप्रवृत्त्युपयोगीनि स्वरसतोदर्शितानि।

तत्राभिधेयः कर्म्म यथोक्तम्। श्रेयः प्रयोजनम्। सम्बन्धोऽपि यथायथं सुखबोधः प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावादिः। अथशब्देनानन्तर्यावगमादधिकार्यपि प्रतिपादितकल्प एवेत्यास्तां विस्तरः॥ १॥

तत्र तावत्साधारणकर्माङ्गभूताः केचन धर्माः परिभाष्यन्ते—

यज्ञोपवीतिनाऽऽचान्तोदकेन कृत्यम्॥ २॥

आगे बताए जाने वाले सभी कर्मों को यज्ञोपवीत धारण कर और आचमन करके करना चाहिए॥ २॥

विमर्श—आचमन अर्थात् मुख प्रक्षालन करके और दो-तीन बार कुल्ला (= गण्डूष) करते हुए तीन बार जल पीना चाहिए। इतना जल अवश्य पीना चाहिए जिसमें नाभि तक जल पहुँच जाय। तभी वह आचमन कहलाता है २॥

---

१. कर्माण्येव स्वव्यापारादृष्टरूपेण परिणमन्ति धर्म्मा इत्युच्यन्ते। तदेतद्भूतशब्दप्रयोगेणावेदितम्भवति। तथाचात्र कर्म्मधारयः समासः। गृह्याकर्माणीति।

२. उपदेशशब्दार्थमाह—गृह्यभाष्यकारः "उपदेश उपसन्नस्यान्तेवासिनः स्वर्गापवर्गादिसाधकपदार्थसार्थकथनम्" इति। तथाचात्र दिशिरुच्चारणक्रियो भावे घञ्। उपदेशनमुपदेश इति।

३. यद्वा, गृहे साध्वी गृह्या पत्नी तया सहितस्य यानि कर्माणि तानीत्यर्थः। मध्यमपदलोपी समासः। (पा० २।१।६० वा०) अथवा गृह्या इति प्रस्तुतायाः स्मृतेरभिधानम्। तथा—चाचार्यपुत्रेण कात्यायनेन कृतोऽस्या एव स्मृतेः श्लोकेन सङ्ग्रहो गृह्यासङ्ग्रह पदेनैवाभिधीयत इति। तथाच गृह्यासङ्ग्रह एव—

"पत्न्यः पुत्राश्च कन्याश्च जनिष्याश्चापरे सुताः। गृह्या इति समाख्याता यजमानस्य दायकाः॥ ३५॥ तेषां संस्कारयोगेन शान्तिकर्म्मक्रियासु च। आचार्यविहितः कल्पस्तस्माद्गृह्या इति स्थितिः"॥३६॥ इति। वस्तुतस्तु—गृह्यः शालाग्निरावसथ्यः। औपासन इत्यनर्थान्तरम्। तस्मिन्स्मार्त्तेऽग्नौ यानि कर्त्तव्यानि कर्म्माणि तानि गृह्याकर्म्माणि "शेश्छन्दसि बहुलम्" (पा० ६।१।७०) इति शेर्जसः स्थाने विहितस्य लोपः। गृह्याणीति।

४. एतच्चतुष्टयमेवानुबन्धपदप्रतिपाद्यं यद्विना ग्रन्थादौ मङ्गलमुपनिबद्धमपि न शस्यते इत्युक्तमभियुक्तैः। यथा—

"विना विषयसम्बन्धौ तथैवार्थाधिकारिणौ।
अव्याख्येयो भवेद् ग्रन्थः स्याद्ग्रन्थे तच्चतुष्टयम्"॥ इति।

[1]यज्ञार्थमुपवीतं-ब्रह्मसूत्रय्यँथावद्विहितय्यँस्यास्ति स यज्ञोपवीती मत्वर्थ इनिः प्रत्ययः (पा० ५।२।११५) तेन यज्ञोपवीतिना । आचान्तमाचमनविधिनेष[2] द्भक्षितं(पीत)मुदकं येनासावाचान्तोदकस्तेन । चकाराद् बद्धशिखेन । कृत्यम्-"कर्म्म कर्त्तव्यम्" इति सूत्रशेषः । तथा च च्छन्दोगपरिशिष्टम्--

"सदोपवीतिना भाव्यं सदा बद्धशिखेन च ।
विशिखोव्युपवीतश्च यत्करोति न तत्कृतम्" ॥ १ ॥ इति ।

यज्ञोपवीताचमनयोः स्वरूपमुपरिष्टाद्वक्ष्यति--"यज्ञोपवीतं कुरुते" (१।२।१) इत्यादिना ।

इदानीं कर्माङ्गेषु वक्तव्येषु कालमेव तावत् परिभाषते--

उदगयने पूर्वपक्षे पुण्येऽहनि प्रागावर्त्तनादह्नः कालं विद्यात् ॥ ३ ॥

(इस ग्रन्थ में) जहाँ पर भी समय की कोई व्यवस्था न दी गई हो ऐसे स्थलों पर सभी कार्य (सूर्य के) उत्तरायण होने पर शुक्ल पक्ष में पुण्य दिन (भद्रादि दोषों से रहित) समय में मध्याह्न के पहले करना चाहिए ॥ ३ ॥

विमर्श—जिस कार्य का समय निर्दिष्ट न हो उसी कर्म को उत्तरायण में करे। सूर्य का अयन अर्थात् चलने का मार्ग दो ओर से होता है—१, मध्य से उत्तर की ओर से, और २. दक्षिण से। इस प्रकार सूर्य के दक्षिणायन रहने पर कोई मङ्गल कार्य नहीं करना चाहिए क्योंकि यह देवताओं की रात्रि का समय होता है ॥ ३ ॥

उदगयनं मकरादिषण्मासँय्यावत्सूर्य्यस्योदग्गमनात्प्रसिद्धं ज्यौतिषे। तत्र पूर्वपक्षे "पक्षौ पूर्वापरौ शुक्लकृष्णौ मासस्तु तावुभौ" इत्यमराच्छुक्लपक्षे। पुण्ये = पुनीते (शोभने) विष्टयादि-दोषरहिते यथोक्ते। अहनि-दिवसे। तत्रापि अह्नोवासरस्याऽऽवर्त्तनाच्छायायाः परिवर्त्तनात्। प्राक्-पूर्वं पूर्वाह्णे इत्येतं कालं विद्यात्-जानीयात्। प्रकृतस्य कृत्यस्य (गृह्याकर्म्मणः) इत्यर्थः। स्मरन्ति च—"आवर्त्तनं तु पूर्वाह्णो ह्यपराह्णस्ततः परम्" इति। अत्र पूर्वाह्ण इत्येव वक्तव्ये प्रागित्याद्यभिधान "पूर्वाह्णो वै देवानां मध्य-

---

"विनाऽनुबन्धं ग्रन्थादौ मङ्गलं नैव शस्यते" इति। चैवमादि। तल्लक्षणञ्च "ग्रन्थाऽध्ययनप्रवृत्तिप्रयोजकज्ञानविषयत्वम्" इति। प्रवृत्तिजनकञ्चेष्टसाधनताज्ञानं, कृतिसाध्यताज्ञानञ्च। तज्जनकञ्चानुबन्धज्ञानम्। विशिष्टबुद्धौ विशेषणज्ञानं कारणम्। इति ॥

१. अत्र तादर्थ्यचतुर्थ्या समासः। २. आ-इतीषदर्थेऽव्ययम्।

न्दिनं मनुष्याणामपराह्णः पितृणाम्'' इति श्रुत्युक्तदिनप्रथमतृतीयभागात्मकपूर्वाह्णव्यवच्छेदायेति[1] बोध्यम् ॥ ३ ॥

एवं तहर्युदगयनाद्यभावे शास्त्रबलादप्यनुष्ठीयमानस्य पिण्डपितृयज्ञादेः समयवैगुण्यं स्यादत आह--

यथाऽऽदेशश्च ॥ ४ ॥

जिस किसी कर्म में विशेषतः समय का निर्देश किया जाता है उसको उसी समय करना चाहिए (उपर्युक्त उत्तरायण और मध्याह्न के पहले के समय नहीं) ॥ ४ ॥

कालं विद्यादित्यनुवर्त्तते। आदेश आज्ञा शास्त्रस्य। तमनतिक्रम्येत्यर्थः। आदिशति च शास्त्रं किञ्चित्कर्म्मोदगयनाद्यभावेऽपीति तत्राऽनङ्गतैवामीषा,--मङ्गता च यथोक्तानम् ॥ ४ ॥

सर्वाण्येवान्वाहार्य्यवन्ति ॥ ५ ॥

सभी गृह्य कर्मों में कुश प्रभृति अनेक 'उपकरण' (= सामग्री) की अनिवार्य रूप से आवश्यकता होती है (अतः सम्पूर्ण सामग्री को इकट्ठा कर लेना चाहिए) ॥ ५ ॥

अनुपश्चादाह्रियते प्रकृतं कर्म्म यस्मादिति, अनुपश्चादाह्रियते यत्प्रस्तुतात्कर्म्मणः। इति चान्वाहार्यं नान्दीमुखश्राद्धं[2] दक्षिणा चोच्यते। अत एव गृह्यान्तरम् (कर्मप्रदोपे २७.१)--

"यच्छ्राद्धं कर्म्मणामादौ या चान्ते दक्षिणा भवेत्।
अमावास्यान्द्वितीययँदन्वाहार्य्यं तदुच्यते" ॥ इति।

तद्विद्यते येषां तानि। तदयमर्थः। सर्वाण्येव प्रकृतत्वाद् गृह्यकर्म्माणि। अन्वाहार्यवन्ति तत्पूर्वकाणि। एवकारोऽयोगव्यवच्छेदार्थः[3]। अतो गृह्या-

---

१ वस्तुतस्तु-कर्म्मणो वृद्धिश्राद्धपूर्वकत्वाच्छ्राद्धस्य चोदयसन्निधौ—

"रात्रौ श्राद्धन्न कुर्वीत राक्षसी कीर्त्तिता हि सा।
सन्ध्ययोरुभयोश्चैव सूर्ये चैवाचिरोदिते" ॥ (मनु० ३.२८०)

इति मनुना प्रतिषिद्धत्वात्। तथाभूत एव कालोऽनायत्या कर्म्मौपयिक इति बोध्यम्। विसमासकरणमेकैकस्य बाहुगुण्यद्योतनार्थम्। समुच्चितोपलब्धौ तु महानभ्युदय इति गृह्यभाष्यकारः।

२. याज्ञिकप्रसिद्धिरेषा आभ्युदयिकश्राद्धस्य नान्दीमुखस्य नामेदमिति। एतच्च श्राद्धं मातृकापूजापूर्वकं स्यात्तथा च छन्दोगपरिशिष्टम्। "कर्मादिषु तु सर्वेषु मातरः सगणाधिपाः। पूजितव्याः प्रयत्नेन पूजिताः पूजयन्ति ताः" इति। तद्विधिश्च वक्ष्यते (४।१।१०) ॥

३. यथा—"शङ्खः पाण्डुर एवे"–त्यत्र पाण्डुरवर्णायोगोऽव्यवच्छिद्यते।

नुक्तेष्वपि अन्नप्राशनादिषु शास्त्रान्तराच्छ्राद्धं (नान्दीमुखं) दक्षिणा च न विरुद्धयते । क्वचित्तु-निषिध्यतेऽपि यथोक्तं कर्म्मप्रदीपे--

"नाष्टकासु भवेच्छ्राद्धं न श्राद्धे श्राद्धमिष्यते ।
न सोष्यन्ती-जातकर्म्म-प्रोषितागतकर्म्मसु ।।" (का० स० २.४)

इत्यादि । अमावास्यामिति । अमावस्यां प्रकृत्य (प्रतिपदि) मासिकं श्राद्धं (साग्नीनाम्) अन्वाहार्यम्[1] । यथाह मनुः--

"पिण्डान्वाहार्यकं श्राद्धं कुर्यान्मासानुमासिकम्" । इति ।

गोभिलोऽपि-अमावस्यायां पिण्डपितृयज्ञमभिधाय "इतरदन्वाहार्यं मासीनम्" (३।५।३) इत्याह । तदेतत्साग्निना प्रतिपदि आह्रियते ।। ५ ।।

अपवर्गेऽभिरूपभोजनं यथाशक्ति ।। ६ ।।

कर्म की समाप्ति हो जाने पर (= अपवर्ग) (चाहे किसी भी प्रकार का कर्म हो सभी में) शास्त्र के अनुसार और अपनी शक्ति के अनुरूप एक, दो या अधिक ब्राह्मणों को भोजन कराना चाहिए ।। ६ ।।

विमर्श—यह कर्म सामान्य है । अतः सभी कर्मों का साधारणतः यह विषय है ।

क्रियापरिसमाप्तिरपवर्गस्तस्मिन् । अभिरूपो विद्वान् कृतबुद्धिरनुष्ठाता चेत्याहुः ।[2] तादृशस्याभिरूपस्याभिरूपयोरभिरूपाणां वा भोजनम् । यथाशक्ति-शक्तिमनतिक्रम्य वित्तशाठ्यमन्तरा "गृह्याकर्म्मसु विद्यात्" इति वाक्यशेषः । तथा च शक्तिसत्त्वेऽन्यथाकरणं निषेधति मनुः--

"प्रभुः प्रथमकल्पस्य योऽनुकल्पेन वर्त्तते ।
न साम्परायिकं तस्य दुर्मतेर्विद्यते फलम् ।।" इति ।

साम्परायिकं[3] = पारलौकिकम् ।। ६ ।।

।। इति सर्वकर्म्मसाधारणविधयः ।। * ।।

---

१. अनु-पश्चादमावास्याया एतदाहियत इति ।

२. तथा चामरः "प्राप्तरूपसरूपाभिरूपा बुधमनोज्ञयोः" इति । "अभिरूपो बुधे रम्ये" इति मेदिनी च । सर्वञ्चेदमुपनिबद्धं गृह्यासङ्ग्रहे-च

"यत्र विद्या च वित्तञ्च सत्यं धर्मः शमो दमः ।
अभिरूपः स विज्ञेयः स्वाश्रमे यो व्यवस्थितः" । (२.१२) इति ।

३. "युद्धायत्योः सम्पराय" इत्याभरादायतिशब्देन परलोकमुच्यते । ततो "विनयादित्वात् (पा० ५।४।३४) ठक् । ठस्येकः (पा० ७।३।५) आदिवृद्धिः । (पा० ७।२।११८) इति भानुजिदीक्षिताः । वस्तुतस्तु—"उत्तरः काल आयतिरित्यमरादायतिशब्दउत्तरकालवचन इति कालाट्ठञ्" (पा० ४।३।११) इति ठञेवात्रेति बोध्यम् ।

अथाग्न्याधानकालः

[अब प्रश्न यह है कि गृह्य कर्म जो कहा है उसमें उक्त गृह्य अग्नि कौन सी है ?]

एवं सर्वकर्म्मसाधारणं परिभाष्य प्रायेणाग्निसाध्यत्वात् कर्मणामग्न्याधानकालं तावदाह[1]--

ब्रह्मचारी वेदमधीत्याऽन्त्याᳬंसमिधमभ्याधास्यन् ॥ ७ ॥

ब्रह्मचारी (गुरुकुल में रहकर) वेदाध्ययन को समाप्त कर (ब्रह्मचर्य की समापिका) समिधा को लाने के लिए प्रवृत्त होकर; (अग्नि का आधान करे) ॥७॥

ब्रह्म वेदस्तदध्ययनार्थं व्रतमपि ब्रह्म, तच्चरत्यनुतिष्ठतीति ब्रह्मचारी। ताच्छील्ये णिनीः। (पा० २।२।७८) उपधावृद्धिः। उपकुर्वाण एव न नैष्ठिकः। तस्य ह्यामरणङ्गुरुकुल एवावस्थानानुज्ञानम्॥ स वेदमिति जात्येकवचनम्--

"वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथाक्रमम्।
अविप्लुतब्रह्मचर्यो लक्षण्यां स्त्रियमुद्वहेत् ॥"

इति मनुस्मरणात्। यथाशक्ति-अधीत्य अन्त्यामन्ते ब्रह्मचर्यावसाने भवाम्। "भवेच्छन्दसि" (पा० ४।४।११०) इति यत्प्रत्ययः। समिधं यथोक्तलक्षणाम्[2] आधास्यन् आऽऽभिमुख्येन (प्रातराहुतौ) धास्यन्नग्नौ प्रक्षेप्स्यन् "अग्निसमाधानङ्कुर्वीत" (१।२।१४) इति परस्मात् सिंहावलोकितकेन सम्बध्यते। तथा च ब्रह्मचारिणा ब्रह्मचर्यं समाप्य गृहस्थाश्रमं प्रविविक्षुणा

---

१. अन्ये तु व्याचक्षते-उक्तं गृह्याकर्म्माणीति तत्र कोऽसौ गृह्योऽग्निः? इति प्रथमंतावत्स एवोपदिश्यते—"ब्रह्मचारी" इत्यारभ्य "स एवास्य गृह्योऽग्निर्भवति" इति (१।१।२१) एतदन्तेन सूत्रसन्दर्भेणेति।

२. तथाच वक्ष्यति—"अथेध्मानुपकल्पयते" (१।५।१४-१५ इत्यादि। इध्मं समिदित्यनर्थान्तरम्। यल्लक्षणमाह कर्मप्रदीपः—

"नाङ्गुष्ठादधिका ग्राह्या समित्स्थूलतया क्वचित्।
न वियुक्ता त्वचा चैव न सकीटा न पाटिता ॥
प्रादेशान्नाधिका नोना तथा न स्याद् शाखिका।
न सपर्णा न निर्वीर्या होमेषु च विजानता" ॥ (का० सं० १७.१८) इति॥

अन्त्यालक्षणमाह गृह्यासङ्ग्रहः—

"आचार्येणाभ्यनुज्ञात आचार्याग्नौ विधिर्यथा।
प्रणीतेऽग्नौ समिद्दद्यादन्त्या सा ब्रह्मचारिणाम्" ॥ (२.५८) इति ॥

या पश्चिमा समिदाधेया सा अपामाहरणादिपूर्वकमग्निप्रणयनं कृत्वैव[1] तत्र स्वकीयेऽग्नौ तामन्त्यां समिधमादधीतेति सूत्रकदम्बार्थः। अत्र च "निराश्रमी न तिष्ठेत क्षणमेकमपि द्विजः" (द० सं० १.१०) इति दक्षस्मरणात् स एवादधीत यस्मै पूर्वमेव काचित्कन्या केनचिद् वाचा दत्ताऽऽसीदिति स्पष्टयति कात्यायनः--

"यस्य दत्ता भवेत्कन्या वाचा सत्येन केनचित् ।
सोऽन्त्यां समिधमाधास्यन्नादधीतैव नान्यथा ॥" इति ॥
(का० सं० ६.१३)

अथाधानस्य कालान्तरमाह--

जायाया वा पाणिं जिघृक्षन् ॥ ८ ॥

अथवा, उसे जाया (स्त्री) के पाणिग्रहण के लिए प्रवृत्त होकर (अग्नि का सम्यक् रूप से आधान करना चाहिए) ॥ ८ ॥

यदि ब्रह्मचर्यसमापकान्त्यसमिदाधानकाले दैवादग्निग्रहणं न कृतं भवेत्तदा पूर्वपूर्वदिनवद्गुरोरग्नावेव तामन्त्यां समिधमादधीत॥ पुनः कोऽग्निग्रहणकालः ? इत्याह जायाया वेति। वा = अथवा। जायाया-जायात्वेनाभि[2] संहिताया पाणिं करं जिघृक्षन् = ग्रहीतुमिच्छन् (पाणिग्रहणात् पूर्वमेव) अग्निसमाधानं कुर्वीत (१।१।१४)। तदत्र "भार्यादिरग्निः" इति शास्त्रदर्शनाद्भार्यासम्बन्ध एक एव निमित्तमग्न्याधानस्य। तस्य च कालद्वयमुक्तम् "आधास्यन्" इति। "जिघृक्षन्" इति च ॥ ८ ॥

अथाग्न्याधानविधिः

अनुगुप्ता अप आहृत्य प्रागुदक्प्रवणं देशं समं वा परिसमुह्योपलिप्य मध्यतः प्राचीलेखामुल्लिख्योदीचीश्च संहतां पश्चात् मध्ये प्राचीस्तिस्र उल्लिख्याऽभ्युक्षेत् ॥ ९ ॥

(अग्नि के प्रणयन के लिए) (मल-मूत्रादि के प्रक्षेप से रहित, तैलाभ्यङ्ग से बर्जित, शासन द्वारा) पूर्णतया सुरक्षित एवं पवित्र (किसी जलाशय से) जल लाकर उससे स्थान को लीपकर (= परिसमूह्य), (जो स्थान) पूर्व या उत्तर

---

१. न तु यथाऽन्वहमाचार्याग्नावेव "न स्वेऽग्नावन्यहोमः। स्यान्मुक्त्वैकां समिदाहुतिम्। स्वगर्भसंस्क्रियार्थाश्च यावन्नासौ प्रजायते"। इति कर्मप्रदीपवचनात् समिधमादधातिस्म तथा तदानीमादधीतेति।

२. भाविनि भूतवदुपचारेणेदम्। तथा च श्रुतिः "पतिर्जायां प्रविशति गर्भोभूत्वेह मातरम्। तस्यां पुनर्नवो भूत्वा दशमे मासि जायते॥ तज्जाया जाया भवति यदस्यां जायते पुनः" इति (ऐ० ब्रा० ३३।१)। एष चोपचारः सूत्रशाटकवत्॥

दिशा में समतल किया हुआ हो, उसके मध्य में पूर्वाग्र एक रेखा खींचकर उसके नीचे उत्तराग्र रेखा खींचकर मिला देना चाहिए। मध्य में और भी तीन रेखाएँ अङ्कित कर फिर उस पर जल छिड़कना चाहिए (ऐसी जगह को 'स्थण्डिल' कहते हैं।)॥ ९॥

अनुगुप्ता आच्छादिताः "कुशैः"—इति शेषः। "कुशैराच्छादिता अप आनयन्ति—" इति गृह्यान्तरसंवादात्। प्रच्छादनञ्च पतितादिभिरुदकदर्शनं मा भूदित्येतदर्थम्। अदृष्टाथ वा। अप उदकम् आहृत्य—अनिषिद्धजलाशयादानीय[1]। प्रागुदक्प्रवणम्—प्राग्वा उदग्वा प्रागुदग्वा[2] प्रवणं क्रमनिम्नम्। "प्रवणं क्रमनिम्नोर्व्याम्" इत्यमरः। देशं = भूमिभागं, समं=अपाङ्नीचादिरहितम्। वाशब्दो विकल्पार्थः। तद्व्यवस्थामाह—गृह्यासङ्ग्रहः

"प्राङ्नीचं ब्रह्मवर्चस्यमुदङ्नीचं यशोन्नतम्।
पित्र्यं दक्षिणतो नीचं प्रतिष्ठालम्भकं समम्"॥
(गृ० सं० १.४१) इति।

प्रतिष्ठालम्भकम् = प्रतिष्ठाप्रापकम्॥　　परिसमुह्य = परि—सर्वतः। समुह्य—कुशैः पांश्वादिकमपसार्य्य। तथाच भरद्वाजः—

"कुशैः संमार्जयेद् भूमिं शुद्धामादौ, शुचिस्ततः।
हस्तमात्राश्चतुरस्रां गोमयेनोपलेपयेत्"॥ इति।

यद्वा "परिसमुह्य वितस्तित्रये उत्तरत उत्करं करोती"ति गृह्यान्तरदर्शनादुत्तरस्यान्दिशिवितस्तित्रयोपरिदेशे प्रक्षिप्य। वितस्तिर्द्वादशाङ्गुलः। अत्र—मान कर्त्तारमाह कर्म्मप्रदीपः—

"मानक्रियायामुक्तायामनुक्ते मानकर्त्तरि।
मानकृद्यजमानः स्याद्विदुषामेष निर्णयः॥"

इति। परिसमूहनकुशानाञ्च परित्यागो विधेयः। अन्यत्र तथादृष्टत्वात्। यथा "सम्मार्जनान्यपास्यति"इति। परित्यागश्चैशान्याम् "द्वारमेव हि द्रव्याणां प्रागुदीच्यं दिशि स्मृतम्" इति वचनात्। प्रागुदीची = ऐशानी। उपलिप्य—गोमयोदकेनेति[3] वाक्यशेषः। "गोमयोदकेन समन्तं (स्तं) पर्य्यु-

---

१. अत्र "ताभिः प्रक्षालितपाणिपादः" इति भट्टभाष्यं "तदाचान्तोदकेन" इति (१।१।२) सूत्रेण गतार्थम्।

२. अत्र "दिङ्नामान्यन्तराले" (पा० २।२।२६) इति बहुव्रीहिणा ऐशानीति तदर्थः।

३. गोमयमिश्रितोदकेनेति मध्यमपदलोपी समासः (पा० २।१।६० वा०) एतेन गोमयोदकाभ्यामिति वक्तव्ये "सर्वो द्वन्द्वो विभाषैकवद्भवति" इति परिभाषाश्रयणं सुरारिमिश्राणामपार्थकं बोध्यम्। तथा चोक्तभारद्वाजवचने "गोमयेने"ति सवारिणेत्येतदाक्षिपति।

पलिम्पति-"इति गृह्यान्तरदर्शनात्। देशमिति सम्बन्ध्यते। मध्यतः स्थण्डिलाभ्यन्तरे। दक्षिणांश एव न तु मध्यांशे। हस्तमात्रस्थण्डिलेऽपि उदग्गतैकविंशत्यङ्गुलरेखायास्तन्मूललग्नायाः करणोपदेशात्। अत एव च स्मर्यते--

"अङ्गुष्ठमात्रं भूभागं त्यक्त्वा दक्षिणतः सुधीः।
उत्तरे द्व्यङ्गुलन्त्यक्त्वापश्चिमेऽप्यङ्गुलद्वयम्" ॥ इति।

प्राचीं-प्राग्गताम्। लेखां-द्वादशाङ्गुलप्रमाणां पार्थिवीं पीतवर्णां दक्षिणाहस्तेन[1] कुशेन[2] फलपुष्पान्यतरेण वा उल्लिख्य। उदीचीमुदग्गताञ्च

तथा च शौनकः "गोमयेन सवारिणा। उपलिप्य स्थण्डिलं तु चतुरस्त्रन्तु सर्वतः" इति। स्थण्डिलं मार्जनादिसंस्कृता समभूमिः। गोमयं च वन्ध्यादीनां न ग्राह्यम्। तथाच शाट्यायनः—

"अमेध्यसेविनी-वन्ध्या-प्रसूतानाञ्च गोमयम्। जीर्णायाश्चोपलेपार्थं नाहर्त्तव्यं कदाचन" ॥ इति। अमेध्यसेविनी = पुरीषादिभक्षिणी। प्रसूता-अनतीत दशरात्रप्रसवा॥ अत्र भूमावुपलेपनवन्मृदाच्छादनमपि केचिदाचक्षते। तथाच गृह्यासङ्ग्रहः—

"मेदस्युद्ध्रियमाणे तु शेषङ्किञ्चिच्च तिष्ठति। अन्तर्द्धानं मृदा चेति दीयते वेदनिश्चयः" इति। ननु—"विष्णुपादपरिक्रान्ता वराहेणोद्धृता मही। अतः पृथ्वी सदा पूता किमर्थमुपलिप्यते?" ॥ इति चेदत्राहाङ्गिराः—"इन्द्रेण वज्राभिहतः पुरा वृत्रो महासुरः। मेदसा तस्य सङ्कीर्णा तदर्थमुपलिप्यते" इति।

१. तथाच कात्यायनः—"कर्मोपदिश्यते यत्र कर्त्तुरङ्गं न चोच्यते।
दक्षिणस्तत्र विज्ञेयः कर्म्मणां पारगः करः" इति।

२. तथाच कात्यायनः—लक्षणे प्राग्गतायास्तु प्रमाणं द्वादशाङ्गुलम्। तन्मूललग्ना योदीची तस्या एतन्नवोत्तरम्॥ उदग्गतायाः संलग्नाः शेषाः प्रादेशमात्रिकाः सप्तसप्ताङ्गुलांस्त्यक्त्वा (लास्तास्युः) कुशेनैव समुल्लिखेत्"। इति॥ लक्षणे-अनुपदं (१।१।१०) वक्ष्यमाणलक्षणे। एतद्-द्वादशाङ्गुलम्। नवोत्तरं-नवाधिकम्। कुशेनैवेत्येवकारोविशेषविहितफलाद्यतिरिक्तव्यवच्छेदकः। तथाचाङ्गिराः "न नखेन न काष्ठेन नाश्मना मृन्मयेन वा। प्रोल्लिखेल्लक्षणं विप्रः सिद्धिकामस्तु यो भवेत्॥ भवेन्नखेन कुनखी काष्ठेन व्याधिमृच्छति। अश्मना धनहानिः स्यान्मृन्मयेन कलिर्ध्रुवम्॥ फलेन फलमाप्नोति पुष्पेण श्रियमृच्छति। पर्णेन चार्थकामाप्तिर्दीर्घायुस्तु कुशेन वै॥ तस्मात्फलेन पर्णेन पुष्पेणाथ कुशेन वा। प्रोल्लिखेल्लक्षणं विप्रः सिद्धिकामस्तु यो भवेत्" (गृ० सं० १.४७-५०) इति॥ अत्रान्ते "कर्म्मसु" इति पाठान्तरम्। अतएव फलपुष्पकुशानामन्यतमेन लेखाङ्कुर्यादिति महामहत्तकवीरेश्वरादिपद्धतिलेखनमपि सङ्गच्छते। अत्र सप्ताङ्गुलान्तरालात्वं कुशेनैवरेखाकरणमभिप्रेत्य। गृह्यासङ्ग्रहे-"सूक्ष्मास्ता ऋजवः कार्या लेखास्ताः सुसमाहिताः" इत्युपसंहारदर्शनात्। तस्योपलक्षणतया फलादिना लेखाकरणे तु तासां स्थूलत्वात्ताभ्यामङ्गुलित्रयस्थलव्यापनात् षडङ्गुलांस्त्यक्त्वेत्येव युज्यते। अत एव षडङ्गुलान्तरालाः सप्तसप्ताङ्गुलान्तराला वेति श्रीदत्तोपाध्यायाः स्वाह्निके प्राहुः। प्रादेशमात्रिका इत्यत्र तु विशेषोऽनुपदं द्रष्टव्यः।

लेखामेकविंशत्यङ्गुलप्रमाणामाग्नेयीं लोहितवर्णामुल्लिख्य। चकारोलेखामुल्लिख्येत्यनुषङ्गार्थः। तामिमा(मुदीचीं लेखां)विशिनष्टि–संहताम्–प्रागताया: संलग्नाम्, पश्चात्-पश्चिमे-प्राग्गताया इत्यादिः। मध्ये–अनन्तरोक्तत्वादुदग्गतायाः। संलग्नाः प्राचीः प्राग्गतास्तिस्रो लेखाः। तत्र मध्ये द्वे प्रादेशप्रमाणे। अन्त्या द्वादशाङ्गुला। सर्वाः षडङ्गुलान्तराला[1] दक्षिणत उपक्रमदर्शनादुत्तरोत्तरा उल्लिख्य। आसाञ्च तिसृणां लेखानामेका प्राजापत्या कृष्णवर्णा, द्वितीया चैन्द्री नीलवर्णा, तृतीया सौमी शुक्लवर्णेत्यवगन्तव्यम् ॥

तदेतत्सर्वं छन्दोगपरिशिष्टवचनात्स्मृत्यन्तरसंवादाच्चावसीयते। तथाचाङ्गिराः (गृ० स० १.५५–५८)—

"प्राग्गता[2] पार्थिवी ज्ञेया चाग्नेयी चाप्युदग्गता।
प्राजापत्या तथा चैन्द्री सौमी च प्राक्कृता[3] स्मृता ॥
पार्थिवी पीतवर्णा स्यादाग्नेयी लोहिता भवेत्।
प्राजापत्या भवेत्कृष्णा नीलामैन्द्रीं विनिर्दिशेत् ॥
श्वेतवर्णा च सौमी स्याद्रेखाणां वर्णलक्षणम् ॥"

इति। रेखाणां=लेखाम्। "लेखालिपिराजिकयोर्म्मता" इति मेदिन्यां "लेखास्तु राजयः" इत्यमरे च लादित्वस्यैव श्रवणात्। रलोरैक्याद्रेखामुल्लिख्येति पाठः। आसां वर्णाश्च यथोद्दिष्टा ध्येया एव न तु द्रव्यान्तरेण तद्वर्णकरणम्। "विनिर्द्दिशेद्" इति वचनस्वरसादिति शुभकर्म्मनिर्णये मुरारिमिश्राः। अतएव ध्येयपीतवर्णा लेखा लिखितव्येति पद्धतिकृतः

---

१. तथाचाङ्गिराः—"पार्थिवीं चैव सौमीञ्च लिखेद्द्वे द्वादशाङ्गुले। एकविंशतिराग्नेयी प्रादेशिन्यावुभे स्मृते ॥ षडङ्गुलान्तराः कार्या आग्नेयी संहतास्तु याः। पार्थिव्याश्चैव रेखायास्तिस्रस्ता उत्तरोत्तराः" ॥ इति ॥ ननु—"शेषाः प्रादेशमात्रिकाः" इति कात्यायनवचनेन सौम्या अपि प्रादेशप्रमाणकत्वबोधनाद्विरोध इति चेन्मैवम्। तस्य न्यूनसंख्याव्यवच्छेदमात्रपरत्वात्। अन्यथा विरोधस्य परिहर्त्तुमशक्यत्वात्। अत एव "द्वादशाङ्गुलप्रमाणा सोमदेवताका" इति निर्विचिकित्सितं स्वस्वपद्धतौ वीरेश्वरादयो लिखितवन्तः। यद्वा ऐच्छिको विकल्पः। फलभूमा व्यवस्थितेति दिक्। द्वादशाङ्गुलत्वादिकन्तु यजमानाङ्गुलिबृहत्पर्वभिः कार्य्यम्। तथाच कात्यायनः (७-६)—

"मानक्रियायामुक्तायामि" त्याद्युक्तवचनान्ते "अङ्गुष्ठाङ्गुलिमानन्तु यत्र यत्रोपदिश्यते। तत्र तत्र बृहत्पर्वग्रन्थिभिर्मिनुयात्सदा" ॥ इति ॥

२. ३. अत्र श्रिता इति मुरारिमिश्रसम्मतः पाठः। प्राक्श्रिता–पूर्वाग्रा–इत्येवन्तव्द्याख्यानं शुभकर्मनिर्णये। अत्र (गृह्यासङ्ग्रहवचने) पार्थिवीसौम्योः क्रमेण शुक्लपीतत्वाभिधानं वीरेश्वराद्यननुमतत्वात्पाठभ्रमेणैवेति बोध्यम्।

(महामहत्तकवीरेश्वरादयः) पठन्ति। एतच्च लेखोल्लेखनं यावदग्निस्थापनं सव्यहस्तं भूमौ निधाय कर्त्तव्यम् इत्याहाङ्गिराः––

"सव्यं भूमौ प्रतिष्ठाप्य प्रोल्लिखेद्दक्षिणेन तु।
तावन्नोत्थापयेत्पाणिं यावदग्निं निधापयेत्" ॥

इति। एवमुल्लेखनानन्तरमेव ताभ्य[1] उत्कर(ऽमृद)मुद्धृत्य प्रागुदीच्यान्दिश्यरत्निमात्रे[2] निधाय। अभ्युक्षेत्–"उक्षसेचन" (ऽवा० प०) इति स्मरणादाभिमुख्येन––

"उत्तानेनैव हस्तेन प्रोक्षणं समुदाहृतम्।
न्यश्चताऽभ्युक्षणं प्रोक्तं तिरश्चावोक्षणं मतम् ॥"

इति स्मृत्यन्तरोक्तप्रकारेण सिञ्चेत्। अद्भिरिति सामर्थ्यात्। यथोक्तरेखा इत्यर्थः ॥ ९ ॥,

लक्षणाऽऽवृद्देषा सर्वत्र ॥ १० ॥

इस (जलाहरण) क्रिया का नाम 'लक्षणावृत' है। (अग्नि प्रणयन से सम्बद्ध) सभी स्थानों में (इसका व्यवहार करना चाहिए) ॥ १० ॥

परिसमूहनादि[3] अभ्युक्षणान्तं कर्म्म लक्षणसंज्ञं, तस्य आवृत्–परिपाटी। "आनुपूर्व्या स्त्रियां वाऽवृत्परिपाटीअनुक्रमः" इत्यमरः। एषा अनन्तरोक्ता न तु विपरीता। सर्वत्र। यत्र यत्रवचनादर्थयुक्त्या वाऽग्निः प्रणीयते तत्र तत्रेत्यर्थः। इदञ्च 'भूसंस्कारकङ्कर्म्म, अग्निसंस्कारकञ्च'[4] तथा च गृह्यान्तरम् "सम्मृज्योपलिप्योल्लिख्योद्धृत्याभ्युक्षेदेष भूसंस्कारोऽग्नावनुगते भूय" इति। इति भाष्यकारः ॥ १० ॥

"भूर्भुवः स्वरि"त्यभिमुखमग्निं प्रणयन्ति ॥ ११ ॥

---

१. यच्चा–"ल्युद्धृत्याभ्युक्षे"–दिति क्त्वा श्रवणादानन्तर्यमनयोरित्येके प्रवदन्ति। तन्मुधैव। पूर्वोत्तरभावस्यैव "समानकर्तृकयोः पूर्वकाले" (पा० ३।४।२१) इति क्त्वाविधिस्मृत्या बोधनात्। अतएव "उल्लिख्योद्धृत्याभ्युक्षेदि"–ति कात्यायनसूत्रमनुसन्धाय "उत्करं गृह्य रेखाभ्योऽरत्निमात्रे निधापयेदि" ति गृह्यासङ्ग्रहधृताङ्गिरोवचनमपि सङ्गच्छते॥

२. ऐशान्याम्। अरत्निश्चतुर्विंशाङ्गुलः। यथाह कात्यायनः—
"अङ्गुलस्य प्रमाणं तु षड्यवाः पार्श्वसम्मिताः। चतुर्विंशाङ्गुलोऽरत्निर्वितस्तिर्द्वादशाङ्गुलः।" इति।

३. अवाहरणाद्यभ्युक्षणान्तमिति केषाञ्चिद्व्याख्यानम्।

४. यत्र यत्राग्निप्रणयनं क्रियते तत्र तत्र भुवः संस्कारविधानाद् भूसंस्कारकम्। अनुगतेऽग्नौ संस्कृताया अपि भूमेः पुनः संस्कारविधानादग्निसंस्कारकम् ॥

इसके बाद उस अभ्युक्षित स्थान में 'भूर्भुवः स्वः'—इस व्याहृति मन्त्र को पढ़कर अपने सम्मुख अग्नि का प्रणयन करे ॥ ११ ॥

अग्नि––वक्ष्यमाणयोनिं कांस्यपात्रस्थं कृत्वा तथा नीत्वा[1] आवर्त्त्य सम्यग्भ्रामयित्वा च अभिमुखं–यथा भवति (आत्मनः) तथा "भूर्भुवःस्वः" इति––अनेन मन्त्रेण प्रणयन्ति प्रणयेयुः। लिङर्थे लेट् (पा० ३।४।७) लेखोपरिस्थापयेयुरित्यर्थः।[2] एवमग्रेऽपि यथायथमूह्यम्।[3] पात्रविशेषोपादानमाह—गृह्यासङ्ग्रहः (१. ६४-६६)––

---

१. प्राञ्चं नीत्वाऽऽवर्त्त्यं स्थापयन्ता"-ति स्मरणात्। गृह्यासङ्ग्रहे तु-"लक्षणं तत्प्रवक्ष्यामि प्रमाणन्दैवतञ्च यत्।" इत्येवमभिधानाद्रेखाकरणमात्रं लक्षणमिति प्रतीयते। किन्तु मुरारिमिश्रादिभिः कर्मठप्रसिद्ध्योभयमेव व्याख्यातम् ॥

२. सर्वकर्मसु सर्वैरेवकर्म्मिभिरेवमग्निप्रणयनङ्कार्यमिति सामान्यविधित्वख्यापनायैव बहुवचनम्, सर्वे प्रणयेयुरिति ॥

३. अत्र "क्रव्यादमग्निं प्रहिणोमि दूरं यमराज्यङ्गच्छतु रिप्रवाहः" इत्यर्द्धर्चेन क्रव्यादाग्निसितोनिः सार्याग्निप्रणयनमिदङ्कार्य्यम्। "आनीयाग्निं सुपात्रेण क्रव्यादांशं परित्यजेदि"-ति-अग्निपुराणवचनात्। मन्त्रलिङ्गाच्च। तथाहि-अहं क्रव्यादमाममांसादं "क्रव्ये च" (पा० ३।२।६९) इत्यदेविट्प्रत्ययः। आममांसशब्दस्य क्रव्यादेशः पृषोदरादित्वात् (पा० ६।३।९०) तन्नामकमग्नि दूरं विप्रकृष्टदेशं (लोकान्तरं) प्रहिणोमि प्रस्थापयामि। असौ मानुषानत्तुमभिलष्यतीत्यमङ्गलत्वात् यमराज्यं यमाधिकारं गच्छतु। किम्भूतः ? रिप्रवाहः रिप्रं पापं वहतीति कर्मण्यण् (पा० ३.३।) तथाच निरुक्तम् "रिपोरिप्रमिति पापनामनी भवतः" (४।२१) इति। अत्राङ्गिराः–

"सर्वतः पाणिपादश्च सर्वतोऽक्षिशिरोमुखः। विश्वरूपो महानग्निः प्रणीतः सर्वकर्म्मसु' इति। इदञ्च ध्यानपरम्। स्वरूपाख्यानस्य प्रयोजनान्तराभावादिति द्रष्टव्यम् ॥ यथाहुः "अविदित्वा तु योह्यग्निं होमयेदविचक्षणः। न हुतं न च संस्कारो न स कर्म्मफलं लभेत् ॥ ज्ञात्वा स्वरूपमाग्नेयं योऽग्नेराराधनञ्चरेत्। ऐहिकामुष्मिकैः कामैः सारथिस्तस्य पावकः ॥ आहूयैव तु होतव्यं यो यत्र विहितो भवेत्" इति। अत्र "तमिति" शेषः। एवञ्च स्थापनावसरे सर्वत्र विश्वरूप एवाग्निरुक्तरूपोध्यातव्यः। ततो विशेषतोयस्मिन्कर्मणि योऽग्निरुक्तः स चिन्तनीयः। तमाह-गृह्यासङ्ग्रहः–

"लौकिके पावको ह्यग्निः प्रथमः परिकीर्त्तितः।
अग्निस्तु मारुतो नाम गर्भाधानेऽभिधीयते ॥
पुंसवने चन्द्रनामा शुङ्गाकर्मणि शोभनः।
सीमन्ते मङ्गलो नाम प्रगल्भो जातकर्म्मणि ॥
नाम्नि स्यात्पार्थिवो ह्यग्निः प्राशने च शुचिस्तथा।
सत्यनामा च चूडायां व्रतादेशे समुद्भवः ॥
गोदाने सूर्यनामा स्यात्केशान्ते ह्यग्निरुच्यते।
वैश्वानरो विसर्गे च विवाहे योजकः स्मृतः ॥

"कपालैर्भिन्नपात्रैर्वा न त्वामैर्गोमयेन वा।
अग्निप्रणयनङ्कार्यं यजमानभयावहम् ॥
अल्पः प्रणीतो विच्छिन्नोऽसमिद्धश्चापरिश्रुतः।
त्वरया पुनरानीतो यजमानभयावहः ॥
तस्माच्छुभेन पात्रेण अविच्छिन्नाकृशं बहु।
अग्निप्रणयनं कुर्याद्यजमानसुखावहम् ॥
शुभं पात्रन्तु कांस्यं स्यात्तेनाग्निं प्रणयेद् बुधः।
तस्याभावे शरावेण नवेनाभिमुखञ्च तम् ॥" (१.६८) इति।

यत्तु'—'शरावे भिन्नपात्रे वा कपाले वोल्मुकेऽपि वा।
नाग्निप्रणयनं कुर्याद् व्याधिहानिभयावहम्" ॥

इति स्मृत्यन्तरदुदाहृतवचनविरोधात्कौथुमादिव्यतिरिक्तविषयम्। कांस्यादिपात्रसद्भावे शरावनिषेधकमिति राघवभट्टप्रभृतयः ॥ ११ ॥

एवं लक्षणादिकर्माभिधायाथान्यानपि आधानकालानुपदिशति त्रिभिः सूत्रैः—

प्रेते वा गृहपतौ परमेष्ठिकरणम् ॥ १२ ॥

[अब प्रश्न यह हैं कि यदि ब्रह्मचर्य की समाप्ति या विवाह के समय पिता आदि गृहपति जीवित हों तो ब्रह्मचारी को कब अग्नि का ग्रहण चाहिए ?]

[उत्तर] गृहस्वामी की मृत्यु हो जाने पर ही अग्नि का ग्रहण करना चाहिए ॥ १२ ॥

चतुर्थ्यान्तु शिखी नाम धृतिरग्निस्तथा परे।
प्रायश्चित्ते विधुश्चैव पाकयज्ञे च साहसः ॥
लक्षहोमे च वह्निः स्यात्कोटिहोमे हुताशनः।
पूर्णाहुत्यां मृडो नाम शान्तिके वरदस्तथा ॥
पौष्टिके बलदश्चैव क्रोधोऽग्निश्चाभिचारिके।
कोष्ठे तु जाठरो नाम क्रव्यादोमृतभक्षणे ॥"

इति। व्रतादेश उपनयनम्। व्रतस्य ब्रह्मचर्यस्य तत्र क्रोडीकारात् ॥ ततश्च तं तमग्निमावाह्य स्थापयित्वा सम्पूज्य च होतव्यमिति सकलवाक्यपर्यवसितार्थ इति ध्येयम् ॥ वह्निस्थापनानन्तरञ्च "इहैवायमितरो जातवेदा देवेभ्यो हव्यं वहतु प्रजानन्" इति मन्त्रेणाग्नेरुपस्थानं, मन्त्रलिङ्गात्। मन्त्रार्थस्तु—अयमितरः क्रव्यादादन्योमङ्गल्यः। इहैव मदीयगृह एव जातवेदाः जातप्रज्ञः जातधनो वा। वेत्तेर्ज्ञानार्थाल्लाभार्थाद्वा असुन् (उ० ४।१८८) अग्निः। वेद इत्यसुन्नन्तोधननामसु (निघं० २।१०।४) पठ्यते। प्रजानन्—स्वीयमधिकारं प्रकर्षेण जानानः। देवेभ्योऽस्मत्प्रत्तं हव्यं हवनीयं (हविः) वहतु= प्रापयतु। इति ॥

विमर्श—परमेष्ठीकरणम्—परमेष्ठितया अग्नेः स्वीकरणं यथा स्यात्तथा 'अग्निसमाधानं कुर्वीत' (१४ सूत्र)। यहाँ पर 'परमेष्ठिकरणम्' इस प्रकार ह्रस्व इकार युक्त पाठ कुछ ही प्रतियों में होने से अयुक्त है ॥ १२ ॥

वा–अथवा गृहपतौ=गृहस्वामिनि पितरि। अत्र वा शब्दोवैकल्पिकत्वमस्य (आधानकालस्य) दर्शयति[१]। प्रेते–इति प्रपूर्वा "दिण्गतावि"–ति (अ० प०) धातोः "गत्यर्थाकर्मके"–(पा० ३।४।७२)–त्यादिना कर्त्तरि क्तः। प्रकर्षेण इते गते अस्मल्लोकाल्लोकान्तरं, मृते इति तदर्थः। भ्रातृमतस्तु ज्येष्ठेन सर्वानुमतेन पैतृकधनविभागकाले[२] परमेष्ठिकरणम्। परमे श्रेष्ठे स्थाने तिष्ठतीति परमेष्ठी अग्निस्तस्य करणं यथोक्तेन विधिना स्वीकरणं समाधानं "कर्त्तव्यम्" इति वाक्यशेषः। अन्येत्वाचक्षते—क्रियाविशेषणमेतत्। परमेष्ठितयाग्नेः स्वीकरणं यथा स्यात्तथाऽग्निसमाधानं कुर्वीत

---

१. वस्तुतस्त्वनास्थायाम्। अग्रिम-(१।१।२०)—सूत्रदर्शनेन कालद्वयस्यैव मुख्यत्वेन सूत्रकृतोपसंहृतत्वावगमात ॥

२. एतच्च गौतममतम्। वस्तुतस्त्वेतज्ज्येष्ठक्रमन्नानुरुन्धे। पृथक् पृथक् धनस्वाम्यात्। यद्येकत्र तिष्ठेत्तदा तत्र—"ज्येष्ठः कुर्यात्तथाधानम्" इति कात्यायनस्वरसः। तथाच गौतमः। "भार्यादिरग्निर्दायादिर्वा" इति। "दायाद्यकाल एकेषाम्" इति च गृह्यान्तरम्। दायः पैतृकं धनम्। परेते हि गृहस्वामिनि दायसम्बन्ध पुत्राणामिष्यते। "ऊर्ध्वं पितुश्च मातुश्च समेत्य भ्रातरस्समम्। भजेरन्पैतृकमृक्थमनीशास्ते हि जीवतोः॥ इति "पितर्युपरते पुत्रा विभजेयुर्धनं पितुः। अस्वाम्यं हि भवेदेषां निर्दोषे पितरि स्थिते" इति चैवमादि। तच्चैकादशेऽहनि स्यात् प्रागनधिकारात्। दोषश्चाऽयथाविनियोक्तृत्वादिः। तथाच याज्ञवल्क्यः "अयथा विनियोक्ता च न विभागे पिता प्रभुः" इति। कर्कोपाध्यायास्त्वाहुः व्यवस्थितोऽयं गौतमाद्युक्तोविकल्पः। अभ्रातृकस्य दारकालः। भ्रातृमतोदायाद्यकाल इति। तेषामयमाशयः विभागमन्तरेण साधारणधनस्य परित्यागासम्भवादनधिकार एवाविभक्तानां धनसाध्येष्वाधानादिषु। अतो भ्रातृमतोविभागकाले एवाधिकारः। स एव कालोदायाद्यकाल इत्युच्यते। इति। गोभिलाचार्यैस्तु—"प्रेते वा गृहपताव"–ति द्वितीयवाशब्देन त्रिविध एव कालोऽनुमन्यते। तत्राद्यौ मुख्यावन्त्यो गौणः। न चाविभक्तधनस्य कथं परित्याग इति वाच्यम्। स्वस्वस्वस्य तथाप्यविशेषात्। निर्दोषे पितरि स्थिते पुत्राणामस्वाम्यमिति स्मरन्मुनिः प्रेते पितरि स्वाम्यमेषामनुमन्यते। नारदोऽपि स्मरति—

"यद्येकजाता बहवः पृथग्धर्म्माः पृथक्क्रियाः।
पृथक् कर्म्मगुणोपेता न चेत्कार्येषु सम्मताः ॥
स्वभागादथ दद्युस्ते विक्रीणीयुरथापि वा।
कुर्युर्यथेष्टन्तत्सर्वमीशास्ते स्वधनस्य व ॥" इति ॥

(१।१।१४) इति । तन्मते तु परमेष्ठीकरणमिति पाठः । एतच्चैकादशेऽहनि स्यात्प्रागतधिकात् । इति भट्टभाष्यम् ।। कात्यायनस्तु—

"एतद्गृहपतौ प्रेते कुर्यादेकादशेऽहनि ।

प्रागेवैकादशाच्छ्राद्धात्सद्योजागरणादिकम्" इत्यभिधाय--

"ज्येष्ठः कुर्यात्तथाधानं कनीयांश्च विवर्जयेत् ।
सैकादशेऽह्निकुर्वीत द्वादशे वा विचक्षणः ।।

इत्याह । तदत्र वृद्धिश्राद्धन्न भवति--

"न तत्पूर्वं यतः प्रोक्तः सपिण्डनविधिः क्वचित् ।
वृद्धिश्राद्धस्य लोपः स्यादुभयोरपि पक्षयोः" ।।

इति कर्म्मप्रदीपदर्शनात् ।। १२ ।।

तथा तिथिनक्षत्रपर्वसमवाये ।। १३ ।।

[अग्नि ग्रहण के सामान्यतः तीन काल इस प्रकार हैं—]

(जिस तरह से अन्त्य समिदाधान के लिए काल अपेक्षित है) वैसे ही (अग्नि स्थापन में) तिथि, नक्षत्र एवं पर्व के शुभ समवाय वाला समय अपेक्षित है ।। १३ ।।

तथेति । अग्न्याधाने यथाऽन्त्यसमिदाधानादिः [1]कालोऽपेक्षितस्तद्वदित्यर्थः । तिथिनक्षत्रपर्वणान्त्रयाणामेवैषां शुभानां यथोक्तानां समवाये— संयोगे सति अग्निसमाधानङ्कुर्वीते-(१।१।१४)-ति परेणाभिसम्बन्धः । केचित्तु व्याचक्षते-तथेति वैकल्पिकत्वं दर्शयति । नक्षत्रशब्दश्चैकोलुप्तवद्द्रष्टव्यः[2] तिथिश्च नक्षत्रं च तिथिनक्षत्रे । नक्षत्रञ्च पर्व च नक्षत्रपर्वणी । तयोस्तयोश्च समवायः संयोगस्तस्मिन् । तिथिरत्र [3]पर्वतरापर्वेति पुनः

---

१. आदिना जायापरिग्रहेच्छा-पितृमरणे । यत्तु-
"आधानस्य तु चत्वार उक्ताः कालाः पृथक् पृथक् ।
अन्त्या समिद् १ विवाहश्च २ विभागः ३ परमेष्ठिनः ४ ।।"

इति गृह्यासंग्रहवचनम् । तत्र तृतीयः कालो गौतमीयानाम् । तदितरे राणायनीयकौथुमानाम् ।।

२. तन्त्रावृत्तिन्यायेन सोऽन्त्रार्थवशादुन्नेयः । तिथिनक्षत्रपर्वणामेकत्र समवायासम्भवात् । एवमर्थकरणं युज्यत एव । भट्टभाष्ये तु-"नक्षत्रशब्दः काकाक्षिगोलकन्यायादुभयत्र संबध्यते" इत्युक्तम् । वाशब्दोलुप्तवद् द्रष्टव्यः" इति च ।।

३. "पौर्वापर्ये सति पूर्वदौर्बल्यम्" इति न्यायात् । एष न्यायः "विप्रतिषेधे परं कार्यम्" (१।४।२) इति पाणिनिस्मृतिमूलकः ।।

करणात् । नक्षत्रं [1]मघामृगशिरोहस्तादि । तयोः समवाये । पर्वाणि [2]तु—

"चतुर्द्दश्यष्टमी चैव अमावास्या च पूर्णिमा ।
पर्वाण्येतानि राजेन्द्र ! रविसंक्रान्तिरेव च ॥"

इत्यन्यत्रोक्तानि । अत्र रविसङ्क्रान्तिरित्येकं पदम् । "पञ्च पर्वाणी"ति पृथक् स्मृतेः । ततश्च तिथिनक्षत्रयोः, नक्षत्रपर्वणोश्च समवाये इत्यर्थः । उपलक्षणञ्चेदम्—

"वह्निग्रहं कुज-गुरु-ज्ञ-दिनेश-वारे माघादिषट्सु च मृदुध्रुववाह्नभेषु ।
कुम्भान्तभांशकविलग्नमशुद्धकालं लग्नस्थशीतगुसितौ च विहाय कुर्यात् ॥"

इत्यादेर्ज्योतिःशास्त्रोक्तकालविशेषस्य ॥ १३ ॥

तादृशः समयः शीघ्रं न घटेत चेत्तत्राह—

दर्शे वा पौर्णमासे वाऽग्निसमाधानं कुर्वीत ॥ १४ ॥

(तिथि, नक्षत्र एवं पर्व के समवाय वाला शुभ समय मिलने में यदि विलम्ब जान पड़े तो किसी) अमावस्या अथवा पूर्णिमा तिथि को अग्नि का ग्रहण करे ॥ १४ ॥

वा–अथवा दर्शे–अमावास्यायाम् । पौर्णमासे–पूर्णिमायाम् , वा अग्नि समाधानम् = अग्नेः सम्यक्[3] (यथाशास्त्रम) आधानम्–आभिमुख्येन स्थापनं

---

१. अत्र नक्षत्रं माससंज्ञानिमित्तं चित्रादिकमितिचन्द्रकान्तभाष्यम् । वसन्तर्त्तोरेवाग्न्याधानकालत्वेन विप्रेषु प्रसिद्धेश्चित्रायाः स्वोपलक्षितमासस्य वर्षादिव्यापकत्वात् । वस्तुतस्तु न चित्राया एवस्वोपलक्षितमासान्तस्य वर्षादिज्ञापकत्वम् । अतएवाग्रहायणिक इतिसमाख्या कोशेषु वर्षादिमासस्योपपद्यते । मघाद्यानामेवाधानत्वं ज्यौतिषे । यथाचोपरिष्टाद् व्यक्तीभविष्यति ॥

२. अत्रपर्व पौर्णमासम् । तयोः समवाये वाऽग्निसमाधानं कुर्वीतेति चन्द्रकान्तभाष्यम् । यद्वाऽत्र (उत्तरवाक्ये) नक्षत्रपदं श्रुत्युक्तनक्षत्रपरम्, तथाच "कृत्तिकासु रोहिण्यां मृगशिरसि फल्गुनीषु विशाखयोरुत्तरयोः प्रौष्ठपदयोरेतेषां कस्मिंश्चित्" इतिश्रौताश्वलायनयोः "या वैशाखस्यामावास्या रोहिण्या सम्बध्यते तस्यामादधीत" इति श्रुत्युक्तयोर्वा समवाये इत्यर्थः । तदिदमाधानकालद्वयं, यश्च तिथिनक्षत्रसमवायः । यश्च नक्षत्रपर्वसमवायः । इति ॥ भट्टभाष्ये तु तिथिना पौर्णमास्या यानि नक्षत्राणि समाख्यायन्ते तानि तिथिनक्षत्राणि मघादीनि द्वादश । तेषामन्यतमस्य पर्वणा पौर्णमासेन समवायः संयोगस्तिथिनक्षत्रपर्वसमवायस्तस्मिन् इत्युक्तम् । अस्मिंश्च नयेऽनेन सूत्रेणैक एवाधानकालोऽभिहित इत्यवगन्तव्यम् ॥

३. अन्ये तु व्याचक्षते—समेत्य मिलित्वा आधानं समाधानम् । अन्यथाऽग्न्याधानं कुर्वीतेत्युक्त्यापि प्रकृतार्थसिद्धिसम्भवात् समिति व्यर्थं स्यादिति । केनेति सहका-

तदनु पोषण (रक्षणं)[१] च कुर्वीत। इदञ्चाधानमग्रजे क्लीबत्वादिदोषरहिते तदैव कार्यं, यदासोऽनुमन्यते नान्यथा। तथा चोक्तं शङ्खेन––

"अग्रजः स्याद्यदाऽनग्निरधिकार्यनुजः कथम्?।
अग्रजानुमतः कुर्यादग्निहोत्रं यथाविधि॥"

इति पितर्यनग्नावपि पुत्रस्याधानाऽधिकारो न विहन्यते तथा चोक्तं तेनैव (श०)––

"पितुर्यस्य न चाधानं कथं पुत्रस्तु कारयेत्?।
अग्निहोत्राधिकारोऽस्ति शङ्खस्य वचनं यथा॥"

आधानपरिपाटी चाचार्येणानुक्ताऽपि––

"परिधायाऽहतं वासः प्रावृत्य च यथाविधि" इत्येवमादिकर्म्मप्रदीपवचनेभ्य एवावगन्तव्यन्नत्वध्वर्युभ्यो गृहीतव्यम्। परोक्तत्वात्[२]। वा शब्दद्वयं तुल्यवद्विकल्पार्थम्। इति भाष्यकृतः। वस्तुतस्तु। कालविलम्बस्य सोढुम् अयोग्यत्वात् यदा तदा वा झटिति समाधानमग्नेः[३] कुर्वीतेति–अनास्थायामपरो वाशब्दः॥ १४॥

र्याकाङ्क्षायामाह कर्मप्रदीपः—"नैकयाऽपि विना कार्यमाधानं भार्यया द्विजैः। अकृतं तद्विजानीयात्सर्वा न त्वारभन्ति यत्" इति। अत्र विशेषमाह–कात्यायनः (८. ९–१०)—

"वर्णज्येष्ठ्येन बह्वीभिः सवर्णाभिश्च जन्मतः।
कार्यमग्निच्युतेराभिः साध्वीभिर्मन्थनं पृथक्॥
नात्र शूद्रां नियुञ्जीत न द्रोहद्वेषकारिणीम्।
नाशासनस्थां नान्येन पुंसा च सह संगताम्॥
ततः शक्तिवरा पश्चादासामन्यतमैव या।
उपेतानाञ्चान्यतमा मन्थेदग्निं निकामतः॥" इति॥

१. दधातेर्द्धारणपोषणोभयार्थत्वस्मरणात्। पोषणमत्र संरक्षणं दधातेरर्थः।

२. परोक्तत्वेनाक्रियात्वात्। तथाचच्छन्दोगपरिशिष्टम् (३. १–२)—

"अक्रिया त्रिविधा प्रोक्ता विद्वद्भिः कर्म्मकारिणाम्।
अक्रिया च परोक्ता च तृतीया चायथाक्रिया॥
स्वशाखाश्रयमुत्सृज्य परशाखाश्रयञ्च यः।
कर्त्तुमिच्छति दुर्मेधा मोघं तत्तस्य चेष्टितम्॥" इति॥

३. दर्शे वा पौर्णमासे वा यस्मिन्कस्मिन्नप्येकस्मिन्न तु नक्षत्रयोगाद्यपेक्षया करणविलम्बी स्यात्। "न श्वः श्वरुपासीत को हि मनुष्यस्य श्वो वेद" इति श्रुतेः। "श्वः कार्यमद्य कुर्वीत पूर्वाह्णे चापराह्णिकम्। नहि प्रतीक्षते मृत्युः कृतं वाऽस्य न वाकृतम्" स्मृतेश्च। कालाऽतिक्रमेऽप्यग्न्याधानस्य प्रायश्चित्तमाह कात्यायनः "यावन्त्यब्दान्यतीतानि निरग्नेर्विप्रजन्मनः। तावन्ति कृच्छ्राणि चरेद्धौम्यं दद्याद्यथाविधि"॥ इति। तथा चातिक्रान्तसंवत्सरसंख्यया प्राजापत्यव्रतरूपं प्रायश्चित्तं मुख्यविधिना चरित्वा तद-

अथ कुतोऽग्निरुपादेय इत्यग्नियोनयस्त्रिभिः सूत्रैरभिधीयन्ते—

वैश्यकुलाद्वाऽम्बरीषाद्वाऽग्निमाहृत्याऽभ्यादध्यात् ॥ १५ ॥

वैश्य जाति के गृहस्थ के घर से अथवा भड़भूजा (=अम्बरीषात्) से अग्नि लाकर आधान करे ॥ १५ ॥

वैश्योद्विजेषु तृतीयोवर्णः शुद्ध एवाभिजनतस्तस्य कुलाद् गृहात् "कुलञ्जनपदे गोत्रे सजातीयगणेष्वपि। भवनेऽपि तनौ क्लीबं कण्टकार्यौषधे कुली" इति मेदिनी। वा-अथवा। अम्बरीषात्-भ्राष्ट्रात्। (यवादिभर्जनसाधनात्) "अम्बरीषञ्च भ्राष्ट्रोना" इत्यमरः। अग्निमाहृत्यानीय अभि-आभिमुख्येनादध्यात् स्थापयेत्-वा शब्दौ[1] व्याख्यातौ। स खल्वयमग्निर्हुतोच्छिष्टः संस्कृतो वा गृह्यते। अविशेषादिति कर्कोपाध्यायाः ॥ १५ ॥

अपिवा बहुयाजिन एवागाराद् ब्राह्मणस्य वा राजन्यस्य वा वैश्यस्य वा ॥ १६ ॥

अथवा, जो बहुयाजी हो उसके घर से अग्नि लाकर आधान करे, चाहे वह बहुयाजी ब्राह्मण हो, क्षत्रिय हो अथवा वैश्य ही क्यों न हो—(इसमें कोई आपत्ति नहीं है)॥ १६ ॥

अपिवा—अथवा। इत्यम्बरीषात् पक्षान्तरमुपदिशति। बहुभिः (सोमैः) येनेष्टं स बहुयायीत्युच्यते। तस्यैवेत्येवकारस्तदितरं व्यवच्छिनत्ति। [2]आगारात्—गृहात्। "गृहङ्गेहोदवसितं भवनागारमन्दिरम्" इत्यमरः। अग्निमाहृत्याभ्यादध्यादिति गतेनाभिसम्बध्यते। कस्य बहुयाजिन इत्यपेक्षायामाह ब्राह्मणस्य वेत्यादि। तदयमर्थः। बहुयाजिनोऽग्न्याहरणं विधेयम्। स

शक्तौ प्रतिप्राजापत्यं धेनुं तन्मूल्यं वा दत्वा द्वादशब्राह्मणभोजनमयुतगायत्रीजपं वा गायत्र्या तिलाज्यसहस्रहोमं वा शक्त्यपेक्षयाऽन्यतमं विधाय होम्यं-सायम्प्रातर्होमद्रव्यं प्रत्यहमाहुतिचतुष्टयपर्याप्तमतिक्रान्तदिवसान्गणयित्वा ब्राह्मणेभ्यो दद्यात्। अत्र प्रशंसा वाक्यं तत्र गृह्यकाण्डे—

"नावसथ्यात् परोधर्म्मो नावसथ्यात् परं तपः।
नावसथ्यात् परं दानं नावसथ्यात् परं धनम् ॥
नावसथ्यात् परं श्रेयो नावसथ्यात्परो यशः।
नावसथ्यात्परा सिद्धिर्नावसथ्यात्परा गतिः ॥
नावसथ्यात्परं स्थानं नावसथ्यात्परं व्रतम्।"

इत्यावश्यकत्वान्नित्यम्। श्रुतिरपि—"यावज्जीवमग्निहोत्रञ्जुहुयादि" ति तस्मात्तदकरणे प्रत्यवाय इति तत्त्वयार्थम्प्रायश्चित्तमुचितम् ॥

१. अनुपदं १४ सूत्रे ॥

२. कथंनाम यद्योनिकः प्रथमाधानेऽग्निराहितोऽनुगतोऽपि पुनस्तस्या एव योनेराहार्य इति। तथाच शाखान्तरम् "पूर्वं वाऽनुगतेऽग्नौ योनिः पुनराधेये"-ति।

च त्रयाणामन्यतमो यः कश्चन भवेन्नाम। वाशब्दत्रयं तुल्यवद्विकल्पार्थम्। वैश्यकुलादिति सामान्यतोऽभिधाय तस्यैव बहुयाजित्वविशेषणेन पुनरुपादानमपुनरुक्तिरेव। पूर्वत्रानुपादाने बहुयाजिन एव ततोऽग्निराधेयः स्यान्नाबहुयाजिनोपीत्यत उभयत्रोपादानम् ॥ १६ ॥

अपिवाऽन्यं[1] मथित्वाऽभ्यादध्यात् ॥ १७ ॥

अथवा अरणि-मन्थन करके दूसरी नवीन अग्नि का ग्रहण करे ॥ १७ ॥

अपिवा-अथवा मथित्वा। "अरणिद्वयम्"-इति शेषः। तल्लक्षणं तु

"अश्वत्थो यः समीगर्भः प्रशस्तोर्वीसमुद्भवः।
तस्य या प्राङ्मुखी शाखा वोदीची वोर्ध्वगाऽपि वा ॥
अरणिस्तन्मयी प्रोक्ता तन्मय्येवोत्तरारणि" इति कर्म्मप्रदीपोक्तम् ॥

अरणिः-अधरारणिः। गृह्यासङ्ग्रहेऽपि-

"देवयोनिः स विज्ञेयस्तत्र मथ्योहुताशनः।" इति।

मथनप्रकारोऽपि--

"बिभृयात्प्राङ्मुखो यन्त्रमावृत्त्या वक्ष्यमाणया"
इत्यादिना कर्म्मप्रदीप एवोक्तः ॥

अन्यम्। अपरम्। नूतनमेवाग्निम् अभ्यादध्यात्। "अरणिप्रदानमेके" इति "आरणेयमुरु[2] पुण्यकोषकाम" इति च गृह्यान्तरदर्शनात् ॥ १७ ॥

पुण्यस्त्वेवाऽनर्द्धुको भवतीति ॥ १८ ॥

यथाकामयेत तथा कुर्यात् ॥ १९ ॥

अरणि मन्थन से उत्पन्न अग्नि का स्थापन न करे क्योंकि अरणि मन्थन से प्राप्त नवीन अग्नि में आगे कहे जाने वाले अनुष्ठानों में पुण्य तो होता है किन्तु समृद्धि नहीं होती ॥ १८ ॥ इसलिए जैसी कामना हो वैसा करे ॥ १९ ॥

विमर्श—नर्द्धुः कः = ऋद्धिशून्यः पुण्यः।

---

१. परिशिष्टप्रकाशे तु "अपिवाऽरणिम्" इति पाठः ॥

२. उरुपुण्यकोषश्चनयन्नारणेयस्तेनैव ब्रह्मवर्चसमधिकमपि जनयितुमलं भवति तदधीनत्वात्तेषां, तथाच स्मर्यते—"नहि पुण्यकृतः किञ्चित्त्रिपुलोकेषु दुर्लभम्। दुष्प्रापमपि येनाप्तं ब्राह्मण्यं गाधिसूनुना॥" इति। स्वाधीनाचेयमन्या योनिः पराधीना चान्या। दैवाच्च पुनराधातव्ये पूर्वैव योनिराश्रयितव्या भवति। "पूर्वैव योनिः पूर्वाऽऽवृत्पुनराधानकर्म्मणि" इति कात्यायनस्मरणात्। तत्र च स्वाधीनाऽन्यैव योनिः सुलभा। न तथान्येति तदलाभे पुनराधाता प्रत्यवेयादेव। अन्येऽनयः कर्मणैवाधानेनानर्द्धुकः। अयं तु आरणेयः स्वनिष्ठर्द्धिसाधनहोमैः शक्नोति प्रणाल्या ऋद्धिं साधयितुमित्यदोषः। अतएव आह कर्म्मप्रदीपः—"पुण्यमेवादधीताग्निं स हि सर्वैः प्रशस्यते।
अनर्द्धुकत्वं यत्तस्य काम्यैस्तन्नीयते शमम्" इति ॥ (६. १२)

ऋद्धिरिति ब्रह्मवर्चसादिकमुच्यते। तां न जनयतीत्यनर्द्धुकः। आर्षः प्रयोगः। प्रकृतत्त्वादयमारणेयोऽग्निरनर्द्धुकः। ऋद्धिजनको न अपितु पुण्यस्तज्जनकएव भवति। तु [1]शब्दो वैशेष्यमवगमयत्यारणेयस्य। ब्राह्मणकुलादियोनयः खल्वग्नयोजनयन्ति ब्रह्मवर्चसादिकामृद्धिम्। अयं तु न तथेत्यनर्द्धुक इत्याह। तथाच गृह्यान्तरम्—"ब्राह्मणकुलाद् ब्रह्मवर्चसकामोऽग्निमाहृत्याभ्यादधीत। [2]राजन्यादोजोवीर्यकामः। वैश्यात्पुत्रपशुकामः। अम्बरीषाद्धनधान्यकामः। आरणेयमुरुपुण्यकोषकाम" इति। इति-रेतावत्य एवाग्निजो नय इति दर्शयति। अन्ये [3]त्वाचक्षते-इति हेतौ। अतो हेतोः यथा कामयेत तथा कुर्यात्॥ स यदि ऋद्धिं कामयेत तदा ब्राह्मणादिकुलादेरग्निमाहृत्याभ्यादध्यात्। यदि तु पुण्यमात्रं कामयेत तर्ह्यरणिन्निर्म्मथ्यैवेति॥ १८—१९॥

स यदेवान्त्यां समिधमादधाति, जायाया वा पाणिञ्जिघृक्षञ्जुहोति, तमभिसर्य्यञ्चेत् ॥ २० ॥

इस प्रकार अग्नि का आहरण करके जिस (अग्नि) में अन्तिम समिधा का आधान करे अथवा विवाह में लाजा-होम आदि जिस (अग्नि) में सम्पन्न करे उस अग्नि को बड़े ही यत्न से सुरक्षित रखना चाहिए॥ २०॥

स-यथोक्तः कर्त्ता। यदेव[4] यस्मिन्नेवाग्नौ-अन्त्यां समिधमादधाति। यस्मिन्नेव वा जायायाः पाणिञ्जिघृक्षञ्जुहोति। लाजादिकमित्यर्थवशादुन्नेयम्। तमग्निमभिसर्य्यञ्चेत्-यत्नेन रक्षेत्॥ २०॥

स एवास्य गृह्योऽग्निर्भवति ॥ २१ ॥

वही (अग्नि) इस (ग्रहण करने वाले) की 'गृह्य-अग्नि' होती है॥ २१॥

विमर्श—यही उसकी 'गृह्य' नामक अग्नि है अर्थात् इसी अग्नि में उसे बहुत

---

१. तदेतदनुपदमुक्तं गृह्यान्तरव्याख्यायाम्।

२. राजन्यात्तत्कुलादेवमग्रेऽपि व्याख्येयम्।

३. एतच्च चन्द्रकान्तव्याख्यानं, तन्मते उत्तरसूत्रस्य सत्स्वेतेष्वाधानकालेषु सतीषु चैतास्वग्नियोनिषु तथा कामयेतेच्छेताधानकर्त्ता तथा कुर्यादाधानमिति वाक्यशेषः।

४. चन्द्रकान्तस्तु—एवकारादितिकर्त्तव्यतान्तरं व्यवच्छिनत्ति। तथाच तमेवाग्निमाभिमुख्येन (पूर्णाहुत्या संस्कृतम्) सर्य्यञ्चेद्धारयेत् (रक्षेत्) नान्यामिति कर्त्तव्यतामपेक्षेतेति तदर्थः॥ आधानं प्रत्यविलम्बित्वज्ञापनाय हि पुनर्वचनम्। इति। अत्र यदिति यस्मिन्नर्थेऽव्ययम्॥

दिनों तक अपने सभी गृह्य कर्म करने होंगे। इस प्रकार गृह के लिए हितकर और गृह कर्मों के लिए परमोपयोगी होने के कारण इसकी 'गृह्य' नाम से प्रसिद्धी है॥ २१॥

स यथोक्त एव न पुनरन्य इत्यन्यस्मिन्नग्नावस्य होमस्य प्रतिषेधो गृह्याग्निसंपाद्यकर्म्मसु, अन्याहिते गृह्येऽपीति विज्ञायते[1]। अस्य-आधातुः गृह्यः गृहाय हितः। गृहकर्मोपयोगी [2]गृह्यनामा वाऽग्निर्भवति। सोऽयमग्निरस्याधातुरेव गृह्यो भवति। पुनरन्यस्येति वा सूत्रार्थः। तदेतत्सर्वमाह **कात्यायनः**—

"नह्याहिताग्नेः स्वङ्कर्म्म लौकिकेऽग्नौ विधीयते" इति।

तथा (का० सं० १८. १८)--

"यस्याग्नावन्यहोमः स्यात् स वैश्वानरदैवतम्।
चरुं निरुप्य जुहुयात्प्रायश्चित्तन्तु तस्य तत्॥" इति।
"परेणाग्नौ हुते स्वार्थं परस्याग्नौ हुते स्वयम्॥"

इति चैवमादि। अस्य चापवादः पुरस्तादेवोक्तः[3] ॥ २१॥

तेनैवास्य प्रातराहुतिर्हुता भवतीति ॥ २२ ॥

और यही अन्त्याहुति (अन्त्य समिदाधान की आहुति) अथवा लाजा-होम की आहुति ही उसकी प्रातःकालीन आहुति सिद्ध होगी। (उस दिन दूसरी प्रातःकालीन आहुति की आवश्यकता नहीं होती है) क्योंकि यही प्रातःकालीन आहुति सिद्धाहुति मानी जाती है)॥ २२॥

अपिच—

तेनैव अन्त्यसमिदाधानेन लाजाहोमेन वा अस्याग्नेराधातुः प्रातराहुतिः हुता दत्ता भवति। तद्दिने अपरा प्रातराहुतिर्नापेक्ष्यते[4] इति भावः। अयमर्थः-दिवा रात्रौ वा विवाहे तद्दिनेऽपरदिने वा सायमेवाहुतिर्भवति नापरेद्युः प्रातरिति। तथा चोक्तम्--"यदा अह्नि विवाहहोमस्तदा सायंकाले होमारम्भः। यदा तु रात्रौ विवाहहोमस्तदोत्तरेद्युः सायङ्काल एव होमारम्भः" इति। तथाच स्मृत्यन्तरम्--

---

१. एवकारस्वरसात्।

२. गृहपदमत्र गृहस्थपरं तदाश्रमस्थस्य सायम्प्रातराहुत्यादिसकलश्रौतस्मार्त्तकर्म्मात्र गृहकर्म्माभिधीयते। न लौकिकाग्निसादयं पाकादीति बोध्यम्॥

३. ब्रह्मचारीत्यादिसूत्रे (१।१।७)॥

४. तत्कार्यस्य तेनैव निष्पत्त्यभ्युपगमात्॥

"यस्मिन्नह्नि विवाहः स्यात् सायमारभ्य तस्य तु ।
परिचर्य्या विवाहाग्नेर्विदधीत स्वयं द्विजः ॥
यदि रात्रौ विवाहाग्निरुत्पन्नः स्यात्तथा सति ।
उत्पन्नस्योत्तरस्याह्नः सायं परिचरेदमुम् ॥" इति ।

इतिशब्द आधानप्रकरणसमाप्तिद्योतकः ॥ २२ ॥

॥ इत्यग्न्याधानप्रकरणम् ॥

उक्तमर्थमनुवदन्नित्यहोमकालारम्भ उच्यते--

सायमाहुत्युपक्रम एवात ऊर्ध्वं गृह्येऽग्नौ होमो विधीयते ॥ २३ ॥

(उस दिन की प्रातःकालीन आहुति उस प्रकार सिद्ध होने पर भी) उस दिन की सायंकालीन आहुति की विधि उपदेष्टव्य है। इसीलिए इसके पश्चात् (सामान्यतः सभी दिन के लिए ही) गृह्य अग्नि में प्रातः और सायं के होम के प्रकार का विधान किया जाता है ॥ २३ ॥

अतः यथोक्ताग्निपरिग्रहात् । ऊर्ध्वम्--अनन्तरम् । प्रातराहुत्युपक्रमः । प्रातराहुत्या य उपक्रम्यत आरभ्यते स तथाविध एव [1]होमो गृह्येऽस्मिन् अग्नौ । विधीयते = उपदिश्यते । [2]आचार्येण । एवकारेणैतद्दर्शयति यत्केषाञ्चिच्छाखिनामग्निहोत्रं यथाप्रातराहुत्याऽऽरभ्यते सायमाहुत्या च सन्तिष्ठते[3] न तथा कौथुमादीनामिति ।[4] तदत्र सायमाहुत्युपक्रमं प्रातराहुत्यन्तमेकं कर्म्मेति विज्ञायते । यथाह कात्यायनः--

"सायमादिप्रातरन्तमेकं कर्म्म प्रचक्षते" इति ॥ २३ ॥

पुरा प्रादुष्करणवेलायाः सायं प्रातरनुगुप्ता अप आहरेत् परिचरणीयाः ॥ २४ ॥

सायं और प्रातः अग्नि के प्रज्वलित करने की बेला से पहले आचमन आदि के लिए (परिचरणीय) पवित्र एवं सुरक्षित जल लावे ॥ २४ ॥

---

१. देवतोद्देशेन समन्त्रं द्रव्यत्यागो होमः । स च येनैव हविषा कृतेनाकृतेन वा दध्ना पयसा वा सायं होमः कृतस्तेनैव प्रातर्होमोऽपि समापनीयोऽन्यत्र प्रतिनिधेः । प्रतिनिधिश्च कात्यायनेनोक्तः । "यथोक्तवस्त्वसम्पत्तौ ग्राह्यन्तदनुकारियत् । यवानामिव गोधूमाः व्रीहीणामिव शालयः ॥" इति ॥

२. अत्राऽपवर्गविहितमप्यभिरूपभोजनं प्रातुराहुत्यनन्तरमेवेति बोध्यम् ॥ अनुपदं प्रदर्शयिष्यमाणकात्यायनवचनात् । उपदेशश्च तत्प्रकारस्यानन्तरसूत्रैः पञ्चभिः ॥

३. समाप्तिङ्गच्छति "संस्थाऽऽधारे स्थितौ मृतौ" इत्यमरः ॥

४. आदिना राणायनीयपरिग्रहः ॥

प्रादुष्करणवेलायाः "पुरस्तादग्निं प्रादुष्कृत्ये"--(१-१-२२८) -त्यादिसूत्राभ्यां वक्ष्यमाणायाः पुरा पूर्वं सायं प्रातश्च[1] अनुगुप्ता अप आहरेत् काः ? परिचरणीयाः परिचर्यन्ते निर्वाह्यन्ते आचमनादीनि याभिरिति बाहुलकात् (पा० ३।३।११३) करणेऽनीयर् ॥ २४॥

अपि वा सायम् ॥ २५ ॥

अथवा, सायंकाल प्रतिदिन एक बार ही जल को लाने से दोनों समय का काम हो सकता है ॥ २५ ॥

अपि वा-अथवा सायम् । पुनर्वचनात्सायमेव अप आहरेत् परिचरणीया इति सम्बध्यते । सायमाहृताभिरेवाद्भिः सायं प्रातश्च परिचरेदित्यर्थः ॥२५॥

अपि वा कुम्भाद्वा मणिकाद्वा गृह्णीयात् ॥ २६ ॥

अथवा (एक दिन सायंकाल या प्रातःकाल अग्नि प्रज्वलित करने के पूर्व ही इस जल को लाकर किसी कलश में या घड़े (= मणिका = मटका) में रख देना चाहिए । बाद में सायं-प्रातः आवश्यकतानुसार उस कलश से या मटके से जल लेना चाहिए ॥ २६ ॥

अपिवा=अथवेत्याहरेदित्यपेक्षया विकल्पार्थः । अपिवा गृह्णीयादिति । कुम्भात् घटात् वा मणिरेव माणिकस्तस्मात् अलिञ्जरात् वा "अलिञ्जरः स्यान्मणिक" इत्यमरः । महतो जलकुम्भाद्वा । वाशब्दद्वयं तुल्यवदनयोर्विकल्पार्थम् । गृह्णीयात्=प्रकृतत्वादपः परिचरणीयाः । "निर्णिक्तकरचरणमुखी-पत्नी शिष्योवाऽऽचम्य कुम्भादेरप उद्धृत्याऽऽचमनं दद्यात्ताभिः परिचरेद्" इति भट्टभाष्यम् ॥ ६ ॥

पुरास्तमयादग्निं प्रादुष्कृत्यास्तमिते सायमाहुतिञ्जुहुयात् ॥ २७ ॥

[सायंकालीन आहुति का समय]—

सायंकाल सूर्यास्त के पहले ही उसी (पूर्वोक्त) रक्षित अग्नि को सम्यक् रूप से (प्रादुष्कृत्य =)प्रदीप्त करके सूर्यास्त के समय सायंकालीन आहुति देनी चाहिए ॥ २७ ॥

पुरा-प्रथमम् । कस्मात् ? अस्तमयाद् अर्थात्सवितुः । कात्यायनोऽप्याह—

"सूर्येऽस्तशैलमप्राप्ते षट्त्रिंशद्भिरथाङ्गुलैः ।
प्रादुष्करणमग्नीनां पुरा भासाञ्च दर्शनात् ॥" (६. १) इति ।

---

१. विनाऽपि च समुच्चयो द्योत्यते "गामश्वं पुरुषं पशुम्" इत्यत्र यथा ।

तस्मिन्काले अग्निमाहितं प्रादुष्कृत्य प्रकटीकृत्य प्रज्वाल्य अस्तमिते सवितरि। कात्यायनोप्याह (९. ३)--

"यावत्सम्यङ् न भाव्यन्ते नभस्यृक्षाणि सर्वतः।
न च लौहित्यमापैति तावत्सायञ्च हूयते" ॥

इति कर्मप्रदीपपरिदर्शिते काले सायमाहुतिमग्निहोत्रलक्षणाञ्जुहुयात् ॥२७॥

पुरोदयात्प्रातः प्रादुष्कृत्योदितेऽनुदिते वा प्रातराहुतिञ्जुहुयात् ॥२८॥

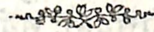
॥ इतिगोभिलीये गृह्यसूत्रे प्रथमप्रपाठकस्य प्रथमाकण्डिका ॥ १ ॥ १ ॥*॥



[प्रातःकालीन आहुति का समय]—

प्रात-काल सूर्योदय के पहले उसी रक्षित अग्नि को सन्दीप्त करके सूर्य के उदय से पहले या उदित होते समय प्रातःकालीन आहुति देनी चाहिए ॥ २८ ॥

॥ इस प्रकार महाकवि पं० रामकुबेर मालवीय के द्वितीय आत्मज डॉ०
सुधाकर मालवीय कृत गोभिल गृह्यसूत्र के प्रथम प्रपाठक का
प्रथम कण्डिका का हिन्दी अनुवाद पूर्ण हुआ ॥ १ ॥



पुरा = पूर्वमुदयात् सवितुः। तमिमं सामान्येनाभिहितं कालं विशिनष्टि प्रातरिति "चतस्रो घटिकाः प्रातररुणोदय उच्यते" इति स्मृत्युक्तक्षणे इत्यर्थः। अत एव कात्यायनोऽपि "प्रातर्भासाञ्च दर्शनात्" इत्याह।

एतस्मिन्नेव खलु काले प्राचीदिगरुणकिरणारुणीकृता भवति। तदैतस्मिन् काले प्रादुष्कृत्य प्रज्वाल्य प्रकृतत्वादग्निम्। उदिते उद्गते रवौ--

'हस्तादूर्ध्वं रविर्यावद् गिरिं हित्वा न गच्छति।
तावद्धोमविधिः पुण्यो नान्योऽभ्युदितहोमिनाम् ॥' (का०सं०९.२)

इति कर्म्मप्रदीपस्पष्टीकृते काले अनुदितेऽल्पो[1] दित इति चन्द्रकान्त[2] भाष्यम्। रात्रेः षोडशमे भागे इति प्रमाणिकाः। तथाच गृह्यासङ्ग्रहे कात्यायनः (१. ७२-७५)--

१. नञोल्पार्थत्वमनुदराकन्येत्यादौ दृष्टम्। यथाहुः "तत्सादृश्यमभावश्च तदन्यत्वं तदाल्पता। अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्थाः षट् प्रकीर्त्तिताः" इति ॥

२. तस्यायमाशयः "रेखामात्रं तु दृश्येत रश्मिभिश्च समन्वितम्। उदयं तं विजानीयात् होमङ्कुर्याद्विचक्षणः" इति गृह्यपरिशिष्ट-(गृ० सं०)-वचने उदयमित्यल्पोदयपरं "अल्पत्वादसत्त्वमुपचर्यते" इति न्यायस्याल्पधनोऽधन एकपुत्रोऽपुत्र इत्यादौ दर्शनात्। तथाभूत उदयोऽनुदय एव। अत एवोदितहोमिनाङ्कालः कर्म्मप्रदीपेन "हस्तादूर्ध्वं रवि

'रात्रेः षोडशमे भागे ग्रहनक्षत्रभूषिते ।
अनुदयं विजानीयाद्धोमं तत्र प्रकल्पयेत् ।।'

इति। तथाचानुदित इत्यस्योदयमप्राप्त इत्येवार्थः। प्रातराहुतिमग्निहोत्रलक्षणां जुहुयात्। वाशब्दादुदितानुदितहोमयोर्वैकल्पिकत्वं दर्शयति। यथाह मनुः (२. १५)—

'उदितेऽनुदिते चैव समयाध्युषिते तथा ।
सर्वथा वर्त्तते यज्ञ इतीयं वैदिकी श्रुतिः ।।' इति ।

सम्पूर्णादित्यमण्डलरूपदर्शनोपलक्षितः काल उदितः। उदयात्पूर्वमरुणकिरणवान्प्रविरलतारकोऽनुदितः। सूर्यनक्षत्रवर्जितः कालः 'समयाध्युषितः। अनयोरनुदित एवान्तर्भावः। तत्र वाजसनेयिनां नियमेनानुदित होमः। 'सूर्यो ह वा अग्निहोत्रम्' इत्यारभ्य 'तस्मादुदितहोमिनां विच्छिन्नमग्निहोत्रं मन्यामहे' इत्यन्तेन (शत. ब्रा.) श्रुतिसमाम्नायेनोदितहोमनिन्दापूर्वकमनुदितहोमस्य समर्थितत्वात्। छन्दोगानामुदितानुदितयोर्विकल्पः आश्वलायनानां पुनरुदितहोमनियमः। तथाच **तैत्तिरीयब्राह्मणम्**—

'प्रातः प्रातरनृतन्ते वदन्ति पुरोदयाज्जुह्वति येऽग्निहोत्रम् ।
दिवा कीर्त्यमदिवा कीर्त्तयन्तः सूर्योज्योतिर्नच ज्योतिस्तदैषाम् ।।'

इति अनुदितनिन्दार्थवादपुरस्सरमुदितहोमस्यैव 'उदिते होतव्यम्' इति श्रुत्या बोधनात् ।।

अत्र **भट्टभाष्ये**—'प्रादुष्करणोपदेशाच्च पृथगग्न्यगारं दर्शयति पृथक् च महानसम्। अग्न्यगारात् प्रभृति धूमं शातयन्निति च लिङ्गात्। अन्यथा सदैव प्रादुष्कृतत्वात् प्रादुष्करणमेव न स्यात्। यत्रार्थयुक्त्या महानसादावग्न्यव-

---

र्यावद्" इत्यादिना स्पष्टीकृतः। व्याख्यातञ्च परिशिष्टप्रकाशकृता "अभ्युदित" इत्यभिशब्दस्य सर्वतोभावार्थकस्योपादानात् सम्पूर्णसूर्यमण्डलदर्शने उदितहोमो न त्वर्धोदिता दावित्यवगन्तव्यमिति। अत एव मन्वर्थमुक्तावल्यां हरिहरभाष्ये च सम्पूर्णसूर्यमण्डलरूपदर्शनोपलक्षितः कालएवोदितपदेनोक्तः। एवमुक्तलक्षणे रेखामात्रोदितरूपानुदिते कुतश्चित्प्रतिबन्धाद्धोतुमशक्नुवतामनुदितहोमिनां लोप एव प्रातराहुतेरापद्येतातस्तत्राशक्तोऽभ्युदिते जुहुयादिति कर्म्मप्रदीपवचनार्थः। श्रुतिश्चास्यामेवाशक्तिदशायामुदितहोमं निन्दति "श्यावोऽस्याहुतिमभ्यवहरति य उदिते जुहोति" इति। "यथाऽतिथये प्रद्रुतायान्नमाहरेयुस्तादृक् तद्यदुदये जुहोतीति" चैवमादिका॥ श्यावः श्यावविशेषः। "श्वानौ द्वौ श्यावशबलौ वैवस्वतकुलोद्भवौ। ताभ्यां पिण्डं प्रयच्छामि स्यातामेतावहिंसकौ॥' इत्यत्र तथाभिधानात्॥

१. तथाच "ततः प्रभातसमये नष्टे नक्षत्रमण्डले। रविबिम्बं न दृश्येत समयाध्युषितं स्मृतम्" इति॥ मन्वर्थमुक्तावल्यादावप्येवमेव॥

यबाः प्रणीयन्ते। तत्र तदर्थनिर्वृत्तौ पुनस्तत्रैवोल्मुकं नयेत्। यत्र तु वचनात्-यथा 'पुरस्ताच्छालाया उपलिप्य शालाग्नेरग्निं प्रणयन्ति' इति तत्र नेति'[1] ॥ २८ ॥

॥ इतिश्रीमद्गोभिलीयगृह्यसूत्रव्याख्यायां 'मृदुला'ख्यायां मुकुन्दशर्म्मसङ्कलितायां प्रथमप्रपाठकस्य प्रथमा कण्डिका ॥ १ ॥ ॥ १ ॥ ॥ ० ॥



अथ द्वितीया कण्डिका

अथोपवीतविधिः

पूर्वं 'यज्ञोपवीतिनाऽऽचान्तोदकेन च कृत्यम्' इत्यनेन यज्ञोपवीताचमनयोः कर्म्माङ्गतोक्ता। अथेदानीन्तदुभयमपि क्रमेण व्याचिख्यासुः शिष्यानुजिघृक्षया यज्ञोपवीतं तावदाह—

यज्ञोपवीतं कुरुते सूत्रं वस्त्रं वाऽपि वा कुशरज्जुमेव ॥ १ ॥

सूत्र (= सूत) वस्त्र अथवा कुश की रज्जु से ही (जब जो सुलभ हो उससे) यज्ञोपवीत बनाना चाहिए ॥ १ ॥

कुरुत इति विधौ लेट् (पा० ३।४।७) कुर्वीत—धारयेदित्यर्थः। कीदृशं तदित्याह-सूत्रम्—सूत्रनिर्म्मितम्। तच्च नवभिस्तन्तुभिस्त्रिवृद्भवति।

तथा च—

[2]'त्रिवृदूर्ध्ववृतं कार्य्यं तन्तुत्रयमधोवृतम्।
त्रिवृतश्चोपवीतं स्यात्तस्यैको ग्रन्थिरिष्यते ॥' (का० सं० १.२)

इति कर्म्मप्रदोपोक्तलक्षणमित्यर्थः। अत्र मनुः (२. ४४)—

'कार्पासमुपवीतं स्याद्विप्रस्योर्ध्ववृतं त्रिवृत्।
शणसूत्रमयं राज्ञो वैश्यस्याविकसौत्रिकम् ॥'

---

१. अत्र पांशुतुषारादिनाऽन्तर्हिते रवौ कर्माह कात्यायनः (९. ४)—
"रजोनीहारधूमाभ्रवृक्षाग्रान्तरिते रवौ। सन्ध्यामुद्दिश्य जुहुयाद् व्रतमस्य न लुप्यते" इति' सन्ध्यामुभयामेव सायं प्रातश्च विधेयाम्। तामुद्दिश्य यथा यदा सा समुपासनीया तथा तदैव जुहुयादपि। उभयोरेक एव काल इत्यर्थः ॥

२. "ऊर्ध्वन्तु त्रिवृतङ्कार्य्यम्" इति प्रचुरः पाठः। तत्रायमर्थः—वामावर्त्तवलितसूत्रत्रयं त्रिगुणं कृत्वा तदेव त्रिगुणं सकृद् दक्षिणावर्त्तवलितं कार्यं तदेव त्रिवृतं त्रिसरं सदेकमुपवीतम्। तस्य चैको ग्रन्थिरेकमेव कौटिल्यम्। भ्रमिस्तु प्रवरानुसारेणेति ॥

इति चैवमादि स्मृत्यन्तरेभ्योऽवगन्तव्यम् । त्रिवृदिति नवगुणं सूत्रनवकमित्यर्थः । 'नवैव त्रिवृद्' इति श्रुतेः । तथा च देवलः 'यज्ञोपवीतङ्कुर्वन्ति सूत्रेण नवतन्तुकम्' इति । मुख्यश्चायं पक्षः ।[1] इह वाशब्दाभावात् । उत्तरत्र वाशब्दाम्नानात् । वस्त्रं वा । वाशब्देऽभावविकल्पार्थः । अरण्यादावुपवीतनाशे सूत्रलाभासम्भवात् । तद्यज्ञोपवीतङ्कुरुते । अन्यथा व्युपवीतस्य मेहनादावनर्थः स्यात् उद्भूतमूत्रपुरीषक्षुत्पिपासादिवेगस्य क्षणमपि स्थातुमशक्यत्वात् ।

'पिबतो मेहतश्चापि भुञ्जतोऽनुपवीतिनः ।
प्राणायामत्रिकं षट्कं नवकञ्च क्रमान्मतम् ॥'

इति स्मरणात् । अपिवा अथवा (चौरादिभिररण्यादौ वस्त्रस्याप्यपहारे) कुशरज्जुमेव यज्ञोपवीतं कुरुते । एवकारोऽत्र[2] सदोपवीतित्वनियमार्थोऽन्यथा कर्माधिकार एवाम्नानात्कर्म्माङ्गमेव यज्ञोपवीतमिति मन्यमानः कर्म्मण्येवोपवीती स्यान्न सदैवेति वदेत् । तच्च नो युज्यते तथाचोक्तं मनुकात्यायनाभ्याम् (१. ४)--

'सदोपवीतिना भाव्यं सदा बद्धशिखेन च ।
विशिखो व्युपवीतश्च यत्करोति न तत्कृतम् ॥' इति ॥

अस्य लम्बत्वप्रमाणमाह मनुः—

"पृष्ठवंशे च नाभ्याञ्च धृतयँद्विन्दते कटिम् ।
तद्धार्यमुपवीतं स्यान्नातो लम्बं न चोच्छ्रितम् ॥" इति ।

इदञ्च वामस्कन्धे धृत्वा परिमेयम् । अत्र स्मृत्यर्थसारे--

"विच्छिन्नं वाप्यधो यातं भुत्का निर्म्मितमुत्सजेत् ॥"

मनुः (२. ६४)—

"मेखलामजिनं दण्डमुपवीतं कमण्डलुम् ।
अप्सु प्रास्य विनष्टानि गृह्णीतान्यानि मन्त्रवत् ॥" इति ।

---

१. अत्र संस्कारदीपके निगमे-"कार्पास-क्षौम-गोबाल-शण-वल्क-तृणोद्भवम् । सदा सम्भवतोधार्य्यमुपीतं द्विजातिभिः ।" इति । तृणमुलपादि । सम्भवत इत्यभिधानात् पूर्वपूर्वाभावे उत्तरोत्तरविधिः । अत्र निगमपरिशिष्टम्"वाससा यज्ञोपवीतङ्कुरुते तदभावे त्रिवृता सूत्रेण । कुश-मुञ्ज बाल-प्रतिसर-रज्जुभिर्वा" इति । बालो गोबालः । प्रतिसर उलपादिः । अत्र वस्त्राभावे सूत्रविधानं त्रितन्तुकमात्रपरमते न प्रकृतसूत्रविरोधः । अत्र वाससा यज्ञोपवीतार्थः स्त्रीशूद्राणाङ्कृते देवपितृकर्म्मणोह्यपपद्यत इति द्रष्टव्यम् ॥

२. अत्र संस्कारदीपके मैथिलमहामहोपाध्यायहर्षनाथशर्म्माणस्तु—"एवकारोऽयं वस्त्रकुशरज्वोर्यज्ञोपवीतानुकल्पयोस्त्रिसरत्वादिव्यवच्छेदकः । सूत्रं-सूत्रविशेषः । इत्येवमाहुः ॥

मन्त्रवत्—समन्त्रकम् । मन्त्रश्चाग्र उपनयनप्रकरणे प्रदर्शयिष्यते ॥१॥

तस्यैव खल्विदानीं यज्ञोपवीतस्य विन्यासविशेषः परिभाष्यते विनियोग विशेषविवक्षया-द्वाभ्याम्—

**दक्षिणं बाहुमुद्धृत्य शिरोऽवधाय सव्येंऽसे प्रतिष्ठापयति ।
दक्षिणं कक्षमन्ववलम्बं भवत्येवं यज्ञोपवीती भवति ॥ २ ॥**

उस यज्ञोपवीत (=जनेऊ) को दाहिने कन्धे पर रखकर, शिर में लपेटकर और बाएँ कन्धे पर प्रतिष्ठित कर दक्षिण कुक्षि (=काँख) के नीचे तक लटकाते हुए पहना जाता है । इस प्रकार से यज्ञोपवीत धारण करने वाले को **'यज्ञोपवीती'** कहते हैं ॥ २ ॥

दक्षिणं बाहुमुद्धृत्य उत्क्षिप्य शिरः मूर्द्धानम् अवधाय वेष्टयित्वा सव्ये दक्षिणेतरे वामेंऽशे स्कन्धे इत्यर्थः । प्रति विशिष्टेन प्रकारेण स्थापयति । यज्ञोपवीतम् (तथासति) दक्षिणं कक्षं बाहुमूलकोटरप्रदेशम् अनु अधः अवलम्बं लम्बमानं भवति यज्ञोपवीतमर्थात् । पुरुषस्तु एवमनेन प्रकारेण यज्ञोपवीती भवति । सेयं परिभाषा कर्म्मार्था । "उपवीतं देवानामुपव्ययते" इत्येवमादिशास्त्रशेषभूता च । विध्येकवाक्यतया खल्वर्थवादानां प्रामाण्यमनुमन्यन्ते तान्त्रिकाः "विधिना चैकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः-" इति (जै० सू० १।२।१) ॥ २ ॥

**सव्यं बाहुमुद्धृत्य शिरोऽवधाय दक्षिणेंऽसे प्रतिष्ठापयति ।
सव्यं कक्षमन्ववलम्बं भवत्येवं प्राचीनावीती भवति ॥ ३ ॥**

इसी प्रकार बाएँ कन्धे के ऊपर जनेऊ रखकर, शिर में लपेटकर और दाहिने कन्धे पर प्रतिष्ठित कर बाएँ कुक्षि के नीचे तक लटकाते हुए (जनेऊ) रखना होता है । इस प्रकार से यज्ञोपवीत धारण करने वाले को **'प्राचीनावीती'** कहते हैं ॥३॥

सव्यं वामम् "वामं शरीरं सव्यं स्यादपसव्यन्तु दक्षिणम्" इत्यमरः । व्याख्यातमन्यत् । यज्ञोपवीतिना कृत्यमित्येतद्व्याचिख्यासुराचार्य्यः प्राचीनावीतित्वमप्यभिदधानो यज्ञोपवीतमस्यास्तीत्यमुमेवार्थं तत्रावगमयन्ति भाष्यकल्पाखल्वेषा काण्डिका यज्ञोपवीतिनेति सूत्रस्य ॥ ३ ॥

यदर्थं विन्यासविशेषः परिभाषितः स विनियोगविशेष इदानीमभिधीयते—

पितृयज्ञे त्वेवं प्राचीनावीती भवति ॥ ४ ॥

[प्रयोगस्थल]

पितृयज्ञ (श्राद्धादिक कृत्य) में ही 'प्राचीनावीती' होना चाहिए ॥ ४ ॥

विमर्श—इस सूत्र से यह सिद्ध है कि 'प्राचीनावीती' केवल पितृयज्ञ में होना चाहिए और देव एवं पितृ कार्य के अतिरिक्त अन्य समयों में 'निवीती' रहना चाहिए ॥ ४ ॥

पितृभ्यः पितॄणां वा यज्ञः "यजति चोदनाद्रव्यदेवताक्रियं समुदाये कृतार्थत्वात्" (जै० सू० ४।५।२२) इत्युक्तलक्षणस्तस्मिन् पितृयज्ञे पितृकर्मणि । तुशब्दश्च शब्दार्थोऽन्यदपि सव्यजान्वञ्चनादि समुच्चिनोति । तदाह कात्यायनः (२. ५)—

"दक्षिणं पातयेज्जानु देवान्परिचरन् सदा ।
पातयेदितरज्जानु पितॄन्परिचरन्नपि ॥" इति ।

एवशब्दश्चान्यदैवतकर्ममध्यपातिन्यपि पित्र्ये कर्मणि प्राचीनावीतित्वं नियमयति । स्मरति च भगवान्मनुः (३. २७९)—

"प्राचीनावीतिना सम्यगपसव्यमतन्द्रिणा ।
पित्र्यमानिधनात्कार्यं विधिवद्दर्भपाणिना ॥" इति ॥

ऋज्वर्थमन्यत् ॥ ४ ॥

॥ इत्युपवीतविधिः ॥

अथाचमनविधिः

एवं यज्ञोपवीतिना कृत्यमित्यंशं व्याख्यायाचान्तोदकेन कृत्यमित्येतदिदानीं व्याख्यायते—

उदगग्नेरुत्सृप्य प्रक्षाल्य पाणी पादौ चोपविश्य त्रिराचामेत् द्विःपरिमृजीत ॥ ५ ॥

[उपस्पर्शन विधि]

अग्नि के उत्तर की ओर खिसककर दोनों हाथ-पैर धोकर और (उचित स्थान में) बैठकर तीन बार आचमन करे । उसके बाद दो बार ओष्ठ और अधर में लगे जल का परिमार्जन करे ॥ ५ ॥

अग्निसाध्यस्याग्निहोत्रस्य प्रकृतत्वाद् गृह्यकर्म्मणाञ्च प्रायेणाग्निसाध्यत्वादुदगग्नेरित्याह । उदगुत्तरतः । कस्य ? अग्नेः । उत्सृप्य उत्क्रम्य गत्वेत्यर्थः । सृपिर्गत्यर्थः (भ्वा. प.) पाणी हस्तौ पादौ चरणौ च प्रक्षाल्य

प्रकर्षेणाद्भिः शोधयित्वा । "क्षलशौचकर्म्मणि" (चु. प.) तदितिकर्त्तव्यतामाह देवलः ।

"प्रथमं प्राङ्मुखः स्थित्वा पादौ प्रक्षालयेच्छनैः ।
उदङ्मुखो वा दैवत्ये पैतृके दक्षिणामुखः ।।" इति ।

क्रमश्च पादप्रक्षालने "सव्यं पादमवनेनिजे" इति सव्यं पादं प्रक्षालयेत् । "दक्षिणं पादमवनेनिजे" इति दक्षिणं पादं प्रक्षालयेद्"–(४–१०–१०) इति लिङ्गदर्शनादवगन्तव्यः ।

"सव्यं प्रक्षाल्य दक्षिणं प्रक्षालयति" इति गृह्यान्तरम् । उपविश्य ।

"अन्तर्जानु शुचौ देशे उपविष्ट उदङ्मुखः ।
प्राग्वा ब्राह्मेण तीर्थेन द्विजो नित्यमुपस्पृशेत् ।।" (याज्ञ० १.१८)

इतिस्मृत्यन्तरोक्तप्रकारेणेत्यर्थः । त्रिः त्रिवारम् । क्रियाऽस्यावृत्तिगणने "द्वित्रिचतुर्भ्यःसुच" (पा० ५।४।१८) इति सुच्प्रत्यय एवमग्रेऽपि । आचामेत् । "आचान्तोदकेन कृत्यम्" इत्यस्य परिदर्शकतया अप इति वाक्यशेषः । "त्रिः पिबेदम्बुवीक्षितम्" इति च स्मृत्यन्तरम् । अत्र त्रिराचामेदित्यभिदधान आचार्य्यस्त्रिरब्भक्षणमाचमनमन्यदितिकर्त्तव्यतेति दर्शयति । मन्वर्थमुक्तावल्यामप्येवम् । द्विः द्विवारम् परिमृजीत[1] "संवृत्याङ्गुष्ठमूलेन द्विःप्रमृज्यात्ततोमुखम्" इतिदक्षस्मरणात्संवृतं मुखमङ्गुष्ठमूलेन प्रमृज्यादित्यर्थः ।।५।।

पादावभ्युक्ष्य शिरोऽभ्युक्षेत् ।। ६ ।।

इसके बाद दोनों पैरों को धोकर सिर पर जल छिड़कना चाहिए ।। ६ ।।

अद्भिरिति सामर्थ्यात् । ऋज्वन्यत् । विसमासकरणं पादाभ्युक्षणशेषेण शिरोऽभ्युक्षणनिषेधार्थमिति भट्टभाष्यम् ।। ६ ।।

---

१. "मृजूशौचालङ्कारयोः" (चु० उ०) इत्यस्याधृषीयत्वाण्णिजभावपक्षे विधा लिङिरूपम् । प्रमृज्यादिति तु "मृजूशुद्धौ" (अ० प०) इत्यस्य । अत्र कात्यायनः "त्रिः प्राश्यापोद्विरुन्मृज्य मुखम्, एतानुपस्पृशेत् । आस्यनासाक्षिकर्णांश्च एनाभिवक्षः शिरोंऽसकान्" इति । एतच्चाचान्तोदकेनेति सूत्रांशं स्फुटीकरोति । वारत्रयमपः प्रकर्षेण भक्षयेत् । भक्षणप्रकर्षश्च कर्म्मकरणकर्तृप्रकर्षात् । तत्रकर्म्मप्रकर्षोऽनुष्णत्वाऽफेनत्वाबुद्बुदत्वहृदयगामित्वादिरूपः । कर्तृप्रकर्षश्च कृतपाणिपादशौचत्वासीनत्वप्राङ्मुखत्वादिरूपः । करणप्रकर्षश्चात्र ब्राह्मतीर्थत्वादिः । एवमपो भक्षयित्वा मुखं वारद्वयमूर्ध्वं लोमस्थाने मार्जयेत् । नत्वलोमके । पुनराचमनेऽनवस्थाप्रसङ्गात् । तथाच परिशिष्टम् "आचान्तः पुनराचामेत् वासश्च परिधायोष्ठौ संस्पृश्य यत्रालोमकौ" इति ।

इन्द्रियाण्यद्भिः संस्पृशेत् ॥ ७ ॥

इन्द्रियाणि । इन्द्रियाणाममूर्त्तत्वात्तदायतनानि । अद्भिः करणभूताभिः उदकार्द्रेण हस्तेन प्रतीन्द्रियमित्यर्थतः । संस्पृशेत् सम्यक् स्मृत्यन्तरोक्त[1] प्रकारेण स्पृशेत् ॥ ७ ॥

कानि तानीन्द्रियाणीत्याह—

अक्षिणी नासिके कर्णाविति ॥ ८ ॥

तदनन्तर आँख, नाक एवं कान—इन छः इन्द्रियों का जल से सिंचन करे ॥ ७–८ ॥

संस्पृशेदिति सम्बध्यते । इतिशब्दोऽन्यदपि स्मृत्यन्तरोक्तं समुच्चिनोति । आद्यर्थत्वात्तस्य । "ज्वलितिकसन्तेभ्योणः" (पा. ३।१।१४०) इत्यत्र यथा । उपन्यासमात्रमेतत् । क्रमश्च—

"त्रिःप्राश्यापोद्विरुन्मृज्य मुखमेतानुप[2] स्पृशेत् ।
आस्यनासाक्षिकर्णांश्च नाभिवक्षःशिरोंऽसकान् ॥"

इति कर्म्मप्रदीपोक्त एव भवति । तमेतं स्पष्टमाह दक्षः (२. १४-१७)—

"प्रक्षाल्य पाणी पादौ च त्रिःपिबेदम्बु वीक्षितम् ।
संवृत्त्याङ्गुष्ठमूलेन द्विः प्रमृज्यात्ततोमुखम् ॥
संवृत्त्य तिसृभिः पूर्वमास्यमेवमुपस्पृशेत् ।
अङ्गुष्ठेन प्रदेशिन्या घ्राणं पश्चादनन्तरम् ॥
अङ्गुष्ठानामिकाभ्याञ्च चक्षुःश्रोत्रे पुनः पुनः ।
नाभिं कनिष्ठाङ्गुष्ठेन हृदयन्तु तलेन वै ॥
सर्वाभिश्च शिरः पश्चाद् बाहू चाग्रेण संस्पृशेत् ।"

---

१. तथाच मनुः "त्रिराचामेदपः पूर्वं द्विःप्रमृज्यात्ततोमुखम् । खानि चैव स्पृशेदद्भिरात्मानं शिर एव च ॥" इति । अस्यार्थः । प्राङ्मुख उदङ्मुख ऐशान्याभिमुखो वाऽनुष्णाभिरफेनाभिरद्भिर्ब्राह्मेण कायत्रैदशिकान्यतरेण वा तीर्थेन स्तोकं हृत्कण्ठतालुगाभिरित्यन्यत्राभिधानात् क्रमेण द्विजातिभिस्त्रिरपः प्राश्यानन्तरं संवृत्यौष्ठाधरौ वारद्वयमङ्गुष्ठमूलेन संमृज्यात् । खानीन्द्रियाणि मुखस्थानि । त्रीणि चात्नाभिं जलेन स्पृशेत् । तत्र तर्जन्यङ्गुष्ठाभ्यां दक्षिणवामक्रमेण नासिकापुटे अङ्गुष्ठमध्यमाभ्यां नेत्रे अङ्गुष्ठानामिकाभ्यां कर्णौ अङ्गुष्ठकनिष्ठाभ्यां नाभिं स्पृष्ट्वा पुनर्जलं स्पृशेत् । ततस्तलेन हृदयं स्पृष्ट्वा जलं स्पृष्ट्वा सर्वाङ्गुलीभिः शिरश्चाद्भिरेव स्पृशेत् । पादौ शिरश्च पृथग्जलेन स्पृशेत् । इति ॥

अत्रान्ते चकाराद्बाहुमूले अपीति दक्षस्मृत्याऽनुपदं व्यक्तीभविष्यति ।

२. एवमादावुपेत्यविवक्षितम् । तेन "उपस्पर्शस्त्वाचमनम्" इत्याग्नेयकोशेन समं न विरोधः ॥

इति । तिसृभिरित्यङ्गुलीभिस्तर्जनीमध्यमानामिकाभिः । उपस्पृशेत् । ओष्ठौ । तदेतद्भोक्ष्यमाणविषयम् । तथा चापस्तम्बः—"भोक्ष्यमाणस्तु—प्रयतोऽपि द्विराचामेद् द्विः परिमृजेत्सकृदुपस्पृशेत्"इति । एतच्चाङ्गुलित्रयेणेत्याचारचिन्तामणिः । मुखमिति—संवृतस्यावान्ताधरोष्ठम् । पुनःपुनरिति चक्षुर्द्वयश्रोत्रद्वयाभिप्रायेण । तेनैकं चक्षुः स्पृष्ट्वाऽपरं स्पृशेद्दक्षिणवामक्रमेण। अत्र प्रमार्जनानन्तर प्रभूतजलेन दक्षिणहस्तं प्रक्षाल्य तत एवम्भूतमेवास्यं मुखमोष्ठौ श्मश्रुतोऽधः स्यावादुपरि द्विरुपस्पृशेत् । ततो दक्षिणपाणिं प्रक्षाल्य वामपाणिं पादौ शिरश्चाभ्युक्ष्या[1]ङ्गुष्ठानामिकाभ्यां सजलाभ्यामक्षिणी स्पृष्ट्वा—तर्जन्यङ्गुष्ठाभ्यां सजलाभ्यां नासापुटद्वयं स्पृष्ट्वाऽङ्गुष्ठकनिष्ठाभ्यां सजलाभ्यां कर्णौ स्पृष्ट्वा कनिष्ठाङ्गुष्ठाभ्यां नाभिं स्पृशेत् । प्रकृतसूत्रानुसाराद्दक्षोक्तः क्रमोऽत्र कल्पे न विवक्षितः । स हि सर्वशाखिसर्ववर्णसाधारणः कल्पः[2] । तत्र तर्जन्यङ्गुष्ठाभ्यां सोदकाभ्यां नासापुटे स्पृष्ट्वाऽङ्गुष्ठानामिकाभ्यां सोदकाभ्यामक्षिणी स्पृष्ट्वा एवमेव[3] श्रोत्रे ततः कनिष्ठाङ्गुष्ठाभ्यां नाभिं स्पृशेदिति ।

तथाच शङ्खः—

"तर्जन्यङ्गुष्ठयोगेन स्पृशेन्नासापुटद्वयम् ।
अङ्गुष्ठमध्यायोगेन स्पृशेन्नेत्रद्वयं ततः ॥
अङ्गुष्ठानामिकायोगे श्रवणौ समुपस्पृशेत्" ।

इत्येवं विशेषो दृश्यते । परिगृहीतश्चायमाचारेणापि बहूनाम्—अत्र कर्णस्पर्शे कनिष्ठांगुष्ठयोगः । "कनिष्ठांगुष्ठाभ्याञ्च कर्णावालभते ततः" इत्याचारविवेकधृतभविष्यपुराणवचनात् । ततः पाणिं प्रक्षाल्य करतलेन हृदयं सर्वांगुलीभिः शिरोऽङ्गुल्यग्रेणांसद्वयं स्पृष्ट्वा शेषं जलङ्किञ्चिद्वामहस्ते दद्यात् । इदमाचमने, द्विराचमने तु पादप्रक्षालनवर्जमखिलमावर्तते । भोजनोपक्रमाचमने सकृदेवोष्ठस्पर्श इति निबन्धकारः ॥ ८ ॥

यद्यन्मीमांस्यं स्यात्तत्तदद्भिः संस्पृशेत् ॥ ९ ॥

---

१. तथाचापस्तम्बः "त्रिरोष्ठौ परिमृजेद् द्विरित्येके, सकृदुपस्पृशेत् । दक्षिणेन पाणिना सव्यं प्रोक्ष्य पादौ शिरश्च इन्द्रियाण्युपस्पृशेत्" इति । सकृदिति ओष्ठावित्यनुषङ्गः । उपस्पृशेत्—उपसमीपे स्पृशेत् । तेन स्यावोपरि लोमोदयादधःस्पृशेत् । तदेतन्निबन्धेषु व्यक्तम् ।

२. तत्र घ्राणं पश्चादनन्तरं चक्षुरित्येव तदभिमतमिति कश्चित् ॥

३. अङ्गुष्ठानामिकाभ्यां सोदकाभ्याम् ॥

इसके अनन्तर और भी जिन-जिन अङ्गों का अवबोधन करना हो उन-उन अङ्गों को भी जल से संस्पर्श कराना चाहिए ॥ ९ ॥

यद्यत् इन्द्रियमन्यद्वाऽङ्गं मीमांस्यं विचार्य्यं (विचारार्हं) स्यात्तत्तदद्भिरुदकैः संस्पृशेत् । प्रक्षालयेत् । न तु[1] संशयनिरासाय विचारमेव कुर्यादित्यर्थः ॥ ९ ॥

तत्रैतदाहुः ॥ १० ॥

इस (आचमन) के विषय में कुछ आचार्यों का इस प्रकार कथन है ॥ १० ॥

तत्र तस्मिन्नाचमने एतत्--"नोपस्पृशेद् व्रजन्नि" त्यादि--"उच्छिष्टो हैवातोऽन्यथा भवति" (१।२।३०) इत्येतदन्तं वक्ष्यमाणमाहु 'र्ब्राह्मणवाक्यानी'' ति वाक्यशेषः ॥ १० ॥

नोपस्पृशेद् व्रजन् ॥ ११ ॥

इधर-उधर घूमते हुए आचमन न करे ॥ ११ ॥

व्रजन् = गच्छन् । नोपस्पृशेत् = नाचामेत् । "उपस्पर्शस्त्वाचमनम्" इत्यमरः ॥ ११ ॥

न तिष्ठन् ॥ १२ ॥

खड़े होकर भी आचमन न करे ॥ १२ ॥

विमर्श—खड़े होकर कुल्ला करने से पैर पर छींटे पड़ने से सम्पूर्ण शरीर अशुद्ध हो जाता है।

स्थितिरूर्ध्वावस्थानम् । उपस्पृशेदित्यग्रेऽपि यथायथमभिसम्बध्यते ॥१२॥

न हसन् ॥ १३ ॥

हँसते हुए भी आचमन न करे ॥ १३ ॥

न हसन्=हास्यङ्कुर्वन् स्मयमानो वा । तन्मनाः सुमनाश्चेत्यर्थः ॥१३॥

न विलोकयन् ॥ १४ ॥

इधर-उधर ताकता हुआ भी आचमन न करे ॥ १४ ॥

विलोकयन्--इतस्ततः किञ्चित्पश्यन् । अन्यमनस्क इत्यर्थः ॥ १४ ॥

नाऽप्रणतः ॥ १५ ॥

---

१. मीमांसा-विचारः इदमङ्गं शुद्धं जातन्न वेति सन्देहनिरासायेत्यर्थः ॥

(क्रोध, दम्भ आदि के कारण) बिना झुके हुए भी आचमन न करे ॥ १५ ॥

उपविष्टोऽपि । अप्रणतः अनवनतशरीरः । उच्छिष्टानामपामङ्गेषु पातसम्भवादितिभावः । अत्यन्तावनतकायस्तु न "तिष्ठन्नाचामेत्प्रह्वो वे" त्यापस्तम्बसम्वादात् ॥ १५ ॥

नाङ्गुलीभिः ॥ १६ ॥

अङ्गुलि के अग्रभाग में जल लेकर अग्राह्यबुद्धि से भी आचमन न करे ॥ १६ ॥

अङ्गुलीभिरूर्ध्वमुदकमुत्क्षिप्य "कायत्रैदशिकाभ्यां वे" ति मनूक्ताचमनतीर्थविकल्पपक्षेऽपि नोत्क्षेपस्तत्र[1] कार्यः किन्तु संहताभिरङ्गुलीभिः सावधानः शनैराचामेत् । नित्यन्तु ब्राह्मतीर्थमेवाचमने विप्राणाम् । "ब्राह्मेण विप्रस्तीर्थेन नित्यकालमुपस्पृशेत्" इति मनूक्तेः ॥ १६ ॥

नातीर्थेन ॥ १७ ॥

अतीर्थ द्वारा (किसी पात्र में मुँह से गाय-बैल के समान पानी खींचकर या ऊपर ही से कण्ठ में डालकर) भी आचमन न करे ॥ १७ ॥

तीर्थादाचमनार्थं विहितादन्येन प्रकारेण । प्रतिषिद्धतीर्थेन[2] पित्र्येण वा । तथा च मनुः (२. ५८)—

"ब्राह्मेण विप्रस्तीर्थेन नित्यकालमुपस्पृशेत् ।
कायत्रैदशिकाभ्यां वा न पित्र्येण कदाचन" ॥ इति ।

विप्र इत्याचमनकर्त्तृमात्रोपलक्षणम् । आचमनोद्देशेन तीर्थविधानात् । कायं–प्राजापत्यम्[3] । त्रैदशिकं देवम् । अत्र सम्भवे ब्राह्मतीर्थेनैवाचमनम् । नित्यकालमितिश्रवणात् । व्रणादिना ब्राह्मतीर्थावरोधे कायत्रैदशिकाभ्यां वेति व्यवस्थितो विकल्पः । पित्र्यन्तु सदा निषिद्धं "न पित्र्येण कदाचने"ति निषेधादित्याचारादर्शादयः । पित्र्येण तर्जन्यङ्गुष्ठमध्येन । तान्येतानि तीर्थानि—

"कनिष्ठादेशिन्यङ्गुष्ठमूलान्यग्रं करस्य तु ।
प्रजापतिपितृब्रह्मदेवतीर्थान्यनुक्रमात् ॥"

इति याज्ञवल्क्योक्तान्यवगन्तव्यानि ॥ १७ ॥

---

१. पामरास्तु-अङ्गुलीभिर्मृदादिना दन्तान्प्रक्षाल्याचामन्ति तेऽप्यनेन निराकृता वेदितव्याः पृथगपि (दन्तधावनप्रकरणे) निषिद्धं तदन्यत्रेत्यवगन्तव्यम् ।

२. तथाचात्राप्राशस्त्यार्थे नञ् बोध्यः । "अपशवोऽन्ये गोऽश्वेभ्य" इत्यत्र यथा ।

३. को ब्रह्मा देवताऽस्येत्यर्थेऽण् । "कस्येत्" (पा० ४।२।२५) इति—अस्येत्वे वृद्धिरायादेशश्च ॥

न सशब्दम् ॥ १८ ॥

(बुड़बुड़ आदि) शब्द करते हुए (खेल की बुद्धि से) भी आचमन न करे ॥ १८ ॥

शब्देन सह यथा भवति तथा नाचामेत् । क्रियाविशेषणमेतत् । "क्रियाविशेषणानाङ्कर्म्मत्वं नपुंसकत्वञ्चे-" त्यनुशासनप्रसिद्ध्याऽत्र द्वितीयान्तमेतत्पदम् ॥ १८ ॥

नानवेक्षितम् ॥ १९ ॥

जल को भली भाँति देखे बिना ही आचमन नहीं करना चाहिए ॥ १९ ॥

अनवेक्षितं--दृष्ट्या अपूतम् । हस्तगृहीतमुदकमनवेक्ष्यैव यथालब्धं दृश्यकेशकीटादिसहितं नोपस्पृशेत् । "रात्राववीक्षितेनापि शुद्धिरुक्ता मनीषिभिः ।" इति स्मरणाराद् रात्रावेष नियमो न । किन्तु तत्र (रात्रौ) वस्त्रपूतं तदपेक्षितमिति द्रष्टव्यम् ॥ १९ ॥

न बाह्यांसः ॥ २० ॥

दोनो घुटनों के बाहर कन्धों को झुकाकर (टेढें-मेढे होकर) भी आचमन न करे ॥ २० ॥

बाह्यौ जानुभ्यां बहिष्कृतावंसौ स्कन्धौ [1]यस्य तथाभूतः सन् नोपस्पृशेत् । "अन्तरूर्वोररत्नी कृत्वा त्रिरपोहार्दीः [2]पिबेदि"ति हारीतस्मृतिदर्शनात् ॥ २० ॥

नान्तरीयैकदेशस्य कल्पयित्वोत्तरीयताम् ॥ २१ ॥

एक ही वस्त्र पहनकर और उसी के एक भाग को ओढ़कर आचमन न करे ॥ २१ ॥

अधः परिधानवस्त्रमन्तरीयमुच्यते तदेकदेशस्य तदवयवस्य । उत्तरीयताङ्कल्पयित्वा । एकवासा इत्यर्थः । याजुषान्तु तद्विधीयते । (पा०गृ० २।६।२२) ॥ २१ ॥

नोष्णाभिः ॥ २२ ॥

गरम जल से आचमन न करे ॥ २२ ॥

---

१. तत्प्रधानौ बाहू इति तदर्थः ।

२. हृद्गाः । एतच्च विप्रविषयम् । "हृद्गाभिः पूयते विप्रः" इत्याद्यनुपदं (२९ सूत्रे) व्यक्तीभविष्यति ॥

ऊष्णभिर्वह्नितप्ताभिरद्भिर्न पुनर्धर्म्मतप्ताभिरपीत्यर्थः। भट्टभाष्ये तु–अस्यापवादकवचनमुपन्यस्तम् "उदकेनातुराणाञ्च तथोष्णेनोष्णपायिनाम्" इति ॥ २२ ॥

न सफेनाभिः ॥ २३ ॥

फेनयुक्त जल से आचमन न करे ॥ २३ ॥

अद्भिरेव ॥ २३ ॥

न च सोपानत्कः क्वचित् ॥ २४ ॥

किसी अनुचित एवं अनावश्यक स्थान में जूते पहने हुए आचमन न करे ॥२४॥

चशब्दोऽप्यर्थो भिन्नक्रमश्च। उपानहौ प्रसिद्धे ताभ्यां सहितः सोपानत्कः। क्वचिच्च क्वचिदपि कस्याञ्चिदप्यवस्थायान्नोपस्पृशेत्। **देवलः**—

"सोपानत्को जलस्थो वा मुक्तकेशोऽपि वा द्विजः।
उष्णीषी वापि नाचामेद्वस्त्रेणाऽऽवेष्टय वा शिरः॥" इति।

अत्र विशेषोगोभिलीये—

"जानुभ्यामूर्ध्वमाचम्य जले तिष्ठन्न दुष्यती" त्युक्तम्।

सोपानत्क इत्युपलक्षणम्। पादुकास्थोऽपि नाचामेत्। तथा च **मरीचिः**—

"न बहिर्जानु न त्वरया नासनस्थो न चोत्थितः।
न पादुकास्थो नान्यचित्तः शुचिः प्रयतमानसः॥
उपस्पृशेद् द्विजो नित्यं शुद्धः पूतोभवेन्नरः।
भुक्त्वाऽऽसनस्थोऽप्याचामेन्नान्यकाले कदाचन॥" इति॥ २४॥

कासक्तिकः ॥ २५ ॥

माथे में (पगड़ी आदि) बन्धन से युक्त रहने पर आचमन न करे॥ २५॥

नोपस्पृशेदित्यनुवर्त्तते। के शिरसि–आसक्तिका–आवेष्टिका (वस्त्र-बन्धनं) कृता येन सोऽयं कासक्तिकः। कृतशिरोवेष्टनः। उपलक्षणमेतत्। बद्धपरिकरः कञ्चुकीचैवमुच्यत इत्यन्ये॥ २५॥

एवम्—

गले बद्धः ॥ २६ ॥

गले में दुपट्टा आदि बन्धन से युक्त रहने पर आचमन न करे॥ २६॥

गलावलम्बितवासाः। प्रावृतोत्तरासङ्गः। नोपस्पृशेत्॥ २६॥

चरणौ न प्रसार्य च ॥ २७ ॥

और, चरणों को फैलाकर भी आचमन न करे ॥ २७ ॥

उपस्पृशेदित्यनुवर्त्तते । चरणौं = पादौ । प्रसार्य = वितत्य । चशब्दः— "आसनारूढचरणो नाचामेन्न जपेत्क्वचित्" इति स्मृत्यन्तरोक्तं समुच्चिनोति ॥ २७ ॥

अन्ततः प्रत्युपस्पृश्य शुचिर्भवति ॥ २८ ॥

चाहे कर्म का आरम्भ हो या न हो, शयन से उठने पर मनुष्य आचमन से पवित्र हो जाता है ॥ २८ ॥

अन्ततः = अन्ते । सर्वाविभक्तिकस्तसिः । (पा० ५।४।४४ वा०) आरब्धवैधकर्म्मणाम् अनुपदवक्ष्यमाणशयनादीनाञ्चान्तेऽवसाने प्रत्युपस्पृश्य— पुनराचम्य शुचिः शुद्धो भवति । अत्र "सावधारणं सर्वं वाक्यमब्भक्षो वायुभक्ष" इतिवदुपस्पृश्यैव शुचिर्भवति नान्यथेत्यर्थः । अत्र प्रत्युपस्पृश्येत्यस्य स्पृष्ट्वोदकं पाणिनेति भट्टभाष्यसम्मतोऽर्थः स चायं जलस्पर्शः पूर्वं [८] सूत्रव्याख्याने स्पष्टमभिहितः । अन्ये त्वाहुः—अन्ततो मध्यत इन्द्रियायतनानि उपस्पृश्य[1] शुचिर्भवति न पार्श्वत इति ॥ २८ ॥

हृदयस्पृशस्त्वेवाप आचामेत् ॥ २९ ॥

आचमन के जल का परिमाण यह है कि जितने जल के पीने से हृदय तक सिक्त हो सके उतने जल से आचमन करना चाहिए ॥ २९ ॥

---

१. उपस्पर्शयित्वा । "जलेने"ति शेषः । अत्राचमनविध्यनन्तरं देवलः—

"रेतोमूत्रशकृन्मोचे भोजनेऽध्वपरिश्रमे ।
शौचमेवं विधम्प्रोक्तमीषच्चान्यत्र वर्त्तते ॥" इति ।

एवं विधं—यथोक्तसकलाङ्गसम्पन्नम् ईषत्—आचमनमात्रमपि । इन्द्रियस्पर्शादिरहितम् । त्वरादिवशादन्यत्र शुद्धये भवतीत्यर्थ इत्याचारचिन्तामणौ वाचस्पतिमिश्राः प्राहुः । अन्यत्रेत्युक्तिर्वैधकर्म्मव्यतिरिक्तविषया । तत्र विशिष्य तद्विधानात् । अत्र (आचमने) प्रौढपादत्वं निषेधति कात्यायनः—"स्नानमाचमनं होमं भोजनं देवतार्चनम् । प्रौढपादो न कुर्वीत स्वाध्यायं पितृतर्पणम् ॥ तल्लक्षणं यथा—

"आसनारूढपादस्तु जानुनोर्जङ्घयोस्तथा ।
कृतावसक्थिको यस्तु प्रौढपादः स उच्यते ॥" इति कात्यायनः ।

आसनारूढपाद आसनारूढपादतलः । जानुनोर्जङ्घयोः कृतावसक्थिकः, कृतजानुजङ्घाबन्धः । तद्द्वयेन भेदप्रतीतेः । अत्र च-"अनेकोद्वाहो दारुशिले भूमिसमे । इष्टकाश्च सङ्कीर्णीभूता" इति बौधायनवचनात्तथाविधपादोऽपि तत्र कुर्यात् । इति बोध्यम् ॥

हृदयस्य स्पृशः[1]। क्विबन्तमेतत्पदम्। अपः। ब्राह्मणविषयमेतत्[2]। यद्वा चार्थे तु शब्दो—

"हृद्गाभिः पूयते विप्रः कण्ठगाभिस्तु भूमिपः।
वैश्योऽद्भिः प्राशिताभिस्तु शूद्रः स्पृष्टाभिरन्ततः॥" (मनु० २.६२)

इति मनूक्तं समुच्चिनोति। प्राशिताभिरन्तरास्यप्रविष्टाभिः कण्ठमप्राप्ताभिरपि। शूद्रस्तु जिह्वोष्ठान्तेनापि स्पृष्टाभिरद्भिः पूतो भवति। अन्तत इति तृतीयान्तात्तसिः। (पा० ५।४।४४ वा०)॥ २९॥

उच्छिष्टो हैवातोऽन्यथा भवतीति॥ ३०॥

(जो विधि आचमन की कही गई है) उसके विपरीत करने से आचमन करने वाले का मुख जूठा (= उच्छिष्ट) ही रह जाता है ऐसा वृद्धों के द्वारा कहा जाता है॥ ३०॥

हेत्यैतिह्याख्यापकमव्ययम्। अतोऽस्माद्यथोक्ताचमनादन्यथाऽन्येन प्रकारेण कृताचमनोऽपि उच्छिष्ट एव भवतीति वृद्धैराम्नायते। इतिर्ब्राह्मणवाक्यसमाप्तिं द्योतयति॥ ३०॥

अथ प्रत्युपस्पर्शनानि॥ ३१॥

इसके बाद अब किस स्थल पर किया हुआ आचमन 'प्रत्युपस्पर्शन' संज्ञक होता है—यह बतलाते हैं॥ ३१॥

सरला० = कृतोपस्पर्शनस्य पुनरुपस्पर्शनं प्रत्युपस्पर्शनं येषु निमित्तेषु भवति तानि प्रत्युपस्पर्शननिमित्तानि। निमित्तशब्दः सूत्रे लुप्तवद् द्रष्टव्यः।

मृदुला०—अथ–उपस्पर्शनकथनानन्तरं, प्रति–पुनरुपस्पृश्यन्ते येषु (निमित्तेषु) तानि प्रत्युपस्पर्शनानि। द्विराचमननिमित्तानि "वक्ष्यन्ते" इति शेषः[3]॥ ३१॥

---

१. षष्ठी समासः। यत्तु हृदयं स्पृशन्तीति विजग्राह कश्चित्तन्न तथासति "कर्म्मण्यण्" (पा० ३।२।१) इत्यणोपधागुणे हृदयस्पर्शीरिति प्रसज्येत॥

२. भट्टभाष्ये तु हृदयस्पृश एव यथा भवन्ति तथाचामेन्नान्यथेति। तथा च त्रिः प्राशिता आपो यदि हृदयङ्गमा न भवन्ति तदा चतुः प्राशयेत्। तथाच गौतमः—"त्रिश्चतुर्वाऽपआचामेदि"ति। तुशब्दात्क्षत्रियस्तु कण्ठगाभिरेव शुद्ध्येत। वैश्योभक्षितमात्राभिरेव। शूद्रोमुखप्रविष्टाभिरेवेत्युक्तम्॥

३. एतान्येव प्रत्युपस्पर्शनपदाऽभिधेयानि पुनराचमननिमित्तान्यष्टौ सांख्यातानीति सत्यव्रतसामश्रमिणः॥

सुप्त्वा, भुक्त्वा, क्षुत्त्वा, स्नात्वा, पीत्वा विपरिधाय च, रथ्यामाक्रम्य, श्मशानञ्चाचान्तः पुनराचामेत् ॥ ३२ ॥

॥ इति गोभिलीये गृह्यसूत्रे प्रथमप्रपाठकस्य द्वितीया कण्डिका ॥१॥२॥*



१. सोकर उठने के बाद, २. भोजन के बाद, ३. जमुहाई तथा हिचकी लेने के बाद, ४. स्नान करने के बाद, ५. रस आदि पेय पदर्थ पीने के बाद, और ६. वस्त्र एवं आभूषणादि के पहनने के श्रम के उपशमनार्थं शयनादि के बाद जो आचमन किया जाता हैं वह 'प्रत्युपस्पर्शन' संज्ञक आचमन हैं। (तात्पर्य यह है कि निद्रा के अन्त में आचमन जरूर करना चाहिए। यदि किसी देवानुष्ठानादि कार्यं करते-करते आलस्य से तन्द्रा रूप निद्रा आवे या किसी प्रकार विहार करने एवं हिचकी आदि आवे तब भी आचमन करे। अतः ऐसा न समझे कि एक बार आचमन कर चुका तो फिर क्या आवश्यकता ?) इस प्रकार गली में (घूमने पर) और मुर्दे जलाने के स्थान में भ्रमण करने पर अथवा इसके पहले दूसरे किसी कार्य वश आचमन किया गया हो, तो ऐसे स्थलों पर फिर से आचमन करना चाहिए ॥ ३२ ॥

इस प्रकार गोभिल गृह्यसूत्र के प्रथम प्रपाठक के द्वितीय खण्ड की डा० सुधाकर मालवीय कृत हिन्दी पूर्ण हुई ॥ २ ॥



सुप्त्वा = निद्रामासेव्य। भुक्त्वा = अन्नादि भक्षयित्वा। क्षुत्त्वा = क्षुतं कृत्वा। स्नात्वा = आप्लुत्य। पीत्वा = पेयमुदकादि। विपरिधाय वासः। चः समुच्चये—

"होमे भोजनकाले च सन्ध्ययोरुभयोरपि।
आचान्तः पुनराचामेद्वासो विपरिधाय च ॥" इति ब्रह्मपुराणम्।

इत्येवमादि स्मृत्यन्तरोक्तनिमित्तान्तरं समुच्चिनोति। रथ्या=प्रतोली—विशिखेति समानाऽभिधानम्; तामाक्रम्य श्मशानं[1] वकारादाक्रम्येत्यनुषज्यते। आचान्तः कृताचमनोऽपि पुनराचामेत्। तथाच[2] द्विराचमनेषु

---

१. शवानां शयनम्। इति चन्द्रकान्तः। निरुक्ते तु श्मशयनं श्मशानम्। श्मशरीरम्" (३।५।३) इति। तच्च शवस्यैव। तथा चोक्तं स्कान्दे काशीखण्डे—

"श्मशब्देन शवः प्रोक्तः शानं शयनमुच्यते।
निर्वचन्ति श्मशानार्थं मुने शब्दार्थकोविदाः" ॥ इति। (अ० ३० श्लो० १०३)

२. द्विराचमनानन्तरं—विष्णुस्मरणमाह—आचारचिन्तामणिधृतं ब्रह्मपुराणम्—"द्विराचम्य ततः शुद्धः स्मृत्वा विष्णुं सनातनम्" इति।

निमित्तेषु कर्त्तव्यमन्यत्र कर्म्मकालात् । तथा च पराशरः—

"क्षुते निष्ठीविते सुप्ते परिधानेऽश्रुपातने ।
कर्म्मस्थ एषु नाचामेद्दक्षिणं श्रवणं स्पृशेत्[1] ॥" इति ।

निष्ठीविते मुखेन कठिनश्लेष्मत्यागे । नासानिस्सृते कठिनश्लेष्मणि च । पतितानाञ्च सम्भाषेऽधोवायुसमुत्सर्गेऽनृतभाषणे । एवमन्येष्वपि निमित्तेषु सत्सु कर्म्मस्थोऽसमर्थः समर्थोऽपि नाचामेत् किन्तु—दक्षिणं कर्णमेव स्पृशेत् । इति स्मृतिदीपिकायां महामहो० वामदेवोपाध्यायाः । तथा च वृद्धशातातपः—

"वातकर्म्मणि निष्ठीव्य दन्तश्लिष्टे तथाऽनृते ।
क्षुते पतितसम्भाषे दक्षिणं श्रवणं स्पृशेत् ॥" इति ॥ ३२ ॥

॥ इति सर्ववर्णसाधारणप्रकरणम् ॥

॥ इति श्रीमद्गोभिलीयगृह्यसूत्रव्याख्यायां "मृदुला"ख्यायां मुकुन्दशर्म्मसङ्कलितायां प्रथमप्रपाठकस्य द्वितीया कण्डिका ॥ १ ॥ २ ॥ * ॥



---

१. एतच्च विप्रस्यैव । "विप्रस्य दक्षिणे कर्णे सर्वास्तिष्ठन्ति देवताः" इति पराशरवचनात् । विप्रान्यस्तु—भूपृष्ठादिस्पर्शनमनुकल्पान्तरं कुर्यात् । तथा च वामदेवोपाध्यायकृतस्मृतिदीपिकाधृत-मार्कण्डेयपुराणम् ।

"कुर्यादाचमनं स्पर्शं गोपृष्ठस्यार्कदर्शनम् ।
कुर्वीताऽऽलम्भनञ्चापि दक्षिणश्रवणस्य च ॥
यथाविभवतो ह्येतत्पूर्वाभावे ततः परम् ।
न विद्यमाने पूर्वस्मिन्नुत्तरप्राप्तिरिष्यते ॥" इति ॥

गोपृष्ठस्य-भूतलस्य । "गौरिला कुम्भिनी क्षमा" इति भूमिपर्यायेऽमराभिधानात् । उपक्रान्तवचने एष्वित्युक्त्या एकदेशानुमत्या तुल्ययुक्त्या चान्यत्राप्येतत्कर्म्मस्थस्यानुजानाति । भूतलमार्द्रमित्याचारदीपिकाकाराः । "आर्द्रन्तृणम्भूमिङ्गोमयञ्चोपस्पृशेत्" इति बौधायनस्मरणाद् । आचमननिमित्तानि विशेषतो नित्यकृत्यार्णवे द्रष्टव्यानि । तत्र कर्म्मस्थस्य रौद्रादिमन्त्रजपादौ–आचमनमाह–योगियाज्ञवल्क्यः—

"रौद्रपैत्रासुरान्मन्त्रांस्तथा चैवाऽभिचारिकान् ।
व्याहृत्यालभ्य चात्मानमपःस्पृष्ट्वाऽन्यदाचरेत् ॥"

आत्मानमालभ्य = हृदयं स्पृष्ट्वा । स्वं स्तुत्वा वा । अपःस्पृष्ट्वा–आचम्येत्याचारचिन्तामण्यादयः । एतेनात्मस्तुतिरात्मवधतुल्येति महाभारतोक्तं समर्थितम्भवति । अप्रायत्यस्मरणात् ॥

अथ तृतीया कण्डिका

अथ नित्यहोमप्रकरणम्

उक्तौ सायं प्रातर्होमकालौ। उक्ता च सर्वकर्म्मसाधारणी परिभाषा। साम्प्रतं पूर्वप्रकृतस्य होमकर्म्मण इतिकर्तव्यतामभिधत्ते—

अग्निमुपसमाधाय परिसमुह्य दक्षिणजान्वक्तो दक्षिणेनाग्निम् "अदितेऽनुमन्यस्व" त्युदकाञ्जलिं प्रसिञ्चेत् ॥ १ ॥

पूर्वोक्त (१–२७–२८) रीति से अग्निका उपसमाधान कर, परिसमूहन करके फिर अपने दक्षिण घुटने को भूमि पर (वीरासन से) टेककर प्रार्थना करे कि—'हे अदिते ! मुझे इस कर्म को करने की अनुमति प्रदान करो' (तै० सं० २. ३. १. २.)— इस मन्त्र से अग्नि के दक्षिण भाग में जलाञ्जलि से सिञ्चन करे ॥ १ ॥

प्रादुष्कृतमग्निमुपसमोपे होमकालस्य। यद्वाऽऽत्मनः। समाधाय इन्धनेन सम्यगाधाय। यद्वा सम्मुखमाधाय स्थापयित्वा[1] परि-सर्वतोभावेन-समुह्य-निषिद्धेतरशुष्केन्धनानि अमन्त्रमग्नौ[2] प्रक्षिप्य

---

१. अत्रार्थे प्रज्वालतं, स्थापनकार्यस्य तद्विनाऽनिष्पत्त्याऽर्थायातमेव। यथा घटमानय जलमाहरिष्य इत्युक्तौ निश्छिद्रत्वादिगुणयोगोऽनुक्तोऽपि जलाहरणाऽन्यथाऽनुपपत्त्याऽभ्यूह्यते तद्वत्।

२. एतेन "इमं स्तोममि" त्यादिमन्त्रकरणकमुपसमूहनमत्र नास्तीत्यावेद्यते। क्षिप्रहोमत्वादस्य। यथाह कर्म्मप्रदीपे कात्यायनः—

"न कुर्यात्क्षिप्रहोमेषु द्विजः परिसमूहनम्।
वैरूपाक्षं न च जपेत्प्रपदञ्च विवर्जयेत्" ॥ इति।
समिदादिषु होमेषु मन्त्रदैवतवर्जिता।
पुरस्ताच्चोपरिष्टाच्च इन्धनार्था समिद्भवेत् ॥" इति च।

क्षिप्रं हूयन्ते ये ते क्षिप्रहोमाः सायं प्रातर्होमादय उच्यन्ते। वैरूपाक्षं—विरूपाक्षशब्दो यस्मिन्नस्ति तम्। मत्वर्थीयाच्प्रत्ययान्तात् स्वार्थेऽण् (पा० ५।४।३८) "भूर्भुवःस्वरोमहान्तमात्मानम्प्रपद्ये" इत्यादिकम्। प्रपदन्तु—"तपश्च तेजश्चे" त्यादि-"मामवन्त्वि" त्यन्तम्। तदेतदुपरिष्टाद्व्यक्तीभविष्यति। (४।५।६) एवं स्तरणमप्यत्र न कर्त्तव्यम्। इतःपरं स्तरणाम्नानात्। तदप्याह कर्म्मप्रदीपे कात्यायनः—

"यान्यधःस्तरणाम्नानान्न तेषु स्तरणं भवेत्।
एककार्यार्थसाध्यत्वात्परिधीनपि वर्जयेत् ॥" इति।

ब्रह्मस्थापनमपि नास्त्येव। क्षिप्रहोमत्वादेव। अतएव गृह्यान्तरम्।

"एकसाध्येष्ववर्हिषु न स्यात्परिसमूहनम्।
नोदगासादनञ्चैव क्षिप्रहोमा हि ते स्मृताः ॥" इति।

[1]दक्षिणजान्वक्तः-दक्षिणं जानु-अक्तं भूमिगतं यस्य सः। "अञ्जूव्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषुः (रु० प०) इत्यस्माद् "गत्यर्थाकर्म्मके"-(पा० ३।४।७२) त्यादिना कर्त्तरि क्तः। कुत्वं, भूगतदक्षिणजानुः। दक्षिणेनाग्निम् = दक्षिणस्यामदूरवर्त्तिन्यां दिश्यग्नेः। अत्र "एनबन्यतरस्यामदूरेऽपञ्चम्या" (पा० ५।३।३५) इति विहितेनबन्तयोगे "एनपा द्वितीया" (पा० २।३।३१) इति द्वितीया षष्ठयर्थे। "उपपदविभक्तित्वात्। "उपपदविभक्तीनां सम्बन्धोऽर्थः षष्ठयपवादत्वात्। "उत्सर्गसमानदेशा ह्यपवादा भवन्ती" ति महाभाष्योक्तेः। एवमग्रेऽपि यथायथमूह्यम्। "अदिते अनुमन्यस्व" इति अनेन मन्त्रेण करणभूतेन। तेन मन्त्रं पठित्वेत्यर्थः। "मन्त्रान्ते कर्म्मादीन्सन्निपातयेत्" (जै० सू० १२।३।१२) इत्यधिकरणसिद्धान्तात्। मन्त्रार्थस्तु—हे अदिते! देवि! मामनुमन्यस्व अनुजानीहि। त्वयाऽनुमतः कर्म्मफलं लब्धास्मीति। एवमग्रेतनयोरपि। एताभिस्तिसृभिरनुमतः कर्म्म कुर्वाणस्तत्फलभाग्भवतीति आम्नायते। उदकाञ्जलिम्—उदकपूरितमञ्जलिम्। वस्तुतस्तु—अञ्चलावुदकमिति सप्तमीसमासे "राजदन्तादित्वात्" (पा० २।२।३१) उदकस्य पूर्वनिपातः। अवच्छेदकत्वरूपविषयता सप्तम्यर्थः। "गृहीत्वाचाऽऽस्यकेशेष्वि" तिवत्। अञ्जलयवच्छिन्नमुदकमिति तदर्थः। प्रसिञ्चेत्—प्रागग्र[2] सिञ्चेत्॥ १॥

'अनुमतेऽनुमन्यस्वे'ति पश्चात्॥ २॥

'हे अनुमते! हे देवि! मुझे इस कार्य को करने की अनुमति प्रदान करो'—इस मन्त्र से अग्नि के पश्चात् (भाग में दूसरी उदकाञ्जलि से सिञ्चन करे)॥ २॥

विमर्श—इस मन्त्र का विनियोग खा० गृ० १. २. १८; हिर० गृ० १. २. ९ आप० गृ० १. २. ३ में देखना चाहिए।

न्यञ्चकरणं तु—"इदम्भूमेर्भजामहे" इति कर्त्तुमुचितम्। "पूर्वेषु चैके" (४।५।२) इति तस्य पक्षप्राप्तत्वात्। तत्स्वरूपन्तु—

"दक्षिणं वामतो बाह्यमात्माभिमुखमेव च।
करं करस्य कुर्वीत करणे न्यञ्चकर्म्मणः॥" (कात्यायनसंहिता १५. १७)

इति कर्मप्रदीप उक्तम्। न खल्वेतत्प्रतिषिध्यतेऽपि। तथाच पक्षप्राप्तस्यानिषिद्धस्यास्य करणेऽभ्युदयोऽकरणे दोषाभाव इत्यवगन्तव्यम्। भट्टभाष्येऽप्येवमेवाऽमन्त्रकं परिसमूहनमुक्तम्।

१. तथाचाहुः स्वपद्धतौ महामहत्तक बीरेश्वरादयः—"परिसमूहनं च शुष्कनिषिक्तेतरेन्धनस्याग्नौ प्रक्षेप इति। समिदाधानञ्चेदं सम्प्रोक्ष्य कार्यमित्याहापस्तम्बः—, 'तत्प्रोक्षितमिन्धनमग्नावा दध्यादि" ति।

२. अग्नेः खलु दक्षिणस्यामदूरवर्त्तिन्यां दिशि अयं प्रसेकः। पूर्वाभिमुखश्च कर्त्ता भवति। "प्राञ्च्युदङ्खि वा कर्म्माण्यनुतिष्ठेरन्नि" ति च ब्राह्मणम्।

पश्चात्—पश्चिमायां दिशि अग्नेः। उदकाञ्जलिं प्रसिञ्चेत्। इत्यनुवर्त्तते। उदगग्रमित्यर्थः॥ २॥

'सरस्वत्यनुमन्यस्वे'त्युत्तरतः॥ ३॥

'हे सरस्वती ! हे देवि ! मुझे इस कार्य को करने की अनुमति दो'— इस मन्त्र से अग्नि के उत्तर में (तीसरी जलाञ्जलि से सिञ्चन करे)॥ ३॥

उत्तरतः = उत्तरस्यान्दिशि। अग्नेः। उदकाञ्जलिं प्रसिञ्चेत् पूर्वाग्रम्॥ ३॥

'देवसवितः प्रसुवे'ति प्रदक्षिणमग्निं पर्युक्षेत्सकृद्वा त्रिर्वा॥ ४॥

इसके बाद एक ही बार या तीन बार 'देवसवितः प्रसुव' आदि मन्त्र से प्रदक्षिणा क्रम के अनुसार अग्नि के चारो ओर पर्युक्षण करे अर्थात् जल की धारा गिरावे॥ ४॥

"देवसवितः प्रसुवे" त्येवमादिना मन्त्रेण करणभूतेन। तथाच मन्त्रः "देवसवितःप्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भगाय। दिव्यो गन्धर्वः केतपूः केतन्नः पुनातु वाचस्पतिर्वाचं नः स्वदतु।" इति। अस्यार्थः—हे देव! सवितः! यज्ञं प्रसुव, कर्त्तव्यतयाऽनुजानीहि। यज्ञपतिं—यजमानं माञ्च भगाय भजनीयाय कर्म्मफलाय प्रसुव कर्म्मभागिनं कुर्वित्यर्थः। दिव्यो—दिविभवो गन्धर्वः रसानां धारयिता। केतपूः प्रज्ञाप्रदः। (निघं० ३।९।१) स केतं प्रज्ञां नः पुनातु।[1] निर्म्मलां करोतु। वाचस्पतिः प्राणः।[2] नोऽस्माकं वाचं स्तुतिरूपां स्वदतु स्वादयतु। देवताप्रीतिकरीङ्करोतु। अन्तर्भावितण्यर्थोऽत्र स्वदतिः। व्यत्ययेन पदस्यात्रोपन्यस्तः। (पा० ३।१।८५) इति। प्रदक्षिणं यथा भवति तथा अग्निं पर्युक्षेत्। परित उक्षेत् सिञ्चेत्। "उक्ष सेचने" (भ्वा० प०) विधिलिङ्। उदकाञ्जलिधारया प्रदक्षिणमग्निं वेष्टयेत् इत्यर्थः। सकृद्वा त्रिर्वेति क्रियाविशेषणम्। वाशब्दद्वयेन तुल्यवद्विकल्पेऽपि त्रिरावृत्तिपक्षे तद्विधेरननुष्ठानलक्षणऽप्रामाण्यभिया फलभूमा कल्पनीयः। अतएवाह कात्यायनः—

"यत्र स्यात्कृच्छ्र भूयस्त्वं श्रेयसोऽपि मनीषिणः।
भूयस्त्वं ब्रुवते तत्र कृच्छ्राच्छ्रेयो ह्यवाप्यते॥" इति॥ ४॥

---

१. अत्रैक एवादित्यो गन्धर्वरूपेण प्राणरूपेण च स्तूयते। तत्र प्रथमं प्रत्यक्षकृतः। पश्चात्परोक्षकृत इत्येवं निगमवाक्यशैली बहुत्रोपलभ्यत इतिद्रष्टव्यम्।

२. तथाच "पुनरेहि वाचस्पते" (ऋ० सं० १०।९।१३।७) इतिमन्त्रे वाचस्पतिपदेन प्राण एव संबोधितः सायणाचार्यदुर्गाचार्यादिभिः।

पर्युक्षणप्रकारमाह--

पर्युक्षणान्तान्व्यतिहरन्नभिपर्युक्षन् होमीयम् ॥ ५ ॥

उक्त प्रकार से पर्युक्षण पर्यन्त कार्यों को पूर्ण करके फिर होम के उपयोगी जो अन्नादि पदार्थ हैं उनका जलबिन्दुओं से सिञ्चन करे ॥ ५ ॥

अन्त-शब्दोऽत्राद्यर्थः । अग्निष्टोमे द्वितीयायां धुरि "तस्यान्तेऽक्षरे-सल्लँग्ने" इत्यत्र तदर्थकत्वदर्शनादिति शुभकर्म्मनिर्णये मुरारिमिश्राः प्राहुः । भाष्यान्तरेऽप्येवमेव । व्यतिहरन्--व्यतिषजन्प्रतिलोमीकुर्वन् । बहुवचन-श्रुतिस्त्रित्वपक्षाभिप्राया । तदयमर्थः--पर्युक्षणानाम्पर्युक्षणोदकधाराणाम-न्तान्[1] आरम्भान् व्यतिहरन्नभ्यन्तरतः कुर्वन् इति । अनेनैतदुक्तम्भवति-पर्युक्षणारम्भकोटिमभ्यन्तरतोऽवसानकोटिञ्च बहिः कुर्यादिति । वीरेश्वरा-दयोऽप्येवमेवाहुः । होमीयम्-होमार्थमुपक्लृप्तं व्रीह्यादि । तस्मै हित-मित्यर्थे-"विभाषा हविरपूपादिभ्यः" (पा० ५।१।४) इतिछस्तस्येया-देशः (पा० ७।१।१) । अभिपर्युक्षन्-पर्युक्षणधारयाऽभ्यन्तरतः कुर्वन् इत्यर्थः । यद्वाऽआभिमुख्येन सिञ्चन्स्पर्शयन्पर्युक्षेदग्निम् इति सम्बध्यते ॥५॥

अथ हविष्यस्यान्नस्याग्नौ जुहुयात् कृतस्य वाऽकृतस्य वा ॥ ६ ॥

इसके बाद अग्नि में पके हुए या कच्चे यवादि अन्न रूप हविष्य पदार्थ का हवन करना चाहिए ॥ ६ ॥

अथ--इत्यानन्तर्यार्थोविशिष्टमानन्तर्यमभिद्योतयति--पर्युक्ष्य तूष्णीं समिधमाधायाथ जुहुयात् इति चन्द्रकान्तभाष्यम् । तेन हि प्रथमसूत्रे परिसमुह्येत्यस्य विक्षिप्तानग्न्यवयवानेकीकृत्यामन्त्रकमिति व्याख्यातम् । तदेतदननुमतं पूर्वेषाम् । यच्चोद्धृतन्तेन--

"समिदादिषु होमेषु मन्त्रदैवतवर्जिता ।
पुरस्ताच्चोपरिष्टाच्च इन्धनार्था समिद्भवेत्" ॥

इति कर्म्मप्रदीपवचनं तदपि पूर्वार्थापरिज्ञानविजृम्भितमिति न किञ्चिदेतत् । हविष्यस्य-हविषि होतव्ये वस्तुनि साधोः "तत्र साधुः" (पा० ४।४।९८) इति साध्वर्थे यत्प्रत्ययः । "हविः सर्पिषि होतव्ये" इति हैमः । अन्नस्य-अदनीयस्य माषकोद्रवादि (निषिद्ध)[2] भिन्नस्य यवादेः ।

---

१. तथाचात्रोक्ततेः करणे ल्युटि योरनादेश इत्यवगन्तव्यम् ।

२. तथाच च्छन्दोगपरिशिष्टम्—

"हविष्येषु यवा मुख्यास्तदनु व्रीहयः स्मृताः ।
माषकोद्रवगौरादीन् सर्वालाभेऽपि वर्जयेत् ॥" (कर्मप्रदीप ९. १०)

इति । गौरो—गौरसर्षपः । आदिना कुलत्थमसूरादिपरिग्रहः ।

अवयवलक्षणाऽत्र षष्ठी । तेनाऽवशेषोऽप्यस्योक्तो भवति । तथा च निर्वाप-प्रमाणे कात्यायनः--

"यावता होमनिष्पत्तिर्भवेद्या यत्र कीर्त्तिता ।
शेषञ्चैव भवेत्किञ्चित्तावन्तं निर्वपेच्चरुम्" ।। इति ।

अग्नौ--सुसमिद्धे[1] वह्नौ । जुहुयात् । हविष्याण्याह बृहस्पतिः--

"हैमन्तिकं सितास्विन्नं धान्यं मुद्गास्तिला यवाः ।
कलायकं कुनीवारा वास्तूकं हिलमोचिका ।। १ ।।
षष्टिका कालशाकञ्च मूलकङ्के[2] मुकेतरत् ।
कन्दं[3] सैन्धवसामुद्रे गव्ये च दधिसर्पिषी ।। २ ।।
पयोऽनुद्धृतसारञ्च पनसाम्रहरीतकी ।
पिप्पली जीरकञ्चैव नागरङ्गञ्च तिन्तिळी ।। ३ ।।

---

१. तदेतदुक्तप्रायमपि प्रतिविशिष्टज्ञापनायाग्निपदोपादानमवगमयति । तदुक्तं कर्म्मप्रदीपे (९. १२-१३) कात्यायनेन--

"योऽनर्चिषि जुहोत्यग्नौ व्यङ्गारिणि च मानवः ।
मन्दाग्निरामयावी च दरिद्रश्चैव जायते ॥
तस्मात्समिद्धे होतव्यं नासमिद्धे कदाचन ।
आरोग्यमिच्छताऽऽयुश्च श्रियमात्यन्तिकीन्तथा ॥" इति ।

आत्यन्तिकीं--पुत्रपौत्रानुवर्त्तिनीम् । समिन्धनञ्चाग्नेर्व्यजनादिना कार्यं, मुखेनैव वेत्येके । तदप्याह (९. १४-१५) स एव--

"जुहूषंश्च हुते चैव पाणिशूर्पस्फ्यदारुभिः ।
न कुर्यादग्निधमनं कुर्याद्वा व्यजनादिना ॥
मुखेनैके धमन्त्यग्निं मुखादेषोऽध्यजायत ।
नाग्निं मुखेनेति च यल्लौकिके योजयन्ति तत् ॥" इति ।

जुहूषन्--होतुमिच्छन् । हुते वा पाण्यादिना वह्निसन्दीपनं न कुर्यात् । किन्तु व्यजनादिनैव कुर्यादिति पूर्ववचनार्थः । कुर्याच्चेति चकारोऽवधारणे । इत्थं हि स्वमतमभिधाय मतान्तरमुपन्यस्यति--मुखेनैके इति । "मुखादग्निरजायते"--ति श्रुतेरग्नेर्मुखप्रभवत्वान् मुखेनैव दीपनम् । औचित्यात् । "नाग्निं मुखेनोपधमेदि"ति श्रुतेरसंस्कृताग्निविषयत्वेन योजनादित्यर्थः । इदञ्च न स्वमतम् । "कुर्यान्व्यजनादिने"ति सिद्धान्तिते आकाङ्क्षानिवृत्तौ मुखेनेति पुनरभिधानायोगात् ।

२. क्वचित् "कन्दं वै केमुकेतरत्" इति पाठः । आचारचिन्तामणौ "केचुकेतरत्" इति पठितम् । तत्र केचुकं "कञ्चु" इति मिथिलाभाषायां प्रसिद्धम् ।

३. "लवणे सैन्धवसामुद्रे" इति स्मृतिसुधाकरधृतः पाठः । सामुद्रम्--समुद्रीति प्रसिद्धम् । पुरुषोत्तमक्षेत्रादौ "खरलेति" प्रसिद्धम् ।

कदली लवली धात्री फलान्य,–गुडमैक्षवम् ।
अतैलपक्वं मुनयोहविष्यान्नं प्रचक्षते" ॥ ४ ॥ इति ।

हैमन्निकम्–वार्षिक[1] धान्यव्यतिरिक्तम् । सितपदेन श्यामतुष–श्यामतण्डुलयोर्निवृत्तिः । अस्विन्नपदेन स्विन्न निवृत्तिः ।[2] कलायपदेन वर्त्तुलोग्राह्यः । "कलायस्त्रिपुटो ज्ञेयः" इति वैद्यशास्त्रोक्तस्तु "कलायश्चातिवातुलः" इति प्रकरणीयः "क्षेत्रशाली" पदप्रतिपाद्योऽग्राह्य एवात्र[3] । अत्र––"अतिवर्त्तुल" इत्यपि पाठः क्वचित् । कङ्गुः कङ्कुणिकः[4] । नीवारो–जलधान्यविशेषः । वास्तूकं–लम्बपत्रम् । क्षारवास्तूकस्य निषिद्धत्वात् । हिलमोचिका––"हर्होंच" (सर्होञ्ची) । सर्होंची इति नाम्ना तत्रतत्र (देशविशेषेषु) प्रसिद्धः । जलप्रभवस्तिक्तशाकविशेष इति स्मृतिसुधाकरकारः । षष्टिका–शारदधान्यविशेषः । "सट्ठी" प्रसिद्धः । अत्राप्यस्विन्नेति विशेषणीयम् । कालशाकः––कालत्वेन पर्वतप्रसिद्धः । ईषच्छ्यामपत्रशाकविशेषः । केमुकम् "किउआ" "केञआँ" इति वा प्रसिद्धः कन्दविशेषस्तदितरत्कन्दं[5] शूरणादीत्यर्थः । पयोऽपि गव्यमेव दधिसन्निधानात् । तिन्तिळी चिञ्चेति आग्नेयकोशे । "अविली"ति मध्यदेशे । "तेतरि" इति मिथिलायाम्प्रसिद्धा । लवलीस्थाने दाडिमीति क्वचित्पाठः । लवलीति तु धात्रीसमानाकृतिः पाण्डुवर्णफलविशेषः । 'हर्फा" इति मिथिलायां प्रसिद्ध । धात्री–आमलकी । अगुडमित्यैक्षवविशेषणम् । तथाचेक्षुरस इत्यर्थः । अन्येतु––अगुडपदेनेक्षुविकारसितशर्करादिपरिग्रह इत्याहुस्तदसत् अगुडपदेन तद्विकारस्यापि निषेधप्राप्तेः । अन्यथा गुडस्याप्यपराधाभावात् । गुडापेक्षया सितशर्करादौ प्राणिमरणाधिक्यात् । अतैलपक्वमिति तैलपाकनिषेधः । तेनाऽपक्वं घृतपक्वं वा हविष्यमुक्त द्रव्यम् । अन्ये त्वाहुः–अतैलपक्वमित्युक्तद्रव्यस्यैव विशेषणम् । तेन हविष्यमपि यदा तैलेन पच्यते तदा न हविष्यमिति ॥ इदमुपलक्षणं निषिद्धेतरत्स्वयमाण्यसम्भवत्पुष्पमूलफलशाकादिकं सर्वं हविष्यम् । "शाकेषु मुख्या खलु काक-

---

१. वार्षिकं वर्षर्तुप्रभवम् । तत्र "ऋतुः सव्वँत्सरः" इति मतेन श्रावणादिमासचतुष्टयं वर्षर्तुः ।

२. हरिद्रागोरसन्धान्यसि"त्यादिवचनेन दिनान्तरेण स्विन्नधान्यं पुनः पाकेन शुद्धं भुक्त्वाऽपि न दोष इति स्मृतिसुधाकरकारादयः ॥

३. हविष्यप्रकरणेय । अयं च मिथिलायां "खेसाड़ी" बदेन प्रसिद्धः ॥

४. "कङ्गुनी"ति गौडभाषायाम् । "काउनि" इति तु मिथिलायां प्रसिद्धः ॥

५. "जिमीकन्द" इति पश्चिमोत्तरे । "ओल" इति मिथिलायां प्रसिद्धः । "अर्शोघ्नः शूरणः कन्दम" इत्यमरः ।

माचो''ति वामनपुराणादिति स्मृतिदीपिकायां वामदेवोपाध्यायाः प्राहुः। अयञ्च होमः पाणिनैव कार्यः। तथा च कर्म्मप्रदोपः (८. ११)––

''होमपात्रमनादेशे द्रवद्रव्ये स्रुवः स्मृतः।
पाणिरेवेतरस्मिंस्तु स्रुचा चात्र न हूयते॥'' इति॥

आहुतिप्रमाणमपि तत्रैव––(क० प्र० ९. ११)

''पाण्याहुतिर्द्वादशपर्वपूरिका कंसादिना चेत्स्रुवमात्रपूरिका।
दैवेन तीर्थेन च हूयते हविर्व्यङ्गारिणि स्वर्चिषि तच्च पावके॥

इति। अत्रापि विशेषः स्मर्यते—

''उत्तानेनैव हस्तेन ह्यङ्गुष्ठाग्रेण पीडितम्।
संहताङ्गुलिपाणिस्तु वाग्यतो जुहुयाद्धविः॥'' इति।

अन्नस्येति विशिनष्टि––कृतस्य–ओदनादेः। अकृतस्य व्रीह्यादेर्वा, तदाह कात्यायनः (९. ११)––

''कृतमोदनसक्त्वादि तण्डुलादिकृदाकृतम्।
व्रीह्यादि चाकृतम्प्रोक्तमितिहव्यं त्रिधामतम्॥'' इति।

व्याख्यातौ वा शब्दौ। प्रतिनिधिरपि यथोक्तवस्त्वलाभे कात्यायनोक्त उक्तः प्राक्। (१।१।२३)॥ ६॥

अकृतश्चेत्प्रक्षाल्य जुहुयात्प्रोदकं कृत्वा॥ ७॥

यदि ओदन (भात) आदि अग्नि पर पका हुआ हविष्य होम के योग्य न हो तो तण्डुल (= चावल) तथा फल आदि जो भी हविर्द्रव्य उपलब्ध हो उन्हें जल से धोकर भींगे ही दशा में हवन करे॥ ७॥

अकृतं–व्रीह्यादि चेज्जुयात्तर्हि पूर्वमेव[1] तत् प्रक्षाल्य ''त्रिर्देवेभ्यः[2] प्रक्षालयेत्'' (१।७।५) इति दर्शनाद्देवार्थत्वाच्चास्य ''वारत्रयमि'' ति शेषः। प्रोदकं–प्रगतोदकम्। ''प्रादिभ्यो धातुजस्य वाच्यो वा चोत्तर-

१. होमदिनात्पूर्वदिन एव तथाभूतं सम्पाद्य शुचौ भाजने स्थापयेत्। होमसमये तत एवोद्धृत्योधृत्य शुष्कन्तञ्जुहुयात्। सद्यः प्रक्षालने प्रगतोदकेनापि वह्नेरपचयसम्भवादिति भावः।

२. अत्र प्रक्षालनं दानस्याप्युपलक्षणम्मत्वा पुष्पाद्यपि त्रिर्देवेभ्योऽर्पयन्ति। अत्र कृच्छ्र-भूयस्त्वेन फलभूमैव (१।३।४।) उक्तकातीयवचनादवकल्पते। अन्ये तु त्रिःप्रक्षालितस्य कृतप्रायत्वं मन्यन्ते। मनुष्येभ्योऽपि द्विर्दानन्दध्यादेराजानिकशिष्टाचारानुगतं दृश्यत इति॥ वस्तुतस्तु ''त्रिष्कृतमर्थंन्देवामन्यते'' शतपथश्रुतिरेवत्रिः पुष्पादिदाने मूलमिति द्रष्टव्यम्॥

पदलोपः" (पा० २।२।२४ वा०) इति बहुव्रीहौ गतपदलोपः। शुष्कञ्च कृत्वा जुहुयात् ॥ ७ ॥

अथ यदि दधि पयो यवागूं वा कंसेन[1] वा चरुस्थाल्या वा स्रुवेण वै वा ॥ ८ ॥

यदि दधि, दुग्ध अथवा यवागू से होम करना हो तो (उसे धोने की आवश्यकता नहीं है)। उनको काँसे के पात्र में या चरुस्थाली में रखकर या स्रुवा से हवन करे (हाथ से नहीं) ॥ ८ ॥

अथ–व्रीहियवयोरलाभे यदि दधि पयोयवागूं[2] जुहुयात्तदा केन? तत्राह–कंसेन। कांस्य[3] मयभाजनविशेषेण। चरुस्थाल्या चरुर्यत्रस्थाप्यते सा चरुस्थाली तया––

"तिर्यगूर्ध्वं समित्मात्री दृढा नातिबृहन्मुखी।
मृण्मय्यौदुम्बरी वापि चरुस्थाली प्रशस्यते ॥

इति कर्म्मप्रदीपोक्तलक्षणा। तिर्यगिति। विशालतोच्चैस्त्वाभ्यां प्रादेशप्रमाणा "प्रादेशमात्राः समिध" इत्यन्यत्राम्नानात्। मृण्मयी–मृदा निर्म्मिता। हस्तघटिता। न तु कुलालचक्रनिर्मितेत्यप्याह–स एव––

"कुलालचक्रघटितमासुरं मृण्मयम्भवेत्।
तदेव हस्तघटितं स्थाल्यादि खलु दैवतम् ॥" इति।

औदुम्बरी–ताम्रमयो। "औदुम्बरं भवेत्ताम्रं फलादौ यज्ञशाखिनः" इत्यजयः। स्रुवेण वै वा। अत्र विषमशिष्ट[4]त्वादेवमवगम्यते––शक्त्यपेक्षयाऽत्र विकल्पो नत्वभिधानक्रमापेक्षयेति। स्रुवो नामाऽरत्निमात्रः खादिरादिर्यज्ञकाष्ठमयो होमपात्रमुच्यते। तथाच **कर्मप्रदीपः—**

"खादिरो वाऽथ पर्णो वा द्विवितस्तिः स्रुवः स्मृतः।
स्रुग्बाहुमात्री विज्ञेया वृत्तस्तु प्रग्रहस्तयोः ॥

१. भट्टभाष्येऽनेन सूत्रद्वयं कृतम्।

२. यवागूर्भृष्टयवचूर्णं दुग्धपक्वम् ॥

३. व्रीहियवयोः पाण्याहुतेरुक्तत्वात् ॥

४. स्रुवो ह्यत्रोत्पत्तिशिष्टः। अन्यौ चोत्पन्नशिष्टौ। अयमर्थः। स्रुवेण वा जुहुयात्। वै इति प्रसिद्धार्थको निपातः स्रुवस्यैवं विधेषु होमेषु प्रसिद्धिं द्योतयति। कात्यायनोऽप्याह–"होमपात्रमनादेशे द्रवद्रव्ये स्रुवः स्मृतः" इति। तस्मात्स्रुवेणैवेति प्रथमः कल्पः। तदभावे कंसेन वा चरुस्थाल्या वेति। अभावविकल्पोऽयं तुल्यबलः। दधिपय आदावपि पूर्वपूर्वाभावे उत्तरोत्तरविधीयत इति।

स्रुवाग्रे घ्राणवत्खातं द्व्यङ्गुष्ठपरिमण्डलम् ।
स्रुचः शराववत्खातं सनिर्वाहं षडङ्गुलम् ।।
प्राक्शस्तेषां कुशैः कार्यः सम्प्रमार्गो जुहूषता ।
प्रतापनञ्च लिप्तानां प्रक्षाल्योष्णेन वारिणा ।।" इति ।

पार्णः—पालाशः । "पलाशः किंशुकः पर्णः" इत्यमरः । तस्येदमित्यर्थेऽण् । प्रगृह्यतेऽनेति प्रग्रहो दण्डः । स च तयोः स्रुवस्रुचोर्वृत्तो वर्त्तुलः कार्यः । घ्राणवत्—नासास्रोतोवत् । तेन द्विपुष्करत्वमायाति । तथा चोक्तम्—"स्रुवाग्रे खननं कुर्यात्पङ्के मृगपदाकृति ।" इति । अत्र विशेषमाह—श्रीदेवभाष्ये-आपस्तम्बः—"वैकङ्कत्यग्निहोत्रहवणी बाहुमात्री अरत्निमात्री वा प्रसृताकृतिरि"ति वैकङ्कती-स्रुवावृक्ष-(गम्भारी-) सम्भवा । "वैकङ्कतः स्रुवावृक्षः" इत्यमरः ।। अग्निहोत्रहवणी-स्रुक् । स्रुवश्च । "आकुञ्चितपाण्याकृतिर्हंस्ताकृतिः स्रुवः" इति **स्मृतिसुधाकरः**[1] । सनिर्वाहं-घृतनिर्गममार्गसहितमित्यर्थः । प्राक्शः मूलमारभ्य तदग्रदेशाभिमुखम् । तेषां-स्रुवादीनाम् । संप्रमार्गः=संप्रमार्जनम् । जुहुषता-होतुमिच्छता । अत्र कातीयश्रौतसूत्रम्—"विपर्यस्य बर्हिर्मूलैः" इति । तथा च पद्धतिकृतो वीरेश्वरादयो लिखन्ति—"सम्मार्जनकुशानामग्रैरन्तरमूलैर्बाह्यतः स्रुवं संमृज्ये-"ति । लिप्तानां घृतादिलेपवताम् । उभयो संस्कारे प्रसक्ते स्रुव एवादौ संस्कार्य्यः । "स वै स्रुवमेवाग्रे सम्माष्टर्यथेतरा स्रुचः" इति मुरारिमिश्रधृतशतपथश्रुतेः (१. ३. १. ६) प्रतापनञ्च सर्वेषां (लिप्तानामलिप्तानाञ्च) उक्तं चैतत्कारिकायाम्—

"प्रतापयेत्ततो वह्नौ रक्षसां वारणाय च ।
स्रुवखाते च ये सन्ति पापिष्ठाः पापयोनयः ।।
वह्निप्रतापिताः सर्वे भस्मीभवन्ति तत्क्षणात् ।।" इति ।

---

१. प्रकारान्तरं यथा—ग्रहयागपद्धतौ—
"खादिरन्तु स्रुवं विद्याच्चतुर्विंशाङ्गुलं बुधः । चतुर्थांशेन पाणिः स्यात्तावता कलशौ स्मृतौ ॥
सभूषणौ भागयुगे गण्डी कार्या सुवर्तुला । एकाङ्गुलोऽत्र कण्ठः स्यात्ततस्त्र्यङ्गुलहानियुक् ॥
हस्तो निकुब्जाङ्गुलिको माध्यन्दिनकाराकृतिः । समीपाङ्गुलिसंलग्नाश्चतस्रोऽङ्गुलयोऽन्तरे ॥
बहिः किञ्चिद्विभिन्नाः स्युरङ्गुष्ठस्तलसंस्थितः । अनामिकामध्यपर्वार्द्धाधोरेखा गतोभवेत् ॥
पवित्रञ्चाङ्गुरीयञ्च पाण्येस्तलगतं भवेत् । अङ्गुष्ठपृष्ठसंलग्नं पुष्करन्नखतः पृथक् ॥
तन्मध्ये निखनेत्कूपं कर्षाज्यग्रहणक्षमम् । कलशौ तत्र कर्त्तव्यौ मणिबन्धे परान्तिके ॥
प्रथमं त्र्यङ्गुलं विद्याद् द्वितीयञ्चतुरङ्गुलम् । तयोः पार्श्वेषु कार्याणि कङ्कणानि विशारदैः ॥"
इति । गण्डी—दण्डा । कर्षः षोडशमाषमितः "गुञ्जाः पञ्चाद्यमाषकाः । ते षोडशाक्षः कर्षोऽस्त्री" इत्यमरः । मणिबन्धः पाणिप्रकोष्ठसन्धिः ।

अत एवाधोमुखस्य प्रतापनं निबन्धृभिर्लिखितं, तथासति खाततापस्य सुकरत्वात् ॥ ८ ॥

अथ सामवेदिनां सायमारभ्यैवोपासनपरिचरणस्योक्तत्वात् (१।१।२३) तत्प्रकारं तथैवाह—

अग्नये स्वाहेति पूर्वां, तूष्णीमेवोत्तराम् । मध्ये चैवाऽपराजिता-याञ्चैव दिशीति सायम् ॥ ९ ॥

पहली आहुति तो 'अग्नये स्वाहा' इस मन्त्र से अग्नि के मध्य दे और दूसरी आहुति चुपचाप बिना मन्त्र के ईशान कोण में दे। यही सायंकाल के होम का विधान है ।। ६ ।।

पूर्वाम्—प्रथमामाहुतिं मध्य एवाग्नेर्जुहुयात् । इति प्रकृतमनुवर्त्तते । उत्तराम्—द्वितीयाम्-च आहुतिं तूष्णीम्—अमन्त्रकमेव । मनसा प्रजापतये स्वाहेति मन्त्रदेवते अनुसन्धाय अपराजितामैशान्यां दिशि अग्नेर्जुहुयात् । तथाच कात्यायनः—

"आज्यं द्रव्यमनादेशे जुहोतिषु विधीयते ।
मन्त्रस्य देवतायाश्च प्रजापतिरिति स्थितिः ॥" इति ।

अनादेशे द्रव्यस्य, आज्यं[1] गव्यं घृतमेव द्रव्यम् । जुहोतिषु—होमक्रियासु । "इक्श्तिपौ धातुनिर्देशे"[2] (पा० ३।३।१०८ वा०) इति स्मरणात् । धातुपदमत्र तदर्थस्यापि बोधकम् । शब्दार्थयोरभेदात् । अनादेशे—इत्युत्तरार्द्धेऽप्यनुषज्यते । मन्त्रस्यानादेशे—प्रजापतिस्तद्देवत्यो मन्त्रः "भूर्भुवःस्वरि" ति । स एव च देवता । तथाच मनुः—

"अकारञ्चाप्युकारञ्च मकारञ्च प्रजापतिः ।
वेदत्रयान्निरदुहद्भूर्भुवः स्वरितीति च ॥" इति ।

स्थितिः शास्त्रमर्यादा । तदेतद्द्रव्यं—सायम् "अग्नये च प्रजापतये च सायं जुहोति" इति । "तस्मात् प्राजापत्यां मनसा जुहोति मनो हि प्रजापतिः" इति

---

१. आज्यलक्षणमाह—कात्यायनः (गृ० सं०) "अग्निना चैव मन्त्रेण पवित्रेण च चक्षुषा । चतुर्भिरपि यत्पूतन्तदाज्यमितरद्घृतम् ॥ घृतं वा यदि वा तैलं पयो वा यदि-यावकम् । आज्यस्थाने नियुक्तानामाज्यशब्दो विधीयते ॥ आज्यानां सर्पिरादीनां संस्कारे विधिनोदिते । अनधिश्रयणं दध्नः शेषाणां श्रपणं स्मृतम् ॥ यथा सीमन्तिनी नारी पूर्वगर्भेण संस्कृता । एवमाज्यस्य संस्कारः संस्कारे विधिनोदितः ॥" इति ।

२. "आह्नौ प्रभृतादिभ्यः" "पृच्छतौ सुस्नातादिभ्यः" (पा० ४।४।३ वा०) इत्यादौ तथा दर्शनात् ॥

च ब्राह्मणम् । "अग्नये स्वाहा प्रजापतये स्वाहा" इति सायम् । "सूर्याय स्वाहा प्रजापतये च स्वाहे"ति च प्रातः" । इति च गृह्यान्तरम् । अत्र चन्द्रकान्तभाष्यम्--"ताञ्चेमां मध्य एवाग्नेर्जुहुयान्न तु दध्यादिहोमपक्षेऽग्नेरपचयाशङ्कां कुर्यात् । इत्येवकारार्थः । तूष्णीमेवेत्येवकारो वाग्व्यापारप्रतिषेधन्नियमयत्युत्तेरस्यामाहुतौ । न खलु वाग्व्यापारप्रतिषेधनियमेऽपि मनसो व्यापारः प्रतिषिद्धो भवति । तस्मात्प्रजापतये स्वाहेत्ययं मन्त्रो मनसैवोच्चारणीयो होमार्थम्" इति ॥ ९ ॥

अथ प्रातः सूर्याय स्वाहेति पूर्वां, तूष्णीमेवोत्तराम् , मध्ये चैवापराजितायाश्चैव दिशि ॥ १० ॥

अब प्रातःकाल (होम करने की विधि भी इसी प्रकार है) पहली आहुति 'सूर्याय स्वाहा' इस मन्त्र से अग्नि के बीच में देवें और दूसरी आहुति चुपचाप बिना मन्त्र के ईशान कोण में देनी चाहिए ॥ १० ॥

अथेति पूर्वप्रकृतार्थम् । येनैव हविषा सायं होमः कृतस्तेनैव प्रातरपि होतव्यमन्यत्र प्रतिनिधेरित्यवोचाम । (१।१।२३) प्रातर्यथोक्तलक्षणे । अपराजितायामैशान्याम् ॥ १० ॥

समिधमाधायानुपर्युक्ष्य तथैवोदकाञ्जलीन्प्रसिञ्चेद्--"अन्वमंस्था" इति मन्त्रविशेषः ॥ ११ ॥

सायं या प्रातः दोनों ही समय में होम के बाद अग्नि में एक समिधा बिना मन्त्र के चुपचाप डालनी चाहिए और पहले की भाँति पुनः पर्युक्षण करके उदकाञ्जलि (यही 'अनुपर्युक्षण' नामक बाद का सिञ्चन है जिस) से सिञ्चन करे। इस (अनुपर्युक्षण) में (पूर्व मन्त्र के स्थान पर) 'अन्वमंस्था' (हे अदिते ! तुमने मुझे करने की अनुमति प्रदान की थी मैंने उसीके अनुसार कर्म सम्पन्न किया है) आदि मन्त्र का प्रयोग विशेष कर्तव्य है ॥ ११ ॥

समिधम्मन्त्रदैवतवर्जितां प्रकृतहोमापवर्गविहितामिन्धनार्थमाधाय निःक्षिप्याग्नौ अनुपर्युक्ष्य अग्निम् । "देवसवितरि"-त्यादिना पूर्व-(१।३।४)-प्रकृतेन मन्त्रेणेत्यर्थः । तथैव-तेनैव प्रकारेण (पूर्वोक्तयैवाऽऽवृता) उदकाञ्जलीन् । अनेन त्रिरित्युक्त-(१।३।४)-पक्षस्य मुख्यत्वमवगमयति । प्रसिञ्चेत् "अदिते" इत्येवमादिभिर्मन्त्रैः । इत्येतस्मिंश्च स्थानत्रये "अन्वमंस्था" इति मन्त्रविशेषः । क्वचित्तथैव पाठः । "कर्त्तव्य" इति शेषः । अस्यार्थस्तु-हे अदिते ! त्वमनुज्ञातवत्यसीति कर्म्मेदं फलवद्भूद्भवतु वेति ॥ ११ ॥

प्रदक्षिणमग्निम्परिक्रम्यापां शेषन्निनीय पूरयित्वा चमसं प्रतिष्ठाप्य यथार्थम् ॥ १२ ॥

(इस अनुपर्युक्षण के बाद) प्रदक्षिण क्रम द्वारा अग्नि की परिक्रमा करके उसी (गृहीत) जल के अवशिष्ट भाग को चमस में डालकर आवश्यक कार्य के लिए रख लेना चाहिए ।। १२ ।।

प्रदक्षिणं–दक्षिणेन प्रगतं यथा भवति तथाऽग्निं परिक्रम्य अपां–परिचरणीयानां शेषम् अवशिष्टं (परिचरणकर्मणः) निनीय–पात्रादपनीय[1] । पुनरुदकान्तरेण सपुष्पं पूरयित्वा चमसं[2]–पात्रविशेषं प्रतिष्ठाप्य–स्वाग्रे स्थापयित्वा यथार्थं–कर्म्मापवर्गविहितं (१।९।२९) वामदेव्यगानं[3] प्रातराहुतिपश्चाद्विहितं ब्रह्मयज्ञं[4] वा "कुर्यात्" । इति वाक्यशेषार्थः ॥१२॥

---

१. भूमौ निःक्षिप्येत्यर्थः ।

२. चमसमित्यस्य स्थाने आचमनमित्यपि पाठोऽर्थतौल्यादाचम्यतेऽनेनेति । तदेतज्जलपात्रधारणं कर्म्मान्तदक्षिणोत्सर्गार्थं काम्येषु । नैमित्तिकोदकालम्भनार्थञ्च । अन्यथाऽदृष्टार्थमेवैतत्स्यादिति मुरारिमिश्राः प्राहुः । उदकालम्भनिमित्तानि चोक्तानि । यथा—

"पित्र्यमन्त्रानुद्रवणे आत्मालम्भेऽधमे क्षणे । अधोवायुसमुत्सर्गे प्रहासेऽनृतभाषणे ॥
मार्जारमूषिकास्पर्शे आक्रुष्टे क्रोधसम्भवे । निमित्तेष्वेषु सर्वेषु कर्म्म कुर्वन्नपः स्पृशेत् ॥

इति । अनुद्रवणमिहोच्चारणम् । आत्मालम्भो हृदयस्पर्शः । आत्मस्तव इति केचित् । तस्यापि अप्रायत्यजनकत्वेन स्मरणात् ॥ गृह्यान्तरञ्च—

"रौद्रन्तु राक्षसं पित्र्यमासुरञ्चाभिचारिकम् ।
उक्त्वा मन्त्रं स्पृशेच्चाप आलभ्यात्मानमेव च ॥" इति ।

"सकृत्कृते कृतः शास्त्रार्थः" इति माभूदिति सायम्प्रातर्होमयोरहरहरावृत्तये इदमारभ्यत इति भट्टभाष्यस्वरसः ।

३. तथाच सूत्रम् "अपवृत्ते कर्म्मणि वामदेव्यगानं शान्त्यर्थं शान्त्यर्थम्" (१।९। २९) इति । तदेतदुपरिष्टादुपपादयिष्यते ॥

४. तथाच कात्यायनः—

"योऽयं श्रुतिजपः प्रोक्तो ब्रह्मयज्ञः स उच्यते ।
स चार्वाक्तर्पणात्कार्यः पश्चाद्वा प्रातराहुतेः ॥
वैश्वदेवावसाने वानान्यत्रर्त्ते निमित्तकात्" ॥ इति ।

निमित्तमेव निमित्तकन्तस्मादनन्तरोक्तात् निमित्तत्रिकात् । अयञ्च व्यवस्थितो विकल्पः । तत्र–तर्पणात्पूर्वं श्रुति (गायत्री) जपरूपो याजुषानाम् । सामगानां च पश्चात् । १ । अतएव पश्चादित्यत्र देहलीदीपन्याय आश्रितः । प्रातराहुत्यनन्तर मध्ययनाध्यापनरूपो "द्वितीये च तथा भागे वेदाभ्यासो विधीयते" इति दक्षोक्तः । २ । वैश्वदेवावसाने वामदेव्यजपरूपः । ३ । ब्रह्मयज्ञ इतीह स नोक्तः किन्तु तत्रैव (१।९।२९) वक्ष्यते । अतएव कात्यायनः "वामदेव्यं गणस्यान्ते बल्यन्ते वैश्वदेविके" इत्यभिदधौ । तस्यार्थ उपरिष्टात् (१।९।२९) व्यक्तीभविष्यति । न च वामदेव्य-

एवमत ऊर्ध्वङ्गृह्येऽग्नौ जुहुयादाऽऽजीवितावभृथात् ॥ १३ ॥

इस प्रकार जब अग्नि ग्रहणपूर्वक प्रथम होम करे उस [अग्नि ग्रहण के] दिन के बाद से सारे जीवन अथवा अश्वमेध आदि महा याग में) अवभृथ स्नान करने तक नित्य ही सायं-प्रातः दोनों समयों में (उपदिष्ट प्रकार से) स्वयं होम करे या (स्वयं न कर सके तो) प्रतिनिधि से करावे (परन्तु इसे किसी भी प्रकार न छोड़े) ॥ १३ ॥

एवम् अनेन प्रकारेण। अत एतस्मादनुपदोक्ताद्धोमद्वयात्। ऊर्ध्वम्-- परतः। गृह्याग्नौ। पुनरुपादानादन्यान्यपि यानि कर्म्मणि गृह्येऽग्नौ विधीयन्ते तेष्वपि, न पुनरग्निहोत्रमात्रे। जुहुयात्। स्वयम्। सति सम्भवे। वा—अथवा (स्वयमसम्भवे) हावयेद्वा-पुत्रादिभिः असम्भवकारणं चोक्तं कर्म्मप्रदीपे—

"सूतके च प्रवासे च अशक्तौ श्राद्धभोजने।
एवमादिनिमित्तेषु हावयेदिति योजयेत् ॥" इति।

यदा पुनरसमर्थो व्याध्यादिना हावयति। तदा यत्कर्त्तव्यं तदप्याह-- स एव-(क० प्र०)

"सायं होमाऽसमर्थस्य समीपमुपसर्पणम्।
तत्राऽप्यशक्तस्य सतः शयनाच्चोपवेशनम् ॥" इति।

तदनेन नायन्तुल्यवद्विकल्पः, किन्तर्हि ? व्यवस्थितः। सम्भवे जुहुयादसम्भवे हावयेदिति यथोक्तैव व्यवस्था।

"संध्याकर्म्मावसाने तु स्वयं होमो विधीयते।
स्वयं होमे फलं यत्तु तदन्येन न जायते ॥" इति च स्मृत्यन्तरम् ॥

जपस्य वैश्वदेवादिकर्म्माङ्गत्वान्न प्रधानब्रह्मयज्ञरूपतेति वाच्यम्। तर्पणवत्सम्भवात्। (यथास्नानाङ्गमपि तर्पणं पितृयज्ञतयाऽभिहितम् "यदेव तर्पयत्यद्भिः पितृन्स्नात्वा द्विजोत्तमः। तेनैव कृत्स्नमाप्नोति पितृयज्ञक्रियाफलम्" इति स्मृत्या) अत्रोपन्यस्ते द्विविधे(ऽध्ययनाध्यापनरूपे) ब्रह्मयज्ञे आद्य एव मुख्यः। "अहरहःस्वाध्यायमधीयीते"—ति ब्रह्मयज्ञोत्पत्तिश्रुतेः। अत्र श्रुतिजप एव ब्रह्मयज्ञः कार्य इति साम्प्रदायिकाचार इत्याचारद्वैतविवेके विभाकरोपाध्यायाः प्राहुः। आचारचिन्तामणिस्वरसोऽप्येवम्। तथाचात्र वा शब्द एवार्थः पूर्वपक्षेऽस्वरसमेव सूचयतीति ध्येयम्। भट्टभाष्ये तु अग्रे "अथ वाग्यतो बलीन् हरेत्"इति। इत्युक्तम्। युक्तञ्चैतत्तथा सति "देवभूतपितृब्रह्ममनुष्याणामनुक्रमादि" ति कर्म्मप्रदीपोक्तः पञ्चमहायज्ञक्रम उपपन्नो भवति। "होमादेवाबलिर्भात" इति च तदुक्तक्रमः। पितृयज्ञस्त्वत्र "श्राद्धं वा पितृयज्ञः स्यात्पित्र्यो बलिरथापि वे'ति तेनैवोक्त एव। यत्तु "पितृयज्ञस्तु तर्पणम्" इत्यतः प्राक्तेनोक्तं तत्स्नानोत्तरकृत्यतया तेनैवोक्तम्। "यदेव तर्पयत्यद्भिः" इत्यादि पूर्वोक्तम्।

तदत्राद्यमग्निहोत्रहोमद्वयं स्वयमेव कर्त्तव्यम्। अत ऊर्ध्वमित्यभिधानात्। तस्यास्यावधिरुच्यते—आजीवितावभृथादिति। अवभृथशब्दो यज्ञान्तवचनोऽपीह जहदहल्लक्षणया विनाशमात्रमभिधत्ते जीवितक्षयपर्यन्तमित्यर्थः। तथा च श्रूयते—"यावज्जीवमग्निहोत्रञ्जुहोती" ति ब्राह्मणे तु—"एतद्वै जरामर्य्यं सत्रं यदग्निहोत्रम्। जरया वा ह्येवास्मान्मुच्यते मृत्युना च" एवमादि। अन्ये तु व्याचक्षते—जीविताऽवभृथमिति समाहारद्वन्द्वः। तथा चाऽऽजीवितादाऽवभृथात् ज्योतिष्टोमादेरित्यर्थः। तथाच वक्ष्यति "यज्ञादेव निवर्त्तत" (१।४।२१) इति[1]॥ १३ ॥

अथाऽप्युदाहरन्ति ॥ १४ ॥

यहाँ (प्रतिनिधि के सम्बन्ध में) कुछ लोगों का ऐसा कथन है कि—॥ १४ ॥

अथे–ति पूर्वप्रकृताऽपेक्षम्। अथ यत्प्रकृते–हावयेदिति। तदस्यार्थस्य द्रढिम्ने ब्राह्मणवाक्यमपि उदाहरन्ति–अभिदधति "याज्ञिकाः" इति शेषः॥

कामं गृह्येऽग्नौ पत्नी जुहुयात् सायम्प्रातर्होमौ। गृहाः पत्नी। 'गृह्य एषोऽग्निर्भवतीति' ॥ १५ ॥

इस गृह्य अग्नि में यदि पत्नी चाहे तो सायं प्रातः दोनो ही होम करे; क्योंकि पत्नी को गृह कहते हैं और यह अग्नि भी गृह्याग्नि ही (गृह के हित के लिए ही) होती है ॥ १५ ॥

काममित्यनुमत्यर्थको[2] निपातः। स्वस्यासामर्थ्ये गृह्येऽग्नौ सायम्प्रातर्होमौ पत्नी (पत्यनुमता) जहुयात्। कुतः ? समा[3]ख्याबलादित्याह–गृहा इति। तथा च स्मर्यते—

"न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते।
तया हि सहितः सर्वान्पुरुषार्थान्समश्नुते॥" इति।

ततश्च यावता होमसम्पत्तिर्भवति तावन्मात्रं मन्त्रजातं पत्नीमध्यापयेत्। इति पत्नी जुहुयादिति विधेर्गम्यते।

आश्वलायनोऽपि—"पाणिग्रहादिगृह्यं परिचरेत्स्वयं, पत्न्यपि वा"—इत्याह। अतएव च 'गृह्य एषोऽग्निर्भवति।' गृहेषु [4]साधुरित्यर्थे यत् (पा० ४।४।९८) प्रत्ययः। इतिब्राह्मणवाक्यपरिसमाप्त्यर्थः सायम्प्रातर्होमसमाप्त्यर्थो वा॥ १५ ॥

---

१. यद्यपीदं बलिहरणमुपक्रम्यैवाभिहितं तथापि तद्धोमादीनामप्युपलक्षणमिति तत्रैव वक्ष्यते।

२. तथाचामरः "कामं प्रकामं पर्याप्तं निकामेष्टं यथेप्सितम्" इति।

३. समाख्या यौगिकः शब्दः।

४. गृहैर्दारैः परिचरणीय इत्यर्थः।

अथ वैश्वदेवप्रकरणम्

तदेवमुपदिष्टः सायंप्रातर्होमः। उपदिष्टश्च तदनन्तरविहितो [1]ब्रह्मयज्ञोऽपि—(१।३।१३) अथ वैश्वदवं तुरीयकण्डिकया विवक्षुस्तदङ्गभूतङ्कर्माह—

निष्ठिते सायमाश-प्रातराशे "भूत"—इति प्रवाचयेत् ॥ १६ ॥

इसके बाद सायंकाल सायंकालीन-भोजन एवं प्रातःकाल प्रातःकालीन-भोजन प्रस्तुत होने पर (अर्थात् अब सब कार्य सम्पन्न हो गया—ऐसा मन में विचार कर) छात्रों को स्वाध्याय का अध्ययन करावे (यही ब्रह्म यज्ञ है) ॥ १६ ॥

निष्ठिते[2]—सम्पन्ने। सायमश्यत इति सायमाशः। एवं प्रातरश्यत इति प्रातराशः। "अश् भोजने" (क्र्या० प०) कर्मणि घञ्, उपधावृद्धिः। स च स चेति द्वन्द्वैकवद्भावः। तस्मिंस्तथोक्ते। अत्राङ्पूर्वत्वमभिमत्य रात्रिन्दिवभोजनाय पर्याप्तेऽन्नपाकेऽभिनिष्पन्न इति तदर्थ इति **चन्द्रकान्तः**। तथा चात्र सायं प्रातः शब्दौ दिवारात्रिपरौ—"मुनिभिर्द्विरशनमुक्तं विप्राणां मर्त्त्यवासिनां नित्यम्। अहनि च तथातमस्विन्यां सार्द्धप्रहरयामान्तः[3]" ॥ इति कर्मप्रदीपदर्शनात्। भूतम्? निष्पन्नम्? इति पत्नीम्। सवर्णां वा स्त्रियं पाकेऽधिकृतामिति चन्द्रकान्तः[4]। प्रवाचयेत् = प्रश्नपूर्वकं वाचयेत। शब्द-

---

१. यथार्थमित्युक्तया तदर्थबोधनस्य प्रागुक्तत्वात्। स खल्वयं पञ्चसूनापनुत्तये मन्वादिभिः (अ० ३।६८।७१) विहितानाम्पञ्चमहायज्ञानामादिभूतो मुख्य इत्यर्थः। तथा च कर्म्मप्रदीपे—

"देवभूतपितृब्रह्ममनुष्याणामनुक्रमात् ।
महासत्राणि जानीयात्त एव हि महामखाः ॥
अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम् ।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम् ॥

इत्युक्तम्। अत्रानुक्रमादिति प्रकृतक्रमविधिः। तेन प्रथमो देवयज्ञः। ततो भूतयज्ञः। ततः पितृयज्ञः श्राद्धरूपः। ततो मनुष्ययज्ञः। इति क्रमः। ब्रह्मयज्ञस्तु—"स चार्वाक्तर्पणात्कार्यः" । इत्यादिना पृथगेवोक्तः। तथा तर्पणोत्तरकालोऽप्यसौ शाट्यायनाद्युक्तः। तर्पणमपि "स्नात्वा पञ्चमखानान्तु प्रथमं तर्पणं स्मृतम्" इति जाबालोक्तकालमिति तदुभयं विहायोक्त क्रमादरः। अत्र विशेषो नित्यकृत्यार्णवे व्यक्तो द्रष्टव्यः॥

२-३. 'निष्ठा निष्पत्तिनाशान्ताः" इत्यमरान्निष्ठा-निष्पत्तिः सा सञ्जाता अस्येत्यर्थे (पा० ५।२।३६) इतच्प्रत्ययः। पाके सम्पन्न इति फलितोऽर्थः।

४. तथाच भट्टभाष्यमपि-"एतच्च भूतप्रवाचनं पत्न्याः—कुतश्चित्कारणादसन्निधौ—अन्ययापि सवर्णया पाकेऽधिकृतया कार्यम्। अपि वा प्रणवादि कुर्यात। तथा-चोक्तम् (गृ० सं०)।

"भूतप्रवाचने पत्नी यद्यसन्निहिता भवेत्।
रजोयोगादिना तत्र कथङ्कुर्वन्ति याज्ञिकाः॥"

कर्मत्वाद्ब्रूचेः कर्मणि द्वितीया । (पा० १।५।५२) भट्टभाष्ये तु—"भूतमिति" ब्रूहीत्यक्त्वा प्रकर्षेण वाचयेत् । कः ? प्रकृतत्वात् गृहपतिः । कां ? पत्नीम् । अन्नपक्त्यां पत्न्या एवाधिकारात् । तथा च मनुः (९. ११)—

"अर्थस्य संग्रहे चैनां व्यये चैव नियोजयेत् ।
शौचे धर्म्मेऽन्नपक्त्याञ्च पारिणाह्यस्य वेक्षणे" ॥ इति ।

धनस्य संग्रहणे विनियोगे च । द्रव्यशरीरशुद्धौ भर्त्रग्निशुश्रूषादिकेऽन्नपचने गृहोपकरणस्य शय्यासनकुण्डकटाहादेरवक्षणे—एनां—पत्नीं नियोजयेत् ॥ वेक्षण इति पाठेऽवस्यादिलोपो द्रष्टव्यः[1] ॥ १६ ॥

अथ प्रवाचनस्य कालप्रकारावाह—

ऋते भगया वाचा शुचिर्भूत्वा ॥ १७ ॥

(ब्रह्म यज्ञ के समय 'ऋते भगया वाचा' अर्थात्) वेद वाक्य को छोड़कर (किसी और लौकिक वाक्य का कथन करने से प्राप्त अशुचि से आचमन आदि द्वारा) शुचि होकर ('भूतम्' अर्थात् 'निष्पन्न हुआ'—यह कहे) ॥ १७ ॥

ऋते—गते—"ऋगतौ" (भ्वा० प०) कर्त्तरिक्तः (पा० ३।४।७२) प्रकृतत्त्वादन्ने । होमार्थमग्निसन्निधावासादिते सति—इत्यर्थः । अस्मिन्काले प्रवाचयेत् । भगया—भजनीयया[2] (सेवनीयया) वाचा । "भज सेवायाम्" (भ्वा० उ०) कर्मणि घः[3] । (पा० ३।३।१२५) "चजोरि०" (पा० ७।३।५२) इति कुत्वम् । टाप् । तथा च गृहपतिना भगया (शोभनया[4]-

---

महानसेऽन्नं या कुर्यात्सवर्णान्तां प्रवाचयेत् ।
प्रणवाद्यपि वा कुर्यात् कात्यायनवचो यथा ॥" इति ।

अत्र सा यदि भूतमिति वक्तुं न शक्नोति तदान्यदप्योंकाराद्धि—सम्मतिप्रतिपादकं कुर्यादित्यर्थ इति रत्नाकरः । तथाच भूतप्रवाचनमिह सिद्धेऽन्ने पत्न्या भूतमिति प्रश्नपूर्वकं वाचनम् ।

१. तथा चोक्तम्—"वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः । आपञ्चैव हलन्तानां यथा वाचा निशा दिशे"ति ।

२. चन्द्रकान्तस्तु—अभगया वाचेतिच्छित्वा पञ्चम्यर्थऋते योगे तृतीयामभिप्रयन् अभजनीयया अभगया ऋते—बिना । शोभनयेत्येवं कष्टकल्पनामङ्गीचकार । अन्यस्तु ऋते—प्रज्वलिते प्रकृतत्वादग्नौ "वैश्वदेवार्थमि"ति शेषः । भगया विस्पष्टयेत्येवं व्याचख्यौ ।

३. यद्यपि लिङ्गानुशासने—"पुमान्—"इत्यधिकृत्य "घञबन्तः" "घाजन्तश्चे"—ति पाणिनिनोक्तम् । तथापि—भावार्थएवेदम् । नपुंसकत्वविशिष्टे भावे क्तल्युड्भ्यां, स्त्रीत्वविशिष्टे तु क्तिन्नादिभिर्बाधेन परिशेषात् । कर्मादौ तु घञाद्यन्तमपि विशेष्यलिङ्गम् । तथाच भाष्यं "सम्बन्धमनुवर्त्तिष्यते" इति । इतिदीक्षितचरणास्तद्वृत्तावाहुरिति स्त्रीलिङ्गतयाऽत्र निर्देशः ।

४. केचित्त्वाचक्षते—भजनीया वाक् नित्यं या व्यवह्रियते देशभाषारूपा सेह गृह्यत इति ।

विस्पष्टया) वाचा "ब्रूही"त्येवमभिहिता पत्नी–शुचिर्भूत्वा आचमनादिना । तथाभूतयैव वाचा"भूतम्" इति "ब्रूयादिति" शेषः । गृहपतेस्तु—"आचान्तोदकेन कृत्यम्" (१।१।२) इति पूर्वमभिधानाच्छुचिर्भूत्वेति पत्नीसम्बन्धविवक्षयैव सूचितमाचार्येण ।। १७ ।।

प्रतिजप"त्त्योमि"त्युच्चैः । "तस्मै नमस्तन्माक्षाः" इत्युपांशु ।।१८।।

।। इति प्रथमप्रपाठकस्य तृतीया कण्डिका ।। १ ।। ३ ।। * ।।

अथवा, (अपवित्र वचनों के उच्चारण से प्राप्त अशुचित्व के निवारणार्थ प्रायश्चित्त रूप में) ऊँचे स्वर से 'ओम' का जप (गृहपति) करे और मन ही मन चुपचाप (उपांशु) 'तस्मै नमस्तन्माक्षाः' 'उस सुसम्पन्न अन्न के लिए नमस्कार है वह मेरे लिए व्याप्त होवे'—इस मन्त्र का (उपांशु जप करे) ।। १८ ।।

।। इस प्रकार गोभिल गृह्यसूत्र के प्रथम प्रपाठक की तृतीय कण्डिका की डा० सुधाकर मालवीय कृत हिन्दी पूर्ण हुई ।। ३ ।।

ॐ इति उच्चैः प्रतिजपति । गृहपतिः । "तस्मै नमस्तन्माक्षा" इति च उपांशु–अव्यक्तं यथा भवति तथा प्रतिजपतीत्यर्थः । उपांशु लक्षणमाह–रत्नाकरधृतं **नरसिंहपुराणम्—**

"शनैरुच्चारयेन्मन्त्रमीषदोष्ठौ च चालयेत् ।
किञ्चिच्छब्दं स्वयं विद्यादुपांशुः स जपः स्मृतः ।।" इति ।।

मन्त्रार्थस्तु–ओमित्यङ्गीकारे अनुमतौ कर्मोपसंग्रहे वा । तथाचामरः– "ओमेवं परमं मते" इति । मते–अङ्गीकारे । "ओमित्यनुमते प्रोक्तं प्रणवे चाप्युपक्रमे" इति च विश्वः । तस्मै–सुसम्पन्नायान्नाय नमः । तत्–अन्नम् । मा–मां प्रति । अक्षाः । प्रत्यहमश्नोतु–व्याप्नोतु । "अशू व्याप्तौ" (स्वा० आ०) प्रतिदिनमुपतिष्ठतामिति । "अक्षाः अश्नोतेरित्येवमेके" इति (५।३।१) निरुक्तम् ।। १८ ।।

।। इति श्रीमद्गोभिलीयगृह्यसूत्रव्याख्यायां "मृदुला"ऽऽख्यायां मुकुन्दशर्म्मसङ्कलितायां प्रथमप्रपाठकस्य तृतीया कण्डिका ।।१।।३।।*।।



अथ चतुर्थी कण्डिका

अथ बलिवैश्वदेवप्रकरणम्

अथ पत्न्योपक्लृप्तस्यान्नस्य विनियोगमाचष्टे—

अथ वाग्यतो बलीन् हरेत् ॥ १ ॥

इसके बाद संयमित (मौन) वाणी से (दृश्य एवं कौतुक आदि के लिए झूठे शब्दों का व्यवहार न करके वक्ष्यमाण देव, भूत एवं पितृ देवों के लिए) बलियाँ देनी चाहिए ॥ १ ॥

अथेति—प्रकृतापेक्षार्थकम् । प्रक्रान्तेनान्नेन वाग्यतः सय्यँतवाक् (मौनी) सन् बलीन्—देव—भूत—[1]पितृ—बलीन् वक्ष्यमाणान् हरेत् = दद्यादित्यर्थः । बलिपदं चोपलक्षणं होमादेरपि[2] । "स्वशाखाविधिना हुत्वा तच्छेषेण बलीन् हरेत्" इति कात्यायनवचनात् ॥ १ ॥

अथ वाग्यत इत्यस्यापवादमाह—

भाषेतान्नसंसिद्धिम् । अतिथिभिः कामं सम्भाषेत ॥ २ ॥

(सयमित वाणी का तात्पर्य यह है कि) अन्न से सम्बन्ध रखने वाली सम्यक् रूप सिद्धि (अन्नपाक विपयक वार्ता) में बोलना चाहिए और समागत अतिथियों से भी इच्छा से नम्रतापूर्वक सम्भाषण करे (अर्थात् इन दो स्थलों को छोड़कर अन्य स्थलों पर मौन रहे) ॥ २ ॥

अन्नसंसिद्धिम्—उपक्लृप्तस्यान्नस्य सम्यक् सिद्धिं "प्रकृत्य" इति शेषः । किमिदमन्नमुपसिक्तं न वेति भाषेत—वदेत् । एवम् अतिथिभिः[3] अभ्यागतैः सह कामम्—इच्छया सम्भाषेत । बलिहरणकालेऽपि । अतिथिगुणविशेषादिकं ज्ञात्वा इच्छया सम्भाषेत न वा सम्भाषेतेत्यनियमोऽत्र कामं पदेन दर्शितो भवति एतदुभयादन्यत्र मौनमित्यर्थः ॥ २ ॥

---

१. यद्यपि—कात्यायनेन "होमोदैवोबलिर्भौतः" इत्युक्तं, तथापि देवपदमिह देहलीदीपन्यायेन पूर्वोत्तरयोरन्वयि द्रष्टव्यम् । एवं "पित्र्योबलिरथापि वे"त्युक्त्या तृतीयोऽपि । मनुष्येभ्यस्तु—हन्तेत्युक्तेर्न बलित्वेन प्रदानमभिहितमिति त्रयो बलयोऽत्र (वैश्वदेवे) बहुवचनेनोपात्ताः । नमोऽन्तएवायं बलिर्भवतीति ।

२. आदिनाऽतिथिभोजनम् । ततश्च स्वेभ्योऽपि ।

३. न द्वितीया—तिथिरस्येति अतिथिरुच्यते । बहुवचननिर्देशात्सतिसम्भवे बहवोऽप्यतिथयो भवन्ति इति दर्शयति ।

अथ हविष्यस्यान्नस्योद्धृत्य हविष्यैर्व्यञ्जनैरुपसिच्याग्नौ जुहुयात् तूष्णीं पाणिनैव ॥ ३ ॥

इसके बाद (पक्वान्न रूप) हविष्यान्न में से कुछ निकाल कर हविष्यव्यञ्जन के साथ उसे मिलाकर उसी (पूर्वोक्त) अग्नि में विना मन्त्र के चुपचाप हाथ से ही आहुति दे (स्रुवा से नहीं) ॥ ३ ॥

अथेति प्रकृतापेक्षममन्त्रकपरिसमूहनादिपर्युक्षणान्तं कर्म्म स्मारयति। कर्मप्रदीपोऽप्याह--

"पर्युक्षणञ्च सर्वत्र कर्त्तव्यमदितेऽन्विति।
अन्ते च वामदेव्यस्य गानङ्कुर्यादृचस्त्रिधा ॥" इति।

सर्वत्र-सर्वस्मिन्होमकर्म्मणि "वामदेव्यगानं शान्त्यर्थं शान्त्यर्थम्" (१।९।२१) इति। हविष्यस्यान्नस्य पूर्वोक्त--(१।३।६) रूपस्य। अवयवलक्षणाऽत्र षष्ठी। सावशेषः खल्वेष होमो भवति। एतदवशिष्टेनैवान्नेन बलिहरणस्योक्तत्वात्। गृहमेधिनो भोजनमप्येतदवशिष्टेनैव। [1]अमृतरूपत्वादस्य अन्नस्येत्युक्त्या नात्र चरोरावृदस्तीति[2] बोध्यते। स्थालीपाके खलु चरौ तामावृतं वक्ष्यति। नात्र स्थालीपाकः श्रूयते। मनुरप्याह--

"वैश्वदेवस्य सिद्धस्य गृह्येऽग्नौ विधिपूर्वकम्।
आभ्यः कुर्याद्देवताभ्यो ब्राह्मणो होममन्वहम् ॥" (३.८४) इति।

विश्वेषां (सर्वेषां) देव-भूत-पितृ-मनुष्याणामिदमित्यर्थेऽण् (पा० ४।३।१२०) वैश्वदेवमन्नं तस्येत्यर्थः। व्यञ्जनैरिति। क्षारलवणासंसृष्टैरित्यर्थः। "न क्षारलवणहोमो विद्यते, तथा परान्नसंसृष्टस्ये"-त्यापस्तम्बस्मरणात्। क्षारलवणसंसृष्टेन हविषा न होतव्यमिति मदनपारिजाते

१. यज्ञाऽवशिष्टस्यामृतत्वमभिधीयते "अमृतं विघसोयज्ञशेषभोजनशेषयोः" इति। भगवानप्याह—"यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्" इति। एतच्चान्नं पर्युषितादि न ग्राह्यम्। अन्नं पर्युषितञ्चैव परान्नं पायसं तथा। दग्धमन्नं तथा क्षारं वैश्वदेवे विवर्जयेत्"। इति धर्म्माधर्म्मप्रबोधिन्यां प्रेमनिधिठक्कुराः प्राहुः।

२. तथाच। गृह्यपरिशिष्टे-"अथ वैश्वदेवो दिवास्य प्रारम्भो नात्रपाकयज्ञतन्त्रमौपासनवचनं वा परिसमुह्य पर्युक्ष्यायतनमलङ्कृत्य सिद्धं हविष्यमधिश्रित्याद्भिः प्रोक्ष्योदगुद्वास्याग्नेः प्रत्यक् दर्भेषु निधाय सर्पिषाऽभ्यज्य सव्यं पाणितलं हृदये न्यस्य सकृदवदानेन जुहुयात्। अन्नाभावे तण्डुलादिभिः कुर्यात्। अन्ते च परिसमुह्य पर्युक्षेदेवं नात्र तन्त्रमि"ति। अन्नम्-भक्तम्। "भिस्सास्त्री भक्तमन्धोऽन्नम्" इत्यमरः।

व्याख्यातम् । [1]क्षारलवणमिति समाहारद्वन्द्वः । "क्षारञ्च लवणं सर्वं वैश्वदेवे विवर्जयेत्" इति मदनपारिजातधृतस्मृतेः । तत्र क्षारगणः शुभकर्म्मनिर्णये स्मर्यते--

"तिलमुद्गादृते शिम्बिसस्ये गोधूमकोद्रवौ ।
चीनकं देवधान्यञ्च सर्वशाकं तथैव च ।
स्विन्नन्धान्यन्तथौषर्यं स्थूलं क्षारगणः स्मृतः ॥" इति ।

लवणं च सर्वविधं निषिद्धम् । उपसिच्य । सन्नीय । तूष्णीमिति वाग्-व्यापारप्रतिषेधान्मनसा मन्त्रमुच्चार्येत्यर्थः[2] । पाणिनैवेत्येवकारः स्रुवादि-पात्रान्तरं[3] व्यवच्छिनत्ति । अत्र (पाण्याहुतौ) अङ्गुष्ठयोग आवश्यकः । वैश्वदेवाहुतिस्तु-द्वादशपर्वपूरिका मुख्या--

"पाण्याहुतिर्द्वादशपर्वपूरिका रसाहुतिश्चेत्स्रुवमात्रपूरिका ।
दैवेन तीर्थेन च हूयते हविः स्वङ्गारिणि स्वर्चिषि तच्च पावके ॥"

इतिच्छन्दोगपरिशिष्टात् । तथा चच्छन्दोगाह्निके श्रीदत्तोपाध्यायाः प्राहुः । "क्षारं लवणं परान्नं च विहाय हविष्यमन्नं हविष्यव्यञ्जनान्वितं घृताक्तं दध्यक्तं पयोक्तं वा, असम्भवे जलाक्तमपि, दक्षिणकराङ्गुलि-द्वादशपर्वपूरकं स्वङ्गारिणि स्वर्चिषि वह्नौ कालीकरालीप्रभृतिसप्तजिह्वा लेलिहाना ध्यायन् प्राङ्मुखो बाहुजान्वासनारूढपादोऽकृतावसक्थिको जानु-द्वयमध्यगतबाहुः साङ्गुष्ठदक्षिणकराग्रेण जुहुयादि"ति ॥ अत्र होमात्प्राक् अग्निः पूज्यः । तथाच **वायुपुराणम्**—

"दानं प्रतिग्रहो होमो भोजनं बलिरेव च ।
साङ्गुष्ठेव सदा कार्यमसुरेभ्योऽन्यथा भवेत् ॥" इति ।

"पूजयेच्च ततो वह्निं दद्यादाहुतयः क्रमात्" ।

इति च **मार्कण्डेयपुराणात्** ॥ ३ ॥

---

१. पारस्कारोऽपि-"त्रिरात्रमक्षारलवणाशिनौ स्याताम्" इति वधूवरनियमप्रक्रमे पृथगेव क्षार-लवणावभिहितवान् । तत्र क्षारञ्च लवणञ्चेति हरिहरादिभाष्येषु स्पष्टमभिहितम् ।

२. "वाग्यतो बलीन्हरेदि"-(५।४।१) ति बलिहरण एव वाग्यतत्वमुक्तमितीह होमे न प्राप्नोतीत्यतोऽत्र तूष्णीमित्युक्तम् ।

३. तदेतद्धवनं देवतीर्थेन जानुमध्यधृतकरेण च कार्यम् । तथाच हरीतः—मार्जनाचमनभोजनानि दैवेन" इति । बौधायनश्च—

"भोजनं हवनं दानमुपहारः प्रतिग्रहः ।
बहिर्जानु न कार्याणि तद्वदाचमनं स्मृतम् ॥" इति ।

प्राजापत्या पूर्वाऽऽहुतिर्भवति । सौविष्टकृत्युत्तरा ॥ ४ ॥

प्रथम आहुति प्रजापति देवता की होती है और दूसरी आहुति 'स्विष्टकृत्' देवताक होती है ॥ ४ ॥

विमर्श—आहुति देते समय समस्त विश्व के पालक प्रजापति देवता का ध्यान कर 'प्रजापतये स्वाहा' इस मन्त्र से प्रथम आहुति दे और सकल मनोरथ को पूर्ण करने वाले 'स्विष्टकृत्' देवता का मन ही मन ध्यान करते हुए 'स्विष्टकृते स्वाहा' मन्त्र से दूसरी आहुति दे। यही होम 'देवयज्ञ' नामक 'नित्यहोम' संज्ञक वैश्वदेव बलि कही जाती है ॥ ४ ॥

प्राजापत्या—प्रजापतिदेवताका । 'पत्युत्तरपदत्त्वाण्ण्यत्' (पा० ४।१।८५) पूर्वा प्रथमा । आहुतिर्भवति । सौविष्टकृती—स्विष्टकृदग्नि—देवताका[1]। उत्तरा—द्वितीयाऽऽहुतिर्भवति । अत्र "प्रजापतये स्वाहा" "अग्नये स्विष्टकृते स्वाहा" इत्येवं होममन्त्रः पर्यवस्यति । स्वाहा योगे चतुर्थ्या (पा० २।३।१६) विधानात् । अत्राद्या मनसैवेत्युक्तमधस्तात् (पृ० ५१ पं० २४)। "होमो दैव" इतिवचनादयं तावद्देवयज्ञो—वैश्वदेव—इति वोच्यते । एष आहिताग्नेर्विधिरुक्तः । अनाहिताग्नेस्तु कर्त्तव्यमाह—**कात्यायनः**—

"अग्न्यादिर्गौतमेनोक्तो होमः शाकल एव च ।
अनाहिताग्नेरेवैष युज्यते बलिभिः सह ॥" इति ।

यः खलु अग्न्यादिहोमः "अग्ना—वग्निर्धन्वन्तरिर्विश्वेदेवाः[2] प्रजापतिः

---

१. सु—शोभनमिष्टमभिलषितं करोतीति स्विष्टकृत् । यद्वा—इष्टं—यजनं शोभनं यथाविहितफलसम्पादकं करोतीति स्विष्टकृत् अग्निरुच्यते । "अग्नये स्विष्टकृते स्वाहेत्युत्तरार्द्ध—पूर्वार्द्धे जुहुयात्" (१।८।१४) इति लिङ्गात् । "देवा वै अग्निं स्विष्टकृतमब्रुवन् हव्यं नोवहेति । सोऽब्रवीत्किम्मे ततः स्यात् इति । यत्कामय स इत्यब्रुवन् । सोऽब्रवीत्सर्वत्रेष्टिषु केवला सौविष्टकृतीति । तथेति सोऽवहद्धवींषि" इति च ब्राह्मणं भवति । स देवताऽस्या इत्यर्थे तस्येदमित्यर्थे वाऽण् (पा० ४।२।२४ + ४।३।१००) तस्मिन् "न य्वाभ्याम्" (पा० ७।३।३) इति वृद्ध्यपवादभूत आद्यच ऐजागमः । ङीप् ।

२. अग्नावित्युक्तेगौतमकल्पेन लौकिकाग्नावेवेति छन्दोगाह्निके श्रीदत्तोपाध्यायाः । तदेतत् पर्युक्षणान्तं विधाय कार्यम् । एतदन्ते पित्र्येन विधिना "ॐपितृभ्यः स्वधे"ति पितृबलिं हरेत् । अत्रैव वामदेव्यगानङ्केचिदिच्छन्ति । वस्तुतस्तु । काम्यबलौ क्रियमाणे तदन्त एव तत्कार्यम् । नित्यकृत्यार्णवे तु—अग्नौ गौतमकल्पेन वैश्वदेवहोममभिधाय अथवाऽग्नेः पश्चिमतः एकत्रैव स्थाने अविकृष्टान् परस्परासंलग्नान्सर्वानेतान् बलीन् प्राच्यादिदिक्षु तथैव दद्यात् । अस्मिंश्च पक्षे उदकुम्भबलिर्भूमावेव । आकाशबलौ त्वन्तरिक्षक्षेपेऽपि-अविरोधः । ततो बलीनग्नौ जले वा प्रक्षिप्याचम्याग्निं प्रदक्षिणीकृत्य पात्रस्थमुदकशेषं भूमौ निःक्षिप्याद्भिः पात्रं प्रपूर्य ताः स्पृष्ट्वा वामदेव्यं गायेत्" इति गौतमकल्प इत्युक्तम् ।

स्विष्टकृदितिहोमाः'' इत्येवं गौतमेनोक्तः । स तदुक्तैरेव बलिभिः "दिग्देवताभ्यश्च यथास्वं द्वारेषु मरुद्भ्यो गृह्यदेवताभ्यः, गृहं प्रविश्य ब्रह्मणे मध्ये, अद्भ्यउदकुम्भे, आकाशायेत्यन्तरिक्षे, नक्तञ्चरेभ्यश्च सायम्'' इत्येवं-लक्षणैः सहित इत्येकः कल्पः । यश्च शाकलहोमो[1] "देवकृतस्यैनसः'' इत्याद्यष्टाहुत्यात्मकः स सामवेदपठितः । स चाग्निपुराणाद्युक्तबलिभिः सहित इत्यन्यः कल्पः । तथा चाग्निपुराण–योगियाज्ञवल्क्यौ—

"अन्नं व्याहृतिभिर्हुत्वा[2] तथा मन्त्रैश्च शाकलैः ।
भूतेभ्यश्च बलिं दत्त्वा[3] ततोऽश्नीयादनग्निमान्'' ।। इति ।

भूतेभ्यश्चेति चकारादादौ देवबलिरन्ते च पित्र्यबलिरित्याचक्षते । [4]तस्मादनग्निनाऽपि गृह्योक्ता बलयो देयाः । काम्याश्च बलयो विष्णुपुराणादौ पठितास्ते गौतम–शाकला–न्यतरकल्पं कृत्वा भूतोपकारार्थं शुचिभूमौ देयाः । ते यथा—

"ततोऽन्यदन्नमादाय भूमिभागे शुचौ पुनः ।
दद्यादशेषभूतेभ्यः स्वेच्छया तत्समाहितः ।।''

(तत्र मन्त्राः)

"देवा मनुष्याः पशवो वयांसि सिद्धाः सयक्षोरगदैत्यसङ्घाः ।
प्रेताः पिशाचास्तरवः समस्ता ये चान्नमिच्छन्ति मया प्रदत्तम् ।। १ ।।
पिपीलिकाः कीटपतङ्गकाद्या बुभुक्षिताः कर्म्मनिबन्धबद्धाः ।
प्रयान्तु ते तृप्तिमिदं मयान्नं तेभ्यो विसृष्टं सुखिनो भवन्तु ।। २ ।।

---

१. काष्ठशकल-(खण्ड-)-साध्यो ज्योतिष्टोमे होमः शाकल इत्युच्यते । अनयोः (गौ० शा०) कल्पयोः पद्धतिर्नित्यकृत्यार्णवादौ द्रष्टव्या । अत्र "मन्त्रान्ते स्वाहाकारः'' (१।९।२५) इति सूत्रणात्स्वाहान्ततैवाऽमीषाम् । यत्तु श्रौतसूत्रम्'' अष्टावष्टौ शकलान्याहवनीये प्रहरेयु देवकृतस्येत्येतत्प्रभृतिभिरिकान्तैः'' (ला० श्रौ० सू० २।११।१४) इति तन्मन्त्र-स्वरूपज्ञापनार्थम् । तदेतदग्निस्वामिभाष्ये द्रष्टव्यम् । अयमपि अग्नौ पूर्ववत्परिसमूहनाद्यग्निपूजान्तं कृत्वा कार्यः ।

२. व्यस्तैः समस्तैश्चेति चतुर्द्धाहोमः ।

३. स्विष्टकृद्धोमश्च शाकलाष्टहोमान्ते स्वाहान्त एव । "मन्त्रान्ते स्वाहाकार'' इति (१।९।२५) सूत्रणात् । पितृभ्यश्च स्वधान्तः । पितृभ्यः स्वधेति । तत्र देवेभ्यो भूतेभ्यश्च नमोऽन्ता एव बलिर्भूमौ स्वाग्रे अग्नेर्जलादेर्वा तत्स्थानीयात्पश्चात् पितृभ्यश्च दक्षिणस्यामपसव्येन चेति व्यक्तमन्यत्र । ततो भूतबलिस्तथाच स्कान्दे—"शाकलहोमान्ते + तथास्विष्टकृदग्नये । विश्वेभ्यश्चापि देवोभ्यो भूमौ दद्यात्ततो बलिम् । सर्वेभ्यश्चापि भूतेभ्यो नमो दद्यात्तदुत्तरे । दक्षिणेऽपि पितृभ्यश्च प्राचीनावीतिको ददेत्'' इत्यादि ।

४. अत्राष्टबलयन्ते "ॐअग्नये स्विष्टकृते स्वाहे''-ति स्विष्टकृद्धोमोऽत्रकल्पे पर्वस्माद्विशेषः ।

येषां न माता न पिता न बन्धुर्नैवान्नसिद्धिर्न तथान्नमस्ति ।
तत्तृप्तयेऽन्नं भुवि दत्तमेतत्तेयान्तु तृप्तिम्मुदिता भवन्तु ॥ ३ ॥
भूतानि सर्वाणि तथान्नमेतदहञ्च विष्णुर्न यतोऽन्यदस्ति ।
तस्मादहं भूतनिकायभूतमन्नं प्रयच्छामि भवाय तेषाम् ॥ ४ ॥
चतुर्द्दशो भूतगणो य एष तत्र स्थिता येऽखिलभूतसङ्घाः ।
तृप्त्यर्थमन्नं हि मया विसृष्टं तेषामिदं ते मुदिता भवन्तु ॥ ५ ॥

इत्युच्चार्य नरो दद्यादन्नं श्रद्धासमन्वितः ।
भुविभूतोपकाराय गृही सर्वाश्रयो यतः ॥ ६ ॥
श्वचाण्डालविहङ्गानां श्वपचां पापरोगिणाम् ।
वायसनाङ्क्रमीणाञ्च शनकैर्निःक्षिपेद् भुवि ॥ ७ ॥" इति ।

अत्रान्यदन्नमादायेत्युक्त्या काम्यबलिदानमन्येनाऽपि भवितुमर्हतीति बोध्यते । श्वादिबलिदानञ्च यत्र तेषामुपयोगस्तत्र विधेयमिति निबन्धकारः । क्रमस्त्वत्र नाद्रियते किन्तु अन्यत्रोक्तक्रमेण वायसबलिः श्वबलिस्ततः पतित–चाण्डाल–पापरोगि–क्रृमिबलयः । इदञ्च काम्यबलिदानं सर्वशाखिसाधारणं सङ्कोचे मानाभावात् । एवमेवाचारादर्शादयः । तदत्र "देवा मनुष्या" इत्यादिकां पञ्चश्लोकीमुच्चार्य एक एव बलिर्दातव्यः । इतिना प्रकृतवाचिना पञ्चश्लोक्याः परामर्शात् । अन्नमिति चैकवचननिर्द्देशादिति वाचस्पतिमिश्रादयः । एवमन्येऽपि कल्पास्तन्त्रान्तरे द्रष्टव्याः । स खल्वयं वैश्वदेवहोमो[1] लौकिकाग्नौ जलादावपि कर्त्तव्यः । शाकलकल्पेन ।

"लौकिके वैदिके वाऽपि हुतोच्छि(त्सृ)ष्टे,[2] जले क्षितौ ॥
वैश्वदेवन्तु कुर्वीत पञ्चसूनापनुत्तये ।
वैश्वदेवेन ये हीना आतिथ्येन विवर्जिताः ॥
सर्वे ते वृषला ज्ञेयाः प्राप्तवेदा अपि द्विजाः ।"

१. अत्र द्वैतपरिशिष्टे–केशवमिश्राः । यदा च नित्यश्राद्धकरणं तदा ततः प्रागेव वैश्वदेवबलिकर्म्मणी कर्त्तव्ये । यदा तु पार्वणमेकोदिष्टं वा तदा पार्वणानन्तरं वैश्वदेवबलिकर्म्मणी। एकोद्दिष्टानन्तरन्तु वैश्वदेवबलिनित्यश्राद्धन्तदानीमिति विशेष" इत्याहुः । एते पञ्च महायज्ञाः पञ्चशूनापनुत्तये विहिता इति शूद्रस्यापि कर्त्तव्या भवन्ति । "दानं दद्याच्च-शूद्रोऽपि पाकयज्ञैर्यजेत चे"ति विष्णुपुराणात् । शूद्र इत्यनुवृत्तौ "भार्यारतः शुचिर्भृत्य-भर्त्ता श्राद्धक्रियान्वितः । नमस्कारेण मन्त्रेण पञ्चयज्ञान्न हापयेदि"ति याज्ञवल्क्यवचनाच्च । भार्यारतः स्वभार्यामात्ररतः । एवञ्च होमोऽपि "ब्रह्मणे नमः" इत्यादिक्रमेणातः कार्यो न तु स्वाहान्तदेवतानाम्नेति बोध्यम् ।

२. एष "हुतोत्सृष्ट" इति पाठो रत्नाकरीयः ।

इति शातातपीयात्। लौकिके पाकसाधने। वैदिके आवसथ्याग्नौ। एतच्च साग्निपरं, शेषं निरग्नेः। हुतोच्छिष्टे—अन्येन हुत्वा त्यक्ते। इदं त्वनश्नताऽपि गृहस्थेनातिथ्याद्यनुरोधेन द्विष्पाकतापक्षे द्विरवश्यङ्कार्यम्।

"सायं प्रातर्वैश्वदेवः कर्त्तव्यो बलिरेव च।
अनश्नताऽपि सततमन्यथा किल्विषी भवेत्॥"

इतिच्छन्दोगपरिशिष्टादित्याचारचिन्तामणिः। अत्र जलादावपि होमे पर्युक्षणमाचरन्ति प्रामाणिकाः। युक्तञ्चैतत्। पर्युक्षणं हि होमाङ्गं न वह्न्यङ्गम्। तथाच वह्निबाधे तदाधानाङ्गं परिसमूहनादिकं बाध्यतां, होमाङ्गं पर्युक्षणं कथं बाध्येतेत्याचारविवेकः। वाचस्पतिमिश्रास्तु जलक्षित्योः पर्युक्षणादिकमपि नास्त्येव। अग्नावेव तदाम्नानादित्याहुः॥ ४॥

अथ बलीन् हरेद् बाह्यतोऽन्तर्वा सुभूमिं कृत्वा॥ ५॥

इस (देवयज्ञ नामक होम) के बाद (अग्नि चाहे जहाँ हो घर के) बाहर हो या अन्दर (वहीं पर झाड़ू आदि से) भूमि को साफ कर (भूतयज्ञात्मक पशु-पक्षि एवं छिपकली आदि के आहार रूप) बलियों का आहरण करे अर्थात् बलिकर्म पूर्ण करें॥ ५॥

अथेति पूर्वप्रकृतार्थम्। अथ पूर्वप्रकृतेनैवान्नेन होमावशिष्टेन। "देवेभ्यश्च हुतादन्नाच्छेषाद् भूतबलिं हरेद्" इति याज्ञवल्क्योक्तेः। अपचारे च शेषस्य, अन्यदप्युपादाय बलीन् हरेत्। पाकासम्भवे एकादश्यादौ तण्डुलैर्वा पयोदधिघृतफलोदकादिभिर्वा कार्यं इति धर्म्मसिन्धुः। बाह्यतो—बलिविधानाद्बहिर्वा प्रकृतत्वादग्न्यगारस्य। तथाचाग्न्यगारान्निष्क्रम्य तस्मिंस्तस्मिन्प्रदेशे तं तं बलिं हरेत्। यो यो यस्मिन्यस्मिन्प्रदेशे समाम्नातः। अन्तर्मध्ये वाऽग्न्यगारस्यैव। एकस्मिन्नेव प्रदेशे यथासम्भवं बलीन् हरेत्। सुभूमिं कृत्वा। यथासम्भवं सम्मार्जनोपलेपनादिभिः। तथाचापस्तम्बः—"बलीनान्तस्य तस्य देशस्य संस्कारो हस्तेनोपमृज्यावोक्ष्यान्युप्य पश्चात् परिषेचनम्।" इति। तस्य तस्येति वीप्सातः प्रत्येकम्मार्जनादि। अवोक्ष्य—सिक्त्वा। न्युप्य बलीन् दत्त्वा। परिषेचनं—बलेरुपरिसेकः[1]॥ ५॥

सकृदपो निनीय चतुर्द्धा बलिं निदध्यात् सकृदन्ततः परिषिञ्चेत्॥ ६॥

साफ की हुई भूमि पर पहले वहाँ एक बार जल के छींटे लगाकर बलि का चार भाग करके अलग अलग रखना चाहिए और पुनः एक बार बलि रखने के बाद जल से परिसिञ्चन करें॥ ६॥

---

१. परिषेचनं बलीनामुपरि उदकेन वेष्टनमिति कल्पतरुः।

सकृद्-एकवारमप[1] उदकं निनीय-भूमौ निषिच्य चतुर्द्धा चतुर्षु स्थानेषु बलिं-[2]जातावेकवचनम्। बलिचतुष्टयम्। निदध्यात्-स्थापयेत्। अत्र समाचारात्तदन्नं बलिचतुष्टयमात्रं सकृद् गृहीत्वा चतुर्षु स्थानेषु निदध्यात्। बलिमित्येकवचनाच्चतुर्धेति वचनाच्च। तथाच बलिचतुष्टयार्थं सकृदेव सेकः। अन्ततः-अन्ते। सार्वविभक्तिकस्तसिः (पा० ५।४।४४) उपरिष्टादपि सकृदेकवारमेव परिषिञ्चेत्-बलीन्। बलिप्रमाणमाह **कर्म्मप्रदीपः**—

"न चावरार्द्ध्या बलयो भवन्ति महामार्ज्जारश्रवणप्रमाणात्।
एकत्र चेदविकृष्टा भवन्ति इतरेतरमसंयुक्ताश्च ॥ इति।

(क० सं० १३.१४)

अवरार्द्ध्याः अवरस्मिन्नर्धभवा इत्यर्थे यत् (पा० ४।३।५) ऊनपरिमाणा इत्यर्थः। असम्भवे त्वशुष्कामलकमाना अपि कार्याः।

"आर्द्रामलकमानेन कुर्याद्धोमहविर्बलीन्।
प्राणाहुतिबलिञ्चैव मृदं गात्रविशोधिनीम् ॥"

इति छन्दोगपरिशिष्टटीकालिखितवचनादित्याचारचिन्तामणिः। एकत्र चेदित्यादिना नानास्थाने बलिदानासम्भवे एकस्मिन्नेव यदा बलयो दीयन्ते तदा अविकृष्टा अव्यवहिता इतरेतरमसंयुक्ताः परस्परमसंलग्नाश्च दातव्या इत्यर्थः। एतच्च परिमाणमङ्गुष्ठपर्वमात्रमिति भट्टभाष्यम् ॥ ६ ॥

एकैकं वाऽनुनिधानमुभयतः परिषिञ्चेत् ॥ ७ ॥

अथवा एक-एक भाग करके ही बलि का उपस्थापन करे और उभयतः (प्रत्येक भाग के उपस्थापन के बाद एक बार पहले और एक बार बाद में) जल से परिषिञ्चन करे ॥ ७ ॥

सरला०—प्राक्संस्थाश्चैव बलयो भवन्ति। कुतः ? 'अथ तद्विन्यासो वृद्धिपिण्डानिवोत्तरोत्तरान् चतुरो बलीन् निदिध्यात्' इति वचनात्।

मृदुला०—एकैकमेकमेकं वा बलिम्। अनुनिधानम्-निधानम् = लक्षीकृत्य। प्रत्येकं निहितान् बलीन् प्रत्येकमेवोभयतः पुरस्ताच्चोपरिष्टाच्च परिषिञ्चेत् ॥ ७ ॥

---

१. अत्र "एकस्य सकृच्च" (पा० ५।४।१९) इति क्रियाऽभ्यावृत्तिगणने सुचः संयोगान्तलोपः। एकशब्दस्य सकृदादेशश्चेति बोध्यम्।

२. प्रकारार्थेऽत्र धाप्रत्ययः तद्भेदश्च स्थानभेदादित्येवं व्याख्यातम्।

किं देवत्या एते बलय इत्याह—

स यत्प्रथमं निदधाति स पार्थिवो बलिर्भवति । अथ यद्द्वितीयं स वायव्यो, ऽथयत्तृतीयं स वैश्वदेवो, यच्चतुर्थं स प्राजापत्यः ॥ ८ ॥

इस प्रकार वह जो प्रथम बलि रखता है वह पृथ्वी देवताक (बलि) होती है और जो द्वितीय है वह वायु देवताक, (बलि होती है और) जो तृतीय है वह वैश्वदेव देवताक बलि होती है और जो चतुर्थ बलि है वह प्रजापति देवताक होती है ॥ ८ ॥

स यजमानः प्रथमं यन्निदधाति इति यदर्थोनिधानक्रियाविशेषणम् । व्यत्ययाद्वा नपुंसकम् । यद्यं बलिं प्रथमं निदधाति स पार्थिवः पृथिवीदेवताकः बलिर्भवति । अनेनैव सूत्रशेषो व्याख्यातः । "अनिरुक्तं प्राजापत्यम्" इतिवचनान्मानसः प्राजापत्यबलिः । तदत्र मन्त्रानुपदेशात्—

"ओंकारादिसमायुक्तं नमस्कारान्तकीर्त्तितम् ।
स्वनाम सर्वसत्त्वानां मन्त्र इत्यभिधीयते ॥"

इति स्मृत्यन्तरदर्शनात् "ॐ पृथिव्यै नमः" इत्येवमादिको बलिमन्त्रः सिद्ध्यति । यत्तु—आचार्य्य एव वक्ष्यति—"नमो ब्रह्मणे इति दिवि" इति तदपि पदद्वयकीर्त्तनाभिप्रायं न क्रमपरम् । अत एव—

"पायसो वाऽपि दातव्यः स्वनाम्ना सर्वतः क्रमात् ।
नमस्कारान्तयुक्तेन　प्रणवाद्येन　सर्वतः ॥"

इति वास्तुबलावेव स्मृत्यन्तरम् । एवमेवाचार्य्याशयं स्पष्टयाञ्चकार कर्म्मप्रदीपे कात्यायनः—

"अमुष्मै नमः" इत्येवं बलिदानं विधीयते ।
बलिदानप्रसिद्ध्यर्थंन्नमस्कारः कृतो यतः ॥" इति ।

अत्र इतिः पदद्वयकीर्त्तनार्थो न तु परिच्छेदार्थः । एवमिति क्रमार्थम् ॥ ८ ॥

अथापरान् बलीन् हरेदुदधानस्य, मध्यमस्य द्वारस्याब्दैवतः प्रथमो बलिर्भवति, ओषधिवनस्पतिभ्यो द्वितीयः, आकाशाय तृतीयः ॥ ९ ॥

उन (चार बलियों को रखने) के बाद इस (बलि रखने वाले) के जिस गृह (कमरे) में परिचरणीय जल रक्खा हो उसी घर के द्वार के मध्य में अन्य

तीन बलि रखनी चाहिए। उनमें से प्रथम बलि जल देवता की होती है और दूसरी बलि ओषधि एवं वनस्पति की तथा तीसरी बलि आकाश (तत्त्व) की होती है ॥ ९ ॥

अथेति पूर्ववद्धचनुकर्षणार्थम्। पूर्वेषामिवामीषामपि बलीनामुभयतः परिषेक इत्यर्थः। कर्म्मप्रदीपोऽप्याह "सर्वेषामप्युभयतः परिषेक" (का० सं० १४. १) इति ॥ अपरानन्यान्। एषां स्थानान्याह—उद्धानस्य। उदकं धीयत अस्मिन्नित्यधिकरणे ल्युट् (पा० ३।३।११७) "उदकस्योदः संज्ञायाम्" (पा० ६।३।५७) इति उदकस्योदादेशः। मणिकस्य कलशस्य वा, सामीप्येऽत्र षष्ठी। एवमग्रेऽपि। द्वारस्येति अग्निशरणगृहस्येत्यर्थात्। अब्दैवतः आपोदेवता अस्येत्यर्थेऽण् (पा० ४।२।२४) शिवभागवतवत्तद्धितार्थे समासः (पा० २।१।५१) प्रथमः प्रकृतानां बलीनामाद्यो बलिर्भवति। द्वितीयस्तु गृहमध्यमद्वारसमीपनिहित ओषधिवनस्पतिभ्यः भवति। तृतीयश्चाकाशाय। स चान्तरीक्षे (तदुद्दिश्य) निधातव्यः। "आकाशायेत्यन्तरीक्षे" इति गौतमीयस्मरणात्। तथाच "ओमद्भ्यो नमः।" "ओमोषधिवनस्पतिभ्यो नमः"। 'ओमाकाशाय नमः' इत्येवं मन्त्रप्रयोगः ॥ एवमग्रेऽपि ॥ ९ ॥

अथापरं बलिं हरेत्, शयनं वाऽधिवर्चो वा[1], स कामाय वा बलिर्मन्यवे वा ॥ १० ॥

उन (तीन बलि के रखने) के बाद शयन गृह में अथवा शयन करने के स्थान में ही या मल-मूत्र त्याग करने की जगह में एक और बलि रक्खे। (उनमें से) वह (शयन स्थान वाली बलि) काम देवता की होती है और दूसरी (मलमूत्र त्याग स्थान वाली) बलि मन्यु (क्रोध) देवता की होती है ॥ १० ॥

अथापरं बलिं हरेदित्युक्तार्थम्। बलिमित्येकवचनात्स्थानद्वयनिर्देशाच्च बलिद्वयमात्रं सकृद्गृहीत्वा द्विधा निदध्यादिति भट्टभाष्यम्। शयनं शय्येत्य-

१. अधिवर्चं वेति भट्टभाष्ये पाठः। स च "ये सान्तास्तेऽदन्ता" इति न्यायमूलकः। सान्तपाठस्तु सर्वत्र दृश्यते। सोऽपि विष्ठाऽर्थे। तथाचामरः "तेजः पुरीषयोर्वर्च्चः" इति। "वर्चोनपुंसकं रूपे विष्ठायामपि तेजसि। पुंसि चन्द्रस्य तनये" इति मेदिनी च। पाणिनिरपि "ब्रह्महस्तिभ्यां वर्चसः" (पा० ५।४।७८) इति वदंस्तेजसि पुरीषे च प्रयोजयति। ब्रह्मवर्चसं हस्तिवर्चसमिति। मूत्रार्थे तु न क्वापि प्रयुक्तोऽन्यत्र। तथापि अधिशब्देन बहुव्रीहिणा सोऽर्थ उन्नीतो भट्टभाष्यादौ। अत्र द्वितीया प्रतिशब्दाध्याहारार्थेत्यपि भट्टभाष्यम्।

नर्थान्तरम्। अधिवर्च्चो मूत्रोच्चारप्रदेशः। वा शब्दाश्च'कारार्थाः। शयनश्चाधिवर्चञ्च प्रति बलिं हरेत्। हृतश्च स बलिः कामाय भवति मन्यवे च। इति यथासङ्ख्यम्। तदयमर्थः—शयनं[2] प्रति यो बलिर्निधीयते स मन्युदेवताभ्यो भवतीति ॥ अत्र कामो मन्मथः। मन्युः = क्रोधः ॥ १० ॥

अथ संस्तूपं स रक्षोजनेभ्यः ॥ ११ ॥

इसके बाद कूड़ा-करकट आदि फेंकने के स्थान में एक बलि देनी चाहिए जो राक्षस जनों के लिए होती है ॥ ११ ॥

अथेति विशिष्टमानन्तर्यं द्योतयति। मन्युबलिदानानन्तरमिन्द्राय वासुकये ब्रह्मणे इति बलित्रयं दत्त्वाऽथानन्तरमित्यर्थः। तथा चायमाचार्यो वास्तुबलौ दशदिक्षु इन्द्रादिबलिदशकमभिधायासूत्रयत् "प्राच्यूर्ध्वावाचीभ्योऽहरहर्न्नित्यप्रयोगः" (गोभिल० ४।७।३५) इति। प्राच्यूर्ध्वाधोदिक्षु खल्विन्द्र—ब्रह्म—वासुकिदेवत्या बलयो वास्तुकर्म्मणि समाम्नाताः। तेषामहरहर्नित्यं प्रयोगो भवतीति सूत्रयन्नाचार्यः स्पष्टमिदमाह यदहरहरिन्द्र ब्रह्मवासुकिबलयो भवन्तीति। परिशिष्टप्रकाशेऽप्युक्तम् "गृह्यान्तरानुसारेण मन्युबलेरनन्तरमिन्द्र ब्रह्म वासुकिदेवत्या बलयो देयास्ततो रक्षः पितृबलीन्" इति। "चतुर्दश नित्याः" इति च **कर्म्मप्रदीपः**। संस्तूपः सम्मार्जनरेणुपुञ्जादिप्रक्षेपस्थानम्। तं प्रति रक्षोजनेभ्यः बलिं हरेदित्यर्थः ॥ ११ ॥

अथैतद्बलिशेषमद्भिरभ्यासिच्यापसलवि[3] दक्षिणा निनयेत् तत्पितृभ्यो भवति ॥ १२ ॥

इसके अनन्तर पात्र के (बलि) शेष अन्न को जल से धोकर अपसव्य होकर पितृ तीर्थ से दक्षिण दिशा में छोड़ दे। वह (विकीर्ण) बलि पितृ देवताक होती है ॥ १२ ॥

विमर्श—इस प्रकार आचार्य गोभिल के मत में दश भूतबलि दी जाती हैं जो इस प्रकार हैं—१. पृथ्वी, २. वायु, ३. वैश्वदेव और ४. प्रजापति देवताक

---

१. अन्ये तु वाशब्दान्विकल्पार्थानाहुः। एक एवायं बलिः शयनं वा प्रति देयोऽधिवर्चं वा। स च कामदेवत्यो भवति मन्युदेवत्यो वा। अपरे तु विनिवेशविकल्पमाहुः। शयनं प्रति कामाय रात्रौ अधिवर्चं प्रत्यहनि। तदेतदुभयमपि युक्तम्। कुतः? "अथ तद्भिन्यास" इत्यारभ्य बलिद्वयस्यापि सायं प्रातर्विधानात् "सर्वेषान्दक्षिणतः पितृभ्य इति चतुर्दश नित्या" इति सङ्ख्यावचनस्यार्थपरत्वात्।

२. अत्र योग्यतावशात्तत्सन्निहितं स्थानमभिधित्सितमाचार्यस्य। न हि तल्पे बलि निधीयते। नाऽपि वर्चसि। तथा चोद्दिश्येत्यध्याहारेणात्र द्वितीया बोध्या।

३. 'अवसलवि' इति वा पाठः सामश्रमीसंस्करणे।

बलि अग्निगृह में दी जाती है। ५. जल, ६. ओषधि-वनस्पति, और ७. आकाश तत्त्व के लिए बलि जलगृह के द्वार पर दी जाती है, ८. काम देवताक, ९. मन्यु देवताक और १०. राक्षस बलि क्रमशः शय्यास्थान में या मूत्रत्याग के स्थान में, शयन के बगल में और कूड़ा रखने की जगह पर एवं शेष बलि को गृह के दक्षिण भाग में रक्खें। किन्तु आगे चलकर बारह बलि ४–४ करके, और सबके उत्तर एक तथा सब के दक्षिण में एक—इस प्रकार १४ बलि देने का व्यवहार इस प्रकार है—

१३. कुमारिभ्यः नमः।	१२. ब्रह्मणे नमः।	८. कामाय नमः।	४. प्रजापतये नमः।	१४. पितृभ्यः स्वधा।
	११. वासुकये नमः।	७. आकाशाय नमः।	३. विश्वेभ्यो देवेभ्यो नमः।	
	१०. इन्द्राय नमः।	६. ओषधिवनस्पतिभ्यो नमः।	२. वायवे नमः।	
	९. मन्यवे नमः।	५. अद्भ्यो नमः।	१. पृथिव्यै नमः।	

अथ शब्दः प्राचीनावीतित्व–सव्यजानुपात–दक्षिणामुखत्वानि स्मारयति। एतद्बलिविशेषम्। एतद्बलिदानावशिष्टमन्नम्। अद्भिरभ्यासिच्याऽऽप्लाव्य[1] अपसलवि अपसव्येन पितृतीर्थेन चेत्यर्थः। तथाच गृह्यान्तरम् "प्रदेशिन्यङ्गुष्ठयोरन्तराऽपसलवि अपसव्यं वा, तेन पितृभ्यो ददाति"–इति। दक्षिणा दक्षिणस्यामदूरे दिशि। अत्र "दक्षिणादाच्" (पा० ५।३।३६) इत्युक्तार्थे आच्प्रत्ययेऽव्ययत्वम्। (पा० १।१।३८)। निनयेत् हरेत्। तदिदं पितृभ्यो भवति। तथाच पित्रर्थत्वान्नात्र नमस्कारप्रयोगः। किन्तु "पितृभ्यः स्वधे"ति स्वधाकारेणैव बलिर्दातव्यः। तदाह **कात्यायनः**—

स्वाहाकारनमस्कारवषट्कारा दिवौकसाम्।
स्वधाकारः पितृणाञ्च हन्तकारो नृणां मतः॥
स्वधाकारेण निनयेत्पित्र्यं बलिमतः सदा।
तमप्येके नमस्कारैः कुर्वते नेति गौतमः॥
(कर्म० २।३।१२-१३)

इति। एके–वाजसनेयिनः। तथाच तेषां स्वधा नम[2] इत्येवं पित्र्यबलिदानम्। नेति गौतम इति च्छन्दोगानभिप्रेत्य। अथास्य निधानक्रम एकत्र-

---

१. तदिदमाप्लावनं रक्षोबल्यवशिष्टत्वादन्नस्य संस्कारार्थं भवति। तच्च सकृदेव "त्रिर्देवेभ्यो द्विर्मनुष्येभ्यः सकृत्पितृभ्यः" (१।७।५) इति प्रक्षालनप्रकरणेऽभिधानात्।

२. तथाच वाजसनेयकल्पे शूद्राधिकारस्तत्र वैदिकमन्त्रसम्बन्धाभावात्। "शूद्रा-वाजसनेयिनः" इत्यत एव प्रसिद्धश्चेति आचारविवेके शूलपाणिमहामहोपाध्यायाः प्राहुः।

चेदित्याद्युक्तवचनेनैकत्र चेत्सर्वे बलयो निधीयन्ते तर्हि यथा निधातव्यमित्युपक्रम्य (१३—१४) कर्म्मप्रदीपे (१४—१) कात्यायनः ॥

"अथ तद्विन्यासो वृद्धिपिण्डानिवोत्तरोत्तरांश्चतुरो बलीन्निदध्यात्—"पृथिव्यै" "वायवे" "विश्वेभ्यो देवेभ्यः" "प्रजापतये" इति। सव्यत एतेषामेकैकस्यैकैकम् "अद्भ्यः" "ओषधिवनस्पतिभ्यः" "आकाशाय" "कामाय" इति। एतेषामपि "मन्यवे" "इन्द्राय" "ब्रह्मणे" "वासुकये" इति। एतेषामपि "रक्षोजनेभ्यः" इति। "सर्वेषां दक्षिणतः पितृभ्यः" इति। चतुर्दश नित्या। आसस्यप्रभृतयः काम्याः। सर्वेषामुभयतः परिषेकः। पिण्डवच्च पश्चिमा प्रतिपत्तिरि"ति पिण्डवच्चेति। यथा पिण्डप्रतिपत्तिर्विप्रगवादिषु तथा बलीनामपि चरमा प्रतिपत्तिरित्यर्थः ॥

आधानदिने च वैश्वदेवबलिकर्म्मणी सायमाहुत्यनन्तरं रात्रावेव कर्त्तव्ये।

तदाह—**कर्मप्रदीपः**—

"ऊर्ध्वम्पाण्याहुतेः कुर्यात्सायं होमादनन्तरम्।
वैश्वदेवन्तु पाकान्ते बलिकर्म्मसमन्वितम् ॥
ब्राह्मणान् भोजयेत् पश्चादभिरूपान्स्वशक्तितः।
यजमानस्ततोऽश्नीयादिति कात्यायनोऽब्रवीत् ॥" इति।

सोऽयं भूतयज्ञः "बलिभौंतः" इति वचनात्। एतदनन्तरं वामदेव्यगानं कर्त्तव्यं "बल्यन्ते वैश्वदेविकम्" इति वचनात्। स खल्वयं ब्रह्मयज्ञस्य पूर्वोक्तस्तृतीयः कालः। [1]अथेदानीम्मनुष्ययज्ञः। तदर्थमतिथिम्भोजयेदिति

---

१. पितृयज्ञस्तु तर्पणरूपः कात्यायनोक्तः स्नानानन्तरं विहितः। यतः प्राग्गायत्रीजपरूपो ब्रह्मयज्ञः। स एष स्नानसूत्रमुपक्रम्याग्रे व्यक्तः। यश्च श्राद्धरूपो बलिरूपो वा "श्राद्धं वा पितृयज्ञः स्यात्पित्र्यो बलिरथापि वे"ति कात्यायनेनोक्तः। स साग्नेर्वैश्वदेवान्त एव नियमतः। तथाच लौगाक्षिः।

"पक्षान्तङ्कर्म्मनिर्वर्त्य वैश्वदेवं च साग्निकः।
पिण्डयज्ञन्ततः कुर्यात्ततोऽन्वाहार्यकं बुधः ॥" इति।

पक्षान्तमन्वाधानम्। अन्वाहार्यकं दर्शश्राद्धम्। देवलोऽप्याह—

"अकृते वैश्वदेवे तु स्थालीपाकः प्रकीर्त्तितः।
अन्यत्र पिण्डयज्ञात्तु सोऽपराह्णे विधीयते ॥" इति।

स्थालीपाकशब्देनात्र स्थालीपाकसाध्यानि कर्म्माण्युच्यन्ते। एतानि पक्षान्तादीनि कर्माणि वैश्वदेवात्पूर्वमेव कर्त्तव्यानि। पिण्डपितृयज्ञस्यापि स्थालीपाकसाध्यत्वेन तस्यापि पूर्वत्र कर्त्तव्यतायां प्राप्तायामपवादः। अन्यत्रेति। पिण्डपितृयज्ञादन्यत्रेत्यर्थः। दर्शश्राद्धस्य पिण्डपितृयज्ञानन्तर्यमाह मनुः—

"पिण्डयज्ञं तु निर्वर्त्य विप्रश्चन्द्रक्षयेऽग्निमान्।
पिण्डान्वाहार्यकं श्राद्धं कुर्यान्मासानुमासिकम्॥" इति।

एवञ्च यानि श्राद्धात्पूर्वं वैश्वदेवकर्त्तव्यतापादकानि वचनानि तानि सर्वाणि लौगाक्षि-वचनानुसारेण श्रौताग्निमद्विषयाणि व्यवस्थापनीयानि। साग्निकस्याप्येकादशाहश्राद्धे पश्चादेव—

"सम्प्राप्ते पार्वणे श्राद्धे एकोद्दिष्टे तथैव च।
अग्रतो वैश्वदेवं स्यात्पश्चादेकादशेऽहनि॥"

इति परिशिष्टे विशेषविधानात्। निरग्नेस्तु श्राद्धान्त एव सर्वत्र, यथाह वृद्धगौतमः—

"पितृश्राद्धमकृत्वा तु वैश्वदेवङ्करोति यः।
अकृतन्तद्भवेच्छ्राद्धं पितॄणां नोपतिष्ठते॥" इति।

भविष्ये—

"कृत्वा श्राद्धम्महाबाहो ब्राह्मणांश्च विसृज्य च।
वैश्वदेवादिकङ्कर्म्म ततः कुर्यान्नराधिपेति॥"
"वैश्वदेवमकृत्वैव श्राद्धङ्कुर्यादनग्निकः।
लौकिकेऽग्नौ हुते शेषं पितॄणां नोपतिष्ठते॥" इति च।

अनग्निकः वैदिकाग्निरहितः। तस्यौपासनाग्नावपि वैश्वदेवनिषेधः। अयमर्थो लौगाक्षि-वचने साग्निकपदस्य सार्थकत्वप्रतिपादनेन दर्शितः॥ तत्र (नित्य-) श्राद्धरूपः मुख्य-स्तद्विधिः पृथक्पद्धतौ द्रष्टव्यः। एष च साग्नेर्नास्ति अदैवत्वात्। तथा च लिखित-जातूकर्णौ—

"नित्यश्राद्धमदेवं स्यान्मनुष्यैः सह गीयते॥" इति।

भविष्येऽपि—

"अहरहः क्रियते तत्तु तन्नित्यमिति कीर्त्तितत्।
विश्वेदेवविहीनन्तदशक्तावुदकेन तु॥" इति।

विश्वेदेवविहीनं विश्वेदेवश्राद्धशून्यम्॥ न हि साग्नेरदैवं किञ्चिदस्तीति नेह सूत्रकृतो-पन्यस्तम्॥ "नित्यश्राद्धं बहिर्ग्रामादि"त्येवमुपक्रम्य—एवं सम्वँत्सरमित्युक्त्वा—कृता*-कृतमतऊर्ध्वमित्यभिदधान सावधिकत्वमस्याचष्टे। साग्नेश्च प्रत्यमावास्यं श्राद्धं, पञ्चयज्ञ-निष्पत्तिस्तु तर्पणवलिकर्म्मभ्यामेवेति राद्धान्तः। एवमग्नौकरणाद्यप्यत्र (नित्यश्राद्धे) नास्ति। तथाच ब्रह्मपुराणम्—

"अग्नौकरणमर्घ्यञ्चावाहनञ्चावनेजनम्।
पिण्डश्राद्धे प्रकुर्वीत पिण्डहीने विवर्जयेत्॥" इति॥

तत्र नित्यश्राद्धकरणपक्षे पित्रर्थमयुग्मब्राह्मणभोजनमिति मुख्यः कल्पः। अत्राप्यशक्तौ (भोक्तृभोज्ययोरभावे) कर्म्मप्रदीप आह—

* कृताकृतमिति—एवं संवत्सरकृतेऽत ऊर्ध्वं नित्यश्राद्धं कृतं भवत्यकृतं भव (तीत्यर्थः) त्यकृतं भवति। अकरणे दोषो नास्ति। करणे फलं भवतीत्यर्थ इति कल्पतरुः॥

मुख्यः पक्षस्तमाह कात्यायनः—"नृयज्ञोऽतिथिभोजनम्[1]" इति ।

"कृत्वैतद्बलिकर्म्मैवमतिथिम्पूर्वमाशयेत् ।
भिक्षाञ्च भिक्षवे दद्याद्यथावद्ब्रह्मचारिणे ॥"

इति स्मरति । अतिथावनागच्छति ब्राह्मणायान्यस्मा अपि भोजनं दद्यात् । भोजनासम्भवे हन्तकार[2]–पुष्कल–भिक्षोदपात्राणाय्यँथासम्भवमेकतमं दद्यात् । यथाह (शातातपः)—

"अप्युद्धृत्य यथाशक्ति किञ्चिदन्नं यथाविधि ।
पितृभ्योऽथ मनुष्येभ्यो दद्यादहरहर्द्विजे ॥" इति ।

उद्धृत्य दाने विधिमाह—

"पितृभ्य इदमित्युक्त्वा स्वधाकारमुदीरयेत् ।
हन्तकारं मनुष्येभ्यस्तदन्ते निनयेदपः ॥" इति ।

तथाच पितृभ्यो बलिहरणान्ते निरग्निना "देवा मनुष्या" इत्यादि "कृमिभ्यो नम" इत्यन्तं बलिसप्तकं दत्वा "दत्वाऽनेन विधानेन बलीन्पश्चादुपस्पृशेदि"ति आचारविवेकधृतवचनादाचम्य (दक्षिणकर्णस्पर्शादि वा तत्प्रतिनिधिकृत्वा) "ॐअद्य नित्यश्राद्धमहं करिष्ये" इति सङ्कल्प्य "ॐदेवताभ्य इति त्रिर्जपित्वा पित्र्येन विधिना "ॐअद्यामुकगोत्राः पितृपितामहप्रपितामहा अमुकामुकाऽमुकशर्म्माणः । ॐअद्यामुकगोत्रा मातामहप्रमातामहवृद्धप्रमातामहा अमुकामुकामुकशर्म्माण इदमन्नं सतिलं वः स्वधा" इत्येवं सतिलान्नसमीपे उदकं निनयेदित्यर्थः । अत्राप्यशक्तस्य योऽयं भूतयज्ञान्ते पितृबलिर्दीयते तेनैव पितृयज्ञः कृतोभवतीति "पित्र्यो बलिरथाऽपिवे"त्यस्यार्थः । तत्राप्यशक्तस्य तर्पणेनैव पितृयज्ञः कृतो भवति । यथा मनुः—

"यदेव तर्पयत्यद्भिः पितॄन्स्नात्वा द्विजोत्तमः ।
तेनैव कृत्स्नमाप्नोति पितृयज्ञक्रियाफलम् ॥" इति ।

सर्वोऽप्ययमुपदेशः शक्तस्यैवाशक्तस्य तु—स्वाध्यायतर्पणे नित्ये अन्यद्यथोत्साहमित्याह—गौतमः" "नित्यं स्वाध्यायः पितृभ्यश्चोदकदानं यथोत्साहमन्यदि"ति ॥

१. नित्यकृत्यार्णवे तु—मनुष्ययज्ञे चात्रातिथित्वमविवक्षितमतिथेरनित्यत्वान्मनुष्ययज्ञस्य नित्यत्वात्तेनातिथ्यभावेऽन्येनापि ब्राह्मणेन मनुष्ययज्ञसिद्धिः । अत एव अहरहर्ब्राह्मणेभ्योऽन्नं दद्यादामूलफलशाकेभ्योऽथैनं मनुष्ययज्ञं समाप्नोति ।" इति ब्राह्मणमात्रं विवक्षति । एवञ्च सनकाद्यन्नदानरूप एव मनुष्ययज्ञ इति भ्रमो हेयः । सतिसम्भवेऽतिथये तदभावे ब्राह्मणाय कस्मै चिद्देयं, सनकादिभ्योऽपीति । अयमपि वक्ष्यति "अग्रं ब्राह्मणाय दत्वा भुञ्जीते" (१।४।२५) ति ॥ अत्रातिथिपूजाप्रयोगो नित्यकृत्यार्णवे प्रयोगपद्धतावन्यत्र च द्रष्टव्यः ॥

२. एवञ्चायम्मनुष्ययज्ञोऽपि त्रिविधः । तत्र मुख्योऽतिथिभोजनम् । तदसम्पत्तौ हन्तकारादिदानम् । तदसम्पत्तावुदपात्रदानमपीति ॥

"भिक्षां वा पुष्कलं वापि हन्तकारमथापि वा ।
असम्भवे सदा दद्यादुदपात्रमथापि वा ।।" इति ।।

तन्मानमाह (शातातपः)—

ग्रासमात्री भवेद्भिक्षा पुष्कलन्तच्चतुर्गुणम् ।
पुष्कलानि च चत्वारि हन्तकारं विदुर्बुधाः ।। इति ।
(मिता० १।५।१०८)

तत्प्रकारमाह (व्याससंहिता ३।३४)—

"इदमन्नं मनुष्येभ्यो हन्तेत्युक्त्वा समुत्सृजेत् ।।" इति ।।

तथाचाभ्यागताय, यतिने, ब्रह्मचारिणे, वा, अन्यस्मै ब्राह्मणाय वा प्राङ्मुखोपविष्टाय भोजनपर्याप्तमन्नं तदभावे षोडशग्रासरूपं हन्तकारं वा, चतुर्ग्रासरूपमग्रं वा ग्रासमात्ररूपां भिक्षां वा, फलमूलादिकं वा यथाविभवमुदङ्मुखो निवीती कुशत्रयतिलजलैः इदमन्नं ॐ मनुष्याय हन्त इति प्राजापत्यतीर्थेन दद्यात् । यत्याद्यभावेऽपि इदमन्नम् "ॐ सनकादिमनुष्येभ्यो हन्त" इत्युक्तविधिना दद्यात् ।

अथ गोग्रासः । तत्र सान्नघासमुष्टिं परस्य गवे दद्यात् । तामुद्दिश्य वोत्सृजेत् । तत्र मन्त्रः—

"ॐ सौरभेय्यः सर्वहिताः पवित्राः पुण्यराशयः ।
प्रतिगृह्णन्तु मे ग्रासं गावस्त्रैलोक्यमातरः ।। इति ।।

।। इतिपञ्चमहायज्ञविधिः ।।

अथेदानीमुक्तस्यैव विशेषोऽभिधीयते—

आसीन एवाग्नौ जुहुयात् ॥ १३ ॥

आसीन उपविष्ट एव नोर्ध्वो न वा प्रह्वः ।। १३ ।।

आसीनः पितृभ्यो[1] दद्यात् । यथोपपादमितरान् ॥ १४ ॥

पूर्वोक्त वैश्वदेव होम बैठकर करे, पितृगण को देने योग्य बलि-शेष भी बैठकर ही प्रदान करे। [पूर्वोक्त जल एवं गृह आदि में देने योग्य बलि] जिस प्रकार सम्पन्न हो सके उस-उस प्रकार करे [अर्थात् खड़े होकर, बैठकर अथवा झुक कर जैसा सुभीता हो वैसे बलि प्रदान करे] ।। १३–१४ ।।

सरला०—यत्र यथोपपद्यते दातुं युज्यते तत्र तथैव दद्यात्, यथाऽधिवर्चादिप्रदेशस्याशुचित्वात् दूरस्थ एवोर्ध्वः प्रक्षिपेत् ।

---

१. अत्रदद्यादित्यन्तः पाठो भट्टभाष्ये पूर्वत्र एव दृष्टः ॥

मृदुला०—आसीन उपविष्टः पितृभ्यो बलीन् दद्यात् हरेत्। इतरान् पित्र्यबलेरन्यान् बलीन् यथोपपादं यथोपपद्यते दानं तथैव दद्यात् न पुनरासीन एवेत्यस्ति नियम इत्यर्थः। तेनाधिवर्च्चः प्रदेशस्याशुचितया दूरस्थ एव प्रक्षिप्य दद्यादूर्ध्वः सन्। एवमन्यत्रापि। क्वचित्प्रह्व क्वचिच्चान्यादृश एवेति यथायथमूहनीयम् ॥ १४ ॥

स्वयं त्वेवैतान्यावद्वसेद् बलीन् हरेत् ॥ १५ ॥

ये बलि जिस समय तक गृह में रहे उस समय तक स्वयं ही सम्पन्न करे ॥१५॥

यावत् गृहे वसेत् तावत् एतान्सर्वान्बलीन्न पुनः पित्र्यबलेरवरानेवेत्यर्थः॥ स्वयमेव यजमानो हरेत्—निदध्यात्। अनलसः। अत्र यावद्वसेदित्युक्त्या प्रवसन्नन्यद्वारापीति सूचयति। एतद् (बलिहरणं) होमादीनामप्युपलक्षणम्। तुशब्दः स्वयङ्करणपक्षे फलविशेषं द्योतयति ॥ १५ ॥

अपि वाऽन्यो ब्राह्मणः ॥ १६ ॥

अथवा [असमर्थ होने पर] अन्य ब्राह्मण से भी करा सकता है ॥ १३ ॥

अपिवा अथवाऽशक्तौ यजमानस्य, प्रवासे वा अन्यो ब्राह्मणो बलीन्हरेत्॥ तथा च स्वयमशक्तावत्रिः—

"पुत्रो भ्राताऽथवा-ऋत्विक् शिष्य-स्वस्रीय-मातुलाः।
पत्नी-श्रोत्रिय-याज्याश्च दृष्टाश्च बलिकर्म्मणि॥" इति।

दृष्टाः = "प्रतिनिधित्वेने"ति शेषः॥ अथवाऽपि वेति क्षत्रियविषयमाचार्यस्य पक्षान्तरम्। तथा च मनुः (७. ७८)—

"पुरोहितश्च कुर्वीत वृणुयादपि चर्त्विजम्।
तेऽस्य गृह्याणि कर्म्माणि कुर्य्युर्वैतानिकानि च॥" इति ॥१६॥

तत्रापि विशेषमाह—

दम्पती एव ॥ १७ ॥

[इस कार्य के लिए] स्त्री एवं पुरुष दोनों ही समानरूप से अधिकारी है ॥ १७ ॥

दम्पती जाया च पतिश्चेति द्वन्द्वे "राजदन्तादित्वात्" (पा० २।२।३१) निपातितम्। "दम्पती जम्पती जायापती भार्यापती च तौ" इत्यमरः। पतिः पत्नी चोभौ एव बलीन् हरेतामिति वचनव्यत्ययेन पूर्वोक्तेनाभि-

सम्बन्धः। अत्र पाककरणेन सहावस्थानेन च [1]साहित्यम्। "न स्त्री जुहुयान्नानुपेत" इति वचनेन वैश्वदेवहोमे पत्न्या अनधिकारात्तत्सहभूतबलिहरणमपि पत्न्याः साग्निपतिवैदेश्ये सायमेव। तदपि सति पाके पतिताद्यन्नदानान्तं ह्येव। "सायन्त्वन्नस्य सिद्धस्य पत्न्यमन्त्रं बलिं हरेत्" (३।१२१) इति मनुना बोधितमिति स्मृतिदीपिकाकारः। इदं-पत्नीकर्त्तृकबलिहरणं यजमनानुपस्थितावित्याचारादर्शः ॥ १७ ॥

इति गृहमेधिव्रतम् ॥ १८ ॥

इस प्रकार इस खण्ड में कथित कर्म गृहस्थों के लिए ही है ॥ १८ ॥

इति एवमहरहः पञ्चानां यज्ञानामनुष्ठानं गृहमेधिव्रतम्। गृहैर्दारैर्मेधन्ते सङ्गच्छन्त इति गृहमेधिनः। "मेधृसङ्गमे" ताच्छील्ये णिनिः (पा० ३।२।७८) संपत्नीकास्तेषां व्रतम्, शास्त्रविहितो नियमइत्यर्थः। तदेवम्। पञ्चयज्ञावशिष्टमन्नं दम्पती भुञ्जीयाताम्--

"भुक्तवत्स्वथ विप्रेषु स्वेषु भृत्येषु चैव हि।
भुञ्जीयातांततः दद्यादवशिष्टन्तु दम्पती ॥" इति-स्मरणात्।

स्वेषु-आत्मीयेषु गृहस्थितबन्धुवर्गेषु बालवृद्धातुरपूर्वकेषु ॥ अकृत्वा च पञ्च महायज्ञान्भुञ्जतीस्तयोर्व्रतलोपो भवति। ऋते सुवासिनीप्रभृतिभ्यः। तदाह मनुः (३।११४)—

"सुवासिनीः कुमारीश्च रोगिणो गर्भिणीस्तथा।
अतिथिभ्योऽग्र एवैतान्भोजयेदविचारयन् ॥
अदत्त्वा तु य एतेभ्यः पूर्वं भुङ्क्तेऽविचक्षणः।
स भुञ्जानो न जानाति श्वगृध्रैर्जग्धिमात्मनः ॥" इति।

गौतमोऽपि "भोजयेत्पूर्वमतिथिं कुमारव्याधितगर्भिणीसुवासिनीस्थविराञ्जघन्यांश्चे"ति ॥ १८ ॥

स्त्री ह सायं प्रातः पुमानिति ॥ १९ ॥

'प्रातःकाल गृहस्वामी और सायंकाल उसकी स्त्री बलि प्रदान करे'—इस प्रकार [भी किसी आचार्य का मत है] ॥ १९ ॥

---

१. द्वन्द्वार्थो हि साहित्यंतदेतद्-"वैश्वदेवनिमित्तं तु पत्न्या सार्द्धं बलिं हरेदि"ति विष्णुपुराणीयवचनव्याख्यायाम्पत्न्या सार्द्धमिति वाक्यमुपादाय स्मृतिदीपिकायां व्याख्यातमित्यनुपदं स्फुटीभविष्यति ॥

स्त्री = पत्नी ह किल । स खल्वयमैतिह्यार्थो[1] निपातः । एवं ह्याख्यायते वृद्धैः । सेयं पत्नी सायं रात्रौ (पुनः पाके सति[2]) बलि हरेदमन्त्रं तूष्णीमित्यर्थः । तथाच मनुः—(३।१२१)

"सायन्त्वन्नस्य सिद्धस्य पत्न्यमन्त्रं बलिं हरेत् ।
वैश्वदवं हि नामैतत्सायम्प्रातर्विधीयते ॥"→

इति । तदनेन रात्रावपि वैश्वदेवबलिकर्म्मणोरविशेषेण कर्त्तव्यत्वं दर्शितम्[3] । प्रातरहनि पुमान् समन्त्रमित्यर्थः । बलिं हरेत् ॥ अत्र स्मृतौ—सिद्ध-

---

१. इति होचुर्वृद्धा इत्यैतिह्यमुच्यते । इतिहेति निपातसमुदायात्स्वार्थेऽण्यप्रत्ययः । (पा० ५।४।२) वस्तुतस्तु प्रसिद्धार्थ एवेति बोध्यम् ।

२. एष कुण्डलितः पाठः वैश्वदेवहोमस्य पाकसंस्कारकत्वपक्षं कक्षीकृत्य । तथा चाचारचिन्तामणौ—

"सायं प्रातर्वैश्वदेवः कर्त्तव्यो बलिरेव च ।
अनश्नताऽपि सततमन्यथा किल्विषीभवेत् ॥"

इति च्छन्दोगपरिशिष्टादनश्नताऽपि गृहस्थेनातिथ्याद्यनुरोधेन द्विः पाकतापक्षे द्विरवश्यं वैश्वदेवङ्कार्य्यमिति वाचस्पतिः ॥ स्मृतिदीपिकायां वामदेवमहामहोपाध्याया अपि—वैश्वदेवमुपक्रम्य—पुनः पाकाभावे तु नेदङ्कार्य्यमित्याहुः ॥

वस्तुतस्तु—पुरुषसंस्कारेषु पञ्चयज्ञानां पाठो गौतमेन घृतः "...सहधर्म्मचारिणीसंयोगः । पञ्चानां महायज्ञानामनुष्टानन्देव-पितृ-मनुष्य-भूत-ब्रह्मणाम्" इति ।

"वैश्वदेवं हि नामैतत्सायं प्रातर्विधीयते" (३।१२१)

इति मनुनाऽविशेषतयैवास्य विधानेनापि पुरुषार्थत्वमवगम्यते ।

"स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः ।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः ॥"

इत्यादिमानवादिस्मरणाच्च पुरुषार्थमिदङ्कर्म्म यथाकथञ्चिन्निर्वपर्त्तनीयमिति स्थितिः ॥ अत एव स्मृतिदीपिकायामुक्तम् "वैश्वदेवश्च नान्नसंस्कारकः । मानाभावात् । "आर्य्याः प्रयता अन्नसंस्कारकाः" इत्यापस्तम्बवचनन्तु अन्नपाचकत्वं प्रयतानाम्बोधयति न तु वैश्वदेवस्य सिद्धान्नसंस्कारकत्वम् । अत एवाऽकृते वैश्वदेवे श्राद्धं सिद्धान्नेन युज्यते वैश्वदेविकपाकान्ननिषेधश्च भोजनप्रकरणीयो विश्वदेवविमुखस्वामिकान्नविषयको "नात्मार्थं पाचयेदन्नमि"ति निषिद्धपाकान्नपरो वेति ॥

३. अत्र च्छन्दोगाह्निके श्रीदत्तोपाध्याया आहुः "इदं पत्नीकर्तृकं बलिहरणं यजमानतत्पुत्रादीनामसन्निधान इति केचित् । अन्ते तु—"स्वयन्त्वेवैतान्बलीनि" त्यारभ्य "स्त्री हि सायं प्रातः पुमानि"ति गोभिलगृह्यानुसाराद् गृहमेधिव्रतपक्षे सायं पत्नीकर्तृकमेव बलिहरणं तत्परञ्चा मानववचनमिति वर्णयन्तीति । वसिष्ठः "वैश्वदेवं सायम्प्रातर्गृह्येऽग्नौ जुहुयात्" इत्यादि । वैश्वदेवं विश्वदेवदेवताकम् । सायमिति । पुनः पाकान्नेन ।

स्यान्नस्येति पक्षप्राप्तमनूद्यते न तु विधित्सितम्। सायं बलिं हरेदित्येव। तच्चन्नाभावे फलादिनाऽपि। तथाच **चतुर्विंशतिमते**—

"अलाभे येन केनापि फलशाकोदकादिभिः।
पयोदधिकृतैर्वापि वैश्वदेवं स्रुवेण तु॥
हस्तेनान्नादिना कुर्यादद्भिरञ्जलिना जले॥" इति।

तत्रापि यददनीयन्तेनैव होमस्तथाच परिशिष्टे—

"शाकं वा यदि वा पत्रं मूलं वा यदि वा फलम्।
सङ्कल्पयेद्यदाहारं तेनैव जुहुयाद्धविः॥" इति।

इतिकरणं बलिप्रकरणसमाप्तिख्यापकम्॥ १९॥

तदिदं बलिहरणमहरहर्यत्पच्यते तेनैवान्नेन कर्तव्यम्। न खल्वेष नियमो वैश्वदेवेनैवान्नेन विधेयमित्याह—

सर्वस्य त्वेवान्नस्यैतान् बलीन् हरेत् पित्र्यस्य वा स्वस्त्ययनस्य वाऽर्थार्थस्य वा॥ २०॥

[बलि चाहे किसी भी कार्य के लिए हो] पितृ कार्य के लिए हो, या ब्राह्मण भोजनादि कार्य के लिए हो या अपने ही खाने के लिए ही क्यों न हो—सब बलि कर्म अन्न से ही करना चाहिए॥ २०॥

सर्वस्येत्यनेन येन केनाऽपि बलीन्हरेत्। पित्र्यस्य पितृकर्म्मार्थं शृतस्य अमावस्यादावन्वाहार्याद्यर्थस्येत्यर्थः। तत्र तस्येदमित्यर्थे "पितृर्य्यच्च" (पा० ४।३।७९) इति यति "रीङृतः" (पा० ७।४।२७)इति रीङो "यस्येति च" (पा० ६।४।१४८) इतीकारलोपः॥ वा—अथवा स्वस्त्ययनस्य[१] तदर्थं पक्वस्य। अर्थार्थस्य स्वसमीहितसिद्ध्यर्थस्य। [२]वाशब्दोऽयं कैमुतिकन्यायम-

---

"पुनः पाकमुपादाय सायमप्यवनीपते।
वैश्वदेवनिमित्तन्तु पत्न्या सार्द्धं बलिं हरेत्॥
तत्रापि श्वपचादिभ्यस्तथैवान्नापवर्जनम्।"

इति विष्णुपुराणवचनात्। गृह्ये—आवसथ्याग्नौ इति तु साग्निविषयम्। इत्याचारचिन्तामणिः। पत्न्या सार्द्धमिति पाककरणेन सहावस्थानेन च साहित्यम्।

१. स्वस्तीत्यभिप्रेतार्थसंसिद्धिमाचष्टे-तस्यायनं प्रापकं यत्कर्म्म ब्राह्मणभोजनादिकन्तत्स्वस्त्ययनं, स्वस्ति ईयते प्राप्यतेऽनेनेति करणे ल्युट्। "स्नेहवदमांसमन्नं ब्राह्मणान्भोजयित्वा स्वस्ति हैषाम्भवती"त्येवमादिवचनात्।

२. चन्द्रकान्तभाष्ये तु—अर्थोधनम् अर्थः प्रयोजनं यस्य पुरुषस्य सोऽयमर्थार्थः। यस्मात्पुरुषादर्थं आशास्यते तदर्थंपक्वस्येत्यर्थ इत्युक्तम्॥ अवयवलक्षणा चात्र षष्ठी पूर्ववत्॥

नुस्मारयति । पूर्वतनावनास्थायान्तेन यथाकथञ्चित्पक्वस्येत्यर्थ आयाति । अत्र तु शब्दोऽस्यैव बलिहरणस्य कालविशेषद्योतनार्थः । पूर्वन्तु तावद्बलिहरणं कुर्यात्पश्चाद्ब्राह्मणं भोजयेदिति चन्द्रकान्तभाष्यम् ॥ २० ॥

तदिदं बलिहरणम् ।

यज्ञादेव निवर्त्तते ॥ २१ ॥

[ज्योतिष्टोमादि] यज्ञ के अनुष्ठान का आरम्भ कर देने पर फिर यह बलि कार्य करना उचित नहीं है ॥ २१ ॥

यज्ञो ज्योतिष्टोमादिस्तस्माद्धेतोर्निवर्त्तते । यद्वा सप्तम्यर्थे व्यत्येन (पा० ३।१।८५) पञ्चमी । यज्ञे निवर्त्तते । बलिहरणञ्च होमादीनामप्युपलक्षणम् । "तस्माद्दीक्षितो न ददाति, न पचति, न जुहोति" इति च ब्राह्मणम् । न ददातीत्यादि दीक्षणीयेष्टेरन्यत्र बोध्यम् । एवशब्दो बलिहोमादेरावश्यकत्वप्रदर्शनार्थः । नान्यथा आपद्यपि निवर्त्तते इति । तथा च **स्मरन्ति**—

"आपद्यपि हि कष्टायां पञ्चयज्ञान्न हापयेत् ।
स्वर्गापवर्गयोः प्राप्ति महायज्ञैः प्रचक्षते ॥"

इति । सोऽयं सामान्यविधिरपवादविधिनाऽनेनोपरुध्यते । न पुनरेतावताऽशौचेऽपि कर्त्तव्यतैवामीषामिति भ्रमितव्यम्—

"सन्ध्यां पञ्चमहायज्ञान्नैत्यकं स्मृतिकर्म्म च ।
तन्मध्ये हापयेत्तेषां दशाहान्ते पुनः क्रिया ॥" इति–स्मरणात् ॥

"पञ्चयज्ञविधानञ्च न कुर्यान्मृत्युजन्मनोः"इति चैवमादिस्मरणात् ॥२१॥

यद्येकस्मिन् काले व्रीहियवौ प्रक्रियेयातामन्यतरस्य कृत्वा कृतं मन्येत ॥ २२ ॥

यदि एक ही समय 'चावल' और 'यव' दोनों ही प्रकार के अन्न प्रस्तुत हों तो दोनों प्रकार के अन्नों से बलि कर्म न करे क्योंकि दोनों में से किसी भी एक से ही बलिकर्म सम्पन्न हो सकता है ॥ २२ ॥

यदि–एकस्मिन् भोजनकाले दिवैव वा रात्रावेव वा-इत्यर्थः । व्रीहियवौ उभौ । नानाजातीयान्नोपलक्षणमेतदित्याचारचिन्तामणिः । प्रक्रियेयातां प्रकर्षेण भक्तकरम्भपायसशश्कुल्यादिभेदेन क्रियेयातां कृतौ भवेतान्तर्हि अन्यतरस्य एकतरस्य व्रीहेर्यवस्य वा विकारैः कृत्वा बलिहरणं कृतं सम्पादितं मन्येत जानीयात् । न पुनरन्यस्यापि कर्त्तव्यमित्यर्थः ॥ २२ ॥

यद्येकस्मिन् काले पुनः पुनरन्नं पच्येत सकृदेवैतद्
बलितन्त्रं कुर्वीत ॥ २३ ॥

यदि एक ही समय में दो, तीन अथवा इससे भी अधिक बार, अन्न पकाया जाए तो भी केवल एक ही बार बलिकर्म करना चाहिए ॥ २३ ॥

यद्येकस्मिन्काल इत्युक्तार्थम्। पुनः पुनर्भूयोभूयः। अन्नं पच्येत अतिथ्यादिबाहुल्यवशात्। तथापि सकृदेकवारमेव एतद्बलितन्त्रम्बलिहरणं कुर्वीत न प्रतिपचनमित्यर्थः ॥ २३ ॥

भ्रातॄणां भिन्नपाकत्वेऽपि मुख्यपाकादेव बलिहरणमित्याह—

यद्येकस्मिन् कुले बहुधाऽन्नं पच्येत गृहपतिमहानसादेवैतद्
बलिकर्म्म कुर्वीत ॥ २४ ॥

यदि एक गृह में एक वंश के अनेक व्यक्ति अलग-अलग रसोई पकाते हों तो उनमें जो प्रधान हो, उसी की पाकशाला से इस बलि कार्य को करे; प्रत्येक रसोई घर से बलि कर्म न करे ॥ २४ ॥

यदि—एकस्मिन्कुले गृहे एकपाकोपजीविभ्रात्रादिवर्गे वा। तथाच मेदिनी "कुलं जनपदे गोत्रे सजातीयगणेऽपि च। भवने च तनौ क्लीबम्" इति ॥ बहुधा बहुप्रकारेण (बहुषु महानसेषु) अन्नं पच्येत कुतश्चित् कारणात् कदाचिद्भ्रातृपुत्रादीनां भोजनसौकर्यार्थं वा, तर्हि एषां यो गृहपतिस्तस्य महानसादेव न प्रति महानसात्। स्मरति च बृहस्पतिः—

"एकपाकेन वसतां पितृदेवद्विजाऽर्चनम्।
एकं भवेद्विभक्तानां तदेव स्याद् गृहे गृहे ॥"

इति। देवार्चनं वैश्वदेवः। कः कुर्वीतेत्यपेक्षायां? गृहपतिस्तदशक्तौ तत्प्रतिनिधिर्वेति बोध्यम् ॥ २४ ॥

अमीषाम्मध्येऽमुख्यस्यादौ पाके तेन तूष्णीमेवाग्नौ किञ्चिदलवणं प्रक्षिप्य किञ्चिच्च ब्राह्मणाय दत्वा भोक्तव्यमित्याह—

यस्य त्वेषामग्रतः सिद्ध्येत्[१] नियुक्तमग्नौ कृत्वाऽग्रं
ब्राह्मणाय दत्त्वा भुञ्जीत ॥ २५ ॥

यदि एक गृह (में अनेक पाक वाले रहते हों तो उन) में से जिसका भोजन सब से पहले तैयार हो जाय, वही थोड़ा-सा अन्न अग्नि में डालकर, पके अन्न में से (ब्राह्मण) अतिथि की सेवा के पश्चात् स्वयं भोजन करे ॥ २५ ॥

---

१. "स निहुतमेवाग्नौ हुत्वाऽग्रम्" इत्येवं पाठः क्वचित्पुस्तके निहुतं तूष्णीम्।

एषामेकपाकोपजीविनां मध्ये यस्य तु अग्रतः प्रथमम्। गृहपतिपाकात् सिद्ध्येत् निष्पद्येत पाकः, स किञ्चिदन्नम् अग्नौ नियुक्तं कृत्वा–हुत्वा। अग्रं चतुर्ग्रासमितमन्नं ब्राह्मणाय दत्त्वा भुञ्जीत ॥ तुशब्दो विशेषार्थः। अनावश्यकत्वेऽपि वैश्वदेवादीनामयमस्य विशिष्यते यदग्नौ नियोज्यमग्रं च ब्राह्मणाय दातव्यमिति ॥ २५ ॥

यस्यो जघन्ये भुञ्जीतैवेति ॥ २६ ॥

परन्तु यदि वह अन्न अरुचिकर कदर्य अन्न पाकादि दोष से दूषित हो जाय तो उससे आतिथ्य न करके उसे स्वयं भोजन करे; (और पुनः पकाकर अतिथि सेवा करे) ॥ २६ ॥

उ इति पुनरर्थो निपातः। अपार्थो वा[1]। यस्य पुनर्जघन्यं पश्चात् गृहपतिपाकात् सिद्ध्येत्पाकः स भुञ्जीतैव न पुनरग्नौ नियुञ्जीत ब्राह्मणाय वा दद्याद्बलिं वा हरेत्। अन्ये तु पठन्ति यः "सो जघन्यं भुञ्जीतैवे" ति। अत्र पाठे भुञ्जीतैति पूर्वप्रकृतमनुवर्त्तते। यः जघन्यं पश्चाद् भुञ्जीत स उ भुञ्जीतैव नान्यत्किञ्चित्कुर्यादित्यर्थः। अत्रार्थे सोर्लोपा–(पा० ६।१।१३२) भावश्छान्दसः। इति नित्यबलिकर्म्मप्रकरणसमाप्तिं द्योतयति[2] ॥ २६ ॥

अथाऽप्युदाहरन्ति ॥ २७ ॥

पूर्वाचार्य (इस सम्बन्ध में) कुछ और भी विशेष बात कहते हैं ॥ २७ ॥

अथ––अनन्तरं यत्कर्त्तव्यं तदप्युदाहरन्ति "ब्राह्मणवाक्यानि" इति शेषः ॥ २७ ॥

एतस्यैव बलिहरणस्यान्ते कामं प्रब्रुवीत भवति हैवास्य ॥ २८ ॥

इस बलि कर्म के कर चुकने पर अपने अभीष्ट की प्रार्थना करनी चाहिए। तब इस प्रार्थी द्वारा प्रार्थित मनोरथ की सिद्धि निश्चित ही हो जाती है ॥ २८ ॥

एतस्य नित्यस्य एव बलिहरणस्यान्तेऽवसाने, न पुनः काम्यानामपि बलीनामनन्तरमित्यर्थः। कामं काम्यत इति कामस्त[3]मभिलषितमायुरारो-

---

१. निरर्थकः। (निरु० १।६)

२. अत्र चन्द्रकान्तभाष्यम् "सेयं पञ्चसूत्री द्रव्यस्य कर्म्मार्थतामाह—कर्म्मणश्च पुरुषार्थताम्। कर्म्मणां द्रव्यार्थत्वे खल्वावर्त्तेत प्रति द्रव्यङ्कर्म्म, तदननुजानान आचार्य्यः पुरुषार्थत्वममीषान्दर्शयति। द्रव्यार्थत्वे खल्वमीषां वचनानामदृष्टार्थत्वङ्कल्पनीयं स्यान्न चैतदुचितं सम्भवन्त्यां गतौ। तस्माद्यथोक्त एवार्थः।" इति ॥

३. काममित्येकवचनेनायुरादीनामन्यतमं यं यमिच्छेत् तं तमेव प्रार्थयेत् नैकस्मिन्काले बहूनिति। "दीर्घायुष्यं मेऽस्तु" "ऐश्वर्य्यंमेऽस्तु" "पशवो मे सन्तु" इत्येवमादीनामेकमिति भट्टभाष्यम्।

ग्यादिकं प्रब्रुवीत प्रकर्षेण लाभार्थङ्कथयेत् । अग्निमुद्दिश्य प्रार्थयेदित्यर्थः । "मनो ह वै देवा मनुष्यस्य जानन्ति" इति श्रवणान्मनसैवं प्रार्थना माभूदिति व्यक्तवागर्थस्य ब्रवीतेः प्रार्थनार्थकलिङन्तस्य प्रयोगः । प्रार्थनाचेयं वामदेव्य गानात्पुरस्तात्कर्त्तव्या, तदाह नित्यान्बलीनभिधाय कात्यायनः--

"स्पृष्ट्वापो वीक्ष्यमाणोऽग्निं कृताञ्जलिपुटस्ततः ।
आयुरारोग्यमैश्वर्यं प्रार्थयेद् द्रविणोदसम् ।।" इति ।

द्रविणोदसम् = अग्निम्[1] ।

तथा--

"आयुरारोग्यमैश्वर्य्यं धीर्धृतिः शं बलं यशः ।
ओजो वर्च्चः पशून्वीर्यं ब्रह्म ब्राह्मण्यमेव च ।।
सौभाग्यङ्कर्म्मसिद्धिश्च कुलज्यैष्ठं सुकर्तृताम् ।
सर्वमेतत्कर्म्मसाक्षिन्द्रविणोदो रिरीहि नः ।।" इति ।

रिरीहि-प्रयच्छ । आयुरारोग्यमित्यादिप्रार्थनामन्त्रः । स खल्वयं प्रार्थितः कामो भवति निष्पद्यत एव ह किल । अस्य प्रार्थयितुरित्यर्थः ।।२८।।

स्वयं त्वेवासस्यं बलिं हरेद्, यवेभ्योऽध्याव्रीहिभ्यो व्रीहिभ्योऽध्यायवेभ्यः । स त्वासस्यो नाम बलिर्भवति ॥ २९ ॥

यदि पूर्वोक्त कथित प्रार्थना करे तो (प्रतिनिधि द्वारा नहीं अपितु) स्वयं ही 'आसस्य' नामक बलि प्रदान करे। जिस समय तक हेमन्त ऋतु का धान्य (= सस्य) (= खेत में लगा हुआ अनाज) तैयार न हो तब तक यव के अन्न होने के पूर्व तथा उसके बाद जब तक यव (= सस्य) तैयार न हो तब तक धान्य की उत्पत्ति के निकट जो बलि दी जाती है वही 'आसस्य' (अर्थात् सस्य के समीप) नामक बलि होती है ।। २९ ।।

तुशब्दः सुभूमिकरणादिकं विशेषं स्मारयति । नित्यबलिवत्सुभूमिकरणम् उभयतः परिषेक इत्येवमादिकया रीत्या आसस्यं तन्नामकं बलिं स्वयमेव हरेत् न पुनःप्रवासादावप्यन्येन तं कारयेत्। उक्तश्चायमर्थः "स्वयमेव हरेत् कामान्" इत्यादिगृह्यान्तरेण । कोऽयमासस्यो नाम बलिः कस्मै च हर्त्तव्यः ? इत्यत्राह--यवेभ्य इति । अत्र चतुर्थ्या त्यागोद्देश्यत्वलक्षणं देवतात्वं यवानामभिधीयते । यथा चोक्तम्--

---

१. तथाच निरुक्तम् "अयमेवाग्निर्द्रविणोदा इति शाकपूणिः (८।२।६) द्रविणस् शब्दोऽयं लोकेऽदन्तः प्रयुज्यते । तथाच हैमः "द्रविणं काञ्चने धने । पराक्रमे बले च स्याद्" इति ॥

"तद्धितेन चतुर्थ्या वा मन्त्रलिङ्गेन चेष्यते।
देवतासङ्गतिस्तत्र दुर्बलं तु परं परम् ॥" इति।

तस्माद्यवदैवतोऽयं बलिः "यवेभ्यो नमः" इति प्रयोक्तव्यः। बलिकालमाह--अधि उपरि। अर्थाद्यवोत्पत्तेरेव। अवधिकालमाह—आव्रीहिभ्य इति। व्रीहयुत्पत्तेरा–अर्वाक् इत्यर्थः। एतेन व्रीहिभ्योऽध्यायवेभ्य इति व्याख्यातम् ॥ स त्वासस्य इति। स इति प्रकृतपरामर्शिना सर्वनाम्ना निरपेक्षं बलिद्वयं परामृश्यते। तुशब्दोऽन्येभ्यो बलिभ्योऽस्य वैशेष्यमवगमयति[1]। स खल्वयं बलिरेकस्मात् सस्यादारभ्यापरसस्यपर्यन्तं कर्त्तव्यत्वादासस्यो नाम[2] भवति ॥ २९ ॥

दीर्घायुर्हैव भवति ॥ ३० ॥

इस बलि प्रदान से अवश्य ही दीर्घायु की प्राप्ति होती है ॥ ३० ॥

दीर्घमायुर्यस्य सोऽयं दीर्घायुर्ह--किल(नूनं) भवत्येव। नाऽल्पायुरयं यजमानो भवतीत्यर्थः ॥ ३० ॥

विश्राणिते फलीकरणानामाचामस्यापामिति बलिं हरेत्, स रौद्रो भवति, स रौद्रो भवति ॥ ३१ ॥

इति। गोभिलीयगृह्यसूत्रे चतुर्थी कण्डिका ॥ १ ॥ ४ ॥

तुष से रहित किए हुए धान्य अथवा यव के पाक के सिद्ध होने पर उसके माँड़ से वह 'आसस्य' नामक बलि ('रुद्राय नमः' इस मन्त्र के द्वारा) प्रदान करे। वह बलि 'रुद्रदेवताक' होती है ॥ ३१ ॥

॥ इस प्रकार महाकवि पं० रामकुबेर मालवीय के द्वितीय आत्मज डॉ० सुधाकर मालवीय कृत गोभिलगृह्य सूत्र के प्रथम प्रपाठक का चतुर्थ कण्डिका का हिन्दी अनुवाद पूर्ण हुआ ॥ ४ ॥



---

१. स्वयमेव खल्वयं बलिर्हर्त्तव्योलोप एवास्य प्रवासादावित्युक्तप्रायम्।

२. अन्वार्था हीयं संज्ञा आशरत्सस्यादावसन्तसस्येन यस्य हरणम्। एवमावसन्तसस्यादाशरत्सस्येनेति। सोऽयमासस्यो नामेति ॥

सरला—श्राण दाने विविधं श्राणिते दत्ते सर्वस्मिन् पाके क्षीणप्राये इत्यर्थः। फलीकरणानां कम्बूकानां कुक्कुशानामित्यर्थः। तथा च छन्दोगपरिशिष्टम्—

आचितं शकटं प्राहुर्द्रोणः स्यात् कांसमानकः। कम्बूकाश्चैव फलीकरणकुक्कुशाः ॥ इति।

॥ इति श्रीमद्गोभिलीयगृह्यसूत्रव्याख्यायां—'सरला'ख्यायां डॉ० सुधाकर मालवीय-सङ्कलितायां प्रथमप्रपाठकस्य चतुर्थी कण्डिका ॥ १ ॥ ४ ॥



मृदुला—विशेषेण श्राणिते "श्रणु दाने" (चु०प०) इति स्मरणाद्दत्तेऽन्ने क्षीणप्राये इत्यर्थः। एवञ्च रात्रा[1] वयं बलिर्भवति। तत्र हि सर्वमन्नं श्राणितं दत्तं क्षीणप्रायं भवतीति भट्टभाष्यम् ॥ शिष्टान्नानां फलीकरणानां तुषाणामाचामस्य भक्तमण्डस्य "मासराचामनि(वि)स्रावा मण्डे भक्तसमुद्भवे" इत्यमरः[2]। स्मर्यते च—"ओदनाग्रद्रवं प्राहुराचामं हि मनीषिणः" इति। अपाम् उदकस्य च। अवयवार्थेऽत्र षष्ठ्यः। इतिना मिलितमुच्यते। त्रीण्येतान्येकीकृत्येत्यर्थः। बलिं हरेत्। स खल्वयं बलिः रौद्रो रुद्रदेवताको भवति ॥ अन्तेऽभ्यासः कण्डिकापवर्गद्योतनार्थः ॥ ३१ ॥

॥ इति श्रीमद्गोभिलीयगृह्यसूत्रव्याख्यायां—"मृदुल"ख्यायां मुकुन्दशर्म्मसङ्कलितायां प्रथमप्रपाठकस्य चतुर्थी कण्डिका ॥ १ ॥ ४ ॥ * ॥



१. तथाच गृह्यान्तरम्—

"यक्ष्मणे चोदकं दद्याद्यक्ष्मैतत्त इति ब्रुवन्।
आरोग्यमस्य तेन स्यात्सायं रौद्राद्यथेप्सितम् ॥" इति।

अत्र यथेप्सितमिति वचनाद्यत्किञ्चित्कामयते तद्रौद्रबलेः फलमवगच्छामः ॥

२. अमरकोश २. ९. ४९।

अथ पञ्चमी कण्डिका

(अथ दर्शपौर्णमासप्रकरणम्)

पञ्चमहायज्ञानभिधायेदानीन्तद्वन्नित्यौ दर्शपौर्णमासौ विवक्षुराह--

अथ दर्शपौर्णमासयोः ॥ १ ॥

इसके अनन्तर दर्श और पौर्णमास याग के विषय में प्रतिपादन करते हैं ॥ १ ॥

अथ–इत्ययमधिकारार्थः । दर्शश्च पौर्णमासश्च[1] तयोरधिकार "इदानीं वर्त्तिष्यत" इति वाक्यशेषः ॥ १ ॥

तत्र तावदुपवासपूर्वकत्वाद्दर्शपौर्णमासयोरुपवासव्यवस्थैव प्रथममभिधातव्या । तत्रापि–"दर्शान्तं पौर्णमासाद्यमेकमेव प्रचक्षते" इति कर्म्मप्रदीपवचनात्पौर्णमासादित्वावगमात् पौर्णमास्यास्तावद्व्यवस्थोच्यते—

सन्ध्यां पौर्णमासीमुपवसेत् ॥ २ ॥

(दर्श पौर्णमास याग करना हो तो जिस दिन प्रातःकाल से ही) पौर्णमासी (का आरम्भ हो और) सन्ध्या तक रहे तभी उपवास करे ॥ २ ॥

रात्र्यह्नोः सन्धिः सन्ध्या–स्वार्थे[2] यत्प्रत्ययः ।
"अहोरात्रस्थ यः सन्धिः सूर्य्यनक्षत्रवर्जितः ।
सा च सन्ध्या समाख्याता मुनिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ॥"

इत्युक्तलक्षणा । सा खल्वियं परैव सन्ध्या गृह्यते इति वक्ष्यामः । यद्वा[3] सन्धिकालावच्छिन्नां, यस्यां किल पौर्णमास्यां सन्ध्यायामेव--(सवितुरस्तमयसमकालमेव) पूर्णश्चन्द्रमाः समुदेति सा पौर्णमासी सन्ध्येत्युच्यते। तामिमां प्राप्य–तस्यामुपवासं कुर्यादित्यर्थः । उपवासः खल्वयमुपावृत्तस्य पापेभ्यो गुणैः सह वासो वक्ष्यमाणोपवसथानुष्ठानं यथोक्तकारालश्चाभोजनमुच्यते । न पुनरहोरात्रमभोजनम् । "औपवसथिकं दम्पती भुञ्जीयाताम्" (सूत्र १।५।२७) इति तदहर्भोजनोपदेशात् ।

---

१. ततश्च यथा पूर्वत्र विकल्पो जुहुयाद्वा हावयेद्वेति एवमिहापीति बोध्यम् ।

२. "तद्धिताः" (पा० ४।१।७६) इत्यधिकारसूत्रे बहुवचनमनुक्तानामिन्नूटिकन्यदादीनामपि विधानायेति व्यक्तं मनोरमादौ ।

३. पूर्वव्याख्यायां लक्षणामपेक्ष्यावच्छेदकत्वलक्षणविषयसप्तम्यन्ताद्भवार्थे (पा० ४।३।११०) यदत्रकल्पे साधीयान्प्रति भाति । इष्टश्चायमवच्छेदकत्वलक्षणसप्तम्यर्थः। "गृहीत्वा चास्य केशेष्वि–"त्यादिषु ॥ (मा० पु० दे० मा०)

"उपावृत्तस्य पापेभ्यो यस्तु वासो गुणैः सह ।
उपवासः स विज्ञेयो न शरीरस्य शोषणम्" ।। इति च स्मरणम् ।

एके पुनः "उपास्मिन् श्वो यक्ष्यमाणा देवा वसन्ति एवं विद्वानग्निमुपस्तृणाति" इति तैत्तिरीयब्राह्मणं पश्यन्तः "उपवासोऽग्न्याधानम्" इति वर्णयन्ति । तदप्यादरणीयम् "पूर्वेद्युरग्निं गृह्णाति उत्तरमहर्देवतां यजते" इत्येवमादिशास्त्रादप्येतदवगमात् ।। २ ।।

उत्तरामित्येके ॥ ३ ॥

किसी अन्य आचार्य का मत है कि उत्तरा पौर्णमासी (अर्थात् जिस दिन चतुर्दशी होकर सूर्यास्त तक अथवा उसके पश्चात् तक पूर्णिमा हो = अनुदया तिथि) में उपवास करे ।। ३ ।।

सरला०—तामुत्तरां प्रतिपदमुपवसेत् इति वर्त्तते । इत्येवमेके शासिन आहुः । इति स्वमतव्युदासार्थं परशाखाप्रदर्शनार्थं वा, एवमेके मन्यन्ते न गोभिल इत्यर्थः ।। ३ ।।

मृदुला०——सन्ध्यां पौर्णमासीमनुपोष्य पौर्णमासीमुपवसेत् सखण्डामपीत्येक आचार्या मन्यन्ते । अपरे पुनरुत्तरान् पौर्णमासीतः, प्रतिपदमुपवसेत् इति मन्यन्ते । न वयमेवं ब्रूम इत्यर्थः । तथाच रौरकीये ब्राह्मणम्——द्वे ह पौर्णमास्यौ द्वे अमावास्ये, तस्मात् प्रतिपद्युपवसन् यजेतापरेद्युः" इति । तस्मात्परशाखिकोऽयं पक्षः कौथुमीयो न भवति ।। ३ ।।

अत्र "त्रयः पौर्णमासीकाला भवन्ति" इत्यत्र पौर्णमासीकथायाः सम्भाविनं प्रसङ्गमपर्यवस्यन्नेवामावास्यायाः खल्विदानीं व्यवस्थोच्यते——

अथ–यदहश्चन्द्रमा न दृश्येतताममावास्याम् ॥ ४ ॥

[उभयत्र अमावस्या न मिलने पर]

जिस दिन चन्द्र दर्शन की कोई सम्भावना न हो (अर्थात् सूर्योदय काल में अमावस्या हो अथवा बाद में प्रतिपद हो) उसी दिन अमावस्या का उपवास करना चाहिए ।। ४ ।।

विमर्श—इस प्रकार जिस दिन चतुर्दशी के बाद अमावस्या हो उसे 'गताध्वा' कहते हैं, उसमें उपवास निषिद्ध है । वस्तुतः फल तो है पूर्णिमा और अमावस्या के उपवास में । अतः दोनों में ही उदया तिथि ग्राह्य है । इस प्रकार पूर्वपक्ष याग की प्रतिपद् और अपर पक्ष याग की प्रतिपत् को सूर्योदय में जिस दिन जो तिथि है वह ग्राह्य है ।। ४ ।।

अथ–उभयत्रामावास्यालाभे यदहः यस्मिन्नहनि चन्द्रमा न दृश्येत नावलोक्येत। ताममावास्यामुपवसेदित्यनुवर्त्तते। सा खल्वियं कुहूरुच्यते इति सैवोपवस्तव्या न सिनीवाली। तस्यां खल्ववलोक्यते प्रातश्चन्द्रमाः। तस्मान्नात्र क्षयलक्षणा। तदिदं सूत्रं वर्द्धमानाभिप्रायम्। कात्यायनोऽप्याह––

"वर्द्धमानाममावास्यां लक्षयेदपरेऽहनि।
यामांस्त्रीनधिकान्वापि पितृयज्ञस्ततो भवेत्॥' इति॥ ४॥

कस्याश्चिदमावास्यायाः कस्याश्चिच्च पौर्णमास्या उपवासव्यवस्थामभिधाय अथेदानीन्दर्शपौर्णमासयोः कश्चिन्नियमः पौर्णमास्यममावास्ययोश्च स्वरूपं वक्तव्यमित्युत्तरो ग्रन्थ आरभ्यते–अथ, तत्र––

कस्मात्पुनः कारणात् पौर्णमास्याममावास्यायाश्चोपवासी व्यवस्थाप्यते? न पुनश्चतुर्दश्यामुपोष्य तयोरेवेज्यते[1] इत्यस्यां जिज्ञासायामिदं सूत्रमारभ्यते।

पक्षान्ता उपवस्तव्याः पक्षादयोऽभियष्टव्याः॥ ५॥

(जब तक जीवन रहे, प्रत्येक मास के) पक्षान्त में [अर्थात् अमावस्या और पूर्णिमा में] उपवास करे और प्रत्येक मास के पक्ष के आरम्भ होने पर [अर्थात् कृष्ण पक्ष और शुक्ल पक्ष की प्रतिपद तिथियों में] याग करे॥ ५॥

सरला०––यावज्जीव सर्वेषामेव मासानां 'पक्षान्ताः' अमावास्याः पूर्णिमाश्च 'उपवस्तव्याः' तासु उपवासः कार्यः। किञ्च 'पक्षादयः' कृष्णानां शुक्लानाञ्च सर्वेषामेव पक्षाणामादिभूताः प्रतिपदः 'अभियष्टव्याः', तासु वक्ष्यमाणलक्षणो योगः कार्यः॥ ५॥

मृदुला०––पक्षोऽर्द्धमासः। स च शुक्लकृष्णभेदाद् द्विविधः। तदन्ता तिथिश्च द्वयी पौर्णमासी अमावास्या च। बहुवचनं व्यक्तिभेदाभिप्रायम्। तदयमर्थः–पक्षाणामन्ता अवसानतिथय उपवस्तव्याः। पक्षाणामादयः प्रतिपदश्च अभियष्टव्याः आभिमुख्येन यष्टव्या इति। अस्मादपि कारणात् पौर्णमासीमुपवसेन्नोत्तरामित्यवधार्यते॥ ५॥

आमावास्येन हविषा पूर्वपक्षमभियजते पौर्णमासेनापर पक्षम्॥६॥

अमावस्या को उपवास करके शुक्ल पक्ष की प्रतिपद को जो 'याग' किया

---

१. तथा चामरः "सा दृष्टेन्दुः सिनीवाली सानष्टेन्दुकला कुहूः" इति। सा अमावस्या। अमा–सह–वसतश्चन्द्रार्कौ यस्यां सा। अमोपपदाद्वसेरधिकरणे ण्यत्। वृद्धौ सत्यां पाक्षिको ह्रस्वश्च निपात्यते इति "अमावस्यदन्यतरस्याम्" (पा० ३।१।१२) इति सूत्रे वृत्तिकृतः प्राहुः॥

जाएगा वह याग सम्पूर्ण शुक्ल पक्ष में व्याप्त याग किया हुआ स्वीकार किया जायगा, और पूर्णिमा में उपवास करके कृष्णपक्ष की प्रतिपद् में जो याग किया जाएगा वह याग सम्पूर्ण कृष्ण पक्ष में व्याप्त याग किया हुआ माना जाएगा ।। ६ ।।

अमावास्यायाय्यँदुपक्लृप्तं हविस्तदामावास्यम् इत्युच्यते । तेनामावास्येन हविषा पूर्वपक्षं शुक्लपक्षमभियजते । पौर्णमासेन पौर्णमास्यामुपक्लृप्तेन हविषा अपरपक्षं कृष्णपक्षम् अभियजत इत्यनुषज्यते । पूर्वपक्षप्रतिपदिष्टया कृत्स्न एव पूर्वः पक्ष इष्टो भवति । अपरपक्षप्रतिपदिष्टया च कृत्स्नोऽपरपक्ष इत्यभिप्रायः । न खलु पक्षमभिव्याप्येष्टिराम्नायते तस्माद्यथोक्त एवार्थः ।। ६ ।।

अथ केयं पौर्णमासी का वाऽमावास्या ? तदुच्यते--

यः परमो विप्रकर्षः सूर्याचन्द्रमसोः सा पौर्णमासी यः परमः सङ्कर्षः साऽमावास्या ॥ ७ ॥

सूर्य और चन्द्रमा (दोनों ग्रहों) का जो तिथि में परम विकर्ष है (अर्थात् सप्तम राशि में स्थित होने से अति दूर में अवस्थिति होती है) उस तिथि को 'पौर्णमासी' कहते हैं, और जिस तिथि में इन (दोनों ग्रहों) का परम संकर्ष है (अर्थात् अत्यन्त निकट का सान्निध्य है) उस तिथि को 'अमावास्या' कहते हैं ।।७।।

यः परमो महान् विप्रकर्षो व्यवधानं सप्तमराश्यवस्थानं सूर्याचन्द्रमसोः सा पौर्णमासी पूर्णिमा--इत्येकोऽर्थः । सा इति विधेयपौर्णमास्यपेक्षया स्त्रीत्वम् । यः खलु परमः सङ्कर्षः सन्निकर्षः । एकराश्यवच्छेदेनैकांशावस्थानं सूर्याचन्द्रमसोः सा अमावास्या दर्शः सूर्येन्दुसङ्गम इत्यनर्थान्तरम् ।। ७ ।।

एवं प्रासङ्गिकाङ्कथामवसाय प्रकृतामेवामावास्याव्यवस्थामाह—

यदहस्त्वेव चन्द्रमा न दृश्येत,ताममावास्यां कुर्वीत ॥ ८ ॥

न दृश्येत न दर्शनं सम्भाव्येत, आगमबलात् क्षीण इत्यवगम्येत, ताममावास्यां कुर्वीत । तुशब्दश्चशब्दार्थः समुच्चये । एवशब्दोऽवधारणार्थः । उपवासमन्यच्च यद्विहितम् "अमावास्यायां तच्छ्राद्धमितरदन्वाहार्य्यम्" इति । तदपि तस्यामेव कुर्वीतेत्येवमवध्रियते । तदनेन उपवासपिण्डपितृयज्ञान्वाहार्य्यश्राद्धानामेकस्मिन्काले कर्त्तव्यत्वमवगम्यते । अत एव कात्यायनोऽमीभिरेव वचनैः श्राद्धमपि व्यवस्थापयाञ्चकार ॥ तदिदं क्षीणामावास्याऽभिप्रायं सूत्रम् । क्षयश्चात्र लक्ष्यते । अतो "यदहश्चन्द्रमा न दृश्येत ताममावास्याम्" (सूत्र. १.५.४) इत्यनेन सूत्रेण न पौनरुक्त्यम् । तत्र खल्ववलो-

कनाभावोऽर्थः, वर्द्धमानाभिप्रायश्च वचनम्। इत्यवोचाम। तदाह कात्यायनः—

"पिण्डान्वाहार्य्यकं श्राद्धं क्षीणे राजनि शस्यते।
वासरस्य तृतीयांशे नातिसन्ध्यासमीपतः॥
यदा चतुर्द्दशी यामं तुरीयमनुपूरयेत्।
अमावास्या [क्षीयमाणा तदैव श्राद्धमिष्यते॥
यदुक्तं यदहस्त्वेवं दर्शनं नैति चन्द्रमाः।
तत्क्षयापेक्षया ज्ञेयं क्षीणे राजनि चेत्यपि॥ इति।

तथा च श्रूयते—"अपराह्णे ददाति तस्मिन् क्षीणे ददाति" इति। "एष वै सोमो राजा देवानामन्नं यच्चन्द्रमाः। स एतां रात्रिं क्षीयते तस्मिन्क्षीणे ददाति" इति च **शतपथीये**॥ ८॥

यस्माच्चतुर्दश्यामपि चन्द्रमाः क्षीयते—तस्मात्—

दृश्यमानेऽप्येकदा गताध्वा भवतीति॥ ९॥

जिस दिन की (रात्रि में) चन्द्र न दिखाई पड़े उसी तिथि को 'अमावास्या' स्वीकार करना चाहिए (यह सामान्य नियम है किन्तु) कुछ क्षण के लिए चन्द्रदर्शन की सम्भावना यदि हो तो उसे 'गताध्वा' [प्राप्तपथा अमावास्या] कहते हैं।

विमर्श—यह आरब्धगति वाली आमावास्या है जिसमें सूर्योदय से लेकर सन्ध्या तक चतुर्दशी हो और रात्रि में अमावास्या हो। इस प्रकार से दो प्रकार की अमावास्या हुई॥ ८–९॥

दृश्यमानेऽपि चन्द्रे। तदिदं चतुर्दशीमभिप्रेत्य वचनम्। अस्यापि खल्वमावास्याविषयत्वे पूर्वेणैव सूत्रेण सिनीवाल्या विधानादर्थत एव तत्र प्रातश्चन्द्रमसोर्दर्शनस्य प्राप्तत्वादनुवादापत्तेः। एकदा—एकस्मिन्काले। यदा खलु विप्रकृष्टायाममावास्यायामपेक्ष्यमाणायां सन्ध्यासमीपमुहूर्त्तं स्यात्तदैव न सर्वदा इत्यर्थः। गताध्वा—गतः प्राप्तो देवपितृलोकप्रापणाय अध्वामार्गः अनया सेयं गताध्वा प्रशस्ता भवति चतुर्दश्यपि। तदाह कात्यायनः—

"यच्चोक्तं दृश्यमानेऽपि तच्चतुर्दश्यपेक्षया।
अमावास्यां प्रतीक्षेत तदन्ते वापि निर्वपेत्॥" इति।

अत एव—

"दर्शस्तत्र निमित्तं वै कालश्चन्द्रक्षयात्मकः।"

इति क्षीणामावास्याविषयं स्मरणम् । इतिरमावास्याव्यवस्थोपसंहारार्थः ॥ ९ ॥

एवममावास्याकथामवसाय पर्यवसितां पौर्णमासीकथामनुवर्त्तयति–

त्रयः पौर्णमासीकाला भवन्ति, सन्ध्यावाऽस्तमितोदया वोच्चैर्वा ॥१०॥

पूर्णिमा तीन प्रकार की होती है—सन्ध्या, अस्तमितोदया और उच्चैः ।

विशेष—[सामान्यतः] जिस दिन पूर्णचन्द्र होता है वह 'पूर्णिमा' कही जाती है। किन्तु १. 'सन्ध्या-पूर्णिमा' वह होती है [जिसमें प्रातःकालीन सन्ध्या के समय या उससे पूर्व रात्रि में पूर्णिमा होती है]।

२. 'अस्तमितोदया पूर्णिमा' वह है। [जिसमें सूर्यास्त काल में चतुर्दशी और उसके बाद रात्रि में पूर्णिमा होती है] ॥ १० ॥

सरला—१. 'पौर्णमासी कालाः' त्रयः भवन्ति । २. सूर्योदयात् तत्पूर्वतो वा पूर्णिमा यत्र सा 'सान्ध्य-पौर्णमासी' । २. सूर्यास्तमितेन साकमेव पूर्णोदयो दृश्येत चेत् सा 'अस्तमितोदिता-पौर्णमासी' । ३. सूर्यास्तात् उच्चैः ऊर्द्ध्वं रात्रौ पूर्णश्चेत् चन्द्रः, सैव 'उच्चैः पौर्णमासी' ॥ १० ॥

मृदुला०—त्रयः–त्रिसंख्याका एव । ते खल्विमे विभज्य प्रदर्श्यन्ते–सन्ध्या वेति । सन्ध्या तावदुक्तलक्षणा सा वा । अस्तमितोदिता वा । अस्तमिते सवितरि चन्द्रमा उदितो यस्यां सेयमस्तमितोदिता सा वा । उच्चैर्वा । यस्यामुच्चैः स्थिते कलाहीने समुदिते चन्द्रमसि पश्चात्सवितुरस्तमयः स्यात् सेयमुच्चैः पूर्णमास्युच्यते । सा वा इयं किल चतुर्द्दशीमिश्रा भवति । पुराणेऽपीत्थमेव पौर्णमासीप्रकारा वर्णिताः—

"राका चानुमती चैव द्विविधा पूर्णिमा मता ।
पूर्वोदितकलाहीने पौर्णमास्या निशाकरे ॥

पूर्णिमाऽनुमती ज्ञेया पश्चास्तमितभास्करे ।
यस्मात्तामनुमन्यन्ते देवताः पितृभिः सह ॥
तस्मादनुमती नाम पूर्णिमा प्रथमा स्मृता ।
यदाचास्तमिते सूर्य्ये पूर्णचन्द्रस्य चोद्गमः ॥

युगपत्, सोत्तरा रागात्तदानुमति पूर्णिमा ।
राकान्तामनुमन्यन्ते देवताः पितृभिः सह ॥
रञ्जनाच्चैव चन्द्रस्य राकेति कवयोऽब्रुवन् ॥ इति ।

पश्चास्तमितेति पृषोदरादित्वात् (पा० ६।३।१०९) साधुः । यद्वा "पश्चपश्चा च छन्दसि" (पा० ५।३।३३) इति निपातितस्यात्रार्षे वचसि

प्रयोगः । कलाहीने निशाकरे पूर्वमुदिते सति यत्र भास्करोऽस्तमेति सेयमनुमती नाम पूर्णिमोच्यते । इयम्–"उच्चैः" इति सूत्रिता । अस्तमिते सूर्य्ये चन्द्रस्योद्गमः, युगपच्च सूर्य्यस्यास्तमयः पूर्णचन्द्रस्योद्गमश्च, इति द्वयी राका भवति । अत्राद्या अस्तमितोदिता । द्वितीया सन्ध्येत्यस्मदीयं दर्शनम् । एतस्माल्लिङ्गात् । सन्ध्या पौर्णमासी अपि अस्तमयसन्ध्यासम्बन्धिनी गृह्यते न पुनरुदयसन्ध्यासम्बन्धिन्यपि इति युक्तम् । सेयमभिद्यमानेऽप्यर्थे भिन्नयोराचार्य्ययोर्भिन्नरीतिरित्यनवद्यम् ॥ (इति चन्द्रकान्तभाष्यम्) ॥१०॥

उच्चैः पौर्णमासी तावच्चतुर्दशीमिश्रा भवति, सेयमुदयदिनगामिनी । कतरा पुनरत्रोपोष्या ? तत्राह––

अथ यदहः पूर्णो भवति ॥ ११ ॥

३. 'ऊच्चैः पूर्णिमा' वह है जिसमें [सूर्यास्त के बाद चतुर्दशी को छोड़कर] पूर्णिमा बहुत रात्रि तक रहती है ॥ ११ ॥

अथेत्यनन्तरायामुच्चैः पौर्णमास्याम् एष एव विधिरिति दर्शयति । अथ शब्द सूत्रभेदप्रज्ञापनार्थः । अन्यथा पूर्वेण सूत्रेणास्यैकसूत्रता स्यात् । "उच्चैर्वा यदहः पूर्णो भवति" इत्येके वर्णयन्ति । यदहर्यस्मिन्नहनि पूर्णः–– सकलकलोपचयादखण्डमण्डलश्चन्द्रमा भवति । तामुपवसेदित्यर्थः ॥ ११ ॥

कदा पुनरेवं भूतश्चन्द्रमा भवति ? कः खलु ज्ञानोपायोऽस्यार्थस्येत्याकाङ्क्षायामाह––

पृथगेवैतस्य ज्ञानस्याध्यायो भवति, अधीयीत वा तद्विद्भ्यो वा पर्वागमयेत् ॥ १२ ॥

इस [ग्रह और नक्षत्र के काल आदि] के ज्ञान के लिए अलग से ही पाठ्य ग्रन्थ [ज्योतिषाशास्त्र] हैं । या तो इस शास्त्र का भली-भाँति अध्ययन करे अथवा सामान्य रूप से इसके मुख्य अंश को जान लेवें ॥ १२ ॥

पृथक् अन्य एव एतस्य पूर्वविवक्षितस्य उपायभूतो ज्ञानस्य अध्यायः अधीयत इत्यध्यायो ग्रन्थः । नित्यमधिपूर्वका "दिङध्यन" (अ० आ०) इत्यस्मात्कर्म्मणि घञ् (पा० ३।३।१२२) वृद्धिः भवति । तमधीयीत स्वयं पठेत् । वा अथवा तज्ज्ञानं ये विदन्ति त इमे तद्विदो–ज्योतिश्शास्त्रविदः । तेभ्यः सकाशादेव[1] । पर्व–दर्शपौर्णमासाख्यमागमयेत् । सम्यग् मर्यादया जानीयात् । कस्मिन्काले चन्द्रमाः क्षीयते ? इति । तत्र क्षयकालः कात्यायनेनैव तत आकृष्य दर्शितः––

१. वा–शब्द एवार्थे ।

"अष्टमांसे चतुर्द्दश्याः क्षीणो भवति चन्द्रमाः ।
अमावास्याऽष्टमांसे च ततः किल भवेदणुः ॥" इति ।

पूर्णताकालः परमस्माभिर्वक्तुमवशिष्यते । पञ्चदश्यां मुहूर्ते चन्द्रमाः सकलकलोपचयादखण्डमण्डलो भवति--इति ज्योतिर्विदः कथयन्ति । श्लोकमप्युदाहरन्ति--

"पञ्चदश्यां पञ्चदशे मुहूर्त्ते चन्द्रमण्डलम् ।
तथा भवति, तद्वक्त्रं सदा तव नृपोत्तम[1] !" ॥

स्मरन्ति च--

"राकामध्यगतश्चन्द्रः पूर्ण इत्यभिधीयते" इति ।

कालवशात्पुनरेतस्याप्यन्यथात्वं जातम् । युगपरिवृत्त्या किल कारणभेदो-गणितागतवस्तुषु भवति-इति सौरागमादिषु व्युत्पादितम् । अत एव ततः पराचीनेन ज्योतिश्शास्त्रविदा भास्कराचार्येण सिद्धान्तशिरोमणावुक्तम्--

"कक्षाचतुर्थस्तरणेर्हि चन्द्रः कर्णान्तरे तिर्य्यगिनो यतोऽब्जात् ।
पादोनषट्काष्ठलवान्तरेऽतोदलं नृदृश्यस्य दलस्य शुक्लम्" ॥ इति ॥१२॥

अथ यदहरुपवसथो भवति तदहः पूर्वाह्ण एव प्रातराहुतिं हुत्वै-तदग्नेः स्थण्डिलं गोमयेन समन्तं पर्युपलिम्पति ॥ १३ ॥

इस [काल निर्णय] के बाद [अब उपवास के दिन के कर्त्तव्य आदि का उपदेश करते हैं—] जिस दिन उपवास कर्त्तव्य हो, उस दिन के पूर्वार्द्ध में अग्निहोत्र की प्रातः काल की आहुति आदि समाप्त करके पहले गोबर से अग्निगृह को अच्छी प्रकार से लीपे ॥ १३ ॥

अथेति पूर्वप्रकृतार्थम् । पूर्वप्रकृते यदहः यस्मिन्नहनि उपवसथो भवति । तदहस्तस्मिन्नहनि प्रातराहुतिं पूर्वाह्ण एव अग्नेः । एतद्-अधिकृतं[2] स्थण्डि-लम्--अग्न्यगारं गोमयेन (सोदकेन) समन्तं चतुरस्रं परि-सर्वतोभावेन ।

---

१. केनचिज्ज्योतिःशास्त्रकुशलेन कश्चिद्राजैवमुपश्लोकितः ।

२. एतस्य अधिकृतस्य (प्रातराहुत्यादिसाधनस्य) वा अग्नेः स्थण्डिलम् । एतदिति रसवतीनिरासार्थम् । तत्खल्वस्य द्वितीयमग्न्यगारम् । स्थण्डिलग्रहणं लौहादिभाण्डस्थे अग्नौ होमनिषेधार्थम् । अत्रैतदादि (पर्युपलेपनादि) । दर्शकर्त्तव्यतयोपन्यस्तानि कर्माणि तत्रैतदाद्यम् । अथेध्मानिति द्वितीयम् । कुशासादनं तृतीयम्, तत्र पित्रर्थं विशेषितञ्चतुर्थम् । आज्यासादनं पञ्चमम् । हविः सम्पादनं षष्ठम् । चरुस्थालीसम्पादनं सप्तमम् । मेक्षणासादनमष्टमम् । स्रुवसम्पादनं नवमम् ।अवाहरणं दशमम् । इति ।

उपलिम्पति उपलिम्पेत् । पूर्वाह्ण एव उपलिम्पतीति सम्बन्धादेवकाराच्च पूर्वाह्ण एव उपवसथं दर्शयन्ति चतुर्द्दश्यामपि । अन्यथा "प्रागावर्त्तनादह्न" (१।१।३) इति सिद्धत्वादनुवादापत्तेः । अतएव पूर्वाह्ण एव प्रातराहुतिं हुत्वा इत्यपि न वर्ण्यंते । सिद्धायामपि प्रातराहुतौ प्रातराहुतिं हुत्वेति वचनमौपवसथिकेऽहनि स्वयं होमकरणसूचनार्थम् । हुत्वा पर्युपलिम्पतीति होमपर्युपलेपनयोरेककर्तृत्वाऽवगमात् । स्वयङ्करणोपदेशो हि फलविशेषार्थः । अत्र स्वयं होमे कृते सर्वदैव स्वयं कृतं भवति । तथा च ब्राह्मणम्—

"एते वै रात्री सर्वा रात्रयः समवयन्ति । या आपूर्यमाणपक्षस्य रात्रयस्ताः सर्वाः पौर्णमासीं समवयन्ति । या अपक्षीयमाणपक्षस्य रात्रयस्ताः सर्वाः अमावस्यां समवयन्ति । स यो ह वै विद्वान्स्वयमुपवसथञ्जुहोति सर्वदा हैवास्य स्वयं कृतं भवति" इति ॥ १३ ॥

अथेध्मानुपकल्पयते, खादिरान्यान्पालाशान्वा ॥ १४ ॥

इसके बाद खदिर (खैर) या पलाश का इन्धन इकट्ठा करे ॥ १४ ॥

अथानन्तर श्वो यागार्थम् । इध्मान्—समिधः—

"प्रादेशद्वयमिध्मस्य प्रमाणं परिकीर्त्तितम् ।
एवं विधाः स्युरेवेह समिधः सर्वकर्म्मसु ॥
समिधोऽष्टादशेध्मस्य प्रवदन्ति मनीषिणः ।
दर्शे च पौर्णमासे च क्रियास्वन्यासु विंशतिम् ॥"

इति कर्म्मप्रदीपोक्तलक्षणसंख्याकाः । उपकल्पयते—उपसमीपेऽर्थादग्नेः । कल्पयते—आसादयेदित्यर्थः । इध्मान् विशिनष्टि—खदिरान्—खादिरमयान्[1] । पालाशान् । खदिरपलाशौ प्रसिद्धौ । वाशब्दद्वयं तुल्यवद्विकल्पार्थम् ॥१४॥

खादिर-पालाशालाभे-विभीतक-तिल्वक-बाधक-नीप-निम्ब-राजवृक्ष-शाल्मल्य-ऽलरु (रलु)-दधित्थ-कोविदार-श्लेष्मातक-वर्जꣳसर्ववनस्पतीनामिध्मो यथार्थꣳ स्यात् ॥ १५ ॥

यदि खदिर या पलाश के इन्धन न मिलें तो बहेड़ा, लोध, बाधक (?), कदम्ब, निम्ब, राजवृक्ष, सेमर, अग्लु (?) दधित्थ (?) कोविदार और श्लेष्मातक इन ग्यारह को छोड़कर अन्य कोई भी लकड़ी यज्ञ कर्म में इन्धन हो सकती है ॥ १६ ॥

खादिर—पलाशयोरलाभेऽसम्भवे विभीतकादिवर्ज्जम् अन्येषां—वनस्पती-

---

१. अवयवार्थेऽत्र मयट् । (४।३।१२५) ।

नायश्वत्थप्रभृतीनामिध्मोयथार्थं यथा प्रयोजनं ग्रहणीयः स्यात् । आसादनीयो भवति । तदलाभे—इत्यनभिधाय खादिरपालाशालाभे इति जात्या द्रव्यमुपलक्षयन्नाचार्यस्तयोरलाभ एव सर्ववनस्पतीनामुपादानान्न तु तत्प्रतिनिधेरप्यलाभ इति दर्शयति । विभीतकादयो वृक्षजातिविशेषाः[1] ॥ १५ ॥

विशाखानि प्रति लूनाः कुशा बर्हिः ॥ १६ ॥

फिर [देवकार्य के लिए] स्कन्ध से छिन्न कुछ कुश का सग्रह करे ॥ १६ ॥

विशाखानि—विकृष्टाः पृथग्भूताः शाखाः पत्राणि येभ्यः स्थानेभ्यस्तानि विशाखानि । कुशस्कन्धप्रदेशाः । तानि प्रति—लक्षीकृत्य लूनाश्छिन्ना समूलाः[2] कुशा बर्हिः । बर्हिस्तरणार्थमासादयितव्या इत्यर्थः । बर्हि संज्ञका इति वा व्याख्येयम् । तदत्र विधेयप्राधान्यविवक्षया एकवचनं द्रष्टव्यम् । बर्हिष इति बहुवचनमेव शूलपाण्युपाध्यायाः पठन्ति तदा व्यक्त एवार्थः[3] ॥ १६ ॥

उपमूललूनाः पितृभ्यः ॥ १७ ॥

पितृ कार्य (श्राद्धादि कर्म) के लिए मूल से छिन्न कुछ कुशाओं का ग्रहण करे ॥ १७ ॥

सरला—मूलसमीपप्रदेशेषु ये लूनास्ते उपमूललूनाः, तान् पित्र्ये कर्मणि उपकल्पयेदिति शेषः ॥ १७ ॥

मृदुला०—उपमूले—मूलसमीपदेशे लूना—श्छिन्नाः कुशाः पितृभ्यः पितृकर्म्मार्थमासादयितव्या इति प्रसङ्गादिहोच्यते । ते खल्विमे मूलसमीपेऽप्यधोभाग एव लवितव्या नोर्ध्वभागे ।

"हरिता यज्ञिया दर्भाः पीतकाः पाकयज्ञियाः ।
समूलाः पितृदेवत्याः कल्माषा वैश्वदेविकाः ॥"

इति कर्म्मप्रदीपे समूलत्वोपदेशात् । कल्माषाश्चित्राः । "चित्रं किर्म्मीरकल्माषशबलैताश्च कर्बुरे" इत्यमरः ॥ १७ ॥

---

१. तत्र विभीतको—बहेडा—इति प्रसिद्धः। लिल्वको लोध्रः । बाधकस्तन्नाम्नैवोदीच्ये प्रसिद्धः । नीपः कदम्बः । निम्बः प्रसिद्धः । राजवृक्षो—'अमलतास' इति नाम्ना प्रसिद्धः । शाल्मली 'सीमर' नाम्ना प्रसिद्धः । आलुः—'सोनपत'—'सोनपाठा' एव नामा । दधित्थः कपित्थः (कैथ) कोविदारः 'कचनार' नाम्ना प्रसिद्धः । श्लेष्मातको बहुवारकः 'बहुआर' शब्देन प्रसिद्धः ।

२. अनन्तरसूत्रे उपमूललूनानां पित्र्यर्थत्वाभिधानात् ।

३. एतद्व्याख्याने पत्रत्रयात्मके एकस्मिन् कुश एव बर्हिःपदप्रयोगः ।
'बर्हिः कुशाग्न्योर्गदितः' इति कोशोऽपीममर्थं पुष्णाति ॥

तेषामलाभे-शूकतृण-शर-शीर्य्य-बल्वज-मुतव, नल-लुण्ठ (शुण्ठ)वर्जं सर्वतृणानि ॥ १८ ॥

उन [यथोपदिष्ट कुशाओं] की यदि प्राप्ति न हो सके तो शूक, तृण, शर, शीर्य, बल्वज, मुतवन और ललुण्ठ (?)—इन सात को छोड़कर अन्य कोई भी तृण यज्ञ कर्म में ग्राह्य है ॥ १८ ॥

तेषां यथोद्दिष्टानां कुशानामलाभे शूकतृणादिवर्जं सर्वतृणानि बर्हिषस्तरणार्थमासादयितव्यानि । बर्हिः संज्ञकानि वा भवन्ति । तैः कुशार्थः कर्त्तव्य इत्यर्थः । शूकतृणं-शूकमुक्तं तृणं, शूकानि फलपुष्पमञ्जर्यः । यद्वा-शूकतृणं यवगोधूमादिः । [1]शरादयस्तृणजातिविशेषाः ॥ १८ ॥

आज्यं स्थालीपाकीयान्व्रीहीन् वा यवान्वा चरुस्थालीं—मेक्षणम् अनुगुप्ताअप इति ॥ १९ ॥

घृत, स्थाली-पाक (पात्र) में पाक के उपयुक्त कतिपय धान्य या यव, चरुस्थाली (पाक पात्र), मेक्षण, स्रुव एवं सुरक्षित जल-इन सबको लाकर अग्निगृह में रक्खे ॥ १९ ॥

अत्र प्रतिपदं कल्पते । इति सम्बध्यते । स्थालीपाकीयान्–स्थालीपाकसमर्थान् । यावद्भिः स्थालीपाको निर्वहति तावतो व्रीहीन्वा यवान्वोपकल्पयते । चरुस्थालीम् उक्तलक्षणाम् । मेक्षणम्—

"इध्मजातीयमिध्मार्द्धप्रमाणं[2] मेक्षणं भवेत् ।
वृत्तश्चाङ्गुष्ठपृथ्वग्रमबदानक्रियाक्षमम् ॥
एषैव दर्वी यस्तत्र विशेषस्तमहंब्रुवे ।
दर्वीद्व्यङ्गुलपृथ्वग्रा तुरीयोनन्तु मेक्षणम् ॥"

इति कर्म्मप्रदीपोक्तलक्षणम् । अनुगुप्ताः सुरक्षिताः । अपो जलानि । इति शब्द आद्यर्थः । अन्यदप्येवं भूतं दर्वीप्रभृतिकं सूचयति ॥ १९ ॥

---

१. तत्र 'शरस्तु–मुञ्जो वाणाख्योगुन्द्रस्तेजनकः सरः' इति वाचस्पत्याभिधानाद् दन्त्यादिरपि सरः । मुञ्जमध्यवर्ती 'शरकण्डा' इति प्रसिद्धः । शीर्य 'ओदाड' इति मिथिलाभाषायां प्रसिद्धः । बल्वजः 'सावय' इति प्रसिद्धः अयं बहुवचनान्ततयाऽमरे पठितः । 'एका बल्वध' इति महाभाष्यकारवचनादेकवचनान्तोऽपि ।

२. प्रादेशप्रमाणान् । स्पष्टमभिहितोऽयमर्थो गृह्यासङ्ग्रहे—
'प्रादेशमात्रं कुर्वीत मेक्षणं समिधस्तथा ।
इध्मः समानवृक्षाणां द्विप्रादेशप्रमाणतः ॥' इति ।

(अथ तद्दिनप्रतिपाद्यनियमानाह)

यानि चानुकल्पमुदाहरिष्यामः ॥ २० ॥

उस दिन कहे जाने वाले नियमों का भी पालन करना चाहिए ॥ २० ॥

यानि–तैलादीनि । अनुकल्पं स्वकल्पवस्त्वनुरूपम्[1] । घृतादि प्रतिनिधिभूतानीति यावत् । चशब्दात् यान्युलू(दू)खलादीन्युदाहरिष्यामः । तान्प्युपकल्पयते ॥ २० ॥

न तदहः प्रसृज्येत ॥ २१ ॥

उस दिन अपने गृह से दूर न जाय ॥ २१ ॥

तदहः—तस्मिन्नहनि न प्रसृज्येत । प्रकर्षेण (अत्यन्तं) सृज्येत[2] त्यजेत् "गृहम्" इति शेषः । सृजतिरिह त्यजतिकर्म्मा । तदनेनास्याधातुः प्रवासोऽत्र दिने निषिद्ध्यते । एष प्रथमो नियमः ॥ २१ ॥

दूरादपि गृहानभ्येयात् ॥ २२ ॥

दूरस्थ होने पर भी [स्वयं होम के सम्पादन के लिए] अपने घर को लौट आना चाहिए ॥ २२ ॥

तदहरिति वर्त्तते । अभ्येयात्–आगच्छेत् । स्वयं होतुं दूराद् दूरं गतोऽपि एष द्वितीयः । एवमग्रेऽपि वोध्यम् । गृहानिति बहुवचनं पुंस्येव[3] नियतं "गृहाः पुंसि च भूम्न्येव–" इत्यमरात् ॥ २२ ॥

अबहुवादी स्यात्[4] ॥ २३ ॥

[प्रयोजन से अधिक] बहुत न बोले ॥ २३ ॥

विमर्श—लौकिक बाणी में अधिक नहीं बोलना चाहिए किन्तु व्याख्यान में दोष नहीं है ॥ २३ ॥

बहुवदितुं शीलमस्येति बहुवादी तद्भिन्नोऽबहुवादी स्याद्भवेत्तदहरित्यनुवर्त्तते । ताच्छील्येऽत्र णिनिः । (पा० ३।२।७८) तेन [5]तत्स्वभावो वाचालो न स्यात् ॥ २३ ॥

---

१. सादृश्यरूपे यथाशब्दार्थेऽत्रानुशब्द इत्यव्ययीभावः समासः ।

२. अतिदूरं (यावद्गत्वाऽगन्तुन्तदहनि न शक्यते) न गच्छेदित्यर्थः ।

३. नित्यबहुवचनान्तो गृहशब्दः पुंस्येव भवतीत्यर्थः ।

४. क्वचित्पुस्तके इदं सूत्रमुत्तरसूत्रानन्तरं पठितम् ।

५. सततकरणं हि ताच्छील्यम् ।

अन्यतस्तु धनं क्रीणीयात् ॥ २४ ॥

दूसरे मनुष्य से वस्तुएँ खरीद ले, किन्तु बेचे नहीं ॥ २४ ॥

तदहरित्यनुवर्त्तते । अन्यतः सकाशाद्धनं द्रव्यं क्रीणीयान्न तु स्वयं विक्रीणीतान्यस्मै । तदत्र तुशब्दाभिन्नक्रमो द्रष्टव्यः ॥ २४ ॥

सत्यं विवदिषेत् ॥ २५ ॥

सत्य ही बोले ॥ २५ ॥

विमर्श—मन से भी असत्य बोलने को न सोंचे ॥ २६ ॥

ऋजुरक्षार्थः । वदेविति वक्तव्ये सनमिच्छार्थमन्तर्भावयन्मनसाऽप्यसत्यं वक्तुं नेच्छेदित्यभिप्रैति । तथाच श्रूयते "सत्य संहिता वै[1] देवा अनृतसंहिता मनुष्याः" इति (ऐ० ब्रा० ३।१।३) ॥ २५ ॥

अथाऽपराह्ण एवाप्लुत्यौपवसथिकं दम्पती भुञ्जीयातां यदेवैनयोः काम्यङ्स्यात् कुशलेन ॥ २६ ॥

॥ इति गोभिलीये गृह्यसूत्रे प्रथमप्रपाठकस्य पञ्चमीकण्डिका ॥ १ ॥ ५ ॥*॥



इसके बाद स्त्री-पुरुष दोनों ही अपराह्ण में स्नान कर उपवास के दिन के नियमानुसार जो इच्छा हो वही घी मिलाकर तृप्ति के साथ भोजन करें ॥ २६ ॥

विमर्श—यहाँ अपराह्ण शब्द का अर्थ रात्रिशेष दिन का पूर्व भाग समझना चाहिए ॥ २६ ॥

इस प्रकार गोभिलगृह्यसूत्र के पाँचवीं कण्डिका की डा० सुधाकर मालवीय कृत 'अनाकुला' नामक हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ ५ ॥



सरला—अथेत्यानन्तर्योर्थः, इध्माद्यासादनानन्तरम्, पूर्वाह्ण एवाऽऽप्लवनं स्नानं दर्शयति । तथा च मनुः—

मैत्रं प्रसाधनं स्नानं दन्तधावनमञ्जनम् ।
पूर्वाह्ण एव कुर्वीत देवतानाञ्च पूयनम् ॥ (मनु० ४. १५२)

---

१. तथाच 'देवो भूत्वा यजेद्देवानि-' इति स्मृतिरप्यनेनानुगृह्यते ।

भिन्न आदित्यस्तदुपस्थानं मैत्रम्। तथा देहप्रसाधनप्रातःस्नान-दन्तधावनाञ्जन-देवार्चनान्यपि पूर्वाह्ण एव कुर्यात्। पूर्वाह्णशब्देन रात्रिशेष-दिन पूर्वभागाविह विवक्षितौ।

॥ इति श्रीमद्गोभिलीयगृह्यसूत्रव्याख्यायां 'सरला'ख्यायां डॉ० सुधाकर मालवीय सङ्कलितायां प्रथमप्रपाठकस्य पञ्चमी कण्डिका ॥ १-५ ॥



अथ--इध्माद्याहरणानन्तरम्। आप्लुत्य-स्नात्वा। अपराह्ण एव। दम्पती भुञ्जीयाताम्। इति भिन्नक्रमेण योजनीयम्। पूर्वाह्ण एव स्नानस्याम्नानात्। तद्बाधे च कारणविशेषाभावात्।

तथा च स्मर्यते (मनु० ४. १५२)--

"मैत्रं प्रसाधनं स्नानं दन्तधावनमञ्जनम्।
पूर्वाह्ण एव कुर्वीत देवतानाञ्च पूजनम्॥" इति।
"चतुर्थे च तथा भागे स्नानार्थं मृदमाहरेत।
तिलपुष्पकुशादीनि स्नानं चाकृत्रिमे जले॥"

इति चैवमादि। "अपराह्णे व्रतोपायनमश्नीयात्[1]" इति च तन्त्रान्तरेऽपराह्ण एवानयोर्भोजनमुपदिश्यते। तस्माद्यथोक्त एवार्थः। अह्नोऽपरो-भागो[2]ऽपराह्णः। तत्रैव भुञ्जीयातामित्येकदैव भोजनमव नियम्यते। "सायम्प्रातर्द्विजातीनामशनं देवकल्पितम्"इति द्विर्भोजनस्य नैसर्गिकस्य पक्षप्राप्तत्वात्। किम्? औपवसथिकम्। उपवसथेनोपवासेन संसृष्टम् (पा० ४।४।२२) ठक्। ठस्येकः। आदिवृद्धिः। तत्राऽपि यदविरुद्धम्। यच्चैनयो-र्दम्पत्योः काम्यं-कमनीयं रुचितं स्याद्भवेत्। तदपि सर्पिमिश्रं स्यात्। यत्खलु कुशलेन सुखेन। "परिणमेदि"ति शेषः। एतदुक्तम्भवति। इत्थमौ-पवसथिकमल्पं भुञ्जीयातां यद्भुक्तमनयाः सुखेन परिणमति। न मनागपि शरीरवैषम्यमुत्पादयति। येन खल्वविघ्नेन श्वोयागः सम्पत्स्यत इति। किंतदौपवसथिकं तदाह-स्मृत्यन्तरम् (कात्या० संहिता २७. ६)--

"लवणं मधु मांसं च क्षारांशो येन भुज्यते।
उपवासे न भुञ्जीत नोरुरात्रौ च किञ्चन॥"

इति। अत्र-उरुरात्रावित्यधिकरात्रौ भोजननिषेधाद्दिवा दैवादभोजने रात्रेः प्रथमयामेऽपि भोजनं दर्शयति--

---

१. व्रतमुपेयते स्वीक्रियत अनेनेति-अयतेः करणे ल्युट् योरनः।
२. तृतीयः।

दिवोदितानि कर्म्माणि स्वकाले न कृतानि चेत् ।
शर्व्वर्याः प्रथमे यामे तानि कुर्यादतन्द्रितः ॥"

इति च स्मृत्यन्तरमिति चन्द्रकान्तः । वस्तुतस्तु अपराह्ण एवेत्यक्षरस्वारस्यादेकभक्तरूपस्यौपवसथिकाशनस्य स एव मुख्यः कालः । ततः सूर्यास्तपर्यन्तं गौणस्तथाच निर्णयसिन्धौ स्कान्दे—

"दिनार्द्धसमयेऽतीते भुज्यते नियमेन यत् ।
एकभक्तमिति प्राक्तमतस्तस्त्याद्दिवैव हि ॥" इति ।

दीपिकायान्तु—मध्याह्ना न्त्यदले त्रिभागसमये स्यादेकभक्तमि"त्युक्तम् ॥

॥ इति श्रीमद्गोभिलीयगृह्यसूत्रव्याख्यायां—'मृदुला' ख्यायां मुकुन्दशर्म्मसङ्कलितायां प्रथमप्रपाठकस्य पञ्चमी कण्डिका ॥ १ ॥ ५ ॥ ० ॥



अथ षष्ठी कण्डिका

अथौपवसथिकभोजननियमद्रढिम्ने ब्राह्मणमुदाहरति--

मानतन्तव्यो होवाचाहुता वा एतस्य मनुष्याहुतिर्भवति य औपवसथिकन्नाश्नाति ॥ १ ॥

*** अनाकुला ***

मानतन्तव्य नामक आचार्य का कथन है कि जो यजमान उपवास के दिन में उस दिन के विहित नियमानुसार यदि भोजन न करे तो उस मनुष्य के उपकार के लिए की हुई सम्पूर्ण याग क्रियाएं निष्फल हो जाती हैं ।। १ ।।

विमर्श—अतः यजमान को पूर्ण उपवास नहीं करना चाहिए। उसे कुछ खा लेना चाहिए ।। १ ।।

*** मृदुला ***

मानतन्तव्यो नामाचार्यः । ह्–किल–उवाच । किम् ? अहुता–हुतफल-रहिता वै–नियमेन एतस्य औपवसथिकमनश्नुवानस्य मनुष्याहुति–र्मनुष्यो-पकारार्था–आहुतिः सायम्प्रातर्होम–वैश्वदेवादि–लक्षणा भवति । सर्वोऽपि होमो निष्कलो भवतीत्यर्थः । मनुष्याहुतिः प्राणाग्निहोत्रलक्षणा वा । तथा च स्मर्यते--

"गृहस्थो ब्रह्मचारी च यस्त्वनश्नंस्तपश्चरेत् ।
प्राणाग्निहोत्रलोपेन अवकीर्णी भवेत्तु सः ।।" इति ।

"अनड्वान्ब्रह्मचारी च आहिताग्निश्च ते त्रयः ।
अश्नन्त एव सिद्ध्यन्ति नैषां सिद्धिरनश्नताम् ।।"

इति चैवमादि । एतस्येत्याचार्य्य एव विवृणोति य इत्यादि । नाश्नाति–न भुङ्क्ते ।। १ ।।

अनीश्वरो हि क्षोधुको भवति, अकाम्यो जनानाम् पापवसीयसी हास्य प्रजा भवती ॥ २ ॥

[प्रथम दिन में उपवास करने के कारण दूसरे दिन] क्षुधा से व्याकुल [और चञ्चल] होकर [याग क्रियाओं के सुसम्पादन में] असमर्थता होगी और सबको अप्रिय भी लगेगा तथा उसकी [पुत्र-पौत्र आदि] प्रजा भी पाप बुद्धि के वशीभूत होगी [अतएव यथेच्छ भोजन करके ही याग में प्रवृत्त होना चाहिए ।। २ ।।

क्षोधुकः क्षुधार्त्तः । अनीश्वरो–ऽकल्पः । (कर्म्मानर्हः) ह–किल भवति । अतृप्तः सदा भवतीत्यर्थः । अकाम्योऽकमनीयोऽस्पृहणीयोजनानां–लोकानां भवति । किञ्च--

पापवसीयसी पापशीला–ह–किल अस्य औपवसथिकमनश्नुवानस्य प्रजासन्ततिर्भवति । पापं प्रसिद्धम् । वसीयः पुण्यं तदुभयवत्यस्य प्रजा भवतीति वा वर्णनीयमिति चन्द्रकान्तभाष्यम् ॥ २ ॥

एवमनश्नुवानस्य दोषमभिधायाश्नुवानस्य गुणानाह--

य औपवसथिकं भुङ्क्ते ईश्वरो ह भवत्यक्षोधुकः काम्यो जनानां वसीयसी हास्य प्रजा भवति ॥ ३ ॥

[तात्पर्य यह है कि] जो [यजमान] उपवसथ नियम के अनुसार भोजन करता है वह अपने द्रव्य का स्वामी अर्थात् उपभोक्ता होता है। क्षुधार्त न होने से मन स्थिर रहता है और याग क्रिया सुसम्पादित होती है तथा सभी को प्रिय भी लगता है और अन्ततः उसके [पुत्र-पौत्रादि] प्रजा जन भी वश में रहते हैं। [अतः भोजन न करने में दोष ही दोष है] ॥ ३ ॥

वसीयसी कल्याणी पुण्यवतीत्यनर्थान्तरम्। सुस्थिता इति भट्टभाष्यम् । अपापवसीयसीति पाठे उक्तवैपरीत्येनार्थो निर्वक्तव्यः । स्पष्टमन्यत् ॥ ३ ॥

तस्माद्यत्कामयेतौपवसथिकम्भुञ्जीयाताम् ॥ ४ ॥

इसलिए [क्षुधायुक्त यजमान की निन्दा होने से] उसे उपवसथ के नियम के अनुसार यथेच्छ भोजन करना चाहिए ॥ ४ ॥

यस्मादनश्नुवानस्यैते दोषा, अश्नुवानस्य चैते गुणा भवन्ति, तस्मात् यत् औपवसथिकमुपवासानुरूपं सुहितं कामयेत् गृहपतिः । तद् उभावपि दम्पती भुञ्जीयाताम् । पत्न्याः पतिचित्तानुवर्त्तनस्यासकृच्छ्रुतावनुविधानात् । व्यत्ययो वा वचनस्य (पा० ३।१।८५) कामयेयातामिति ॥ ४ ॥

अथ व्रतान्तरमभिदधाति--

अध एवैताꣳ रात्रिꣳ शयीयाताम् ॥ ५ ॥

इस [उपवास के दिन] रात्रि में (खाट के ऊपर शयन न करके) अधःशायी ही होना चाहिए ॥ ५ ॥

अधः भूमावेव कुशास्तरणादौ न पल्यङ्कादावित्यर्थः । एतामुपवसथदिव-

सीयां रात्रिम्। एतस्यां रात्रौ अत्यन्तसंयोगे द्वितीया (पा० २।३।५) दम्पती शयीयाताम् ॥ ५ ॥

कथम् ? शयीयातामित्याह--

तौ खलु जाग्रन्मिश्रावेवैताꣳ रात्रिं विहरेयाताम्
इतिहासमिश्रेण वा केनचिद्वा ॥ ६ ॥

उन दोनों [स्त्री-पुरुष] को चाहिए कि वे वैदिक इतिहास की मन्त्रणा में या अन्य लोगों के साथ किसी प्रकार के धर्म के विचार में रात्रि का आद्यन्त काल जागते हुए ही व्यतीत करे ॥ ६ ॥

विमर्श—तात्पर्य यह है कि वे दोनों सम्पूर्ण रात्रि गाढ़ निद्रा में विभूत न रहकर थोड़ा ही सोएँ ॥ ६ ॥

तौ–दम्पती। खलु निश्चयार्थो निपातः। जाग्रन्मिश्रौ[१] जाग्रदवस्थयैव स्वापं मिश्रयन्तावेवैतामौपवसथिकां रात्रिं व्याथ विहरेयाताम्–नयेयाताम्। विरत्र सहार्थो हरतिर्नयतेरर्थे (प्रापणे) वर्त्तते। अतिवाहनमिह नयत्यर्थः। कथञ्च जाग्रन्मिश्रौ भवेतान्तदुपायमाह--इतिहासमिश्रेणेति। इतिहासः पुरावृत्तम्, तन्मिश्रेण[२] केनचित्सद्व्यवहारेण परस्परसंलापादिना। इत्थम्भूतलक्षणे तृतीया (पा० २।३।२१) केनचिदन्येन वा पुण्यकथादिनेत्ययमप्युपायो जाग्रन्मिश्रणे ॥ ६ ॥

जुगुप्सेयातां त्वेवाव्रत्येभ्यः कर्म्मभ्यः ॥ ७ ॥

उस [यजमान] को चाहिये कि वह [स्त्री संसर्गादि] व्रतनाशक कर्मों से भी अपने को बचावे ॥ ७ ॥

जुगुप्सेयाताम्--निन्देताम्। गुपेर्निन्दायां सन्[३] व्रते साधु व्रत्यं "तत्र साधुः" (पा० ४।४।९८) इति साध्वर्थे यत्प्रत्ययः। तन्न भवतीत्यव्रत्यं

---

१. मिद्धा (नाड़ी) मनः संयोगावस्था स्वापः। त्वङ्मनोयोगोज्ञानसाधनभूतस्तत्राप्यनुवर्तत इति। बहिरिन्द्रियमनः संयोगावस्था च जाग्रदवस्थेति विवेकः॥ अंशशो निद्रतावंशशो जागरितौ ॥

२. अत्र भावप्रधानो निर्देशः। इत्थम्भावे तृतीया। इतिहासमिश्रतया तदालोचनयेति चन्द्रकान्तभाष्ये व्याख्यानम्।

३. अत्र 'गोप्तुमिच्छा वा जुगुप्सोच्यते। तदा खल्वव्रतेभ्यः (कर्मभ्यः) अस्मानं रक्षितुम् इच्छेतामिति व्यक्तैव वचनव्यक्तिरित्येवं व्याख्यंश्चन्द्रकान्तोऽपाणनीयत्वमात्मनोव्यनक्ति। "गुप्तिज्किद्भ्यः सन्" (पा० ३।१।५) इति सूत्रे "गुपेर्निन्दायाम्" इति वार्त्तिकात् ॥

व्रतविरुद्धम् । तेभ्यः कर्म्मभ्यः । ग्राम्य[1] धर्म्मादिभ्यः । तानि कर्माणीत्यर्थः । अत्र "जुगुप्साविरामप्रमादार्थानामुपसंख्यानम्" (पा० २।३।२८ वा०) इति पञ्चमी । तुशब्दः सम्भवकालं व्यवच्छिनत्ति । एवशब्दश्च प्रकृतं नियमयन् व्यतिरेके व्रतभङ्गमवगमयति । अत एव--स्मर्यते--

"स्मरणं कीर्त्तनङ्केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम् ।
सङ्कल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृतिरेव च ॥
एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः ।
(अनुरागात्कृतञ्चैव ब्रह्मचर्य्यविरोधकम्)
विपरीतम्ब्रह्मचर्य्यमेतदेवाष्टलक्षणम् ॥" इति ॥

"उपवासे तथा यौनं हन्ति सप्तकुलानि वै ।
स्त्रीणां सम्प्रेक्षणात्स्पर्शात्ताभिः सङ्कथनादपि ।
ब्रह्मचर्य्यं विपद्येत, न दारेष्वृतुसङ्गमात् ॥" इति चैवमादि ॥

अत्र च संप्रेक्षणात्सङ्कथनादित्यत्र सरागत्वं संशब्दार्थः । साहचर्य्यात् स्पर्शोऽपि तथा इति शूलपाण्युपाध्यायः । तुशब्दश्चशब्दार्थो वा गात्राभ्यङ्गादीनि समुच्चिनोति ।

"गात्राभ्यङ्गं शिरोऽभ्यङ्गं ताम्बूलञ्चानुलेपनम् ।
व्रतस्था वर्ज्जयेत्सर्वं यच्चान्यद् बलरागकृत् ॥"

इत्येवमादि स्मरणात् ॥ ७ ॥

न प्रवसन्नुपवसेदित्याहुः ॥ ८ ॥

कुछ [ब्रह्मवादियों] का कथन है कि प्रवास में रहने पर उपवास न करें ॥८॥

प्रवसन्--प्रवासमनुतिष्ठन् । न उपवसेत् इत्याहुरेके आचार्याः । एतस्मादेवावगम्यते--प्रवसन्नप्युपवसेदित्यन्ये आचार्य्या मन्यन्ते इति ॥ ८ ॥

यदा तु खलु प्रवसन्गृहपतिर्नोपवसति तदापि--

पत्न्या व्रतं भवतीति ॥ ९ ॥

अथवा, घर में स्थित पत्नी द्वारा भी यह [उपवसथ] व्रत हो सकता है ॥९॥

व्रतम्--औपवसथिकम् । इति आहुराचार्य्याः ॥ ९ ॥

तदेवं प्रवसता नोपवस्तव्यमित्येकेषामाचार्य्याणां मतम् । प्रवसताऽप्युपवस्तव्यमिति चापरेषाम्--एतस्मिंश्च विकल्पे सति--

---

१. "ग्राम्यधर्म्मो मैथुनमि"त्यमरः ॥

यथा कामयेत तथा कुर्यात् ॥ १० ॥

[भोजन करके कार्य करने का फल और भोजन न करके कार्य करने का दोष दोनों ही बताए गए हैं] इन दोनों में जो अभीष्ट हो उसे ही करें ॥ १० ॥

स्पष्टोऽर्थः ॥ १० ॥

एवमेवाहिताग्नेरप्युपवसथो भवति ॥ ११ ॥

आहिताग्निरिह पञ्चाग्निरुच्यते । स च

"पवनः पावनस्त्रेता पञ्च यस्याग्नयो गृहे ॥"

इति स्मृत्युक्तः । पवन आवसथ्योऽग्निः । पावनः सभ्योऽग्निर्यः शीतापनोदनार्थं बहुषु देशेष्वपि विधीयते । इति कुल्लूकभट्टः । त्रेता--"दक्षिणाऽग्निगार्हपत्याऽऽहवनीयास्त्रयोऽग्नयः । अग्नित्रयमिदत्रेता" इत्यमरोक्तः । ऋज्वन्यत् । औपासनाग्निमधिकृत्योपवसथस्य सूत्रितत्वादाहिताग्नेरेष न प्राप्नोतीत्येवमतिदिश्यते ॥ ११ ॥

यच्चाम्नायो विदध्यात् ॥ १२ ॥

इस रीति से जो नित्य ही अग्निहोत्र करने वाला आहिताग्नि है उसके लिए भी उपवास करने के समस्त नियम आदि हैं—इसीको वेद विहित विधि [= नियम] जानो ॥ ११-१२ ॥

आ--मर्यादया (परिपाट्या) म्नायतेऽभ्यस्यतेऽसावाम्नायो वेदः । आङ्पूर्वाम्नातेरभ्यासार्थात् (भ्वा० प०) कर्म्मणि घञ् (पा० ३।३।१९) "आतोयुगि" (पा० ७।३।३३)ति युक् । स खलु शाखान्तरीयोऽपि यदन्यद् विदध्यादस्य[1] कृते । "तदपि कर्त्तव्यम्" इति वाक्यशेषः । शास्त्रान्तराधिकरणान्यायादित्यभिप्रायः । चः पूर्वोक्तमेव समुच्चिनोति ॥ १२ ॥

अथ पूर्वाह्ण एव प्रातराहुतिꣳ हुत्वाऽ[2]ग्रेणाग्निं परिक्रम्य दक्षिणतोऽग्नेः प्रागग्रान् दर्भानास्तीर्य ॥ १३ ॥

उसके दूसरे दिन पूर्वाह्ण में यथा नियम प्रातराहुति होम समाप्त कर अग्नि को

---

१. "यत्राम्नातं स्वशाखायां पारक्यमविरोधि च ।
विद्वद्भिस्तदनुष्ठेयमग्निहोत्रादिकर्म्मवत्" । इतिकात्यायनोक्तेः ॥

२. अत्र समिधमाधायाग्रेणेत्यादिशूलपाणिधृतः पाठः साधीयान्प्रतिभाति । तथाच तदीयं व्याख्यानम्—समिधमिति । समिदियमिन्धनत्वेनाधेया तूष्णीमेव । तथाच कात्यायनः ।

अपने सम्मुख रक्खें। फिर प्रदक्षिणा क्रम से अग्नि के दक्षिण में पूर्व की ओर अग्रभाग करके कुश बिछाए ॥ १३ ॥

अथ अपरदिने। प्रातराहुतिं हुत्वेति सिद्धाया अपि प्रातराहुतेः पुनरभिधानङ्क्रमार्थम्। कथं नाम ?––प्रातराहुतिं हुत्वा समिदाधानान्तं विधाय वक्ष्यमाणङ्कर्म्म कुर्यात्। इति। कुतः ?

"आधाय समिधञ्चैव ब्रह्माणमुपवेशयेत् ॥"

इति कर्म्मप्रदीपदर्शनात्। "अग्निमुपसमाधाय दक्षिणतो ब्रह्मासनमास्तीर्य्य" इति च गृह्यान्तरम्। तदयमर्थः। प्रातराहुति हुत्वा पूर्वाह्ण एव प्रतिपदभावेऽपि। अथ ब्रह्मस्थापनप्रकारमाहाग्रेणाग्निमिति। अग्रेण–पूर्वया दिशाऽग्निं परिक्रम्य प्रदक्षिणीकृत्य–गत्वा। दक्षिणतो दक्षिणस्यान्दिश्यग्नेः। सार्वविभक्तिकस्तसिः। (पा० ५।४।४४ वा०) प्राङ्मुख उपविश्य––

"[1]उदधारामविच्छिन्नामग्निमारभ्य दक्षिणम्।
दद्याद् ब्रह्मासनस्थाने प्राङ्मुखीं सर्वकर्म्मसु ॥"

इति गृह्यासङ्ग्रहवचनादविच्छिन्नां पूर्वाग्रां वारिधारां ब्रह्मासने दत्त्वा तत्र प्रागग्रान्दर्भान्। ब्रह्मोपवेशनार्थम् आस्तीर्य तृणं निरस्यतीति वक्ष्यमाणेन सम्बन्धः। अत्रोपवेशनं प्राङ्मुखता च परिभाषाबलात्। तथा च–कात्यायनः––

"आसीन ऊर्ध्वः प्रह्वो वा नियमो यत्र नेदृशः।
तदासीनेन कर्त्तव्यं न प्रह्वेण न तिष्ठता ॥" इति।

प्रह्वेण-अवनतेन। न तिष्ठता–नोर्ध्वजानुना। तथा––

"यत्र दिङ्नियमो नास्ति जपहोमादिकर्म्मसु।
तिस्रस्तत्र दिशो ज्ञेया ऐन्द्री सौम्याऽपराजिता ॥" इति।

ऐन्द्री–पूर्वा। सौमी–उत्तरा। अपराजिता–ऐशानी ॥ १३ ॥

तेषां पुरस्तात्प्रत्यङ्मुखस्तिष्ठन्सव्यस्य पाणेरङ्गुष्ठेनोपकनिष्ठिकया चाङ्गुल्या ब्रह्मासनात्तृणमभिसङ्गृह्य दक्षिणापरमष्टमं देशन्निरस्यति "निरस्तः परावसुरि–"ति ॥ १४ ॥

उन बिछाए हुए कुशासन पर सम्मुख पश्चिमाभिमुख कर बाएँ हाथ के अंगुष्ठ

1. समिदादिषु होमेषु मन्त्रदैवतवर्जिता। पुरस्ताच्चोपरिष्टाच्च इन्धनार्था समिद्भवेत्" इति। एवमादि। तदेतत्प्रदर्शितमधस्तात्। (१।३।६)

और अनामिका अँगुली से ब्रह्मा के लिए डाले हुए उस कुशासन से एक तृण लेकर 'निरस्त परावसु' मन्त्र से नैर्ऋत कोण [अष्टम दिशा] में फेके ॥ १४ ॥

विमर्श—इसी कर्म को 'तृण-निरसन' कर्म कहते हैं ॥ १४ ॥

तेषाम्—आसनास्तृतदर्भाणां पुरस्तात्—पूर्वदिशि । प्रत्यङ्मुखः—पश्चिमाभिमुखस्तिष्ठन्—ऊर्ध्वावस्थितः । सव्यस्य—वामस्य । पाणेः—करस्य । अंगुष्ठेन[1] उपकनिष्ठिकया अनामिकया चाङ्गुल्या तृणं दर्भं सामान्यशक्तस्यापि वाक्यैकवाक्यतया विशेषे तात्पर्यनिर्णयात् । दक्षिणापरं—दक्षिणस्याश्चापरायाश्च दिशोर्यदन्तरालं स दक्षिणापरस्तमष्टमं देशं[2] निर्ऋतिकोणलक्षणमुद्दिश्य[3] निरस्यति—क्षिपति । तत्र करणमन्त्रमाह "निरस्त" इति । मन्त्रार्थस्तु—अपकृष्टो भागो रक्षोऽधिष्ठानभूतः "परावसु" इत्युच्यते । स चानेन तृणनिरसनेन स्थानादस्मान्निरस्तानिराकृतः वेदितव्यः । "प्रत्यादिष्टो निरस्तःस्यात्प्रत्याख्यातो निराकृतः" इत्यमरः । तेनैतत्स्थानं पवित्रतरमुपजातमित्यर्थः ॥ १४ ॥

अप उपस्पृश्याथ ब्रह्माऽऽसन उपविशति । "आवसोः सदने सीदामी"-ति ॥ १५ ॥

अप उदकम् । उपस्पृश्य[4]—आचम्य । "उपस्पर्शस्त्वाचमनम्" इत्यमरः । अन्यच्चेष्टेत" इति वक्ष्यमाणेन (१।६।२१) अस्याभिसम्बन्धो वर्णनीयः । तथा च श्लोकं पठति—

"येन यस्याभिसम्बन्धो दूरस्थस्यापि तस्य सः ।
अर्थतो ह्यसमर्थानामानन्तर्यमकारणम् ॥" इति ।

अत्र तत्रापि च । यजमान एव कर्त्ता । अतः परं ब्रह्मणः कर्म्मोपदिशति—अथेत्यादि । अथानन्तरं ब्रह्मा आसने—यजमानोपकल्पिते समास्तृतदर्भे । उपविशति । तत्र मन्त्रमाह—आवसोरिति । अस्यार्थः ।

---

१. कनिष्ठामुपगतोपकनिष्ठिकेति तत्पुरुषः समासः । (पा० १।४।७९) चन्द्रकान्तभाष्ये तु कनिष्ठिकाया उपसमीपे तिष्ठतीति व्युत्पत्तिर्द्दर्शिता ॥

२. प्रत्यङ्मुखावस्थितस्य यजमानस्य प्रथमोदेशः प्रत्यग्भवति सम्मुखः, ततश्चाष्टमः प्रदक्षिण्येन निर्ऋतिकोण एव भवतीति साधीयसी वचनव्यक्तिः ।

३. तथाचोद्दिश्येत्यध्याहार्यम् । चन्द्रकान्तभाष्ये तु सप्तम्यर्थे व्यत्ययेन (पा० ३।१।८५) द्वितीया दर्शिता ॥

४. अत्राचमने निमित्तं नैर्ऋतस्य (निर्ऋतिदेवताकस्य) आसुरस्य मन्त्रस्य जप एवेति प्रतिभाति । "रौद्रपैत्राऽऽसुरान् मन्त्रांस्तथा चैवाभिचारिकान् । व्याहृत्यालभ्य चात्मानमपः स्पृष्ट्वा शुचिर्भवेत्" इति कातीयस्मरणात् ॥

वसु धनम् ।[1] दक्षिणाद्रव्यम् । आ तत्प्राप्तेः । सदने—कुशास्तरणस्थानेऽहं सीदाम्युपविशामीति ॥ वीरेश्वरादिपद्धतिषु तु "ॐ आवसोः[2] सदने सीद" इत्येवं यजमानेन धृतदक्षिणकरः स्वासन उपवेशितो ब्रह्मा "ॐ सीदामीति" ब्रूयादित्युक्तम् ॥ १५ ॥

स खल्वयम्—

अग्निमभिमुखो वाग्यतः प्राञ्जलिरास्त
आ कर्म्मणः पर्यवसानात् ॥ १६ ॥

इसके बाद ब्रह्मा (नामक सभी कर्म का निरीक्षक ऋत्विज जल से हाथ-पाव धोकर) आचमन करके उन आस्तृत कुशासन पर अग्नि की ओर मुख करके संयत वाक् होकर एवं दोनों हाथ जोड़कर 'आवसोः सदने सीदामि' आदि मन्त्र वाक्य को पढ़कर (मन ही मन) कर्म समाप्ति तक कार्य करने के लिए दृढ़प्रतिज्ञ होकर बैठे ॥ १५–१६ ॥

अग्निमभिमुखः । आभिमुख्येनाग्नेरवस्थितः । उदङ्मुख इत्यर्थः । वाग्यतः संयतवाक् । प्राञ्जलिः कृताञ्जलिपुटः सन्नास्ते—उपविशति । कियन्तं कालम् ? आ कर्मणः पर्यवसानात् । कर्म्मसमाप्तिपर्यन्तमित्यर्थः ॥ १६ ॥

वाग्यत इत्यत्र प्रतिप्रसवमाह—

भाषेत यज्ञसंसिद्धिम् ॥ १७ ॥

उसे यज्ञकर्म से सम्बन्धित ही बातें करनी चाहिए ॥ १७ ॥

यज्ञसंसिद्धिम्—"अधिकृत्ये"—ति शेषः । होत्राऽन्यथा क्रियमाणे कर्म्मणि तत्संसिद्ध्यर्थमेतदेवं कुरुष्वैतत्कृत्वैतत्कुरुष्वेत्यादि भाषेत । एतदन्यत्रास्य वाग्यतत्वमित्यर्थः । कृताऽकृताऽवेक्षणं हि तत्कर्म्म निर्दिष्टं स च "ब्रह्मा चतुर्विद्यो भवती"ति । चतुर्विद्यः[3] सर्वार्थविदिति सर्वङ्कर्म्म यथावदुपदेष्टुमीष्टे । तथाचैतदन्यत्रास्य मौनमुक्तं भवति ॥ १७ ॥

---

१. "द्रव्यं वित्तं स्वापतेयं रिक्थमृक्थं धनं वसु" इत्यमरः । लिङ्गव्यत्यय आर्षः ।

२. मन्त्रार्थस्तु—हे ब्रह्मन् ! त्वं वसोर्दक्षिणाग्नेः सदने—आसीद उपविश । अत्राङो व्यवहितप्रयोगः (पा० १।४।८२) छान्दसः ॥ इत्थेवमेके व्याचक्षते । एवत्तत्त्वमग्रेऽनुपदं स्फुटीभविष्यति ॥

३. चतस्रो विद्या यस्य सः ।

"आन्वीक्षिकी त्रयी वार्त्ता–दण्डनीतिश्च शाश्वती ।
विद्या ह्येताश्चतस्रश्च धर्म्मसंस्थितिहेतवः ॥" इत्याग्नेयं वचनम् ।

तदेवाह--

नायज्ञियां वाचं वदेत् ॥ १८ ॥

वह यज्ञ से असम्बन्धित अन्यान्य कोई भी बात न करे ॥ १८ ॥

अयज्ञियाम् । यज्ञानर्हाम्[1] । संस्कृतामपि वाचन्न वदेत् । कुतः पुनरसंस्कृताम् । यत्र हि "साधुभिर्भाषितव्यं न म्लेच्छितवै-नापभाषितवै[2]" इति श्रुतिर्विरुध्यते ॥ १८ ॥

यद्ययज्ञियां वाचं वदेत् वैष्णवीमृचँय्यजुर्वा जपेत् ॥ १९ ॥

यदि भ्रमवशात् कुछ अन्य बात मुख से निकल जायँ तो उसे चाहिए कि वह किसी विष्णु देवताक ऋचा का अथवा ('विष्णोरराटमसि' आदि) किसी यजुः का जप करे ॥ १९ ॥

यदि-कुतश्चित्कारणात्[3] अयज्ञियां यज्ञानर्हां वाचं वदेत्तर्हि वैष्णवीं विष्णुदैवताकाम् ऋचम् "इदँविष्णुर्विचक्रमे" (यजु० ५।१५)-इत्यादिलक्षणाम् । तदज्ञाने-यजुरपि[4] "विष्णोरराटमसि" (यजु० ५।२१) इत्यादिकम् । जपेत्तद्दोषशान्त्या इत्यर्थः ।

"प्रमादात्कुर्वताङ्कर्म्मं प्रच्यवेताध्वरेषु यत् । स्मरणादेव तद्विष्णोः सम्पूर्णं स्यादिति श्रुतिः" इति स्मृत्यन्तराभिधानञ्चात्रोपोद्वलकं द्रष्टव्यम् ॥

अपि वा "नमो विष्णवे" इति ब्रूयात् ॥ २० ॥

अथवा 'नमो विष्णवे' का ही कथन करना चाहिए ॥ २० ॥

अपि वा-अथवा । तयोरज्ञानदशायां क्रियालाघवेन वा । विष्णुस्मरणमात्रस्य विधेयस्य तावताऽप्युपपत्तेरित्यर्थः ॥ २० ॥

यद्यु वा उभयञ्चिकीर्षेद्धौत्रं चैव ब्रह्मत्वञ्चैतेनैव कल्पेन छत्रं वोत्तरासङ्गं वोदकमण्डलुं दर्भवटुं वा ब्रह्मासने निधाय तेनैव प्रत्याव्रज्यान्यच्चेष्टेत ॥ २१ ॥

॥ इति गोभिलगृह्यसूत्रे प्रथमप्रपाठके षष्ठी कण्डिका ॥ १ ॥ ६ ॥ * ॥

---

१. अत्र "यज्ञर्त्विग्भ्यां घखञौ" (पा० ५।१।७) इत्यर्हार्थं घस्येयः । (पा० ७।१।१)

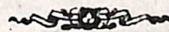
२. अत्र तव्यार्थे तवै छान्दसः (पा० ३।१।१४) अस्यैव व्याख्यानं "नापभाषित वा" इति ।

३. अज्ञानाद्वा प्रमादाद्वा सर्वथा यथाभिमतब्रह्मकर्मनिर्बाडुद्विजस्य सर्वदा सर्वदाभावादेवमुक्तम् ॥

४. तथा च द्वितीया वाशब्दोऽप्यर्थंऽत्र द्रष्टव्यः ॥

यदि होतृ-कर्म और ब्रह्मा का कर्म अर्थात् दोनों क्रियाओं को एक ही व्यक्ति करना चाहे तो ब्रह्मा के लिए आस्तृत कुशासन पर उसी प्रकार छत्र या उत्तरीय या जलपूर्ण कमण्डलु अथवा कुश निर्मित ब्रह्मा का स्थापन करके उसी प्रकार प्रदक्षिण क्रम पूर्वक अपने होतृ के आसन पर वापस आवे और (आगे कहे जाने वाले चरुश्रपणादिक) कर्म करे ।। २१ ।।

।। इस प्रकार गोभिलगृह्यसूत्र के छठे कण्डिका की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत अनाकुला नामक हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ।। ६ ।।



यदि=पुनरन्यो ब्राह्मणो ब्रह्मकर्म्म सम्पादनसमर्थोन कथञ्चिल्लभ्येतेत्येवं वितर्केऽउः प्रयुक्तः । तदा निश्चयेन स्वयमेवोमयञ्चिकीर्षेत् । कर्त्तु मिच्छेत् इति निश्चयार्थे वै शब्दः प्रयुक्तः[1] । किन्तदुभयम् ? तदाह—होत्रञ्चैव—ब्रह्मत्वञ्चैवेति । हौत्रं—होतुः कर्म । "तस्येदमि"त्यर्थे (पा० ४।३।१२०) अणादिवृद्धिः । ब्रह्मत्वं—ब्रह्मणः कर्म्म । अत्र कर्म्मणि त्वः[2] । कथमित्यपेक्षायामाह—एतेनैव कल्पेन पूर्वोक्तयैवावृता[3] । अग्रेणाग्निमित्यादिकया ।

---

१. एतेनायं "यद्युवा" इति निपातशब्दो यद्यर्थः, अनर्थको वा—उवा इत्येवं व्याख्यानं हेयमेव ॥

२. तथा च "आ च त्वादि" (पा० ५।१।१२०)ति सूत्रे गुणवचनादिभ्यः कर्म्मणि त्वविधानार्थमिति वृत्तिकृतः (भा० दी०) प्राहुः ॥

३. अत्र मुरारिमिश्राः—अत्राचेतनब्रह्मपक्षे "आवसो"रिति मन्त्रस्य होतृपठनीयतया सम्बोध्यच्छत्रादीनाञ्चोपवेशनीयतया मन्त्रोच्चारणासनोपवेशनयोः समानकर्तृकत्वाभावादुत्तमपुरुषप्रयोगासम्भवेन सीदेति मध्यमपुरुषप्रयोग ऊह्यः । एवकारस्य चोहप्रतिषेधे सामर्थ्याभावादिति तात्पर्यगत्या महामहोपाध्यायवीरेश्वरधीरेश्वरादयः स्वस्वपद्धताबाहुः । सूत्रव्याख्याकृतो नारायणोपाध्यायास्तु—एतेन कल्पेनेति वक्तव्ये यदेतेनैवेत्येवकारकरणं तदस्मिन्नपि पक्षे सीमामीत्यत्रोहप्रतिषेधार्थमेवेत्याहुः । तेषामयमाशयः—न हि च्छत्रादय एव ब्राह्मण इति प्रकृतसूत्रार्थः । अचेतनस्य कृताकृतावेक्षणे सामर्थ्याभावात् सम्बोध्यत्वाभावेन मन्त्रलिङ्गविरोधाच्च । किन्तु होतैव ब्रह्मा तस्य चैकतया स्थानद्वये उपवेशनासम्भवात् तेन स्वस्थानीयं छत्रादीनामन्यतमं ब्रह्मासने स्थापनीयमिति । तदुक्तं होत्रं ब्रह्मत्वञ्चाभयं स्वयमेव चेत्कर्तुमिच्छेदिति । एवञ्चोपवेशन-मन्त्रोच्चारणयोः समानाधिकरण्यासम्भवेनोत्तमपुरुषप्रयोगेऽनुपपत्त्यभावाच्च "सीदे"ति मध्यमपुरुषप्रयोगऊहनीयो मानाभावादचेतनस्य सम्बोध्यत्वासम्भवेन मन्त्रलिङ्गविरोधाच्च । न चेहापि तथा, छत्रादिरूपेणाहमेवसीदामीत्यर्थात् । सम्वदतिचामुमर्थं दक्षिणाप्रकरणस्थं कात्यायनवचनम् । तथाहि—

"विदध्याद्धौत्रमन्यश्चेद्दक्षिणार्द्धहरो भवेत् ।
स्वयञ्चेदुभयङ्कुर्यादन्यस्मै प्रतिपादयेत् ॥" इति ॥

अत्रास्वरसमनुसन्धायाह–छत्रं वेति। छत्रादीनामन्यतमं स्वीयं ब्रह्मासने निधाय स्थापयित्वा। तनैव पथा। येन पूर्वं परिक्रमणं कृतम्। प्रदक्षिणाऽग्निं प्रत्याव्रज्य–परिक्रम्य। अथान्तरम्। अन्यत्–वक्ष्यमाणं भूमि[1] जपपरिसमूहनादिकं चरुश्रपणादिकं वा कर्म्म[2] चेष्टेत–कुर्यादित्यर्थः। छत्रमातपत्रम्। छादयते छायया वा त्रायते इति व्युत्पत्तेः। उत्तरासङ्गमुत्तरीयम्। उदकमण्डलुः। उदकपूर्णपात्रम्। "उदकस्योदः संज्ञायाम्" (पा० ६।१।५७) इत्युदादेशः। दर्भवटुः। ब्रह्मग्रन्थियुतमृजुकुशत्रयम्। "कुशाः पवित्रम्" इत्युक्तेरत्र कुशत्रयमुपादीयते। कात्यायनेन तु––

"यज्ञवास्तुनि मुष्टयाञ्च स्तम्बे दर्भवटौ तथा।
दर्भसंख्या न विहिता विष्टरास्तरणेष्वपि॥"

इत्युक्तम्। यज्ञवास्तूनि–दर्भजूटिकाहोमे। मुष्टयाम्––"पत्नी सकृदाच्छिन्नां दर्भमुष्टिं स्तृणाति" इति विहितायाम्। स्तम्बे–"उत्तरतोऽग्नेर्दर्भस्तम्बं निदधाति–"इति श्रवणाकर्मोक्ते। दर्भवटौ कुशमय्यां ब्रह्मप्रतिकृतौ॥ गह्यासङ्ग्रहे तु संख्या प्रोक्ता अङ्गिरसा––

"ब्रह्मविष्टरयोश्चापि सन्देहः समुपस्थितः।
कतिभिस्तु कुशैर्ब्रह्मा कतिभिर्विष्टरः स्मृतः?॥
पञ्चाशद्भिः कुशैर्ब्रह्मा तदर्द्धेन तु विष्टरः।
ऊर्ध्वकेशोभवेद्ब्रह्मा लम्बकेशस्तु विष्टरः॥
दआवर्त्तोभवेद् ब्रह्मा वामावर्त्तस्तु विष्टरः।" इति,

---

१. एतच्च चर्वनङ्गे द्रष्टव्यम्। चर्वङ्गेतु कर्म्मणि ब्रह्मोपवेशनान्तरं चरुश्रपणमेवेति।

"ब्रह्माणमुपसङ्कल्प्य चरुश्रपणमाचरेत्"

इत्यङ्गिरो वचनात्। तदेतत् स्वयमनुपदं वक्ष्यति—"अथोलूखलमुशले" (१।८।१) इत्यादिना॥ भूमिजप–परिसमूहनादिकमग्रे (८।१।३) पश्चादग्नेर्भूमावित्यादि–सूत्रकदम्बकेन प्रदर्शयिष्यते सूत्रकृता। तस्येहानुपन्यसने बीजन्तु–"काम्येष्वत ऊर्द्धम्" (४।१।१) इत्युपक्रम्य तत्कर्मोपादानात्। "पूर्वेषु चैके" (४।१।२) इत्युक्त्या चेहापि प्राप्तम्। पूर्वेष्वित्यस्य नित्यनैमित्तिकेष्वित्यर्थः। वस्तुतस्तु "दर्शपौणमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत" इति श्रुत्वाग्नयोरपि काम्यत्वम्। "यावज्जीवं दर्शपौर्णमासाभ्यां यजेत" इति श्रुत्या च नित्यत्वम्। अतएव "सकलाभयत्वे संयोगपृथक्त्वम्" (०।३।३) इति जमिनीयो न्यायोऽत्र प्रदर्शितस्तान्त्रिकैः॥

तन्निर्म्माणप्रकारमाह कालिकापुराणम्—

"द्विरावृत्याऽत्र मध्ये वै अर्द्धाकृत्वाऽन्तदेशातः।
ग्रन्थिः प्रदक्षिणावर्त्तः स ब्रह्मग्रन्थिसंज्ञितः"॥ इति॥

कुशैरित्युपलक्षणं, तेन "पञ्चाशत्पत्रकी ब्रह्मा तदर्द्धेन तु विष्टरः" इति वचनं संगच्छते । एवञ्च कातीयसंख्याऽनियमोक्तिरेतावत्कुशाद्यभावे इति द्रष्टव्यम् ॥ २१ ॥

॥ इति श्रीमद्गोभिलीय गृह्यसूत्रव्याख्यायां "मृदुला"ऽऽख्यायां मुकुन्द-
शर्म्मसङ्कलितायां प्रथमप्रपाठकस्य षष्ठी
कण्डिका ॥ १ ॥ ६ ॥ * ॥



अथ सप्तमी कण्डिका

अथोलू (दू)खलमुशले प्रक्षाल्य शूर्पञ्च पश्चादग्नेः प्रागग्रान् दर्भानास्तीर्योपसादयति ॥ १ ॥

*** अनाकुला ***

इसके बाद पूर्व की ओर अग्रभाग वाली बिछी हुई कुशाओं पर उलूखल एवं मुसल और शूर्प को भलीभाँति जल से धोकर अग्नि के पीछे की ओर रक्खे ।। १ ।।

मृदुला—अथ द्रव्याण्यासाद्य[1] सम्प्रोक्ष्य च पूर्वमासादिते उखू(दू)खल-मुशले शूर्पञ्चेत्येतत्त्रयम् (कर्मप्रदीप २. ५. १६)—

"मुशलोलूखले वार्क्षे[2] स्वायत्ते सुदृढे तथा ।
इच्छाप्रमाणे भवतः शूर्पं वैणवमेव च ।।"

इति कर्म्मप्रदीपोक्तलक्षणं प्रक्षाल्य पश्चादग्नेः प्रागग्रान्दर्भानास्तीर्य्य तत्रोपसादयति—स्थापयेदित्यर्थः[3] । पूर्वं खल्वग्नेरुत्तरतः समासादितानां शूर्पोलूखलमुशलानामिदानीमग्नेः पश्चिमतः स्थापनं कर्त्तव्यम् निर्वा-पाद्यर्थम् ॥ १ ॥

सरला—उलूखल-मुशले खदिरादियज्ञियवृक्षमये । ते च इच्छाप्रमाणे भवतः । किन्तु पारस्करगृह्यसूत्रे गदाधरभाष्ये तत्रोलूखल-शूर्पाणां प्रमाणमाह——

---

१. अथात्र चन्द्रकान्तभाष्ये विशेषः । अत्राथेति विशिष्टमानन्तर्यं द्योतयति किन्तत् ? यथोपयोगमुत्तरतोऽग्नेर्द्रव्याणामधोमुखानामुदगग्राणां पूर्वपूर्वक्रमेणासादनम् । वीक्षणं प्रोक्षणञ्चाद्भिः कृत्वा । तथाच कर्म्मप्रदीपः—

"प्राञ्चं प्राञ्चमुदगग्नेरुदगग्रं समीपतः ।
तत्तथाऽऽसादयेद् द्रव्यं यद्यथा विनियुज्यते ॥" इति ।

साङ्ख्यायनगृह्यञ्च ।

उत्तरतोऽग्नेर्यथोपयोगमवाञ्चि पात्राण्यासादयेत्" इति।
"द्रव्याणामुपक्लृप्तानां होमीयानां यथाक्रमम् ।
सादयन्वीक्षणङ्कुर्यादद्भिरभ्युक्षणन्तथा"; इति च स्मृत्यन्तरम् ॥

२. पलाशादियज्ञियकाष्ठनिर्म्मिते । अत्र "शूर्पंस्त्वैषीकमेवतु" इति क्वचित्पाठस्तत्राप्यैषीकपदं वैणवस्याप्युपलक्षणम् । स्मृत्यन्तरसंवादात् ॥

३. लेढ़त्र निधौ द्रष्टव्य एवमग्रेऽपीत्युक्तमधस्तान्न विस्मर्त्तव्यम् ।

पालाशं जानुमात्रे स्यात् पृथुबुध्नमुलूखलम् ।
अर्धखातं बृहद्वक्तृं मध्ये रास्नासमन्वितम् ॥
खदिरं मुशलं प्रोक्तमरत्नित्रयसम्मितम् ।
शूर्पं त्वरत्निमात्रं स्यादैषिकं वैणवं तु वा ॥

अन्ये तु—'इच्छाप्रमाणे भवतः शूर्पं चैषीकमेव चेति पठन्ति । तत्रैषीका ग्रहणं वैणवस्याप्युपलक्षणार्थम् ॥ १ ॥

अथ हविर्निर्वपति व्रीहीन् वा यवान् वा कꣳसेन वा चरुस्थाल्या वा ॥ २ ॥

अथेति । उलूखलमुशलासादनानन्तरम् इत्यर्थः । हविर्हवनीयं निर्वपति—उलूखले निःक्षिपेत् । हविर्विशेषाकाङ्क्षायामाह—व्रीहीन्वा[1] यवान्वा । वाशब्दौ तुल्यवद्विकल्पार्थौ । एवमग्रेऽपि । निर्वापसाधनमाह—कंसेनेति । तत्र कंसं[2] वर्त्तुलाकारयज्ञियपात्रभद इति शब्दकल्पद्रुमः । "कंसोऽस्त्रो तैजसद्रव्ये कांस्ये माने ऽसुरे तु ना" इति मेदिनी । "कंसोऽस्त्री पानभाजनम्" इत्यमरः ।२।

तत्र मन्त्रमाह—

"अमुष्मै त्वा जुष्टं निर्वपामी"ति देवतानामादेशꣳ सकृद् द्विस्तूष्णीम् ॥३॥

उसके उपरान्त हवि पकाना चाहिए । इसे पकाने के लायक बनाने के लिए धान्य हो या जौ हो उन्हें किसी काँसे के पात्र में अथवा चरुस्थाली में डाल दें । इस हवि को तीन बार में 'अमुष्मै' आदि मन्त्र से डालना चाहिए और दो बार तूष्णी (चुपचाप ही) बिना मन्त्र के डाल दें ॥ २–३ ॥

अदः शब्दो विप्रकृष्टमभिमतमनिर्दिष्टनामानमभिदधदिहाग्न्यादिषु[3] कञ्चिदभिदधातीत्यमुष्मै—इत्यादिना "ऽग्नये त्वा जुष्टं निर्वपामी"त्येवं देवताया वेदमेव—त्यागोद्देश्याया नाम्न आदेशं समुच्चारणं[4] यथा भवति तथा । सकृदेकवारम्[5]; निर्वपति । द्वि—र्वारद्वयं[6] तूष्णीममन्त्रं निर्वपामीति सम्बन्धः ।

---

१. एतदलाभे शाल्यादिकमपि ।
"यथोक्तवस्त्वसम्पत्तौ ग्राह्यन्तदनुकारि यत् ।
यवानामिव गोधूमा व्रीहीणामिव शालयः ॥" इतिकर्म्मप्रदीपोक्तः ।

२. स च (कंसः) कांस्यनिर्म्मित इति मुरारिमिश्राः ॥

३. तथा चाहुरभियुक्ताः "इदमस्तु सन्निकृष्टे समीपतरवर्त्ति चैतदोरूपम् । अदसस्तु विप्रकृष्टे तदिति परोक्षे विजानीयात् ॥" इति ॥

४. "आङ् पूर्वो दिशिरुच्चारणक्रिय" इति वृत्तिकृतः प्राहुः ।

५. अत्र क्रियाभ्यावृत्तिगणने कृत्वसुचः (पा० सू० ५।४।१७) अर्थेसुच "एकस्य सकृच्च" (पा० सू० ५।४।१९) इति सकृदादेशे संयोगान्तलोपः ।

६. अत्र "द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच्" (पा० सू० ५।४।१८) इति कृत्वसुचोऽर्थे सुच् । अभ्यावृत्तिर्गणनम् ।

अत्र च यावता निरुप्तेन होमो निर्वर्त्यते किञ्चिच्चावशिष्यते तावत्परिमितमेव हविर्निर्वप्तव्यम्। बहुदैवत्ये च चरौ न प्रत्येकमेवानुनिर्वापौ कर्त्तव्यौ किन्तु तन्त्रेण द्वावेवानुनिर्वापौ सर्वशेषे करणीयौ तदेतत्सर्वङ्कर्म्मप्रदीप आह--

"चरुः समशनीयोयस्तथा गोयज्ञकर्म्मणि।
वृषभोत्सर्जने चैव अश्वयज्ञे तथैव च॥
श्रावण्यां वा प्रदोषे यः कृष्यारम्भे तथैव च।
कथमेतेषु निर्वापाः ? कथञ्चैव जुहोतयः ?॥
देवतासंख्यया ग्राह्या निर्वापाश्च पृथक्पृथक्।
शेषश्चैव भवेत्किञ्चित्तावन्तं निर्वपेच्चरुम्॥" इति।

अत्र एतेषु इति—एतत्प्रकारेष्वन्येष्वपीत्यर्थः॥ ३॥

अथ पश्चात्प्राङ्मुखोऽवहन्तुमुपक्रमते दक्षिणोत्तराभ्यां पाणिभ्याम्॥४॥

फिर पूर्व दिशा की ओर अपना मुख करके उलूखल के आगे खड़े होकर दाहिने हाथ को ऊपर करके दोनों हाथों से मुसल को पकड़ कर तीन बार में धान्य को तुषविहीन करे॥ ४॥

अथेति पूर्वप्रकृतार्थम्। अथ पूर्वप्रकृतेनासादितेन मुशलेन पश्चात्—निर्वपनस्य उदूखलस्य वा। प्राङ्मुख आसीनश्च। परिभाषाबलात्। पूर्वप्रकृतानेव निरुप्तान्व्रीहीन्वा यवान्वा, अवहन्तु—कण्डितुम्। उपक्रमते—आरभेत। कथम् ? दक्षिणोत्तराभ्यां दक्षिणः (करः) उत्तर उपरि गतो ययोस्ताभ्यां पाणिभ्यां गृहीतेन मुशलेनेत्यर्थः। उपक्रमत इति वचनादुपक्रम एवायं नियमः। ततश्च शिष्येनापि पश्चादवहननङ्कारयतो न दोषः। इति भट्टभाष्यम्। मुरारिमिश्राश्चैवमेवाहुः॥ ४॥

त्रिः फलीकृतांꣲस्तण्डुलांस्त्रिर्देवेभ्यः प्रक्षालयेदित्याहुर्द्विर्म्मनुष्येभ्यः सकृत्पितृभ्यः॥ ५॥

तुष (भूँसी) रहित उस धान्य को तीन बार देवों के कार्य के लिए साफ करें और ब्राह्मण भोजन आदि मानव जन्य कार्यों के लिए दो बार साफ करें और पितृ कार्य के लिए एक ही बार जल से धोना चाहिए। इसी प्रकार (साफ) करने को विद्वज्जन कहते हैं॥ ५॥

त्रि—वारत्रयं, फलीकृतान्निस्तुषीकृतान्शूर्पेण[1], तण्डुलानित्युपलक्षणम्

---

१. "फलनिष्पत्तौ" (भ्वा० प०) इति धातोर्निष्पादनं कर्म्मयोग्यतासम्पादनमर्थः। तच्च निस्तुषीकृतानामेव सम्भवति। एतदेव च शूर्पकर्म। तेन कण्डनेऽपि त्रिस्त्वान्वयोवचनान्तरादेवावगन्तव्यः॥ तथाच स्मरणम्—

"कण्डनं सेचनञ्चैव तथैवोलूखलक्रिया।
सकृदेव पितृणां स्याद्दैवे त्रित्वं विधीयते॥" इति।

एतेन पुष्पादिदानेऽपि त्रित्वमनुगमयन्ति शिष्टाः॥

वस्तुतस्तु "त्रिष्वकृतमर्थं देवा मन्यन्ते" इति श०ब्रा० मन्यत्रार्थे विनिगमकं द्रष्टव्यम्॥

यवादीनामपि। देवेभ्यो देवानुद्दिश्य त्रिष्प्रक्षालयेदित्येवमाहुराचार्याः ॥५॥

पवित्रान्तर्हितांस्तण्डुलानावपेत् ॥ ६ ॥

कुश के बने 'पवित्र' में साफ करने के लिए आहृत तण्डुल को, उसमें से लेकर चरुस्थाली में डालना चाहिए ॥ ६ ॥

"अनन्तर्गर्भिणं[1] साग्रं कौशं द्विदलमेव च।
प्रादेशमात्रं विज्ञेयं पवित्रं यत्र कुत्रचित् ॥"

इति कर्म्मप्रदीपोक्तलक्षणेन अन्तर्हितान्व्यवहितान् (पूर्वं चरुस्थाल्यामुत्तराग्रं पवित्रं निधाय तदुपरि (तण्डुलानावपेत्—निःक्षिपेत्। चरुस्थाल्यामित्यर्थः ॥ ६ ॥

कुशलशृतमिव स्थालीपाकꣳ श्रपयेत् प्रदक्षिणमुदायुवत् ॥ ७ ॥

यह पाक कर्म एक पाक क्रिया में निपुण कर्त्ता के द्वारा बने हुए की तरह होना चाहिए और इसे 'मेक्षण' (= यज्ञीय कलछुल) से प्रदक्षिण क्रम से ऊपर-नीचे करके चलाना (या मिलाना) चाहिए ॥ ७ ॥

कुशलेन पाकक्रियानिपुणेन शृतं पक्वमिव स्थालीपाकं श्रपयेत्—पचेत्। "श्रपाके" ण्यन्ताल्लिङ्। पुगागमः। मित्त्वाद्ध्रस्वत्वमुपधायाः (पा० सू० ६।४।९२) तच्चादग्धमकठिनमनतिशिथिलमवीतरसं, लोकप्रसिद्धेः कर्मप्रदीपोऽप्याह—

"स्वशाखोक्तविधिस्विन्नो ह्यदग्धोऽकठिनः शुभः।
न चातिशिथिलः पाच्यो न च वीतरसश्चरुः ॥" इति।

प्रदक्षिणं—दक्षिणावर्तं यथा भवति तथा मेक्षणेनोक्तलक्षणेन (१।५।१९) उदायुवन् "युमिश्रणे" (अ० प०) इति स्मरणादूर्ध्वमीषन्मिश्रयन्। श्रपयेदिति सम्बन्धः। मेक्षणेनेति तु "तस्मिन्नेवाग्नौ श्रपयत्योदनचरुञ्च मांसचरुञ्च पृथङ्मेक्षणाभ्यां प्रदक्षिणमुदायुवन्" इति (४।२।१४) अग्रिमसूत्रात् ॥ ७ ॥

शृतमभिघार्य्योदगुद्वास्य प्रत्यभिघारयेत् ॥ ८ ॥

---

१. अनन्तर्गर्भिणमन्तर्गतगर्भशून्यगर्भिभिन्नमिति यावदिति केचित्। अपरे तु अन्तर्गतो गर्भो यस्य तदन्तर्गर्भं गर्भिदलम्। तदस्यास्तीति अन्तर्गर्भि। गर्भास्तृतीयदलम्। तद्भिन्नमनन्तर्गर्भिणम्। आर्षत्वाद्विभक्तेरलुक्। इत्याहुः। विशेषस्त्वग्रे स्फुटिष्यति। (२।७।२१)।

पाक (हो जाने पर उस) को (स्रुव गृहीत) घृत से आप्लावित करके अग्नि के उत्तर की ओर उतार कर पुनः उसी प्रकार घृत से आप्लावित करे ॥ ८ ॥

श्रृतं पक्वचरुम् । अभिघार्य्य—स्रुवगृहीतेनाज्येनाप्लाव्य उदगुत्तरस्यामग्नेः । उद्वास्य उत्तार्य्य प्रत्यभिघारयेत् पुनस्तथाऽऽप्लावयेत् । गृह्यासंग्रहे—

"पवित्रमन्तरा[1] कृत्वा चरुम्प्राज्ञोऽभिधारयेत् ।
उद्वास्य चैवं विधिवदेवन्तत्र न लुप्यते ॥" इति ॥
"चतुर्मुष्टिश्चरुः कार्यश्चतुर्णामुत्तरोऽपि वा" ॥ इति च ॥ ८ ॥

अग्निमुपसमाधाय कुशैः समन्तं परिस्तृणुयात् पुरस्ताद्दक्षिणत उत्तरतः पश्चादिति ॥ ९ ॥

[समित् प्रक्षेप आदि के द्वारा] अग्नि का समिन्धन (प्रज्वलित) कर उस [अग्नि] के चारों ओर कुशों से [बिछा कर] ढक दें । यह आच्छादन (कुश बिछाना) क्रमशः पूर्व दिशा में, दक्षिण दिशा में, तब उत्तर दिशा में और अन्त में पश्चिम दिशा में करें ॥ ९ ॥

विमर्श—'बर्हिषि स्थालीपाक' इत्यादि उन्नीसवें सूत्र में स्थालीपाक को उतारने के बाद आज्य संस्कार कहा जाएगा । अतः स्थालीपाक उतारने से पूर्व ही 'परिस्तरण' कर्म करे । परिस्तरण सभी कुशों का अग्रभाग पूर्व की ओर करके करे ॥ ९ ॥

अग्निम् उपसमाधाय-समिद्भिः समिध्य (प्रज्वाल्य) कुशैः पूर्वासादितैर्बर्हिः स्वरूपैः (विशाखाप्रतिलूनैः) (१।५।१६) समन्तं—समन्तात् । सर्वतः सर्वासु (दिक्षु) अग्नेर्बहिः । परिस्तृणुयात्—आच्छादयेत् । "स्तृञ्-आच्छादने" (स्वा० उ०) लिङ्विधौ । स्तरणक्रममाह-पुरस्तादिति । पूर्वस्यां दक्षिणस्यामुत्तरस्यां पश्चिमायामित्येवं क्रमेणेत्यर्थः । अत्र समन्तमिति द्वितीया पञ्चम्यर्थे व्यत्ययेन (३।१।८५) समस्तमिति पाठः प्रामादिकः ॥ ९ ॥

सर्वतस्त्रिवृतं पञ्चवृतं वा ॥ १० ॥

सभी दिशाओं में तीन बार या पाँच बार 'परिस्तरण' करना चाहिए ॥ १० ॥

सर्वतः सर्वासु दिक्षु । त्रिवृतं—त्रिवारं, पञ्चवृतं—पञ्चवारं वा । परिस्तृणुयादित्यनुवर्त्तते ॥ १० ॥

---

१. पवित्रान्तर्हितं कृत्वेत्यपि पाठः क्वचित् ॥

अथ कथं पुनरेकं परिस्तरणं सम्पद्यते ? यस्य त्रिपञ्चकृत्वो वा करणमुपदिश्यते ?। तदुच्यते—

बहुलमयुग्मसंहतम् ॥ ११ ॥

किन्तु ऐसी युक्ति से आच्छादित करे कि जिसमें दो, तीन या उससे अधिक कुश एक स्थान में मिल न जाएँ ॥ ११ ॥

बहुलम्—बहुतृणकम् ।[1] अयुग्माः[2] संहताः परस्परं संलग्नाः कुशा यत्र तत् । तदेवं प्रतिदिशमयुग्मः परस्परसंलग्नैः कुशैरेकं परिस्तरणं सम्पद्यते । तस्य खल्वस्य त्रिः पञ्चकृत्वो वा करणमुपदिश्यत इत्यर्थः । तदिदं परिस्तरणं पूर्वस्यामुत्तरान्ताद्दक्षिणान्तं यावत् । दक्षिणस्यां पूर्वान्तात्पश्चिमान्तं यावत् । यथा दक्षिणस्यां तथोत्तरस्याम् । यथा पूर्वस्यां तथा पश्चादिशि कर्त्तव्यम् । परिस्तरणक्रियाविशेषणमेतत्सर्वं द्रष्टव्यमिति मुरारिमिश्राः प्राहुः[3] ॥ ११ ॥

प्रागग्रैर्मूलानिच्छादयन् ॥ १२ ॥

सभी कुशाओं का अग्रभाग पूर्व की ओर रहे और उन्हीं कुशाओं के अग्रभाग के द्वारा उनका मूल आच्छादित रहे ॥ १२ ॥

प्राक् प्रथमं पतितान्यग्राणि येषां तैस्तथाभूतैः कुशैः समस्तं परिस्तृणुयादिति सिंहावलोकितकेन समन्वयितव्यम् । तथैवं कर्म्मप्रसिद्धेः । कथमित्यपेक्षायामाह—अग्रैरिति । अग्रमूलक्रमेण स्थापितकुशानां मूलानि स्थाप्यमानकुशाग्रैश्छादयन्नीशानादाग्नेयान्तं वायव्यान्नैर्ऋतान्तं प्राक् प्रतीच्योः । प्राक्प्रत्यक्क्रमेण च दक्षिणोत्तरयोरित्येष परिस्तरणक्रम आयाति । किन्तु—"प्राञ्च्युदञ्चि वा कर्म्माणि सन्तिष्ठन्ते" इति श्रुतेराजानिकशिष्टाचारपरिगृहीतत्वादाग्नेय्यामुत्तराग्रास्तीर्णकुशाग्राधस्तादास्तीर्यमाणकुशमूलङ्कार्य्यमित्येवमुदक्संस्था भवति । तथाच साङ्ख्यायनीये—"प्रागग्रैः कुशैः परिस्तृणाति—इत्युपक्रम्य "सर्वाश्चावृतो दक्षिणप्रवृत्तय

---

१. बहून् कुशान् लाति गृह्णातीति बहुलम् । परिस्तरणक्रियाविशेषणमेतत् ।

२. मुरारिमिश्रास्तु—अयुग्मञ्च तत्संहतञ्चेत्ययुग्मसंहतम् । त्रिवृतं पञ्चवृतं वेत्यनेनैवायुग्मत्वे प्राप्ते एकवृतस्यापि प्राप्त्यर्थमिदम् "शब्दाधिक्यादि"—तिन्यायात् । तथा च गृह्यान्तरम्—"सकृत्त्रिर्वा प्रदक्षिणं प्रतिदिशमग्नेरि"—ति । संहतमन्तरालशून्यं, सर्वमिदं क्रियाविशेषणमिति द्रष्टव्यम् । अत्र प्रदक्षिणमिति शाखान्तराभिप्रायमित्याहुः ॥

३. अत्रारुचिविशेषोऽनुपदं मूलएव द्रष्टव्यः ॥

उदक्संस्था भवन्ति" इत्युक्तम्। आवृतः प्रक्रियाः परिपाट्यो वा "आवृत्य-परिपाटी अनुक्रमः" इत्यमरः॥ आश्वलायनोऽपि—"दिक्षु सर्वासूदक्संस्था-प्राच्यादिषु परिस्तृणातिः" इत्युक्तवान्। अत एव पार्वणे पश्चिमादारभ्य पूर्वान्तम्। आभ्युदयिके च दक्षिणादारभ्योत्तरान्तमर्घ्यादिक्रमः सकलशिष्टाचारपरिगृहीत उपलभ्यते। वीरेश्वरादयोऽपि—"आग्नेयादीशानान्तम्" इत्येवं परिस्तरणक्रमं स्वपद्धतौ वाजसनेयके लिखन्ति स्म। यत्तु—प्रागग्रैरित्यनेन प्राक्पश्चिमयोरपि पूर्वाग्राणामेव कुशानां परिस्तरणमिति केषाञ्चिन्मतं परिधिकार्यनिर्वाहकताऽग्रे (१।७।१६) वक्ष्यमाणा नोपपद्यते। इति द्रष्टव्यम्॥ १२॥

परिस्तरणे प्रकारान्तरमाह—

पश्चाद् वाऽऽस्तीर्य्य दक्षिणतः प्राञ्चं प्रकर्षति तथोत्तरेण॥ १३॥

अथवा, (यदि कुश कम हों) तो (अग्रभाग से मूलाच्छादन न करके) पहले पश्चिम दिशा में आस्तरण करे, फिर दक्षिण से तथा उत्तर से पूर्व दिग्भाग को प्रकृष्ट रूप से मिश्रित कर दे अर्थात् त्रिकोण करके मिला दे॥ १३॥

वा—अथवा। पश्चात्—प्रतीच्यामग्नेः। प्राच्यामिवास्तीर्य। दक्षिणतः-दक्षिणस्यां, प्राञ्चं पूर्वपूर्वाग्रक्रमेण यथास्यात्तथा (अग्रैर्मूलानिच्छादयन्) प्रकर्षति। प्रकीर्णयति। (परिस्तृणाति) तथा—तेनैव प्रकारेण। उत्तरेण उत्तरतः। पूर्वतस्तु सूर्य्य एव कार्यनिर्वाहको भावनया याज्ञिकानामित्यवगन्तव्यम्[1]॥ १३॥

दक्षिणोत्तराण्यग्राणि कुर्यात्॥ १४॥

यह आकर्ष (=मेल) दक्षिणाग्र कुशा के द्वारा दक्षिण से एवं उत्तराग्र कुशा के द्वारा उत्तर से पूर्व की ओर (खींचकर) मिलान (—आकर्षण) करे। (अर्थात् वृत्त अथवा चतुष्कोण रूप से आच्छादित न कर त्रिकोण रूप से आच्छादित करे।

दक्षिणानि च तान्युत्तराणि चेति दक्षिणोत्तराणि। अग्राणि "कुशानाम्" इति शेषः। पश्चात् पुरस्ताद्वा यानि बर्हीषि स्तृतानि भवन्ति। तेषामग्राणि दक्षिणोत्तरक्रमेण कुर्यात् इत्यर्थः। गृह्यवृत्तिकृतो भट्टनारायणोपाध्यायास्तु पूर्वसूत्रे—उभयहस्तेन कुशान् गृहीत्वा दक्षिणाहस्तगृहीतैर्दक्षिणतः परिस्तृणाति। सव्यहस्तगृहीतैरपि सव्यत इत्यभिधायात्र सूत्रे

---

१. परिस्तरणं कुशानान्देवतोपवेशनायेति तान्त्रिकप्रसिद्धिः। असुरोपघातनिवृत्तये च परिधिः तथा चानुपदं सूत्रयिष्यति—"परिधीनप्येके कुर्वन्ती"ति॥

दक्षिणहस्तगृहीतकुशाग्राणि उत्तराणि—उपरिष्टात् ऊर्ध्वं पूर्वस्यां दिशि-अर्थात् सव्यहस्तगृहीतान्यधराणि पश्चाद्दिशि इत्यर्थ इत्याहुः। महामहो-मुरारिमिश्रास्तु--दक्षिणहस्तगृहीतकुशाग्राणि उत्तराणि—उपरिष्टात्कुर्यात्। एवञ्चार्थात्सव्यहस्तगृहीतानि अधराणीत्यर्थ इत्याहुः। कतमोऽर्थोऽत्र याज्ञिकावृत्तिसिद्ध इति विद्वांस एव विदांकुर्वन्तु ॥ १४ ॥

एष परिस्तरणन्यायः सर्वेष्वाहुतिमत्सु ॥ १५ ॥

यही [दोनों] परिस्तरण का प्रकार है जो सब प्रकार के आहुति विशिष्ट अनुष्ठानों में व्यवहृत करना चाहिए ॥ १५ ॥

एषोऽनन्तरोक्तः परिस्तरणस्य न्यायः प्रकारः। सर्वेष्वाहुतिमत्सु। यत्र यत्र आहुतयस्तत्र तत्र भवति। अन्यत्र सायम्प्रातर्होमादिभ्यः। तथा च कात्यायनः—

"यान्यधस्तरणाम्नानान्न तेषु स्तरणं भवेत्।
एककार्यार्थसाध्यत्वात्परिधीनपि वर्जयेत् ॥" इति ॥

स्तरणाम्नानाद् अधः पूर्वं यानि आम्नातानि प्रातर्होमादीनि तेषु स्तरणं न भवेत्, एकेति—स्तरणवैकल्पिकान्—स्तरणैककार्यकारित्वात्परिधीनपि तेषु वर्जयेदित्यर्थः ॥ १५ ॥

कुशानां परिधीनाञ्च[1] खल्वभावे—

परिधीनप्येके कुर्वन्ति शामीलान् पार्णान् वा ॥ १६ ॥

कुछ आचार्य शमी काष्ठ की या पलाश काष्ठ की परिधि [सीमा स्थापन] करते हैं ॥ १६ ॥

परिधीन्—

"बाहुमात्राः परिधय ऋजवः सत्वचोऽव्रणाः।
त्रयाभवन्त्यशोर्णाग्रा एकेषां तु चतुर्दिशम् ॥"

इति कर्म्मप्रदीपोक्तलक्षणसंख्याकानपि। एके आचार्याः कुर्वन्ति। परिस्तरणार्थम्। तानेव विशिनष्टि—शामीलान्—शमीमयान्। "शम्याः ष्लञ्" (पा० ४।३।१४२) इति विकारार्थे प्रत्ययः। तदलाभे पार्णान्—पलाशमयान् वा। "पलाशे किंशुकः पर्णो वातपोतः" वनौषधि वर्गे इत्यमरः ॥ परिधीनां विन्यासप्रकारमाह कर्म्मप्रदीपः—

१. तथा च गृह्यान्तरम् "दर्भाणां स्थाने शरैः प्रस्तरितव्यम्" इति। शरैरित्युपलक्षणम् ॥

"प्रागग्रावभितः पश्चादुदगग्रमथापरम् ।
न्यसेत्परिधिमन्यश्चेदुदगग्रः स पूर्वतः ॥" इति ।

अत्र-एके कुर्वन्तीत्यनेनैतदपि सूचयत्याचार्यः । स्तरणकल्पे परिधिरनर्थकः । स्तरणेनैव तत्कार्यस्य कृतत्वात् । परिधिर्हि-असुरोपघातप्रतिषेधाय चतुर्द्दिक्षु क्रियते । गृह्यासङ्ग्रहे तु--

"परिधींस्तु न कुर्वीत गृह्याकर्म्मसु याज्ञिकः ।
उदकाञ्जलयस्तिस्रस्ते वै परिधयः स्मृताः ॥"

इत्युक्तम् ॥ १६ ॥

उत्तरतोऽपां पूर्णः स्रुवः प्रणीता ॥ १७ ॥

अग्नि के उत्तर में जल पूर्ण स्रुव रक्खा जाता हैं जिसे 'प्रणीता' कहते हैं ॥१७॥

उत्तरत उत्तरस्यां दिशि अग्नेः । अपाम्-अद्भिः । शेषे षष्ठी (पा० सू० २।२।५०) उदकेन पूर्णः सम्भृतः । स्रुवो यथोक्तलक्षणः । स एव प्रणीता-तत्कार्यकृद्भवति । तदनेन संस्कारविशेषादप एवाभिधीयन्ते ताभिश्च पर्युक्षणा-पवित्रमार्जनादय उदकार्थाः कर्त्तव्या इत्यभिप्रायः । प्रणीताभिरुदकार्थः कार्यः" इति च गृह्यान्तरम् । अत्र गृह्यासङ्ग्रहे-"विहितप्रतिषिद्धाश्च प्रणीतां नोपकल्पयेत्" इति । प्रणीतां तत्पात्रम् ॥ १७ ॥

भावे न वा स्यादित्येके ॥ १८ ॥

पूर्वोक्त चमस पात्र में जल रक्षित रहने से स्रुवा में जल नहीं रखने से भी हानि नहीं है—ऐसा कुछ आचार्यों का मत है ॥ १८ ॥

भावः सत्तेत्यनर्थान्तरम् । भावे अन्यस्य महतः पात्रस्य प्रणीतादेः । अनन्तरोक्तः स्रुवः प्रणीतार्थकृन्नवा[1]नैव स्यादित्येके आचार्या मन्यन्ते ॥१८॥

बर्हिषि स्थालीपाकमासाद्येध्ममभ्याधायाज्यꣳ संस्कुरुते ॥ १९ ॥

उन आस्तीर्ण कुशाओं पर स्थालीपाक को संस्थापित करके पुनः इध्मकाष्ठ (इन्धन) को [अग्नि में] चारों तरफ डालकर (अभ्याधाय) अग्नि प्रज्वलित कर उस प्रज्वलित अग्नि में आज्य (घृत) का संस्कार करे ॥ १९ ॥

बर्हिषि आस्तृते स्थालीपाकं चरुम् । आसाद्य-स्थापयित्वा इध्ममित्येकवचनं जात्यपेक्षमिध्मान्यथोक्तानभि-आत्मनोऽभिमुखं आधाय-"इध्मोऽप्ये-

---

१. चन्द्रकान्तभाष्ये तु—स्याद्वाऽदृष्टार्थमिति वाशब्दस्वारसिकार्थमाहुः ॥

धार्थमेवाग्नेर्हविराहुतिषु[1] स्मृतः" इति कर्म्मप्रदीपदर्शनादमन्त्रकमग्नौ प्रक्षिप्य । अन्यत्राङ्ग[2] होमादिभ्य इति चन्द्रकान्तभाष्यम् । भट्टनारायणोपाध्याया अप्येवमेवाहुः । वस्तुतः समन्त्रकमिध्मस्येन्धनस्याप्याधानं वचनबलात् । तथा च अङ्गिराः--

"इध्मसन्नहनाधानं चरुश्रपणमेव च ।
तूष्णीमेतानि कुर्वीत समन्त्रञ्चेध्ममादहेत् ॥" इति ।

यद्यपि समन्त्रकत्वे तूष्णीमिति विरुद्धम् । तथापि-तूष्णीमिति दर्शनान्मन्त्रस्य स्मरणमात्रं न तु पाठोऽतो न विरोधः । अतएव प्रजापतिम्मनसा[3] ध्यात्वेति वीरेश्वरादिपद्धतिषु समिदाधान उक्तम् । मन्त्रश्चात्र महाव्याहृतिरूप एव । तदुक्तं छन्दोगपरिशिष्टे--

"आज्यं द्रव्यमनादेशे जुहोतिषु विधीयते ।
मन्त्रस्य देवतायाश्च प्रजापतिरिति स्थितिः ॥" इति ।

अनादेशे-अविधाने । "होमद्रव्यस्य"इति शेषः । देवतायाश्चेत्यत्रानादेश इति सम्बध्यते । मन्त्रस्यानादेशे प्रजापतिदेवताको[4] महाव्याहृतिमन्त्रः । स च समस्तव्याहृतित्रयात्मकः । देवतायाश्चानादेशे प्रजापतिर्द्देवतेति-

---

१. इन्धनमेवः । एधार्थमग्निसमिन्धनार्थम् ॥ "ञिइन्धीदीप्तौ" (रु० आ०) अस्माद् घञि निपातः । (पा० ६।४।२९) ॥ इध्ममेधः समित्स्त्रियामित्यमरः ।

२. कात्यायनः—

"अङ्गहोम-समित्तन्त्रः-सोष्यन्त्याख्येषु कर्म्मसु ।
येषाञ्चैतदुपयुक्तं तेषु तत्सदृशेषु च ॥
अक्षमङ्गादिविपदि जलहोमादिकर्म्मणि ।
कृत्याहुतिषु सर्वासु नैतेष्विध्मो विधीयते ।" इति ।

अङ्गहोमाः सर्वप्रायश्चित्तादयः । समित्तन्त्रं—ब्रह्मचारिणां समिदाधानहोमः । येषामिति—तेषाङ्कर्म्मणामुपरि सूत्रकृता इध्मोविहितस्तेषु तत्सदृशेषु क्षिप्रहोमादिषु चेत्यर्थः ॥ क्षिप्रहोमोऽनुदितादिहोमः ॥

३. प्रजापतिन्देवतात्वेन, मन्त्रञ्च भूर्भुवस्वरित्येतद्रूपं मनसाध्यात्वा स्मृत्वेति तदर्थः । देवतास्मरणपूर्वकमन्त्रोच्चारण एवादृष्टविशेषोत्पत्तेः श्रवणात् ॥

४. यद्यपि—"त्यज्यमानद्रव्ये उद्देश्यविशेषो देवता, मन्त्रस्तुत्या चे"ति जैमिनीयपरिभाषणाद् व्याहृतीनां प्रजापतिदेवताकत्वं नोपपद्यते । तथापि प्रकृत-(पूर्वोत्तर-) वचनेभ्यस्तथात्वं श्रद्धेयव्याख्यात-पद्धतिकारादिलिखनादवसीयते । अत्र मन्त्रे स्वाहाकारो निषिद्धोऽङ्गिरसैव "स्वाहान्तत्र न कारयेद्" इति । मन्त्रश्चोक्तः समन्त्रञ्चेध्ममादहेदिति । तथा चोक्ताङ्गिरो वचनेन तूष्णीममन्त्रं समिदाधानमिति व्याख्यानमनादेशमेव । यथोक्तमधस्तात् (१-२-९) टिप्पने ॥

एकस्यैव प्रजापतिरित्यस्यार्थं इति कल्पतरुकारादयः। अत एव वचनान्तरमपि सङ्गच्छते। तथाहि—

"यत्र मन्त्रा न विद्यन्ते व्याहृतीस्तत्र योजयेत्।
मन्त्राणामेव चोद्देशे मन्त्रैः कर्म्म समाचरेत्॥
भूरादयो व्याहृतयो वेदेभ्यो निःसृता पुरा[1]।
महत्त्वं व्याहृतित्वञ्च व्याप्तास्तेनैव कर्म्मणा॥
ॐकारजननात्तासां महत्त्वं प्रतिभाष्यते।
व्याप्त्या च व्याहृतित्वञ्च तेन त्रैविद्यतां यजुः॥" इति।

अत एवाहोमेऽपि सामगब्राह्मणकर्तृकजलाहरणे व्याहृतीनामेव विनियोग इति सकलसमाचार इति शुभकर्म्मनिर्णये महामहोपाध्यायमुरारिमिश्राः प्राहुः॥ इध्मस्वरूपमुक्तमधस्तात् (१-५-१४-१५)। अथ तत्र विशेषमाह—अङ्गिराः—

"इध्मः समानवृक्षाणां द्विप्रादेशः प्रमाणतः।"

कात्यायनोऽपि—

"समिधोऽष्टादशेध्मस्य प्रवदन्ति मनीषिणः।
दर्शे च पौर्णमासे च क्रियास्वन्यासु विंशतिम्॥" इति।

तथा—

"मूलमध्याग्रदेशेषु ईषत्सिक्तांस्तु निर्वपेत्।" इति।

अयञ्च सेको घृतादिनैव। अत एवोक्तं वीरेश्वरादिभिः स्वस्वपद्धतौ "मूलमध्याग्रक्रमेणघृताक्तानि" इति। स्थौल्यादिकं तु यथोक्तं (१।१।७) धर्म्मान्तरमिध्मस्य। समित्समानमेव ग्राह्यम्। तथाच समित्स्वरूपमुक्त्वा कात्यायनः—

"प्रादेशद्वयमिध्मस्य प्रमाणं परिकीर्त्तितम्।
एवं विधाः स्युरेवेह समिधः सर्वकर्म्मसु॥" इति।

इह गृह्यकर्म्मणि। समिध्यतेऽग्निरेभिरिति व्युत्पत्त्या समिध इध्मा

---

१. तथा च मनुः—
अकारञ्चाप्युकारञ्च मकारञ्च प्रजापतिः।
वेदत्रयान्निरदुहद् भूर्भुवस्वरितीति च"॥ इति।

एवं विधा एव समित्समाना एवेत्यर्थ इति मुरारिमिश्राः । आज्यमिति । [1]अनक्त्यनेनेत्याज्यं सर्पिरादि । संस्कुरुते—संस्कुर्याद्वक्ष्यमाणेन विधिना ॥ १९ ॥

किं तदाज्यं तदाह—

सर्पिस्तैलं दधि पयो यवागूं वा ॥ २० ॥

इस प्रकार घृत [= सर्पिः], [तिल का] तेल, दही, दूध या यवागू [में से कोई एक, जो मिल जाय उसका संस्कार करे] ॥ २० ॥

विमर्श—भुने हुए जौ के आटों को दूध या जल से मिश्रित करके द्रव को तैयार करते हैं। यही 'यवागू' कहलाता है ॥ २० ॥

सर्पिर्घृतम् "घृतमाज्यं हविस्सर्पिः" इत्यमरः । तैलम्—तिलस्नेहम् । यवागूः—भृष्टयवचूर्णं षड्गुणजले (दुग्धे वा) सिद्धं द्रवद्द्रव्यम् । यूयते मिश्र्यतेऽसाविति "युमिश्रणे" (अ० प०) इत्यस्मात्कर्म्मणि (उ० ३।८१) अगूच्प्रत्ययः । "यवागूः षड्गुणजले सिद्धा स्यात्कृशरा घना" इति शार्ङ्गधरीये (म० खं० २ अ०) । अत्र पूर्वपूर्वासम्भवे उत्तरोत्तरोपादानमिति द्रष्टव्यम् ॥ सर्वमेतदाज्यमुच्यते । तदाह गृह्यासङ्ग्रहे कात्यायनः—

"अग्निना चैव मन्त्रेण पवित्रेण च चक्षुषा ।
चतुर्भिरेव यत्पूतं तदाज्यमितरद् घृतम् ॥
घृतं वा यदि वा तैलं पयो वा यदि यावकम् ।
आज्यस्थाने नियुक्तानामाज्यशब्दो विधीयते ॥" इति ।

यावकम् = यवागूः ॥ २० ॥

आज्यसंस्कारप्रकारमाह—

तत एव बर्हिषः प्रादेशमात्रं पवित्रे कुरुते ॥ २१ ॥

[कुशों के आस्तरण के बाद आज्य संस्कार के लिए] उन्हीं पहले आस्तृत कुशों में से प्रादेश प्रमाण [बालिश्त भर] का दो कुश लेकर पवित्र करे ॥२१॥

तत—स्तृतादेवेत्यर्थ इति कौमुदी । तत्रायमाशयः—तत्पदस्य पूर्वप्रक्रान्तवाचकतया स्तृतस्य चाव्यवहितापस्थितत्वात्तत्परामर्शौचित्यात् ।

१. "अञ्जूव्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु" (रु० प०) इत्यस्मात् "अञ्जेः संज्ञायाम्" (पा० ३।१।१०९ वा०) इति क्यपि बाहुलकाद् वृद्धिः । तेनाञ्जन-(स्निग्धीकरण) साधनमुच्यते । यत्तु इज्यत अनेनेति आज्यमिति चन्द्रकान्तभाष्यादावुक्तं तदर्थसङ्गतिमनुसृत्य व्याख्यानमात्रम् ॥

न च विनियुक्तविनियोगविरोधः, औपदेशिकत्वात् । यथा "व्रीहीन्प्रोक्षति" इत्यादौ प्रोक्षितानामेव व्रीहीणामवघातान्वयः । न च तत्र "प्रोक्षिता व्रीहयोऽवघाताय कल्पन्त" इति स्मरणात्सामानाधिकरण्यानुरोधात्तथोपदेशो गम्यत इति न दोष इति वाच्यम् । अत्रापि तत्पदस्य प्रक्रान्तवाचकत्वोपदेशसत्त्वात् । अत एव "न तर्हि बर्हिष इवे"ति कुसुमाञ्जलौ वर्द्धमानचरणैर्बर्हिष इवेति व्यतिरेके दृष्टान्त इत्युक्तम् । धीरवीरादिपद्धतिरप्येवमेव । भाष्यकृतस्तु—तत एव विस्तीर्णशेषादेवेति व्याचक्षते–

"स्तृतेभ्यो न प्रचिनुयाद्यातयामं स्तृतं स्मृतम् ।"

इति स्तृतनिषेधात्तेन च स्तरणक्रिययैकदा नियमादृष्टजननात्तेनैव पवित्रकरणे विनियुक्तविनियोगविरोधाच्चानास्तृतादेव ग्रहणमुचितमिति तेषामाशयः । प्रादेशमात्रे––विस्तृततर्ज्जन्यङ्गुष्ठप्रमाणे । प्रमाणेऽर्थे मात्रच्प्रत्ययः (पा० ५।२।३७) पवित्रे कुरुते इति द्विवचनं दलापेक्षम् । प्रादेशमात्रस्य बर्हिर्द्वयस्य खल्वत्र पवित्रकरणमुपदिश्यते । न हि द्विदलपवित्रस्य द्वित्वं शक्यते वक्तुम् । बर्हिषः प्रादेशमात्र इत्यभिधानात् । तथाच कर्म्मप्रदीपे कात्यायनः––

"अनन्तर्गर्भिणं साग्रं कौशं द्विदलमेव च ।
प्रादेशमात्रं विज्ञेयं पवित्रं यत्र कुत्रचित् ॥"
एतदेव हि पिञ्जल्या लक्षणं समुदाहृतम् ।
आज्यस्योत्पवनार्थ्यँत्तदप्येतावदेवतु ॥" इति ।

"समावप्रच्छिन्नाग्रौ दर्भौ प्रादेशमात्रौ पवित्रे करोति" इति च ब्राह्मणम् । अत एव शुभकर्म्मनिर्णये–"नन्वनन्तर्गर्भिणं साग्रं कौशं द्विदलमेव च" इति कात्यायनवचनादेतावद्विशेषणयुक्तं कुशपत्रद्वयं पवित्रपदार्थस्तत्र च द्विवचनविभक्त्यर्थद्वित्वान्वयात्पत्रचतुष्टयं तावल्लभ्यते, तथा चाचारविरोध इति चेन्मैवम् । "प्रादेशमात्रे पवित्रे कुरुते" इत्यत्र पवित्रपदस्य शक्त्यैकदेशपत्रमात्रपरत्वात् । मुख्यपरत्वे हि सूत्रे प्रादेशमात्रे इति विशेषणं व्यर्थमापद्येत विशिष्टशक्तपदादेव तल्लाभसम्भवात् । किञ्च "पवित्रे स्थ" इति मन्त्रलिङ्गात् प्रकृतसूत्राच्च पत्रचतुष्टयविनियोगशङ्का माभूदिति पवित्रलक्षणमभिधाय कात्यायनेनोक्तम् "आज्यस्योत्पवनार्थ्यँत्तदप्येतावदेव तु" इति । ननु विनिगमनाविरहात् कथं तदनुरोधेन सूत्रादौ मुख्यार्थत्याग इति चेन्न । तस्य सूत्रतात्पर्योन्नायकत्वात् । तदुक्तम्––

"अस्पष्टानां विधिं सम्यग् दर्शयिष्ये प्रदीपवत् ।" इति ॥

एवञ्चाचारोपष्टब्धं "पवित्रमन्तरा कृत्वे"ति गृह्यासङ्ग्रहवचनमपि सङ्गच्छते । एवञ्च "पवित्रे स्थो वैष्णव्यौ" इत्यादि मन्त्रस्थपवित्रपदानन्तरं यत्र यत्र द्विवचनविभक्तिरस्ति तत्र तत्र पवित्रपदं शक्यैकदेशदलपरमेव श्रोत्रियपदवत् । देवस्त्वेति मन्त्रस्थं पवित्रपदञ्च मुख्यपरमेव, अनुपपत्त्यभावात् । अतएव तत्र पवित्रेणेत्येकवचनमपि सङ्गच्छते इति दिक् ।। कश्चित्तु–"कौशन्द्विदलमेव च" इति पवित्रलक्षणे दलपदं न पत्रपरमपि तु तदुभयपार्श्वपरमित्येकमेव पवित्रपदार्थस्तथा च न द्विवचनानुपपत्तिरिति प्रकृते समाधानमाह तन्न––एवमप्यर्घादावेकपत्रात्मकपवित्रदानापत्तावाचारविरोधस्य "आज्यस्योत्पवनार्थं यत्तदप्येतावदेव तु" इति परिशिष्टवचनविरोधस्य, सूत्रे "प्रादेशमात्रे" इति विशेषणवैयर्थ्यस्य चापरिहारादिति मुरारिमिश्राः प्राहुः ।। २१ ।।

ओषधिमन्तर्द्धायच्छिनत्ति न नखेन, "पवित्रे स्थो वैष्णव्या"विति ।। २२ ।।

'तुम विष्णु देवता के पवित्र हो'—इस मन्त्र का पाठ करके ओषधि अर्थात् व्रीहि आदि को मध्य में स्थापित करके छेदन करे, नाखून से छेदन न करे ।। २२ ।।

ओषधिम्––व्रीह्यादिकम् अन्तर्द्धाय-अन्तरा कृत्वा "पवित्रेस्थ" इति मन्त्रेण छिनत्ति कुशेनैव कुशाग्र इत्यर्थः ।। हे पवित्रे ! युवां "वैष्णव्यौ" विष्णुदेवताके 'स्थः' भवथः–इति मन्त्रार्थः ।। २२ ।।

अथैने अद्भिरनुमार्ष्टि "विष्णोर्मनसा पूतेस्थ" इति ।। २३ ।।

इसके बाद इन दोनों [पवित्र] को 'विष्णु देवता के अभिप्राय से ही तुम पवित्र हो' इस मन्त्र को कहते हुए जल से प्रक्षालित करे ।। २३ ।।

अथानन्तरमेवाविमुञ्चन् एने पवित्रे कुशपत्रे अनुमार्ष्टि सव्यहस्तेन मूलप्रदेशे गृहीत्वा दक्षिणहस्तेन प्रणीतोदकेन "विष्णोर्मनसे"––ति मन्त्रेणानुमृज्यादित्यर्थः ।। हे पवित्रे ! युवां 'विष्णोः' 'मनसा' सम्यगनुध्यानेन 'पूते' पवित्रे'स्थः' भवत–इति मन्त्रार्थः ।। २३ ।।

सम्पूयोत्पुनात्युदगग्राभ्यां पवित्राभ्याम् ।। २४ ।।

उक्त प्रकार से दोनों पवित्रों का शोधन कर उत्तराग्र करके उन्हीं के द्वारा [आज्य का] उत्पवन करे अर्थात् घृत में गिरे हुए तृण आदि को बाहर करके पूर्व की ओर फेंक दे ।। २४ ।।

सम्पूयेति--प्रकृतत्वादाज्यम् । अत्राङ्गिराः--

"पवित्रमन्तरा कृत्वा स्थाल्यामाज्यं समावपेत् ।
एतत्सम्पूतनं नाम पश्चादुत्पवनं स्मृतम् ।।" इति ।

स्थाल्याम्=तैजस्यां मृण्मय्यां वा । तथा च कात्यायनः--

"आज्यस्थाली तु कर्तव्या तैजसद्रव्यसम्भवा ।
माहेयी वाऽपि कर्त्तव्या नित्यं सर्वाग्निकर्म्मसु ।।"

आज्यस्थाल्याः प्रमाणं तु यथाकामं तु कारयेत् ।
सुदृढामव्रणाम्भद्रामाज्यस्थालीम्प्रचक्षते ।।" इति ।।

माहेयी--मृन्मयी । सा च हस्तमात्रघटिता । न तु कुलालचक्रनिष्पन्ना ग्राह्या । तथा च स एव--

"कुलालचक्रनिष्पन्नमासुरं मृण्मयं भवेत् ।
तदेव हस्तघटितं प्रशस्तं हव्यकव्ययोः ।।" इति ।

उदगग्राभ्यां पवित्राभ्यां-पवित्रघटितदलाभ्यामित्यर्थः । उत्पुनाति ऊद्ध्वं शोधयति ।। २४ ।।

कथमिति ? तत्प्रकारमाह--

अङ्गुष्ठाभ्याञ्चोपकनिष्ठिकाभ्याञ्चाङ्गुलिभ्यामभिसंगृह्य प्राक् शस्त्रिरुत्पुनाति "देवस्त्वा सवितोत्पुनात्वच्छिद्रेण पवित्रेण वसोः सूर्य्यस्य रश्मिभि"रिति सकृद्यजुषा द्विस्तूष्णीम् ।। २५ ।।

आज्योत्पवन काल में दोनों पवित्र को अङ्गुष्ठ और अनामिका [तीसरी] अङ्गुली से पकड़ कर प्राङ्मुख तीन बार उत्पवन 'देवस्त्वा'—'हे आज्य ! सविता देव अव्यवच्छिन्न रूप से अज्ञात केश-कीट आदि का तेज व सूर्य की किरणों के द्वारा इस पवित्र से शोधन करें'—आदि मन्त्र से शोधन करे । एक बार यजुष् मन्त्र का पाठ करते हुए शोधन करे और दो बार बिना मन्त्र के चुपचाप उत्पवन करे ।। २५ ।।

तथा चैकहस्तानामिकाङ्गुष्ठाभ्यां मूलदेशे अपरहस्तानामिकाङ्गुष्ठाभ्यामप्रदेशेऽभिसंगृह्य--अर्थात्पवित्रे गृहीत्वोत्तराग्राभ्यां ताभ्यामाज्यमादाय "देवस्त्वे"ति यजुषा प्राङ्मुखं प्राक्शः । त्रिरिति । मन्त्रेण सकृदुत्पुनाति ऊर्ध्वन्नीत्वा क्षिपति । द्विस्तृष्णीमित्यर्थः ।। अत्र व्यस्तहस्तानामिकाङ्गुष्ठाभ्यां पवित्रग्रहणमिति पद्धतिकृतो धीरेश्वरादयः ।। मन्त्रार्थस्तु—हे आज्य ! 'त्वा' त्वां 'सविता' 'देवः' आभ्याम् 'अच्छिद्रेण' अच्छिद्राभ्यामव्यवच्छिन्नाभ्याम् 'पवित्रेण' पवित्राभ्याम् । 'उत्' अधिकं 'पुनातु'

अज्ञातकेशकीटादिदोषमपनयतु। किञ्च वसु तेजः रश्मिर्वा (निघं १।५।१०)। तत्प्रधानत्वात्सोऽपि (सूर्य्यः) तथोच्यते। तस्य 'वसोः' तेजोनिधेः 'सूर्य्यस्य रश्मिभिः' किरणैः "किरणप्रग्रहौ रश्मी" इत्यमरः। त्वामुत्पुनात्विति सम्बन्धः। अभिधानभेदाभिप्रायेण सवितासूर्य्यादन्यः।[1] पवित्रेणेति व्यत्ययेन एकवचनम् ॥ २५ ॥

अथैने अद्भिरभ्युक्ष्याग्नावप्युत्सृजेत् ॥ २६ ॥

आज्योत्पवन के बाद इन दो पवित्र कुश को जल से धोकर [दक्षिण] अग्नि में फेंक दे ॥ २६ ॥

अथानन्तरमेवाविमुञ्चन्नेव एते पवित्रे सव्येन गृहीत्वा दक्षिणेन अद्भिः प्रणीताजलेनाभ्युक्ष्य दक्षिणेनैवाग्नावपि उत्सृजेन्निःक्षिपेदित्यर्थः ॥ २६ ॥

अथैतदाज्यमधिश्रित्योदगुद्वासयेत् ॥ २७ ॥

इसके बाद सर्पिः आदि रूप आज्य को अग्नि के ऊपर तपा कर अग्नि के उत्तर की ओर कुशाओं पर उतार कर रख दे ॥ २७ ॥

अथोत्पवनानन्तरम्। एतद् अनन्तरोक्तं सर्पिरादिरूपमाज्यम्। अधिश्रित्य—अग्नेरुपरि कृत्वा प्रतप्य उदगुत्तरस्यामग्नेः कुशोपरि उद्वासयेत्। अवतार्य्य स्थापयेत्। अत्र चाधिश्रयणं दधिभिन्नानामेवाज्यानान्न तु दध्नोऽपि तत्र निषेधात्। तथाच कात्यायनः—

"आज्यानां सर्पिरादीनां संस्कारे विधिचोदिते।
अनधिश्रयणं दध्नः शेषाणां श्रपणं स्मृतम् ॥" इति।

तथा—

"यथा सीमन्तिनी नारी पूर्वगर्भेण संस्कृता।
एवमाज्यस्य संस्कारः पूर्वेणैवोत्तरस्य तु ॥' इति।

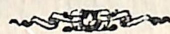
एवञ्च यत्किञ्चिदवशिष्टे संस्कृते घृतादौ पुनर्घृतान्तरप्रवेशने तत्र न संस्कारान्तरापेक्षा। सर्वापचारे पुनस्तदपेक्षैव तत्र संस्काराभावादिति द्रष्टव्यम् ॥ वारत्रयमेवमाज्यसंस्कार इति पद्धतिकृतो धीरेश्वरादयः ॥

---

१. मन्त्रमयीवैं देवता इति हि कर्म्ममीमांसकानामलाभः। तस्य शब्दात्मिका इत्यर्थः। अत एव चणकमसूरादयोऽपि देवतास्तेषामाम्नायन्ते। तदधिष्ठात्र्यो देवता इति हि तत्त्वविदः प्राहुः ॥

एवमाज्यस्य संस्करणकल्पो भवतीति ॥ २८ ॥

॥ इति गोभिलगृह्यसूत्रे प्रथम प्रपाठके सप्तमी कण्डिका ॥ १ ॥ ७ ॥ * ॥



इस प्रकार यह आज्य के संस्कार का कल्प (=विधान) होता है ॥ २८ ॥

विमर्श—इस प्रकार जहाँ जहाँ आज्य संस्कार करना हो इसी कल्प के अनुसार करे। इसी प्रकार स्रुव आदि को भी तपाकर बगल में रखना चाहिए ॥२८॥

॥ इस प्रकार महाकवि पं० रामकुबेर मालवीय के द्वितीय आत्मज
डॉ० सुधाकर मालवीय कृत गोभिलगृह्यसूत्र के प्रथम प्रपाठक
में सप्तम कण्डिका का हिन्दी अनुवाद पूर्ण हुआ ॥ ७ ॥



एवमनेन प्रकारेण आज्यस्य संस्करणकल्पो भवति। अत्र यत्राज्यं संस्क्रियते तत्र तत्रैवं कर्त्तव्यमित्यर्थः। इति कण्डिकापरिसमाप्त्यर्थः। स्रुवादिसंस्कारसमुच्चयार्थो वा। तथाच गृह्यान्तरम्–स्रुवं प्रतप्य दर्भैः सम्मृदाज्याभ्युक्ष्य पुनः प्रतप्य निदध्यात्" इति। कर्म्मप्रदीपोऽप्याह—

"तेषां प्राक्शः कुशैः कार्य्यः सम्प्रमार्गो जुहूषता।
प्रतापनश्च लिप्तानां प्रक्षाल्योष्णेन वारिणा॥"

॥ इति श्रीमद्गोभिलीयगृह्यसूत्रव्याख्यायां "मृदुला"ऽऽख्यायां मुकुन्दशर्म्मसङ्कलितायां प्रथमप्रपाठकस्य सप्तमी
कण्डिका ॥ १ ॥ ७ ॥ * ॥



अथाष्टमो कण्डिका

पूर्वमाज्यमपरः स्थालीपाकः ॥ १ ॥

[जो पहले (१.४.५, १.७.२६-२८) चरुस्थाली एवं आज्यपात्र के अग्नि के उत्तर में रखने को कहा था उनमें] पहले आज्यपात्र और उसके पीछे चरुस्थाली रखना चाहिये ॥ १ ॥

पूर्वापरदेशत्वादनयोरपि पूर्वापरव्यपदेशः। पूर्वस्यान्दिश्याज्यम् आसादयितव्यम्। अपरस्याश्च स्थालीपाक आसादयितव्य इति शेषः। पूर्वं खल्वग्नेरुत्तरतः समासादितयोरनयोरिदानीङ्क्रियासौकर्यार्थमग्नेः पश्चिमतः पूर्वापरभावेन समासादनमिति बोद्धव्यम्। तथाच गृह्यान्तरम्––"होत्रग्न्योरन्तरा आज्यहविषी आसादयेत्" इति। इदानीं हविषः पश्चिमतः समासादनादेव वक्ष्यत्याचार्य्यः "अथैतद्धविरुच्छिष्टमुदगुद्रास्य" इति ॥ १ ॥

पर्युक्ष्य स्थालीपाक आज्यमानीय मेक्षणेनोपघातꣳहोतुमेवोपक्रमते ॥ २ ॥

(अग्नि कार्य में अनुष्ठेय पूर्वोक्त 'अदितेऽनुमन्यस्व' आदि के द्वारा) पर्युक्षण के (अन्त में सब कार्य) (१.३.१-५) सम्पन्न होने पर स्थालीपाक में आज्य प्रक्षेप कर (यथोक्त १.५ १९) 'उपघात' होम करने के लिए उपक्रम करना चाहिए ॥ २ ॥

विमर्श—१. स्रुच के मध्य से चरुग्रहण के पहले स्रुवा के द्वारा आज्य ग्रहण को 'उपस्तरण' अर्थात् 'आस्तरण' कहते हैं और चरुग्रहण के पश्चात् आज्य ग्रहण को 'अभिघारण' या 'आच्छादन' कहते हैं। इस प्रकार पहले आज्य, बाद में चरु, पुनः आज्य लेकर जो होम किया जाय उसको 'उपस्तरणाभिघारित' कहते हैं। अतः जिस होम में 'उपस्तरण' या 'अभिघारण' की आवश्यकता न हो वहाँ उसे 'उपघात' होम अर्थात् यज्ञारम्भ द्योतक होम कहते हैं ॥ २ ॥

"अदितेऽनुमन्यस्व" इत्येवमादिनाऽग्निं पर्युक्ष्य स्थालीपाके चरौ आज्यमानीय––प्रक्षिप्य मेक्षणेन यथोक्तेन (१।५।१९ सू०) उपघातम्––उपघातनामा यथा भवति होमस्तथा होतुमेवोपक्रमते––प्रारभेत इत्यर्थः। विद्ध्यर्थेऽत्र लेट्। एवकारोऽवधारणार्थः। नान्यत् किञ्चिदभिघारणादिकं कुर्यादिति तदर्थः। "चरावाज्यमानीय प्रपदविरूपाक्षौ जपित्वा समिधमाधाय जुहुयादेव" इति भट्टभाष्यम्। तदनेनोपघातहोमे अभिघारणादिक-

माज्यभागौ च न भवतीति सूचयति । द्विविधः खलु होमो याज्ञिकप्रसिद्धः । उपघातः उपस्तीर्णाभिघारितश्च । चरावाज्यं निःक्षिप्य विनैवाभिघारणादि-कर्य्यंद्धूयते स उपघातः। यश्च स्रुचि स्रुवेणाज्येनाभिघार्य्य चरुमवदाय पुनराज्येनाभिघार्य्य हूयते स उपस्तीर्णाभिघारित इत्याख्यायते। स्रुवेण स्रुचि यदाज्यं प्रथमङ्गृह्यते तदुपस्तीर्णम्, हविरवदायानन्तरं यदाज्यंदीयते तदभिघारितम् इति व्यपदिश्यते । यथा चोपस्तीर्णाभिघारितं होतव्यं तदनुपदं व्युत्पादयिष्यते। यथा चोपघातहोमस्तदत्र सूत्र्यते। तथा च गृह्यासङ्ग्रहः—

पाणिना मेक्षणेनाथ स्रुवेणैव तु यद्धविः ।
हूयते चानुपस्तीर्य उपघातः स उच्यते ।।
यद्युपघातञ्जुहुयाच्चरावाज्यं समावपेत् ।
मेक्षणेन च होतव्यं नाज्यभागौ न स्विष्टकृत् ।। इति ।

तदेवमुपघातमिति पारिभाषिकी संज्ञा होमविशेषस्य। स खल्वयम् उपघातहोमः समशनीयचरु--पितृयज्ञचर्वोरन्यत्रापि बहुदैवत्ये चरौ आन्व-ष्टक्यचरौ च भवति । तदाह कर्म्मप्रदीपः--

"चरौ समशनीये तु पितृयज्ञचरौ तथा ।
होतव्यं मेक्षणेनान्यदुपस्तीर्णाभिघारितम् ।।" इति ।

चरौ तु बहुदैवत्ये होमस्तस्योपघातवत्" इति च स्मरणम् । वक्ष्यति चान्वष्टक्ये "कंसे चरुं समादाय मेक्षणेनोपघातञ्जुहुयात्" इति ।। "तत्रा-न्वष्टक्यपितृयज्ञयोः क्षिप्रहोमधर्म्मः । समशनीये तु ब्रह्मोपवेशनादितन्त्र-धर्म्म" इति भट्टनारायणोपाध्यायाः । वृषोत्सर्गहोमस्य तु बहुदैवत्येऽपि नोपघातत्वं, तदाह कर्म्मप्रदीपः--

"एतेभ्य एव जुहुयान्मेक्षणेनावदाय च ।
स्रुच्याहुतीश्चरोः पृथक् सिञ्चेदाज्याभिघारितम्" ।। इति ।
"चतुर्गृहीतं कृत्वाज्यमाभिर्ऋग्भिः पृथक् पृथक् ।।
स्वाहाकारावसानाभिः-जुहुयाद्विधिवत्सदा ।।" इति च ।।२।।

यद्युवा उपस्तीर्णाभिघारितञ्जुहुयात् आज्यभागावेव प्रथमौ जुहुयात् ।। ३ ।।

जिस समय 'उपस्तीर्णाभिघारित' नामक होम करने की इच्छा हो उस समय उसके पूर्व दो 'उपघात' होम रूप आज्य भाग होम करना चाहिए ।। ३ ।।

उ-इति वितर्कार्थको निपातः । वै-इति निश्चयार्थः । यद्युपस्तीर्णाभि-

घारितं यथानुपदोक्तलक्षणं 'जुहुयात्'[1]। तर्हि आज्यभागावेव प्रथमौ जुहुयात्। यद्वा तर्ह्येवाज्यभागौ प्रथमौ जुहुयादित्येवमवध्रियत एवकारेण। तदिमावाज्यभागौ उपघातहोमे न भवत इति दर्शयति। मुरारिमिश्रास्तु—उपस्तीर्णाभिघारितं लक्षयित्वा तथा वा जुहुयात्। एवकारो भिन्नक्रमस्तथा चोभयोरपि कल्पयोराज्यभागौ प्रथमौ जुहुयादेवेत्यर्थः। विकल्पश्च मेक्षणहोमेन सह व्यवस्थितः। व्यवस्थायामाह कात्यायनः—

"चरौ समशनीये तु पितृयज्ञचरौ तथा।
होतव्यं मेक्षणेनान्यदुपस्तीर्णाभिघारितम्" ॥ इति ॥ ३ ॥

अथ कथमाज्यभागौ जुहुयात्तदुच्यते—

चतुर्गृहीतमाज्यं गृहीत्वा पञ्चावत्तं तु भृगूणाम्।
अग्नये स्वाहेत्युत्तरतः सोमाय स्वाहेति दक्षिणतः प्राक्शो जुहुयात् ॥४॥

(इस होम में स्रुव के मध्य स्रुवा के द्वारा) चार बार आज्य ग्रहण करके (होम करना चाहिए। किन्तु) भृगु गोत्रोत्पन्न गण के प्रति होम में पाँच बार (आज्य ग्रहण करना चाहिये)। [चार बार ग्रहण किया गया आज्य] पहले 'अग्नये स्वाहा' इस मन्त्र से अग्निकुण्ड में ही किन्तु उत्तर में और तत्पश्चात् 'सोमाय' स्वाहा' इस मन्त्र से अग्निकुण्ड के दक्षिण में पूर्व दिक्गत करके होम करना चाहिए ॥ ४ ॥

चतुःकृत्वो गृहीतम् स्रुवेण[2]। स्रुचीति[3] शेषः। गृहीत्वा कृत्वा[4]। "अग्नये स्वाहा" इतिमन्त्रेणाग्नेरुत्तरभागे प्राक्शः प्राग्गतं[5] यथा स्यात्तथा स्रुचैव जुहुयात्। एवं (तथैव गृहीत्वा) "सोमाय स्वाहा" इत्यग्नेर्द्दक्षिणभागे प्राग्गतञ्जुहुयात्। अन्यास्त्वाहुतयोऽग्नेर्म्मध्यभागे होतव्या इत्यर्थादवगम्यते। तथा च साङ्ख्यायनगृह्यम्—"उत्तरमाग्नेयं दक्षिणे सौम्यं मध्येऽन्या आहुतयः" इति। वक्ष्यति चाचार्य्यः "अग्नये स्वाहेति मध्ये

१. अत्र जुहुषेदिति चन्द्रकान्तभाष्यादौ पाठः। होतुमिच्छेदिति तदर्थः।

२. आज्यधारणे तस्य गुणत्वात्।

३. अत्र मुरारिमिश्राः स्रुचैव जुहुयात् कुतः? होमार्थत्वादेव तस्या इत्याहुः। जुहूः प्रदाने गुणभूतेति तान्त्रिकसमयात्। "यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोति यस्य खादिरी न सोऽन्नात्परिच्यवते" इति च श्रवणात्। पर्णमयी-पलाशमयी। तथाचोक्तं "द्रव्यसंस्कारकर्म्मसु फलार्थवादः स्यात्" (जै० सू० ४।३।१) इति। "अनेन गृहीतं जुहूः जुहोति" इति च गृह्यान्तरम्॥

४. "अचालम्भनमालभेत्" इत्यादिवदिहापि प्रत्ययार्थमात्रविवक्षा द्रष्टव्या।

५. प्राङ्मुख इति मुरारिमिश्राः।

जुहुयात्" इति ॥ अत्राज्यग्रहणे--गोत्रकृतां व्यवस्थामाह पञ्चावत्तन्त्विति। पञ्चवत्तं--पञ्चकृत्वोवदानेन गृहीतन्तु भृगूणाम् भृगुगोत्रापत्यानाम्। अत्र "अत्रिभृगुकुत्सवसिष्ठगौतमाङ्गिरोभ्यश्च" (पा० २।४।६५) इति गोत्रप्रत्ययस्याणोलुक्। भृगुगोत्राणां भार्गवप्रवराणाञ्चेति भवदेवभट्टः। भार्गवप्रवराणामिति भट्टनारायणोपाध्यायाः। तन्त्रान्तरकारास्तु स्मरन्ति--

"जामदग्न्या वत्सविदा वार्ष्टिषेणास्तथैव च।
भार्गवाश्च्यवना और्वाः पञ्चावत्तिन ईरिताः॥" इति ॥४॥

अथ हविष उपस्तीर्य्यावद्यति ॥ ५ ॥

इस (उपघात होम) के अनन्तर उसी स्रुच् के स्रुव से एकबार आज्य ग्रहण करके, उसके ऊपर 'मेक्षण' से चरु का ग्रहण करना चाहिए ॥ ५ ॥

अथानन्तरम्। उपस्तीर्य्य--प्रकृतत्वादाज्यं स्रुवेण स्रुचि निधाय। हविषः इत्यवयवलक्षणा षष्ठी। तथाच हविषोऽवयवं मेक्षणेन अवद्यति--अवदाय स्रुचि गृह्णातीत्यर्थः ॥ ५ ॥

कथमवद्यतीत्युच्यते--

मध्यात् पूर्वार्द्धाच्चतुरवत्ती चेद्भवति, मध्यात्पूर्वार्द्धात् पश्चार्द्धादिति पञ्चावत्ती चेद्भवतीति ॥ ६ ॥

[यहाँ विशेषता यह है कि] यदि भृगुगोत्र का [यजमान] हो तो चरुस्थाली के मध्य में पश्चार्द्ध से एवं पाँचबार चरु ग्रहण करना चाहिए और यदि अन्य गोत्र का [यजमान] हो तो चरुस्थाली के बीच में पूर्वार्द्ध से तथा मात्र चार बार ही चरु ग्रहण करना चाहिए ॥ ६ ॥

मध्यात्--चरोर्म्मध्यप्रदेशात्। पूर्वार्द्धात्--चरोरित्येव। चशब्दश्च समुच्चयार्थो लुप्तवद् द्रष्टव्यः। तथाचान्यत्राप्युक्तम् "विनापि चं समुच्चयो द्योत्यते गामश्वं पुरुषम्पशुमिति यथे"ति। तथाच गृह्यान्तरे "मध्यात्पूर्वार्द्धाच्च हविषोऽवद्यति" इति। चतुःकृत्वोऽवत्तान्यवदानानि सन्त्यस्येति मत्वर्थे[1] इनिः। (पा० ५।२।११५) एवमग्रेऽपि। चेद्यदि अवदाता भवति तर्हि मध्यात्पूर्वार्द्धाच्चावद्यतीति गतेन सम्बन्धः। चेत्-यदि पुनः पञ्चावत्ती अवदाता भवति, तदा चरोर्म्मध्यात्--पूर्वार्द्धात् पश्चार्द्धात्-अपरा[2]-

---

१. यद्यपि "न कर्म्मधारयान्मत्वर्थीयो बहुव्रीहिश्चेतदर्थप्रतिपत्तिकर" इति न्याय× पाणिनीयैरादृतस्तथाप्येष "कृष्णशर्पवान्वल्मीकः" इत्यादौ व्यभिचरित इत्युपेक्षितोऽत्र तस्य परिग्रहः॥

२. पश्चार्द्धात्। "अपरस्यार्द्धे पश्चभावो वक्तव्य" (पा०सू० २।१।५८ वा०) इति साधुः॥

र्धाच्च अवद्यतीत्यर्थः । इति–एवमवदानं भवतीति मन्तव्यम् ॥ ६ ॥

अभिघारयत्यवदानानि ॥ ७ ॥

अब यथागृहीत हवि को आज्य और स्रुव से आप्लावित करना चाहिए ॥७॥

अवदानानि––यथा स्रुचि गृहीतानि हवींषि अभिघारयति–आज्यस्रुवेणाप्लावयति । बहुवचनं वक्ष्यमाणत्रिर्होमापेक्षया । व्यक्तिभेदापेक्षया वा ॥७॥

प्रत्यनक्त्यवदानस्थानान्ययातयामतायै ॥ ८ ॥

वस्तुतः जिस-जिस स्थान से 'मेक्षण' से चरु निकाल ले, उस उस स्थान में आज्य (स्रुव) से सिञ्चित करे । जिससे चरु सूख न जाय और यज्ञ के योग्य रहे ॥८॥

अवदानानां स्थानानि येभ्योऽवद्यति तानि मेक्षणक्षतस्थानानीत्यर्थः । बहुवचनं पूर्ववद्व्याख्येयम् । प्रति प्रत्येकम् अनक्ति––अक्तानि करोति । आज्यस्रुवेणाप्लावयतीत्यर्थः । किमर्थम् ? अयातयामतायै । यज्ञायोग्यता यातयामतेत्युच्यते[१] । न यातयामताऽयातयामता तस्यै । एतदुक्तं भवति । मेक्षणक्षतेन यातयामता चरोरुत्पद्यते । आज्याप्लावनेन पुनरयातयामता तस्य भवतीति ॥ ८ ॥

एवं खल्ववदाय––

अग्नये स्वाहेति मध्ये जुहुयात् ॥ ९ ॥

'अग्नये स्वाहा' इस मन्त्र से (अग्नि के) मध्य [उसी गृहीत चरु के ऊपर पुनः आज्य डालकर उसी आज्य विशिष्ट, चरु से] हवन करना चाहिए ॥ ९ ॥

मध्ये-अग्नेरेव ॥ ९ ॥

कति जुहुयादित्युच्यते––

सकृद्वा त्रिर्वैतेन कल्पेन ॥ १० ॥

[इस उपस्तीर्णाभिघारित होम को] इसी परिपाटी से एक बार या तीन बार करना चाहिए ॥ १० ॥

एतेन कल्पेन–अनन्तरोक्तयाऽऽवृता (परिपाट्या) इत्यादरार्थमुक्तम् सकृद्वा त्रिर्वा जुहुयात् । वाशब्दद्वयन्तुल्यवद्विकल्पार्थम् । त्रित्वपक्षे च––

---

१. तथाच "यो ह वा अविहितार्षेयच्छन्दो दैवतमन्त्रेण यजति याजयति अधीते ध्यापयति × × × वा यातयामान्यस्य च्छन्दांसि भवन्ती"ति ॥ उद्धृतस्य शिष्टमुच्छिष्टमित्येव दोषोऽपनीयते प्रत्यञ्जनेनेति वदन्ति ॥

"एका देया त्रिस्रो देया" इत्यादिवच्छ्रेयसो भूयस्त्वं[1] कल्पयितव्यम् । अन्ये-स्त्वाहुः अभावविकल्पोऽयं, त्रित्वपक्षाशक्तौ सकृत् ॥ १० ॥

अथ स्विष्टकृत उपस्तीर्यावद्यत्युत्तरार्द्धपूर्वार्द्धात् ।
सकृदेव भूयिष्ठमवद्य द्विरभिघारयेत् ॥ ११ ॥

इस [प्रधान होम] के बाद स्विष्टकृत् होम करने के लिए [पहले की ही तरह] स्रुवा से आज्य लेकर स्रुच् में लेने पर उस चरुस्थाली में चरु के उत्तरार्द्ध के पूर्वार्द्ध से केवल एक बार कुछ ज्यादा परिमाण में चरु का ग्रहण करना चाहिए और पुनः उसके ऊपर आज्य (स्रुव) से दो बार सिञ्चन करना चाहिए ॥ ११ ॥

विमर्श—दर्शपौर्णमास का प्रकृत होम बाद में (२२.२५) कहा जाएगा। विवाह आदि समस्त कार्यों का प्रकृत होम होता है। प्रकृत होम को ही आवाप कहते हैं। सभी कर्मों में जहाँ 'आवाप' होता है, वहाँ उसके पहले 'उपघात होम' और 'उपस्तीर्णाभिघारित' होम किया जाता हैं। सब के अन्त में 'स्विष्टकृत्-होम' होता है। इस प्रकार चार प्रकार के होम चरु द्वारा अनुष्ठित होते हैं ॥ ११ ॥

अथ--प्रधानहोमानन्तरं स्विष्टकृतः[2] अर्थे। अवद्यति अवदाय[3] स्रुचि गृह्णाति। किङ्कृत्वा? उपस्तीर्य्य--सकृदाज्यं स्रुवेण स्रुचि निधाय। कथम्? चरोरुत्तरार्द्धपूर्वार्द्धात्–अपराजिताया (ऐशान्या) दिशः। सकृ-देकबारमेव भूयिष्ठं बहुतरं यथा स्यात्तथा अवद्य–हविर्द्विरभिघारयेत्। आज्यस्रुवेण वारद्वयमाप्लावयेत्। एवं किल चत्वार्यवदानानि सम्पद्यन्ते। सकृदुपस्तरणमवदानं हविषोद्विरभिघारणञ्चेति ॥ ११ ॥

यद्यु पञ्चावत्ती स्याद् द्विरुपस्तीर्य्यावदाय द्विरभिघारयेत् ॥ १२ ॥

[आज्य सिञ्चन में विशेषता यह है कि यदि यजमान] भृगुगोत्रोत्पन्न [–पञ्चावत्ती] हो तो उसे दो बार 'उपस्तरण' [कर्म] करके चरु ग्रहण पूर्वक दो बार अभि-घारण करना चाहिये ॥ १२ ॥

उ वितर्के[4] । यदि पुनरयं यजमानः पञ्चावती[5] स्यात् तर्हि द्विरुपस्तीर्य

---

१. कात्यायनोऽपि—

"यत्र स्यात्कृच्छ्रभूयस्त्वं श्रेयसोऽपि मनीषिणः ।
भूयस्त्वं ब्रुवते तत्र कृच्छ्राच्छ्रेयोविशिष्यते" ॥ इति ।

२. चतुर्थ्यन्तपाठे तादर्थ्ये चतुर्थी बोध्या ॥

३. द्यतिरत्र खण्डने (दि० प०) ॥

४. "यद्युवा इति पाठे सोऽयं निपातसमुदायो यद्यर्थ इति भाष्यम् ॥

५. यत्र "कृष्णसर्पवान्वल्मीक" इतिवन्मत्वर्थीय इनिर्बोध्यः। पञ्च-संख्याकम् अव-त्तमवदानमस्यास्तीति कर्त्तरि षष्ठ्यर्थे इनिः ॥

अवदाय हविर्द्विरभिघारयेत्–द्विवारमाप्लावयेत् । पञ्चावदानसम्पत्त्यर्थम् ॥ पञ्चावत्तिनस्तु––

"जामदग्न्या विदा वत्सा वार्ष्टिषेणास्तथैव च ।
भार्गवाश्च्यवना और्वाः पञ्चावत्तिन ईरिताः" ॥

इति गोभिलगृह्यभाष्योक्ता बोध्याः ॥ १२ ॥

न प्रत्यवनक्त्यवदानस्थानान्ययातयामतायै ॥ १३ ॥

स्विष्टकृत् होम में चरु ग्रहण करके उस चरु को याग के योग्य ठीक रखने के लिए उसमें आज्य सिञ्चन न करे [क्योंकि चरु होम के अनुष्ठित होने पर उसमें कोई क्षति नहीं है] ॥ १३ ॥

स्विष्टकृतोऽर्थेऽवद्य होमान्तरकर्तव्यताभावात्तदर्थं – मयातयामतायै प्रत्यवनेजनमवदानस्थानस्य नोपयुज्यत इति न प्रत्यवनक्तीति समासार्थः । अत्र "मशकाय धम" इतिवन्निवृत्त्यर्थे[१] भाक्तमिदमयातयामताया इति । केचित्तु–संहितापाठे षष्ठयन्तं पठन्ति । तत्र निवृत्त्यर्थमित्यस्याध्याहारः क्लेशः । पञ्चम्यन्तत्वे तु हेतौ पञ्चमी "विभाषा" (पा० २।३।८५) इति योगविभागाद् बोध्या । यातयामं पर्युषितम् ॥ १३ ॥

अग्नये स्विष्टकृते स्वाहेत्युत्तरपूर्वार्द्धे जुहुयात् ॥ १४ ॥

[स्विष्टकृत् होम का मन्त्र और स्थान इस प्रकार है—] इस गृहीत होमीय 'अग्नये स्विष्टकृते स्वाहा' मन्त्र से अग्नि के उत्तरार्द्ध से पूर्वार्द्ध में हवन करे [यही स्विष्टकृत् होम है] ॥ १४ ॥

उत्तरपूर्वार्द्धे––अग्नेरेव । ऐशान्यामिति तदर्थः ॥ १४ ॥

महाव्याहृतिभिराज्येनाभिजुहुयात् ॥ १५ ॥

'भूर्भुवः स्वः' मन्त्र से आज्य द्वारा होम करना चाहिए [इसी को 'महाव्याहृति होम' कहते हैं] ॥ १५ ॥

भू–र्भुवः–स्वरिति तिस्रो महाव्याहृतयः प्रसिद्धाः । कर्म्मप्रदीपोऽप्याह–
भुराद्यास्तिस्र एवैता महाव्याहृतयोऽव्ययाः" ॥ इति ।

ताभिः स्रुवेण [२]कृत्वाऽऽज्येनाभिमुख्येन जुहुयात् । स खल्वयम्महाव्याहृतिहोमश्चरुहोमे पश्चादेव । तथैवोपदेशात् । आज्याहुतिषु तु पुरस्तात्परस्ताच्च कर्त्तव्य इति वक्ष्यत्युपरिष्टात् ॥ १५ ॥

---

१. लाक्षणिकम् ।　　२. द्रवद्द्रव्यकरत्वात् ।

प्राक्स्विष्टकृत आवापः ॥ १६ ॥

स्विष्टकृत होम के पूर्व में ही 'आवाप'[1] [= दर्शपौर्णमास का या विवाह आदि का प्रकृत होम] करे ॥ १६ ॥

स्विष्टकृत—स्तद्धोमात्प्राक्" आ उप्यत इत्यावापः । प्रधानहोमः "कर्तव्यः" इति शेषः । मुख्यहोममात्रे—स्विष्टकृत्तदन्ते महाव्याहृतिहोमः । ततः कर्मापवर्गविहितां समिधमाधाय प्रायश्चित्तहोम आज्येनाज्यतन्त्रेण कार्यः । हविषोऽनादेशात् । स च यद्यपि "सर्वस्यैव प्रायश्चित्तिः" इति श्रुतेरुल्लिखितुमुचितः । भट्टभाष्येऽपि "एतत्सर्वं प्रायश्चित्तं क्षिप्रहोमवर्ज्जं सर्वत्रैव स्यादि"त्युक्तन्तथाप्ययं प्रकृतहोमवैगुण्य एव तत्प्रशमनार्थो विधीयते, इति नाऽसावबैगुण्ये कर्त्तव्य इति नात्र सूत्रित आचार्येण । अनियतत्वादिति द्रष्टव्यम् ।

अत्र मुख्यहोमेऽकृते यदि चरुर्न्नष्टो दुष्टो वा भवति तदान्यः पाच्यः । मुख्ये कृते चेन्नाशदुष्टी स्यातान्तदाऽऽज्येनैव स्विष्टकृद्धोम इति सरलाकार आह । चन्द्रकान्तस्तु—"एकदेशद्रव्यश्चोत्पत्तौ विद्यमानसंयोगात्" (४-१-२८) इति जैमिनीयसिद्धान्तात्स्विष्टकृद्धोमस्य प्रतिपत्तिरूपत्वात्प्रतिपत्तेश्च प्रतिपाद्याभावे लोप एवाकरणे निरूपित इत्येवमाह । मुख्यहोमार्थमवत्ते हविषि नष्टे दुष्टे वा खल्वाज्येन होतव्यम् । न पुनरवदातव्यं न चान्यत्पाच्यं कुतः ? "निर्देशाद्वाऽन्यदागम्यते" (४।४।२) इति जै० सिद्धान्तात् । "यस्य सर्वाणि हवींषि नश्येयुर्दुष्येयुरपहरेयुर्वा, आज्येन ता देवताः परिसंख्याय यजेरन्" इति च हविषो नाशे आज्यविधानात् । "तत्र सर्वशब्दस्य निमित्तविशेषणत्वेनाविवक्षितत्वान्नाशमात्रे सर्वत्राज्यस्य विधिः" इत्याधिकरणमालायां माधवाचार्याः ।

न खल्वयं प्रायश्चित्तहोमः व्यस्तसमस्तमहाव्याहृतिभिर्वा । "आज्ञातमि"त्यादिना मन्त्रेण वा प्राजापत्यमन्त्रेण वा कर्त्तव्यः । "तस्मादेतामेव जुहुयादपि वाऽऽज्ञातं यदनाज्ञातमि"—त्येवमादिकायां श्रुतौ विकल्पोपदेशात् । व्यक्तमाह कर्म्मप्रदीपः—

"यत्र व्याहृतिभिर्होमः प्रायश्चित्तात्मको भवेत् ।
चतस्रस्तत्र विज्ञेयास्त्रीपाणिग्रहणे यथा ॥
अपि वाज्ञाऽऽतमित्येषा प्राजापत्याऽपि वाऽऽहुतिः ।
होतव्या त्रिविकल्पोऽयं प्रायश्चित्तविधिः स्मृतः ॥" इति ॥

---

1. द्र० शा० गृ० १.९.१२।

तदत्र त्रिविकल्प इत्यनेन कल्पान्तरस्य प्रतिषेधोऽवगम्यते ।

केचिदत्र "पाहि नो यज्ञ एनसे स्वाहा" । इत्यादिकमधिकं प्रायश्चित्त-होममाचक्षते । तदसारम् । इह तस्यानुपदेशात् । यद्यपि शाटचायनकं ग्रन्थान्तरमत्राधीयते । तदप्यप्रमाणम् । अनार्षत्वात् । परिशिष्टमध्यान्तः-पातित्वासम्भवाच्चेति भट्टनारायणोपाध्यायाः । शाटचायनहोमस्य समूल-त्वेऽपि शाखान्तरीयवचनमिति तत्त्वकारः[1] ॥ १६ ॥

गणेष्वेकं परिसमूहनमिध्मो बर्हिः पर्युक्षणमाज्यभागौ च ॥ १७ ॥

जहाँ पर बहुत से 'आवाप' कर्त्तव्य हों तो वहाँ [आवाप के बहुत होने से] परिसमूहन[2], इध्म-ग्रहण[3], बर्हिपर्युक्षण[4], आज्य एवं आज्यभाग[5] संज्ञक कर्म [अनेक बार न करे] ॥ १७ ॥

गणेषु—एकदा क्रियमाणेष्वनेकहोमेषु । एकम् एव परिसमूहनम् । एक-शब्दः परस्तादपि प्रत्येकमनुषञ्जनीयः अनेनैव सूत्रशेषो व्याख्यातः । प्रत्येकं तत्र विधाने प्राप्ते यानि मन्त्रेण कर्त्तुं शक्यन्ते तेषान्तन्त्रभाव इहोपदिश्यते । परिकीर्त्तनञ्च परिसमूहनादीनामुदाहरणप्रपञ्चार्थं, न परिसंख्यानार्थम् तेनोलूखलमुसलादिकमपि एकमेव भवतीति द्रष्टव्यम् । गणेषु इति सामान्यतोऽभिधानाद्विभिन्नदेवताकेष्वपि होमेषु एकदा क्रियमाणेष्वेकमेव परिसमूहनादिकमित्यवगम्यते । तथा च गृह्यान्तरम्—

"पाकयज्ञात्समासाद्य एकाज्यानेकबर्हिषः ।
एकस्विष्टकृतः कुर्यान्नानापि सति दैवते ॥"

इति ॥ १७ ॥

सर्वेभ्यः समवदाय सकृदेव सौविष्टकृतं जुहोति ॥ १८ ॥

सभी को [एक साथ मिलाकर] अवदान पूर्वक होम करके एक बार ही सौविष्टकृत् होम करे ॥ १८ ॥

गणेष्विति सम्बध्यते । सकृदेकवारं न पृथक्पृथगित्यर्थः । उपलक्षण-मेतत् । महाव्याहृत्याद्यपि सकृदेव भवतीति सरलाकारः ॥ १८ ॥

---

१. अत्र मुरारिमिश्राः क्रियार्थस्य मेक्षणस्य तदनन्तरमेव प्रतिपत्तिर्माभूदिति हुत्वेति । व्याहृतिभिरपि हुत्वेत्यर्थः ॥ अनुप्रहरेत्-जुहुयात् । अनुप्रहरतिशब्दो होमवचनः । तथाच श्रौतसूत्रम् "अष्टावष्टौ शकलानि आहवनीयेऽनुप्रहरेयुर्दैवकृतस्येति" (ला० २।११।१४) ।

२. द्र० ३.१ । ३. द्र० ७.१९ । ४. द्र० ८.२ । ५. द्र० ८.३ ।

हुत्वैतन्मेक्षणमनुप्रहरेत् ॥ १९ ॥

इस [स्विष्टकृत होम] के अनन्तर [अनावश्यक समझे तो] मेक्षण को अग्नि में फेक दें ॥ १९ ॥

एतदिति सन्निकृष्टं सौविष्टकृतं परामृश्यते । मेक्षणमुक्तलक्षणम् । अनुप्रहरेत् अग्नौ क्षिपेत् । सेयङ्कर्मार्थस्य मेक्षणस्य अनन्तरमेव कर्म्मणः प्रतिपत्तिराख्याता । अन्ये त्वाहुः–महाव्याहृतिभिरपि हुत्वा मेक्षणमनुप्रहरेन्न स्विष्टकृद्धोमानन्तरमेवेति । स खल्वयं मेक्षणप्रक्षेपोऽन्यब्रह्मकेषु होमेषु प्रत्येतव्यः । तत्र चरुशेषस्य तस्मै प्रतिपादयितव्यस्य वक्ष्यमाणत्वात् । अन्यत्र च मेक्षणेनैवोद्धृत्य तद्भोजनस्य सूत्रणात् । न चानुप्रहितेनैव मेक्षणेनोद्धरणन्तस्माद्यथोक्त एवार्थः ॥ १९ ॥

प्रक्षाल्य वैनेनोद्धृत्य[1] भुञ्जीत ॥ २० ॥

अथवा भोजन के लिए आवश्यक समझे तो उसे धोकर रख ले और यथासमय उसके द्वारा भोजन करे ॥ २० ॥

प्रक्षाल्य वा मेक्षणम् । एनेन-मेक्षणेनोद्धृत्य चरुशेषं भुञ्जीत यजमानः । तथा च यत्र हौत्रं ब्रह्मत्वञ्च स्वयमेव करोति सोऽस्य विषयः । यत्र चान्यो ब्रह्मा भवति तत्र वक्ष्यति "अथैतद्धविरुच्छिष्टम्" (१।९।१) इत्यादि ॥ अनन्वादेशेऽप्येनादेशश्छान्दसः[2] ॥ २० ॥

न स्रुवमग्नौ प्रहरेदित्येक आहुः ॥ २१ ॥

कुछ [आचार्य] का मत है [स्रुवा को कार्य के अन्त में धोकर रख लें उसे] अग्नि में न डाले ॥ २१ ॥

स्रुवमग्नौ न क्षिपेदित्येके आचार्या वदन्ति । अस्मादेवावगम्यते स्रुवमग्नौ क्षिपेदिति–अन्ये वदन्तीति । तस्मादत्र विकल्पः ॥ २१ ॥

आग्नेय एवाऽनाहिताग्नेरुभयोर्दर्शपौर्णमासयोः स्थालीपाकः स्यात् ॥ २२ ॥

दर्शपूर्णमास के आवाप-मंत्र—

यदि यजमान 'अग्निहोत्री' न हो तो दर्श और पौर्णमास दोनों यागों में

---

१. उद्धृत्येति पाठो मुरारिमिश्रैरेव धृतः ॥

२. अत्र केचित् एनः प्रकृत्यन्तरमिति पठन्ति । अग्रेऽप्येव क्वचिद्दृश्यते पाठः ।

['अग्नये स्वाहा' इस मन्त्र से उपस्तीर्णाभिघारित] चरु का हवन अग्नि के लिए करे ॥ २२ ॥

अनाहिताग्निः । श्रौताग्निरहितः स्मार्त्ताग्निरित्यवगन्तव्यम् । स्पष्टमन्यत् ॥ २२ ॥

आग्नयो वाऽग्नीषोमीयो वा माहेन्द्रो वा अमावास्यायाम् ॥ २३ ॥

और, यदि अग्निहोत्री हो तो पौर्णमास याग के [आवाप] होम को ['अग्नये स्वाहा' या अग्नीषोमाभ्यां स्वाहा' मन्त्र से] 'अग्नि' के लिए या 'अग्नि या सोम' के लिए करे ॥ २३ ॥

ऋज्वर्थं सूत्रम् ॥ २२ ॥

एन्द्रो वा ऐन्द्राग्नी वा माहेन्द्रो वा अमावास्यायाम् ॥ २४ ॥

और दर्श [अमावस्या] याग में इन्द्र के लिए या इन्द्र एवं अग्नि के लिए अथवा महेन्द्र के लिए [स्थालीपाक होता है] ॥ २४ ॥

आहिताग्नेरेव । ऋजुरक्षरार्थः । अत्रैके विनिवेशविकल्पमाहुः । ऐन्द्रमाहेन्द्रौ सोमयाजिनः । ऐन्द्राग्नस्त्वसोमयाजिनः । अत्राप्येकेनेष्टवत् ऐन्द्रो, बहुभिरिष्टवतो माहेन्द्र इति । अन्ये तु इच्छाविकल्पमाहुः ॥ २४ ॥

अपि वाऽऽहिताग्नेरप्युभयोर्दर्शपौर्णमासयोराग्नेय एव स्यात् ॥ २५ ॥

अथवा 'अग्निहोत्री' भी दर्श और पूर्णमास दोनों यागों में अग्नि के लिए ['अग्नये स्वाहा' मन्त्र से] आहुति दे ॥ २५ ॥

ऋज्वर्थम् ॥ २५ ॥

समिधमाधायानुपर्युक्ष्य यज्ञवास्तु करोति ॥ २६ ॥

[अग्नि पर] समिदाधान करके और पर्युक्षण करके 'यज्ञवास्तु' कर्म को [निम्न प्रकार से] करता है ॥ २६ ॥

समिधमाधायानुपर्युक्ष्येत्युक्तार्थम् । तदिदमभिधानङ्क्रमार्थम्भवति । अनन्तरं यज्ञवास्त्विवति ॥ २६ ॥

किमिदं यज्ञवास्तु ? इत्याह—

तत एव बर्हिषः कुशमुष्टिमादायाज्ये वा हविषि वा त्रिरवदध्यादग्राणि मध्यानि मूलानी "त्यक्तं रिहाणा व्यन्तु वय" इति ॥ २७ ॥

उन आस्तृत कुश समूह में से एक मुट्ठी कुश लेकर उसे तीन बार घृत या हवि

(चरु) में अग्र, मध्य एवं मूल इस क्रम से 'अक्तम्' 'पक्षि इस घृत से सने हुए तृण को खाएँ।'—आदि मन्त्र से जल का सिञ्चन करे ॥ २७ ॥

ततस्तस्मादाहृतादेव बर्हिष[1] इति नियमादन्यद्बर्हिर्व्यवच्छिद्यते। कुशमुष्टिम् अनियतसंख्याकं कुशमादायाज्ये–यथोक्ते। हविषि–चरौ वा त्रिरवदध्याद्वारत्रयमञ्जयेत्। अग्राणि–मध्यानि–मूलानीति क्रमेण। "अक्तमि"त्यादिमन्त्रेण वारत्रयपठितेन क्रमशः। प्रधानानुयायित्वाद् गुणानाम्–

"कर्म्मावृत्तौ तु मन्त्रस्याऽप्यावृत्तिर्गृह्यकर्म्मणि"

इत्यभियुक्तवचनात्। यत्र खल्वनावृत्तिरिष्यते मन्त्राणां, प्रायेण तत्रोत्तरत्र तूष्णीमिति करोति। सकृद्यजुषा द्विस्तूष्णीमित्येवम् ॥ मन्त्रार्थस्तु–'वयः' पक्षिणः। "वि-विष्किरपतत्त्रयः" इति पक्षिपर्यायेऽमरः। 'अक्तं' घृतेनाभ्यक्तमिदं तृणं 'रिहाणाः' लिहानाः। आस्वादयन्तः लिहेर्वर्णव्यत्ययः। 'व्यन्तु' खादन्तु इति ॥ १० ॥

अथैनमद्भिरभ्युक्ष्याग्नावर्ष्य जपेत् "यः पशूनामधिपतीरुद्रस्तन्तिचरो वृषा। पशूनस्माकं मा हिंथ्ंसीरेतदस्तु हुतं तव स्वाहा" इति ॥ २८ ॥

इसके बाद उसे जल से धोकर 'यः पशूनाम्' जो गाय आदि पशुओं के स्वामी रुद्र अन्तरिक्षगामी, कामनाओं की वर्षा करने वाले वे रुद्र मेरे गाय, अश्व आदि पशुओं की हिंसा न करें। यह हवि आपकी प्रसन्नता के लिए सुहुत होवे।–आदि मन्त्र से अग्नि में छोड़ दें ॥ २८ ॥

अथानन्तरमेवाभिमुञ्चन्नेनं कुशमुष्टिमद्भिरभ्युक्ष्याग्नावर्ष्य–प्रक्षिप्य। जपेत्–पठेत्। य इत्यादिस्वाहान्तमन्त्रम्। "एतद्धुतन्तवास्तु" इति मन्त्रलिङ्गात्। "अपवर्जयेत्" इति पाठे अपवर्जनन्दानमर्पणमिह तदर्थः। तदिदं प्रतिपत्तिकर्म्म कृतार्थानां बर्हिषामिह विनियोगाम्नानात्। तस्मान्नष्टेषु बर्हिःषु न भवति। अत्र "अग्नावप्युत्सृजेदि–"ति मुरारिमिश्रधृतः पाठः। दहेदिति तदर्थः। समग्रमन्त्रलेखनं पारशाखिकत्वख्यापनाय। मन्त्रार्थस्तु–'यः' 'पशूनाम् गवाश्वादीना'मधिपतिः स्वामी (अध्यक्षः) 'रुद्रः' रोदयिता परेषाम्। (शत्रूणाम्) 'तन्तिचरः'[2] अन्तरिक्षगामी। 'वृषा' वर्षिता कामानामभिवर्षको वा जलानाम्। इति परोक्षमुक्त्वा–अधुना प्रत्यक्षीकृत्योच्यते–हे रुद्र! त्वम् 'अस्माकम्' 'पशून्' गवाश्वादीन् 'मा हिंसीः' मा

१. तदेतच्चन्द्रकान्तभाष्यमतम्। वीरेश्वरादयस्तु स्तृतादित्यन्यत्र व्याचख्युः।

२. "तनुविस्तारे" (त० ३०) संज्ञायां क्तिच् (पा० सू० ३।३।१७४) "तितुत्रेति" (पा० ७।२।९) नेट्। तनोतीति तन्तिरन्तरिक्षम्।

वधीः । 'एतत्' मयाभ्युद्यतं 'हुतम्' हव्यं 'तव' प्रीतये 'स्वाहा' सुहुतम् 'अस्तु' भवतु ॥ २८ ॥

एतद्यज्ञवास्त्वित्याचक्षते ॥ २९ ॥

॥ इति श्रीमद्गोभिलीये गृह्यसूत्रे प्रथमप्रपाठकस्याष्टमी कण्डिका ॥ १ ॥ ८ ॥ * ॥

इसी [कर्म] को आचार्य गण 'यज्ञवास्तु' कर्म कहते हैं ॥ २९ ॥

॥ इस प्रकार गोभिलगृह्यसूत्र के प्रथम प्रपाठक की आठवीं कण्डिका की डॉ॰ सुधाकर मालवीय कृत 'सरला' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ ८ ॥

तत एव बर्हिष इत्यादि यदुक्तन्तदेतत्कर्म यज्ञवास्तु' इत्याचक्षते आचार्याः । किमर्थमिदमुच्यते ? "यज्ञवास्तु करोति" इति यदुक्तं (१।८।२६) तदत्र निगमनेन ज्ञाप्यते । अवचने खल्वेतस्य हविः शेषार्पणमपि यज्ञवास्त्वित्याशंक्येतेति । अथात्र पूर्णहोमः[2] ।

तत्र शौनकः—

"अथ पूर्णाहुतिन्दद्याद् गन्धपुष्पफलान्विताम् ।
साक्षतामूर्ध्वकायश्च समपाच्छक्रदिङ्मुखः" ॥ इति ।

---

१. संक्षेपा । यज्ञः (प्रति) वसत्यस्मिन्निति व्युत्पत्तेः । एतच्चावश्यकत्वख्यापनाय । तथाचैतद्बर्हिर्विनाशेऽपि अन्यदादायैतत्कुर्यादेवेति भाष्यकृतः ॥

२. तथाच गोभिलीये "पूर्णाहुतिञ्च मूर्द्धानन्दिव इत्यभिपातयेत्" इति । पद्धतौ तु "पूर्णहोमं यशसे" इतिमन्त्रेणायं पूर्णहोम उक्तः । मन्त्रलिङ्गात्तदप्यविरुद्धमिति दिक् । ततो "वसुभ्यः स्वाहे"त्यविच्छिन्नामाज्यधारान्दद्यात् । तत्र गृह्यासङ्ग्रहकारः—

"यज्ञवास्तुक्रियाङ्कृत्वा विधिदिष्टेन कर्मणा । आज्यधारामविच्छिन्नाम्पातयेदनलोपरि ॥" इति । ततः स्रुवलग्नभस्मना त्र्यायुषकरणम् । तत्र च "ततोऽनामिकया कुर्याद्बिन्दुं सघृतभस्मना । हृद्यं सयोर्ललाटे च त्र्यायुषेतिपदैः क्रमात्" । इति वचनं प्रमाणयन्ति शिष्टाः । तथाच प्रयोगः । "ॐ त्र्यायुषं यमदग्ने"रिति हृदि । "ॐ कश्यपस्य त्र्यायुषम्" इति दक्षिणबाहुमूले । "ॐ अगस्त्यस्य त्र्यायुषम्" इति वामबाहुमूले । "यद्देवानान्त्र्यायुषन्तन्मेऽअस्तु त्र्यायुषम्" इति शिरसि विन्दुं कुर्यादिति । मन्त्रार्थस्तु—त्रीणि आयूंषि समाहृतानीति त्र्यायुषम् । आयुश्च "शतं वै पुरुषस्यायुरि"ति श्रुतिसिद्धं वर्षशतम् । तदेतज्जमदग्निकश्यपागस्त्यदेवानां तन्ममाप्यस्त्विति । अत एव च "भूयश्च शरदः शतात्" । इत्याशास्यते नित्यं सन्ध्यावन्दने याजुषैः ॥

ऊर्ध्वकायस्तिष्ठन् । एतेन [1]परिभाषाबलादासीनेन होमोऽयङ्कार्य इति परास्तम् । सकलदेशीयाचारविरोधाच्च । कात्यायनः—

"तत पूर्णाहुतिङ्कृत्वा सर्वतन्त्रसमन्विताम् ।
गान्दद्याद्यज्ञवास्तवन्ते ब्रह्मणे वाससी तथा ।।" इति ।

वस्त्रदक्षिणा च विशेषोपदेशस्थल एव । अन्यथा–पूर्णपात्रादिकमेव "या यत्र परिकीर्त्तिते"ति वचनात् ।। २९ ।।

।। इति दर्शपौर्णमासहोमप्रकरणम् ।।

।। इति श्रीमद्गोभिलीयगृह्यसूत्रव्याख्यायां "मृदुला"ऽऽख्यायां मुकुन्द-
शर्म्मसङ्कलितायां प्रथमप्रपाठकस्याष्टमी
कण्डिका ।। १ ।। ८ ।। * ।।



१. "आसीन ऊर्ध्वः प्रह्वो वा नियमो यत्र नेदृशः । तदासीनेन कर्त्तव्यं न प्रह्वेन न तिष्ठते"ति कर्मप्रदीपः ।।

अथ नवमी कण्डिका

अथ हविःशेषप्रतिपत्तिं ब्राह्मणोक्तामाह—

अथैतद्धविरुच्छिष्टमुद्वास्योद्धृत्य ब्रह्मणे प्रयच्छेत् ॥ १ ॥

इस [महाव्याहृति होम] के अनन्तर अवशिष्ट हवि (चरु) को अग्नि के उत्तर दिशा में रखकर उसी चरु से दूसरे पात्र में चरु लेकर ब्रह्मा को देना चाहिए ॥ १ ॥

अथे--त्यानन्तर्यार्थम् । तदत्र प्रदक्षिणप्रणीताविमोकोदपात्रपूरणानि कृत्वाऽनन्तरमिति भट्टभाष्यम् । एतदभिप्रेतं [1]हविरुच्छिष्टमवशिष्टमुदगुत्तरस्यामुद्वास्योदधृत्य पात्रान्तरे कृत्वा ब्रह्मणे प्रयच्छेत्–दद्यात् । एतदिति समशनीय--नवयज्ञ–वास्तूपशमनादि--चरुभ्योऽन्यद् गृह्यते । तत्र-तत्रान्यस्या अन्यस्याः प्रतिपत्तेरुपदेशादिति । एतदपि भिन्नब्रह्मपक्षेऽन्यथा पुरोहितायैवेति शुभकर्म्मनिर्णये मुरारिमिश्राः प्राहुः ।। १ ।।

न केवलं चरुशेषस्य ब्रह्मणे प्रदानमात्रं किन्तर्हि ?

तं तितर्पयिषेत् ॥ २ ॥

उस [ब्रह्मा] को तृप्त करने का प्रयत्न करे ।। २ ।।

तं ब्रह्माणं तितर्पयिषेत् तर्पयितुमिच्छेत् । यथासौ तृप्यति तथा कर्त्तव्यमित्यर्थः । सनः प्रयोगोऽत्र मनोविशुद्धप्रदर्शनार्थः । श्रद्धास्तिक्यादि गुणवता मनसा ब्रह्माणं तर्पयितुमिच्छेत् । तत्कृतमतिशयञ्जानानस्तथाच स्मरणम्--

"श्रद्धाविधिसमायुक्तं कर्म्म यत्क्रियते नृभिः ।
सुविशुद्धेन भावेन तदाऽऽनन्त्याय कल्पते ।।" इति ।

श्रद्धारहितस्यान्नमभोज्यमाहुराचार्याः[2] ।। २ ।।

"ब्राह्मणस्य तृप्तिमनुतृप्यामी"ति हि यज्ञस्य वेदयन्ते ॥ ३ ॥

---

१. एतस्मादवगम्यते । होमकाले होत्रग्न्योरन्तरा हविषः समासादनमिति ॥

२. तथाच स्मृत्यन्तरे "दीक्षितस्य कदर्यस्य वदान्यस्य च वार्धुषेः । मीमांसन्तः समन्देवाः सममन्नमकल्पयन् ॥ तान्प्रजापतिराहैत्य मा कृध्वं विषमं समम् । श्रद्धापूतं वदान्यस्य हतमश्रद्धयेतरत् ॥" इति ॥

क्योंकि ऋषि गण कहते हैं कि 'ब्राह्मण की तृप्ति के अनुसार ही हम तृप्त होते हैं'—यही यज्ञ का अभिप्राय ज्ञापन करते हैं ॥ ६ ॥

ब्राह्मणस्य तृप्तिमनु[1] लक्षीकृत्याहन्तृत्यामोत्येवं हि किल यज्ञस्याभिप्रायं वेदयन्ते––ज्ञापयन्त्याचार्याः। एतस्मात्कारणात्तं तितर्पयिषेत्। सोऽयं ब्राह्मणशब्दो ब्रह्मपर एवोपक्रमानुरोधात्। एतच्च ब्राह्मणे श्रुतमेवेहोद्घृतम्।

यस्मादेवं ब्रह्मणस्तर्पणं तस्माच्चरुशेषस्यापचारे तेन वातृप्त्यसम्भवेऽन्येनाप्यन्नेन तन्तर्पयेदित्याह––

अथ यदस्यान्यदन्नमुपसिद्धं स्यात् ॥ ४ ॥

[इस प्रकार कथन है अतः तृप्ति की इच्छा से] तब [ब्राह्मण को] जो अन्य अन्न बने हुए हों उनसे परितृप्त करे ॥ ४ ॥

अथानन्तरमेव भोजयेत् नात्मीयम्भोजनकालमपि प्रतीक्षेतेत्यर्थः। अस्य यजमानस्य उप समीपे यत्किञ्चिच्चरोरन्यदन्नं सिद्धं निष्पन्नं स्यात्तेन निषिद्धातिरिक्तेन तं तितर्पयिषेदिति गतेन सम्बध्यते। प्रतिपत्तित्वेप्येतस्य वचनादन्नान्तरमुपादेयम्। चरुशेषप्रदानादनन्तरमन्यदप्यन्नं प्रयच्छेदिति वा वर्णनीयम् ॥ ४ ॥

अथ ब्राह्मणान्भक्तेनोपेप्सेत् ॥ ५ ॥

इसके बाद अन्य निमन्त्रित ब्राह्मणों को अन्न से तृप्त करे ॥ ५ ॥

अथ स्वपाकसिद्धयनन्तरं ब्राह्मणान्ब्रह्मातिरिक्तान्भक्तेन उपेप्सेत् तर्पयितुमिच्छेत्। अपवर्गेऽभिरूपभोजनं ब्रह्मणस्तर्पणेनैव मामंस्तेति पुनरसूत्रयत् ॥ ५ ॥

पूर्णपात्रो दक्षिणा तं ब्रह्मणे दद्यात् ॥ ६ ॥

वह पूर्ण पात्र उस ब्रह्मा नामक ऋत्विक् को दक्षिणा स्वरूप देनी चाहिए ।६।

पूर्णपात्रः पूर्णपात्रं पुंस्त्वं छान्दसम्। वक्ष्यमाणलक्षणम् दक्षिणा इत्युत्सर्गः। तं ब्रह्मणे दद्यात्। दक्षिणा ग्रहणं ब्रह्मणोऽभावेऽप्यन्यस्मै दानार्थम्। स्वयं कर्मकरणेऽपि तथैवाम्नायते। व्यतिरेके च वैगुण्यं, यथाह कर्म्मप्रदीपः––

"ब्रह्मणे दक्षिणा देया यत्र या परिकीर्त्तिता।
कर्मान्तेऽनुच्यमानायां पूर्णपात्रादिका भवेत् ॥

---

१. ब्राह्मणस्य तृप्तौ जातायां मम तृप्तिर्भवतीति ॥

विदध्याद्धौत्रमन्यश्चेद् दक्षिणार्द्धहरो भवेत्[1]।
स्वयञ्चेदुभयङ्कुर्यादन्यस्मै प्रतिपादयेत् ॥"

(२. ५. १–३) इति ।

अत्र पूर्णपात्रादिपदाद्दक्षिणाविशेषालाभे मूल्यादिकमपि सङ्गृह्णाति । तथा च मैत्रावरुणीयपरिशिष्टम् "दक्षिणाभावे मूलानां भक्ष्याणां दक्षिणान्ददाति" इति । अत्र विशेषश्चन्द्रकान्तभाष्यादौ द्रष्टव्यः ॥ ६ ॥

कंसं चमसं वाऽन्नस्य पूरयित्वा कृतस्य वाऽकृतस्य वाऽपि वा फलानामेवैतं पूर्णपात्रमित्याचक्षते ॥ ७ ॥

कांस्य पात्र या चमस पात्र को [कच्चे या पक्के] आमान्न या सिद्धान्न अथवा कतिपय फलों से भर देने को आचार्य गण 'पूर्णपात्र कहते हैं ॥ ७ ॥

कंसं कांस्यभाजनं वर्त्तुलाकृति । चमसं वानस्पत्यं पात्रं वा । अन्नस्येति-तृतीयार्थे षष्ठी फलानां सुहित इतिवत् । पूरयित्वा । कृतस्येति सक्तादेः । अकृतस्य यवव्रीह्यादेर्वा । कृताकृतस्य तण्डुलादेरपीति वाशब्दोऽवगमयति स्वरसतः । अपि वा–अथवा अन्नासम्भवे फलानाम्भोज्यानामेव । एतं पूर्णपात्रमिति पुरः पुंस्त्वेन निर्देशात् ॥

अन्नप्रमाणमाह गृह्यासङ्ग्रहः (१.४३)—

"अष्टमुष्टिर्भवेत्कुञ्चिः कुञ्चयोऽष्टौ च पुष्कलम् ।
पुष्कलानि च चत्वारि पूर्णपात्रं विधीयते" ॥ इति ।

असम्भवे पुनरेतस्याह कर्म्मप्रदीपः (२. ५. २)—

"यावता बहुभोक्तुश्च तृप्तिः पूर्णेन जायते ।
नावरार्द्धन्ततः कुर्यात्पूर्णपात्रमिति स्थितिः ॥" इति ॥ ७ ॥

सरला०—पूर्णपात्रमाह गृह्यासंग्रहे कात्यायनः—

चतुर्मुष्टिर्भवेत् किञ्चित् पुष्कलं तच्चतुर्गुणम् ।
पुष्कलानि च चत्वारि पूर्णपात्रं विधीयते ॥ इति ।

चतुःषष्टिमुष्टिः पूर्णपात्रम्–इति दीक्षितभाष्यम् । कर्मप्रदीपे तु—

---

१. इदञ्च होतृभिन्नब्रह्मपक्षे । यद्येक एव हौत्रं ब्रह्मत्वञ्च करोति तदा तु "विदध्याद्धौत्रमन्यश्चेदि"त्यादि कातीयवचनम् । अन्यः शिष्यादिः एतच्चाशक्तविषये । अन्यस्मै अर्थात्पुरोहिताय । तदाह स एव—

"कुलर्त्विजमधीयानं सन्निकृष्टं गुरुन्तथा ।
नातिक्रामेत्सदादित्सन् य इच्छेदात्मनोर्हितम्" ॥ इत्यादि ।

मुष्टयोऽष्टौ भवेत् कुञ्चिः कुञ्चयोऽष्टौ तु पुष्कलम् ।
पुष्कलानि च चत्वारि पूर्णपात्रं विधीयते ।।
(२. ५. ३) इति ।

वचनमिदं प्रकाशकारसम्मतमिति सप्रकाशमुद्रितपुस्तके दृश्यते । आनन्दाश्रमवङ्गवासीमुद्रितयोः पुस्तकयोस्तु नोपलभ्यते ।। ७ ।।

ब्रह्मैवैक ऋत्विक् ।। ८ ।।

[दर्शपूर्णमास प्रभृति सभी कर्मों में] एक मात्र ब्रह्मा ही 'ऋत्विक्' होना चाहिए ।। ८ ।।

दर्शपौर्णमासप्रस्तावादेवमुच्यते । तेन सायम्प्रातर्होमवैश्वदेवादीनामब्रह्मत्वेऽपि न क्षतिः । अयमर्थः—सर्वकर्म्मस्वेक एव ब्रह्मा ऋत्विक् कर्त्तव्यो न पुनः कर्म्मभेदे नाना । तदनेन (यजमानेन) ऋत्विगत्याज्यो भवतीत्युपदिशति । तथाच स्मरणम्—

"ऋत्विग्याज्यमदुष्टं यस्त्यजेदनपकारिणम् ।
अदुष्टमृत्विजं याज्यो विनेयौ तावुभावपि ।।
क्रमागतेष्वेष धर्म्मो वृतेष्वृत्विक्षु च स्वयम् ।
यादृच्छिके तु संयोज्ये तत्त्यागे नास्ति किल्विषम् ।।

इति ।। ८ ।।

पाकयज्ञेषु स्वयं होता भवति ।। ९ ।।

[एक अग्नि में किये जाने वाले] पाक यज्ञों में यजमान स्वयं ही 'होता' होवे ।। ९ ।।

एकाग्नौ ये यज्ञान्ते पाकयज्ञा उच्यन्ते । तथाच लाटचायनः—"पाकयज्ञा इत्याचक्षते एकाग्नौ यज्ञान्" इति । तेषु स्वयं होमे फलातिशयः स्मर्यते—

"स्वयं होमे फलं यत्तु तदन्येन न जायते" इति ।।

अन्यो होता तु नानेन व्यवच्छिद्यते—तथाच कर्म्मप्रदीपः (२.९.१)—

"निःक्षिप्याग्निं स्वदारेषु परिकल्प्यर्त्विजं तथा ।
प्रवसेत्कार्यवान्विप्रो वृथैव न चिरङ्क्वचित्" ।। इति ।

"जुहुयाद्वा हावयेद्वे"ति (गो. गृ. १.३.१३) समान्यतः सूत्रणाच्च ।।९।।

पूर्णपात्रोऽवमः पाकयज्ञानां दक्षिणा ।। १० ।।

पाक यज्ञों की कम से कम दक्षिणा पूर्ण पात्र होती है ।। १० ।।

पुंस्त्वमत्र पूर्ववत् । अवमः अधमः । "रेफयाप्यावमाधमाः" इत्यमरः सर्वतोऽल्पः ॥ १ ॥

अपरिमितं पराध्र्यम् ॥ ११ ॥

यदि सामर्थ्य हो तो अपरिमित दक्षिणा देना ही प्रशस्त होता है ॥ ११ ॥

अपरिमितं बहु, पराद्धर्च प्रशस्तम् । "पराद्धर्ग्रचप्राग्रहरप्राग्र्याग्र्याग्रीयमग्रिमम्" इति कोशेऽभिधानात् । "परावराधमोत्तमपूर्वाच्च" (पा० ४।३।५) इति यत्प्रत्ययः शैषिकः । परार्द्धमन्तिमा संख्या तत्र भवम् ॥ ११ ॥

अस्मिन्नथ श्रुतिर्दृष्टान्तयति—

अपि ह सुदाः पैजवन ऐन्द्राग्निना स्थालीपाकेनेष्ट्वा शतं सहस्राणि ददौ ॥ १२ ॥

[इस सम्बन्ध में उदाहरणार्थ श्रुति है कि] पिजवन नामक ऋषि के वंशज सुदा ऋषि ने इन्द्राग्नि देवता के उद्देश्य से स्थालीपाक से यजन करके (अमावस्या याग के बाद) एक (सौ हजार अर्थात् एक) लाख [सुवर्ण, मुद्रा या गाएँ] दक्षिणा में दी थी ॥ १२ ॥

अपिरन्यानपि समुच्चिनोति । सुदाः शोभनदाता । कर्त्तर्यसुन् (उ० ४।१८८) पैजवनः पिजवनपुत्रोऽपि शतमित्यादि संख्यामात्राभिधाने गा एव, तथाच द्राह्यायणसूत्रम्—"संख्यामात्रे च दक्षिणा गावः" इति ॥ १२ ॥

अथ यदि गृह्येऽग्नौ सायम्प्रातर्होमयोर्वा दर्शपूर्णमासयोर्वा हव्यं वा होतारं वा नाधिगच्छेत् कथं कुर्यादिति ? ॥ १३ ॥

यदि दैव योग से वह यजमान कर्म करने में स्वयं अशक्त हो अथवा गृह्याग्नि में सायं और प्रातः होम तथा दर्शपूर्णमास याग करने के लिए सामग्री इकट्ठी न हो तो उस समय क्या करे ? ॥ १३ ॥

स्वयमशक्तौ दैवाद्यदि गृह्येऽग्नौ यावज्जीवं कर्त्तव्ययोस्सायम्प्रातर्होमाद्यो[1] हव्यादिकन्नाधिगच्छेन्न प्राप्नुयात्तदा कथङ्कुर्यादिति प्रश्ने—

उत्तरयति—

आ सायमाहुतेः प्रातराहुतिर्नात्येत्या प्रातराहुतेः सायमाहुतिरमावास्यायाः पौर्णमासन्नात्येत्या पौर्णमास्या आमावास्यम् ॥१४॥

[उत्तर] सायं होम करने तक प्रातः आहुति का समय अतीत नहीं समझना

१. प्रदर्शनमेतद्वैश्वदेवस्यापि दैवादन्यस्मद्वाकारणाद्धव्यं हवनीयं वस्तु—इत्येवमर्थः ॥

चाहिए और सायं आहुति का समय भी प्रातः आहुति पर्यन्त [अतीत नहीं होता है]। इसी प्रकार पौर्णमास याग का काल अमावास्या तक अतीत नहीं होता और अमावस्या याग का काल पौर्णमास तक अतीत नहीं होता ॥ १३ ॥

विमर्श—पूर्णिमा से अमावास्या के पूर्व दिवस तक पन्द्रह दिनों में से किसी भी दिन हो 'पौर्णमास याग' हो सकता है। अतः इतने समय में याग पूर्ण करे ॥१४॥

आ सायमाहुतेःसायमाहुतिपर्यन्तम्। मर्य्यादायामाङ्। नात्येति नातिक्रामति। तत्र प्रायश्चित्तमात्रं स्मर्यते (कर्मप्रदीपे ३.८.७८)—

"स्वकाले सायमाहुत्या अप्राप्तौ होतृहव्ययोः।
प्राक्प्रातराहुतेः कालः प्रायश्चित्ते कृतेसति॥
प्राक्सायमाहुतेः प्रातर्होमकालानतिक्रमः।
प्राक्पौर्णमासाद्दर्शस्य प्राग्दर्शादितरस्य च॥" इति।

प्रायश्चित्तञ्च महाव्याहृतिहोमरूपमन्यत्र दृष्टमिहापि सामान्येन। एतेनैव सूत्रशेषो व्याख्यातः। तदिदं प्रदर्शनार्थम्परिकीर्त्तनं सायमाहुत्यादीनां, न नियमार्थम्। कुतः स्मृत्यन्तरदर्शनात्। तथाचोक्तम् (त्रिकाण्डमण्डनेन)—

"मुख्यकाले यदा ऽवश्यङ्कर्म्म कर्तुं न शक्यते।
गौणकालेऽपि कर्त्तव्यं गौणोऽप्यत्रेदृशोर्भवेत्॥
आ सायमाहुतेः कालात्कालः स्यात्प्रातराहुतेः।
प्रातराहुतिकालात्प्राक् कालः स्यात्सायमाहुतेः॥"

इत्यादि–एवम्—

"गौणेषु तेषु कालेषु कर्म्मचोदितमाचरन्।
प्रायश्चित्तप्रकरणप्रोक्तां निष्कृतिमाचरेत्॥" इति।

वैश्वदेवस्य पुनरतिक्रमेऽभोजनेऽपि प्रायश्चित्तानन्तरमेव कालान्तरे तदनुष्ठितिः स्मर्यते (कात्यायनसंहिता २७.६)—

"वैश्वदैवे त्वतिक्रान्ते अहोरात्रमभोजनम्।
प्रायश्चित्तमथो कृत्वा पुनः सन्तनुयाद् व्रतम्॥" इति।

प्रथमवैश्वदेवातिक्रमे दिवा अभोजनं, द्वितीये रात्रावभोजनमिति परिशिष्टप्रकाशः। वैश्वदेवद्वयातिक्रमे तु विशेषमाह कर्म्मप्रदीपः (२.८. १६–२०)—

"परेणाग्नौ हुते स्वार्थं परस्याग्नौ हुते स्वयम्।
पितृयज्ञात्यये चैव वैश्वदेवद्वयस्य च॥

अनिष्ट्वा नवयज्ञेन नवान्नप्राशने तथा।
भोजने पतितान्नस्य चरुर्वैश्वानरो भवेत्॥" इति।

(छन्दोगपरि० २. ८. १९–२०)

प्राक्सूर्यास्तमयात्प्रथमो वैश्वदेवो नात्येति। प्राक् च रात्रेः सार्द्धात्प्रहराद्द्वितीयः। यतस्तावानेव भोजनकालः पुरस्तादभिहितः। १३–१४॥

एतेनैवावकाशेन हव्यं वा होतारं वा लिप्सेत्॥ १५॥

इस प्रकार इतने समय में जो कुछ सामग्री न हो उसे इकट्ठी करे और 'होता' को भी प्राप्त करने का प्रयत्न करे॥ १५॥

एतेनैवेति गौणकालपरामर्शः। लिप्सेत्–लब्धुमिच्छेत्। प्राप्तस्याप्याददरार्थमभिधानम्। तथा लिप्सेत् यथागौणकालोऽपि नातीयादिति॥ तस्याप्यतिक्रमे कर्मैव लुप्येत। यदा पुनर्लभ्यते तदैव होतव्यम्॥ तदाह कर्मप्रदीपः (२. ८. ७)––

"पौर्णमासात्यये हव्यं होता वा यदहर्भवेत्।
तदहर्जुहुयादेवममावास्यात्ययेऽपि च॥" इति॥ १५॥

अपि वा यज्ञियानामेवौषधिवनस्पतीनां फलानि वा पलाशानि वा श्रपयित्वा जुहुयात्॥ १६॥

यदि हवनीय अन्नादि इकट्ठा न हो तो कोई बात नहीं, फलों से ही हवन करे और यदि वह भी न हो तो [धान्य, शस्य आदि] ओषधियों से या आम्र आदि वनस्पतियों के पत्तों से ही स्थाली पाक विधि से यजन कर्म करे॥ १६॥

अपि वेति–पक्षो विपरिवर्त्तते। एतेनाप्यवकाशेन हविष्यनुपलभ्यमाने। यज्ञियानां यज्ञार्हाणामनिषिद्धानामित्येतदोषधीनाम्––

"व्रीहयः शालयोमुद्गा गोधूमाः सर्षपास्तिलाः।
यवाश्चौषधयः सप्त विपदो घ्नन्ति धारिताः॥"

(गो० स्मृति २६.१३)

इति कर्मप्रदीपोक्तानां, वनस्पतीनामुदुम्बरादिवृक्षाणाञ्च फलानि सस्यानि वा पलाशानि-पत्राणि वा। "पत्रं पलाशं छदनं दलं वर्णं छदः पुमान्"–इत्यमरः। यथोपपन्नानि श्रपयित्वा विपच्य स्थालीपाकविधिना, जुहुयात्॥ १६॥

अप्यप एवान्ततो जुहुयादिति ह स्माह पाकयज्ञ ऐडो हुतं ह्येव॥१७॥

अन्ततः एड ऋषि का [इस सम्बन्ध में] कथन है कि यदि कुछ न मिले तो मात्र जल से ही याग करे [किन्तु नियम नहीं तोड़ना चाहिए]॥ १७॥

अन्ततः सर्वासम्पत्तौ अप उदकमपि । त्वद्भिः कथं होम इति शङ्केत । इति ह किल आहस्म-उवाच खलु । नामतः पाकयज्ञः । ऐडः । इडस्यापत्यं कश्चिदाचार्य्यः । हि यतः एवमपि कृते हुतमेव भवतीति च ॥ १७ ॥

कुतः ?

अहुतस्य प्रायश्चित्तं भवतीति ॥ १८ ॥

प्रायश्चित्त तो अहुत [गृह्याग्नि में सायं प्रातः आहुति न देने वाले] के लिए ही होता है ॥ १८ ॥

यतोऽहुतस्य होममकुर्वतः । हुत इति कर्म्मणोऽविवक्षाया[1]मकर्म्मकत्वात् "गत्यर्थाकर्म्मके"–(पा० ३।४।७२) ति कर्त्तरि क्तः । न हुतं येनेति वा । उदकस्याप्यलाभाद्धोममकुर्वतः प्रायश्चित्तं भवति । तच्च प्रायश्चित्तं पुनराधानमुक्तम् । यथाच स्मर्यते (छन्दोगपरिशिष्टे ३. ८. १०)––

"होमद्वयात्यये दर्शपूर्णमासात्यये तथा ।
पुनरेवाग्निमादध्यादिति भार्गवशासनम् ॥" इति ।

इति शब्दोऽत्राद्यार्थः[2] अन्यान्यपि पुनराधाननिमित्तानि समुच्चिनोति । तानि च कर्म्मप्रदीपादिष्वनुसन्धेयानि । पुनराधानप्रकारश्च––

"पूर्वैव योनिः पूर्वाऽऽवृत्पुनराधानकर्म्मणि"

इत्यादिना कर्मप्रदीप एव वर्णितः ॥ १८ ॥

नाव्रतो ब्राह्मणः स्यादिति ॥ १९ ॥

अतः ब्राह्मण को व्रत से रहित [नियम से आहुति न देने वाला] ब्राह्मण नही होना चाहिए ॥ १९ ॥

अव्रतो व्रतरहितो ब्राह्मणो न स्यादल्पमपि कालम् । "मुहूर्त्तमपि नाव्रतोब्राह्मणः स्यादि"ति पाठे व्यक्त एवार्थः । इति हेतौ । यस्मान्नाव्रतोब्राह्मणः स्यात्तस्मात्पुनराधाननिमित्ते जातेऽविलम्बमेवादध्यादिति ॥१९॥

अथाप्युदाहरन्ति ॥ २० ॥

इस सम्बन्ध में वे [ब्राह्मणग्रन्थों में] यह भी कहते हैं ॥ २० ॥

ऋजुरक्षरार्थः । अहुतस्य प्रायश्चित्तम्पुनराधानमुक्तमथेदानीमन्यदपि

---

१. अप्राप्तिरेव तस्याविवक्षा बीजम् ॥
२. "ज्वलितिकसन्तेभ्योणः" ॥ (पा०३।१।१४०) इत्यत्र यथा ।

पक्षान्तरं तत्र दर्शयितुं ब्राह्मणवाक्योदाहरणाभासरूपं सूत्रजातमुदाहरन्तीत्यभिप्रायः ॥ २० ॥

यावन्न हूयेताभोजनेनैव तावत्सन्तनुयात् ॥ २१ ॥

उसे अपना व्रत का नियम जब आहुति नहीं दे रहा हो तब भी भूखे रह कर पालन करना चाहिए ॥ २१ ॥

हविषोऽलाभे यावन्न हूयेत[1] तावद् अभोजनेन भोजनाभावेनैव सन्तनुयात् । सन्ततमविच्छिन्नमलुप्तं कुर्यादग्निव्रतम् । इत्यर्थः । यावता कालेन हविर्लभ्यते तावति कालेऽभोजनेऽपि व्रतमलुप्तं भवतीत्यभिप्रायः ॥ २१ ॥

अथ यदाऽधिगच्छेत्प्रति जुहुयात् ॥ २२ ॥

इसके बाद जब हविर्द्रव्य आ जाए तब [छुटी हुई] सायं या प्रातः आहुति उसी समय प्रदान करे ॥ २२ ॥

अथानन्तरं यदा हविरधिगच्छेत् प्राप्नुयात्तदा सायमाद्युपक्रमत्वात् कर्म्मणां, सायमादिकालम्प्रति--प्रतीक्ष्य जुहुयात् । अत्र प्रतिशब्दो होमप्रकारे--विशेषमपि द्योतयति । अतिक्रान्ताः सर्वा आग्निदेवत्या आहुतीर्विगणय्य तावन्ति हवींषि पात्रे कृत्वा "अग्नये स्वाहे"–ति सकृदेव जुहुयात् । एवं प्राजापत्या । एवमपराः । तदाह कर्म्मप्रदीपः (२. ८. ८–९)

"अहूयमानेऽनश्नंश्चेन्नयेत् कालं समाहितः ।
सम्पन्ने तु यथा तत्र हूयते तदिहोच्यते ॥
अहुताः परिसंख्याय पात्रे कृत्वाऽऽहुतीः सकृत् ।
मन्त्रेण विधिवद्धुत्वा एवमेवापरा अपि" ॥ इति ॥ २२॥

एवमस्य व्रतं सन्ततं भवतीति ॥ २३ ॥

इस प्रकार करके उस व्रती का व्रत सन्तत हो जाता है अर्थात् विलुप्त नहीं होता है ॥ २३ ॥

एवमपि कृतेऽस्य व्रतिनो व्रतं नियमः सन्ततमविलुप्तं भवति ॥ तस्मात्सत्युपाये पुनराधानं न कर्त्तव्यम् । इतिर्ब्राह्मणवाक्यसमाप्तिज्ञापनार्थः । प्रकरणसमाप्त्यर्थो वा ॥ २३ ॥

---

१. भावेऽत्र लिङ् । अविवक्षितत्वात्कर्म्मणोऽकर्म्मकत्वं जुहोतेः । तथोक्तम्–"धातोरर्थान्तरे वृत्तेर्धात्वर्थेनोपसङ्ग्रहात् । प्रसिद्धेरविवक्षातः कर्मणोऽकर्मिका क्रिये"ति ॥ धातोः क्रिया अकर्मिका भवति । तत्र हेतुचतुष्टयम् । आद्यं स्पष्टम् । कर्म्मणो धात्वर्थेनोपसंग्रहात् । कर्मणः प्रसिद्धेः । कर्म्मणोऽविवक्षातः । इति ।

एषोऽत ऊर्द्ध्वं हविराहुतिषु न्यायः ॥ २४ ॥

[दर्श और पौर्णमास याग के] ये नियम [चरु आदि] हवि से निष्पन्न होने वाले [नैमित्तिक एवं काम्य सभी कर्मों के] हवनों में इसी प्रकार करना चाहिए ॥ २४ ॥

एषोऽनन्तरोक्तो न्यायः प्रकारः । अत ऊर्ध्वं वक्ष्यमाणासु हविराहुतिषु द्रष्टव्यः । इत्युक्तप्रकारः सर्वत्रातिदिश्यते । न्यायग्रहणेन चैतदुक्तं भवति अत ऊर्ध्वं ये क्षिप्रहोमा ब्रह्मचारिसमिदादयो वक्ष्यन्ते तेषु क्षिप्रहोमोक्त एव प्रकारो भवति । ये पुनस्तन्त्रहोमा वैवाहिकहोमादयस्तेषु ब्रह्मोपवेशनादितन्त्रं द्रष्टव्यम् । तथा क्वचित्प्राप्तोऽप्यर्थो निवर्त्तते । यथाऽऽज्यतन्त्रेषु मुशलोलूखलादयो निवर्त्तन्ते पाण्याहुतिषु मेक्षणस्रुगादय इति । अन्ये तु व्याचक्षते अत ऊर्ध्वमस्मात्परतो वक्ष्यमाण एष न्यायो हविराहुतिषु । हूयत इति हविः । अविशेषात्समिदाज्यपश्वपूपशाकादिकं सर्वमुच्यते । तस्याहुतिषु "बोद्धव्यम्"–इति शेषः ।[1] पराचीनस्यापि बुद्धया समाकृष्टस्यैतदा परामर्शः । न्यायग्रहणं क्वचिदाम्नातस्यापि प्रतिषेधार्थम् । यथा–समाम्नातोऽपि मन्त्रान्ते स्वाहाकारः स्वाहान्तमन्त्रे नाद्रियते । अन्यायत्वात् । तच्चोत्तरत्र वक्ष्याम एवमन्यदप्यूह्यमिति ॥ २४ ॥

मन्त्रान्ते स्वाहाकारः ॥ २५ ॥

आहुति के सभी मन्त्रों के अन्त में 'स्वाहा' पद का प्रयोग करना चाहिए ॥२५॥

होममन्त्राणामन्तेऽवसाने स्वाहाकारः "कर्त्तव्य" इति सूत्रशेषः । स खल्वयं हविस्त्यागार्थकः स्वाहान्तमन्त्रेषु नाद्रियतेऽनर्थकत्वात् । तथाच तन्त्रान्तरम्––

"नमोऽन्ते न नमः कुर्यात्स्वाहान्ते द्विठमेव च ।
पूजायामाहुतौ चापि सर्वत्रायं विधिः स्मृतः ॥" इति ।

द्विठं––स्वाहाकारम् । यत्र च मन्त्रादितोऽपि समाम्नातः स्वाहाकारो हविस्त्यागार्थको भवति । तत्राऽप्यग्नौ करणहोमे मन्त्रान्ते स्वाहाकारान्तरं न कर्त्तव्यमेव । न्यायस्याविशेषात् । तदाहात्र कर्मप्रदीपः (२. ७. १४)––

"स्वाहा कुर्यान्न चात्रान्ते न चैव जुहुयाद्धविः ।
स्वाहाकारेण हुत्वाग्नौ पश्चाद्धोमं समाचरेत् ॥"

अत्र–अग्नौ करणहोमे । सहपठितानां होममन्त्राणाञ्चादौ न प्रत्येकमोङ्कारः करणीयः । तदप्याह–स एव (२. ७. १६)–

---

१. इति परिभाष्यत इति चन्द्रकान्तभाष्ये ॥

"नोऽङ्कुर्याद्धोममन्त्राणां पृथगादिषु कुत्रचित् ।
अन्येषाञ्च विकृष्टानां कालेनाचमनादिना" ॥ इति ॥ २५ ॥

**आज्याहुतिष्वाज्यमेव सꣳस्कृत्योपघातञ्जुहुयात्
नाज्यभागौ न स्विष्टकृत् ॥ २६ ॥**

आज्य से होने वाले हवनों में आज्य संस्कार मात्र करके उपघात होम [प्रकृत याग के उपोद्घात रूप में एक ही होम] करना चाहिए। उलूखल स्थापनादि कर्म की आवश्यकता नहीं हैं। ऐसे स्थान में चरु से होम की तरह चतुर्गृहीत या पञ्चगृहीत आज्य से] दो उपघात होम न करे और 'स्विष्टकृत्' याग भी न करे ॥ २६ ॥

आज्यस्य यथोक्तस्याहुतिषु । यत्राज्यमेव हूयते तत्र, आज्यं संस्कृत्यैवोपघातं यथाभवति तथा जुहुयाद् द्रवद्रव्यकत्वात् स्रुवेणेत्यर्थः एवकारेण यद्वचवच्छिद्यते तदप्युच्यते सुखावबोधार्थम्—नाज्यभागावित्यादि । तदेते अतिदेशागता इह प्रतिषिध्यन्ते ॥ २६ ॥

**आज्याहुतिष्वनादेशे पुरस्ताच्चोपरिष्टाच्च
महाव्याहृतिभिर्होमः ॥ २७ ॥**

जहाँ आज्य की ही आहुति होती है उन [नामकरण आदि कर्मों] में यदि [पुंसवन कर्म की तरह] विशेष विधि नहीं कही गई है तो वहाँ मुख्य याग के पहले और बाद में 'भूः, भुवः और स्वः' इन तीन महाव्याहृतियों से होम करना चाहिए ॥ २७ ॥

आज्याहुतिषु—यत्राज्यमेव हूयते नान्यच्चर्वादि हविरन्तरमस्ति । तेषु नामकरणादिकर्मसु । एवम् अनादेशे—यत्र होम एवनादिश्यते पुंसवनादिषु । तत्र[1] च पुरस्ताच्चोपरिष्टाच्च—पूर्वं पश्चाच्च । व्याहृतिभिर्होमः कार्य इत्यर्थः । ताश्चोक्ताः कात्यायनेन—

"भूराद्यास्तिस्र एवैता महाव्याहृतयोऽव्ययाः[2] ।" इति ॥

गृह्यासङ्ग्रहे—

"यत्र व्याहृतिभिर्होमः प्रायश्चित्तार्थको भवेत् ।
चतस्रस्तत्र विज्ञेयाः स्त्रीपारिग्रहणे यथा ॥" इति ।

---

१. अत्र "मध्यात्पूर्वार्द्धादि"—(१।८।६) ति वच्चकारो लुप्तवद् द्रष्टव्यः ॥

२. अविनाशिन्यः । एतेन त्रिवेदसर्वस्वत्वमासां ज्ञापयति । तथाच मनुः "अकारञ्चाप्युकारञ्च मकारञ्च प्रजापतिः । वेदत्रयान्निरदुहद्भूर्भुवः स्वरितीति च ॥" इति ॥

एवञ्च यत्र विशेषोपदेशातिदेशाभ्यां प्रायश्चित्ततया वा व्याहृतिहोमलाभस्तत्र व्याहृतिभिस्तिस्रः समस्ताभिरेकेत्याहुतिचतुष्टयमन्यत्र व्याहृतित्रयमिति न वचनयोर्विरोधः[1] ॥ २७ ॥

यथा पाणिग्रहणे तथा चूडाकर्म्मण्युपनयने गोदाने च ॥ २८ ॥

जिस प्रकार विवाह में [महाव्याहृतियों में व्यस्त एवं समस्त करके चार] आहुतियाँ दी जाती हैं उसी प्रकार चूडाकरण, उपनयन और गोदान में भी आहुतियाँ होती हैं ॥ २८ ॥

यथा पाणिग्रहणे महाव्याहृतिभिर्व्यस्तसमस्ताभिश्चतस्र (गो. गृ. २. १. २५) आहुतयो हूयन्ते तथा चूडाकर्म्मादावपि । सोऽयमनागतातिदेशः । चूडाकर्मादिव्यतिरिक्तेषु तु तिस्र एवाहुतयो भवन्तीत्यवगमयति ॥ २८ ॥

अपवृत्ते कर्म्मणि वामदेव्यगानꣳ शान्त्यर्थꣳ शान्त्यर्थम् ॥ २९ ॥

॥ इति श्रीमद्गोभिलीये गृह्यसूत्रे प्र० प्र० नवमी कण्डिका ॥ १ ॥ ९ ॥

॥ इति प्रथमः प्रपाठकः ॥



[नित्य या नैमित्तिक] सभी कर्मों के अन्त में 'वामदेव्य' नामक साम का गान शान्ति के लिए करना चाहिए। वस्तुतः 'वामदेव्य-साम' का गान उपद्रवों की शान्ति के लिए ही किया जाता है ॥ २९ ॥

विशेष—(१) आर्षेय ब्राह्मणोक्त १. १९ श्रुति के अनुसार वामदेव्य साम गान-छन्द आर्चिक के द्वितीय प्रपाठक के द्वितीयार्द्ध में तृतीय दशति के पञ्चम 'कया नश्चित् आ भव दूती' आदि ऋक् का अवलम्बन करके तीन साम मन्त्र गाए गए हैं। वह 'गेय गान' के पञ्चम प्रपाठक के प्रथमार्द्ध में २३,२४,२५ साम हैं जिनमें से तृतीय वामदेव्य साम है।

(२) ताण्ड्य ब्राह्मणोक्त 'यद् योन्यां तदुत्तरयोर्गायति'—इस श्रुति के अनुसार उत्तरार्चिक के प्रथम प्रपाठक के प्रथमार्द्ध का द्वादश सूक्त का प्रथम साम भी 'कयानश्चित्र आ' आदि ऋक् और इस सूक्त के इस छन्द के और भी दो ऋक् हैं। इन दो में वामदेव्य गान होता है।

(३) इन वामदेव्य का एकत्र गान होने से 'महावामदेव्य' गान कहलाता है।

---

१. मनुरपि "ॐकारपूर्विकास्तिस्रोमहाव्याहृतयोऽमलाः" इत्याह । पद्धतिकृतस्तु—भूर्भुवस्वरिति प्रत्येकं तिस्रो व्याहृतयः । मिलितास्तु महाव्याहृतयः । सूत्रादौ च व्याहृतिष्वपि तिसृषु महाव्याहृतिस्त्वोपचारात्प्रयोग इत्यर्थंगत्या वदन्ति ॥

यह 'महावामदेव्य' ऊहगान के प्रथम प्रपाठक के प्रथमार्द्ध में पञ्चम साम है ॥२९॥

॥ इस प्रकार गोभिलगृह्यसूत्र के प्रथम प्रपाठक की नवीं कण्डिका की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत 'सरला' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥९॥

॥ इस प्रकार गोभिल गृह्यसूत्र के प्रथम प्रपाठक की 'सरला' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ १ ॥



अपवृत्ते—समाप्ते कर्म्मणि । वामदेव्यस्य "कया न"[1] इत्यादिकस्य (सा० उ० अ० खं०२) गानं कर्त्तव्यमिति परिभाष्यते । तस्मात्सर्वेषामपि कर्म्मणामपवर्गे वामदेव्यं साम गातव्यम् कर्म्मणीति सामान्यतयोपदेशात् । बहूनाङ्कर्म्मणाञ्चैकदा करणेऽन्ते सकृदेव तद्गानमित्याह कर्म्मप्रदीपः (१.९.७)—

"अहोमकेऽष्वपि भवेद्यथोक्तं चन्द्रदर्शने ।
वामदेव्यङ्गणस्यान्ते बल्यन्ते वैश्वदेविके ॥" इति ।

गानस्याशक्तावपि ऋचो वारत्रयं पठनीया इत्याह स एव—

"अन्ते च वामदेव्यस्य गानं कुर्यादृचस्त्रिधा ॥" (१.९.६)

इति । शान्त्यर्थमित्यर्थवादः । स्तूयते[2]ह्यनेन गानम् । अन्तेऽस्याभ्यासोऽत्र प्रपाठकपरिसमाप्तिद्योतकः ॥ २९ ॥

॥ इति श्रीमद्गोभिलीयगृह्यसूत्रव्याख्यायां "मृदलाख्यायां मुकुन्दशर्म्मसङ्कलितायाम्प्रथमप्रपाठकस्य नवमी कण्डिका ॥ १ ॥ ९ ॥

॥ समाप्तोऽयं प्रथमः प्रपाठकः ॥



---

१. कयान इति महावामदेव ऋषिर्गायत्रीच्छन्दोऽग्निर्दैवताऽग्निष्टोमादौ द्वितीयपृष्ठे शान्तिकर्म्मणि च जपे विनियोगः ।

ॐ कयानश्चित्र आभुवदूती सदावृधः । सखा कया सचिष्ठया वृता ॥ १ ॥ कस्त्वा सत्योमदानां मंहिष्ठोमत्सदन्धसः दृढाचिदारु ये वसु ॥ २ ॥ अभीषु णः सखीनामविता जरित्रीणां, शतम्भवास्यूतये ॥ ३ ॥ स्वस्तिन इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्तिनः पूषा विश्ववेदाः । स्वस्तिनस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः ॥ ४ ॥ स्वस्तिनो बृहस्पतिर्दधातु ॐ ३ स्वस्तिनो बृहस्पतिर्दधातु ॥ ४ ॥ ॐ प्राजापत्यं वै वामदेव्यं प्रजापतावेव प्रतिष्ठायोत्तिष्ठन्तु ॥ ५ ॥ ॐ पशवो वै वामदेव्यं पशुष्वेव प्रतिष्ठायोत्तिष्ठन्तु ॥ ६ ॥ ॐ शान्तिर्वैवामदेव्यं शान्तावेव प्रतिष्ठायोत्तिष्ठन्तु ॥ ७ ॥ ॐ अत एतत् कर्माऽच्छिद्रमस्तु । (अस्तु) ॥ ८ ॥ इति गानमन्त्रः ॥

अत्रान्तेऽस्त्वित्यवधारणं सर्वेषाम् ॥ अर्थोऽस्यास्मत्कृते कर्म्मकाण्डमन्त्रार्थप्रदीपे द्रष्टव्यः ॥

२. गानमन्त्र "गशब्दे" (भ्वा० पा०) इत्यस्माद्भावे ल्युटा साधुत्वं बोध्यम् । तेनास्य पाठमात्रमर्थः कार्यः ॥

अथ द्वितीयः प्रपाठकः

तत्र

प्रथमा कण्डिका

प्रथमप्रपाठकेऽग्निसमाधानमुपक्रम्य तत्रावश्यकर्त्तव्य सायम्प्रातर्होमादिदर्शपौर्णमासान्तो विधिरभिहितः तत्र च जायायाः पाणिञ्जिघृक्षन्नित्याधानकालविशेषणतयाऽभिहितम् । तत्प्रकारपरिदर्शनाय द्वितीयप्रपाठकारम्भः ।

अत्र (द्वितीयप्रपाठके) विवाहाद्युपनयनान्तोदशकर्म्मविधिरनुक्तपूर्व उच्यते--

पुण्ये नक्षत्रे दारान् कुर्वीत ॥ १ ॥

[ज्योतिः शास्त्रोक्त] शुभ नक्षत्र में विवाह करना चाहिए ।। १ ।।

पुण्ये[1] शोभने । नक्षत्रे ज्योतिश्शास्त्रोक्ते ।[2] विवाहे तस्यादरातिशयोऽनेन द्योत्यते । दारान्–"दाराः पुंभूम्नि चाक्षताः" इत्यभिधानान्नित्यं पुल्लिङ्गो बहुवचनान्तश्च दारशब्दः सहधर्म्मचारिणीवाचकः । ताङ्कुर्वीत उद्वहेत ।। १ ।।

कीदृशान् ? तत्राह---

लक्षणप्रशस्तान् कुशलेन ॥ २ ॥

शुभाशुभ लक्षणों को जानने वाले विद्वान् से जानकारी लेकर अच्छे लक्षणों वाली कन्या से विवाह करे ।। २ ।।

लक्षणेन प्रशस्तान् प्रशस्तलक्षणोपेतान् ।[3] यद्वाऽन्तर्भावितण्यर्थोऽत्र

---

१. अत्र "पुण्येऽहनी"—ति सामान्यसूत्रादेवैतत्प्राप्तौ तिथ्याद्यपेक्षया नक्षत्रप्राबल्यख्यापनाय पुनर्नक्षत्रग्रहणमिति बोध्यम् ॥

२. तथाच पारस्करः "त्रिषुत्रिषूत्तरादिषु" इति । उत्तरफल्गुन्यादित्रयोत्तराषाढादित्रयोत्तरभाद्रादित्रयेषु नवसु नक्षत्रेष्विति तदर्थः । एवञ्चैतद्गृह्यानुसारिभिश्चित्राश्रवणाधनिष्ठाश्विन्योज्यौतिषेऽविहिता अपि ग्राह्याः । स्वगृह्योक्तत्वात् । गोभिलीयैस्तु ज्यौतिषोक्ता एव ॥

३. तथा च हेमाद्रौ स्कन्दपुराणम्—

"सुरूपां लक्षणोपेतामव्यङ्गाङ्गीं कुलोद्भवाम् । कन्यां भ्रातृमतीञ्चैव धर्म्मार्थार्थी समुद्वहेत् ॥ विशालनेत्रां सुमुखीं नीलकुञ्चितमूर्धजाम् । आताम्रपाणिपादाग्रां कम्बुग्रीवां सुमध्यमाम् ॥ विशालजघनाञ्चारुनितम्बस्थलभूषिताम् । अस्थूलगुल्फरशनामश्यामाधरतालुकाम् ॥ अपिङ्गालोमकपिलामस्फुरच्चरणां शुभाम् । अस्थूलगण्डनासाग्रां शस्तामाहुर्म्मनीषिणः" ॥ इति । शातातपः "हंसस्वनां मेघवर्णां मधुपिङ्गललोचनाम् । ईदृशीं वरयन्कन्यां गृहस्थः सुखमेधते" ॥ इति । मेघवर्णां स्निग्धश्यामरूपाम् । मधुइति । मधुवदीषत्पिङ्गले लोचने यस्यास्ताम् ।

प्रशंसतिः । लक्षणपदञ्च तज्ज्ञे लाक्षणिकन्तेन लक्षणज्ञप्रशंसितान् । कुशलेनेति लक्षणपदार्थान्वयि । स्त्रीलक्षणाभिज्ञेनेति तदर्थः । तथाच तद्द्वारा लक्षणान्यवगन्तव्यानि । नित्यसापेक्षस्थले एकदेशान्वयस्य देवदत्तस्य गुरुकुलमित्यादिषु दर्शनात् । यद्वा कुशलेन स्त्रीलक्षणविदा पुरुषेण लक्षणैरवैधव्यादिसूचकैर्मन्वाद्युक्तैः प्रशस्तान्प्रशंसितान् परीक्षितानित्यर्थः । तथाच स्मरणम् (काशी खण्डे ३७. १)--

"सदा गृही सुखं भुङ्क्ते स्त्री लक्षणवती यदि ।
अतः सुखसमृद्ध्यर्थमादौ लक्षणमीक्षयेत् ।।" इति ।

याज्ञवल्क्योऽपि--

"धर्म्मार्थकाममोक्षाणां दाराः सम्प्राप्तिहेतवः ।
परीक्ष्यास्ते ततो यत्नात्पूर्वमेव करग्रहात् ।।" इति ।
"अविप्लुतब्रह्मचर्यो लक्षण्यां स्त्रियमुद्वहेत् ।" इति च ।

लक्षण्यां--बाह्याभ्यन्तर-शोभन-लक्षणोपेताम् । प्रशंसायामत्र यत्प्रत्ययः । (पा० ५।१।१२० वा०) तत्र--कुलमग्रे परीक्षेत--" इति गृह्यान्तरवचनात् आदौ कुलं सदाचारादिगुणवत्तया हीनक्रियादिदोषहीनतया च परीक्ष्य तज्जोद्वाह्या । तदनु लक्षणाद्यपि परीक्ष्यम् । लक्षणानि च शुभाशुभसूचकानि तनुलोमकेशदशनत्वादीनि प्रत्यक्षगम्यानि बाह्यानि तथा च मनुः (३. १०)--

"अव्यङ्गाङ्गीं[1] सौम्यनाम्नीं हंसवारणगामिनीम् ।
तनुलोमकेशदशनां मृद्वङ्गीमुद्वहेत्स्त्रियम् ।।" इति ।।

अव्यङ्गाङ्गीम्--अविकलाङ्गीम् । तनुलोमकेशदशनाम्--अनतिस्थूललोमकेशदन्ताम् । स्त्रियमिति नपुंसकत्वनिरासार्थम् ।। यान्याभ्यन्तराणि तान्युक्तान्याश्वलायनगृह्ये "दुर्विज्ञेयानि लक्षणान्यष्टौ पिण्डान् कृत्वे"--त्यादिवाक्योक्तानि । तान्ययमप्यनुपदं सूत्रयित्वा दर्शयिष्यति ।। २ ।।

लक्षणावगतौ प्रकारान्तरमाह--

तदलाभे पिण्डान् ।। ३ ।।

उस [लक्षण के जानकार और सुन्दर लक्षण] के न मिलने पर मिट्टी के पिण्डों से [वक्ष्यमाण तरीके से परीक्षा करे] ।। ३ ।।

---

१. पुनर्म्मनुः "नोद्वहेत्कपिलाङ्कन्यां नाधिकाङ्गीं न रोगिणीम् । नालोमिकान्नातिलोम्नीं न वाचालान्न पिङ्गलाम् ।। नर्क्षवृक्षनदीनाम्नीं नान्त्यपर्वतनामिकाम् । नाहिपक्षिप्रेष्यनाम्नीं न च भीषणनामिकाम्" ।। इत्यादिसंस्कारदीपके म. म. हर्षनाथशर्म्मकृते द्रष्टव्यम् ।।

तदिति प्रकृतः स्त्रीलक्षणवित् कुशलः परामृश्यते "कुर्वीत" इति वाक्यशेषः। तैश्च स्वयमेव दारान् परीक्षेतेत्यर्थः। पिण्डानित्यविशेषोपादानेऽपि मृद एव तान्कुर्वीत। उत्तरसूत्रदर्शनात् ॥ ३ ॥

वेद्याः सीताया ह्रदाद्गोष्ठाच्चतुष्पथादादेवनादादहनादीरणात् ॥ ४ ॥

यज्ञवेदी से, जोती हुई भूमि से, अगाध जलाशय से, गोशाला से, चौराहे से, द्यूत स्थान से, श्मशान से और ऊषर भूमि से थोड़ी-थोड़ी मिट्टी लेकर आठ भिन्न-भिन्न स्थानों में मिट्टी का पिण्ड बनाकर रक्खे ॥ ४ ॥

वेदिः परिष्कृता भूमिरग्निष्टोमादौ विहिता यज्ञस्थानमिति यावत्। तस्याः। सीता लाङ्गलपद्धतिः। कृष्टं क्षेत्रमिति यावत्तस्याः। ह्रदोऽगाधजलाशयस्तस्मात्। गावो यत्र तिष्ठन्ति तद्गोष्ठन्तस्मात्। चतुष्पथः प्रसिद्धः। तस्मात्। आगत्याक्षिकैर्दीव्यते यत्र तदादेवनं द्यूतस्थानन्तस्मादादेवनात्। आ मर्यादया दह्यते देहो यत्र तदादहनं श्मशानन्तस्मात्। "ईरणन्तूषरे शून्येऽपी"-ति मेदिन्यभिधानादीरणमूषरं, यत्रोप्तं बीजन्न प्ररोहति तस्मात्। एताभ्यो मृदमादाय पृथगेवाष्टौ पिण्डान् कुर्वीतेत्यर्थः ॥ ४ ॥

सर्वेभ्यः सम्भार्य्यन्नवमम् ॥ ५ ॥

उन पिण्डों में से कुछ-कुछ मिट्टी निकालकर नौवाँ पिण्ड बनाकर रक्खे ॥५॥

सम्भार्यं संहार्यं सहृत्य क्रियमाणम्। सम्पूर्वाद्धरतेः "ऋहलोर्ण्यत्" (पा० ३।१।१२४) इतिण्यत्प्रत्यये आदिवृद्धिः। हस्य च भश्छान्दसः (पा० ३।१।८४ वा०) सर्वेभ्यो वेद्यादिभ्यः ॥ ५ ॥

समान् कृतलक्षणान् ॥ ६ ॥

[वक्ष्यमाण कृत्य के निर्वाह के लिए उन] समान नौ पिण्डों को चिह्न से युक्त करे ॥ ६ ॥

तांश्च नव पिण्डान् समांस्तुल्यप्रमाणाम्। लक्षणं चिह्नं, कृतं लक्षणं येषां तान्। यतमः पिण्डो यतमस्या मृदस्तच्चिह्नङ्कर्त्तव्यम्। वक्ष्यमाणकृत्यनिर्वाहाय ॥ ६ ॥

तान्खल्विमान् पिण्डान्--

पाणावाधाय कुमार्या उपनामयेद् "ऋतमेव प्रथममृतं नात्येति कश्चनर्त्त इयं पृथिवी श्रिता सर्वमिदमसौ भूयात्" (म० ब्रा० १।१।१) इति। तस्या नाम गृहीत्वैषामन्यतमं गृहाणेति ब्रूयात् ॥ ७ ॥

उन सभी पिण्डों को हाथ में लेकर कन्या के समीप में 'ऋतमेव' 'सत्य ही प्रथम कारण है अतः सत्य का अतिक्रमण कोई भी नहीं करता। सत्य में ही यह पृथ्वी आश्रित है। मात्र पृथ्वी ही नहीं, अपितु सभी वस्तु-जात सत्य में आश्रित है यह अमुक कन्या भी सत्य होवे' आदि मन्त्र से स्थापित करे मन्त्र में उक्त असौ के स्थान पर कन्या का नाम लेकर मन्त्र कहने के बाद कन्या को सम्बोधन करके कहे कि इनमें से एक का ग्रहण करो ॥ ७ ॥

विशेष—'ऋतमेव प्रथममृतम्' आदि मन्त्र तै० ब्रा० १.५.५ और आप० श्रौ० ८.४.२ में भी उपलब्ध है ॥ ७ ॥

पाणौ स्वकीये (वरः) आधाय–धृत्वा । कुमार्या उप समीपे नामयेत् स्थापयेत् । "ऋतमि" त्यादिमन्त्रेण । अस्यार्थः—ऋतमिति सत्यनाम । (निरु० ४।१९।९) 'ऋतमेव'–सत्यमेव 'प्रथमम्' आद्यङ्कारणम् । तथाच श्रुतिः "तस्य ह वैतस्य ब्रह्मणो नाम सत्यमि"ति । 'ऋतं' सत्यं 'ना० न' नातिक्रामति कश्चिदपि । 'ऋते' सत्ये चेयं पृथिवी(आ)श्रिता' । न केवलम्पृथिव्येव, किन्तु 'सर्वमिदम्' । चकारो लुप्तवद् द्रष्टव्यः । यथाचेदं सर्वं वस्तु जातं सत्याश्रित न्तथा'ऽसौ' (यशोदादेवी) सत्या 'भूयात्–भवतु ॥ इति ॥ अत्रासावित्यस्य स्थाने तस्याः कुमार्या नाम गृहीत्वौच्चार्य एवं सम्बोधनान्तं नाम मन्त्रान्ते गृहीत्वा एषां पिण्डानामेकं गृहाणेति तस्यै ब्रूयात् ॥ ७ ॥

पूर्वेषाञ्चतुर्णां गृह्णन्तीमुपयच्छेत् ॥ ८ ॥

पहले चार वेदी आदि पिण्डों में यदि एक उठावे तो वह विवाह के योग्य है ॥ ८ ॥

पूर्वेषामिति । मध्ये–एकमिति शेषः । वेद्यादिपिण्डचतुष्टयान्यतमसाददानां विवाहयेदित्यर्थः गृह्णन्तीमित्यत्र नुम्छान्दसः ॥ ८ ॥

सम्भार्यमपीत्येके ॥ ९ ॥

कुछ आचार्यों का मत है कि नवाँ पिण्ड उठाने पर भी कन्या विवाह के योग्य होती है ॥ ९ ॥

सम्भार्यं नवमपिण्डमाददानाऽपि विवाह्येत्येकदेशिमतम् । तथाच गृह्यासङ्ग्रहेऽङ्गिराः (२.२१.२३)—

"क्रियावती वेदिपिण्डं सीतायाः फलते कृषिः ।
अक्षोभ्या च ह्रदे ज्ञेया गोष्ठे भवति गोमती ॥

चतुष्पथे प्रकीर्णा[१] स्याद्यूतस्थाने कलिप्रिया ।
श्मशाने म्रियते भर्त्ता बन्ध्या भवति चोषरे ॥
नवमे सर्वमेवेतत्कन्यायास्तु परिग्रहात् ॥" इति ॥

प्रकीर्णा—स्वैरिणी । परिशिष्टान्तरोक्तः फलवादः प्रदर्श्यते—
"गृह्णाना वेदिपिण्डन्तु प्रसूते याज्ञिकान्सुतान् ।
सीतापिण्डन्तु गृह्णाना सुतान्सूते कृषीबलान् ॥
सर्वकामसमृद्धांश्च तृतीयस्य परिग्रहात् ।
गोष्ठपिण्डग्रहाच्चैव गोमतः सुखिनः सुतान् ॥
इतश्चेतश्च गन्तारः पञ्चमेनास्थिराः सुताः ।
षष्ठेन तु गृहीतेन भवन्ति द्यूतसेविनः ॥
श्मशानपिण्डग्रहणाद्विधवा जायते ध्रुवम् ।
बन्ध्या वा विधवा वा स्यादष्टमस्य परिग्रहात् ॥
मिश्रमेतद्भवेत्सर्वंय्यथाँव त्पूर्वोदितम्फलम् ।
नवमस्य ग्रहस्तस्माच्छुभो वा न च वाऽशुभः ॥" इति ।

अत्र प्रजास्तुतिनिन्दाद्वारेण सैव वस्तुतो निन्दिताऽनिन्दिता चेति मन्तव्यम् । अत कन्यापरिग्रहे विशेषः शुभकर्म्मनिर्णये मुरारिमिश्रीये, संस्कारदीपके हर्षनाथशर्म्म निर्मिते च द्रष्टव्यः ॥ ९ ॥

(अथ ज्ञातिकर्म्म)

अथेदानीमासन्नविवाहकालायाः कन्यायाः स्नपनमभिदधाति—

क्लीतकैर्यवैर्माषैर्वाऽऽप्लुताॅं सुहृत्सुरोत्तमेन सशरीरां त्रिर्मूर्द्धन्यभिषिञ्चेत् "कामवेद ते नाम मदो नामासी"ति । "समानयामुमि"ति पतिनाम गृह्णीयात् । स्वाहाकारान्ताभिरुपस्थमुत्तराभ्यां प्लावयेत् ॥ १० ॥ (मं० ब्रा० १।१।२–३–४)

ज्ञातिकर्म

यव चूर्ण या उड़द के चूर्ण [के उबटन] से अन्य सब अङ्ग मलकर कन्या की किसी सखी से 'सामवेद' आदि स्वाहाकारान्त तीन मन्त्रों से कन्या के शिर पर तीन बार उत्तम जल का अभिषिञ्चन करे अर्थात् नहलाए मन्त्र में उक्त 'समानयामुम्' के स्थान पर पति का नाम लेना चाहिये । इन तीन स्वाहाकारान्त मन्त्रों में से बाद के दो मन्त्रोंसे कन्या के उपस्थ इन्द्रिय को धुलाना चाहिए ॥१०॥

---

१. यावत्सवम् "यावत्तावच्च साकल्ये" इत्यमरात् ॥

क्लीतकैः—रुदकक्लिन्नैश्चूर्णीकृत्य द्रवीकृतैरित्यर्थः। आप्लुतां—कृतसर्वाङ्गोद्वर्त्तनाम्। सुहृत् स्निग्धहृदयो वयस्या मातृवर्गश्च सुरा—उदकम् (निघं० १।१२) कोशेऽपि "वरुणासुराऽरविन्दानी"—त्युदकपर्यायेषु[1] पठ्यते इति म० म० मुरारिमिश्रादयः। तथोत्तमोदकेन।[2] सशरीरां—कन्याम्[3] मूर्द्धनि—शिरसि।[4] त्रि-वारत्रयमभिषिञ्चेत्। अयमर्थः—मूर्द्धनि तथाऽभिषिञ्चेद्यथा सर्वमेव शरीरमभिषिक्तं भवतीति॥ तत्र करणमन्त्रमाह—कामेत्यदिम्। इति—एवमादिभिस्तिसृभिर्ऋग्भिः स्वाहा कारान्ताभिः। ता यथा—"काम वेद ते नाम मदो नामसि समानयामुᳪंसुरा ते अभवत्। परमत्र जन्माग्ने तपसो निर्म्मितोऽसि स्वाहा॥२॥ इमन्त उपस्थं मधुना सᳪंसृजामि। प्रजापतेर्मुखमेतद्द्वितीयम्॥ तेन पुंᳪसो अभिभवासि सर्वान्वशिन्यसि राज्ञी स्वाहा॥ ३॥ अग्निङ्क्रव्यादनकृण्वन्गुहानाः स्त्रीणामुपस्थमृषयः पुराणाः। तेनाऽज्यमकृणᳪंस्त्रै शृङ्गं त्वाष्ट्रं त्वयि तद्दधातु स्वाहा"॥ ४॥ इति॥ आसामर्थः—'हे काम!। 'तेनाम' सर्वेऽपि 'वेद' जानाति। त्वं 'मदः' मादको 'नाम' प्रसिद्धो'ऽसि'भवति। अतः 'अमुं' सम्भावितमेतस्याः पतिं 'समानय' सङ्गमय। "एतये"—तिशेषिः। 'ते' सहायभूता 'सुरा' एषा स्नानार्थमेतस्या उपस्थिता "अभवत्" भवति। 'परं' किन्तु—हे 'जन्माग्ने' जन्महेतुभूताग्निस्वरूप! 'अत्र' अस्यां (निमित्तेसप्तमीं) एतदर्थमेव। 'तपसः' प्रतिविशिष्टात्कर्म्मणः। त्वं प्रजापतिना 'निर्म्मितोऽसि'। तस्मै तुभ्यं जन्माग्निरूपाय 'स्वाहा' सुहुतमस्तु॥२॥

"इमं" प्रत्यक्षभूतं 'ते' त्वदर्थमुपकल्पितम् 'उपस्थं' गुप्ताङ्गं 'मधुना' प्रियद्रव्येणोद्वर्त्तनभूतयवादिना। 'संसृजामि' संसर्गयामि। 'एतत्' उपस्थम् 'प्रजापतेः' लोकस्रष्टुः 'द्वितीयं मुखम्'। पूर्वमसौ एकस्मान्मुखतः एवसंकल्पाभिलापकवचनेनासृजत् प्रजाः। पश्चात्ततो यथाभिमतां वृद्धिमनालोच्य स्त्रीयोनितः प्रजाः स्रष्टुमेतद् द्वितीयमुखं ससर्जेति पौराणिकी गाथाऽत्रानुसन्धेया। 'तेन' अनेन 'अवशान्' अजितेन्द्रियान् कामिनः 'सर्वान्' एव

---

१. ननु—प्रसिद्धत्वान्मद्यमेवास्तु इति चेन्न बाधसापेक्षविध्यापत्तेः। तत्स्पर्शेऽपि प्रायश्चित्तोपदेशात्। तथाचाङ्गिराः—"सुराया गन्धमाघ्राय स्नात्वाज्यं प्राश्य शुद्ध्यति। स्पर्शे प्रतिग्रहे चैव ह्यहं पीत्वा तथोदकम्"। इति। सूत्रस्य जलपरतया समर्थनेनान्यथानुपपत्तेरभावात्। अत एव गृह्यासङ्ग्रहः" सर्वयज्ञेषु विप्राणामद्भिः पूर्वम्प्रवर्त्तनम्। तस्मात्सुर जलम्प्रोक्तमद्भिरेवाऽभिषेचयेत्"॥ इति॥

२. क्षारादिदोषरहितेन शोभनगन्धवर्णादियुक्तेन च॥

३. एतेन सर्वाङ्गस्नानं शिरआदिपादान्तमुक्तम्भवति। तदेतदनुपदं व्यक्तीभविष्यति॥

४. अत्रावच्छेदकत्वरूपविषयत्वं सप्तम्यर्थः पृथगुक्तेः प्राधान्यमङ्गेषु शिरसो ज्ञापयति।

'पुंसः' पुरुषान् 'अभिभवामि' सम्मोहयामि (वशेस्थापयामि)। एवङ्काम-मुक्त्वा कन्यामाह--हे कन्ये! त्वं 'वशिनी' वशङ्करी। अतएव 'राज्ञी' राजमाना (सर्वश्रेष्ठा) 'असि' भवसि। तस्मै कामाय 'स्वाहा' सुहृतमस्तु ॥३॥

'पुराणाः' प्राग्भवीयाः 'ऋषयः' 'गुहानाः' रहस्यमेतमर्थं संवृण्वानाः। 'स्त्रीणामुपस्थम्' गुह्याङ्कं 'क्रव्यादम्'[1] आममांसादं (पुरुषादम्) 'अग्निम्' तत्तुल्यम् 'अकृण्वन्' अकुर्वन्। 'तेन' हेतुना 'त्रैश्रृङ्गम्' त्रिश्रृङ्गादुपस्थेन्द्रियादुत्पन्नम् रेतोरूपम् 'आज्यम्' घृतम् 'त्वाष्टम्'[2] त्वष्टुर्विश्वकर्म्मणः सर्वस्रष्टुः प्रजापतेरुपकारकम् 'अकृणन्' अकुर्वन्।[3] हे कन्ये! 'त्वयि' विषये 'तत्' आज्यभूतं रेतः 'दधातु' स्थापयतु। कः? योसावदस निर्दिष्टोऽमुमिति ॥ ४ ॥

तस्मादेकैकामृचमुच्चार्य्यैकैकोऽभिषेकः कर्त्तव्यस्तत्रोत्तराभ्यामृग्भ्याम् "इमन्तउपस्थम्" "अग्निं क्रव्यादम्" इत्येताभ्याम् उपस्थं योनिप्रदेशं प्लावयेत्। एतदुक्तं भवति--तिसृभिरपि आभिस्तथाऽभिषेकः कर्त्तव्यो यथा सर्वं शरीरमभिषिक्तं भवति। परमुत्तराभ्यान्तथाऽभिषेक्तव्यं यथोपस्थप्रदेशो विशेषतः प्लावितो भवतीति। अथेदानीं मन्त्रे विशेषमाह--समानयामुमित्युक्तमन्त्रघटकवाक्येऽमुमित्यस्य स्थाने पत्युर्वरस्य नाम गृह्णीयाम्। तदिदं सूत्रमुत्सृज्य पाठक्रममनुसृत्यार्थक्रमं व्याख्यातम् ॥ १० ॥

ज्ञातिकर्म्मैतत् ॥ ११ ॥

यही (सुहुत अर्थात्) ज्ञाति कर्म है ॥ ११ ॥

अथ सुहुतपदार्थमभिव्यनक्ति--ज्ञातीति। आसन्ने विवाहसमये कन्यादौर्भाग्याऽपनोदकः शाखान्तरीयेणाऽपि कर्त्तव्यो विरोधाभावादिति ॥११॥

(अथ विवाहः--)

अथेदानीम्पाणिग्रहणमभिधीयते--

पाणिग्रहणे पुरस्ताच्छालाया अग्निरुपसमाहितो भवति ॥ १२ ॥

विवाह के समय अग्नि शाला (या घर के) बीच में पूर्व दिशा में अग्नि का संस्थापन करना चाहिए ॥ १२ ॥

---

१. अत्र "क्रव्ये च" (पा० ३।२।६९) इत्यदेविट्। स चाममांसशब्दे उपपदे भवति। उपपदस्य च क्रव्यादेशः पृषोदरादित्वात्। तथा चाममांसभक्षकः क्रव्यात्। पक्वमांसभक्षकश्च क्रव्याद इति सि. कौ. वृत्तिकृतः प्राहुः ॥

२. त्वष्टाऽत्र ब्रह्मैव प्रजापतित्वेन भागलक्षणयाऽभिहितः ॥

३. विकरणव्यत्यय आर्षः (पा० ३।१।८५)।

पाणिग्रहणे कर्म्मणि प्रक्रान्ते पुरस्तादग्रतः शालाया गृहस्य प्राङ्गण[1] इत्यर्थः । अग्निः उपाग्रे[2] (वरस्य) सम्यक् आहितः स्थापितो भवति । पूर्वोक्तयाऽऽवृता । अनुपदेशात्कर्तुरनियमः । तेन यावद्वरो वधूमादाय गृहान्निष्क्रम्यागच्छति तावदन्य एव कश्चिदग्निं स्थापयति । आवृतमपि स एव करोति—इतिशब्दस्वरसादवगम्यते । अतएव सूत्रयिष्यति बर्हिषोऽन्तं कटान्तं प्रापयेत्" (२।१।२२) इति । तदेतद्भट्टभाष्यसम्मतश्चन्द्रकान्तोऽप्यनुमन्यते स्म स्वभाष्ये । वस्तुतस्तु–वर एवात्रकर्त्तेति तत्सूत्रे (२।१।२२) एव व्यक्तीभविष्यति ॥ अग्निस्थापनश्च वेदिमध्ये कार्यं, वेदिश्च चतुर्विंशाङ्गुलायता चतुरङ्गुलोच्छ्रिता च कार्येत्याह—गृह्यासंग्रहः—

"उपलिप्ते महीपृष्ठे चतुर्विंशाङ्गुलायता ।
वेदी वैवाहिकी कार्या चतुरङ्गुलमुच्छ्रिता ॥
तां शूद्रो नोपलिम्पेत न बन्ध्याविधवास्त्रियौ ।
पतिपुत्रवती या स्त्री सैव तामुपलेपयेत्" ॥ इति ।

यद्यप्यत्राचार्येण कन्यायाप्रदानं प्रतिग्रहणश्च न सूत्रितं तथापि "अलङ्कृत्य कन्यामुदकपूर्वन्दद्यादि" त्येवमादि गृह्यान्तरदर्शनात्तदप्यादरणीयं तदेतत्सप्तदशसूत्रान्ते यथाप्रसक्तमुपवर्णयिष्यते । अत्र चन्द्रकान्तः । पाणिग्रहणे शिष्यजिज्ञासा समुत्कटेति तन्निरसिसिषया खल्वाचार्यस्तदेव सूत्रयाञ्चकार न कन्यादानमिति श्लिष्यते । प्रदानञ्चेदकन्यादातुः कर्म्म न प्रतिग्रहीतुः । प्रतिग्रहोऽपि दानाधीन एवेति । प्रदातारश्च याज्ञवल्क्येनोक्ताः—

"पिता पितामहो भ्राता सकुल्यो जननी तथा ।
कन्याप्रदः पूर्वनाशे प्रकृतिस्थः परः परः ॥" इति ।

प्रकृतिस्थः प्रदानोचितपातित्योन्मादादिदोषरहितः । एवञ्च मात्रा कन्याप्रदानं सकुल्ये जीवति पत्या सहैव (यदि स जीवति) कार्यं, नान्यथेति राद्धान्तः । अत्र विशेषोऽग्रे वक्ष्यते ॥

प्रतिग्रहीता (वरो)ऽपि याज्ञवल्क्येनैवोक्तः—

"एतैरेव गुणैर्युक्तः सवर्णः श्रोत्रियो वरः ।
यत्नात्परीक्षितः पुंस्त्वे युवा धीमाञ्जनप्रियः ॥" इति ।

---

१. प्राङ्गणस्यैशान्यां जामातृहस्तेन चतुर्हस्तायाम विस्ताराया–वेणुनिर्म्मिताया वेदेर्मध्ये या जामातृहस्तोन्मिताऽन्तर्वेदिस्तस्यामिति वीरेश्वरादयः स्वस्वपद्धतौ लिखन्तिस्म । व्यवहारोऽपि तथैवाजनिकः तदेतदनुपदं स्फुटीभविष्यति ॥

२. वरोपवेशनस्थानस्य ॥

गुणैररोगित्वादिभिः स्त्रीलक्षणोक्तैः । चन्द्रकान्तस्तु—सञ्चारिरोगदोषसमन्वितकुलोत्पत्तिराहित्यादिभिरित्याह । शवर्ण इति । समानवर्णः न हीनवर्णः कन्यात इत्यर्थः । श्रोत्रियः । आचारनिष्ठः ।

पुंस्त्वपरीक्षणे नारदः—

"यस्याप्सु प्लवते वीर्यं ह्रादि मूत्रञ्च फेनिलम् ।
पुमान्स्याल्लक्षणैरेतैर्विपरीतस्तु शत्रिकः ॥" इति ।

शत्रिकः षण्ढः । (नपुंसकः) व्यासः—

"जातिर्विद्या वयः शीलमारोग्यं बहुपक्षता ।
अर्थित्वं वित्तसम्पत्तिरष्टावेते वरे गुणाः ॥" इति ।

एवमादयो गुणाः[1] शुभकर्म्मनिर्णये संस्कारदीपके च द्रष्टव्याः ॥ कन्यागुणाश्च याज्ञवल्क्येनोक्ताः—तथा चोद्वहेदित्यनुवृत्तौ सः—

"अनन्यपूर्विकां कान्तामसपिण्डां यवीयसीम् ।
अरोगिणीं भ्रातृमतीमसमानार्षगोत्रजाम् ॥" इति ।

अत्रानन्यपूर्विकामित्यनेन वाग्दत्ता मनोदत्ता अग्नि परिगता सप्तपदीं नीता, भुक्ता गृहीतगर्भा प्रसूता चेति सप्त पुनर्भ्वो व्यावर्त्यन्ते । कान्तां—वोढुर्मनो नयनयोराह्लादकरीम् । असपिण्डामिति—सापिण्ड्य[2] वर्जनम् । सापिण्ड्यञ्चैकशरीरावयवान्वयेन भवति । एकस्य हि पितुर्मातुर्वा शरीरावयवाः पुत्रपौत्रादिषु साक्षात्परम्परया वा शुक्रशोणितादिरूपेणानुस्यूताः । यद्यपि पत्न्याः पत्या सह, भ्रातृपत्नीनाञ्च परस्परन्नैतत्सम्भवति तथाप्या[3]धारत्वेनैकशरीरावयवान्वयोऽस्त्येव । एकस्य हि पितृशरीरस्यावयवाः पुत्रद्वारा तास्वाहिता इति मिताक्षराकार—मदनपारिजातादयः प्राहुः ॥ कथञ्चिदेकपिण्डक्रियाप्रवेशेन निर्व्वाप्य सापिण्ड्यं चन्द्रिकाऽपरा-

---

१. अथ वरावस्थानियमो विशिष्य क्वचिदपि नोक्तः । किन्तु—मन्वादिस्मृत्यर्थपर्यालोचनया चतस्रोऽवगम्यन्ते । तत्रादौ मनुना "त्रिंशद्वर्षोवहेत्कन्यां हृद्यां द्वादशवार्षिकीम् । त्र्यष्टवर्षोऽष्टवर्षां वा धर्म्मे सीदति सत्वरः ॥" इत्युक्त्या कन्यातस्त्रिगुणा सार्द्धद्विगुणा च वरावस्था आयाति । वर्षैरेकगुणाम्भार्यामुद्वहेद् द्विगुणः पुमानि"ति शुभकर्मनिर्णयधृतविष्णुपुराणवाक्याच्च द्विगुणः ।

"गर्गस्तु उद्वहेद्वयसा न्यूनां न्यूनामकारतोऽपि चे—"त्याह । तथाचात्रवरवध्वोराकृतिसामञ्जस्य गुणोत्कर्षत्वव्यवस्थायाः फलातिशयः प्रयोजनं सर्वथा च गर्गोक्तस्यावज्ञेयम् ॥

२. पिण्डो देहः । समान एकः पिण्डो येषान्ते सपिण्डास्तस्यभावः सापिण्ड्यम् ॥

३. तदुक्तं गर्भोपनिषदि—"एतत्षाट्कौशिकं शरीरं त्रीणि पितृतस्त्रीणि मातृतः । अस्थिस्नायुमज्जानः पितृतस्त्वङ्मांसरुधिराणि मातृत" इति ।

र्कमेधातिथिमाधवादयो वदन्ति । नन्वेवं[1] विधातृशरीरावयवान्वयेन सापिण्ड्यातिप्रसङ्गेन एकपिण्डदानक्रियान्वयित्वेन वा गुरुशिष्यादेरपि श्राद्धदेवतात्वात्साापिण्ड्यमिति न काप्यसपिण्डेत्यत आह याज्ञवल्क्यः—

"पञ्चमात्सप्तमादूर्ध्वं मातृतः पितृतस्तथा" इति ।

मातृतः मातुः सन्ताने पञ्चमादूर्ध्वं, पितृतः पितुः सन्ताने सप्तमादूर्ध्वं सापिण्ड्य "निवर्त्तत" इतिशेषः । तथाच वृद्धशातातपः—

"पञ्चमात्सप्तमादूर्ध्वं मातृतः पितृतस्तथा ।
सपिण्डता निवर्त्तेत सर्ववर्णेष्वयं विधिः ॥" इति ।

अतश्चायं सपिण्डशब्दोऽवयवशक्त्या सर्वत्र वर्त्तमानोऽपि निर्म्मथ्य पङ्कजादिशब्दवत् नियतविषय एव । तथाच पित्रादय उपर्युपरि षट् आत्मा च सप्तम इति ।

अशौचप्रकरणे "दशाहेन सपिण्डास्त्विव"-त्यादौ सपिण्डपदं स्वकुलसपिण्डपरं-मातामहादावुक्तसापिण्ड्यसत्त्वेऽपि तत्राऽशौचविशेषस्य वाचनिकत्वादिति न दोषः । अत्र (सपिण्डतायां) कूटस्थ (मूलपुरुष)-मादाय गणना कार्या । तदुक्तम्—

"वध्वा वरस्य वा तातः कूटस्थाद्यदि सप्तमः ।
पञ्चमी चेत्तयोर्माता तत्सापिण्ड्यं निवर्त्तते ॥" इति ॥

यतः[2] सन्तानभेदः स कूटस्थः । यवीयसीम् । स्वापेक्षया वयसा वपुषा

---

१. तथाच ऋग्वेदे—"पतिर्जायां प्रविशति गर्भो भूत्वेह मातरम् । तस्यां पुनर्नवो भूत्वा दशमे मासि जायते ॥ तज्जाया जाया भवति यदस्यां जायते पुनः ॥' इति । अत्र मातृत्वातिदेशेऽपि "दशास्यां पुत्रानाधेही"ति श्रुतिबलान्नपुनरभिगमनादौ दोषः । एवम् "अस्थिभिस्तेऽअस्थीनि सन्दधामी"ति श्रुतिरपि । तथाच स्मर्यते-"एकत्वमागता यस्माच्चरुमन्त्राहुतिव्रतैः ।" इति तत्सपिण्डैस्तु तद्द्वारैव । एवञ्च साक्षात्परम्परया वैकशरीरान्वयित्वं सापिण्ड्यमिति लब्धम् । नन्वेतदतिप्रसक्तमष्टमादेरपि परम्परयैकशरीरान्वयसम्भवादिति चेन्न मातृतः पितृतः पञ्चसप्तान्यतमत्वेनोपाहित्वात् ॥ एतत्तत्त्वमनुपदं स्फुटीभविष्यति ॥

२. सन्तानभेदेऽपि यतः सन्तानभेदस्तमादाय गणयेत् । यावत्सप्तम इति सर्वत्रयोजनीयम् । तथाच मातरमारभ्य तत्पितृपितामहादिगणनया पञ्चमसन्तानवर्त्तिनी माता पञ्चमीत्युपचर्यते । एवं पितरमारभ्य तत्पित्रादिगणनायां सप्तमपुरुषसन्तानवर्त्तिनी पितृतः सप्तमीति । तथाच विश्वरूपनिबन्धे—

"एवमुक्तप्रकारेण पितृबन्धुषु सप्तमात् । ऊर्ध्वमेव विवाह्यस्त्वं पञ्चमान्मातृबन्धुतः ॥
सन्तानो भिद्यते यस्मात्पूर्वजात्तु भ्रुयत्र च । तमादाय गणेद्धीमान्वरं यावच्च कन्यकाम् ॥"
इति । गणेत्-गणयेत् । "अनित्यण्यन्ताश्चुरादय" इति ॥ यदपि वशिष्ठेनोक्तम्—

च न्यूनाम् । अरोगिणीम्—अचिकित्स्याराजयक्ष्मादि[1] रोगरहिताम् । भातृ-मतीमिति । पुत्रिका[2] करणशङ्कानिवृत्त्यर्थम् । यत्र तु पुत्रिकाकरणाभावनि-

---

"पञ्चमी सप्तमी चैव मातृतः पितृतस्तथा।" इति । "त्रीनतीत्य मातृतः पञ्चातीत्य च पितृतः ॥" इति च पैठीनसिना तदभ्यर्वाङ्निषेधार्थम् । न पुनस्तत्प्राप्त्यर्थमिति सर्वस्मृतीनामविरोधः । गौतमः—

"असमानप्रवरैर्विवाह ऊर्ध्वं सप्तमात्पितृबन्धुभ्यो बीजिनश्च, मातृबन्धुभ्यः पञ्चमात् ।" इति । समानप्रवरत्वञ्च प्रवराणां संख्यायाः संज्ञायाश्च तुल्यत्वेन भवति । तत्र गोत्रभेदेऽपि यथा वत्स-सावर्ण-गोत्रयो, रौर्वादीनां पञ्चत्वेन संख्यया और्वादिरूपया संज्ञया च । यत्र तु प्रवरनामसाम्येऽपि न संख्यासाम्यं, संख्यासाम्ये नामभेदो वा तत्राप्यसमानप्रवरेति बोध्यम् ॥

प्रवरस्तु—गोत्र (वंश) प्रवर्त्तकस्य मुनेर्व्यावर्तको मुनिगण इति निबन्धारः । एवं नाना मुनिगणवचनानां सामञ्जस्यं संस्कारदीपिकादौ द्रष्टव्यम् । सिद्धान्तस्तु—मार्कण्डेयपुराणे—

"उद्वहेत्पितृमात्रोस्तु पञ्चमीं सप्तमीन्तथा ।" इति । एवं विष्णुपुराणे—"पञ्चमीं मातृपक्षाच्च पितृपक्षाच्च सप्तमीम् । गृहस्थ उद्वहेत्कन्यां न्याय्येन विधिना नृप" इति । अत्र मातृपक्षे पञ्चमीपरिणयप्रसङ्गदोषं, वर्जनस्मृतीनां 'त्रीन्मातृतः पञ्चपितृत" इति पैठीनसिवचनवदसमानजातीयपरत्वेन कौमुदीकार आह । यद्वा–आपत्काले समानजातीयेऽपि पञ्चम्यादिपरिणयनम् । अनापदि तु तत्परिहार इति च ।

वस्तुतस्तु—सगोत्रे खलु सापिण्ड्यं विज्ञेयं साप्तपौरुषम् । विगोत्रे तत्तु सर्वत्र विज्ञेयं पाञ्चपौरुषम् ॥" इत्यापस्तम्बवचनादसगोत्रे पञ्चमावधेरेव सापिण्ड्यात्तन्निषेधः सर्वसम्मतः । पितृपक्षे सप्तमीपर्यन्तनिषेधस्तु स्ववंशबीजिनः स्वबन्धुबीजिनश्च तद्द्वारैव सप्तमीविषयस्तद्भिन्ने सप्तमीपरिणयोऽप्यविरुद्ध एव । नन्वेवं पितृमातृकादिद्वारा षष्ठीपरिणयोऽप्यविरुद्धः स्यात् । इष्टत्वात् । अत एव पितृमातृपक्षस्तु पितृपक्ष एवेत्यतस्तत्र षष्ठ्यपि परिणेयेति प्रतिहस्तकाः । अत एव च न मातृपक्षे पञ्चमी परिणयातिप्रसङ्गः । नचैवं क्वचिद्व्यवहितेऽपि सप्तमीपरित्यागः । क्वचित्सन्निहितेऽपि तदुपादानमित्यसङ्गतमिति वाच्यम् । वाचनिकेऽर्थे सन्निधानव्यवधानयोरकिञ्चित्करत्वात् । अत एव सपत्नीमातृसोदरोपादानेऽपि तद्भ्रातृपुत्रीपरित्याग इति वदन्ति । महामहोपाध्याय महेशठक्कुरास्तु—तत्तत्पाठमन्यथयित्वा पितृपक्षे सर्वत्र सप्तमीपरिणयमनुजानन्ति । तत्र च शिष्टसंवादमाचारञ्च प्रमाणयन्तीत्यास्तां विस्तरः ॥

१. आदिपदेन सञ्चारी रोगः । यथाह याज्ञवल्क्य एव "दशपूरुषविख्याताच्छ्रोत्रियाणां महाकुलात् । स्फीतादपि न सञ्चारिरोगदोषसमन्वितादि-"ति । पुरुष एव पूरुषः । दशभिः पितृतः पञ्चभिर्मातृतश्च । श्रोत्रियाणां श्रुत्यध्ययनसम्पन्नानाम् । "कन्यां हरेदि"ति शेषः । अपवादमाह स्फीतादपीति । उक्तमहाकुलादपीत्यर्थः । सञ्चारिणो रोगाः कुष्ठापस्मारादयः । शुक्रशोणितद्वारा ये सञ्चरन्ति । तदुक्तं वैद्यके । "सर्व एव सञ्चारिणो रोगा वर्जयित्वा प्रवाहिकाम् ।" इति । अन्येदोषा हीनक्रियत्वादयो मन्वादौ द्रष्टव्याः ॥

२. अपुत्रस्य कन्यादानसमये पुत्रिकापुत्रकरणमुक्तम् "अस्यां योजायते पुत्रः स मे पुत्रो भविष्यती"ति ।

श्रयस्तामभ्रातृकामप्युद्वहेत् ॥ असमानार्षगोत्रजामिति । अत्र प्रत्येकमेव नञा सम्बन्धः । ऋषेरिदमार्षम् । गोत्रप्रवर्त्तकस्य मुनेर्व्यावर्त्तको मुनिगणः । प्रवर इत्यर्थः । गोत्रं वंशपम्पराप्रसिद्धम् । (स्व) समाने आर्षगोत्रे (यस्य) तस्माज्जाता या न भवति ताम् । एतत्परिणये प्रायश्चित्तमाह—स्मृतिः—

"परिणीय सगोत्राञ्च समानप्रवरान्तथा ।
त्यागं कृत्वा द्विजस्तस्यास्ततश्चान्द्रायणञ्चरेत् ॥" इति ।

त्यागश्चोपभोगस्यैव न तस्या इत्याह—शातातपः—

"सामानप्रवराङ्कन्यामेकगोत्रामथापि वा ।
विवाहयति यो मूढ़स्तस्य वक्ष्यामि निष्कृतिम् ॥
उत्सृज्य तान्ततो भार्या मातृवत्परिपालयेत् ॥" इति ।

एतञ्च (असमानार्षगोत्रजामिति) याज्ञवल्क्योक्तं द्विजपरमन्यत्सर्वं सार्ववर्णिकम् । तथा च विवाह्यकन्यां लक्षयतः मनुशातातपौ—

"असपिण्डा च या मातुरसगोत्रापि या पितुः ।
सा प्रशस्ता द्विजातीनान्दारकर्म्मणि मैथुने ॥" इति ।

दारकर्म्मणि दारत्वसम्पादके कर्म्मणि विवाहे । मैथुने—मिथुनसाध्येऽग्न्याधाने पुत्रोत्पत्त्यादौ च । तेन न केवलं विवाहनिषेधोऽपितु मैथुननिषेधोऽपि । एवं सवर्णैव गुणान्विता वोढव्येत्याह मनुः—

"गुरुणाऽनुमतः स्नात्वा समावृत्तो यथाविधि ।
उद्वहेत द्विजो भार्यां सवर्णां लक्षणाऽन्विताम्॥ इति ।

यत्तु "शूद्रैव भार्या शूद्रस्य सा च स्वा च विशः स्मृते ।
ते च स्वा चैव राज्ञस्तु ताश्च स्वा चाग्रजन्मनः ॥" इति ।

मनुवचनन्तद्युगान्तरपरमिति मन्तव्यम् । तथाच पारस्करीयगृह्यसूत्रभाष्ये हरिहर—धृता स्मृतिः—

"देवरेण सुतोत्पत्तिर्वानप्रस्थाश्रमग्रहः ।
दत्ताक्षतायाः कन्यायाः पुनर्दानं परस्य च ॥
समुद्रयात्रास्वीकारः कमण्डलुविधारणम् ।
महाप्रस्थानगमनं गोपशुश्च सुराग्रहः ॥
[1]अग्निहोत्रहवण्याश्च लेहोलीढापरिग्रहः ।
असवर्णासु कन्यासु विवाहश्च द्विजातिषु ॥

---

१. अग्निहोत्रहवणी स्रुक् ।

वृत्तस्वाध्यायसापेक्षमघसङ्कोचनं तथा ।
अस्थिसञ्चयनादूर्ध्वमङ्गस्पर्शनमेव च ॥
प्रायश्चित्ताऽभिधानञ्च विप्राणां मरणान्तिकम् ।
संसर्गदोषः पापेषु मधुपर्क्के पशोर्वधः ॥
दत्तौरसेतरेषाञ्च पुत्रत्वेन परिग्रहः ।
शामित्रञ्चैव विप्राणां सोमविक्रयणन्तथा ॥
दीर्घकालं ब्रह्मचर्यं नरमेधाश्वमेधकौ ।
कलौ युगे त्विमान्धर्म्मान्विवर्ज्यानाहुर्म्मनीषिणः ॥ इति ।

अत्र (कन्यापरिग्रहे) स्वयमयमाचार्यो वक्ष्यति समावर्त्तनप्रक्रमे । (३।४।४–५) तद्द्रष्टव्यम् ॥ १२ ॥

अथ जन्यानामेको ध्रुवाणामपां कलशं पूरयित्वा सहोदकुम्भः प्रावृतो वाग्यतोऽग्रेणाऽग्निं परिक्रम्य दक्षिणत उदङ्मुखोऽवतिष्ठते ॥ १३ ॥

इस [अग्नि स्थापन] के बाद कन्या के सम्बन्धियों में से एक प्रखर ग्रीष्म में भी न सूखने वाले जलाशय से जल भरकर कलश को कपड़े से ढ़क कर उस उदकपूर्ण कुम्भ के सहित, एकाग्र मन हो, अग्नि के सम्मुख रख कर, प्रदक्षिण क्रम से अग्नि के दक्षिण में उत्तरमुख होकर बैठे ॥ १३ ॥

अथ अग्निस्थापनानन्तरम् । "जन्याः स्निग्धा वरस्य ये" इत्यमरः । नवोढाज्ञा[1] तयो वेति चन्द्रकान्तः । तेषामेकोऽन्यतमः कश्चित्स च द्विज एव । तथाच गृह्यासङ्ग्रहः--

"गन्धमाल्यैरलङ्कृत्य[2] सकुम्भो वाग्यतः शुचिः ।
धारयेत्त्रिषु वर्णेषु प्रावृताङ्गो द्विजोत्तमः ॥" इति ।

अत्र धारयेदित्यत्र विभक्तिविपरिणतंकुम्भमित्यनुषज्यते । ब्राह्मणोवरदिश्यः कलशधारीति हारिलपद्धतिरपि । ध्रुवाणाम्--अतिप्रखरतापेऽपि अशुष्कजलाशयोत्थितानामिति सत्यव्रतः । तदेतदज्ञानविजृम्भितम् । तथा च गृह्यासंग्रहेऽङ्गिराः--

"महानदीषु या आपः कौप्यान्याश्च ह्रदेषु च ।
गन्धवर्णरसैर्युक्ता ध्रुवाः स्युरिति निश्चयः ॥" इति ।

---

१. "जन्यो वरवधूज्ञातिप्रियभृत्यहितेषु च" इति विश्वप्रकाशः ॥ "भृत्याश्चापि नवोढाया जन्या" इति केशवः ।

२. "अत्रात्मानम्" इति शेषः ॥

कौप्यान्याः अकूपसम्बन्धिन्यः। तथाच महानद्याद्यसम्भवे कूपोदक-भिन्ना याः काश्चिदप्यापो गन्धादिगुणयुक्ता ग्राह्या इत्यर्थः। ध्रुवाणामपामिति षष्ठी तृतीयार्थे। सहोदकुम्भः। उदकपूर्णकुम्भसहितः। अत्र मध्यमपदलोपी समासः (पा० ६।३।५६)॥ "वोपसर्जनस्य"–(पा–६।३।८२) इति सहस्य सादेशः। प्रावृतः (कृ-धृ-)-तोष्णीष इति भाष्यकारः। वस्त्राच्छादितशरीर[1] इतिपद्धतिः। दक्षिणतः प्रकृतत्वादग्नेर्ब्रह्मणश्च। अवतिष्ठत इति। ऊर्ध्वस्थितो भवेदित्यर्थः। अत्रापि वाग्यमनलोपे पूर्वोक्तमेव (१–६–१६। पृ० १०८) प्रायश्चित्तं कारणस्याविशेषादिति द्रष्टव्यम्। एवमन्यत्रापि॥ १३॥

प्राजनेनान्यः॥ १४॥

और भी एक व्यक्ति [गौ आदि को हँकाने के] दण्ड के साथ [उसी स्थल पर बैठे]॥ १४॥

अन्योऽपरोवरपक्ष्यः। प्राजनेन–प्रतोदेन[2] गृहीतेनोपलक्षितस्तथैवावतिष्ठते। अत्रोपलक्षणे तृतीया (पा० सू० २।३।२१) "प्राजनं तोदनं तोत्रमि"त्यमरः। एष समाचारोऽद्यत्वे नास्ति॥ १४॥

शमीपलाशमिश्रांश्च लाजांश्चतुरञ्जलिमात्रान् सूर्पेणोपसादयन्ति पश्चादग्नेः॥ १५॥

अग्नि के पश्चात् भाग में शमी पत्र मिश्रित चार अञ्जलि परमित सूप में लावा को रखकर वहीं पर [अपने ही किसी व्यक्ति द्वारा] रक्खा जाना चाहिए॥ १५॥

शमी–प्रसिद्धा। तस्याः पलाशानि पत्राणि तैर्म्मिश्रान् लाजान्—

"अक्षतास्तु यवाः प्रोक्ता भृष्टा धाना भवन्ति ते।
भृष्टास्तु व्रीहयो लाजा घटः खाण्डिक उच्यते॥"

---

१. "निवीतं प्रावृतं त्रिषु" इत्यमरटीकायां "निवीतं प्रावृतमिति द्वे प्रावृतवस्त्रस्ये"ति महेश्वरः। प्रकर्षेणावृतं वेष्टितं वस्त्रं येनेति तदर्थः॥

२. "चाबुक"-पदाभिधेयेन। प्रकर्षेण तुदति व्यथयत्यश्वादिकमनेनेति व्युत्पत्तेः। यत्पर्यायः "कशे"ति॥ "प्राजनं प्रतोदनन्तोजम्" इत्यमरे तोदनं प्रतोद इत्यनर्थान्तरम्। आद्ये "तुदव्यथने" इत्यतः करणे ल्युट् (पा० ३।३।११५)। द्वितीये करणे घञ् (पा० ३।३।१९)। प्रेति प्रकर्षार्थकमत्र विशेषः। प्राजनमिति तु "अजगतिक्षेपणयोरि"त्य-(भ्वादि० प०)–स्मात्करणे ल्युट् पूर्ववत्। प्रवीयतेऽनेनेति। "वायौ" (पा० २।४।५७) इति व्यादेशोऽजेर्न भवति॥

इति कर्म्मप्रदीपोक्तलक्षणात् । चतुरञ्जलिमात्रान् । चत्वारोऽञ्जलयः प्रमाणमेषामिति तद्धितार्थे समासः । (पा० २।१।५१) प्रमाणे च मात्रच्प्रत्ययः । (पा० ५।२।३७) यावद्भिश्चत्वारोऽञ्जलयः पूर्य्यन्ते तावतः । अग्नेः पश्चात् । शूर्पेणोपसादयन्ति । शर्पस्थान्कृत्वा समीपे स्थापयन्ति ॥१५॥

दृषत्पुत्रश्च ॥ १६ ॥

[और अग्नि के पृष्ठ भाग में] एक लोढा भी स्थापित करना चाहिए ॥१६॥

दृषत्पुत्रं--शिलापुत्रकम् "लोढ़ेति" प्रसिद्धम् । अग्नेः पश्चादुपसादयन्तीति पूर्वेणान्वितम् ॥ १६ ॥

अथ यस्याः पाणिं ग्रहीष्यन्भवति सशिरस्का साऽऽप्लुता भवति ॥ १७ ॥

इसके बाद [वर] जिस कन्या का पणिग्रहण करे, उसे शिर से स्नान करावे ॥ १७ ॥

आप्लुता-अविधवोपनीतमङ्गलोदकैस्त्रिभिर्घटैः स्नाता । तथा च-गृह्यासङ्ग्रहः "स्नानश्चतुर्भिःकलशैः प्लावनस्तु त्रिभिर्घटैः ।" इति ॥ एतद्विधानमुक्तमधस्तात् । (२।१।१० पृ० १६०) ॥

अत्र विशेष उच्यते—

अथ कण्ठतः सूत्रकारानुक्तमपि कन्यादानमिदानीमेव "पतिः-परिदध्यादि" त्यग्रिमसूत्रस्वरसात् । अन्यथा[1] तस्य पतित्वासम्भवे न तत्पदेन[2] वरोपादानानुपपत्तेः । तदुक्तं गृह्यासंग्रहे--

---

१. कन्यादानाभावे । तस्यवरस्य ॥

२. पतिपदेन प्रतिग्रहीतोच्यते । प्रतिग्रहश्चायं ग्रहणविशेषः विवाहपदप्रवृत्तिनिमित्तभूतः । स च स्वत्वविशेषोत्पत्त्यनुकूलव्यापाररूपः स्वीकारविशेषः । तदुक्तमाश्वलायनगृह्यभाष्ये-"उपयमनं नाम कन्यायाः स्वीकरणमि"ति । अत एवो-"पाद्यमः स्वकरण" (१-३-५६) इति पाणिनिस्मरणम् । उपयच्छत-इत्युदाहृत्योद्वहतीति विवरणं च वृत्तिकारोक्तं सङ्गच्छते । स्वत्वे विशेषत्वञ्च स्वनिरूपकपतिनाशादिदोषैरनश्वरत्वस्वरूपम् । अत एव मृतेऽपि पत्यौ तस्येयमिति प्रयोगः । स चायं स्वीकारो द्विविधः कन्यापित्रादिकर्त्तृकदानादिप्रयोज्यः ॐ-इत्यादिप्रयोगादिप्रकाश्यप्रतिग्रहरूपः १। "भगोऽर्यमासविता पुरन्धिर्मह्यन्त्वादुर्गार्हपत्याय देवा" इत्यादिमन्त्रप्रकाश्यदेवकर्त्तृककन्यादानसम्पादकप्रतिग्रहस्वरूपश्च २। तत्प्रकाशकश्च "गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तम्" इत्यादिमन्त्रप्रयोगः । पाण्यवच्छेदेन कन्याग्रहणञ्च देवकर्त्तृकदानं मनुरप्याह—"देवदत्ताम्पतिर्भार्यां विन्दते नेच्छयाऽऽत्मनः" इति । तमिमद्विविधमपि दर्शयति नारदः—स्त्रीपुंसयोस्तु

"पुनरुक्तमतिक्रान्तं यच्च सिंहावलोकितम् ।
गोभिलोक्तेन गृह्यन्ति न ते ज्ञास्यन्ति गौभिलम् ॥" इति ।

गौभिलं-गोभिलकृतं गृह्यसूत्रम् । अतएव भाष्यकृतोऽपि-अनुपद-मुल्लिख्यमाणसूत्रे "परिदध्यादि"ति पदमुपादाय "पतिस्तां कन्यामादत्तां सतीं परिधापयेत्"इतिव्याख्यातवन्तः ॥

यत्तु कन्यादानानन्तरमेवाग्निस्थापनमिति तन्न "वराय शुचिसन्निधौ" इति कातीयसमयोद्बोधकवक्ष्यमाणबृहस्पतिवचनविरोधात् । शुचिरग्निः । 'शुचिर्ग्रीष्माग्निशृङ्गारेष्वि"ति मेदिनी । "अभ्युदानयन्नि"ति (२।१।१९) सूत्रविरोधाच्च । वीरेश्वरादिपद्धतिस्परसोऽप्येवम् । मण्डपानयनानन्तरं कन्यायाद्विराचमनम् । द्विराचामेदित्यनुवृत्तौ-"प्रारम्भे शुभकर्म्मणाम्" इति स्कन्दपुराणवचनात् । वराचमनन्तु-अब्राह्मणादिस्पर्शसम्भवे । वीरेश्वरादिपद्धतिरप्येवम् । कन्यादानाधिकारिणः पूर्वमुक्ताः (२।१।१२) तत्रर्तुमत्याः प्रदाने दोषमाह याज्ञवल्क्यः—

"अप्रयच्छन्समाप्नोति ब्रह्महत्यामृतावृतौ ।
गम्यन्त्वभावे दातॄणां कन्या कुर्यात्स्वयं वरम् ॥" इति ।

सम्बन्धाद्वरणं प्राग्विधीयते । वरणाद् ग्रहणं पाणेः स सम्बन्धो द्विलक्षणः"इति । विवृणोति चैतद्रत्नाकरः । सम्बन्धात्-पाणिग्रहणात्मकात् वरणात् वरणोत्तरं द्विलक्षणः वरणरूपः पाणिग्रहरूपश्चेति । वरणं कन्यापित्रादिकर्तृकन्दानं प्रत्यङ्मुखा वरयन्ति प्रतिगृह्णन्ति प्राङ्मुखाः" इत्यादौ तथा दर्शनात् । वरयन्ति-गोत्रप्रवराद्यभिधानपूर्वकं ददतीत्यर्थ इति हि तद्व्याख्यातारो रत्नाकरादयः । तच्च प्रतिग्रहपर्यन्तं विवक्षितं पाणिग्रहणपदञ्च सप्तपदीपरिणयनान्तकर्म्माभिधायकम् । अत एव कन्यादाननिष्पत्त्यनन्तरं पाणिग्रहणात्पूर्वमपि विवाहसम्पत्तिकथनं प्रथमप्रतिग्रहरूपस्यैकरूपस्य निष्पन्नत्वात् । यथा त्रिशङ्कूपाख्याने- "पाणिग्रहणमन्त्राणां विघ्नं चक्रे स दुर्म्मतिः । येन भार्या हृता पूर्वं कृतोद्वाहा परस्य वै" इति । कृतोद्वाहा पाणिग्रहणात्पूर्वं हृतेत्यर्थः । अयमत्र विवेकः । केवलेन प्रथमप्रतिग्रहेण कन्यायां पत्युः स्वत्वमुत्पद्यते । दातुः स्वत्वं निवर्त्तते । तथाच मनुः "मङ्गलार्थं स्वस्त्ययनं यज्ञस्तासां प्रजापतेः । प्रयुज्यते विवाहे तु प्रदानं स्वाम्यकारणम्" इति । प्रदानं स्वाम्यकारणं-प्रदानेनैव कन्यायां वरस्य स्वाम्यं जायते दातुः स्वाम्यं निवर्त्तत इति रत्नाकरः । न चानेन दानमात्रस्य स्वाम्यकारणत्वमभिहितं न तु प्रतिग्रहस्येति वाच्यम् । दानस्य प्रतिग्रहपर्यन्तत्वात् । स्वनिरूपकपतिनाशादिदोषानश्वरत्वविशिष्टस्वत्वोत्पत्तिस्तु सप्तपदीपरिणयनान्तकर्मरूपद्वितीयप्रतिग्रहसहकारेणैव । अत एव कन्यादानानन्तरं "गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तमि"त्येवमुक्तपाणिग्रहणसंस्कारात्पूर्वं वरमरणे वरान्तराय कन्यापितृकर्तृकं पुनर्दानं सङ्गच्छते । तथाच वसिष्ठः-'अद्भिर्वाचा च दत्तायां म्रियेत ऊर्ध्वं वरो यदि । न च मन्त्रोपनीता स्यात्कुमारी पितुरेव सा"ति । एतद्वचनव्याख्याने रत्नाकरः । कन्यायाः सकृद्दानं यन्मन्वादिभिरुक्तन्तत्पाणिग्रहणान्तसंस्कारवत्कन्याविषयमिति ॥

गम्यम्–गमनार्हन्नारदोक्तसवर्णत्वादिधर्म्मवन्तम । कन्यैव वरयेत् । तदेतदृतुत्रयान्ते बोद्धव्यम्[1] । तथा च विष्णुः——

"ऋतुत्रयमपाकृत्य कन्या कुर्यात्स्वयं वरम् ।
ऋतुत्रये व्यतीते तु प्रभवत्यात्मनस्तु सा ।
पितृवेश्मनि या नारी रजः पश्यत्यसंस्कृता ।
सा कन्या वृषली ज्ञेया हरंस्तां न च दुष्यति ।।'

असंस्कृता–विवाहसंस्कारमनापन्ना[2] । यत्तु–मनुवचनम्——

"काममामरणात्तिष्ठेद् गृहे कन्यर्त्तुमत्यपि ।
जातु तां न प्रयच्छेत गुणहीनाय कर्हिचित् ।।" इति ।

तन्न तावत्कालं कन्याधारणं बोधयति । किन्तु ततोऽपि[3] निर्गुणाय दानमत्यन्तनिषिद्धम् । "वरं विषम्भुंक्ष्वे" तिवत् । तथाच स्मृत्यन्तरम्——

"माता चैव पिता चैव ज्येष्ठो भ्राता तथैव च ।
त्रयस्ते नरकं यान्ति दृष्ट्वा कन्यां रजस्वलाम् ।।" इति ।

कात्यायनः——

"स्वयमेवौरसीन्दद्यात्पित्रभावे स्वबान्धवाः ।
मातामहस्ततोऽन्यां हि माता वा धर्मजां सुताम् ।।

---

१. मनुस्तु–"त्रीणि वर्षाण्युपासीत कुमार्यृतुमती सती । ऊर्ध्वन्तु कालादेतस्माद्विन्देत सदृशं पतिम् ॥ अदीयमाना भर्त्तारमभिगच्छेत्स्वयन्तु सा । नैनः किञ्चिदवाप्नोति न च यं साऽधिगच्छति ॥ अलङ्कारन्नाददीत पितृदत्तं स्वयंवरा । मातृतो भ्रातृदत्तं वा स्तेयं स्याद्यदि सा हरेत् ॥ पित्रे न दद्याच्छुल्कन्तु कन्यामृतुमतीं हरन् । स हि स्वाम्यादतिक्रामेदृतूनां प्रतिरोधनात् ॥" इति । एनः पापमसतीत्वनिबन्धनम् । अत्रेदं बोध्यम् । यो हि—

"पितृगेहे तु या कन्या रजः पश्यत्यसंस्कृता । भ्रूणहत्या पितुस्तस्याः कन्या सा वृषली स्मृता ॥ यस्तु तां वरयेत्कन्यां ब्राह्मणाज्ञानदुर्बलः । अश्रद्धेयमपाङ्क्तेयं तं विद्याद् वृषलीपतिम्" ॥ इति काश्यपात्रिभ्यां वरपितरि दोषः उक्तः स कन्ययाऽधिगम्यमाने वरे नास्तीति "न च यं साऽधिगच्छती"त्यनेनोच्यते ? अत्र विष्णूक्तर्त्तुत्रयप्रतीक्षणं सदृशवरलाभेऽपि पित्रादीनामुपेक्षादौ बोध्यम् ॥ पित्रादीनां यत्नवतामपि केनचिद्धेतुना दानासम्भवे तु वर्षत्रयप्रतीक्षणं युक्तमेव ॥

२. अत्रेदं बोध्यम् विवाहकाले कन्यारजोदर्शने कन्यायाः प्रायश्चित्तम् "उपोष्य त्रिदिनं कन्या रात्रौ पीत्वा गवां पयः । अदृष्टरजसे दद्यात्कन्यायै रत्नभूषणम्" । इति । एवम् "तामुद्वहन् वरश्चापि कूष्माण्डैर्जुहुयाद् घृतम्" इत्याश्वलायनोक्तवचनमेवशरणीकरणीयम् अत्र सहार्थे तृतीया बोध्या ॥

३. ऋतुमतीसंरक्षणपापादपि ॥

दीर्घप्रवासयुक्तेषु पोगण्डेषु च बन्धुषु ।
माता तु समये दद्यादौरसीमपि कन्यकाम् ।
गम्यन्त्वभावे दातॄणां कन्या कुर्यात् स्वयंवरम् ॥" इति ।

स्वयं–पिता । स्वपदेन कन्या तद्बान्धवाः पितामहादयो याज्ञवल्क्योक्ताः । ततोऽन्यामनौरसीम् । वाशब्द एवार्थे । धर्म्मजां–नियोगधर्मेणोत्पादिताम् । पोगण्डो व्यवहारासमर्थः । 'विकलाङ्गस्तु पोगण्ड" इत्यमरः । समये–कन्यादानोचिते । स च [1]सम्यग्वाङनिष्पत्त्यनन्तराऽऽद्यरजोदर्शना-

---

१. सम्यक्–स्फुटश्चासौ वाक चेत्येवं विग्रहः । अत्राहुः "वैवाहिको विधिस्त्रीणामौपनायनिकः स्मृतः । पतिसेवा गुरौ वासो, गृहार्थोऽग्निपरिक्रिया" इति मनु–याज्ञवल्क्यादिभिरभिधानाद्यथावर्णम्—"गर्भाष्टमेऽष्टमे वाब्दे ब्राह्मणस्योपनायनम् । राज्ञामेकादशे सैके विशामेके यथाकुलम् ॥" इति याज्ञवल्क्योक्तस्तस्य मुख्यः कालः । तत्रापि—

"ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यो विप्रस्य पञ्चमे ।
राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे ॥"

इति मनुनाऽभिधानात्सकामस्यायमपि मुख्य एव । गौणस्तु—

"आषोडशाद् ब्राह्मणस्य सावित्री नातिवर्त्तते । आ द्वाविंशात्क्षत्रबन्धोराचतुर्विंशतेर्विशः ॥" इति तेनैवाभिहितः । कन्याविवाहे तु—रजोदर्शनस्य गर्हितत्वात्तत्प्राक्तन एव समयः । तच्च (रजोदर्शनम्) देश—खाद्यपदार्थभेदेनानियतकालिकमिति तत्प्रादुर्भावात्प्राक् अन्तारजोऽवगम एव तत्प्रापकः । अत्र मुरारिमिश्राः । वस्तुत औपनायनिक उपनयनकार्यकारीतिकुल्लुकाविव्याख्यानदर्शनात्स्त्रीणां विवाहः संस्कार इत्यायाति । न तु तत्कालेन कालवत्ता । न च कालातिदेश एवायम् । अन्यतराप्रामाण्यापत्तिभयेन विकल्पप्रसङ्गात् । स्वोत्तरार्द्धविरोधाच्च । न च "अत ऊर्ध्वं रजस्वले"त्युपदेशेन तद्दशेऽति देशबाध एव कल्पनीयत्वेनातिदेशस्य दुर्बलत्वादिति वाच्यम् । "नग्निका तु श्रेष्ठे–" (गो० ३।४।६) त्युपदेशेनात्राप्यतिदेशबाधस्य तुल्यत्वात् । तस्मा"दमे पति या नः पन्था"इति मन्त्रस्य कन्यापठनीयत्वेन वाङ्निष्पत्तेरपेक्षिततया तदनन्तरं फलविशेषार्थितया सामप्रथन्तरापेक्षया वा कन्याविवाहे शिष्टानां काकविलम्बो न त्वधिकाविलम्बेनेति मम प्रतिभातीति ॥ अत्रेदं बोध्यम् । वाङ्निष्पत्तावपि चतुर्वर्षाभ्यन्तरे कन्या नोद्वाह्या । यतो जननाद्वर्षद्वयं यावत्सोमस्य ततस्तावदेव सूर्यस्य तत्र भोगाधिकारस्या(२।१। १९)ग्रे वर्णयिष्यमाणत्वात् । ततश्च–पञ्चमादिषु–मनूक्तसकामोपनयनकालेषु द्विजातिकन्यानामग्निसाक्षिको विवाहस्ततोऽग्ने, "स्सोमोऽददि"त्यादिमन्त्राम्नातः कथञ्चिदुपपद्यते । वस्तुतस्तु–अनवाप्तरजा गौरी प्राप्ते रजसि रोहिणी । अव्यञ्जनकुचा कन्या कुचहीना च नग्निके"ति भविष्यपुराणवचनात् "सप्तवर्षा भवेद्गौरी दशवर्षा च कन्यके"–त्येवम्पुराणान्तरसंवादाच्च कुचहीना दशवर्षा च विवाहिता प्रशस्ता भवतीति सैव नग्निकापदार्थः । अत्र व्यञ्जनं कुचादन्यस्य रोमादेः ॥

अन्ये त्वाहुः "सप्तवर्षा भवेद्गौरी"त्युक्त्वा "सप्तसंव्वत्सरादूर्ध्वं विवाहः सार्ववर्णिकः । कन्यायाः शस्यते राजन्नन्यथा धर्म्मगर्हितः" इति वचनान्तसंवादेन । एवम् "अष्टवर्षा-

त्प्राक्कालीन एव । तत्परिज्ञानश्चान्तारजोऽवगतिसापेक्षं यदेतन्मात्रादिभिर्दुर्विज्ञेयम्भवति । यद्विषये च सूत्रयिष्यति "नग्निका तु श्रेष्ठे"–(३।४।६) ति[1] । गम्यं सङ्गमनार्हम् विवाहयोग्यम् । अत्रेदं बोध्यम् । दातुर्नग्निका श्रेष्ठा । यथाह–वशिष्ठः–"तस्मान्नग्निका दातव्ये"–ति ।

नग्निकालक्षणन्तु––

"यावन्न लज्जयाऽत्यर्थङ्कन्या पुरुषसन्निधौ ।
योन्यादीनुपगूहेत तावद्भवति नग्निका ॥"

इति स्मृत्युक्तम् । अत्रार्थे आग्नेयमभिधानमपि "नग्निकाऽनागतार्त्तवे" ति । आर्त्तवमृतुः । स्वार्थेऽण् (पा० ५।४।३८) प्रत्ययः । अतएव "प्राग्वासः प्रतिपत्तेरि"–त्युक्तम् । सैषा दातुः श्रेष्ठा । प्रतिग्रहीतुस्तु––

"एष्टव्या बहवः पुत्रा यद्येकोऽपि गयां व्रजेत् ।
गौरीं वाऽप्युद्वहेद्भार्यां नीलं वा वृषमुत्सृजेत् ॥"

इति स्मृत्या गौरीपरिणय एव श्रेयान् । सा च––

"अष्टवर्षा भवेद्गौरी नववर्षा च रोहिणी ।
दशवर्षा भवेत्कन्या तदूर्ध्वन्तु रजस्वला ॥

इत्यङ्गिरसोक्ता । तत्फलमपि स एवाह––

"गौरीन्ददद्विष्णुलोकं ब्रह्मलोकञ्च रोहिणीम् ।
कन्यां ददत्स्वर्गलोकं रौरवञ्च रजस्वलाम् ॥" इति ।

भवेद् गौरी"त्युक्ताऽङ्गिरावचनेन च "विवाहस्त्वष्टवर्षायाः कन्यायाः शस्यते बुधैरि"ति सर्व्वर्त्तवाक्यैकमूलकतया गर्भाष्टमपरतवोज्ञेयम् । "गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम् । गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भात्तु द्वादशे विशः ।" इति मनुनोपनयनकालस्य पुंसि तथैवाभिधानात्तत्स्थानीये विवाहेऽपि स एव समय आदर्त्तव्य इति सार्वजनीनः पन्थाः ।

१. अत्र वदन्ति–योग्यवरप्राप्त्यनन्तरमप्राप्तविवाहवयस्कामपि कन्यां दद्यादिति । तथाच मनुः "उत्कृष्टायाभिरूपाय वराय सदृशाय च । अप्राप्तामपि तान्तस्मै कन्यां दद्याद्यथाविधि" ॥ इति । (९ अ०) एतद्व्याख्यानं मन्वर्थमुक्तावल्यां कुल्लूकीयम्–कुलाचारादिभिरुत्कृष्टाय सुरूपाय समानजातीयवरायाप्राप्तकालामपि "विवाहयेदष्टवर्षामेवन्धर्मो न हीयते" इति दत्तस्मरणादिति । तया चान्तारजोदर्शनरूपविवाहकालाप्राप्तावपि योग्यवरलाभे कन्यादानमुत्तमम् । एवमुत्कृष्टवरप्राप्तौ वाचा दत्तामपि कन्यामयोग्याय न दद्यादित्यप्याह मनुरेव "दत्तामपि हरेत् कन्यां श्रेयांश्चेहर आव्रजेदि"ति आव्रजेत्–उपलभ्येत । इति ।

अत एवैताङ्गौरीमभिप्रेत्यैव मनुनाऽपि प्रथममष्टवर्षैव[1] प्राप्तयौवनेनोपेया । तरुणेन तु द्वादशवर्षापीत्युक्तम् । यथा—

"त्रिंशद्वर्षोद्वहेत्कन्यां हृद्यां द्वादशवार्षिकाम् ।
त्र्यष्टवर्षोऽष्टवर्षां वा धर्म्मे सीदति सत्वरः ॥" इति ।

अत्र द्वादशवर्षादरः कन्याप्रदानसमयसीमाऽवबोधकः । तथाच स्मर्यते—

"प्राप्ते तु द्वादशे वर्षे यः कन्यां न प्रयच्छति ।
मासि मासि रजस्तस्याः पिता पिबति शोणितम् ॥ इति ।

वस्तुतस्तु—गौरीपदेनाऽपि नग्निकैवोच्यते यथाहाचार्यः—(गो०) पुत्रोगृह्यासंग्रहे—

"नग्निकान्तु वदेत्कन्यां यावन्नर्त्तुमती भवेत् ।
ऋतुमती त्वनग्निका तां प्रयच्छेत्तु नग्निकाम् ॥
अप्राप्ता रजसो गौरी प्राप्ते रजसि रोहिणी ।
अव्यञ्जिता भवेत्कन्या कुचहीना तु नग्निका ॥
व्यञ्जनैस्तु समुत्पन्नैः सोमो भुङ्क्तेऽथ (ञ्जीत) कन्यकाम् ॥
पयोधरैस्तु गन्धर्वा रजसाऽग्निः प्रकीर्त्तितम्[2] ।
तस्मादव्यञ्जनोपेता अरजा[3] अपयोधरा ॥
अभुक्ता चैव सोमाद्यैः कन्यका तु प्रशस्यते ॥" इति ।

तदनेनाव्य[4]ञ्जनाऽरजस्काऽपयोधरा सोमाद्यैरभुक्ता कन्या आचार्येण प्रशस्यते । "नग्निका तु श्रेष्ठे"—(३।४।६) ति सूत्रेण[5] । अत्र तुशब्दम-

---

१. तथा च सुश्रुतः । "आ षोडशाद् वृद्धिरा पञ्चविंशतेर्यावनमाचत्वारिंशतः स्थिरता ततःकिञ्चिद्धास" । इति । अत्र आङ अभिविधौ । षोडशं वर्षमारभ्येत्येवन्तदर्थः । एतेन (वरवयः कथनेन) कन्यातस्त्रिगुणस्सार्द्धद्विगणो वास उत्तमइत्युक्तम्भवति । अत एव पञ्चदशवर्षदेशीयेन रामेणषड्वर्षा मैथिली समुपायतेति पुराणेषु श्रूयते "राज्ञोबलार्थिनः षष्ठे'इतिमानवस्मरणात् । एतच्च सकाम—(विशेषकामना)–विषयमित्यवोचाम ॥

२. अत्र व्यञ्जनैरित्याद्युपलक्षणे तृतीया । व्यञ्जनैर्लोमादिभिरुपलक्षितामित्येवमर्थः । अत्र "इति आचार्येणे–"ति शेषः । अत्र प्रकीर्त्तित, इत्यपपाठः ॥

३. अत्र द्वितीयान्ततया पाठे रजःशब्दोऽत्रादन्तः । "ये सान्तास्तेऽदन्ताः" इतिप्रायोवाददर्शनात् । अतएव "पिण्डं दद्याद्गयाशिरे" इतिस्मर्यते ॥ किन्तु तथापाठे तुरीय चरणे प्रथमान्ततया पाठोऽनोपपद्यते ॥

४. व्यञ्जनं रोमादि ॥

५. अत्रैवं सुव्यक्तमुक्तवताऽऽचार्यपुत्रेणेदमेव सूत्रं व्याख्यातमित्यवगच्छामः ॥

भिदधान आचार्योऽस्याः प्रदानस्य विशेषतां सूचितवान् । यथाचाहाङ्गिराः--

"सर्वेषामेव दानानामेकजन्मानुगं फलम् ।
हाटक-क्षिति-गौरीणां सप्तजन्मानुगम्फलम् ।।" इति ।

तथा च तत्तदपेक्षया नग्निकाऽधिकफलदात्रीति गोभिलीयतुशब्दार्थः ।।

अथ कन्यादानफलम्

भविष्ये--

"ब्रह्मदेयान्तु यः कन्यामलङ्कृत्य प्रयच्छति ।
सप्तभूतान्भविष्यांश्च स्वकुले सप्त मानवान् ।।
तेन कन्याप्रदानेन तारयिष्यत्यसंशयम् ।
लोकमाप्नोति हि तथा दक्षस्यैव प्रजापतेः ।।
कन्यया सह दत्तं हि द्रव्यँय्यद्वसनादिकम् ।
सर्वं, शतगुणन्तस्य फलमुक्तं पुरातनैः ।
विष्णुपूजासमं पुण्यं भवेत्तत्पूजया ध्रुवम् ।। इति ।

तत्पूजया--वरपूजया । "विप्रोऽसौ विष्णुरूपेण प्रतिगृह्णात्वमुं विधिम् ।" इति कन्यादानकाले पठितमन्त्रशेषदर्शनात् ।

कश्यपः--

"अग्निष्टोमातिरात्राणां शतं शतगुणीकृतम् ।
तत्फलङ्कन्यकान्दत्त्वा मन्त्रहोमैरलंकृताम् ।।" इति ।

अलंकृतां कन्यां मन्त्रैर्होमैश्च दत्त्वा दानविधिं सम्यक्सम्पाद्य । लिङ्ग-पुराणम्--

"यावन्ति सन्ति रोमाणि कन्यकायास्तनौ पुनः ।
तावद्वर्षसहस्राणि रुद्रलोके महीयते ।।
दासीदासासनाद्यञ्च भूषणाच्छादनादिकम् ।
क्षेत्राणि च धनञ्चापि तथान्यदपि दापयेत् ।।
यत्किञ्चिद्दीयते तत्र तदानन्त्याय कल्पते ।।" इति ।

दापयेत्-दद्यात् । स्वार्थे णिच् "रामराज्यमचीकरदि"-तिवत् ।। अत्र सर्व्वर्त्तः ।

अलंकृत्य तु यः कन्यां भूषणाच्छादनादिभिः ।
दद्यात्स्वर्गमवाप्नोति पूज्यते वासवादिभिः ।।" इति ।

अत्र "यच्छब्देन तु तच्छब्दो बोद्धव्यः स्यादुदाहृतः" इतियोगिवचनात्स

इत्यध्याहार्यम् । तथाच पद्धतिकृतो वीरेश्वरादयोऽपि "स्वर्गकाम" इत्येव कन्यादानसङ्कल्पवाक्ये लिखितवन्तः । युक्तञ्चैतत् । "अलंकृत्य कन्यान्दद्यादि'-त्यभ्यूहिते विधिवाक्ये "सः स्वर्गः स्यात्सर्वान्प्रत्यविशिष्टत्वादि"-ति जैमिनीयदर्शनेन विश्वजिन्न्यायएवाऽऽस्थेयः । अत एवान्यकृतकन्यादानपक्षेऽपि "कन्यापितुः स्वर्गकाम" इत्येवमेव सङ्कल्पवाक्ये' समुल्लिखन्ति शिष्टाः ॥

विष्णुधर्म्मोत्तरे--

"अनाथाङ्कन्यकान्दत्त्वा सदृशे वाऽधिके वरे ।
द्विगुणं फलमाप्नोति कन्यादाने यदीरितम् ॥" इति ।

स्मृतिः--

"सर्वत्र प्राङ्मुखो दाता ग्रहीता चाप्युदङ्मुखः ।
एष दानविधिः प्रोक्तो विवाहे तु विपर्ययः ॥" इति ।

अत्र विपर्ययपदन्न प्रकृतवैपरीत्यमात्रपरमनेकविरोधादपि तु दातृप्रतिग्रहीत्रोः प्रत्यक्प्राङ्मुखत्वपरमिति । तथाच बृहस्पतिः—

"प्राङ्मुखयाऽभिरूपाय वराय शुचिसन्निधौ ।
दद्यात्प्रत्यङ्मुखः कन्यां क्षणे लक्षणसंयुतः[२] ॥" इति ।

शुचिरग्निः । "शुचिर्ग्रीष्माग्निश्रृङ्गारेष्वि"ति मेदिनी । क्षणे–शुभे मुहूर्त्ते । मनुः--

"अद्भिरेव द्विजाग्र्याणाङ्कन्यादानं प्रशस्यते ।

---

१. अत्र शुभकर्मनिर्णये मुरारिमिश्राः—"यावन्ती"—त्याद्युक्तलिङ्गपुराणादिवचनान्युपादाय—"तदेतेषां दानफलानां योगसिद्धिन्यायेन विकल्पेनान्वयादेकदानेन कामनाविषयस्यैकस्यैव फलस्य सिद्धिः । अन्यथा तत्तत्संहितार्थवादमात्रस्य प्रवृत्त्यप्रयोजकत्वे संहिताकर्त्तुस्तत्करणानर्थक्यापत्तिः । एवञ्च प्रत्येकफलकामनैवाधिकारिविशेषणम् । अत एव "श्रीकामः शान्तिकामो वा ग्रहयज्ञं समाचरेत् । वृत्यायुः पुष्टिकामो वा तथैवाभिचरन्नपि" इत्यादौ विधिवाक्ये प्रत्येकफलकामनैवाधिकारिविशेषणम् । प्रत्येकोपस्थानेऽन्वया "यद्यदाकाङ्क्षितं योग्यमि"-ति न्यायात् । अतएव भोजराजोऽपि-"श्रीकामः शान्तिकामो वृष्टिकामः पुष्टिकाम" इति लिखतिस्म । समुच्चये बाधकाभावेनैकदैव सर्वेषाम्फलानां विधिसमन्वयाभावादिति । एवञ्चार्थवादोऽपि यत्र प्रत्येकं क्रियासमाप्तिर्वाशब्दश्रवणं वा तत्र प्रत्येकमेव फलसम्बन्धः । दशहरादौ विनिगमनाविरहादेकदैव सर्वेषां विधिसमन्वयाद्दशविधपापक्षयरूपफलकामस्याधिकारः । अत एव "शरत्काले महापूजे"त्युपक्रम्य "भविष्यति न संशय' इत्युपसंहारात्तत्र तावदेव फलमिति । अत्र च स्वगतफलकामवत्पित्रादिगतफलकामाऽप्यधिकारीति वदन्ति" । इति ॥

२. अत्र सप्तम्यन्त पाठः साधीयान् प्रतिभाति । विवाहसमयज्ञापक इति तदर्थः ।

इतरेषान्तु वर्णानामितरेतरकाम्यया ।।" इति ।

(अ० ३ श्लो० ३५)

उदकदानपूर्वकमेव ब्राह्मणानाङ्कन्यादानं प्रशस्तं क्षत्रियादीनाम्पुनर्विनाऽप्युदकं परस्परेच्छया वाङमात्रेणापि कन्यादानम्भवति। उदकपूर्वकमपीत्यनियमः ॥ ऋष्यश्रृङ्गः--

"वरगोत्रं समुच्चार्य प्रपितामहपूर्वकम् ।
मधुपर्कार्चितायैनां दद्यात्कन्यां सदक्षिणाम् ।।" इति ।

सदक्षिणामिति । तथाच व्यासः--

"श्रद्धायुक्तः शुचिर्दान्तो दानन्दद्यात्सदक्षिणम् ।
अदक्षिणन्तु यद्दानं तत्सर्वन्निष्फलं भवेत् ।।
दक्षिणाभिरुपेतं हि कर्म्मसिद्ध्यति मादवे ।
सुवर्णमेव सर्वासु दक्षिणासु विधीय (शिष्य) ते ।।" इति ।

सुवर्णपदमिह विशेषविहितदक्षिणेतरपरं तेनोत्तरविवाहान्ते गौर्दक्षिणेति वक्ष्यति । इह तु सुवर्णं तौलकमितं स्वर्गकामके कर्म्मणि तस्यैव विशिष्य विधानात् । तथा च हेमाद्रौ नन्दिपुराणम्--

"कृष्णलाः पञ्च माषस्तु माषैः षोडशभिः स्मृतम् ।
सुवर्णमेकन्तद्दानाद्दाता स्वर्गमवाप्नुयात् ।।" इति ।

सुवर्णशब्दोऽयं (कन्यादानादिदक्षिणाविशेषपरः) पुल्लिङ्गएवाशीतिगुञ्जपरिमितहिरण्यवचनः प्रयोज्यो नपुंसकन्तु तत्र चान्यत्र चे"ति मुरारिमिश्रा अप्याहुः ॥

तथा च मनुरपि--

"पञ्चकृष्णलकोमाषस्ते सुवर्णस्तु षोडश" ॥ इति ॥

गोमिथुनञ्चापि सुवर्णाभावेऽत्र दक्षिणात्वेन वीरेश्वरादिभिःपद्धतिकृद्भिर्हरिहरादिभि-(पा०र) गृह्यभाष्य`कृद्भिश्चोक्तमिति ध्येयम् ॥

आश्वलायनः--

"कन्यां वरयमाणानामेष धर्म्मो विधीयते ।
प्रत्यङ्मुखावरयन्ति प्राङ्मुखा प्रतिगृह्णते ॥
उभयस्यापि पक्षस्य पैतापौत्रीन्त्रिरभ्यसेत् ॥" इति ।

१, गोभिलोऽपि "गोदाने (षोडशे वर्षे क्रियमाणे) "गोमिथुनं दक्षिणा ब्राह्मणस्य" "अश्वमिथुनं क्षत्रियस्य" "गौर्वैवसर्वेषामि"ति वक्ष्यति (३।१।५-७)॥ अत्र केचिदार्षे विवाहे गोमिथुनं दक्षिणेति वदन्ति ।

पैतापौत्रीमिति पदमुभयपदवृद्ध्या त्रैवार्षिकमितिवदिति मुरारिमिश्राः। पितृनिर्द्देशानन्तरं पुत्रनिर्द्देशकर्त्तव्यतामात्रपरत्वेऽप्येतस्य, यद्दानवाक्येप्राक्-प्रपितामहनिर्द्देशस्तद्वाक्यान्तरैकवाक्यताबलात्। तथाच कात्यायनः--

"नान्दीमुखे विवाहे च प्रपितामहपूर्वकम्।
[1]वाक्यमुच्चारयेद्धीमानन्यत्र पितृपूर्वकम्॥" इति।

अत्र नान्दीमुखं विवाहविशेषणम्। नान्दी समृद्धिः। चकारस्तु पूर्वोक्त-कर्म्मसमुच्चयपरः॥

परिशिष्टान्तरम्--

"आर्षङ्गोत्रं समुच्चार्य प्रदद्याच्छ्रद्धयाऽन्वितः।
परितुष्टेन भावेन "तुभ्यं सम्प्रददे"-इति॥"

आर्षं-प्रवरम्। स्मृतिः--

"मासपक्षतिथीनाञ्च निमित्तानाञ्च सर्वशः।
उल्लेखनमकुर्वाणो न तस्य फलमश्नुते॥" इति।

तस्यदानादेः कर्मणः। अत्र सर्वपदार्थप्रधानद्वन्द्वबलान्मासादीनां नैकोप-सर्जनत्वेनापरोल्लेखः। किन्तु सर्वेषाम्प्राधान्येनैव। तेनाऽमुके मास्यमुके[2] पक्षेऽमुकतिथावित्यभिलापाकारः सर्वत्रेति वदन्ति। तेनामुकमासीयेत्यादि-सङ्कल्पवाक्योल्लेखश्चिन्त्य एव। विष्णुधर्म्मोत्तरे--

"अभयं सर्वदैवत्यं भूमिर्वै विष्णुदैवता।
कन्या दासस्तथा दासी प्राजापत्याः प्रकीर्त्तिताः॥
करे गृह्य तथा कन्यां दासदास्योर्द्विजोत्तमाः।
करन्तु हृदि विन्यस्य धर्म्मो ज्ञेयः प्रतिग्रहः॥

तथा--"समापयेत्ततः पश्चात् कामं स्तुत्वा प्रतिग्रहम्॥" इति।

---

१. अत्र मुरारिमिश्राः-उच्चारयेदित्यत्र स्वार्थे णिच्। "रामो राज्यमचीकरदि"-तिवत्। दाता वदेदित्यादिस्वरसात्। अत एवान्यद्वारा वाक्योच्चारणं पाश्चात्यानान्दुराचारः। मूलाभावेनान्धपरम्परानुपातत्वात्। शूद्रादेस्तु--"अमन्त्रकस्य शूद्रस्य विप्रा मन्त्रेण गृह्णते" इति स्मरणाद्युक्तम्॥ इति।

२. "अत्रामुके मासे" इत्येवं सङ्कल्पवाक्यमनुपपन्नमेव। शास्त्रातिशययोगस्य फलातिशयाधायकत्वस्मरणात्। तथाच महाभाष्यं "नाकपृष्ठं सुखं यान्ति येऽचीकमत-भाषिणः। ते च पत्काषिणो यान्ति ये चाऽकमतभाषिणः।" इति। श्रुतिश्च "एकः शब्दः सुप्रयुक्तः सम्यग्ज्ञातः शास्त्रान्वितः स्वर्गे लोके च कामधुग्भवती"ति। शास्त्रान्वितः विशेषैः (सर्वैरेवयथायोगं) शास्त्रैः संस्कृत इत्यर्थः॥

अत्र कामस्तुतौ शाखान्तराद्विशेषः पद्धतौ (गोभिलीये) द्रष्टव्यः ॥ कन्यादानादिवाक्येऽपि मायादिकीर्त्तनं सकृदेव आवृत्तौ मानाभावात्। ततोऽमुकशर्म्मणः पुत्रीमित्येतद्घटितवाक्यस्य त्रिरभ्यास इतिस्मर्त्तव्यम्। शङ्खस्थतोयेन यदेतद्दानं तत्राजानिकाचार एव मानम्। वरस्य विष्णुरूपेणानुध्यानाद्वा। दानान्तरसाधारणमन्यत् ॥

विवाहानुवृत्तौ शङ्खलिखितौ––

"सर्वैरलङ्कारः स्त्रीधनञ्च देयम्" इति। द्वयमपि चेदं यथाशक्तीति रत्नाकरः। मनुः—

"न कन्यायाः पिता विद्वान् गृह्णीयाच्छुल्कमण्वपि।
गृह्णञ्छुल्कं हि लोभेन स्यान्नरोऽपत्यविक्रयी ॥
स्त्रीधनानि तु ये मोहादुपजीवन्ति मानवाः।
नारी यानानि वस्त्रं वा ते पापा यान्त्यधो गतिम् ॥
आर्षे गोमिथुनं शुल्कं केचिदाहुर्मृषैव तत्।
अल्पोऽप्येवं महान्वापि विक्रयस्तावदेव सः ॥" इति।

---

१. तथाच "एकं गोमिथुनं द्वे वा वरादाय धर्म्मतः। कन्याप्रदानं विधिवदार्षो धर्म्मः स उच्यते।" इति। (३।२९) स्त्रीगवी पुङ्गवश्च गोमिथुनम्। तदेकं द्वे वा वरात् धर्म्मतः। धर्म्मार्थम्। सार्वविभक्तिकस्तसिः। यागादिसिद्धये कन्यायै वा दातुं न शुल्कबुद्ध्या आदाय-गृहीत्वा यद्यथाशास्त्रं कन्यादानं स आर्ष ऋषीणामयन्धर्म्मः। अर्थात् स विवाहो धर्म्य एवेति तदर्थः। एवम् "अल्पेनाऽपि हि द्रव्येण"–त्यापस्तम्बीयेऽनुपदं प्रदर्शयिष्यमाणे वचने प्रकृत्यादितृतीयया (पा० २।३।१८) तद्ग्रहणपूर्वकं कन्यादानं बहुवर्षव्यापकश्लेष्मादिभाजकनरकप्रदमिति यदुक्तन्तत्सर्वमपि स्वपोषणबुद्ध्या ग्रहणनिषेध तात्पर्यकमिति मम प्रतिभाति। अतएव कन्यायै दातुं न शुल्कबुद्ध्येति कुल्लूकभट्टेव्याख्यानमस्य साधु सङ्गच्छते। सम्वँदतिच्चामुमर्थमतोऽग्रेतनं मानवीयं वचनम्—

"यासां नाददते शुल्कं ज्ञातयो न स विक्रयः।
अर्हणन्तत्कुमारीणामानृशंस्यं च केवलम् ॥" इति।

यासां कन्यानां प्रीत्या-(उत्कृष्टाभिजात्यादिसद्गुणलाभलोभेन) वरेण दीयमानं धनं पित्रादयो न गृह्णन्ति किन्तु कन्यायै समर्पयन्ति वराय वा यौतकादिरूपेण प्रयच्छन्ति। सोऽपि न विक्रयः। यस्मात्कुमारीणामर्हणम्पूजनन्तत् आनृशंस्यमहिंसकं (विधिवत्संप्रदानविधेरलोपकं) केवलन्तदनुकम्पारूपम्। कन्या हि-वरात्तावद्ग्रहणेनानुकम्प्यते। याहि सत्कुलाभिजनादिलाभलोभेनार्थप्रदानपूर्वकं कन्यापितुर्गृहीता भवति सा वरेण सर्वदातितराम्मान्यते नान्या। तस्मात्कन्यासत्कृतये, नात्मसात्करणाय वरपक्षाद्धनग्रहणं यदि वरायैवार्हणाबुद्ध्या कन्यायै वा यौतकादिबुद्ध्या दीयते तर्हि नानृतं भवतीति सकलशिष्टैराचरितः पन्थाः। निषेधश्च स्वोपभोगस्यैवेति स्थितिः। अतएव विशिष्टक्षत्रियेष्वपि कुलाभिमानेन कन्याशुल्कग्रहणं पुराणेष्वपि दृश्यते।

विद्वान्—शुल्कग्रहणेन कन्याविक्रयदोषाभिज्ञः। अपत्यविक्रयीति। अनेनापत्यविक्रयप्रायश्चित्तभिया न गृह्णीयाच्छुल्कमिति वाक्यार्थः। स्त्रीधनानि—कन्यादानौपयिकधनानि। आपस्तम्बः—

"अल्पेनाऽपि हि द्रव्येण यस्तु कन्यां प्रयच्छति।
श्लेष्ममूत्रपुरीषाणि बहून्वर्षान्समश्नुते[1] ॥" इति ॥

एवमनेकानर्थहेतुत्वात्तदुक्तफलहानिप्रसङ्गाच्च पित्रा अन्येन वा केनापि स्त्रीविवाहोपाधिना धनन्न ग्राह्यमिति ॥ १७ ॥

अहतेन वसनेन पतिः परिदध्यात् "या अकृन्तन्" इत्येतयर्चा। "परिधत्त धत्त वाससे—"ति च ॥१८॥ (मं० ब्रा० १।१।५-६)

[इस स्थान के बाद भावी] पति 'या अकृन्तन्' आदि ऋचा से और 'परिधत्त धत्त वाससा' इस ऋचा से नवीन वस्त्र पहानए ॥ १८ ॥

अहतेनेति। अत्राहतलक्षणमुक्तं गृह्यासङ्ग्रहे—

"सकृद्धौतं नवं श्वेतं सदसय्यँन्न धारितम्।
अहतन्तद्विजानीयात्सर्वकर्म्मसु पावनम् ॥ इति।

अत्र श्वेतमित्युपलक्षणं नीलातिरिक्तस्य। तस्य विशिष्य शुभकर्म्मसु शास्त्रतो लोकतश्च निसिद्धत्वात्। तेनोक्तलक्षणलक्षितेन वसनेन वस्त्रेण पतिः यस्याः पाणिं ग्रहीष्यन्भवति ताम्। परिदध्यात्—अन्तर्भावितण्यर्थतया परिधापयेत्। अध उपरि च वेष्टनं गात्राणाङ्कारयेदित्यर्थः। कुत एतत्? मन्त्रद्वयोपदेशात् "परिधत्स्व" "परिधत्त" इति मन्त्रलिङ्गदर्शनात्। गृह्यान्तरे परिधापनोपदेशाच्च। तथा च गृह्यान्तरम्—

"अथैनां वासः परिधापयति" इति "अथोत्तरीयम्" इति च। (पा० गृ० ४।१२)

तथाच श्रीमद्भागवते (स्कं० ९ अ० १५)

"गाधिरासीत् कुशात्मजः तस्य सत्यवतीङ्कन्यामृचीकोऽयाचतद्विजः ॥ वरं विसदृशं मत्वा गाधिर्भार्गवमब्रवीत्। एकतः श्यामकर्णानां हयानां चन्द्रवर्च्चसाम्। सहस्रन्दीयतां शुल्कं कन्यायाः कुशिका वयम् ॥" इति।

कुशिकाः कुशिकान्वयभुवः। इयं कुलाभिमानोक्तिः तथाच कुलाभिमानरक्षणाय वरपक्षात् शुल्कग्रहणम्पुराप्यासीदिदानीमपि कुलीनेषु मैथिलादिषु दृश्यते। परमेतत्स्वोपभोगायेत्यसकृदवोचाम ॥

१. "वत्सरे वर्षमस्त्रियाम्" इत्यमरः।

"द्विकच्छः कच्छशेषश्च मुक्तकच्छस्तथैव च ।
एकवासा अवासाश्च नग्नः पञ्चविधः स्मृत ॥"

इत्येकवाससो नग्नत्वस्मरणाच्चैतदवगन्तव्यम् । अत्र मन्त्रमाह--या अकृन्तन्निति । "परिधत्ते"--ति च । "उत्तरीयमि"--ति शेषः । क्रियानुषङ्गार्थश्चकारः । [1]तत आचाराद्वरोऽपि कन्याप्रदोपनीतं वासो युगं तूष्णीं परिदध्यात् । अथ द्वयोराचमनम् । "वासो विपरिधाय चे"--त्युक्तवचनात् । ततः "समञ्जन्तु[2] विश्वेदेवाः समापो हृदयानि नौ । सम्मातरिश्वे"ति वरो दाताग्रन्थिन्तु पातयेदि"ति परिशिष्टान्तरवचनादुत्तरीयाभ्यां वरपठितेनानेन मन्त्रेण कन्याप्रदकर्तृकं जन्मग्रन्थिबन्धनम् । अथ मन्त्रौ मूलोक्तौ--

"या अकृन्तन्नवयन्या अतन्वत याश्च देव्योऽन्तानभितोऽततन्थ ।
तास्त्वा देव्योजरसा सव्व्यँयन्त्वायुष्मतीदं परिधत्स्व वासः" ॥ ५ ॥

'या' स्त्रियः । इदं वस्त्रं परिधीयमानम् 'अकृन्तन्' कर्त्तितवत्यस्तं तु रूपेण । 'याः' च 'अवयन्' उतवत्यः । 'याश्च' 'अतन्वत' विस्तारितवत्यः । 'देव्यः' दानादिगुणयुक्ताश्च याः 'अन्तान्' पटसम्बन्धिनः प्रान्तभागान् 'अभितः' उभयपार्श्वे 'अततन्थ' [3]ग्रथितवत्यः । 'ता देव्यः' हे कन्ये ! 'त्वा' त्वाम् । 'जरसा' जरान्तं यावत्[4] 'सव्व्यँयन्तु' परिधापयन्तु । हे 'आयुष्मति !' 'इदं' 'वासः' वसनम् । 'परिधत्स्व' अन्तरीयं कुरु ॥ ५ ॥ इति

अथ द्वितीयो मन्त्रः ।

"परिधत्त धत्त वाससैनां शतायुषीङ्कृणुत दीर्घमायुः ।
शतञ्च जीव शरदः सुवर्च्चा वसूनि चार्ये ! विभजासि जीवम्" ॥ ६ ॥

अस्यार्थः--हे उपाध्यायादयः । यूयम् । इदं वस्त्रम् 'एनां' कन्याम् 'परिधत्त' परिधापयत अन्तर्भावितण्यर्थोऽत्र दधातिः । तथा 'वाससा' वस्त्रेण एनां 'धत्त' धारयत । 'शतायुषीम्' चिरकालजीविनीम् । 'कृणुत'

---

१. इदन्त्ववधेयं कन्यादानकर्मणः पुरस्तादेव कन्यापक्षीयेन कन्यामात्रादिना पूगयज्ञोपवीतादिकं वंशपात्रे (डल्लके) कृत्वा वरायोपह्रियते "अस्मिन्काले ऽग्निसान्निध्ये स्नातः स्नाते ह्यरोगिणि । अव्यङ्गेऽपतितेऽक्लीबे पिता तुभ्यं प्रदास्यति" अमुकनाम्नीं कन्याम् । इतिमन्त्रेण वाक्येन च । वरोऽपि ततः किञ्चिद्दूर्वाक्षतादिकङ्करेणादाय शिरसि निदधातीति व्यवहारपरम्पराप्राप्तपरस्परस्वीकृतिज्ञापकः (पूगयज्ञोपवीतादिदानविधिनाख्यातः) विधिः । तत्र यद्वासो युगमुपनीतं तदिहोपयुज्यते । इति ।

२. मन्त्रोऽयं मूल एवोपरिष्टाद् (२।२।१५) व्यक्तीभविष्यति ।

३. अत्र व्यत्ययेन श्लेस्थः । ४. अवच्छेदकत्वमत्र प्रकृत्यादितृतीयार्थः ।

कुरुत । स्वाशीर्भिः । एवं 'दीर्घमायुः' बहुकालं यावज्जीवनम् । एवं परिधापकानभिधाय कन्यामेवाह—हे कन्यके ! 'शतञ्च शरदः' शतवर्षाणि 'जीव' । अथ 'च' हे 'आर्ये !' त्वं 'सुवर्चाः' शोभनकान्तिः 'जीवन्' जीवन्ती च सती । (लिङ्गव्यत्यय आर्षः) 'वसूनि' धनानि । 'विभजासि' विभजसि । सेवस्व[1] ॥ ६ ॥ इति ॥

अथात्र कन्यावरयोः परस्पराभिमुखीकरणम् । तत्र मन्त्रः "समञ्जन्तु" इत्याद्युक्तपूर्वो वीरेश्वरादिपद्धतौ व्यक्तो द्रष्टव्यः । ततो जन्मग्रन्थिबन्धनमितिक्रम उक्तपूर्वः ॥ अत्र कन्यादानात्पुरस्ताद्वरवध्वोर्दक्षिणवामकरमूले कङ्कणबन्धनमाजानिकाचारपरिप्राप्तमावश्यकमित्यग्रेऽनुपदं विवृतौ स्फुटीभविष्यति ॥ १८ ॥

प्रावृतां तां यज्ञोपवीतिनीमभ्युदानयञ्जपेत्
"सोमोऽददद् गन्धर्वाये"ति ॥ १९ ॥

तब उस (कन्या) को (कपड़े से आच्छादित करके) यज्ञोपवीत की तरह कपड़े पहनाकर पति अपने सामने समीप लाकर 'सोमोददद् गन्धर्वाय' आदि मन्त्र पढ़े ॥ ९१ ॥

प्रावृतां—कृतोत्तरीयां, कथं प्रावृताम् ? यज्ञोपवीतिनीम् ।[2] तामिवेत्यर्थः ।
(म० ब्रा० १।१।७)

---

१. भजतेर्व्यत्ययेन लोडर्थे लटि सिपि शपः श्लौ द्वित्यादि । अकारस्य आकारश्च ।

२. यज्ञोपवीतवत्कृतोत्तरीयामित्यर्थः । अथवा प्रावृतां प्रकर्षेणावृतामाच्छादिताम् । "न नाभिन्दर्शयेत् कुलवधूरागुल्फाभ्यां वासः परिदध्यान्न स्तनौ विवृतौ कुर्यादि"ति स्मृत्युक्तरीत्या परिहिताधरीयवसनाम् । यज्ञोपवीतं (यज्ञोपवीतवद्) विन्यासविशिष्टमुत्तरीयं तद्यस्या अस्ति सेयं यज्ञोपवीतिनी ताम् ।' तदाभ्यां पदाभ्यां पूर्वत्र सूचितयोर्वाससोर्विन्यासविशेषमिह दर्शयति । यज्ञोपवीतपदञ्चोत्तरीयेऽपि स्त्रीशूद्राणाम्प्रयुज्यते विन्यासविशेषलाभार्थमित्युक्तमधस्तात् । इत्येवं चन्द्रकान्तभाष्ये सिद्धान्तितम् । वयन्तूत्पश्यामः । कन्याप्रदानात्पुरस्तात्कन्याकर्त्तितसूत्रेणाष्टाभिर्ब्राह्मणैस्सह वरस्योलूखलमुसलोपान्ते स्थितस्य नापितकर्त्तृकन्निर्वेष्टनं तदात्वे च तैर्नवभिरपि युगपदेवोलूखले व्रीहीन् मुशलेन पुरुषसूक्तपाठपूर्वकं कण्डयद्भिस्त्रिरवहत्य तण्डुलानां निष्पादने कृते तैश्चदध्यक्तैराम्रपल्लवोपहितैः कुङ्कुमारक्ततद्वेष्टनसूत्रवद्भिः कन्यावरयोः वामदक्षिणकरयोः कङ्कणबन्धनमाजाविकवृद्धपरम्पराऽऽगतमतिरोहितकर्म्मठानाम् । तदेव सूत्रं ब्राह्मणोपनीतमिह यज्ञोपवीतपदार्थः । "उपवीतं ब्रह्मसूत्रम्" इत्याग्नेयकोशेन स्मृत्या च ब्रह्मसूत्रमुपवीतन्तद्यज्ञौपयिकमिति योऽज्ञपवीतसमाख्याऽस्य तद्विद्यतेऽस्या इति मत्वर्थेना तद्वतीमित्यर्थः । तेनातः पूर्वन्तद् बन्धनमप्याचारपरम्परागतममुमर्थं प्रमाणयतीति ॥

स्त्रीणामुपवीतस्याभावात् । अभ्युदानयनम् । "पित्रा प्रत्तामादाय गृहीत्वा निष्क्रामती"-ति गृह्यान्तरदर्शनात्करेण[1] करे गृहीत्वा गृहादग्नेर-भिमुखीमानयन् जपेत् पठेत् । पतिः । "सोमोऽददद्" त्यादिमन्त्रम् । स यथा--

"सोमोऽददद् गन्धर्वाय गन्धर्वोऽददग्नये ।
रयिञ्च पुत्रांश्चादादग्निर्म्मह्यमथो इमाम् ॥" इति ॥ ७ ॥

अस्यार्थः--इमाञ्जातमात्रां 'सोमः' चन्द्रः । यथाकाल[2]मुपभुज्य 'गन्धर्वाय'[3] सूर्याय । अददत् दत्तवान् । स च 'गन्धर्वः' सूर्यः । स्वाधिकारय्यॉवद्भुक्त्वा ।[4] 'अग्नये' 'अददत्' दत्तवान् । 'अथो'[5] अनन्तरम् स अग्निः' 'रयिं' धनं (निघं-२।१०।८) 'पुत्रान्'[6] 'इमाञ्च' 'मह्यम्' 'अदात्'[7] ददातु ॥१६ ॥

पश्चादग्नेः संवेष्टितङ्कटमेवं जातीयं वाऽन्यत्पदा प्रवर्त्तयन्तीं वाचयेत् "प्र मे पति या नः पन्थाः कल्पताम्" इति ॥ २० ॥

(म० ब्रा० १।१।८)

और अग्नि के पृष्ठ भाग में स्थापित कर (चटाई) पर या इसी प्रकार के अन्य (पीढ़े आदि) आसन पर कन्या को पैर से चलाकर [अग्नि से समीप आस्तृत

---

१. अवच्छेदकत्वमिह विषयताविशेषरूपः सप्तम्यर्थः । तेन विषयिकाधारेऽत्र सप्तमी । "गृहीत्वा चाऽऽस्य केशेष्वि"तिवत् ॥

२. तथाच च्यवनः । "षडब्दमध्ये नोद्वाह्या कन्या, वर्षद्वयं यतः । सोमो भुङ्क्तेऽथ गन्धर्वस्ततःपश्चाद्धुताशनः ॥" इति । अत्र भोगोरसादानपूर्वकं भरणम् ॥

३. तथाच वाजसनेयश्रुतिः—"सन्निहितो विश्वसामा सूर्यो गन्धर्वः ॥" इति । (शु० य० १८।३९)

४. यथोक्तं वर्षद्वयम् । ततोऽग्निर्वर्षद्वयमिति संख्याक्रमः ।
"सप्तसंवँत्सरादूर्ध्वं विवाहः सार्ववर्णिकः ।
कन्यायाः शस्यते राजन्नन्यथा धर्म्मगर्हितः ॥"
इति स्मृत्यर्थमनुरुन्धे । केचित्तु-अग्नेः समयनियम उक्तच्यवनस्मृतौ न दर्शितः "ततः पश्चाद्धुताशनः" इति सामान्येनोक्तेस्तेन सप्तसंवँत्सरादारभ्य दशान्तं द्वादशान्तं वा यावद्विवाहमग्नेरेव तत्र पोषणाधिकार इति "सोमोददद्गन्धर्वाये"त्यादिमन्त्रेण स्पष्टमावेद्यते । एतेन सप्तवर्षात्प्रागपि अग्नेः सकाशात्कन्यापरिग्रह उक्तो पूर्वो मुरारिमिश्रसम्मतोऽप्युपपद्यते । अत एव च "मुरारेस्तृतीय :पन्था" इति लोकोक्तिरनुगृह्यते ॥

५. अत्र "ओत्" (पा० १।१।१५) इति प्रगृह्यसंज्ञायां प्रकृतिभावः (पा० ६।१।१२५) ॥

६. आशास्यमानान् ।

७. "छन्दसि लुङ् लङ् लिटः" (पा० ३।४।६) इति लोडर्थे प्रार्थनायां ॥

कुश तक लाकर] 'प्र मे पति यानः पन्था कल्पन्ताम्' 'मेरा पति मेरे लिए मार्ग बनाए, जिससे मैं कल्याणप्रद और अहिंसित पतिलोक को प्राप्त होऊँ—आदि मन्त्र का (वधू को) पाठ करावे ॥ २० ॥

संवेष्टितं--सम्यग्वाससाऽध उपरि च पार्श्वे चाहतेन वसनेनाच्छादितमित्यर्थः। कटं तृण–(वीरण–)–ग्रथितमासनम्। तदलाभे--एवं जातीयं-तृणसदृशम्[1] अन्यत्। तृणपुलकादि। पदा–चरणेन। प्रवर्त्तयन्तीं-बह्निसन्निधानमुपवेशनार्थं नयन्तीं वधूं "प्र मे"--इत्यादिमन्त्रं पतिर्वाचयेत्–पाठयेत्। अत्रानुवादाद्विधिरनुमीयते–वरवध्वोरुपवेशनार्थं कटः कर्त्तव्य इति। कर्त्तुश्चानियमः।

मन्त्रो यथा--

"प्र मे प्रति यानः पन्थाः कल्पतां शिवाअरिष्टा पतिलोकं गमेयम् ॥८॥ इति।

अस्यार्थः–'नः' अस्माकम्[2]। 'पति'–पतिः[3]। 'मे' मदर्थम्। 'पन्थाः' पन्थानम्[4]। 'प्रकल्पताम्' प्रकल्पयतु। अन्तर्भावितण्यर्थः। करोतु। 'या' "येन पथाऽहं 'शिवा' सुखावहा 'अरिष्टा' अहिंसिता च सती 'पतिलोकं' पतिगृहम्[6]। 'गमेयम्' गम्यासम्[7] ॥ २० ॥

स्वयञ्जपेदजपन्त्यां "प्रास्या" इति ॥ २१ ॥

वह न पाठ कर सके तो पति स्वयं 'प्रास्या' आदि मन्त्र का पाठ करे ॥ २१ ॥

बाल्याल्लज्जया वा तस्याम् अजपन्त्याम्--अनुच्चारयन्त्याम्। पतिः स्वयञ्जपेत्। स्वयमुच्चारयेत्। तत्र जप्ये विशेषमाह--प्रास्याः। इति--एवमादि मन्त्रम्। प्र मे इत्यस्य स्थाने प्रास्या इति कृत्वेत्यर्थः। एवं गमेयम्–इत्यत्र गम्या इति। अन्यथाऽनन्वयप्रसङ्ग इति द्रष्टव्यम्। तथाच मन्त्रार्थः। अस्याः पतिः (अयमहं) न आत्मनः [8]कृते पन्थानं प्रकल्पयतु। येन पथा शिवा अरिष्टा च सती त्वं पतिलोकं पतिगृहं गम्या गच्छ। आशिषि लिङ्। एतच्चाग्निप्रदक्षिणानन्तरं, तथाच गृह्यासङ्ग्रहे--

---

१. प्रकारार्थेऽत्र (पा० ५।३।६९) जातीयरप्रत्ययः।

२. "अस्मदो द्वयोश्च" (पा० १।२।५९) इत्येकत्वेऽपि बहुवचनम् ॥

३. "सुपां सुलुक्" (पा० ७।१।३९) इति सोर्लुक् ॥

४. अत्रोक्तेनैव सूत्रेण (पा० ७।१।३९) अमः सुः ॥

५. आङोऽत्र डादेशः (पा० ७।१।३९) ॥

६. पतिर्लोकते दृश्यते यत्र तत् ॥

७. "लिङ्याशिष्यङ्" (पा० ३।१।८६) इति गमेरङ् ॥

८. अस्मभ्यम्। चतुर्थ्यर्थे षष्ठी (पा० २।३।६२) बहुवचनमेकत्वार्थे पूर्ववत्।

"यदा निष्क्रामयेत्कन्यां वरः पाणिजिघृक्षया ।
अग्निप्रदक्षिणं कृत्वा कटं स्तीर्णमिदञ्जपेत् ॥" इति ।

अत्र पदानि क्रामयेदित्यपपाठः । अत्र पाठे तदेत्यध्याहार्यम् । "यच्छब्देन तु तच्छब्दो बोद्धव्यः सततं बुधैरि"ति योगिस्मरणात् । निष्क्रामयेत्पितृकुलान्मण्डपाद्वेद्यामानयेत्तदा जपेदिद"म्प्र मे इति" "प्रास्याः" इति वा कन्या वा वरे वेति क्रमेणान्वेतव्यम् । पारस्करोऽपि—"प्रदक्षिणमग्निं परिक्रम्योपविशति" इति ॥ २१ ॥

बर्हिषोऽन्तं कटान्तं प्रापयेत् ॥ २२ ॥

इस प्रकार अग्नि के समीप बिछाए हुए 'बर्हि' तक उस कन्या को ले आवे ॥ २२ ॥

बर्हिः पदमत्राग्निपरं [1]"बर्हिःशुष्मे"ति वह्निनामसु पाठात्तत्रापि तस्य शक्तत्वात् । एवञ्चाग्नि—कटयोर्म्मध्यं[2] प्रापयेत्—नयेत् । प्रकृतत्वात्कन्यामित्यर्थ इति मे प्रतिभाति । अत एवाग्निस्थापनं, ततो ब्रह्मोपवेशनादि—दृषत्पुत्रासादनपर्य्यन्ताऽग्निपरिचरणानन्तरं कन्यादानमिति पद्धतिक्रमः सङ्गच्छते ।

भाष्यकारस्तु-कटम्पदा प्रवर्त्तयन्तीमिति पूर्वमुक्तं तत्कियन्तं देशं प्रवर्तयेत् ? इत्यपेक्षायामाह——बर्हिषोऽन्तमिति । कटपूर्वप्रान्तमास्तृतकुशपर्यन्तं[3] नयेदित्यर्थः । एवञ्च कटप्रवर्त्तनात्पूर्वङ्कन्यादानाद्यवसर एवाज्यसंस्कारान्तं कर्मान्यद्वारा कारयितव्यम् । अन्यथा पूर्वं बर्हिस्तरणस्य वरेणाकरणाद् बर्हिषोऽन्तमिति नोपपद्येतेत्युक्तम् । तन्मन्दम् । अन्यद्वारा करणे प्रमाणान्तरस्याभावादस्य चान्यथा व्याख्यातत्वादिति शुभकर्म्मनिर्णये मुरारिमिश्राः प्राहुः ॥ २२ ॥

---

१. "बर्हिःशुष्मे"ति सञ्जातो विगृहीतश्च नाम । बर्हते वर्द्धते इतिबर्हिः । इदन्तः सान्तोऽपीति । शुष्यत्यनेन शुष्मा । नान्तो ऽपि इति चामरटीकायाम्महेश्वरः । तथाच शब्दार्णवः "शुक्रऽदन्तो वैश्वानरो वह्निर्बर्हिः शुष्मा तनूनपात्" इति ॥

२. अन्तशब्दोऽत्र समीपार्थकः । पुरतो बर्हिः पश्चात्कट इति तयोः समीपं मध्यमेव भवतीति ॥

३, अत्र बर्हिष इति जात्याश्रयमेकवचनम् । बर्हिषामास्तृतानामन्तं कटान्तं प्रापयेत् । अयमर्थः । कटस्तथापदा प्रावर्त्तितव्यो बध्वा यथा तदन्तभाग आस्तृत बर्हिषाङ्किञ्चिदुपरि स्यादिति ॥

पूर्वे कटान्ते दक्षिणतः पाणिग्राहस्योपविशति ॥ २३ ॥

चटाई के पूर्व भाग में विवाह के लिए प्रवृत्त पति के दाहिनी ओर वधू बैठे ॥ २३ ॥

अत्र वधूरिति शेषः। पूर्वे कटान्ते कटस्य पूर्वस्मिन्भागे। दक्षिणतः दक्षिणस्यां दिशि। सार्वविभक्तिकस्तसिः। (पा० ५।४।४४ वा०) कस्य ? पाणिग्राहस्य। यः पाणिङ्करमस्या ग्रहीष्यति तस्य "कर्मण्यण्" (पा० ३।२।१) ॥ २३ ॥

दक्षिणेन पाणिना दक्षिणमंऽसमन्वारब्धायाः षडाज्याहुतीर्जुहोति। "अग्निरेतु प्रथमः" इत्येतत्प्रभृतिभिः ॥ २४ ॥

(मं० ब्रा० १।१।१०–१५)

[कन्या] अपने दाहिने हाथ से [वर के] दक्षिण स्कन्ध का स्पर्श करे आदि [वर कन्या के ग्रहण के द्योतक] 'अग्निरेतु प्रथमः' आदि छः मन्त्रों से छः आहुति प्रदान करे ॥ २४ ॥

अन्वारब्धाया इति वर्त्तमाने कर्त्तरि निष्ठा। (पा० ३।४।७२)। षष्ठी चेयं सम्बन्धार्था। अन्वारम्भणं स्पर्शः। तथाचायमर्थः। पत्युर्दक्षिणांसं दक्षिणहस्तेन स्पृशन्त्यां वध्वा–"मग्निरेत्वि"त्यादि षड्भिर्म्मन्त्रैः पतिः षडाज्याहुतीर्जुहुयादिति। मन्त्रो यथा––

"अग्निरेतु प्रथमो देवताभ्यः सोऽस्यै प्रजाम्मुञ्चतु [1]मृत्युपाशात्।
तदयं राजा वरुणोऽनुमन्यतां यथेयं स्त्री पौत्रमघं न रोदात्स्वाहा ॥१०॥

अस्यार्थः––अस्मिन्प्रस्तुते कर्म्मणि। पूज्यमानाभ्यो 'देवताभ्यः'। ता अपेक्ष्य [2]'प्रथमो' मुख्यः 'अग्निः' 'एतु' आगच्छतु। आगत्य च 'सः' अग्निः। 'अस्यै' अस्याः। षष्ठ्यर्थे चतुर्थी। (पा० २।३।६२) 'प्रजां' भाविनीं 'मृत्युपाशात्' 'मुञ्चतु' मोचयतु[3]। 'तद्' एतन्मृत्युपाशविमोचनमग्नेः। 'अयं' 'राजा' अधिपतिरपां 'वरुणः' तदाख्यो देवः 'अनुमन्यताम्' अनुजानातु। 'यथा' येनानुज्ञानेन। प्रकारेण वा (भगवतः शुभानुध्यानेन वा) 'इयं स्त्री' भूता[4] सती 'पौत्रं' पुत्रभवम् (तत्सम्बन्धि) 'अघं' दुःखं

---

१. अत्र "मुञ्चातु" इति कृतदीर्घपाठः संहितायाम् "पद्धतिषु यथोल्लिखित एव।

२. "ल्यब्लोपे कर्म्मण्यधिकरणे च" (पा० १।४।२१ वा०) इति पञ्चमी।

३. अन्तर्भावितण्यर्थः। आसंशायां टित्तान् लोट्।

४. स्त्यायेते संहीभवतः। शुक्रशोणिते अस्यामित्यर्थं "स्त्यैशब्द संघातयो"रिति धातोड्ट् प्रत्यय औणादिकः। टित्वाट्टिलोपे ङीप्।

यमबन्धनात्। "दुःखौघव्यसनेष्वघम्" इत्यमरः। "प्राप्ये"ति शेषः। 'न रोदात्' न रुद्यात्[1]। ताभ्यामग्नीवरुणाभ्यां 'स्वाहा' सुहुतमस्तु ॥ १०।

"इमामग्निस्त्रायतां गार्हपत्यः प्रजामस्यै जरदष्टिं कृणोतु।
अशून्योपस्था जीवतामस्तु माता पौत्रमानन्दमभि विबुध्यतामियꣳस्वाहा ११

'गार्हपत्यः' तदाऽऽख्यः 'अग्निः' योऽसौ भाव्यः[2]। 'इमां' कन्याम् (अग्निहोत्रिणीं कृत्वा) 'त्रायताम्' पालयतु। किञ्च 'अस्यै' अस्याः। पूर्ववच्चतुर्थी षष्ठ्यर्थे। 'प्रजां' [3]सन्ततिम्। जरदष्टिं' जराव्यापिनीम्[4] (चिरस्थायिनीम्) 'कृणोतु' करोतु "कृविहिंसाकरणयोश्च" (स्वा० प०) इत्यस्य लोटि रूपम्। किञ्च 'अशून्योपस्था'[5] नित्यं सुतपूर्णोत्सङ्गा। भर्त्तुः सङ्गता वा सती 'जीवतां' दीर्घायुषाम्। 'माता' जनयित्री[6] 'अस्तु' भवतु। अतः 'इयं' 'पौत्रं' पुत्रसम्बन्धिनम्। 'आनन्दम्' सुखम्। 'अभि' अधिगत्य[7] 'विबुध्यताम्' विविधं-सुख-मनुभवतु। तस्मै अग्नये 'स्वाहा' सुहुतमस्तु ॥ ११ ॥

"द्यौस्ते पृष्ठं रक्षतु वायुरुरू अश्विनौ च स्तनन्धयस्ते पुत्रान्त्सविताऽभिरक्षत्वावाससः परिधानाद् बृहस्पतिर्विश्वेदेवा अभिरक्षन्तु पश्चात् स्वाहा" ॥ १२ ॥

हे कन्ये! 'द्यौः' द्युलोकाभिमानी देवता सूर्यः 'ते' तव 'पृष्ठं रक्षतु' 'वायुरश्विनौ च उरू' रक्षिन्त्विति वचनविपरिणामेनान्वयः। किञ्च 'स्तनन्धयः'[8] स्तनाधारां 'स्ते' तव 'पुत्रान्' 'सविता' आदित्यः 'आवाससः परि-

---

१. "लिङर्थे लेट्" (पा० ३।४।७) तस्याडागमः (पा० ३।४।९)।

२. "गृहपतिना संयुक्तेञ्यः" (पा० ४।४।९०) इति ञ्यप्रत्ययेन निष्पन्नोगार्हपत्यशब्दः गृहपतिसंयोगप्रवृत्तिनिमित्तकः। गृहपतित्वं च दारसम्बन्धमन्तराऽसम्भवि "न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते" इति स्मरणात्।

३. "प्रजा स्यात्सन्ततौ जने" इत्यमरः।

४. "अशूङ्व्याप्तौ" (स्वा० आ०) इत्यस्मात्कर्त्तरि क्तिच्। जरदवस्थामश्नुते या स जरदष्टिस्ताम्।

५. "उपस्थः शेफसि क्रोडे तथा मदनमन्दिरे" इति मेदिनी।

६. "जनयित्री प्रसूर्माता" इत्यमरः।

७. अभिलक्ष्य विबुध्यतां विबोधं प्रबोधं लभतामिति वार्थः। अत्र "सविशेषणे हि विधिनिषेधौ सति विशेष्येऽन्वयबाधे विशेषणमुपसंक्रामतः" इति न्यायेनानन्दमानं पुत्रमिति पौत्रमानन्दमित्यस्यार्थो बोध्यः। निध्वनत्पाञ्चजन्यः श्रुत" इतिवत्।

८. अत्र शसःसुः' (पा० ७।१।३९) "स्तने घेटोनासिकायां ध्मश्चेति वाच्यम्" (पा० ३।२।२९ वा०) इति खशि नुमागमः।

धानात्' वासः परिधानयोग्यावस्थातः प्राक्। 'अभिरक्षतु' ततः 'पश्चात्' 'बृहस्पतिर्विश्वेदेवाश्च' 'अभिरक्षन्तु' तेभ्यः 'स्वाहा' सुहुतमस्तु ॥ १२ ॥

"माते गृहेषु निशि घोष उत्थादन्यत्र त्वद्रुदत्यः सम्विँशन्तु। मा त्वं रुदत्युर आवधिष्ठा जीवपत्नी पतिलोके विराज पश्यन्ती प्रजां सुमनस्यमानाᳯं स्वाहा" ॥ १३ ॥

हे कन्ये! 'ते' तव 'गृहेषु' 'निशि'रात्रौ 'घोषः' आक्रन्दरूपः शब्दः 'मा उत्थात् मोत्तिष्ठतु'[1]। किञ्च 'त्वदन्यत्र'त्वद्भिन्नानान्त्वत्सपत्नानां[2] गृहेषु 'रुदत्यः' स्त्रियः 'सम्विँशन्तु' [3]स्वपन्तु। किञ्च 'त्वं' 'रुदती' रोदनङ्कुर्वाणा सती 'उरः' वक्षःस्थलम्। 'माऽऽवधिष्ठाः'मा त्वमुरोघातं रोदिष्यसीत्यर्थः। तथा–'जीवपत्नी' सभर्त्तृका त्वं 'सुमनस्यमानां'[4] सुप्रसन्नां 'प्रजां' सन्ततिं 'पश्यन्ती'सती 'पतिलोके' पतिगृहे 'विराज' शोभस्व। इदमग्नये 'स्वाहा' सुहुतमस्तु ॥ १३ ॥

"अप्रजस्यं पौत्रमर्त्यं पाप्मानमुत वाऽघम्।
शीर्ष्णः स्रजमिवोन्मुच्य द्विषद्भ्यः प्रतिमुञ्चामि पाशᳯंस्वाहा" ॥१४॥

हे कन्यके! त्वदीयम् 'अप्रजस्यम्'[5] अप्रजास्त्वं (बन्ध्यात्वम्) पौत्र 'मर्त्यम्' पुत्रसम्बन्धिमरणम्[6]। 'पाप्मानम्' मरणं त्वदीयम्[7] 'उत वा' अथवा 'अघम् दुःखम्[8]। एतत्सर्वं 'शीर्ष्णः' मूर्ध्नः सकाशात् 'स्रजमिव' मालाम् इव 'उन्मुच्य' ऊर्ध्वं त्वत्तोऽपसार्य (पृथक्कृत्य) 'पाशम्' मृत्यु-

---

१. "माङि लुङ्" (पा० ३।३।१७५) इति लोडर्थेलुङ्। "न माङ्योगे" (पा० ६।४।७४) इत्यडागमाभावः ॥

२. अत्र "अन्याराद्" (पा० २।३।२९) ति पञ्चमी ॥

३. "स्यान्निद्रा शयनं स्वापः स्वप्नः संवेश इत्यपी"त्यमरः।

४. अत्र "भृशादिस्वात्" (पा० ३।१।१२) क्यङि सलोपाभावश्छान्दसो बोध्यः। "आने मुगि–" (पा० ७।२।८२) ति क्यङो मुगागमः ॥

५. अत्र अविद्यमाना प्रजा यस्या इति बहुव्रीहौ "नित्यमसिच्प्रजामेधयोः" (पा० ५।४।१२२) इत्यसिच्समासान्तस्ततो भवार्थे यत् (पा० ४।४।११०) भवार्थोऽत्र भाव एव तद्धर्म्मः ॥

६, "मृङ्प्राणत्यागे" (तु० आ०) "हसिमृग्रिण०" (उ० ३।८६) इत्वादिना भावे तन् प्रत्ययः। स्वार्थे यत् (पा० ५।४।३६ वा०) मर्त्यं मरणम् पुत्रस्येदं पौत्रं पौत्रञ्च तन्मर्त्यञ्चेति कर्म्मधारयः समासः ॥

७. औपचारिकोऽयं प्रयोग इति गुणविष्णुभाष्यम्।

८. "अंहो दुःखव्यसनेष्वघम्" इत्यमरः ॥

पाशभूतमेतत्सर्वं ते 'द्विषद्भ्यः'[1] शत्रुभ्यः तानुदिश्य 'प्रतिमुञ्चामि' तद्-गलेषु स्थापयामि[2]। इदमग्नये 'स्वाहा' सुहुतमस्तु। अत्र "सर्वे विधयश्छन्दसि विकल्पन्ते" इति नियमाद्—वा अधमित्यत्र सन्ध्यभाव आर्षः। अविवक्षया वा ॥ १४ ॥

"परैतु मृत्युरमृतम्म आगाद्वैवस्वतोनोऽअभयं कृणोतु।
परम्मृत्योऽनुपरेहि पन्थां यत्र नो अन्य इतरीदेवयानात्" ॥
चक्षुष्मते श्रृण्वते ते ब्रवीमि मा नः प्रजां रीरिषो मोतबीरान्त्स्वाहा ॥१५॥

कन्यकैवाशास्ते—'मृत्युः'[3] मरणम्। मत्तः 'परैतु' दूरङ्गच्छतु। 'अमृतम्' अमरणम्। 'मे' मम 'आगात्' आगच्छतु[4]। तथा 'वैवस्वतः' यमः। [5]'नः' अस्माकम्[6]। 'अभयम्' भयाभावम्[7]। 'कृणोतु' करोतु। एवं परोक्षमुक्त्वा प्रत्यक्षीकृत्य मृत्युरेवाभ्यर्थ्यते—हे 'मृत्यो! मत्तः 'परम्' अन्यं 'पन्थां' पन्थानम्[8]। 'अनुपरेहि' कमप्यनुगत्यापसर। यत्र 'नः' अस्माकम् 'अन्यः' परः शत्रुरस्ति। कोऽसौ पन्थाः? 'देवयानात्' देवपथात् 'इतरः' अन्यः [9]पितृपथः। यत्र गत्वा पुनरावर्त्तते मृत्युवशमापन्नः। किञ्च 'चक्षुष्मते श्रृण्वते' 'ते' तुभ्यं 'ब्रवीमि' प्रार्थये। यत् 'नः' अस्माकं 'प्रजां' सन्ततिम्। 'उत' अपि च 'वीरान्'[10] विक्रान्तान् पुरुषान् पतिपुत्रादीन् 'मा रीरिषः' मा हिंसीः[11] तस्मै मृत्यवे 'स्वाहा' सुहुतमस्तु। अत्र "प्रकृत्यान्तःपादमव्यपरे" (पा० ६।१।११५) इति नो इत्यस्य प्रकृतिभावात् पूर्वरूपाभावः ॥ १५ ॥ २४ ॥

महाव्याहृतिभिश्च पृथक् ॥ २५ ॥

---

१. "रिपौ वैरिसपत्नारिद्विषद्द्वेषणदुर्हृदः" इत्यमरः ॥

२. प्रतिपूर्वको मुञ्चति निधापने वर्त्तते। एवमाङ्पूर्वोऽपि। इति बोध्यम् ॥

३. "मृत्युर्म्मरणं निधनोऽस्त्रियाम्" इत्यमरः ॥

४. लोडर्थे लुङ् (पा० ३।४।६) ॥

५. "यमः। कालो दण्डधरः श्राद्धदेवो वैवस्वतोऽन्तकः" इत्यमरः ॥

६. "अस्मदो द्वयोश्च" (पा० १।२।५९) इत्येकत्वे बहुवचनम् ॥

७. अर्थाभावेऽव्ययीभावः (पा० २।१।६) समासः ॥

८. नलोप आर्षः ॥

९. "इतरस्त्वन्यनीचयोः" इत्यमरः ॥

१०. "वीरविक्रान्तौ" [चु० आ०] पचाद्यच् (पा० ३।१।१३४) णिलोपः ॥

११. 'रिषूहिंसायाम्" स्वार्थंणिजन्तान्माङि लुङ् (पा० ३।३।१७५) इति लुङ् "न माङ्योग" (पा० ६।४।७४) इत्यडभावः ॥

इसके बाद 'भूः' 'भुवः' और 'स्वः' आदि महाव्याहृतियों का पाठ कर भिन्न-भिन्न तीन होम करे ॥ २५ ॥

महाव्याहृतिभिर्भूरादिभिस्तिसृभिः । पृथक्-प्रत्येकं, क्रियानुषङ्गार्थश्चकारः ॥ २५ ॥

॥ इति श्री मद्गोभिलीय गृह्यसूत्रस्य द्वितीय प्रपाठकस्य
प्रथमा कण्डिका ॥ २ ॥ १ ॥ * ॥



समस्ताभिश्चतुर्थीम् ॥ २६ ॥

और तीन को एकत्र कर 'भूर्भुवः स्वः' पढ़कर चौथा हवन करे ॥ २६ ॥

॥ इस प्रकार गोभिल गृह्यसूत्र के द्वि० प्रपाठक के प्रथम कण्डिका की डॉ सुधाकर मालवीय कृत 'मनाकुला' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ १ ॥



भूर्भुवः स्वः स्वाहेति समस्ताभिः चतुर्थीमाहुतिं जुहुयात् । होमस्य खल्वस्याज्यहविष्कतयाऽऽज्यतन्त्रविहितो महाव्याहृतिहोमः पुरस्तादपि भवति । आज्यभागौ स्विष्टकृच्च न भवन्ति । परन्तास्तिस्र एवाज्यतन्त्रोपक्रमविहिताः पुरस्तात् । परस्तात्तु चतस्र इदानीमेव तथोपदेशादिति बोध्यम् ॥ २६ ॥

॥ इति श्रीमद्गोभिलीयगृह्यसूत्रव्याख्यायां मृदुलाख्यायां मुकुन्दशर्म्मसङ्कलितायां द्वितीयप्रपाठकस्य प्रथमा कण्डिका ॥२॥१॥*॥



अथ द्वितीया कण्डिका

हुत्वोपोत्तिष्ठतः ॥ १ ॥

[महाव्याहृति] होम के बाद दोनों एक साथ 'उपोत्थान करें ॥ १ ॥

विशेष—साथ-साथ उठना 'उपोत्थान' है। उत्थान काल में वर के हाथ कन्या के पृष्ठ स्कन्ध पर रहे ॥ १ ॥

उपेति–संहतहस्तत्वमुच्यते। हुत्वा संहतहस्तौ [1]दम्पती उत्तिष्ठतः। मुरारिमिश्रास्तु–उप–अग्निसमीपे होमानन्तरमेवाग्निसमीपे दम्पतो उत्तिष्ठत इति व्याचख्यौ। अत्रानन्तरमेवेत्यनेनानन्तर्यमात्रं क्त्वार्थो न तु समानकर्त्तृकत्वमपीत्युच्यते। दृश्यते चासमानकर्तृकेऽपि कर्म्मणि क्त्वाश्रुतिः। "आज्याहुतिं हुत्वा मुख्यं धनं दद्यात्" इत्येवमादौ बहुलम्। अत्र खलु ऋत्विग्जुहोति यजमानो ददाति। होमङ्कुर्वाणस्य पत्युरंसमन्वारम्भमाणा वधूरपि कया चिद्विवक्षया होमानुकूलचेष्टावती भवति इत्यस्ति। समानकर्त्तृत्वमिति तत्त्वकारः। केचित्तु उपेत्याञ्जलिं वध्वेत्याहुः ॥ १ ॥

अनुपृष्ठं पतिः परिक्रम्य दक्षिणत उदङ्मुखोऽवतिष्ठते वध्वञ्जलिङ्गृहीत्वा ॥ २ ॥

पति वधू के पीठ की ओर होकर दाहिने ओर चलकर उसकी अञ्जलि पकड़कर उत्तर मुँह होकर बैठे ॥ २ ॥

पतिश्चानुपृष्ठं–[2]वधूं पृष्ठेन परिक्रम्य वधूदक्षिणतः। उदङ्मुख उत्तराभिमुखो भूत्वा वध्वञ्जलिं–वध्वास्तस्या एवाञ्जलिं दक्षिणेन पाणिना गृहीत्वा अवतिष्ठेतेत्यर्थः[3]। स खल्वयमञ्जलिः पाणिग्रहणपर्यन्तं स्था-

---

१. एतच्च भट्टभाष्यानुसारि व्याख्यानम्।

२. अत्रानुपूर्व्येऽव्ययीभावः (पा० २।१।६।) ॥ पृष्ठेनेति प्रकारित्वं तृतीयार्थः। (पा० २।३।१८ वा०)। "प्रकृत्यादिगणाज्जाता तृतीया तु तदात्मताम्। अवच्छेदकताबुद्धिप्रकारित्वादि संश्रती"तिहर्युक्तेः।

३. ऊर्ध्वंस्तिष्ठेत्। विधौ लेटि रूपमेतत्। अत्र "किं कृत्वा? वध्वञ्जलिङ्गृहीत्वा स्वेनाञ्जलिनेति भट्टभाष्यम्। भवदेवभट्टादयश्च। पूर्वमञ्जलिकरणमनयोः सूत्रितं तदुभयमेवमुपयुज्यते। तदत्र पत्युरञ्जलिकरणस्यार्थवत्तां न पश्यामः ॥

स्यति ; पतिश्च तावन्तं कालममुमञ्जलिमनापत्सु न त्यजेत्। तथा च गृह्यान्तरम्---

"हुत्वाऽऽज्यमथ जायाया अन्वारभ्याञ्जलिम्पतिः।
न विमुञ्चेदनापत्सु यावत्पाणिग्रहो जपः" ॥ इति ॥ २ ॥

पूर्वा माता लाजानादाय भ्राता वा वधूमाक्रामयेदश्मानं दक्षिणेन प्रपदेन ॥ ३ ॥

पूर्व की ओर अवस्थित माता या भाई लावा लेकर वधू को दाहिने पैर से लोढ़ा सहित सील पर चलावे ॥ ३ ॥

पूर्वा–पूर्वदिगवस्थिता। माता–प्रकृतत्त्वाद्वध्वाः। भ्राता वा तस्या एव। पूर्वदिगवस्थित एव सव्यहस्तेन लाजानादाय लाजपूर्ण शूर्पं कृत्वा–आदाय। दक्षिणहस्तेन वधूं दक्षिणेन प्रपदेन पादाग्रेण[1]। अश्मानं–शिलापुत्रकम् आक्रामयेत्। केचित्तु–पूर्वा बह्वीनां मातॄणां प्रथमेति व्याचक्षते। तन्न मातृबहुत्वस्यासार्वत्रिकत्वात् ॥ ३ ॥

पाणिग्राहो जपति "इममश्मानमारोहे"ति ॥ ४ ॥ (मं० ब्रा० २।१।१)

पाणिग्रहण करने वाला (पति) उस अश्मारोहण के समय 'इममश्मानमारोहेत्' आदि मन्त्र का पाठ करे ॥ ४ ॥

स्पष्टार्थम्। मन्त्रस्तु––

'इममश्मानमारोहाश्मेव त्वं स्थिरा भव।
द्विषन्तमपबाधस्व मा च त्वं द्विषतामधः" ॥ ३ ॥ इति।

अस्यार्थः---हे कन्यके! त्वम् 'इमं' पुरःस्थम् 'अश्मानं' दृषत्पुत्रम्। 'आरोह' आक्राम। किञ्च 'अश्मेव' पाषाणवत् 'त्वं स्थिरा भव'। ततश्च 'द्विषन्तम्'[2] शत्रुम् 'अपबाधस्व नितान्तं पीडय। 'त्वञ्च' 'द्विषताम्' 'अधः' पादतले 'मा' "भू"रिति शेषः[3] ॥ ४ ॥

सकृत्संगृहीतं लाजानामञ्जलिं भ्राता वध्वञ्जलावावपति ॥ ५ ॥

कन्या का भाई एक ही बार संगृहीत एक अञ्जलि लावा लेकर [बहन की] बद्ध अञ्जलि में देता है ॥ ५ ॥

---

१. "पादाग्रं प्रपदम्" इत्यमरः।
२. "रिपौ वैरिसपत्नारिद्विषद्द्वेषणदुर्हृदः" इत्यमरः।
३. अत्राशिषि लिङोऽर्थे लुङ् (पा० ३।३।१७५)॥

सकृत्–एकवारं संगृहीतम्––सम्यग्गृहीतम् । अविकिरन्निति यावत् । लाजानामञ्जलिम् अञ्जलिपरिमितान् लाजान् । भ्रातेत्यनन्तरं "माता' वे"ति शेषः ।। ५ ।।

तꣳसोपस्तीर्णाऽभिघारितमग्नौ जुहोत्यविच्छिन्दत्यञ्जलिम् "इय-न्नार्युपब्रूते" इति ॥ ६ ॥ (म० ब्रा० २।१।२)

उस (भाई द्वारा दी गई लावे की अञ्जलि) को (पूर्वोक्त विधि के अनुसार १-८-३-४) 'उपस्तीर्णाभिघारित' कर अञ्जलि को अलग न करते हुए वधू 'इयं नार्युपब्रूते' आदि मन्त्र से अग्नि में आहुति दे ॥ ६ ॥

तल्लाँजाञ्जलिम् । सा–वधूः । उपस्तीर्णाभिघारितम् । अञ्जलावाज्यं सिक्त्वा[2] लाजान्निःक्षिप्य पुनराज्येनाभिघारितमित्यर्थः । अविच्छिन्दत्यञ्जलिम् । वराञ्जलेर्विच्छेदमकुर्वती । होमप्रकारः शाखान्तरे पठ्यते––

"अङ्गुल्यग्रैर्नं होतव्यं तथाचाञ्जलिभेदतः ।
अञ्जलीवामपार्श्वेन लाजाहोमो विधीयते ॥" इति ।

अत्र होमे मन्त्रमाह––इयमिति । अत्र भाष्यकारः । अनेन वरपठितेन मन्त्रेणेत्यर्थः । इयमिति मन्त्रलिङ्गात् । 'अर्द्धो ह वा एष आत्मनो यज्जाया नामे"ति वाजसनेये ब्राह्मणे पठ्यते अतः शरीरार्द्धेन चेत्क्रियते तर्हि स्वयमेव क्रियत इत्येवमभिधाय––

---

१. भ्राता सोदर्य एकपितृजो (वैमात्रेयो) वा । तदभावे भ्रातृस्थानीयो यः कश्चित् । तथाचाश्वलायनगृह्यसूत्रम् "भ्राता भ्रातृस्थानो वा लाजानावपती"ति । ते चोक्ता गृह्यकारिकायाम्—

"भ्रातृस्थानः पितृव्यस्य मातुलस्य च यः सुतः ।
मातृष्वसुः सुतस्तद्वत्सुतस्तद्वत्पितृष्वसुः ॥" इति ॥

२. अभिघारणञ्चाज्येन शमीपलाशमिश्राणामेव लाजानामन्यथा तन्निषेधात् । तदुक्तं गृह्यासङ्ग्रहे—

"सोमप्रकृतिरेषा हि लाजानाश्रित्य तिष्ठति ।
विरुद्धमाज्यं सोमेन नाभिघारणमर्हति ॥
शमीपलाशमिश्राणां लाजानामभिघारणम् ।
पूर्वाणामुपक्लृप्तानामाचार्यैः कल्पितं यथे"ति । लाजाहोमश्चायं कनिष्ठामूलात्मकसोमतीर्थेन कार्य इतिमुरारिमिश्राः प्राहुः । उक्तवचने—सोमाज्यविरोधे प्रमाणन्तु लाट्यायनीयं सामश्रौतसूत्रमपि "न राजानमालभ्यानुपस्पृश्याप आज्यमालभेरन् । तथाऽऽज्यं राजानं सर्वत्रे"ति । अस्यार्थः—सर्वत्र क्रतुषु । राजानं सोममालभ्य स्पृष्ट्वा अपोऽनुपस्पृश्य हस्तप्रक्षालनमकृत्वाऽऽज्यं घृतं नालभेरन् । तथाऽऽज्यमालभ्यानुपस्पृश्यापो राजानं सोमन्नालभेरन्नस्पृशेयुरिति ॥

"विवाहे यो विधिः प्रोक्तो मन्त्रा दाम्पत्यवाचकाः ।
वरस्तु तान्जपेत्सर्वानृत्विग्राजन्यवैश्ययोः ॥" इति ।

गृह्यासङ्ग्रहवचनं[1] प्रमाणयति । वस्तुतस्तु—सूत्राद्धोममन्त्रपाठयोर्लाघवेनौत्सर्गिकसमानकर्तृकत्वलाभादियं मद्रूपा नारीत्यर्थकतया मन्त्रलिङ्गोपपत्तेश्च वधूकर्त्तृक एव मन्त्रपाठोऽपि । न च स्मृतेः श्रुत्यबाधकत्वान्मन्त्रस्यार्थान्तरकरणं किन्तु सूत्रं ह्येकदेशकीर्त्तनमतस्तत्रैव शेषादिपूरणमवश्यङ्कर्त्तव्यं मन्त्रलिङ्गादिति वाच्यम् । वरपठनीयत्वेऽपि दीर्घायुरस्तु मे पतिरित्यादिमन्त्रलिङ्गस्य परिहर्त्तुमशक्यत्वात् । न च तत्र वरस्यानुवादकत्वं, वध्वाः पूर्वमनुक्तत्वादिति । एवञ्च सकलमैथिलाचारोऽपि सङ्गच्छते । पद्धतिरप्येवं लिखित–(गृ० सं०) वाक्यं विशेषविध्यबोधितपरमतो न विरोध इति मुरारिमिश्राः प्राहुः । मन्त्रो यथा—"इयं नार्युपब्रूतेऽग्नौ लाजानावपन्ती ।

"दीर्घायुरस्तु मे पतिः शतं वर्षाणि जीवत्वे-
धन्तां ज्ञातयो मम स्वाहा" ॥ २ ॥ इति ॥

अस्यार्थः—पतिर्ब्रवीति–'इयं' 'नारी' स्त्री 'उपे' त्यार्ग्नि 'ब्रूते' प्रार्थयते । किङ्कुर्वती 'अग्नौ' 'लाजान्' भृष्टधान्यान् 'आवपन्ती' मर्यादया क्षिपन्ती । किम् ? 'मे' मम 'पतिः' भर्त्ता 'दीर्घायुरस्तु' तदेव विवृणोति—'शतं वर्षाणि जीवतु' । इति । किञ्च 'मम' 'ज्ञातयः' बान्धवाः । 'एधन्ताम्' वर्द्धन्ताम्, धनधान्यपुत्रादिभिः । इदञ्चास्मा अग्नये 'स्वाहा' सुहुतमस्तु ॥ २ ॥ ६ ॥

"अर्यमणन्नु देवं" "पूषणमि"—त्युत्तरयोः ॥ ७ ॥

(म० ब्रा० १।२।३–४)

'अर्यमणं नु देवं' और 'पूषणम्' आदि दो मन्त्र बाद के दो लाजा होम में विनियुक्त हैं ॥ ७ ॥

उत्तरयोर्लाजाहोमयोर्यथा "अर्यमणन्नु देवं" "पूषणन्नु देवम्" इति मन्त्रौ विनियोक्तव्यावित्यर्थः । तौ यथाक्रमम्—

"अर्यमणन्नु देवं कन्या अग्निमयक्षत ।
स इमान्देवोऽअर्यमा प्रेतो मुञ्चातु माऽमुतः स्वाहा" ॥३॥ इति ।

अस्यार्थः—नुशब्दोऽत्र चार्थे । 'कन्याः' कन्यः । 'अर्यमणं' तदाख्यं 'देवम्' अभिमत दानादिगुणयुक्तम् । 'अग्नि' च 'अयक्षत' इष्टवत्यः ।

---

१. कर्तृपदमेतत् ।

(पूजितवत्यः) 'स' च (अर्यमा अग्निश्च) इष्टः सन् 'इमां' कन्यां परिणीयमानाम् । 'इतः' पितृकुलात् 'प्रमुञ्चातु' प्रमुञ्चतु-प्रमोचयतु ! 'मा' न 'अमुतः' अमुष्मात्पतिकुलात् । तदेतत् ताभ्यां 'स्वाहा' सुहुतमस्तु । अत्र पूर्वार्द्धेन विशेषोपसंहार इति गुणविष्णुः । मुञ्चात्विति दीर्घश्छान्दसः । अन्तर्भावितण्यर्थश्चैवमग्रेऽपि (पा० ६।३।१३७) एवमग्रेऽपि ।

"पूषणन्नु देवं कन्या अग्निमयक्षत ।
स इमान्देवः पूषा प्रेतो मुञ्चातु मा पतेः स्वाहाः" ॥ ४ ॥ इति ।

अर्थः प्राग्वत् । अत्र पतेरिति-पतिशब्दो न मुख्यार्थकः[1] । लाजहोमकर्मण आसमाप्तेस्तथात्वाभावादितिगुणविष्णुः ॥ ४ ॥

हुते पतिर्यथेतं परिक्रम्य प्रदक्षिणमग्निं परिणयति मन्त्रवान्वाब्राह्मणः "कन्यला पितृभ्य" इति ॥ ८ ॥ (मं० ब्रा० १।२।५)

इस प्रकार लाजा होम के सम्पन्न होने पर वेदज्ञ ब्राह्मण (मन्त्रवान्) पति ने जिस प्रकार गमन किया था उसी प्रकार (कन्या को आगे लेकर) अग्नि की प्रदक्षिणा कराते हुए पुनः आकर 'कन्यला पितृभ्यः' मन्त्र पढ़कर कन्या को अग्नि की परिक्रमा कराता है ॥ ८ ॥

हुते-वध्वा लाजहोमे[2] कृते पतिः यथेतं यथाऽऽगतं[3] परिक्रम्य पुनरागम्य प्रदक्षिणं यथा भवति पत्नीमग्निं परिणयति परिसर्वतोभावेन नयेत् । अग्निप्रादक्षिण्येन भ्रामयेदित्यर्थः । "कन्यला पितृभ्य" इति-अनेन मन्त्रेण । मन्त्रो यथा—

"कन्यला पितृभ्यः पतिलोकं यतीयमप दीक्षामयष्ट ।
कन्या उत त्वया वयं धारा उदन्या इवाऽतिगाहेमहि द्विषः ॥५॥ इति ।

अस्यार्थः । 'इयं' 'कन्यला' कन्या[4] । 'पितृकुलात्[5] 'पतिलोकं' पति-

---

१. किन्तु-पतिरित्याख्यातः पतिः । "नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीबे पतिते पतौ" इतिवत् । अख्यानणिजन्तात्कर्मणि क्विपि टिपलोपे णिलोपे च कृते "इन्सर्वधातुभ्य" इत्यौणादिकइन् प्रत्ययः । "गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसम्प्रत्ययः" इतिन्यायेन "पतिः समास एवे" (पा० १।४।८) ति नियमो न प्रवर्त्ततेऽत्र ॥

२ हुत इत्येकवचनसम्बन्धादेकस्मिन्नेव लाजाञ्जलौ हुते इत्यर्थः । अन्यथैतदनर्थकं स्यादिति चन्द्रकान्तः ।

३. यथा वध्वाऽनुपृष्ठमितमागमनं कृतं पत्नीदक्षिणास्यान्तथैव ।

४. स्वार्थे लच् । "तद्धिताः" (पा० ४।१।७६) इत्यधिकारसूत्रे बहुवचननिर्देशेनानुक्तेष्टिकन्नादिवदस्याप्यत्यपार्थे स्वार्थे वा विधानानुमानात् ॥

५. पतिलोकमित्येतत्साहचर्यात् बहुत्वमार्षम् ।

गृहं[1] 'यती' गच्छन्ती[2]। 'अपदीक्षां' दीक्षां वर्जयित्वा[3] 'अयष्ट' इष्टवती। दीक्षापदेनाऽत्रवैवाहिकं[4] व्रतमुच्यते। 'उत' अपि च। 'कन्या' हे कन्ये! 'त्वया'[5] सहिता[6] 'वयं' 'द्विषः' शत्रून् कामादीन् 'अतिगाहेमहि' अतिक्रामेमहि[7]। अत्र दृष्टान्तः—'धाराः' जलस्य (सुशीतलाः) कर्त्र्यः 'उदन्याः' [8]पिपासाः कर्म्मभूताः 'इव'। ता (धाराः) यथा ताः (पिपासाः) शमयन्ति तद्वत्॥ ५॥

"यतीयमि"ति मन्त्रलिङ्गान्मन्त्रं पठन्परिणयतीति गम्यते। सोऽयं पतिरञ्जलिमविमुञ्चन्नेव पत्नीम्परिणयतीत्यवोचाम। कस्याञ्चिदापदि पत्युरसामर्थ्ये अन्यो वा मन्त्रवान् अधीतवेदो ब्राह्मणः परिणयति। वाशब्दाज्जघन्योऽयं पक्ष आपत्सु समाद्रियते। अस्मिन्नपि पक्षे पतिरेव मन्त्रं पठति। "त्वया वयं द्विषोऽतिगाहेमही"ति मन्त्रलिङ्गात्। अत्र चाग्निप्रदक्षिणे लाजादीनामपि प्रदक्षिणमुक्तं गृह्यासंग्रहे—

"लाजानाज्यं स्रुवङ्कुम्भं प्राजनाश्मानमेव च।
प्रदक्षिणानि कुर्यातां दम्पती न विनाग्निकम्॥
प्राजग्राहमुदग्ग्राहं तथा ब्रह्माणमृत्युजम्।
एतानि बाह्यतः कृत्वा शेषाणान्तु प्रदक्षिणम्॥
दक्षिणान्दिशमाश्रित्य यमो मृत्युश्च तिष्ठतः।
तयोः संरक्षणार्थाय तस्माद् ब्रह्मा बहिर्भवेत्॥" इति।

लाजादीनाम्प्रदक्षिणङ्कार्यम्। प्राजग्राहादीनान्न कार्यमित्यर्थः॥ एवञ्चाग्निप्रदक्षिणकाले कलशः स्कन्धदेशादवतार्य शुचौ देशे स्थाप्यस्तेन तस्य प्रदक्षिणाऽन्तर्भावः। तद्धारकस्य बहिर्भावश्चोपपद्यत इति ध्येयम्। एवमन्यत्र॥ ८॥

---

१. पतिर्लोक्यते दृश्यते यत्रेत्यर्थाद्गृहमुक्तम्। कुलं गृहमित्यनर्थान्तरम् "कुलं जनपदे गोत्रे सजातीयगणेष्वपि। भवने च तनौ क्लीबमि"ति मेदिन्यभिधानात्॥

२. एतेर्लटः शतरि यण् (पा० ६।४।८१) ङीप्।

३. अपपरी वर्जने भवतः॥

४. गुणविष्णुस्तु–त्रिरात्रमक्षारलवणाशिनावित्यादि व्रतमत्रोक्तवान्॥

५. वर्णव्यत्यय आर्षः। (पा० ३।१।८५)।

६. सहार्थयोगे तृतीया (पा० २।३।१९)।

७. "गाहू विलोडने" (भ्वा० आ०) विलोडनं विनाशः। अतिगाहनमतिक्रमणं विनाशनमित्यनर्थान्तरम्॥

८. "उदन्या तु पिपासा तृट्" इत्यमरः।

परिणीता तथैवाऽवतिष्ठते, तथा क्रामति, तथा जपति, तथाऽऽवपति, तथा जुहोति ॥ ९ ॥

परिणीता (वधू) उसी प्रकार अवस्थान, उसी प्रकार अश्मारोहण, उसी प्रकार मन्त्र पाठ, उसी प्रकार (अञ्जलि में लाजा का) वपन और उसी प्रकार लाजा होम करे ॥ ९ ॥

परिणीता—वधूः । तथैवानुपृष्ठगमनेन दक्षिणस्यामुदङ्मुखाऽवस्थितेन पत्या गृहीताऽञ्जलिः प्राङ्मुखः । अवतिष्ठते–ऊर्ध्वस्तिष्ठति । तथेति । अश्मारोहणादि परिणयनान्तङ्कर्म्म उक्तेनैव प्रकारेण वारत्रयङ्कुर्यात् । जपति–पठति ("पाणिग्राह" इति शेषः) आवपति–अञ्जलौ लाजान् । माता–भ्राता वा ॥ ९ ॥

एवं त्रिः ॥ १० ॥

इस विधि से तीन बार [कार्य] करे ॥ १० ॥

एवमुक्तप्रकारेणानन्तरोक्तं सर्वं त्रि–र्वारत्रयङ्कर्त्तव्यमित्यर्थः । एवञ्च–"इममश्मानमि"ति "कन्यला पितृभ्य"इति च मन्त्रावावर्त्तनीयौ । तत्रान्तरयोर्म्मन्त्रविशेषावुक्तावेवेति ॥ १० ॥

चतुर्थ्यां वेलायाम् ।

शूर्पेण शेषमग्नावोप्य प्रागुदीचीमभ्युत्क्रामयन्ति–"एकमिष" इति ॥ ११ ॥ (म० ब्रा० १।२।६)

[हुत] शेष लावे को सूप में लेकर अग्नि में डाल कर [पूर्व और उत्तर के कोने पर] ईशान कोण में 'एकमिषे' आदि सात मन्त्रों को पढ़कर वधू को सात पग चलावे ॥ ११ ॥

शूर्पेण–शूर्पकुष्ठेन[1] । शेषं–लाजशेषम्[2] । अग्नौ समिद्धे ओप्य[3] प्रक्षिप्य ।

---

१. तथा च पारस्करगृह्यम्–"चतुर्थं शूर्पकुष्ठेने"ति । कुष्टं–जिह्वास्य । तथा च गृह्यासङ्ग्रहे–"यथालाजाञ्जलिर्बध्वा हूयतेऽङ्गुलिपर्वभिः । एवं लाजहविःशेषो हूयते शूर्पजिह्वये"ति । यत्तु शूर्पकोणेनेति चन्द्रकान्तस्तत्र–"अग्रे च विधवा नारी कोणे चैव मृतप्रजा । जुहुयाच्छूर्पकुष्ठेन न चाग्रेण न कोणयोः" इति परिशिष्टान्तरदर्शनात् । सौकर्यार्थमेतत् । एवं हि सर्वेषां लाजानामावापः सुकरो भवति । इतरथा विकीर्णानामनग्नावपि पातः स्यात् ॥

२. अत्रोपस्तीर्णाभिघारितमिति भवदेवभट्टादयः । शेष इति वचनात्सर्वावापोऽवगम्यते । न किञ्चिदवशेष्यमित्यर्थः ।

३. अत्रोप्येति वचनात्तूष्णीमस्य प्रक्षेपः । मन्त्रदेवतयोरनुपदेशात् । तस्मादत्र

शेषहोमङ्कृत्वाऽवस्थितां वधूं[1] प्रागुदीचीमैशानीं दिशम्। अभिवराभिमुखीम्[2]। उत्क्रामयन्ति—दक्षिणपादाङ्गुष्ठमुन्नाम्य वामञ्चानुगमयन्ति[3] "एकमिष" इत्येवमादिभिः सप्तभिर्मन्त्रावयवैः। प्रतिमन्त्रमेकैकः पादन्यास इत्यर्थः। बहुवचनादनियतः कर्त्ता। मन्त्रा यथा—

"एकमिषे विष्णुस्त्वानयतु १ द्वे ऊर्ज्जे वि० २ त्रीणि व्रताय वि० ३ चत्वारि मायोभवाय वि० ४ पञ्च पशुभ्यो वि० ५ षड्रायस्पोषाय वि० ६ सप्तसप्तभ्यो होत्राभ्यो विष्णुस्त्वा नयतु ७ ॥ ६ ॥

अस्यार्थः—हे कन्ये! 'विष्णु'र्विश्वव्यापको नारायणः। 'त्वा' त्वाम् 'इषे' अन्नाद्यर्थलाभाय (नि० २।७।१४८) 'एकं' पदम्। 'आनयतु'। १। एवम् 'उर्ज्जे' बललाभाय[4]। २। 'व्रताय' यज्ञकर्म्मणे[5] (निघं० २।१।१७)। ।३। 'मायोभवाय' सुखप्राप्तये[6]। (निघं० ३।६।७)।४। 'पशुभ्यः' [7]पशुप्राप्तये।५। 'रायस्पोषाय' धनपुष्टयर्थं[8]।६। 'सप्तभ्यो' 'होत्राभ्यः' अच्छावाकादिभ्यः[9]।७। इति ॥ ११ ॥

स्विष्टकृन्निवर्त्तते। इत्थमेव शेषस्योपपत्तेः। तथा च गृह्यान्तरम् "शूर्पपुटेनाभ्यात्मं तूष्णीञ्चतुर्थम्।" इति। अत्र तूष्णीमिति वचनं प्राजापत्यज्ञापनार्थमिति गार्ग्यनारायणः। युक्तञ्चैतत्। "आज्यन्द्रव्यमनादेशे जुहोतिषु विधीयते। मन्त्रस्य देवतायाश्च प्रजापतिरिति स्थितिरि"ति छन्दोगपरिशिष्टात्। "त्रिःपरिणीता प्राजापत्यं जुहोती"ति च गृह्यान्तरम्। तस्माद्वधूः शेषञ्जुहोति वरश्च प्रजापतिं ध्यायतीति सिद्धम्। स्मरन्ति च—"शूर्पाग्रेणैव होतव्यं तूष्णीं निरवशेषतः। तस्मात्तूष्णीन्तु जुह्वत्यां वरो ध्यायेत्प्रजापतिम्।" इति। "प्रजापतिञ्चतुर्थ्यन्तं स्वाहायुक्तं वरः स्मरेत्।" इति चैवमादि। "तस्मादग्नये स्विष्टकृते स्वाहे"ति लाजशेषं जुहुयादिति भवदेवरघुनन्दनादिमतमसङ्गतं, प्रमाणविशेषाभावाच्च। एतदनन्तरं वामदेव्यगानम् इति सरलाकारकल्पनायामपि प्रमाणान्तरन्नपश्यामः। "वामदेव्यं गणेष्वन्ते" इति कर्म्मप्रदीपविरोधात्॥

१. एकउपपत्तये स्थितमित्यध्याहृतं वेदितव्यम्॥

२. वरन्तिर्यक्पश्यन्ती पृष्ठतोऽग्रे। पादप्रक्षेपङ्कुर्यात्। इति भावः।

३. पश्चात्प्रक्षेपयन्ति। अत्रायमाशयः। वामाङ्गी जाया सा सर्वदा पश्चात्पत्युरवतिष्ठेत। इत्येतया दृष्टान्तभूतयाऽऽवृत्तेति।

४. "ऊर्जबलप्राणनयोः" (चु० प०) क्विप्॥

५. तथा च निरुक्तम् "व्रतमिति कर्म्मनाम वृणोतीति सतः" इति (२।१३।८)॥

६. मय इति सुखनाम (निघं० ३।६।७) दीर्घ आर्षः। (पा० ६।३।१३७) मा यसो। भवनं मायोभवः। भवतेः "ऋदोरप्" (पा० ३।३।५७)। इति भावेऽप्प्रत्ययः॥

७. तादर्थ्ये चतुर्थी (पा० १।४।४४ वा०) तादर्थ्यमुपकार्योपकारकभावः।

८. रै इति धननाम (निघं० २।१०।१६) ततः षष्ठी। पोषणं पोषो घञ्॥ षष्ठ्याः पतिपुत्र०" (पा० ८।३।४३) त्यादिना सत्वम् "अर्थ रै विभवाअपी"त्यमरोऽपि॥

९. होत्राशब्द ऋत्विग्वाचीति "होत्राभ्यश्छन्दसी" (पा० ५।१।१३५) ति सूत्रे वृत्तिकृतः प्राहुः॥

दक्षिणेन प्रक्रम्य सव्येनानुक्रामेत् ॥ १२ ॥

पहले दहिने पैर को चलावे फिर बाएँ पैर को [आगे कर के चलावे] ॥१२॥

दक्षिणेन–पादेन। प्रक्रम्य–गत्वा। अनु–पश्चात्। सव्येन–वामेन। क्रामेत्। गच्छेत्। क्रममाणा सव्यं [1]पादमग्रतो न कुर्यात्। इत्यर्थः ॥१२॥

ताञ्च क्रामन्तीं पतिः—

"मा सव्येन दक्षिणमतिक्रामे"ति ब्रूयात् ॥ १३ ॥

पति कहे कि 'बाएँ पैर से दक्षिण पग आक्रान्त न हो' (अर्थात् बायां पैर आगे न रक्खे) ॥ १३ ॥

विशेषः—यहाँ पद्धतिकार के अनुसार 'सखा सप्तपदी भव' आदि (मं० ब्रा० १. २. ७) मन्त्र का विनियोग है। यही सप्तपदी गमन है ॥ १३ ॥

अत्र "पतिर्वधूमि"ति शेषः। सव्येन–वामेन। दक्षिणं–पादं माऽतिक्राम। अग्रतो वामपादम्मा कार्षीरित्येवं ब्रूयात्। अत्र "सखा सप्तपदी भवे"ति मन्त्रस्याशंसने पद्धतिकृता विनियोग उक्तः। युक्तः। युक्तश्च तथा मन्त्रलिङ्गात्। इतिमुरारिमिश्राः शुभकर्म्मनिर्णये प्राहुः। मन्त्रो यथा—

"सखा सप्तपदी भव सख्यन्ते गमेयम्। सख्यन्ते मा जोषाः। सख्यन्ते मायोष्ठचाः ॥ ७ ॥ (मं ब्रा० १।२।७) इति।

अस्यार्थः–पतिः कन्यां प्रार्थयते—हे कन्ये! त्वं मम 'सखा' सखी[2] सती 'सप्तपदी' सप्तपदाऽऽक्रान्तेष्वर्थेषु सहचारिणी 'भव' अहं 'ते' तव [3]'सख्यं' मैत्रीं 'गमेयं' तव सखा[4] भवेयमित्यर्थः। किञ्च 'ते' तव। मया सह यत् 'सख्यं' तत् अन्याः 'योषाः' स्त्रियः। ते सपत्न्यः 'मा' "छिन्दन्तु" इति शेषः। किञ्च 'मायोष्ठचाः'[5] सुखकारिण्यः स्त्रियः। 'ते' त्वया[6] सह। 'सख्यं' "कुर्वन्त्विव–"ति शेषः ॥ ७ ॥ १३ ॥

---

१. सव्यपादस्याग्रे निधानं गमने स्त्रीस्वभाव इति प्रतिषिध्यते ॥

२. "सख्यशिश्वीति भाषायाम्" (पा० ४।१।६२) इति स्मरणाद् वेदे सखेत्येव भवति ॥

३. "सख्युर्यः" (पा० ५।१।१२६) इति भावे यप्रत्ययः।

४. अत्र "लिङ्याशिष्यङ्" (पा० ३।१।८६) इत्यङागमः। अत्र गमेयमित्युक्त्यास्व-व्रिरुद्धं नाचरेयमित्यपि गम्यते ॥

५. मय एव मायः। सुखम् (निघं० ३।६।७) दीर्घ आर्षः। (पा० ६।३।१३७) तस्य स्थानं मायोष्ठम्। तत्र भवा मायोष्ठ्याः। "भवेच्छन्दसि" (पा० ४।४।११०) इति यत्प्रत्ययः ॥

६. तृतीयार्थे षष्ठी (२।३।६८) बाहुलकात्।

ईक्षकान्प्रतिमन्त्रयेत "सुमङ्गलीरियं वधूरि-"ति ॥ १४ ॥

(म० ब्रा० १।२।८)

इसके बाद पति 'सुमङ्गलीरियं वधूः' आदि मन्त्र पढ़कर आए हुए प्रेक्षकों से आशीर्वाद की प्रार्थना करे ॥ १४ ॥

ईक्षकान्-वधूं प्रेक्षितुमागतान् । प्रतिमन्त्रण-मनुमन्त्रण-मित्यनर्थान्तरम् । तच्चाप्रेक्षकानवलोकयता कर्त्तव्यम् । योग्यत्वात् । तदाह कर्म्मप्रदीपः—

"स्पृशन्ननामिकाग्रेण क्वचिदालोकयन्नपि ।
अनुमन्त्रणीयं सर्वत्र सदैवाऽनुमन्त्रयेत् ॥ इति । मन्त्रो यथा—

"सुमङ्गलीरियं वधूरिमां समेत पश्यत ।
सौभाग्यमस्यै दत्त्वायाथास्तं विपरेतन ॥" ८ ॥ इति ॥

अस्यार्थः—हे प्रेक्षकाः ! 'इयं वधूः' 'सुमङ्गलीः'[1] प्रशस्तमङ्गलवती परिणीता यतोऽतो यूयं 'समेत' समागच्छत । समागत्य च 'इमां' 'पश्यत'। 'अथ' अनन्तरम् । 'अस्यै' वध्वै 'सौभाग्यं' सुभगात्वं 'दत्त्वाय' दत्त्वा । [2]यूयम् 'अस्तं' स्वगृहम् (निघं० ३।४।७) 'विपरेतन' विपरेत[3] । गच्छत । यद्वा दत्त्वा-याथ । यात[4] 'नविपरेत' विमुखतया न परा-इत (नापगच्छत) किन्तु-पुत्रादिमङ्गलमाशास्य पुनरागमनाय व्रजतेत्यर्थः ॥ ८ ॥ १४ ॥

अपरेणाग्निमौदकोऽनुसंव्रज्य पाणिग्राहं मूर्द्धदेशेऽवसिञ्चति । तथेतरां "समञ्जन्त्वे"-त्यर्चा॥ १५॥ (म० ब्रा० २।२।९)

फिर उदककुम्भयुक्त कोई व्यक्ति अग्नि के पश्चिम भाग में आकर वर के शिर पर जल डालकर स्नान करावे तथा इसी प्रकार कन्या को भी स्नान करावे, और वे दम्पति 'समञ्जन्तु' आदि मन्त्र पढ़ें ॥ १५ ॥

अपरेणाऽग्निम्[5] । अग्नेः पश्चिमया दिशा । औदक उदककलशधारी [6]पुरुषः । अनुसंव्रज्य संवृतगतिरेत्य "सप्तपदीस्थानमि"ति भवदेवभट्टः । पूर्वावस्थितः । पाणिग्राहं वरं मूर्द्धदेशे शिरसि । अवसिञ्चति-अभिषिञ्चति

---

१. "छन्दसीवनिपौ च वक्तव्यौ" (पा० ५।२।१२२) इति मत्वर्थे ईप्रत्ययः ।
२. "स्को यक्" (पा० ७।१।४७) इति यगागमः ।
३. "तप्तनप्तनथनाश्च" (पा० ७।१।४५) इति तस्य तनबादेशः ।
४. तस्य थः (पा० ७।१।४५) ।
५. एनबन्तयोगेऽत्र द्वितीया (पा० २।३।३१) षष्ठ्यर्थे ॥
६. गृहीतोदकुम्भ एव । शैषिकोऽत्राण् । (पा० ४।२।९२) तद्वहतीत्यर्थे ॥

कलशस्थाभिर्ध्रुवाभिरद्भिः। तथा–तेनैव प्रकारेण इतरां–वधूमप्यभिषिञ्चतीत्यर्थः तत्र मन्त्रमाह—"समञ्जन्त्वि"ति एतयर्चा वरपठितया। मन्त्रलिङ्गात्। नहि नौ आवयोर्हृदयानि समञ्जन्त्वेकीकुर्वन्त्वित्येतन्मन्त्रलिङ्गमौदकपठनीयत्वे सङ्गच्छते। इति कौमुदी–नारायण–शूलपाणिप्रभृतयः। पद्धतिकृतस्तु–अवसेचनमपि वरकर्तृकमेव लिखन्ति। तेषामयमाशयः—क्रियाकरणयोः समानकर्त्तृकत्वे सम्भवति भिन्नकर्त्तृकत्वं न युज्यते इत्यवसेचनमपि वरकर्त्तृकमेव। नच सूत्रविरोधः। सूत्रं हि दिगुन्नायकमतस्तत्र शेषादिकल्पनेनापि सार्वसामञ्जस्यात्। तथाहि औदको गत्वा (तिष्ठति। स्वं) प्राणिग्राहोऽवसिञ्चति। यद्वा–औदकोऽवसेचयति तदनुकूलक्रियायाः प्रयोजको भवति। अवसेचने स्वतन्त्रः कर्त्ता वर एव प्रकरणान्मन्त्रलिङ्गाच्चेति। होरिलोऽप्येवम्" मन्त्रो यथा—"समञ्जन्तु विश्वेदेवाः समापो हृदयानि नौ।

सम्मातरिश्वा सन्धाता समुदेष्ट्री दधातु नौ" ॥ ६ ॥ इति।

अस्यार्थः–हे कन्यके! 'विश्वे' सर्वे 'देवाः'। यद्वा "विश्वेदेवा दश स्मृताः" इत्यभिधानाद्गणदेवताभेदाः 'नौ' आवयोः 'हृदयानि' हृदये ('मनसी) 'समञ्जन्तु' शोधयन्तु (अकलुषीकुर्वन्तु[2] 'आपः' जलानि। तदधिष्ठात्र्यो देवताः 'सं' समञ्जन्तु। "उपसर्गबलाद्योग्यक्रियाऽध्याहार इति नियमात्। एवमग्रेऽपि अत्रापि कर्म्म त एव (हृदये)। एवम् 'मातरिश्वा' वायुः[3]। 'सं' 'दधातु'[4]। तथा 'धाता' प्रजापतिः 'सं' दधातु। 'देष्ट्री' धर्म्मांद्युप[5] देष्ट्रा–(वाग् देवता) 'सं' दधातु। सुस्थिते करोतुः। अत्र नौ इति पुनः प्रयोग आदरार्थः। उः पादपूरणः यद्वा पलोप एवार्षः (पा० ३।१।८५) ॥ इति ॥ ६ ॥

ऋगेषा पुरस्तादपि (२।१।१८ सूत्रे) उपात्ता पद्धतिक्रमेण। स एष पुनरुपन्यासोऽस्या वरस्यानेन कन्याऽभिमुखीकरणाय। येन पश्चाद्वरो नानुतपेत्। अतएवात्रापि कन्यावरयोः सम्मुखीकरणं पद्धतिषूक्तम् ॥ अत्र वरवध्वोरभिषेकमन्त्रस्याभ्यासः। "तथेतरामि"ति भेदेनोपन्यासादितरथा

---

१. औङ शस् व्यत्ययेन। (पा० ३।१।८२) "चित्तन्तु चेतो हृदयं स्वान्तं हृन्मानसं मनः' इत्यमरः॥

२. सम्मेलयन्त्वित्यके प्राहुः। उपस्नेहयन्त्वित्यपरे। "अञ्जूव्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु" [रु० प०]" लोट्॥

३. "श्वसनः स्पर्शनो वायुर्म्मातरिश्वा सदागतिरि"त्यमरः।

४. व्यवहितोपसर्गप्रयोगः (पा० १।४।८२) आर्षः॥

५. उपसर्गेण धातुरिव धातुनोपसर्गोऽप्यध्याहार्य इति।

समासः स्यात्। तथाच सूत्रान्तरम्—"भेदे मन्त्रावृत्तिः सम्पादितत्वादि"ति। तथा चोक्तम्—"कर्म्मावृत्तौ तु मन्त्रस्याप्यावृत्तिर्गृह्यकर्म्मणि" इति। गृह्यासंग्रहे—

"अभिषिक्तन्तु विधिना पाणिग्राहन्तु प्राजनी।
रक्षार्थमानुगच्छेत सप्ताहन्त्र्यहमेव वा॥" इति॥

प्राजनी—प्राजन—(प्रतोद—) वान्। पूर्वन्निर्द्धारितः स्वङ्कार्यमिदमनुतिष्ठेदित्यर्थः। मत्वर्थ इनिः। (पा० ५।२।११५)॥ १५॥

अवसिक्तायाः सव्येन पाणिनाऽञ्जलिमुपोद्गृह्य दक्षिणेन पाणिना दक्षिणम्पाणिꣳसाङ्गुष्ठमुत्तानङ्गृहीत्त्वैताः षट् पाणिग्रहणीया जपति "गृभ्णामि ते" इति॥ १६॥

(मं० ब्रा० १।२।१०–१५)

पति जल से सिक्त वधू की अञ्जलि को अपने बाएँ हाथ से पकड़ कर अपने निकट कुछ ऊपर उठाकर अपने दाहिने हाथ से उसके अँगूठे सहित उतान दाहिने हाथ को पकड़ कर पाणिग्रहण के अर्थावबोधक 'गृभ्णामि ते' आदि इन छः मन्त्रों को पढ़े॥ १६॥

अत्र सेकस्थानस्थाया एवाञ्जलिग्रहणप्राप्त्यर्थमवसिक्ताया इति निर्देश इति भाष्यकृतः। अवसिक्तायाः कृताभिषेकायाः। उपेति सामीप्ये। तथाच मणिबन्धप्रदेशे उत्तानं गृहत्वेत्यर्थः।[1] पाणिग्रहणीयाः पाणिग्रहणकर्म्मणि नियुक्ताः[2]। जपति—प्रकृतत्वाद्वरः। "गृभ्णामित"इत्यादिका ऋचः। ता यथा—

"गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः।
भगो अर्यमा सविता पुरन्धिर्म्मह्यन्त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः"॥ १०॥

हे कन्ये ! 'ते' तव 'हस्तं' साङ्गुष्ठं करमहं 'गृभ्णामि' गृह्णामि[3]। 'यथा' येन हस्तग्रहणप्रकारेण। 'पत्या' 'मया' सह त्वं 'जरदष्टिः'[4]जर-

---

१. "उत्तानेनोत्तानं गृह्णाति। नीचेन चोत्तानम्" इति शाखान्तरदर्शनात्। अत्रोत्तानेनेति सव्याभिप्रायं, नीचेनाधो वनतेनेति दक्षिणाभिप्रायम्। तथाच सव्येन करस्य पृष्ठग्रहणं प्रतीयत इति रघुनन्दनवर्णनं शोभनमेव।

२. पाणिग्रहणार्थबोधिका इति यावत्। शैषिकश्छस्तस्येयादेशः॥

३. "हृग्रहोर्भश्छन्दसि" (पा० ३।१।८४ वा०) इति हस्य भत्वम्।

४. बहुवर्षायुष्मती वृद्धा। जरन्तं जरात्वम्। (वृद्धात्वम्) अश्नोतीति क्तिच्संज्ञायाम्। (३।३।१७४) शस्य षत्वं ष्टुत्वं च।

च्छरीरा 'आसः' भवेः[1]। हस्तग्रहणे कुतस्तवाधिकार इत्याकाङ्क्षायामाह– 'भग' [2]इत्यादयः'देवाः' 'त्वा' त्वाम्'मह्यम्' 'अदुः' दत्तवन्तः। किमर्थम् ! 'गार्हपत्याय' गृहस्वामित्वाय। भाविगार्हस्थ्यं सेवितुं वा। गार्हपत्याग्निसेवार्थं वा। किञ्च 'सौभगत्वाय' सुभगानां समूहः सौभगं तस्याभावः सौभगत्वम् तस्मै (तदर्थम्) निरतिशयानन्दावाप्तये। इत्यर्थः। यद्वा–किमर्थं हस्तं ते गृह्णामि ? सौभगत्वाय सुभगात्वाय। (सौभाग्याय) मया गृहीतहस्तायास्ते सुभगात्वं–सुवासिनीत्वं भविष्यतीति स्वार्थेऽत्राण्प्रत्ययः॥१६॥

"अघोरचक्षुरपतिघ्न्येधि शिवा पशुभ्यः सुमनाः सुवर्च्चाः।
वीरसूर्जीवसूर्देवकामा स्योना शन्नो भव द्विपदे शञ्चतुष्पदे"॥ ११॥

अस्यार्थः—हे कन्यके ! त्वम् 'अघोरचक्षुः' सौम्यदृष्टिः। अपापदृष्टिर्वा। 'अपतिघ्नी'जीवभर्तृका च 'एधि'भव। एतस्मात्संस्कारात्। एवं 'पशुभ्यः' गवादिभ्योऽस्मदाश्रितेभ्यः 'शिवा' हितैषिणी भव। 'सुमनाः' सुप्रसन्नचित्ता। 'सुवर्च्चाः' उज्ज्वलरूपा (वस्त्रालङ्कारादिभिः) 'वीरसूः' सुपुत्रजननी। 'जीवसूः' अमृतप्रजा। 'देवकामा' देवानग्न्यादीन्कामयतेऽभिलष्यति परिचरणाय। सा तथाभूता। यद्वा–देवनं देवः क्रीडा। तत्कामा। 'स्योना' सुखकरी (निघं० ३।६।१५) त्वं 'नः' अस्माकं 'द्विपदे' भृत्यादिपोष्यवर्गाय[3]। तथा 'चतुष्पदे' पशुवर्गाय। 'शं' सुखहेतुर्भव' ॥ ११ ॥ इति ॥

"आ नः प्रजां जनयतु प्रजापतिरा जरसाय समनक्त्वर्यमा।
अदुर्मङ्गलीः पतिलोकमाविश शन्नो भव द्विपदे शञ्चतुष्पदे"॥ १२॥

अस्यार्थः––'प्रजापतिः' स्रष्टा (ब्रह्मा) 'नः' अस्माकम् 'प्रजाम्' पुत्रपौत्रादिरूपाम्। 'आ जनयतु[4]' समन्तात् उत्पादयतु। 'आ जरसाय' जरापर्यन्तम्[5]। अथ 'अर्यमा' देवः 'समनक्तु' प्रकटगुणां करोतु तामेव प्रजाम्॥ हे कन्यके ! 'मङ्गलीः' मङ्गल्यो मङ्गलवत्यो देवताः। 'त्वा' त्वां, मह्यम् 'अदुः' दत्तवत्यः। सायणस्तु–अदुर्मङ्गलीः। दुर्मङ्गलरहिता सुमङ्गलीस्त्व-

१. व्यत्ययश्छान्दसः।

२. अत्र भगोऽर्यमा इत्यसन्धिः (पा० ६।१।११५) प्रकृतिभावात्॥

३. व्यवहितोपसर्गप्रयोगश्छान्दसः (पा० १।४।८२)।

४. व्यत्ययेन पञ्चम्यर्थे चतुर्थी। (पा० ३।१।८५) "शरदादित्वात्" (पा० ५।४।१०७) टच्समासान्तः। "जराया जरश्चस्व" (ग० सू०) इति टच्सन्नियोगेन जरसादेशः।

५. मत्वर्थे ई प्रत्ययः (पा० ५।२।११२ वा०) छान्दसः। "दीर्घाज्जसि च" 'वा च्छन्दसि' (पा० ६।१।१०५-६) इति वा पूर्वसवर्णदीर्घः।

मिति व्याचख्यौ । (ऋ० सं० ८।३।२८।३)। अतस्त्वम् । 'पतिलोकम्' पतिगृहम् । 'आविश' प्राप्नुहि । अथ च 'नः' अस्माकं 'द्विपदे' चतुष्पदे' च 'शं' भवेत्युक्तार्थकम् ॥ १२ ॥

"इमान्त्वमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रां सुभगां कृधि ।
दशास्यां पुत्रानाधेहि पतिमेकादशं कृधि ॥ १३ ॥

अस्यार्थः—हे 'इन्द्र' ! 'त्वं' 'मीढ्वः' सेचकः । (निषेक्ता) रसाधिष्ठातृत्वात्[1] । 'इमां' वधूं 'सुपुत्रां' शोभनपुत्रवतीं 'सुभगां' सौभाग्यवतीञ्च 'कृधि' [2]कुरु । किञ्च 'अस्यां' वध्वां 'दश' दश संख्याकान् 'पुत्रान्' 'आधेहि' गर्भीकुरु । 'पतिं' भर्त्तारञ्चास्या माम् 'एकादशम्' एकादशानां संख्यानां पूरकम्[3] 'कृधि' कुरु ॥ १३ ॥ इति प्रार्थ्यते ।

"सम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वश्र्वाम्भव ।
ननान्दरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधि देवृषु ॥ १४ ॥

अस्यार्थः—हे कन्ये ! त्वं 'श्वशुरे' पत्युर्मम पितृविषये 'सम्राज्ञी' प्रधान सुवासिनी[4] 'भव' । एवं 'श्वश्र्वां' श्वश्रूविषये 'सम्राज्ञी' उक्तवदर्थिका 'भव' आदरार्थे पुनर्वचनम् । तथा 'ननान्दरि' पत्युर्म्मम भगिन्याम् । 'सम्राज्ञी भव' एवं 'देवृषु' देवरेषु[5] 'अधि' अधीश्वरीसती[6] 'सम्राज्ञी' भव ॥ १४ ॥

"मम व्रते ते हृदयन्दधातु मम चित्तमनु चित्तन्तेऽस्तु ।
मम वाचमेकमना जुषस्व बृहस्पतिस्त्वा नियुनक्तु मह्यम्" ॥१५॥

अस्यार्थः—हे कन्यके ! 'बृहस्पतिः' सुरगुरुः (मेधाधिपतिः) 'मम' पत्युः 'व्रते' परिचरणकर्म्मणि[7] । 'ते' तव 'हृदयं' मनः 'दधातु' स्थापयतु ।

---

१. इन्द्रो ह्यपां पतिः । आप एव हि वीर्यभावमापद्यन्ते—इति पदार्थतत्त्वविदः प्राहुः ॥ मीढ्व इति "दाश्वान्साह्वान्मीढ्वांश्च" (पा० ६।१।१२) इति क्वस्वन्तो निपातोऽयम् । "मतुवसोरुसम्बुद्धौ छन्दसि" (वा० ८।३।१) इति रुत्वम् ।

२. "कःकरत्करतिकृधी" (पा० ८।३।५०) त्यादिना निपातितोऽयम् । एवमग्रेऽपि ॥

३. "तस्य पूरणे डट्" (पा० ५।२।४८) इति डटि टिलोपः । (पा० ६।४।१४४) ॥

४. प्रधानतयाऽन्याभ्यः सविशेषं परिचर ।

५. "श्यालाः स्युर्भ्रातरः पत्न्याः स्वामिनो देवृदेवरौ". इत्यमरः ॥

६. अत्र "अधिरीश्वरे" (पा० १।४।९४) इत्यधेः कर्म्मप्रवचनीयसंज्ञायां तद्योगे "यस्मादधिकं यस्य चेश्वरवचनं तत्र सप्तमी" (पा० २।३।९) इति सप्तमी । यस्येति षष्ठ्या हि—अत्र निरूपितत्वं निष्ठत्वं च सम्बन्धोऽर्थः । ईश्वरे इति भावप्रधानो निर्देशः । "घ्यकयोरि"–(पा० १।४।२२) ति वत् । तथाच यन्निरूपितं यन्निष्ठञ्चैवैश्वर्यमुच्यते तत्र सप्तमीत्यर्थः । एवञ्च देवपदात्सप्तम्या तेषान्तस्याश्च परस्परमाधिपत्यं गम्यते । तेन च सविशेषस्सद्भाव उक्तोभवति मन्त्रदृशा । तथाच वृत्तिकृद् वचनम् "ऐश्वर्ये तु स्वस्वामिभ्यां पर्यायेण सप्तमी"ति ॥

७. तथाच निरुक्तम् "व्रतम्" इति कर्म्मनाम (निघं० २।१।७) वृणोतीति सतः" इति ॥

'मम चित्तमनु' मच्चित्तानुकूलं 'ते' तव 'चित्तं' मनः 'अस्तु' भवतु। 'एकमनाः' अनन्यचित्ता त्वम् 'मम वाचं' 'जुषस्व' सेवस्व[1]। हृष्टचित्ताऽऽदरेण कुरु। 'त्वा' त्वां स 'मह्यम्' मदर्थं (माम्प्रसादयितुम्) 'नियुनक्तु' नियोजयतु अन्तर्भावितण्यर्थो युजिरत्र ।। इति ।। १५ ।।

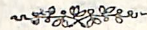
समाप्तासूद्वहन्ति[2] ॥ १७ ॥

इति श्रीमद्गोभिलीये गृह्यसूत्रे द्वि० प्र० स्य द्वितीया कण्डिका ।।२।।२।।*।।



[पाणि ग्रहण की क्रियाओं के] समाप्त होने पर [वधू के आत्मीय जन रथ आदि पर चढ़ाकर] वर-वधू को उसके घर पहुँचावे ॥ १७ ॥

॥ इस प्रकार गोभिल गृह्यसूत्र के द्वितीय प्रपाठक के द्वितीय कण्डिका की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत 'अनाकुला' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ १ ॥



समाप्तासु पाणिग्रहणक्रियासु वरसहाया वधूं विद्यादिसम्पन्नं ब्राह्मणकुलं यन तत्र उद्वहन्ति--उद्वहेयुर्नयेयुरित्यर्थः। तथाच गृह्यासंग्रहे--

"यत्र विद्या च वृत्तञ्च सत्यं धर्म्मः शमो दमः।
अभिरूपः स विज्ञेयः स्वाश्रमे यो व्यवस्थितः।।" इति।

अभिरूप इत्यस्य स्थाने "अभिवादे" इतिपठित्वा अभिवादे--प्रशस्तक्रियाया"मुपग्राह्य" इति शेष इति चन्द्रकान्तभाष्ये व्याख्यानम् तदेतदुत्तरसूत्राननुगुणम् ।। यदेतदुत्तरसूत्रमेव स्पष्टयिष्यति। अत्र समाप्तासु--इत्यभिधानादत्रैव पाणिग्रहणक्रियायाः परिसमाप्तिरत्रैव च तन्त्रसमापनम्। दक्षिणा च गौरेव। उत्तरविवाहान्ते तथाऽभिधानात् ।। १७ ।।

इति श्रीमद्गोभिलीयगृह्यसूत्रव्याख्यायां "मृदुला"ख्यायां मुकुन्दशर्म्मसङ्कलितायां द्वितीयप्रपाठकस्य द्वितीया कण्डिका ।। २।२ ।। * ।



---

१. "जुषीप्रीतिसेवनयोः" (तु० आ०) लोट् आशंसायाम् विधौ वा ॥

२. अत्र मुद्रितपुस्तकेषु बहुषु एवं पाठदर्शनादित्थमेव धृतम्। भट्टभाष्ये-शुभकर्म्मनिर्णये च "उद्वहन्ती" त्युत्तरकण्डिकाया अङ्गमेव पठ्यते। तथाच "समाप्तासु" इत्येतदनन्तरम् "तत्र समापयेत्" इतिवाक्यशेषः कार्यः। तत्त्वकारेण तु समस्तमेवेदं सूत्रमुत्तरसूत्रेण सहैकत्र लिखितम्। एवञ्च भट्टादिमते "समाप्तास्वि" त्येतदनन्तरमेव कण्डिकासमाप्तिरिति बोध्यम् ॥

अथ तृतीया कण्डिका

(अथोत्तरविवाहप्रारम्भः)

प्रागुदीच्यान्दिशि यद्ब्राह्मणकुलमभिरूपम् ॥ १ ॥

[यदि घर दूर हो तो] पास के ईशान कोण [पूर्व-उत्तर के कोने] के किसी तपःस्वाध्याय युक्त ब्राह्मण के घर में [अग्नि का स्थापन करे] ॥ १ ॥

प्रागुदीच्याम्—[1] ऐशान्याम् ब्राह्मणकुलम्—ब्राह्मणगृहम्। "कुलञ्जन-पदे गोत्रे सजातीयगणेष्वपि। भवने च तनौ क्लीबम्" इति मेदिनी" अस्योत्तरेण सम्बन्धः। तपः स्वाध्यायव्रतादिभिरभिरूपं—[2] रमणीयम्। "अभिरूपो बुधे रम्ये" इति मेदिनी। अत्राभिरूप्यं ब्राह्मणाकुलं विशिषदस्य गुणो भवति। स चेदुपादीयमानः प्रधानमुपरुणद्धि, गुणत्वमस्य नावक्ल्पते। गुणोहि प्रधानमुपकर्त्तुं व्याप्रियते नैतदुपरोद्धुम्। अतएव वेद्यामेवान्ततः कर्म्म कर्त्तव्यम्। कर्म्मणः प्रधानत्वात्। तथाच गृह्यान्तरम्—"अथोत्तर-विवाहः प्रागुदीच्यामन्यत्र[3] वा ब्राह्मणकुले मन्त्रवति, वेद्यां वा" इति। अस्मादप्यवगम्यते। प्रभृति "उत्तरविवाह" समाख्यं कर्म्मेति ॥ १ ॥

अत्राग्निरुपसमाहितो भवति ॥ २ ॥

यहाँ [ब्राह्मण के घर में] विधिपूर्वक [वैवाहिक] अग्नि का स्थापन करे ॥ २ ॥

अत्रोक्तविधे ब्राह्मणकुले। उपसमाहितः—लक्षणं कृत्वा स्थापितः। लक्षणं कृत्वेति सूत्रशेषतयैव केचित्पठन्ति। वेद्याञ्च करणे प्रधानमात्रस्यैव कर्त्तव्यता, आवृच्च तन्त्रेणैव स्यात् "गणेष्वेकम्परिसमूहनमि-"ति वच-नात्। एवञ्च वेद्याङ्करणपक्षे एतस्यापि कर्म्मणोऽनन्तरमेव मन्त्रसमापनं न तु पाणिग्रहणकर्म्मणः परत एवेति बोध्यम् ॥ २ ॥

अपरेणाऽग्निमानडुहं रोहितञ्चर्म्म प्राग्ग्रीवमुत्तरलोमास्तीर्णम्भवति ॥३॥

अग्नि के पश्चिम भाग में लाल वृषभ के चर्म को लेकर ऐसा बिछावे कि जिसके लोमपृष्ठ ऊपर को हों, पूर्व-पश्चिम लम्बे चमड़े का शिरोभाग पूर्व में हो तथा नीचे का हिस्सा पश्चिम में होवे ॥ ३ ॥

---

१. अत्र "दिङ्नामान्यन्तराले" (पा० २।२।२६) इति समासेन प्रागुदीच्योरन्तरालं या दिक् तस्यामित्यर्थः।

२. अभिलक्ष्यं रूपमस्येति विग्रहः॥

३. उक्त विध्युक्तब्राह्मणगृहे। तदलाभे वेद्यामपीत्यर्थः॥

अपरेणाऽग्निम् । अग्नेः पश्चात् । आनडुह–वार्षभ रोहित लोहितवर्णं[1], तदभावेऽन्यदपि "गुणलोपो न प्रधानस्ये–"ति न्यायात् । चर्म्म–शुष्कम् । प्राग्ग्रीवम्–पूर्वशिरस्कम् । उत्तरलोम–उत्तरे उपरिष्टाल्लोमानि सन्त्यस्येति तथाविधं यथा भवति तथा । आस्तीर्णं प्रसारितम्भवति । उपवेशनार्थं वध्वाः । कर्त्तुरनियमः ॥ ३ ॥

तस्मिन्नेनां वाग्यतामुपवेशयन्ति ॥ ४ ॥

उस आस्तृत चर्म पर उस वधू को मौन कराकर बैठावे ॥ ४ ॥

तस्मिश्चर्म्मणि । एनां वधूं वाग्यतां–नियमितवचनाम् । (कृतमौनाम्) उपवेशयन्ति । य एव केचित्कन्यापक्षीयाः ॥ ४ ॥

सा खल्वास्त एवानक्षत्रदर्शनात् ॥ ५ ॥

वह वधू [अस्तमित सूर्य के बाद] एक भी] नक्षत्र के दिखने तक बैठी रहे ॥ ५ ॥

स वधूः । नक्षत्रदर्शनं यावदुपविष्टैव तत्र तिष्ठेत् । अन्यत्रात्ययिकादित्यर्थः । एवशब्दादधुनाऽपीत्यर्थ इति भाष्यकारः । दिवा विवाहविषयमेतद्वचनम् ॥ ५ ॥

प्रोक्ते नक्षत्रे षडाज्याहुतीर्जुहोति "रेखासन्धिष्वे"–तत्प्रभृतिभिः ॥६॥

(मं० ब्रा० १।३।१—६)

मेघाच्छन्न होने से यदि उदित भी नक्षत्र न दीख पड़े तो 'रेखासन्धिषु' आदि छः मन्त्रों द्वारा आज्य की आहुति देनी चाहिए ॥ ६ ॥

प्रोक्ते–इति । केनापि नक्षत्रमुदितमित्युक्ते इत्यर्थः । अत्राज्यतन्त्रविहितो महाव्यावृतिहोमः पुरस्ताच्चोपरिष्टाच्च भवति । आज्यभागौ स्विष्टकृच्च न भवन्तीत्यवगन्तव्यम् ॥ ६ ॥

मन्त्रा यथा—

"रेखासन्धिषु पक्ष्मस्वावर्त्तेषु च यानि ते ।
तानि ते पूर्णाहुत्या सर्वाणि शमयाम्यहꣳस्वाहा ॥ १ ॥
"केशेषु यच्च पापकमीक्षिते रुदिते च यत् । ,, ,, ॥ २ ॥
"शीले यच्च पापकस्भाषिते हसिते च यत् । ,, ,, ॥ ३ ॥
"आरोकेषु च दन्तेषु हस्तयोः पादयोश्च यत् । ,, ,, ॥ ४ ॥
"ऊर्वोरुपस्थे जङ्घयोः सन्धानेषु च यानि ते । ,, ,, ॥ ५ ॥

---

१. "रोहितो लोहितो रक्तः" इत्यमराद्रक्तवर्णमित्यर्थः ॥ एष आधारो युगान्तरविषयः ।

"यानि कानि च घोराणि सर्वाङ्गेषु तवाभवन् ।
पूर्णाहुतिभिराज्यस्य सर्वाणि तान्यशीशमꣳ स्वाहा ॥ ६ ॥

एषामर्थाः । हे कन्यके ! 'ते' तव 'रेखासन्धिषु' हस्तादिरेखासन्धिस्थानेषु । 'पक्ष्मषु'—नेत्रपिधानस्यानेषु । 'आवर्त्तेषु' ककुदावर्त्ताद्यभिधेषु लोमसन्निवेशविशेषेषु । ककुन्दरादिद्वारेषु वा ।[1] 'च' कारः समुच्चयार्थः । एवमनेकधा यानि' अलक्षणानि 'ते' तव सन्ति । 'तानि' 'सर्वाणि' अशेषाणि 'अहं' पाणिग्राहः 'शमयामि' शान्तिङ्गमयामि । तदेतत् 'स्वाहा' सुहुतमस्तु ॥ १ ॥ हे कन्ये ? 'यत्' 'ते' तव 'केशेषु' चिकुरेषु 'ईक्षिते' दर्शने । 'च' 'यत्' 'रुदिते' अस्त्रुविमोचने यत् किञ्चित् 'पातकम्' अलक्षणमस्ति । 'तानि' 'सर्वाण्य'पि 'ते' तवसम्बन्धीनि'पूर्णाहुत्ये'—त्यादि गतार्थम् ॥ २ ॥

हे कन्यके ! 'यत्' 'ते' तव 'शीले' वृत्ते (चरित्रे) 'च' कारादाभिरूप्ये 'भाषिते' वचने 'हसिते' हसने 'च' कारादुगमने 'यत्पापकम्' अलक्षणमस्ति । तानि सर्वाणी"त्यादि गतार्थम् ॥ ३ ॥ हे कन्यके ? 'यत्' 'ते' तव 'आ' समन्तात् 'रोकेषु' दन्तच्छिद्रेषु 'छिद्र निर्व्यथन रोकरन्ध्र श्वभ्र"—मित्यमरः । 'दन्तेषु' 'यच्चहस्तयोः पादयोः' 'च' कारादुगुल्फयोः 'पापकम्' अलक्षणमस्ति । तानि सर्वाणीत्यादि गतार्थम् ॥ ४ ॥ एव 'सन्धानेषु' रेखासन्धिव्यतिरिक्तेषु सन्धिस्थानेषु 'च' कारान्मुखे यान्यलक्षणानीत्यादिगतार्थम् ॥ ५ ॥ 'यानि' प्रकृतान्यप्रकृतानि च 'कानि च' कानिचित् । 'घोराणि' क्रूराणि लक्षणानि 'तव सर्वाङ्गेषु' अभवन्' 'आज्यस्य पूर्णाहुतिभिः 'अहम्' 'अशीशमम्' अनाशयम् । 'तदेतत्स्वाहा' सुहुतमस्तु ॥ ६ ॥

आहुतेराहुतेस्तु सम्पातं मूर्द्धनि वध्वा अवनयेत् ॥ ७ ॥

प्रत्येक आहुति के अन्त में वधू के शिर पर अवशिष्ट घृत का प्रोक्षण करे ॥७॥

आहुतेराहुतेरिति । प्रत्याहुति शेषं स्रुवलग्नमाज्यं वधूशिरसि दद्यात् । इत्यर्थः । तु शब्दो व्याहृतिहोम—शेषनिपातन—निषेधार्थः[2] ॥ ७ ॥

---

१. नितम्बस्थौ (पृष्ठवंशाधोभागे विद्यमानौ) कूपकौ (गर्त्तौ) कुकुन्दरे उच्येते । तथाचामरः "कूपकौ तु नितम्बस्थौ द्वयहीने कुकुन्दरे" इति । द्वयहीने—क्लीबे । अत्र द्वित्वमनित्यमित्यमरविवेके महेश्वरः ॥

२. अत्र चन्द्रकान्तः । आहुतेराहुतेरितिसन्निहितपरिग्रहादनन्तरोक्ताया षडाहुतेरेव सम्पातानां शिरस्यवनयनं न महाव्याहृत्यादीनामपि । अतएव तुशब्द इतरासामाहुतीनां व्यवच्छेदकः । सुखसुखार्थो वेति ॥

हुत्वोपोत्थायोपनिष्क्रम्य ध्रुवन्दर्शयति ॥ ८ ।

इन [छः] आहुतियों और आहुति शेष से प्रोक्षण के अनन्तर [वर-कन्या एक साथ हवन स्थल से] बाहर निकल कर पति-पत्नी को ध्रुव नामक नक्षत्र को दिखलावे ॥ ८ ॥

हुत्वा-यथाक्ताज्यहोमानन्तरमेव न तु तन्त्रसमापनादपि परमित्यर्थः। उपेति सामीप्ये। वध्वाः समीप एवोत्थानम्। न व्यवधान इत्ययमर्थः। निष्क्रम्य-आवृता-द्बहिर्गत्वा। दर्शयति-वधूम्। प्रकृतत्वाद्वरः 'ध्रुवं पश्ये'-ति प्रैषोऽर्थादवमगम्यते ॥ ८ ॥

ध्रुवमसि ध्रुवाहं पतिकुले भूयासममुष्यासावि"ति पतिनाम गृह्णीयादात्मनश्च ॥ ९ ॥

उस ध्रुवदर्शन के समय 'ध्रुवमसि' आदि मन्त्र को अमुष्य के स्थान पर अपने पति का नाम और 'असौ' के स्थान पर अपना नाम लेकर वधू पढ़े-'हे ध्रुव नक्षत्र! आप स्थिर हैं, इसीलिए आप ध्रुव नाम से विख्यात हैं। मैं भी पतिकुल में स्थिर चित्त वाली होऊँ' ॥ ९ ॥

अत्र वधूपठनीयम्मन्त्रमाह "ध्रुवमसी-"त्यादिम्। (मं० ब्रा० १।३।७) अत्रामुष्येति सर्वनाम्नि षष्ठयन्तं पतिनाम। असावित्यत्र प्रथमान्तमात्मीयं नाम गृह्णीयादित्यर्थः। ननु वाग्यताया मन्त्रपाठो विरुध्यत इति चेन्न अस्यार्थस्य वाचनिकत्वात्। मनसैव या मन्त्रं पठिष्यति। प्रतिषिद्धेऽपि वाग्व्यापारे मनसो व्यापारस्याप्रतिषिद्धत्वात् ॥ ९ ॥

अरुन्धतीञ्च ॥ १० ॥

फिर, पति वधू को 'अरुन्धती' नामक नक्षत्र को दिखलावे ॥ १० ॥

अरुन्धतीं सप्तर्षिसमीपवर्त्तिनीं काञ्चित्सूक्ष्मतमान्तारां च दर्शयेत्[1] वरः। "अरुन्धतीम्पश्ये"-ति प्रैषः ॥ १० ॥

वधूश्चारुन्धतीन्दृष्ट्वा जपति-

"अरुन्धत्यसि-रुद्धाहमस्मी"त्येवमेव ॥ ११ ॥

[इस 'अरुन्धती' दर्शन के समय] वधू उसी प्रकार (अमुक नाम्नी, अमुक नामक पति की) आज्ञा में मैं आबद्ध होती हूँ'--यह कहे ॥ ११ ॥

---

१. दर्शयतीति पूर्वतनादनुवर्त्तनादयमर्थः।

एवमेव–पूर्ववदेव। सनामग्राहमात्मनः[1] पत्युश्च। अयमत्र विशेषः—पतिनाम तृतीयान्तं ग्राह्यमन्वयबलात्। प्रयोगस्तु—"अरुन्धत्यसि रुद्धाऽहमस्मि यशोदा देवदत्तेने"ति चन्द्रकान्तभाष्यम्॥ ११॥

अथैनामनुमन्त्रयते–"ध्रुवा द्यौरि–"त्येतयर्चा॥ १२॥

(मं० ब्रा० १।३।८)

इसके वाद इस [वधू] से पति 'ध्रुवा द्यौ' आदि मन्त्र पढ़ावे॥ १२॥

अथानन्तरमेव एनां––वधूं प्रकरणाद्वरः अनुमन्त्रणोक्तेरनामिकाग्रेण स्पृशन्निति गम्यते। उक्त–(२।२।१४ सू०)–वचनात्। मन्त्रो यथा––

"ध्रुवाद्यौर्ध्रुवा पृथिवी ध्रुवं विश्वमिदञ्जगत्।
ध्रुवासः पर्वता इमे ध्रुवा स्त्री पतिकुले इयम्"॥ ८॥ इति

अस्यार्थः। अत्र यथा–तथेत्यध्याहार्यमर्थसाङ्गत्यार्थम्। 'यथा' 'द्यौः' अन्तरिक्षम्। 'ध्रुवा' स्थिरा 'पृथिवी' च 'ध्रुवा' स्थिरा। 'विश्वं' सर्वम् 'इदञ्जगत्' सचराचरं 'ध्रुवम्'। सद्रूपेणाऽवस्थितम्। यथा च 'इमे' 'पर्वताः' 'ध्रुवासः' ध्रुवाः[3]। तथा 'इयं स्त्री' पतिकुले' पतिगृहे[2] 'ध्रुवा' स्थिरा "भवतिव"–ति शेषः॥ ८॥ इति॥ १२॥

अनुमन्त्रिता गुरुं गोत्रेणाभिवादयते॥ १३॥

इस मन्त्र का अनुमन्त्रण करने वाली वधू पति के गोत्र का उच्चारण करती हुई पति का [चरणस्पर्श कर अमुक नाम्नी मैं तुम्हारा अभिवादन करती हूँ ऐसा कहते हुए] अभिवादन करती है॥ १३॥

अनुमन्त्रितैव[4] वधूरभिवादयते। न तु तन्त्रसमापनानन्तरम्। गुरुं पतिम्। तथाच याज्ञवाल्क्यः–"पतिरेको गुरुः स्त्रीणामि"–ति। गोत्रेण–

१. अत्र मुरारिमिश्रा आत्मादिनामनिर्द्देशं नानुमन्यन्ते। पद्धतिकृतस्तु–"यथासूत्रं पठन्ति। एवमेवेति वचनमत्र मूलम्प्रतिभाति। अत्रारुन्धत्यसीति पाठो यद्यपि कतिपयगृह्यसूत्रपुस्तकेऽत्र (गोभिलीये) गुणविष्णवादिभाष्ये च न दृश्यते किन्तु रुद्धाहमस्मीत्येवमेवेति। तथापि मुरारिमिश्रादिभिर्लिखितत्वादस्माभिराद्रियते। अत्रात्मनः पत्युश्च नाम न ग्राह्यमिति भट्टभवदेव–रघुनन्दनादयः। तृतीयान्तं पत्युर्नाम प्रथमान्तञ्चात्मनोनाम ग्राह्यमेवेति नारायणभट्टाः प्राहुः॥

२. "आज्जसेरसुक्' (पा० ७।१।५०) इत्यसुगागमः॥

३. "कुलं जनपदे गोत्रे सजातीयगणेष्वपि। भवने च तनौ क्लीबमि"ति मेदिनी।

४. अनुमन्त्रितेति पदोपादानमेवानुमन्त्रणानन्तरमेवाभिवादनप्राप्त्यर्थमिति भाष्यकारः॥

पतिगोत्रेण । सान्निध्यात्[1] । स्मृत्यन्तरसंवादाच्च । तदानीमेव तद्गोत्रत्वात्तस्याः । तथाच लघुहारीतः--

"स्वगोत्राद् भ्रश्यते नारी विवाहात्सप्तमे पदे ।
पतिगोत्रेण कर्त्तव्या तस्याः सर्वक्रिया ततः ॥"

इति । एवञ्च--

"चतुर्थीहोममन्त्रेण त्वङ्मासहृदयेन्द्रियैः ।
भर्त्रा संयुज्यते नारी तद्गोत्रा तेन सा भवेत् ॥"

इति बृहस्पतिवचनं शाखान्तरविषयम् ॥ तन्मन्त्रलिङ्गसंवादात् । तदुक्तं बृहस्पतिनैव ।

"पाणिग्रहणिका मन्त्राः पतिगोत्रप्रदायकाः ।" इति ।

एवञ्च प्रवरसापिण्डच्ययोरपि इदानीमेव प्राप्तिः । गोत्रसमानत्वात् । अत्राभिषेकपाणिग्रहणमन्त्राणामेव[2] शरीरैक्यनिमित्तत्वाच्चेति बोध्यम् ॥ अभिवादयते-अभिवादनञ्च पादोपसङ्ग्रहणपूर्वकं प्रणमनम् । "समे तु पादग्रहणमभिवादनमित्युभे" इत्यमरः ।

तत्र मनुः--

"भोः शब्दं कीर्त्तयेदन्ते स्वस्य नाम्नोऽभिवादने ।
नाम्नां स्वरूपभावो हि भोशब्द ऋषिभिः स्मृतः ॥"

इति प्रवरोच्चारणमपि शिष्टाचरात् । प्रयोगस्तु--"अमुकगोत्राऽमुकामुकामुकप्रवरा श्री अमुकदेव्यहम्भो३ अभिवादये" इति ॥ पद्धतिरप्येवम् ॥ १३ ॥

सोऽस्या वाग्विसर्गः ॥ १४ ॥

यहाँ तक वधू वाणी के नियम (मौन) व्रत का पालन करके इस नियम को छोड़ दे ॥ १४ ॥

स कालोऽस्या वध्वाः । वाग्विसर्गः । वाग्विसृज्यतेऽस्मिन्नित्यधिकरणे घञ् (पा० ३।३।१९) "चजोरि"-(पा० ७।३।५२) ति कुत्वम् गुणश्च ।

---

१. गुरु गोत्रेणेति पदयोः । अतएव पद्धतिकृतो वीरेश्वरादयः "अनुमन्त्रिता सती प्राप्तेन गोत्रेण पाणिग्राहमभिवादयेत्" इत्येवं लिखन्ति स्म ॥

२. अनुमन्त्रण-मन्त्रेणाऽप्ययमर्थोऽभिनिस्सरति "ध्रुवा स्त्री पतिकुले इयमि"ति । कुलशब्दो-गोत्रार्थकोऽपि मेदिन्यामुक्त इत्यनुपदमेवोपदर्शितम् ॥

अयं वाक्संयमत्यागकालोऽतः[1] परं यथारुचि वाच्यन्तयेत्यर्थः । शूलपाणिप्रभृतयोऽप्येवम् ।। वेद्यामुत्तरविवाहपक्षे वैवाहिकेऽग्नौ प्रधानहोममात्रङ्कर्त्तव्यम् । तन्त्रसमापनमिदानीमेतत्पक्षे । तन्त्रेणापि समापने ब्रह्मणे दक्षिणाद्वयन्देयमेव । कर्म्मणः पृथक्त्वात् । कर्म्मानुरूपत्वाद्वेतनस्य । तच्च पूर्णपात्रमेव । अनादेशादिति भाष्यकृतः ।। १४ ।।

तावुभौ तत्प्रभृति त्रिरात्रमक्षारलवणाशिनौ ब्रह्मचारिणौ भूमौ सह शयीयाताम् ॥ १५ ॥

[जिस दिन पहले विवाह कर्म में प्रवृत्त हो] उस समय से लेकर पति पत्नी दोनों ही तीन दिन तक खटाई और नमक को छोड़ कर (हविष्यान्न का भोजन करें और) ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए तीन दिन तक भूमि पर ही शयन करें ।। १५ ।।

तावुभौ—दम्पती । तत्प्रभृति—विवाहकर्म्मदिनमारभ्य[2] । त्रिरात्रम्—त्रीण्यहोरात्राणि । अक्षारेति । क्षारश्च लवणञ्चेति क्षारलवणम् "जातिरप्राणिनाम्" (पा० २।४।६) इति द्वन्द्वैकवद्भावः । तन्न भवतीत्यक्षारलवणम् । तदश्नीतस्तच्छीलौ । ताच्छील्येऽत्र णिनिः (पा० ३।२।७८) सततकरणञ्च ताच्छील्यमिति त्रिरात्रय्यावत्तदनशनौ यथासमयं भवत इत्यर्थः । क्षारश्च परिभाषितम्—

"तिलमुद्गादृते शिम्बिसस्ये गोधूमकोद्रवौ ।
चीनकन्देवधान्यञ्च सर्वशाकन्तथैव च ।
स्विन्नधान्यन्तथौषध्यं स्थूलं क्षारगणः स्मृतः ।।"

इति स्मृत्युक्तम् । अन्येत्वाहुः—

"गोक्षीरं गोघृतञ्चैव धान्यं मुद्गास्तिला यवाः ।
अक्षारलवणा ह्येते क्षाराश्चान्ये प्रकीर्त्तिताः ।।" इति ।।

एवं स्मृत्युक्तमक्षारलवणमशितुं शीलं ययोस्तावक्षारलवणाशिनाविति । यत्तु—अक्षारलवणमकृत्रिमलवणमिति रघुनन्दनवर्णनन्तदसत्—क्षारपदस्य कृत्रिमपरत्वे लक्षणाप्रसङ्गादन्यद्वा किमपि नाशितव्यं स्यादिति न किञ्चि-

---

१. एतेनाभिवादने वाग्व्यापारस्यावश्यकत्वं सूचितम् । लज्जयाऽव्यक्तमपि सकारयितव्य एवेति गुरवः ॥

२. तदिति विप्रकृष्टस्य विवाहकर्म्मणः परामर्शार्थम् । नोत्तरविवाहस्य—पत्यभिवादनस्य वा । तथासत्येतदा निर्देशः स्यात् । "इदमस्तु सन्निकृष्टे समीपतरवर्त्ति चैतदोरूपम् अदसस्तु विप्रकृष्टे तदिति परोक्षे विजानीयादि"ति ॥

देतत् ॥ ब्रह्मचारिणौ–निवृत्तमैथुनौ[1] । भूमाविति खट्वायाः प्रतिषेधार्थम् । न तु प्रस्तरकम्बलादीनामपि[2] । सहेति । पृथक्शय्या निवृत्त्यर्थम् ॥ १५ ॥

अत्रार्घ्यमित्याहुः ॥ १६ ॥

कुछ आचार्यों का मत है कि इन [तीन दिनों] में जब कभी भी हो कन्या का पिता अवसरानुसार] वर की [मधुपर्क आदि वस्तुओं से] पूजा करे ॥ १६ ॥

अत्र––एतस्मिन्नवसरे । अर्घ्य–मर्हणं वरस्य । कन्यापित्रादिभिः कर्त्तव्यमित्याहुराचार्य्याः । "षडर्घ्यांभवन्ती"––ति वक्ष्यति (४।१।२३) तत्र यो विवाह्यः सोऽयं वरः ॥ १६ ॥

आगतेष्वित्येके ॥ १७ ॥

किन्तु कुछ याज्ञिकों का मत है कि जिन लोगों की पूजा करनी हो तो उनके आने के समय ही अर्घ्यदान करे ॥ १७ ॥

एके तु आगतेषु आचार्यादिषु[3] (४।१।२४) षट्सु अर्घ्यमर्हणङ्कर्त्तव्यमित्याहुः । तथाच विवाहार्थमागत एव वरेऽर्घ्यमुचितमिति–एके–इति–बहुवचनेन [4]सपुरस्कारमभिधानादुक्तम्भवति । अतएव—

"मधुपर्क्कार्च्चितायैनां दद्यात्कन्यां सदक्षिणाम्"

इत्यनेन न विरोधः । एवञ्च––

"भुक्त्वा समुद्वहेत्कन्यां सावित्रीग्रहणन्तथा ।
उपोषितः सुतान्दद्यादर्च्चिताय वराय तु ॥"

---

१. "त्रिंशद्वर्षो वहेत्कन्यां हृद्यां द्वादशवार्षिकीम्" इत्येवमादिके मन्वाद्युक्तकल्पे व्यवायस्य रागतः प्राप्तस्य निषेधार्थमिदम् ॥

२. प्रस्तरः काष्ठनिर्म्मितः । खट्वानुकल्पभूतः । आस्तरणञ्च कटादिकमिति बोध्यम् ॥ क्वचित् "स्रस्तर" इति पाठः । तत्र स्रस्तरः कट एवेति सुव्यक्तमन्यत्र (पा० गृ०) ॥

३. अन्ये तु–बहुवचननिर्देशोऽत्र वरयातृपुरुषबाहुल्याभिप्रायेणातोऽन्येऽपि वरेण सह गच्छेयुरेव सम्बन्धिनो बान्धवाश्चेत्याजानिकवरयातृपुरुषसमारम्भणव्यवहारोपपत्तिः । ते हि–कुलाभिजनसम्पन्ना उभयकुलपरिचयाभिज्ञाश्च ब्राह्मणवरेण्याः सविशेषमपेक्ष्यन्ते । येषाम्पुरस्तात्कन्या प्रदीयते । प्रदानवाक्यञ्च त्रिः कृत्वोच्चार्यते येन क्वापि सम्बन्धलेशोविवाहप्रतिरोधकोऽविज्ञातो न भवेदिति । क्षत्रियादिवरे तु विजातीया अपि शौर्यार्यवादिगुणोपेता वरयातृका भवन्ति । तेषामन्यविधविवाहस्याप्यनुज्ञानाद्यत्र कन्याहरणप्रसङ्ग इति ॥

४. तथाच मुरारिमिश्राः । अत्र चैके इति सपुरस्काराभिधानाद् द्वितीयपक्षे सूत्रकृत्सम्मतिरित्यवगन्तव्यमित्याहुः ॥ पुरस्कारश्च–एकशब्दस्य नित्यं संख्यैकवचनान्तस्य बहुवचनेनोपन्यासो मुख्यार्थत्वमावेदयति । तथाचामरः "एके मुख्यान्यकेवला" इति ॥

इति वचनमेतस्मिन्कल्पे मधुपर्कभोजनपरम् । तथाच शास्त्रान्तरम्—

"अशोककलिकापानं यज्ञे सोमलतारसम् ।
विवाहे मधुपर्कञ्च भुक्त्वा कर्म्म समारभेत् ॥"

इति स्मर्यते । एतेन कृताहारस्य तद्दिने[1] कन्यापरिणयार्थङ्गमनं, गत्वा वा तत्र (श्वशुरकुले) भोजनमनाचार एवेति मन्तव्यम् । सर्वथा चात्र सय्यमो भोजनादेर्यज्ञकर्म्मान्तिरवदित्यवगन्तव्यम् ॥ १७ ॥

हविष्यमन्नम्प्रथमं परिजपितम्भुञ्जीत ॥ १८ ॥

पति [क्षारादिवर्जित] हविष्य अन्न को [पत्नी के भोजन के] पहले [वक्ष्यमाण] मन्त्र का जप करते हुए करे ॥ १८ ॥

हविषि—साधु—हविष्यं "तत्र साधुः" (पा० ४।४।९८) इति साध्वर्थे यत्प्रयेन होमावशिष्टमिति चन्द्रकान्तभाष्यस्वरसः । माषकोद्रवादिवर्जम्[2] । अन्नं वरेण तद्दिने प्रथमं परिजपितम् "अन्नपाशेन मणिने"—त्यादिमन्त्रेणाभिमन्त्रितम् । उत्तरत्र तथा श्रवणात् । भुञ्जीत भोक्तव्यम् । अत्रापि "भुक्त्वोच्छिष्टं वध्वै प्रदाय यथार्थमि"—ति (२।३।२२) (पृ० २१८) वक्ष्यमाणं सिंहावलोकितकेन सम्बन्धनीयम् । श्वस्तनप्रथमभोजने तथाचरणादिति ॥ १८ ॥

श्वोभूते वा शमशनीयंꣳ स्थालीपाकं कुर्वीत ॥ १९ ॥

अथवा, उसके दूसरे दिन [प्रभात होने पर] अच्छे प्रकार का भोजन योग्य [मधुपर्क नामक] स्थालीपाक का भोजन करे ॥ १९ ॥

लग्नादिसाद्गुण्याद्रात्रौ विवाहे[3] भोजनकालस्य चालाभे प्रकारान्तरमाह—श्वोभूत इति । श्वोऽग्रिमदिने भूते प्राप्ते[4] प्रभाते जाते यथासमयं,

---

१. विवाहदिने । कन्यायास्तु विवाह औपनायनिक इति उपनयने माणवकस्येव भोजनेऽपि न क्षतिरित्याचक्षते । किन्तु व्रतबन्धसमाख्यातोऽस्य भोजनं गोःपयआदिकमेव । तथाच श्रुतिः "पयो व्रतो ब्राह्मणो भवति, यवागूव्रतो राजन्य तो, आमिक्षाव्रतोवैश्यः" इति । यवागूर्भृष्टयवचूर्णपायसम् । आमिक्षा—शृतोष्णे पयसि क्षिप्तं दधि । तथाच श्रुतिः "तप्ते पयसि दध्यानयति स वैश्वदेव्यामिक्षा भवति" इति । "यवागूरुष्णिका श्राणा विलेपी तरला च सा" इति चामरः ॥

२. हविष्यमिति तदर्थः । तल्लक्षणमुक्तमधस्तात् । (१।३।६) । कात्यायनः "हविष्येषु यवा मुख्यास्तदनुव्रीहयो मताः । माषकोद्रवगौरादीन्सर्वालाभेऽपि वर्जयेत्" इति । गौरो—गौरसर्षप इति मुरारिः । चीनक इति वयम् ॥ आदिना चणकादिपरिग्रहः ॥

३. रात्रौ भोजनकालादुपरि विवाहे निर्वृत्ते प्रक्रान्त विवाह होमविधिना वा भोजनकालातिक्रमे इत्यर्थः ॥

४. भूप्राप्तौ आत्मनेपदी । क्तः कर्मणि ॥

समशनीयम् सम्यगशनार्थङ्क्रियत इति तथाभूतं स्थालीपाकं मधुपर्क-समाख्यं कुर्वीत । यथावद्विदधीत वाशब्दो विकल्पार्थस्तेन पूर्वदिनेऽपि समय-लाभेऽमुङ्कुर्वीतैवेति बोधयति ॥ १९ ॥

तस्या देवता अग्निः प्रजापतिर्विश्वेदेवा अनुमतिरिति ॥ २० ॥

उस [पूर्व दिन या पर दिन के स्थालीपाक] के देवता अग्नि, प्रजापति, विश्वेदेव तथा अनुमति क्रमशः स्तुत्य हैं ॥ २० ॥

तस्येति—तच्छब्देन पूर्वदिने परदिनेऽपि वा करणेऽपि स्थालीपाकस्या-स्यैता देवता इति दर्शयति । तथाच—"अघं स केवलम्भुङ्क्ते यः पचत्या-त्मकारणात् । यज्ञशिष्टाशनं ह्येव सतामन्नं विधीयते ॥" इति मनुवचनेन "केवलाघो भवतिकेवलादी"ति श्रुत्या च न विरोधः ॥ अत्र (सूत्रे) अस-मासकरणम्पृथङ्निर्वापहोमयोः प्राप्त्यर्थम् । तथाच च्छन्दोगपरिशिष्टम्—

"चरुः शमशनीयो यस्तथा गोयज्ञकर्म्मणि ।
ऋषभोत्सर्जने चैव अश्वयज्ञे तथैव च ॥
कथमेतेषु निर्वापः कथञ्चैव जुहोतयः ? ।
देवतासंख्यया ग्राह्या, निर्वापस्तु पृथक्पृथक् ॥"

इत्यादि (१–७–३) पूर्वोक्तम् । तथा—

"चरोः शमशनीये वा पितृयज्ञचरौ तथा ।
होतव्यं मेक्षणेनान्यदुपस्तीर्णाभिघारितम् ॥" इति ।

देवतानामत्र प्राधान्यात्त्रिःप्रक्षालनन्तण्डुलानाम् । "त्रिर्देवेभ्यः" (१।७।५९) इत्युक्तत्वात् ॥ देवताभ्यः खल्वेताभ्यो मेक्षणेनोपघातं होतव्यं किञ्चिदवशेषमित्यवोचाम (१–४–३) ॥ २० ॥

उद्धृत्य स्थालीपाकं व्यूह्यैकदेशं पाणिनाऽभिमृशेत् "अन्नपाशेन मणिने"–ति ॥ २१ ॥

(मं० ब्रा० १।३।९–१०)

[पाक स्थान से] स्थालीपाक को [पात्रान्तर में] लेकर 'अन्नपाशेन मणिना' आदि दो मन्त्रों से दाहिने हाथ से [उस परोसे हुए भोजन को] करे ॥ २१ ॥

स्थालीपाकम् । तत उद्धृत्य पात्रान्तरे कृत्वाऽवशिष्टं तं व्यूह्य[1] एकी-

---

१. स्थालीपाकशेषात् । केचित्तु—"व्यूह्य स्वपात्रेऽवदाय" "व्यूह्य पात्रान्तरे स्था-पयित्वा" "सविशेषं वितर्क्य"त्येवं नाना व्याचख्युः । वस्तुतः पात्रान्तरे स्वभोजनपात्रे वा स्थापनमिति स्वारसिकोऽर्थः । अवदायेत्यपि च । व्यूहनन्तु सर्वमपि यथा न परिगृ-हीतम्भवति तदर्थं पिण्डीभावेनावस्थापनम् ॥

कृत्य । एकदेशं न सर्वमपि भाण्डस्थमन्नं पात्रान्तरेणावदाय स्वपात्रे स्थापयित्वा दक्षिणेन पाणिना "अन्नपाशेन मणिने"-त्येवमादिना मन्त्रद्वयेन । अभिमृशेत् स्पृशेदित्यर्थः । मन्त्रो यथा--

"अन्नपाशेन मणिना प्राणसूत्रेण पृश्निना ।
बध्नामि सत्यग्रन्थिना मनश्च हृदयञ्च ते" ॥ ९ ॥ इति ॥

अस्यार्थः-हे वधु ! अहन्ते परिणेता 'ते' तव 'मनः' सङ्कल्पविकल्पात्मकवृत्तिकमन्तरिन्द्रियम् । 'हृदयम्' चित्तम्[1] (बुद्ध्यधिष्ठानम्) 'च'-काराद्बुद्धिञ्च । 'मणिना' [2]मध्यमणिभूतेन हृद्देशाधिष्ठितेनात्मना सहितेन'अन्न[3] पाशेन' अन्नरूपेण पाशतुल्येन बन्धनेन, 'प्राणसूत्रेण' प्राणा एव सूत्रं सूत्रभूता यस्मिन् एवंभूतेन 'पृश्निना' अन्नेन गुलिकास्थानीयेन । "अन्नं वै देवाः पृश्नीति वदन्तो"-ति श्रवणात्[4] । कथम्भूतेन ? 'सत्यग्रन्थिना'सत्यं ग्रन्थिरिव यस्य तेन 'बध्नामि' स्वायत्तीकरोमि" इति ॥ ९ ॥

अत्र सूत्रे इतिशब्द आद्यर्थस्तेन--

यतेतद्धृदयन्तव तदस्तु हृदयम्मम ।
अन्नं प्राणस्य पड्वंशस्तेन बध्नामि त्वाऽसौ" ॥ १० ॥

इत्येषोऽपि मन्त्रो परिगृहीतो वेदितव्यः । अस्यार्थः । हे वधु ! 'यदेतद्धृदयन्तव तदस्तु हृदयं मम' आवयोर्हृदयैक्यम्भवतु । इति वरेणाशास्यते । तत्प्रकार उच्यते-अन्नमित्यर्द्धर्चेन । हे वधु ! 'अन्नम्'अदनीयं वस्तु 'प्राणस्य' शरीरान्तःसञ्चारिणो वायोः[5] । 'पड्वंशः' बन्धनाधिष्ठानम्[6] । 'तेन'

---

१. "चित्तन्तु चेतो हृदयम्" इत्यमरः ॥

२. मालया हि शोभनं वस्तु बध्यते । अन्नान्नरूपगुलिकायां प्राणसूत्रनद्धायाम् आत्मा वरस्य मध्यमणिः सुमेरुपदव्यपदेश्यः ।

३. अन्नेन पश्यते बध्यते इति अन्नपाशः । "पशबन्धने" (चु० उ०) कर्म्मणि घञ् ॥

४. श्रुतेः । निघण्टौ तु-"पृश्निर्द्यौरादित्यश्चे"-ति पठ्यते । (१।५।१) प्रपूर्वादश्नोतेर्व्याप्त्यर्थात्स्पृशतेर्वा "घृणिपृश्नि०" (उ० ४।५२) इत्यादिना निपातः । तत्प्रभवत्वादन्नं पृश्नीति श्रुतिवर्णः ।

५. जातावेकवचनम् ।

६. पडिति-"पशबन्धने" (चु० उ०) इत्यस्माक्किपि रूपम् । अधिकरणेऽत्र क्विप् छान्दसः । उपमितसमासः । गुणविष्णुस्तु-"पड्विश" इति पठति । तन्मते विशतेः प्रवेशनार्थादिगुपधलक्षणः कः (पा० ३।१।१३५) नुम्छान्दसः ॥

अन्नेन साधनभूतेन। 'त्वा' त्वाम्। 'असौ '[1]अहं 'बध्नामि' संयमयामि[2] ॥ १० ॥ इति ॥ २१ ॥

भुक्त्वोच्छिष्टं वध्वै प्रदाय यथार्थम् ॥ २२ ॥

भोजन से बचे हुए अन्न को वधू को देकर यथा प्रयोजन [अन्य अन्न स्वयं और पत्नी तृप्तिपर्यन्त भोजन करके आचमन] करे ॥ २२ ॥

परिजपितमन्नं पतिः किञ्चिद्भुक्त्वा उच्छिष्टम्। उद्धृतावशिष्टम् (भुक्तशेषम्) वध्वै प्रदाय दत्त्वा यथार्थम्। [3]यथाप्रयोजनमन्यत्कुर्यादित्यर्थः। अत्र दिनभोजनपक्षेऽपि हविष्यान्नग्रहणादिवामदेव्यगानान्तं कर्म्म कुर्यादेवेति भाष्यकारः। तेन रात्रिभोजन एतदावश्यकमित्यायातीति मुरारिमिश्राः प्राहुः ॥ २२ ॥

गौर्दक्षिणा ॥ २३ ॥

इति श्रीमद्गोभिलीयगृह्यसूत्रे द्वि० प्र० स्य तृतीया कण्डिका ॥२॥३॥*॥



इस विवाह कर्म में एक गौ दक्षिणा में देनी चाहिए ॥ २३ ॥

॥ इस प्रकार गोभिल गृह्यसूत्र के द्वितीय प्रपाठक के तृतीय कण्डिका की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत 'अनाकुला' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ ३ ॥



उत्तरविवाहकर्मणः। एतेन पूर्वविवाहेऽपीयमेव। अतस्तत्र पूर्णपात्रादिकादक्षिणेति चन्द्रकान्तवचनं सम्भ्रममूलकमेव। पद्धतिकृतो वीरेश्वरादयोऽपि तत्र गामेव दक्षिणात्वेनोल्लिखितवन्तः। इत्यलमत्यर्थकदर्थनयेति शिवम् ॥ २३ ॥

॥ इति श्रीमद्गोभिलीयगृह्यसूत्रव्याख्यायां "मृदुला"ख्यायां मुकुन्दशर्म्मसङ्कलितायां द्वितीयप्रपाठकस्य तृतीया कण्डिका ॥ २ ॥ ३ ॥ * ॥



---

१. "असाविति नाम गृह्णाती-"ति सूत्रान्तरसंवादात्। अत्रासाविति सम्बोधनान्तमेव नाम ग्राह्यमिति केषाञ्चिद्भ्रमः। (२।३।९) इति सूत्रविरोधात् ॥

२. "बन्धबन्धने (क्रया० प०) बन्धनं संयमनमेव ॥

३. "अर्थोऽभिधेयरैवस्तुप्रयोजननिवृत्तिषु" इत्यमरः ॥

अथ चतुर्थी कण्डिका

(तत्रादौ कन्यकानयनम्)

यानमारोहन्त्यामेताꣳ "सुकिꣳशुकꣳ शल्मलिमि" त्येतामृचं जपेत् ॥ १ ॥

[पति के घर जाने के लिए वधू को रथ आदि] सवारी पर 'सुकिंशुक शल्मलिं' आदि ऋचा का जप करते हुए बैठाना चाहिए ॥ १ ॥

अथ भर्त्तृगृहगमनार्थं वध्वां यानं रथादि आरोहन्त्याम् । इति वचनादारोहणकालिकत्वञ्जपस्य । एतामिति करणाच्च रथासम्भवे शिविकायानपक्षेऽपि एतामेवम्भूतामेव जपेन्न विलोपनमूहं वा कुर्यादित्यर्थः । प्रकृतत्वाद्वरः । ऋग्यथा--

"सुकिꣳशुकꣳ शल्मलिं विश्वरूपं हिरण्यवर्णं सुकृतं सुचक्रम् ।
आरोह सूर्य्ये अमृतस्य लोकं स्योनं पत्ये वहतुं कृणुष्व" ॥ ११ ॥
(ऋ० सं० ८।३।१३।५)

इति । अस्या अर्थः । हे 'सूर्य्ये !' नवोढे ! 'सुकिंशुकम्' शोभनपलाशवृक्षकाष्ठनिर्म्मितम्[1] । तथा शल्मलिं [2]शालमलिवृक्षनिर्म्मितम् । 'विश्वरूपम्' नानारूपं 'हिरण्यवर्णं'[3] हितरमणीयवर्णं–हिरण्यालङ्कारयुक्तं वा । 'सुवृतं' सुष्ठुवर्णं (सुखास्तोर्णम्) 'सुचक्रं' शोभनचक्रोपेतम् । 'अमृतस्य'

१–२. तथा चामरः" पलाशः किंशुकः पर्णो वातपोत" इति ॥ अत्र निरुक्तम् । सुकिंशुकं सुकाशनं, शल्मलिं सुशमलम् । (निर्म्मलम्) अपि वोपमार्थे स्यात् । सुकिंशुकमिव शल्मलिमिति । शल्मलिः सुशरः (सुहिंस्यः) भवति । इत्यादि (१२।८) । किंशुकमिति पलाशपुष्पे प्रसिद्धिः । इह तु रक्तपुष्पत्वसामान्यात्सुपुष्पितमिव शाल्मलिमिति सामर्थ्यात्तेनोपमानयोग इति दुर्गाचार्योऽत्र मन्त्रे व्याख्यत् । अत्र शाल्मलिवृक्षनिर्म्मितत्वोक्त्याऽतिलघित्वयर्थोऽवगम्यते । वेदे तु शल्मलिरेव कृतह्रस्वः पठ्यते । अभिधानेषु तु "पिच्छिला पूरणी मोचा स्थिरायुः शाल्मलिर्द्वयोरि-"त्येवमाग्नेयेऽन्यत्र च पठ्यते । "षष्ठिवर्षसहस्राणि वने जीवति शाल्मलिरि"-ति चान्यत्रात एवासौ स्थिरायुः । तेन च प्रतिविशिष्टत्वमस्यायुषो वृद्धिकरत्वात् । सूर्येति नवोढा वधूरुच्यते । यथाच श्रीमद्भागवते वसुदेवस्य देवकीमुद्वाह्य गृहमागच्छतोविषये "देवक्या सूर्यया सार्द्धं प्रयाणे रथमारुहत्"इति । अत्र सूर्यया नवोढयेति श्रीधीरस्वामिनः प्राहुः ॥

३. एतच्च हिरण्यपदनिर्वचनमुखेनोक्तम् ।

निरतिशयसुखरूपस्य 'लोकं' दर्शकम्[1] प्रापकं वा। एवम्भूतं रथं त्वम् 'आरोह' अधिरूढा भव। ततश्च 'स्योनं' सुखकरम् 'वहतुम्' आत्मनो वहनमिति[2] सायणः। 'पत्ये' मह्यं मदर्थं 'कृणुष्व' [3]कुरु ॥ १ ॥

अध्वनि चतुष्पथान्प्रतिमन्त्रयेत नदीश्च विषमाणि च महावृक्षान्श्मशानश्च "मा विदन्परिपन्थिन" इति ॥२॥ (मं० ब्रा० १।३।१२)

मार्ग में चौराहे, नदी अथवा किसी संकट स्थान, बहुत बड़े वृक्ष या श्मशान के पड़ने पर 'मा विदन्' आदि का जप जब-जब मिले तब-तब करे ॥ २ ॥

वध्वा सह अध्वनि वर्त्तमानो नद्यादीनुपलब्धानधिमार्गम् "मा विदन्नि"ति मन्त्रेण प्रतिमन्त्रयेज्जपन्नवलोकयेदित्यर्थः। प्रतिमन्त्रणमनुमन्त्रणमालोकनमित्यनर्थान्तरमित्युक्तमधस्तात् (२।२।१४), तत्र नदीः--

"धनुः सहस्राण्यष्टौ च गतिर्यासां न विद्यते।
न ता नदीशब्दवहा गर्त्तास्ते परिकीर्त्तिताः॥'

इति कर्म्मप्रदीपोक्तलक्षणाः। विषमाणि व्याघ्रादिभयस्थानानि। उन्नताननतानि वा। महावृक्षा अतिप्रसिद्धास्तरवो ग्रामादिसीमा (सामीप्य) ख्यापकाश्चैत्यापराख्याः। मन्त्रो यथा--

"मा विदन्परिपन्थिनो य आसीदन्ति दम्पती।
सुगेभिर्दुर्गमतीतामपद्रान्त्वरातयः ॥ १२ ॥
(ऋ० सं० ८।३।३२)

इति। अस्यार्थः। 'परिपन्थिनः' शत्रवः[4]। 'मा विदन्' मा[5] जानन्तु।

---

१. "लोकृदर्शने" (भ्वा० आ०) अन्तर्भावितण्यर्थादस्मात्कर्त्तरि णमुल्। वोरकः प्रापकमित्यर्थवशाज्ज्ञानार्थत्वन्धातूनामनुसृत्योक्तम्।

२. "अव्ययकृतो भावे" इति नियमात्तुमत्र मान्तः कृदिति "कृन्मे जन्तः" (पा० १।१।३९) इत्यव्ययत्वम्। मध्येऽकारस्योपजन आर्षः।

३. "कृविहिंसाकरणयोश्च" (भ्वा० प०) इत्यस्य लोटि पदव्यत्ययेन (पा० ३।१।८५) रूपम् ॥

४. "रिपौ वैरिसपत्नारिद्विषद्द्वेषणदुर्हृदः। अभिघातिपरारातिप्रत्यर्थिपरिपन्थिनः' इत्यमरः। वैदिकोऽयं परिपन्थिशब्दो लोके न न्याय्यः प्रयोक्तुम्। "छन्दसि परिपन्थिपरिपरिणौ पर्यवस्थातरि" (५।२।८९) इति पाणिनिस्मरणात् ॥

५. "विद्ज्ञाने" (अ० प०) "माङि लुङ्" (पा० ३।३।१७५) इति लोडर्थे सर्वलकारापवादो लुङ्।

'ये' परिपन्थिनः । 'दम्पती' जायापती[1] 'आसीदन्ति' [2]आभिमुख्येनागच्छन्ति । अभ्याजिगमिषन्तीति प्रकृतोऽर्थस्सन्नर्थमन्तर्भाव्य कार्यः । अत्र दम्पतीपदेन गुणवृत्त्याऽभिहिताऽपि पत्न्येवाभिजिगमिषि–(धृक्षि–) तेत्युत्तरार्द्धेन प्रतीयते । तथाहि–'सुगेभिः' [3]सुगैर्मार्गैः । दुर्गं दुःखेन गन्तुं शक्यं (दुर्गमं) देशम् 'अतीताम्'[4] अतिगच्छन्तीम् । 'अरातयः' शत्रवः[5] 'अपद्रान्तु' भीत–भीता[6] अपगच्छन्तु ॥ इति ॥ २ ॥

अक्षभङ्गे नद्धविमोक्षे यानविपर्यासेऽन्यासु चापत्सु यमेवाग्निं हरन्ति तमेवोपसमाधाय व्याहृतिभिर्हुत्वाऽन्यद्रव्यमाहृत्य "य ऋते चिदभिश्रिष" इत्याज्यशेषेणाऽभ्यञ्जेत् ॥ ३ ॥

(मं० ब्रा० १।३।१३)

[यदि मार्ग में] रथ का पहिया (या धुरा) टूट जाए, या आबद्ध अश्व [जूए आदि से] खुल जाए, रथ के मार्ग से भिन्न चलने या रथ को पीछे गिरा देवे अथवा अन्य किसी [यान से गिरने, चोर, व्याघ्र आदि कृत] आपदाओं में [लौकिक या अलौकिक] जिस किसी भी अग्नि का वहीं पर समिन्धन करते हैं । उसी अग्नि को प्रज्ज्वलित करके तीन व्याहृतियों से हवन करके अन्य [चक्र आदि] लाकर 'य ऋते चिदभिश्रिष' आदि (सा० छ० आ० ३, २, १, २) साम का गान करके आज्य शेष से उन [चक्र आदि] को यथास्थान लगा देना चाहिए ॥ ३ ॥

---

१. जाया च पतिश्चेति विग्रहे द्वन्द्वे "राजदन्तादित्वात्" (पा० २।२।३१) जायाशब्दस्य दम्भावोर्जंभावश्च निपातितः ॥ "दंपती जंपती जायापती भार्यापती च तौ" इत्यमरः ।

२. आ आसीदन्तीत्येवमाङ् आभिमुख्ये प्रथमः । सीदतिर्गत्यर्थः (भ्वा० प०) स चाङ् पूर्वः । अत्र "लुण्ठितुम्" इति शेषो बोध्यः ।

३. सुखेन गच्छन्त्यनेनेति सुगाः "सुदुरोरधिकरणे" (पा० ३।२।४८) इति डप्रत्यये टिलोपः । "अतो भिस ऐस्" बहुलं छन्दसि" (पा० ७।१।९–१०) इत्यैसभाव एवम्म (पा० ७।१।१०३) ॥ एवं दुर्गमित्यत्रापि डप्रत्ययादि बोध्यम् ।

४. अत्र वर्त्तमाने कर्त्तरि क्तः (पा० ३।१।१८८) ।

५. "रादाने" (अ० प०) कर्त्तरि क्विप् (पा० ३।३।१७४) नञ्समासः । "अभिघातिपरारातीति" शत्रुपर्यायेऽमरः ।

६. "द्राकुत्सायां गतौ" (अ० प०) आशंसायां लोट् ॥ कुत्सितगमनेन हि भीतिरत्रावेद्यते ।

अध्वनात्यनुवर्त्तते। [1]अक्षभङ्गे । अक्षो रथचक्रम् । नद्धविमोक्षे–नद्धस्य[2]योक्त्रादिबन्धस्याश्वादेर्वा विमोक्षे–अकस्माद्विमोके यानस्य रथादेर्विपर्यासे औत्तराधर्यप्रातिलोम्ये अन्यथागमने विपथगमने वा। अन्यासु चापत्सु–यानात्परिपतनादिकासु चौरव्याघ्रादिकृतासु वा। यमेवाग्निमौपासनं[3] हरन्ति नयन्ति । यमेव[4] वा कञ्चिदग्निं लौकिकमपि सन्निधौ लब्ध्वाऽऽनयन्ति तमेवाग्निमुपसमाधायेन्धनं सन्धुक्ष्य [5]व्याहृतिभिराज्येन स्रुवेण हुत्वाऽन्यद्यदक्षादिद्रव्यन्तदाऽऽहृत्यानीय "य ऋते चिदि"–त्यनयर्चा[6] । आज्यशेषेण कृतहोमावशिष्टेनाज्येनाभ्यञ्जेत् । अन्तर्भावितण्यर्थोऽञ्जतिः क्वचित्तथैव पाठः । ऋग्यथा––

"य ऋते चिदभिश्रिषः पुरा जत्रुभ्य आतृदः।
सन्धाता सन्धिं मघवा पुरुवसुरिष्कर्त्ता विह्रुतं पुनः' ॥ १३ ॥
(ऋ० सं० ८।१।१२)

इति । अस्या अर्थः । 'य' इन्द्रः । 'अभिश्रिषः' अभिश्लिषः (अभिश्लेषणात्सन्धानद्रव्यात्) 'ऋते चिद्' विनाऽपि 'जत्रुभ्यः' ग्रीवाभ्यः (स्कन्ध[7] सन्धिभ्यः) सकाशात् 'आतृदः' आतर्द्दनात् । (आ रुधिरनिःस्रावणात्) 'पुरा' पूर्वमेव 'सन्धिं' सन्धातव्यं तं 'सन्धाता' संयोजयिता भवति, 'मघवा' धनवान्[8] 'पुरुवसुः' बहुधनः स इन्द्रः, 'अविह्रुतम्' विच्छिन्नं तं 'पुनः' 'इष्कर्त्ता' संस्कर्त्ता भवति । इति सायणः ॥ १३ ॥

---

१. "अक्षोज्ञातार्थ–शकट व्यवहारेषु पाशके" इति मेदिनी ।

२. नद्धमिति भावे क्तः । नद्ध इति कर्म्मणि । बन्धनसाधनन्तु योक्त्रादि अर्थवशात् । योक्त्रञ्च युगबन्धोपयोगिन्यां रज्जाविस्यमरविवेके महेश्वरः । तथा चामरः "आबन्धो योत्रं योक्त्रमि—"ति" ।

३. दाराहरणाऽऽद्यकालिकम् ।

४. एतच्चानाहिताग्निविषयम् । अन्ये त्वाहुः—"सायमाहुत्युपक्रम एवात ऊर्ध्वं गृह्येऽग्नौ होमो विधीयते" (१-१-२३) इति सूत्रणात् सायमाहुतेः पूर्वमक्षभङ्गादौ जाते होमोऽयं विवाहाग्नौ न प्राप्नोति-इति यमेवाग्निं हरन्तीति सूत्रितमिति ॥

५. पूर्वोक्ताभिर्भूरादिभिः ।

६. न साम्ना । ऋगधिकारात्साम्नेति चावचनात् । अत्र सत्यव्रतः । ऋङ्मूलकं साम (गे० गा० ६।२।२२) गायन् । अनादिष्टपरिभाषया च साम्न एव बोधः । सूत्रे ऋगादिपदानुल्लेखादिति ।

७. "स्कन्धो भुजशिरोंऽशोऽस्त्री सन्धी तस्यैव जत्रुणी" इत्यमरः ।

८. "मघ" इति धननामधेयम् । "मंहतेर्दानकर्म्मणः" इति निरुक्तम् (१।७।१) ततो वान्मत्वर्थीयः (पा० ५।२।१२२ वा०) ।

अभ्यञ्जनमिह 'म्रक्षणम्'[1]। अत्र हि व्याहृतिहोममात्रविधानात् क्षिप्रहोमोऽयम् । तत्र च न्यञ्चकरणपर्युक्षणाऽऽज्यसंस्कार–समिदाधान–व्याहृतिहोम–पर्युक्षणान्येव कार्याणि ॥ ३ ॥

वामदेव्यङ्गीत्वाऽऽरोहेत् ॥ ४ ॥

उसके बाद वामदेव्य नामक साम का गान करके यान पर चढ़े ॥ ४ ॥

वामदेव्यं नाम साम । गीत्वा–वधूसहितो वरो यानमारोहेत् । अप्रवृत्ते कर्म्मणि सिद्धस्यापि वामदेव्यगानस्य पुनरुपादानङ्कर्मार्थम् । अन्यथा पर्युक्षणान्त एव स्यादिति ॥ ४ ॥

एवम्––

प्राप्तेषु वामदेव्यम् ॥ ५ ॥

पुनः अपने घर आने पर [गाड़ी से उतरते समय भी] वामदेव्य साम का गान करे ॥ ५ ॥

प्राप्तेषु वरवधूसहितेषु वरयातृषु । वामदेव्यं "साम गायेदि"– ति शेषः ॥ अत्र कर्त्ता (गानस्य) वर एव प्रकृतत्वात् ॥ ५ ॥

गृहागतां पतिपुत्रशीलसम्पन्ना ब्राह्मण्योऽवरोऽप्यानडुहे चर्म्मण्युपवेशयन्ति "इह गावः प्रजायध्वम्" इति ॥ ६ ॥

(मं० ब्रा० १।३।१४)

तब पति के गृह-द्वार पर लाई गई वधू को, पति-पुत्र वाली शीलगुण से सम्पन्न ब्राह्मणी स्त्रियाँ गाड़ी से उतार कर 'इह गावः प्रजायध्वम्' मन्त्र पढ़कर गो-चर्म पर बैठावें ॥ ६ ॥

गृहागतां पतिगृहे प्राप्तामवरोप्य यानादुत्तार्य्य "इह गाव" इति वरपठितेन मन्त्रेणोपवेशयन्ति[2] ॥ मन्त्रो यथा––

"इह गावः प्रजायध्वमिहाश्व इह पूरुषः ।
इहो सहस्रदक्षिणोऽपि पूषा निषीदतु" ॥ १४ ॥ इति ।

अस्यार्थः । 'इह' कन्यानिवेशने स्थाने (गृहे) 'गावः' 'प्रजाय-

---

१. स्निग्धीकरणम् "अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु" (रु० प०) विधौ लिङ् ।

२. एष चर्म्मोपवेशनाचारो युगान्तरविषयः । सम्प्रति तदास्तरणमसाम्प्रतम् । "विवाहश्मशानयोर्ग्रामः प्रमाणम्" इति हि श्रुतिः पारस्करीयेऽर्थंत उपनिबद्धा द्रष्टव्या ग्रामो देशाचारः ।

ध्वम्। प्रजा जनयन्तु[1]। 'इह' च 'अश्वः' निषीदतु' आवसतु। 'इह' पूरुषः' परिचारकवर्गः। परिजनश्च निषीदतु। 'इह' 'उ' वितर्के। पदपूरणो वा। 'सहस्रदक्षिणः' सहस्रं दक्षिणा यत्र महाधनसाध्यो यज्ञः। 'अपि' च 'पूषा' तन्नामको देवः सर्वपोषकोऽपि निषीदतु॥ सम्भवतु-उपविशतु वेति क्रमेणार्थः॥ १४॥ इति॥ ६॥

तस्याः कुमारमुपस्थ आदध्युः॥ ७॥

उस [गो-चर्म पर बैठी हुई वधू] के गोद में किसी बालक को बैठा दे॥ ७॥

तस्या आनडुहे चर्म्मण्युपविष्टाया वध्वा उपस्थे उत्सङ्गे (क्रोडे) "उपस्थः शेफसि क्रोडे तथा मदनमन्दिरे" इति मेदिनी। कुमारम्-अकृतचूडं यं कञ्चिद् बालकम्[2]। आदध्युः। स्थापयेयुः। ता एव ब्राह्मण्यस्तासामेवोव क्रमात्॥ ७॥

तस्मै शकलोटानञ्जलावावेपयुः॥ ८॥

उस [गोद में बैठे बालक] की अञ्जलि में [वे ब्राह्मणियां] [मिट्टि का अग्नि में पका हुआ] खिलौना दें॥ ८॥

तस्मै इति व्यत्ययेन षष्ठचर्थे चतुर्थी। (पा० २।३।६२ वा०) तस्य वधूत्सङ्गोपविष्टस्य बालकस्याञ्जलौ शकलोटान्[3] शालूकान्। आवपेयुः दद्युस्ता एव ब्राह्मण्यः॥ ८॥

फलानि वा॥ ९॥

अथवा, [उसके हाथ में मधुर] फल देवें॥ ९॥

फलानि वा आम्म्रादीनान्तस्याञ्जलावावपेयुस्ताः॥ ९॥

उत्थाप्य कुमारं ध्रुवा आज्याहुतीर्जुहोत्यष्टा-"विहधृतिरि"-ति॥१०॥

(मं० ब्रा० १-६।१-४)

[वधू की गोद से] बालक को [पति] उठाकर 'ध्रुव' नाम से प्रसिद्ध आठ आज्य की आहुति 'इह धृतिः' आदि चार मन्त्रों से देवे॥ १०॥

---

१. अत्र पदव्यत्यय आर्षः (पा० ३।१।८५)।

२. "कुमारः स्याच्छुके स्कन्धे युवराजेऽश्ववारके। बालके बरुणद्रौ ना" इति मेदिनी। "आ चूडाकरणाद् बाल आ दन्तजननाच्छिशुः। कुमारस्तावद्विज्ञेयो यावन्मौञ्जीनिबन्धनम्" इति कात्यायनोक्तोऽपि ग्रहीतुं शक्योबालस्यापि कुमारत्वाविशेषादिति।

३. शके कर्दमे लोटन्तीति शकलोटाः। कह्लार-कुमुद-नीलोत्पलानां मूलानि "सारुक"—पदेन व्यवहृतानि।

कुमारं वधूत्सङ्गादुत्थाप्य तां सन्निधावुपवेश्य वरो जुहोति–जुहुयात् । ध्रुवास्तन्नाम्ना प्रसिद्धा (नित्या) अवश्यहोतव्या इत्यर्थः । यद्वा–आभिर्हुताभिर्वध्वाः पतिगृहे ध्रुवत्व(स्थिरत्व)म्भवतीतो ध्रुवाः । मन्त्राम्नाये द्व्यवसानत्वान्मन्त्रस्य, आहुतिद्वयमेवेति शङ्का[1] निरासायाष्टावित्युक्तम् । तथाच मन्त्रः "इह धृति–रिहस्वधृति–रिहरन्ति–रिहरमस्व, मयि धृति–र्म्मयिस्वधृति–र्म्मयि रमो–मयि रमस्व" इति । अर्थः सुगमः ।

तत्र होमे चतुर्थी न प्रयोज्या । यथाच छन्दोगपरिशिष्टे कात्यायनः–

"धृतिहोमे न प्रयुञ्ज्याद् गोनामसु तथाष्टसु ।
चतुर्थी,–मघ्न्य इत्येतद् गोनाम्नैव हि हूयते ॥" इति

धृतिहोमे-अस्मिन्नेव । तथा "आश्वयुज्यां पौर्णमास्यां गोनामभिश्च पृथक् "काम्यासी"त्येतत्प्रभृतिभिरि"त्यनेन गोभिलसूत्रेण "काम्यासिप्रियासि इडासि–रत्यसि–सरस्वत्यसि–मह्यसि हव्यासि–विश्रुतिरसि–इत्यघ्न्यानामानि, एतदष्टनामभिः स्वाहान्तैर्होम उक्तः । तत्र चतुर्थीन्न प्रयुञ्ज्यादित्यर्थः । एवञ्च "इहधृतिःस्वाहे"त्यादिः । "काम्यासि स्वाहे"-त्यादिश्च प्रयोगो द्रष्टव्यः । अघ्न्या गौः (निघं २।११।१) अमरोऽपि "अर्जुन्यघ्न्या रोहिणी स्यादि"त्याह । भारतेऽपि "अघ्न्या इति गवां नामे"त्युक्तम् । अघ्न्यै स्वाहेति यत्र नवाहुतयस्तत्र बोद्धव्यमिति मुरारिमिश्राः[2] प्राहुः ॥ १० ॥

समाप्तासु समिधमाधाय यथावयसं गुरून्गोत्रेणाऽभिवाद्य यथार्थम् ॥ ११ ॥

॥ इतिश्रीमद्गोभिलीये गृह्यसूत्रे द्वि-प्र-स्य चतुर्थी कण्डिका ॥२॥४॥ * ॥



उस ['ध्रुवा' नामक आहुति] के समाप्त होने पर उसी अग्नि में उपांशु एक समिधा डालकर यथा वयस [छोटी बड़ी उम्र के अनुसार] अपने से बड़ों को पादस्पर्श पूर्वक अपना गोत्र बोलते हुए अभिवादन करके जैसा कर्म कहा है वैसा करे ॥ ११ ॥

॥ इस प्रकार गोभिलगृह्यसूत्र के द्वितीय प्रपाठक के चतुर्थ कण्डिका की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत 'अनाकुला' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ ४ ॥



१. शङ्काऽत्र रेफस्याधिक्यभ्रमेण सम्भवति ।
२. अतएव हि सूत्रेऽष्टावित्युक्तिरिति तद्भावः ।

समाप्तासु धृत्याहुतिषु अन्यास्वप्याज्यतन्त्रविहितासु आहुतिसु समिधमाधायैवाभिवादयेन्नत्वनुपर्युक्षणादिकमपि कृत्वा। यथावयसम्। वयोऽनतिक्रमणेन। यथार्थेऽव्ययीभावे (पा० सू० २।१।६) "शरदादित्वात्" (पा० सू०५।४।१०७) टच्समासान्तः। यो यो वयसा वृद्धस्तं तम्प्रथममित्यर्थः। गुरून् विद्यागुरु-मातृ-पितृ-प्रभृतीन्। तत्राऽपि प्रथमं विद्यागुरुम्। तथाच स्मर्यते—

"लौकिकं वैदिकं वापि तथाध्यात्मिकमेव वा।
आददीत यतो ज्ञानं तं पूर्वमभिवादयेत्"॥ इति।
"न चानिसृष्टो गुरुणा स्वान्गुरूनभिवादयेत्"।

इति च (मानवायम्) गुरुणा ब्रह्मदेन अनिसृष्टोऽनाज्ञप्तः स्वानात्मीयान्गुरून्पित्रादीन्। तथा—

"उत्पादकब्रह्मदात्रोर्गरीयान् ब्रह्मदः पिता"। इति।

मातापित्रोस्तु पूर्वम्मातरमेव[1]।

"सहस्रेण पितृन्माता गौरवेणातिरिच्यते"।

इति मानवीयेन तत्र गौरवातिरेकबोधनात्। पितॄनिति व्यक्तिभेदाभिप्रायम्। सहस्रेण गुणेन प्रकृत्यादित्वादुपलक्षणे वा तृतीया॥ यथार्थमिति कर्म्मणः परिसमाप्तिरुच्यते। यथोक्तार्थकम्॥ दक्षिणा चास्यानादेशात्पूर्णपात्रादिकैवेति शुभम्॥ ११॥ *॥

॥ इति श्रीमद्गोभिलीयगृह्यसूत्रव्याख्यायां "मृदुला"ख्यायां मुकुन्दशर्म्मसङ्कलितायां द्वि-प्रपाठकस्य चतुर्थी कण्डिका॥ २॥ ४॥ *॥



---

१. यत्तु कृष्णोऽपि वसुदेवस्य पादौ जग्राह सत्वरम्। देवक्याश्च महाबाहुर्वसुदेवसहायवान्"—इति पौराणिकवचनात्क्रमकल्पनाकृतो नेति। तन्मन्दं "यन्मनुरवदत्तद्भेषजम्भेषजताया" इति श्रुत्या मनूक्तक्रमस्य श्रुतिसम्मितत्वेन। "भगवानपि सर्वात्मा" इत्युपक्रम्य—"ननाम दण्डवद् भूमौ मातरं पितरन्तथे"-ति पुराणान्तरवचनेन च सत्प्रतिपन्नितत्वात्। किञ्चोक्तवचने सत्वरमित्युक्त्या ससम्भ्रममित्येवार्थ आभाति। इत्थञ्च तदानीं कंसवधान्ते सभायां वसुदेव एव पुरस्तादुपलब्धः सभ्येषु। देवकीत्वन्तःपुरिकतयाऽज्ञातस्वरूपतया च वसुदेवसहायेन तेन तत्र गत्वाऽवाप्तपरिचया प्रणतेति क्रमकल्पनान्तरकल्पनावसरः। उभयसन्निधाने तु—"मातरम्पितरञ्चोभौ दृष्ट्वा पुत्रस्तु धर्म्मवित्। प्रणम्य मातरं पश्चात्पितरं प्रणमेद् गुरुम्" इति पुराण एव प्रथमं मातुः प्रणामाभिधानमिति न किञ्चिदेतत्।

अथ पञ्चमी कण्डिका

अथातश्चतुर्थीकर्म्म ॥ १ ॥

अब [विवाह के बाद चौथी रात्रि को होने वाले] चतुर्थी कर्म की विधि कहते हैं ॥ १ ॥

वर्त्तिष्यत इति शेषः। अथ शब्दो विवाहानन्तर्यार्थः। अतः शब्दो हेत्वर्थः। यत एतस्मिन्नक्रियमाणे वध्वाः पापो लक्ष्मी शरीरान्नापैति। अत एतदवश्यङ्कर्त्तव्यमिति। एवञ्चात्र कल्पे चतुर्थीहोमस्य पापीलक्ष्यादि-रूपाऽलक्षणफलन्न शाखान्तरवद् गोत्रसंक्रमणशरीरैक्यादि। अन्त एवतत्स-म्भवादित्युक्तमेव (२।३६-१३) तथाच दैवादेतदनिष्पत्तौ न विवाह-वैगुण्यमपीति स्मर्त्तव्यम्। अत्र च तैलोद्वर्तनादि कृत्वा युगकाष्ठ उपविश्य वध्वा सह यवमाषचूर्णेन स्नानमाचारादिति मुरारिमिश्राः प्राहुः ॥ १ ॥

अग्निमुपसमाधाय प्रायश्चित्ताज्याहुतीर्जुहोति "अग्ने प्रायश्चित्त" इति चतुः ॥ २ ॥

अग्नि का स्थापन कर पति 'अग्ने प्रायश्चित्ते' आदि प्रायश्चित संज्ञक चार मन्त्रों से आज्य के आहुतियों से यजन करे ॥ २ ॥

अग्निमुपसमाधायेत्युक्तार्थम्। प्रायश्चित्तेति। प्रायश्चित्तलिङ्गकैर्म्मन्त्रै-राज्याहुतयः प्रायश्चित्ताज्याहुतयः। "अग्ने प्रायश्चित्ते" इत्यादिमन्त्रेण चतुर्वारंचतुष्टयञ्जुहोति जुहुयात्। यद्यप्यत्र वीप्सा न श्रूयते तथापि कल्प्या, वक्ष्यमाणकात्यायनस्वरसात् तस्य तत्तात्पर्योन्नायकत्वात् ॥ ॥

तत्किमाम्नायपठितेनैव चतुश्चतुर्होमो, नेत्याह—

अग्नेः स्थाने वायुचन्द्रसूर्य्याः ॥ ३ ॥

[उनमें से द्वितीय आदि आहुति देते समय] अग्नि के स्थान पर 'वायु', 'चन्द्र' और 'सूर्य' पढ़ना चाहिए ॥ ३ ॥

क्रमशः सम्बोधनान्ताः "प्रयोक्तव्याः"इति सूत्रशेषः। समाम्नायपाठ-देतावानेव विशेषो न पुनरपरः कोऽपि। प्रथमस्यैव मन्त्रस्याग्निपदस्थाने वायुचन्द्रसूर्यपदप्रक्षेपमात्रेणाभ्यासोपदेशात्। तस्माच्चतसृष्वप्याहुतिषु पापीलक्ष्मीरिति पदमेव स्यात् ॥ ३ ॥

समस्य पञ्चमीं बहुवदूह्य ॥ ४ ॥

और, पाँचवी आहुति देते समय एक साथ [अग्नि, वायु, चन्द्र, और सूर्य] सभी को सम्बोधित करके बहुवचन करके पढ़ना चाहिए ॥ ४ ॥

समस्य-वायुचन्द्रसूर्या इत्युच्चार्य। बहुवदूह्य-प्रायश्चित्तयो यूयमित्येवमादिबहुवचनमूहयित्वा पञ्चमीमाहुतिञ्जुहोति[1]। न चैवम्पञ्चममन्त्रस्य यथाम्नायपठितस्य क्वाप्यत्राविनियोगे निरर्थकत्वापत्तिः। अत्र विनियुक्तस्यापि विनियोगान्तरसम्भवादस्मदादिभिस्तत्परिशेषस्य कर्त्तुमशक्यत्वात्। अन्यत्रान्यथा पठितविनियोगस्य महर्षिणा दर्शितत्वेनापर्यनुयोज्यत्वात्। तथा चाग्नेः स्थाने वाय्वाद्यूहेनाग्न्यादिसमस्तवचनान्तोहेन च मन्त्रपञ्चकं सम्पन्नं तच्चतुर्द्धाभ्यसनीयमिति आहुतीनां विंशतिर्भवतीति शास्त्रार्थः। प्रयोगो यथा--

"ॐअग्ने प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि, ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि याऽस्याः पापी [2]लक्ष्मीस्तामस्या अपजहि स्वाहा" ?

द्वितीय-तृतीय-चतुर्थीषु-वायो-चन्द्र-सूर्येति पुरस्ताद्योजनं विशेषः[3]। पञ्चमीं समस्य यथा--

---

१. जुहुयात्। अयमपि सूचितविशेषमात्रेण प्रथमस्यैव। "अग्ने प्रायश्चित्ते' इत्यादिमन्त्रस्याभ्यासोपदेशः। तेनाऽत्रापि पापीलक्ष्मीरिति पदमेव स्यात्। अत्रापि पञ्चमीति वीप्सा बोध्या।

२. अत्र"तनूरि"-ति क्वाचित्कोऽपपाठः। मन्त्रब्राह्मणादिष्वदर्शनात्। अर्थतस्तनूरित्येतदन्यत्।

३. मन्त्राम्नाये (मं० ब्रा० १।४।१) तु इत्थं पठ्यते--

"अग्ने प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि याऽस्याः पापीलक्ष्मीस्तामस्या अपजहि ॥ १ ॥ वायो प्रायश्चित्ते त्वं देवानाम्प्रायश्चित्तिरेति ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि याऽस्याः पतिघ्नी तनूस्तामस्या अपजहि ॥ २ ॥ चन्द्रप्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि याऽस्या अपुत्र्या तनूस्तामस्या अपजहि ॥ ३ ॥ सूर्य प्रायश्चित्ते त्वन्देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि याऽस्या अपशव्या तनूस्तामस्या अपजहि ॥ ४ ॥ अग्नि वायु-चन्द्रसूर्याः प्रायश्चित्तयो यूयन्देवानाम्प्रायश्चित्तयः स्थ ब्राह्मणो वो नाथकाम उपधावामि याऽस्याः पापीलक्ष्मीर्यापतिघ्नी याऽजपुत्र्या याऽपशव्या (तनूस-) तमस्या अपजहत स्वाहा ॥ ५ ॥" इति। एषामर्थाः। हे 'अग्ने !' 'प्रायश्चित्ते !' दोषाणां निष्कर्त्तः ! 'त्वं' 'देवानामिन्द्रादीनां 'प्रायश्चित्तिः' निष्कृतिः। दोषाणामपहन्ता 'असि' भवसि। यतोऽतः ब्राह्मणः' ब्रह्मण्यो वैदिको वा भूत्वाऽहम् 'त्वा' त्वां 'नाथकामः' आशीष्कामः। ऐश्वर्यकामो वा, प्रार्थयमानो वा 'उपधावामि' उपसर्पामि। आराधयामीत्यर्थः। उपधावनप्रयोजनाह 'या' अस्याः' वध्वा 'पापी' अशुभसम्बन्धिनी 'लक्ष्मीः' शोभा। 'ताम्'

ॐअग्नि-चन्द्र-वायु-सूर्याः प्रायश्चित्तयो यूयं देवानां प्रायश्चित्तयः स्थ। ब्राह्मणो वोनाथकाम उपधावामि याऽस्याः पापीलक्ष्मीस्तामस्या अपजहत स्वाहा" ॥ इति। अत्र द्वितीयपञ्चके—पापीलक्ष्मीस्थाने पतिघ्नीति विशेषः। तृतीये अपुत्र्या। चतुर्थे अपसव्येति विशेषो द्रष्टव्यः। एतच्च स्पष्टीकृतश्छन्दोगपरिशिष्टे कात्यायनेन।

"मन्त्राम्नायेऽग्न इत्येतत्पञ्चके लाघवार्थिभिः।
पठ्यते यत्प्रयोगे स्यान्मन्त्राणामत्र विंशतिः॥
अग्नेः स्थाने वायुचन्द्रसूर्य्या बहुवदूह्य च।
समस्य पञ्चमीं सूत्रे "चतुश्चतुरि"—ति श्रुतेः॥
प्रथमे पञ्चके पापीलक्ष्मीरिति पदम्भवेत्।
अपि पञ्चसु मन्त्रेषु इति यज्ञविदो विदुः॥
द्वितीये तु पतीघ्नी स्यादपुत्र्येति तृतीयके।
चतुर्थे चाऽपशव्येति—इत्थमाहुतिविंशकम् ॥" इति।

मन्त्राम्नाय इति पठ्यमानमन्त्रकाण्डे अग्ने प्रायश्चित्त इत्यारभ्य पञ्चमन्त्राः प्रायश्चित्ताहुतिलिङ्गः। लाघवकामैरध्येतृभिः पठ्यन्ते। तत्पञ्चकश्चतुर्थीहोमप्रयोगकाले ऊहेन मन्त्राणां विंशतिर्भवेदित्यर्थं। द्वितीय इत्यनन्तरं पञ्चक इत्यनुषज्यते। एवमग्रेऽपि। अत्र यथा श्रुते सूत्रेऽनुपपत्त्यभावाद्यथाम्नातमन्त्रपञ्चकस्यान्वयानुरोधाच्च पञ्चैवाहुतय इति स्वपद्धतौ वीरेश्वरादयः। कश्चित्तु—यथाम्नातैर्मन्त्रैः प्रत्येकम्मन्त्रं होमचतुष्टयमिति विंशतिराहुतय इत्याह। अन्यस्तु—मन्त्रचतुष्टये वीप्सा पञ्चमेन यथापठितेनेकैवाहुतिरिति सप्तदशाहुतयः। अपरस्तु—प्रथममन्त्र एव वीप्स मन्त्रान्तरैर्यथापठितैरेकैकाहुतिरित्यष्टावाहुतय इति। एतानि च सूत्रव्याख्यानानि परिशिष्टविरुद्धानीत्युपेक्षितानीति दिक्॥ ४॥

'अस्यै' एतत्कल्याणार्थम् षष्ठ्येव वा। 'अपजहि' अपहर। तस्यामपसारितायामस्याः शुभैव शोभा स्थास्यते। उत्तराणि चत्वारि मन्त्रवाक्यान्यनेनैव व्याख्यातानि। विशेषमात्रमुच्यते—'पतिघ्नी' पतिघातकलक्षणोपेता॥ "लक्षणे जायापत्योष्टक्" (पा० ३।२।५२) इति हन्तेष्टक्प्रत्ययो ङीप्। 'तनूः' देहावयवः। समुदायवचनोऽप्यवयवे वर्त्तते। ग्रामैकदेशे दग्धे ग्रामो दग्ध इतिवत्। 'अपजहि' अस्याः पतिघ्नीत्वं दोषमपनीय जीवपतित्वं कुर्वित्यर्थः। अत्र "सविशेषणे हि विधिनिषेधौ सति विशेष्येऽन्वयबाधे विशेषणमुपसंक्रामतः" इति न्यायोऽनुसर्त्तव्यः। पुत्रे मृते पुत्री मृत इतिवत्॥ २॥ 'अपुत्र्या' पुत्रस्य निमित्त या न भवति सा "पुत्राच्छच" (पा० ५।१।४०) इति यत्प्रत्ययः॥ पुत्रघातिनीलक्षणोपेतेत्यर्थः॥ ३॥ 'अपशव्या'—पशूनां गोमहिष्यादीनां निमित्तं वा न भवति सा। "गो द्व्यचः" (पा० ५।१।३९) इत्यादिना यत्प्रत्यये "ओर्गुणः" (पा० ६।४।१४६) इति गुणः। पशुघातिनीलक्षणोपेतेत्यर्थः॥ ४॥

आहुतेराहुतेश्च[1] सम्पातमुदपात्रेऽवनयेत् ॥ ५ ॥

[इन पाँच] आहुतियों को देते समय प्रत्येक के अन्त में स्रुव में लगे हुए घृत को उदकपात्र चमस में गिराता जाय ॥ ५ ॥

सम्पातं-स्रुवलग्नमाज्यम् । अवनयेत्-पातयेत् ॥ ५ ॥

तेनैनाꣳ सकेशनखामभ्यज्य ह्रासयित्वाऽऽप्लावयन्ति ॥ ६ ॥

॥ इति चतुर्थीकर्म्मणः परिसमाप्ति ॥ * ॥



उस [उदकपात्रस्थ आज्य जल] से इस [वधू] को पैर से शिर पर्यन्त सिक्त करके [असन अर्थात् अञ्जन आदि नखच्छेद एवं रोमच्छेद का] उद्वर्तन करके स्नान कराते हैं [बाद में सखी आदि नदी में स्नान करावें] ॥ ६ ॥

॥ इस प्रकार चतुर्थी कर्म पूर्ण हुआ ॥



तेन-उदकपात्रस्थसम्पाताज्येन । आज्यमिश्रितोदकेनेतिमुरारिमिश्राः । एनां-वधूम् । सकेशनखाम् । शिरस आरभ्य पादपर्यन्तम् । अभ्यज्य-म्रक्षयित्वा । अभ्युक्ष्येति मुरारिमिश्राः । ह्रासयित्वा-उद्वर्त्तनादिना तदञ्जनमपनीय । मुरारिमिश्रास्तु ह्रासनमुद्वर्त्तनादिकम् ।

"उद्वर्त्तनं नखच्छेदो रोमच्छेदनमेव च ।
स्रंसनं मेखलायाश्च ह्रासनादि बिदुर्बुधाः ॥"

इति वचनात् । आप्लावयन्ति-स्नापयन्ति । मन्त्रानुपदेशादमन्त्रकमेव । बहुवचनादनियतः कर्त्ता । तत आचारात्पतिः कृसरस्थालोपाकं सम्पाद्य पत्नीम्पृच्छति-किमत्र पश्यसि ? सा च वदति-पत्युः श्रीअमुकशर्म्मणो दीर्घायुष्ट्वमिति । सम्प्रदायादिदानीमेव तस्मिन्नेवाग्नौ धृतिहोमं पृथक्करणासामर्थ्ये शिष्टाः कुर्वन्ति । तस्य च स्वतन्त्रत्वादादावन्ते च व्याहृतिहोमः कर्त्तव्यः तदुक्तम् "आज्याहुतिषु पुरस्ताच्चोपरिष्टाच्च व्याहृतिभिर्होमः" । (१।९।२७) इति । तत आचाराज्जन्मग्रन्थिकङ्कणयोर्विमोचनम् । ततश्च वामदेव्यगानान्तं मन्त्रं समापयेदिति ॥ ६ ॥

॥ इति चतुर्थीकर्म्मणः परिसमाप्तिः ॥ * ॥



---

१. तेः स्रुवसम्पातमिति क्वचित्पाठः ॥

(अथ गर्भाधानम्)

ऊर्ध्वं त्रिरात्रात्सम्भव इत्येके ॥ ७ ॥

कुछ आचार्यों का मत है कि [विवाह के बाद] तीन रात्रि [ब्रह्मचर्य व्रत धारण करने] के बाद [चौथी रात को] स्त्री प्रसङ्ग करे ॥ ७ ॥

प्रकृतत्रिरात्रादूर्ध्वं–परतः [1]सङ्गतोभपत्यनेनेति संभवः संभोगः। कर्त्तव्य इत्येके। आचार्य्या मन्यन्ते। एष च–"त्रिंशद्वर्षोवहेत्कन्यां हृद्यां द्वादशवार्षिकीम्" इत्येवम्मन्वादिनाभिहितपुंयोगवयस्का वृषस्यन्ती[2] चेद्भवेद्वधूस्तदा––

"यथाकामी भवेद्वापि स्त्रीणां वरमनुस्मरन्।
स्वदारनिरतश्चैव स्त्रियो रक्ष्या यतः स्मृताः[3] ॥"

इति याज्ञवल्क्यवचनाद्रागतः प्राप्तोऽपि सकामस्य स्त्रीधर्म्मरक्षणार्थन्त्रिरात्रादूर्ध्वं पर्ववर्ज्यं स्वस्थस्य विधीयते। ततः प्राग्ब्रह्मचर्य्यस्य पुरस्तादभिहितत्वात्। तथाच मनुः––

"सूक्ष्मेभ्योऽपि प्रसङ्गेभ्यः स्त्रियो रक्ष्या विशेषतः।
द्वयोर्हि कुलयोः शोकमावहेयुररक्षिताः ॥" इति ॥
ऋतुकालेऽभिगमनं कार्य्यं पुंसा प्रयत्नतः।
सदैव वा पर्ववर्ज्यं स्त्रीणामभिमतं हि यत् ॥"

इति चैवमादि पराशरादिवचनश्चात्र प्रमाणम्। शुभकर्म्मनिर्णये तु नैतत्सूत्रं मुरारिमिश्रैर्धृतम् ॥ ७ ॥

स्वमते गर्भाधानकालमाह––

यदर्त्तुमती भवत्युपरतशोणिता तदा सम्भवकालः ॥ ८ ॥

[किन्तु गोभिलाचार्य का मत है कि नवोढा पत्नी पति के घर में आकर] जब ऋतुमती होती है; फिर जब उसका शोणित वेग (मासिक धर्म) पूर्ण हो, वही [रजोदर्शन से लेकर सोलह रात्रियों तक] सम्भोग का समय होता है ॥ ८ ॥

---

१. अत्र 'प्रादिभ्यो धातुजस्य वाच्यो वाचोत्तरपदलोपः" (पा० २।२।२४ वा०) इति बहुव्रीहिणागतपदलोपः ।

२. "वृषस्यन्ती तु कामुकी"–त्यमरः ॥

३. तेन जातपुत्रस्यागमनेऽपि न दोषो यदि स्त्री तावता (पुत्रैकजननेन) परितुष्टा नान्यं कामयेत । "पुत्रप्रयोजना दारा" इति स्मरणात् ॥

४. अस्यायमाशयः। भार्याया इच्छानतिक्रमेण प्रवृत्तिरस्यास्तीति यथाकामी। भवेत् वाशब्दो नियमान्तरपरिग्रहार्थो न पूर्वनियमनिवृत्त्यर्थः। तच्चाग्रे वक्ष्यते। स्त्रीणां

स्त्रीणां गर्भधारणयोग्यावस्थोपलक्षितः काल ऋतुः। स च रजोदर्शनदिवसादारभ्य षोडशाहोरात्रः। सोऽस्या अस्तीत्यृतुमती। सा यदा भवति। तत्रापि उपरतशोणिता। शोणितस्रावरहिता। तथाविधा च प्रायश्चतुर्भिरहोरात्रैर्भवति। तदा सम्भवस्य सङ्गमस्य (मैथुनस्य) कालो भवति। तदेतत्सामान्यतोऽभिहितम्। विशेषतस्तु तत्रापि पर्वादिवर्जित एव। सोऽपि सन्निहितस्य शक्तस्य (स्वस्थस्य) न सर्वस्येति बोध्यम।

तथाच याज्ञवल्क्यः—

"शोडशर्त्तुनिशाः स्त्रीणां तस्मिन्युग्मासु संविशेत्।
ब्रह्मचार्येव, पर्वाण्याद्याश्चतस्रस्तु वर्जयेत् ॥७९॥ (अ० १)
एवङ्गच्छन्स्त्रियं क्षामां मघां मूलञ्च वर्जयेत्।

वरमिन्द्रदत्तमनुस्मरन् "भवतीनां कामविहन्ता पातकी स्यादि"-ति। यथा-"ता अब्रुवन् वरं वृणीमहा ऋत्वियात् प्रजां विन्दामहै काममाविजनितोः सम्भवामेति। तस्मादृत्वियाः स्त्रियः प्रजां विन्दन्ते काममाविजनितोः सम्भवन्ति वारेवृतं ह्यासाम्" इति। अत्रान्ते "वं वृतं तासाम्" इत्यपि पाठो दृश्यते। एवं हि पुराणे स्मर्यते—विश्वरूपवधाद् ब्रह्महत्याभिभूत इन्द्रस्ताश्चतुर्द्धा व्यभजद् भूमौ जले-वृक्षे स्त्रीषु च। तत्र भूमावूषररूपेण क्वचित्क्वचित्सा तिष्ठति। जले विकाररूपेण। वृक्षे च रोगविशेष (गद्दार) रूपेण स्त्रीषु रजोरूपेण, यद्योगे सा दिनचतुष्टयमस्पृश्या भवति। तदानीन्तासामेतदेव वरं वृतमभवदिति। अपिच स्वदारेष्वेव निरतो नितरां रतस्तन्मनस्को भवेदित्यनुषज्यते। एवकारेण स्त्र्यन्तरगमनं निवर्तयति। प्रायश्चित्तस्मरणात्। उभयत्रापि दृष्टप्रयोजनमाह-"स्त्रियो रक्ष्या यतः स्मृता" इति यस्मात् स्त्रियो रक्ष्याः स्मृता उक्ताः। "कर्तव्याश्च सुरक्षिता" इति। तत्र सुरक्षितत्वं यथा-कामित्वेन स्त्र्यन्तराऽगमनेन च भवतीति तत्राह-तस्मिन् युग्मासु संविशेदिति ॥ ७९ ॥ किमयं विधि-नियमः-परिसंख्यावेति विकल्पे-मिताक्षराकारादीनां सिद्धान्तमवलम्ब्य शुभकर्मनिर्णये मुरारिमिश्राः प्राहुः-नायं विधिः। अज्ञातज्ञापकत्वाभावात्। "विरुणद्धि विधिं प्राप्तिर्विलम्बेनापि भाविनी"-ति बोधनात्। नापि परिसंख्यादोषत्रयापत्तेः। किन्तु तत्रान्ययोगव्यवच्छेदो वाक्यार्थः। इत्यनृतौ मैथुननिषेधलाभे "सकामामनृतावपी"-ति विष्णुपुराणविरोधः स्यात्। "ऋतौ नोपैती"ति बौधायनीयमनृतूपगमनदोषाभिधानमकामोपगमविषयम्। अतएव "अनृतौ तु सदा कार्यं शौचम्मूत्रपुरीषवदि"-ति शातातपीयवचनमपि सङ्गच्छते। तेन नियमोऽयं, ततश्च "ऋतावश्यमभिगच्छेत्। अन्यथाप्रत्यवायो भवति। तथा च व्यासः—"ऋतुस्नातान्तु यो भार्यां सन्निधौ नोपगच्छति। घोरायां भ्रूणहत्यायाम्पतते नात्र संशयः।" इति। नारायणोपाध्याया अप्येवम्। अत्र शातातपीयवचने "ऋतौ तु गर्भशङ्कित्वात्स्नानं मैथुनिनः स्मृतमि"ति पूर्वार्द्धे विशेष उपन्यस्तः स न विस्मर्तव्यः॥ अत्रोक्तव्यासवचने-पतते-इत्यस्य स्थाने पच्यते-युज्यते-इत्येवं पाठभेद उपलभ्यतेऽर्थे न विशेषः॥

१. एवमिति। एवममुना प्रकारेण। स्त्रियं गच्छन्। क्षामां कृपामल्पसत्वां गच्छेत्। सा(क्षामता) च तस्मिन्काले रजस्वला व्रतेनैव भवति। अथ चेन्न भवति कर्त्तव्या क्षामता

सुस्थ इन्द्रौ सकृत्पुत्रं लक्षण्यं जनयेत्पुमान् ॥ ८० ॥ इति ।

तस्मिन्नृतौ । युग्मासु समासु षष्ठाष्टमादिषु । रात्रिषु । रात्रि-ग्रहणाद्दिवसप्रतिषेधः । संविशेत्—गच्छेत् । [1]पुत्रार्थम् । युग्मास्विति बहुवचनं समुच्चयार्थम् । अतश्चैकस्मिन्नपि ऋतौ अप्रतिषिद्धासु सर्वासु युग्मासु रात्रिषु गच्छेत् । एवं गच्छन्नपि ब्रह्मचार्येव "भवति"—इति शेषः । अतो यत्र ब्रह्मचर्यं श्राद्धादौ चोदितन्तत्राग्रे समयालाभे गच्छतोऽपि न ब्रह्मचर्यस्खलनदोषोऽस्ति । किन्तु—पर्वाणि—आद्याश्चतस्रश्चरात्रीर्वर्जयेत् । पर्वाणि पञ्चयथा च स्मर्यते—

"चतुर्दश्यष्टमी चैव अमावास्या च पूर्णिमा ।
पर्वाण्येतानि राजेन्द्र ! रविसङ्क्रान्तिरेव च ॥" इति ।

रविसंक्रान्तिर्मेषादिषु राशिषु सूर्यस्य गमनसमयः । मनुरप्याह—

"अमावास्यामष्टमीञ्च पौर्णमासीञ्चतुर्दशीम् ।
ब्रह्मचारी भवेन्नित्यमप्यृतौ स्नातको द्विजः ॥" इति ।

अतोऽमावास्यादीनि रजोदर्शनादारभ्य चतस्रो रात्रीश्च वर्जयेदिति मिताक्षराकारः । पर्वाणीति बहुवचननिर्देशादाद्यर्थावगमादन्येषामपिग्रहणं, यथाचाग्रे स्फुटीभविष्यति ॥

दक्षिणेन पाणिनोपस्थमभिमृशेत् । "विष्णुर्योनि कल्पयत्वे"—तयर्चा । "गर्भन्धेहि सिनीवाली"—ति च ॥ ९ ॥

(मं० ब्रा० १।४।६–७)

पहले पति अपने दाहिने हाथ से 'विष्णुर्योनि कल्पयतु' और 'गर्भं धेहि सिनीवाली' इन दोनो ऋचाओं को पढ़कर पत्नी की योनि का मार्जन करे ॥ ९ ॥

पुत्रोत्पत्यर्थमल्पास्निग्धभोजनादिना । "पुमान्पुंसोऽधिके शुक्रे स्त्री भवत्यधिके स्त्रियाः" इति वचनात् । यदा युग्मायामपि रात्रौ, शोणिताधिक्यं तदा स्त्र्येव भवति पुंप्रकृतिः । एवम् अयुग्मायामपि पुंशुक्राधिक्ये पुमानेव भवति स्त्रीप्रकृतिः । कालस्य तत्र निमित्तत्वात् । शुक्रशोणितयोश्चोपादानकारणत्वेन प्राबल्यात् । तस्मात्सामा कर्त्तव्या । मघामूलनक्षत्रे वर्जयेत् । इन्दौ—चन्द्रे । सुस्थे एकादशादिशुभस्थानगते । चकारात्पुंनक्षत्रशुभयोगलग्नादि-सम्पत्तौ । सकृदेकस्यां रात्रौ न द्विस्त्रिर्वा । ततो लक्षण्यं—लक्षणैर्युक्तम्पुत्रं जनयेत् । पुमान्—अप्रतिहतपुंस्त्व इत्यर्थः ॥

1. एतेन जातपुत्रस्य तु नायं विधिः । किन्त्विच्छयैव नियामिकेत्याहुः ।

यदा प्रथमं[1] सम्भवेत्तदा दक्षिणेन पाणिना। उपस्थं—योनिम्। "उपस्थः शेफसि क्रोडे तथा मदनमन्दिर" इति मेदिनी। अभिमृशेत्—स्पृशेत्। विष्णुर्योनिं" "गर्भन्देही"—त्येताभ्यामृग्भ्याम्। यद्यपि "दक्षिणेन पाणिना[2] कृत्यमनादेशे" इति परिभाषात एव प्राप्तेर्दक्षिणेनेति विशेषणमयुक्तमिव प्रतिभाति। तथापि शौचादौ सव्यस्यैव विनियोजनादत्रापि गुह्याङ्गे तथा भ्रमो माभूदिति तदुपादानम्। मन्त्रौ यथा—

"विष्णुर्योनिं कल्पयतु त्वष्टा रूपाणि पिंशतु।
आसिञ्चतु प्रजापतिर्धाता गर्भन्दधातु ते ॥ ६ ॥
गर्भन्धेहि सिनीवालि गर्भन्धेहि सरस्वति।
गर्भन्ते अश्विनौ देवावाधत्तां पुष्करस्रजौ ॥ ७ ॥

अनयोरर्थौ—हे वधु! 'विष्णुः' नारायणः 'ते' तव 'योनिं' 'कल्पयतु' सुप्रसवसमर्थङ्करोतु[3]। 'त्वष्टा' भूस्थानदेवता (निघं० ५।५।११) 'रूपाणि' 'पिंशतु' प्रकाशयतु[4]। किञ्च 'प्रजापतिः' विधाता तामेव योनिम् 'आसिञ्चतु' यावन्मात्रेण बीजेन गर्भो भवति तावन्मात्रमेव प्रक्षेपयत्वित्यर्थः। किञ्च 'धाता' सर्वस्य प्रसविताऽऽदित्यो मध्यस्थानदेवता (निघं० ५।५।६) 'ते' तव 'गर्भं' पुत्रार्थ'न्दधातु' स्थापयतु[5] ॥ ६ ॥

---

१. "ऊढायाः प्रथमार्त्तवे" इति वचनात्। गर्भसंस्कारश्चायं गर्भाधानाख्यः पात्रद्वारेण स्यात्ततश्च सकृत्संस्कृते स्त्रीद्रव्ये यो यो गर्भ उत्पत्स्यते स स संस्कृत एव भविष्यति तस्मात् सकृदेव स्यान्न प्रतिगर्भम्। एवं पुंसवनसीमन्तोन्नयने अपि द्रष्टव्ये। इति भट्टनारायणादयः। त्रयोऽप्यमी संस्काराः प्रतिगर्भमावर्त्तन्तेऽन्यथा परेषाङ्गर्भाणामसंस्कारः स्यादिति कर्कोपाध्यायाः। गर्भाधानं प्रतिगर्भमावर्त्तते न पुंसवनसीमन्तोन्नयने। इति विज्ञानेश्वरः। सीमन्तोन्नयनं प्रतिगर्भन्नावर्त्तते। गर्भाधानपुंसवने आवर्त्तेते एवेति शूलपाणिगार्ग्यनारायणप्रभृतयः। किंपुनरत्रयुक्तम्? शूलपाण्यादिमतमेष। "ऋतावृतावि"ति स्मरणात्। "ऊढायाः प्रथमार्त्तवे" इति तु मातृश्राद्धपरम्। "असकृद्यानि कर्म्माणि क्रियेरन्कर्मकारिणा। प्रतिप्रयोगं नैवं स्युर्मातरः श्राद्धमेव च" ति कर्म्मप्रदीपस्मरणात्। तथाचात्र प्रथममिति व्याख्यानं सुरारि मिश्रीयमन् दिनं द्रष्टव्यम्। तस्य च प्रथमानतिक्रमएव तात्पर्यम्। संवदति चामुमर्थमग्रेतनं सूत्रम् "अथ सीमन्तकरणं प्रथमगर्भे" इति ॥

२. तथाच कर्म्मप्रदीप, "कर्मोपदिश्यते यत्र कर्त्तुरङ्गं न चोच्यते। दक्षिणस्तत्र विज्ञेयः कर्म्मणां पारगः कर" इति ॥

३. "कृपूसामर्थ्ये" (भ्वा० आ०) णिजन्तात्प्रार्थनायां लोट्।

४. "पिश अवयवे" (तु० प०) मुचादित्वान्नुम्। अयन्दीपनायामपीति दीक्षितचरणाः (सि० कौ०) प्राहुः ॥

५. लोडाशंसायाम् ॥

पूर्वामावास्या[1] सिनीवालिः (दृष्टेन्दुः) सा प्रार्थ्यतेऽस्या अतिशुभलक्षणप्रप्सया[2]। हे 'सिनीवालि' अस्यां वध्वां 'गर्भन्धेहि' बन्ध्यात्वमस्या अपनयेत्यर्थः। तथा हे 'सरस्वति' त्वमप्यस्यां 'गर्भन्धेहि' त्वदनुध्यानादस्या गर्भो विद्वत्प्रकाण्डं भवितेत्यर्थः। हे वधु ! 'ते' तव 'गर्भम्' 'देवौ' दीप्त्यादिगुणवन्तौ 'अश्विनौ' सूर्याचन्द्रमसौ। [3]द्यावापृथिव्यावहोरात्रे वा (निघं० ५।६।१) 'आधत्ताम्' त्वदात्मनास्थित्वा समाधत्तामिति बृहदारण्यकभाष्यव्याख्यायामानन्दगिरिः। कथम्भूतौ ? 'पुष्करस्रजौ' 'पद्ममालिनौ। इति गुणविष्णुः। स्वकीयरश्मिमालिनावित्यानन्दगिरिः ॥ ९ ॥

समाप्यर्चौ सम्भवतः ॥ १० ॥

॥ इति श्रीमद्गोभिलीयगृह्यसूत्रे द्वि० प्र० स्य पञ्चमी कण्डिका ॥२॥५॥*॥



दोनो ऋचाओं की समाप्ति पर [अर्थात् मन में पढ़ लेने के बाद] समागम करे ॥ १० ॥

॥ इस प्रकार गोभिल गृह्यसूत्र के द्वितीय प्रपाठक के पञ्चम कण्डिका की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत 'अनाकुला' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ ५ ॥



समाप्येति। ऋग्द्वयानन्तरमेवा[4]भिगच्छेदित्यर्थः। यदि दैवादिनाऽत्र मुख्यकालातिपत्तिः स्यात्तत्राह—गृह्यासंग्रहकारः—

"ऋतुपुंसवने दैवात्स्वकाले न कृते यदि।
सीमन्तकरणात्पूर्वं कृत्वा सीमन्तमाचरेत् ॥"

इति। ऋतु–गर्भाधानम्[5]। कात्यायनः—

---

१. "या पूर्वाऽमावास्या सा सिनीवाली योत्तरा सा कुहूः" इति श्रुतिः ॥

२. इन्दुदर्शनी सा शुभलक्षणलक्षितेति तदधिष्ठातृदेवता प्रार्थ्यते ॥

३. अत्र द्यौर्ज्योतिषाऽश्नुते व्याप्नोति। पृथिवीरसेनान्नलक्षणेनेत्यश्विनौ। अश्वैर्विनिः। एवमहर्ज्योतिषा, रात्रिरवस्यायेन। सूर्योज्योतिषा चन्द्रमा रसेनाह्लादादिना वा। इत्यश्विनौ पदव्याख्यायां देवराजयज्वानः प्राहुः ॥

४. ऋचौ समाप्य सम्भवत एव न पुनरन्तरा किंचित्कुर्यात्। इति कालार्थं वचनव्यक्तिः कर्त्तव्या। तेन पूर्वत्र सूत्रितोऽभिमर्शोऽपि ऋचोः परतो न स्यात्किन्तु तत्पाठसमकालमेवेति सिद्ध्यति ॥

५. अस्य पुरस्ताच्चोपरिष्टाच्च महाव्याहृतिभिर्होतव्यम्। "अग्नेस्तु मारुतोनाम गर्भाधाने विधीयते" इति गृह्यासङ्ग्रहोक्तेर्नामकरणेनैवाग्नेराज्याहुतिरुपतिष्ठते। तत्र च नियमतो व्याहृतिहोमः पुरस्ताच्चोपरिष्टाच्चोक्तः (१-९-२७) एव ॥

"देवतानां विपर्यासे जुहोतिषु कथम्भवेत्।
सर्वंप्रायश्चित्तं हुत्वा क्रमेण जुहुयात्पुनः॥
संस्कारा अतिपद्येरन्स्वकालाच्चेत्कथश्चन।
हुत्वैतदेव कर्त्तव्या ये [1]तूपनयनादयः॥" इति॥

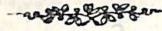
सर्वप्रायश्चित्तं—व्याहृतिहोमः। शाट्यायनहोम इति वीरेश्वरः। क्रमेणेति। यतो विपर्यासस्तत एवेत्यर्थः। तदुक्त तेनैव—

"यतस्तदन्यथाभूतं तत एव समापयेत्"। इति।

एतदेव सर्वप्रायश्चित्तमेव। एतदादौ वृद्धिश्राद्धे प्रमाणमुक्तपूर्वमिति॥ १०॥

इति गर्भाधानम्

॥ इति श्रीमद्गोभिलीयगृह्यसूत्रव्याख्यायां "मृदुला"ख्यायां मुकुन्दशर्म्मसङ्कलितायां द्वितीयप्रपाठकस्य पञ्चमी कण्डिका॥ २॥ ५॥ *॥



१. एतेन चूडाकरणपर्यन्तमेव सर्वप्रायश्चित्तहोमः प्रायश्चित्तम्। उपनयनातिपाते तु व्रात्यस्तोमः शाखान्तरे पठ्यते। स एव प्रायश्चित्तं दोषगुरुत्वादित्यभिप्रायः॥

अथ षष्ठो कण्डिका

(अथ पुंसवनम्)

तृतीयस्य गर्भमासस्यादिसदेशे पुंसवनस्य कालः ॥ १ ॥

गर्भाधान के बाद तीसरे मास के प्रथम पक्ष के आदि में [अष्टमी के भीतर ही] पुंसवन (पुमान् बालक की उत्पत्ति रूप) संस्कार का काल समझना चाहिए ॥ १ ॥

गर्भो यस्मिन्मासि जायते सोऽयङ्गर्भमासस्तस्य यस्तृतीयो मासः। सम्बन्धलक्षणा षष्ठी तृतीयो यो गर्भमासः। गर्भादारभ्य यस्तृतीय इति वा व्याख्येयम्। तस्य। आदिसदेशे–अदि–समीपप्रदेशे प्रथमे तृतीयभाग इत्यर्थः। एतस्मिन्काले यत् पुण्यमहस्तत्पुंसवनस्य कालः। तथाच पारस्करोऽपि "मासि द्वितीये तृतीये वाऽऽपूर्यमाणपक्षे[1] पुण्याहे। यदहः पुंसा नक्षत्रेण चन्द्रमा युज्यते" इति। अत्र द्वितीय इति वाजसनेयिमात्रपरमिति मुरारिमिश्राः। आपूर्यमाणपक्षे—शुक्लपक्षे। पुण्याह इति पुण्ये शोभने विष्टयादिरहिते दिने इत्यर्थः। पुंसा नक्षत्रेण–पुन्नामधेयेन हस्तपुष्यादिना। पुंसवनस्य पुमान्सूयते येन कर्म्मणा तदिदं पुंसवनं गर्भसंस्कारकर्म्मणो नामधेयम्। अनेन हि कर्म्मणाऽव्यक्तलिङ्गं गर्भं पुमांसङ्करोति "पुंसवनात्पुंसी करोती"ति श्रवणात्। अत्र कालातिपाते प्रायश्चित्तमुक्तमधस्तादनुपदम् ॥ १ ॥

प्रातः सशिरस्काऽऽप्लुतोदगग्रेषु दर्भेषु पश्चादग्रेषु दर्भेषु प्राच्युपविशति ॥ २ ॥

प्रातःकाल उत्तराग्र कुशासन पर [गर्भवती वधू को] शिर के सहित समस्त शरीर को जल से सिक्तकर, अग्नि के पश्चिम दिशा में आस्तृत दर्भ पर प्राची मुख होकर [अर्थात् अग्नि के सामने मुहँ करके] बैठना चाहिए ॥ २ ॥

प्रातरुदयसन्निधौ[2] उत्तराग्रेषु कुशेषूपविष्य। सशिरस्काऽप्लुता।

---

१. अत्र यस्मिञ्छुक्लपक्षे तिथिक्षयो (अवमं) न भवेत्सोऽपि आवश्यकतया बोध्यते।

२. अन्यथा "प्रागावर्त्तनादहः" (१–१–३) इति प्राप्तत्वात्पुनरुक्तत्वापत्तेः। तथाच स्मरन्ति "प्रातः कालोमुहूर्त्तांस्त्रीन्" इति। तत्राद्यमुहूर्त्तस्य निषिद्धत्वात्तदुपरितनः कालोऽत्र विवक्षितः॥

शिरः स्नाता वधूः । पत्या संस्कृतस्याग्नेः पश्चादुत्तराग्रेषु कुशेषु प्राङ्मुखो उपविशेत्पत्युर्दक्षिणतः । "दक्षिणतः पाणिग्राहस्योपविशती"—त्यन्यत्र दर्शनात् । एवम् उपविष्टायान्तस्यां व्याहृतिहोमान्तङ्कर्म्म कुर्यात्पतिः ॥ २ ॥

पश्चात्पतिरवस्थाय दक्षिणेन पाणिना दक्षिणमंꣳसमन्ववमृश्यानन्तर्हितन्नाभिदेशमभिमृशेत् "पुमाꣳसौ मित्रावरुणा" वित्येतयर्चा ॥ ३ ॥

(मं० ब्रा० १।४।८)

उसके पीछे पति अवस्थित होकर उस वधू को गोद में बैठाकर दाहिने हाथ से उसके दाहिने कन्धे का स्पर्श कर 'पुमांसौ मित्रावरुणौ' इस ऋचा से उसके वस्त्राच्छादन की डोरी खोलकर नाभि प्रदेश का स्पर्श करे। (मन्त्रार्थ है—'आदित्य और प्रचेता पुमान् हैं, जैसे देवताओं के वैद्य अश्विन-द्वय पुमान् हैं और जैसे अग्नि एवं वायु पुमान् है वैसे ही तुम्हारे उदर में गर्भ पुमान् होवे' ॥ ३ ॥

पश्चात्—पृष्ठदेशे अवस्थाय—प्राङ्मुख ऊर्ध्वजानुःस्थित्वा दक्षिणम् अंसम्, भुजशिरः (अंशः) "स्कन्धो भुजशिरो सोऽस्त्री"—त्यमरः । तूष्णीम्[1] । अन्ववमृश्य । पृष्ठतोऽन्ववलम्ब्य स्पृष्ट्वा । अनन्तर्हितम् । अव्यवहितम् (वस्त्राद्यनाच्छादितम्) अभिमृशेत्—स्पृशेत् । "पुमांसावि"त्येतयर्च्चा, सा यथा—

"पुमाꣳसौ मित्रावरुणौ पुमांसावश्विनावुभौ ।
पुमानग्निश्च वायुश्च पुमान्गर्भस्तवोदरे" ॥ ८ ॥ इति ।

अस्या अर्थः । अत्र साकाङ्क्षत्वाद्वाक्यस्य यथा तथेत्यस्तु इति चाध्याहार्य्यम् । तथाच—यथा 'पुमांसौ' 'मित्रावरुणौ' आदित्यप्रचेतसौ । यथा च "अश्विनौ" देवभिषजौ 'पुमांसौ' । यथा च 'अग्निः वायुश्च' पुमान् । तथा 'तव' उदरे' कुक्षावयं 'गर्भः पुमान्' अस्तु ॥ इति ॥ ३ ॥

अथ यथार्थम् ॥ ४ ॥

इसके बाद जैसा कर्म कहा गया हैं वैसा करना चाहिए [अर्थात् वामदेव्य गान तक सभी कर्म का समापन करे] ॥ ४ ॥

अथ—अनन्तरम् । यथार्थमिति कर्म्मणः परिसमाप्तिरुच्यते । वामदेव्यगानान्ततन्त्रसमापनमत्र कर्त्तव्यम् ॥ ४ ॥

---

१. अत्र तूष्णीमंसस्याभिमर्शनम् । मन्त्रेण नाभिदेशस्येति भट्टनारायण—मुरारिमिश्र—प्रभृतयः ॥

अथाऽपरम् ॥ ५ ॥

इस [पुंसवन कर्म] के अनन्तर दूसरा [शुङ्गाकर्म संज्ञक] पुंसवन करना चाहिए ॥ ५ ॥

अथैतस्मात्पुंसवनकर्म्मणोऽनन्तरम् अपरमन्यद् द्वितीयं पुंसवनं शुङ्गान् कर्मसंज्ञकम् । "कर्त्तव्यम्"[1] इति वाक्य शेषः । पाठादेवाऽऽनन्तर्यलाभादथ-शब्दः पूर्वप्रकृतार्थो वा वर्णनीयः । पूर्ववदिदमपि पुंसवनम्पूर्वप्रकृत एव काले करणीयमित्यर्थः । तच्चैकदिने दिनद्वये वेति विशेषोऽत्र न गम्यतेऽतः प्रथम-दिने चेद्द्वयङ्क्रियते तर्हि नान्दीश्राद्धमपि तन्त्रेणैव कर्तव्यम् । तथाच कर्म्मप्रदीपः——

"गणशः क्रियमाणेषु मातृभ्यः पूजनं सकृत् ।
सकृदेव भवेच्छ्राद्धमादौ न पृथादिषु ॥" इति ॥ ५ ॥

तस्येतिकर्त्तव्यतामाह—

प्रागुदीच्यान्दिशि न्यग्रोधशुङ्गामुभयतः फलामस्रामामकृमिपरि-सृप्तान्त्रिः सप्तैर्यवैर्माषैर्वा परिक्रीयोत्थापयेत् ॥ ६ ॥

पूर्व और उत्तर की [ईशान] दिशा में अवस्थित वट के शुङ्ग अर्थात् अस्फुटित पत्र [=टेरी] को जिसके दोनों ओर फल हो, मुरझाया न हो और कृमि रहित हो इस प्रकार उस वट वृक्ष के मालिक से इक्कीस यवों अथवा उड़द से खरीद कर वृक्ष से तोड़ना चाहिए ॥ ६ ॥

प्रागुदीच्यामैशान्याम् । दिशि अवस्थितायाः । न्यग्रोधस्य–बटस्य । "न्यग्रोधो बहुपाद्वटः" इत्यमरः । शुङ्गाम्–"लताग्रपल्लवो गूढः शुङ्गेति परिगीयते" इति कात्यायनोक्तलक्षणां (मुकुलितपल्लवरूपाम्) कथम्भू-ताम् ? उभयतः फलाम्—उभयतः पार्श्वद्वये फले यस्यास्ताम् । अस्रामाम्–अम्लानाम् । इति मुरारिः[2] । अकृमिपरिसृप्ताम् । कृमिभिरव्याप्ताम् । एवम्भूतां परिक्रीय–क्रीत्वा उत्थापयेत् । गृह्णीयात् । कियतामूल्येनेत्यत्राह–त्रिः सप्तैरिति[3] । त्रिरावृतैः सप्तभिः । एकविंशत्या यवैर्माषैर्वेत्यर्थः ।

---

१. तदेतत्प्रथमे कृते फलानुपलब्धौ द्वितीये गर्भे कर्तव्यमिति मे प्रतिभाति । पद्धति-कृतस्तु–यथालिखितमाहुः ॥

२. मेदिन्यां तु "नीलिकायामथश्रामो मासे मण्डपकालयोः इति तालव्यादिः श्राम-शब्द उक्तः । तेनाश्रामामिति पाठेऽविद्यमानकालिमामितितदर्थः ॥

३. अत्र क्रियाभ्यावृत्तिगणने "द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच्" (पा० ५।४।१८) इति सुच् । त्रिःसप्तै-रिति बहुव्रीहिः ।(पा० २।२।२५) ततोडच् (पा० ५।४।७३) समासान्तः । टिस्वाट्टिलोपः ॥

क्रयश्च वृक्षस्वामिनो न वृक्षात् । यवान्माषान्वा मूले निःक्षिप्य[1] परिक्रयण-मित्येके प्राहुः ॥ ६ ॥

अथ क्रयणमन्त्राः—

"यद्यसि सौमी सोमाय त्वा राज्ञे परिक्रीणामि" ॥ १ ॥
"यद्यसि वारुणी वरुणाय त्वा राज्ञे परिक्रीणामि" ॥ २ ॥
"यद्यसि वसुभ्यो वसुभ्यस्त्वा परिक्रीणामि" ॥ ३ ॥
"यद्यसि रुद्रेभ्यो रुद्रेभ्यस्त्वा परिक्रीणामि" ॥ ४ ॥
"यद्यस्यादित्येभ्य आदित्येभ्यस्त्वा परिक्रीणामि" ॥ ५ ॥
"यद्यसि मरुद्भ्यो मरुद्भ्यस्त्वा परिक्रीणामि" ॥ ६ ॥
"यद्यसि विश्वेभ्यो देवेभ्यो विश्वेभ्यस्त्वादेवेभ्यः परिक्रीणामि" ॥७॥

वट शुङ्गों की खरीद के समय निम्न सात मन्त्रों का पाठ करे—हे शुङ्गे ! यदि तुम सोम देवता की प्रिय हो तो मैं तुम्हें सोमराजा की प्रीति के लिए खरीदता हूँ [१] यदि तुम वरुण देवता की प्रिय हो तो मैं तुम्हें वरुण राजा की प्रसन्नता के लिए खरीदता हूँ [२] यदि तुम अष्ट वसुओं की प्रिया (प्रीति के लिए उत्पन्न हुई) हो तो मैं तुम्हें उन वसुओं के लिए खरीदता हूँ [३] यदि तुम रुद्रों की प्रिया हो तो मैं तुम्हें उन रुद्रों के लिए खरीदता हूँ [४] यदि तुम [द्वादश] आदित्यों की प्रिया हो तो मैं उन आदित्यों के लिए तुम्हें खरीदता हूँ [५] यदि तुम [उनचास] मरुतों की प्रिया हो तो मैं तुम्हें उन मरुतों के लिए खरीदता हूँ [६] यदि तुम विश्वे देवों की प्रिया हो तो मैं तुम्हें उन विश्वेदेवों के लिए खरीदता हूँ [७] ॥ ७ ॥

अत्र "यद्यसि" इत्यादिक्रयलिङ्गैः सप्तभिर्मन्त्रैर्यवैर्माषैर्वापरिक्रयणं, प्रतिमन्त्रं त्री–'स्त्रीन् यवान्माषान्वावृक्षमूले प्रक्षिप्येति पद्धतिकृतोवीरे-श्वरादयः । मन्त्रार्थस्तु--

हे शुङ्गे ! त्वं 'यदि' 'सौमी' सोमप्रिया सोमदेवत्या वा 'असि' भवसि । तदा 'सोमाय' 'राज्ञे' सोमराजप्रीत्यर्थमेव 'त्वा' त्वां 'परिक्रीणामि' । एवमग्रेऽपि । अत्र सर्वत्र तादर्थ्ये (पा० १।४।४४वा०) चतुर्थी । उपकार्यो-पकारकभावसम्बन्धश्च तादर्थ्यम् । "कृत्तद्धितसमासेभ्यः सम्बन्धाऽभिधानं भावप्रत्ययेने"ति सिद्धान्तात् ॥ १–७ ॥ ७ ॥

---

१. एवञ्च यस्याश्मीयोऽपि न्यग्रोधो भवेत्तेनापि सोमक्रयणवत्क्रयणमवश्यं कार्यम् ॥

(अथोत्थापनमन्त्रः)

ततश्च

"ओषधः सुमनसो भूत्वाऽस्यां वीर्यं समाधत्त इयङ्कर्म्म करिष्यती" त्युत्थाप्य तृणैः परिधायाऽऽहृत्य वैहायसीं निदध्यात् ॥ ८ ॥

'हे ओषधियो ! तुम सब प्रसन्न होकर इस वधू में वीर्य का समाधान करो जिससे यह वधू कष्टरहित प्रसव करे'-इस मन्त्र से उखाड़े हुए शुङ्ग को तृण से ढककर उसे लाकर [घर की छत पर] आकाश की ओर करके रखे ॥ ८ ॥

"ओषधयः" इत्यनेन मन्त्रेणेति कारान्तेनोत्थाय-उत्तोल्य । तृणैः कुशैः । तथैव समाचारात् । पद्धतिरप्येवमेव । परिधाय-परिधाप्य । अन्तर्भावितण्यर्थोऽयम् । वेष्टयित्वा । आहृत्य-आनीय । वैहायसीम्-आकाशस्थां कृत्वा गृहोपरि अधो वा निदध्यात् धारयेत् । मन्त्रार्थस्तु-हे 'ओषधयः'। ओषधिदेवताः ! । "ओषधिः फल[1]पाकान्ता स्या"-दित्यमरादिकारान्तोऽपि । ङीषि ओषधीत्यपि । रात्रिः रात्रीतिवत् । यूयं 'सुमनसः' प्रसन्ना 'भूत्वा' 'अस्यां' वध्वां[2] 'वीर्यम्' [2]सामर्थ्यम् । 'समाधत्त'[3] सम्यग्वीर्याधानं कुरुत । कुतः ? यतः 'इयं' वधूः 'कर्म्म' गर्भप्रसवनाख्यं[4] त्वत्सेवाञ्च 'करिष्यति' । 'इति' हेतोरिति सत्यव्रतः ॥ ८ ॥

तां खल्वाहृतां शुङ्गाम्—

दृषदं प्रक्षाल्य ब्रह्मचारी व्रतवती वा ब्रह्मबन्धुः कुमारीं वाऽप्रत्याहरन्तीं पिनष्टि ॥ ९ ॥

इसके बाद सील-लोढ़े को अच्छी प्रकार से धोकर उस पर कोई ब्रह्मचारी [अथवा ऐसा गृही जो ऋतुकाल में ही अपनी भार्या के पास गमन करता हो], पतिव्रता [किसी के मत से वही गर्भवती स्त्री] या कोई अनपढ़ कुमारी अविश्राम होकर बिना रुके हुए उसे पीसे ॥ ९ ॥

व्याहृतिहोमान्ते । दृषच्छिला ([5]पेषणो) तां प्रक्षाल्य-शोधयित्वा । ब्रह्मचारी-प्रथमाश्रमी । व्रतवती-पतिव्रता । गर्भिण्येवेत्येके । ब्रह्मबन्धुः ।

---

१. फलानां पाके एवान्तोयासान्ताः ।

२. क्रीतायां वटशुङ्गायाम् ।

३. अर्पयत ॥

४. पुंसवनाख्याम् ॥

५. पिनष्ट्यस्यामित्यधिकरणे ल्युट् । ङीप् । तत्करणभूतं लोढकञ्च ॥

अन[1]धीतविद्यः। तथाचच्छन्दोगपरिशिष्टम्--"पतिव्रता व्रतवती ब्रह्मबन्धूस्तथाऽश्रुतः।।" इति। अप्रत्याहरन्ती-प्रत्याहरणं पिष्टस्य पश्चादानयनम्।[2] तदकुर्वती। पिनष्टि-चूर्णीकरोति। "पिष्लृ सञ्चूर्णने" (रु० प०) लट्। मध्ये श्नम्। शुङ्गामित्यनुषञ्जनीयम्॥ ९॥

वधूश्च--

प्रातःसशिरस्काऽऽप्लुतोदगग्रेषु दर्भेषु। पश्चादग्नेरुदगग्रेषु दर्भेषु प्राक्शिराः संविशति॥ १०॥

प्रातःकाल वधू उत्तराग्र कुशों पर बैठकर शिर से स्नान करके अग्नि के पश्चिम ओर उत्तराग्र कुशासन पर पूर्व की ओर सिर करके लेट जाए॥ १०॥

प्राक्शिराः--पूर्वशिरस्का। संविशति-स्वपिति। "स्यान्निद्राशयनं स्वापः स्वप्नः संवेश इत्यपि" इत्यमरः। शेषमुक्तार्थम्॥ १०॥

पश्चात्पतिरवस्थाय दक्षिणस्य पाणेरङ्गुष्ठेनोपकनिष्ठिकया चाङ्गुल्याऽभिसंगृह्य दक्षिणे नासिकास्रोतस्यवनयेत्। "पुमानग्निः पुमानिन्द्र" इत्येतयर्चा॥ ११॥

(मं. ब्रा. १।४।६)

पति [वधू के] पीछे रहकर दाहिने हाथ की अनामिका अंगुलि और अँगूठे से [पीसे हुए शुङ्ग के रस को] लेकर उसके दहिने नाक के छिद्र में पुमानग्निः पुमानिन्द्रः' आदि ऋचा से डाले॥ ११॥

अभिसंगृह्य-गृहीत्वा। पिष्टां शुङ्गाम्। नासिकास्रोतसि-नासापुटरन्ध्रे। वध्वा एव। अवनयेत् क्षिपेत्।[3] "पुमानग्निरि"ति मन्त्रेण। शेषमुक्तार्थम्। मन्त्रो यथा—

"पुमानग्निः पुमानिन्द्रः पुमान्देवो बृहस्पतिः।
पुमाꣳसं पुत्रं विन्दस्व तम्पुमाननुजायताम्॥" ॥ ६॥

---

१. कुत्सार्थेऽत्र बन्धुन्प्रत्ययः। तथाच विश्वः "ब्रह्मबन्धुरधिक्षेपे निर्देशे च द्विजन्मनाम्" इति। अधिक्षेपे—कुत्सायाम्। ऋदन्तपाठे तु ब्रह्मकुलोद्भवा आचारविधुरा सुवासिनी ब्राह्मण्येव। ऊङुत्र(पा० ४।१।६६) स्त्रीप्रत्ययः॥

२. केचित्तु-उच्छ्रितशिलापुत्रकेणाहत्याहत्य पेषणं कर्त्तव्यम्। अथवा-सकृत्प्रयोगेणैव यथा पेषणं निर्वहति तथा कर्त्तव्यमित्यप्रत्याहरणस्यार्थमाचक्षते।

३. वस्त्रबद्धां पिष्टां शुङ्गां गृहीत्वा निष्पीड्य दक्षिणनासापुटे तद्रसं क्षिपेदिति भवदेवभट्टः।

इति। मन्त्रार्थः सुबोध एव। पुमांसमित्यनेन सुपुरुषलक्षणोपेतम्। तमित्यनेन च बहुपुत्रसम्पत्तिश्चोक्तवान्मन्त्रदृगिति ॥ ११ ॥

अथ यथार्थम् ॥ १२ ॥

इति श्रीमद्गोभिलीयगृह्यसूत्रे द्वितीय प्रपाठकस्य षष्ठो कण्डिका ॥ २ ॥ ६ ॥ ❀ ॥



इसके अनन्तर यथा प्रयोजन अन्य कर्म करे ॥ १२ ॥

॥ इस प्रकार गोभिल गृह्यसूत्र के द्वितीय प्रपाठक के छठी कण्डिका की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत 'अनाकुला' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ ६ ॥



निगदव्याख्यातमेतत ॥ १२ ॥

॥ इति श्रीमद्गोभिलीयगृह्यसूत्रव्याख्यायां "मृदुलां"ख्यायां मुकुन्दशर्म्म-सङ्कलितायां द्वितीयप्रपाठकस्य षष्ठी कण्डिका ॥ २ ॥ ६ ॥ ❀ ॥



अथ सप्तमी कण्डिका

(अथ सीमन्तोन्नयनम्)

अथ सीमन्तकरणं प्रथमगर्भे ॥ १ ॥

अब 'सीमन्तोन्नयन' नामक कर्म प्रथम गर्भ के समय करते हैं ॥ १ ॥

अथ–पुंसवनसंस्कारानन्तरम्। सीमन्तकरणम्। "सीमन्तः केशवेशे स्यात्" इत्यभिधानात्सीमन्तस्य केशरचनाविशेषस्य[1] वक्ष्यमाणविधिना करणम् "वर्त्तिष्यते" इति सूत्रशेषः। तस्य कालमाह–प्रथमगर्भे इति। इदं हि क्षेत्रसंस्कार[2] द्वाराऽपत्यसंस्कारकत्वेन सकृदेव कार्यम्। तथा च हारीतः––

"सकृत्तु कृतसंस्काराः सीमन्तेन द्विजस्त्रियः।
यं यं गर्भं प्रसूयन्ते स सर्वः संस्कृतो भवेत्॥" इति।

गृह्यासंग्रहेऽपि––

"यथा सीमन्तिनी नारी पूर्वगर्भेण संस्कृता।
एवमाज्यस्य संस्कारः संस्कारविधि चोदितः॥" इति।

एवमाश्वलायनगृह्यपरिशिष्टेऽपि–"सीमन्तोन्नयनं प्रथमे गर्भे सीमन्तोन्नयनसंस्कारो गर्भपात्रसंस्कार" इति श्रुतिः" इति। अत्र गर्भश्च पात्रञ्चेति द्वन्द्वसमासेन तयोरुभयोरपि संस्कार इत्यर्थः। गर्भ उदरस्थमपत्यम्। पात्रं स्त्री। श्रौतश्चास्य गर्भपात्रसंस्कारत्वमुपन्यस्यन्नृषिरनयोः (ग० पुं० योः) पात्रसंस्कारत्वन्नास्तीत्युपदिशति। दैवाच्च सीमन्तकरणादर्वागेव गर्भनाशे पुनर्गर्भोत्पत्तौ तत्करणीयम्। अन्यथा खल्वस्य संस्कार-

---

१ सीमानमन्तयति बध्नातीति सीमन्तः। "अति अदि बन्धने" (भ्वा० प०) कर्मण्यण् (पा० ३।२।१) "शकन्ध्वादित्वात्" (पा० ६।१।९४ वा०) पररूपम्। "सीमसीमे स्त्रियामुभे" इत्यमरः।

२. क्षेत्रसंस्कारश्चाद्यगर्भ एवाभूदिति न प्रतिगर्भमावृत्तिरारम्भणीयान्यायात्। एवञ्चात्र प्रथमगर्भश्रुतिर्न्यायमूला ॥ "सकृच्च संस्कृता नारी सर्वगर्भेषु संस्कृते"ति देवल वचनमपि न्यायमूलमेव। एतेनात्र प्रथमगर्भोपादानाद् गर्भाधानपुंसवनयोः प्रतिगर्भमावृत्तिरिति परास्तम् ॥

स्याभावेनासंस्कृतम्पात्रमपत्यं च स्यात्। "सन्नियोगशिष्टानामन्यतरापाये उभयोरप्यपाय" इति न्यायात्। नचैतदुचितं, शास्त्रान्तरबलाच्च। तथाच स्मरणम्—

"पूर्वश्च स्रावितो यश्च गर्भो यश्चाप्यसंस्कृतः।
द्वितीये गर्भसंस्कारस्तेन शुद्धिर्विधीयते॥" इति।

तदिदं सीमन्तकरणविषयं वचनम्। न खल्वत्र प्रतिगर्भमावृत्तिर्निषिध्यते—संस्कारस्य, किन्तर्हि! प्रथमगर्भविहितस्य संस्कारस्यदैवादकरणे गर्भान्तरे, करणमुपदिश्यते। सीमन्तकरणञ्च प्रथमगर्भे विहितं, न गर्भाधानपुंसवने। तथाच स्मृत्यन्तरम्—

"या नार्यकृतसीमन्ता प्रसूयते कदाचन।
अङ्के निधाय तं बाल पुनः संस्कारमर्हति॥" इति।

असंस्कृतगर्भप्रसवे—द्वितीयगर्भे संस्कारस्तु प्रकृत (प्रथम) बालविनाशविषयो बोद्धव्य इति चन्द्रकान्तः। मुरारिमिश्रास्तु—नैतन्मन्यन्ते—इति कर्मशेषे वक्ष्यते। तत्र कालमाह—(२।८।१२)॥ १॥

चतुर्थे मासि षष्ठेऽष्टमे वा॥ २॥

गर्भ के चतुर्थ मास में, षष्ठ या अष्टम मास में इस कर्म को करते हैं॥ २॥

ऋजुरक्षरार्थः। अत्र वाशब्द एक एवेति न तुल्यवद्विकल्पार्थः। एवञ्चोक्तकल्पेषु यत्रोदगयनादि—विहितसमयलाभस्तत्रेदङ्कार्यम्। तथाचाङ्गिराः—"यत्रोदगयनादिः स्यात्कालस्तत्रे"ति। बैजवापगृह्येऽपि—"मासि चतुर्थे पञ्चमे वा षष्ठाष्टमयोर्वाऽऽपूर्यमाणपक्षे यदहः पुंसा नक्षत्रेण चन्द्रमा युज्यते सप्तमे मासि वा प्रथमगर्भे सीमन्तोन्नयनम्" इति। क्वापि तदलाभे न तदपेक्षापि—आवश्यकत्वात्। शङ्खलिखितौ—

"गर्भस्यन्दने सीमन्तोन्नयनं यावद्वा न प्रसव" इति॥ २॥

प्रातः सशिरस्काऽऽप्लुतोदगग्रेषु दर्भेषु। पश्चादग्नेरुदगग्रेषु प्राच्युपविशति॥ ३॥

सीमन्तोन्नयन संस्कार की विधि

प्रातःकाल उत्तराग्र बिछे हुए कुशासन पर वधू को बैठाकर शिर से स्नान करावे और अग्नि के पश्चिम भाग में विछाए हुए उत्तराग्र कुशासन पर पूर्वाभिमुख बैठावे॥ ३॥

निगद व्याख्यातमेतत्॥ ३॥

पश्चात्पतिरवस्थाय युङ्मन्तमौदुम्बरशलाटुग्रथ्न[1]माबध्नाति "अयमूर्ज्जावतो वृक्ष" इति ॥ ४ ॥

(मं० ब्रा० १।५।१)

पति उसके पीछे रहते हुए 'अयमूर्ज्जावतो वृक्ष' आदि मन्त्र से उदुम्बर [गूलर] के युग्म फल को और एक शलाटु अर्थात् कली आदि से युक्त पल्लव के गुच्छे को उस वधू के अञ्चल में बांधता है ॥ ४ ॥

युङ्मन्तमिति । युञ्जि युग्मानि फलानि यस्मिन्त्सोऽयं युङ्स्मान् तमिति मतुबन्तम् इति भट्टनारायणोपाध्यायादयः । एवं शलाटुग्रथ्नं नीलस्तवकम्[2] । "शलाटुनीलमित्याहुर्ग्रथ्नस्तबक उच्यते" इति कर्म्मप्रदीपात् । वस्तुतस्तु । युग्मं ग्रप्सं, इत्युभयत्रपाठः ।। तमिति प्रसिद्धार्थम् । "युग्मन्तु युगलं युगम्" इत्याग्नेयाभिधानाद्युग्मं[3] युग्मफलोपेतं शलाटुग्रप्समपक्वफलस्तवकम् । "आमे फले शलाटुः स्यादि"-त्याग्नेयाभिधानाद् "ग्रप्सस्तबकउच्यते" इति कर्म्मप्रदीपपाठाच्च । नीलाभिधानम्[4] फलस्य तद्रूपत्वाद्धरितमिति तदर्थः । औदुम्बरम्–उदुम्बरवृक्षोद्भवम् । तस्येदम्" (पा० ४।३।१२०) इत्यण्प्रत्यय आदिवृद्धिः ।। यथोक्तं स्तवकम् "अयमूर्जावत" इति मन्त्रेण वध्वाः कण्ठे सुडोलकेनामुच्य बध्नाति । बध्नीयात् । मन्त्रो यथा--

"अयमूर्ज्जावतो वृक्ष ऊर्ज्जीव फलिनी भव ।
पण वनस्पते नुत्त्वा नुत्त्वाऽस्यां सूयताꣳरयिः" ।। १ ।। इति ।

अस्यार्थः । 'अयम्' उदुम्बरो यज्ञाङ्गो 'वृक्ष' "ऊर्ज्जावान्" इति शेषः । अस्य 'ऊर्जावतः'[5] वृक्षस्य 'ऊर्ज्जीव'[6] फलशाखेव (हे वधु !) त्वं 'फलिनी'

१- "ग्रप्स" इति पाठः साधीयान् । "गृह्यान्तरे तथा दर्शनात् । तथा च (पा० गृ० सू०) "युग्मेन शलाटुग्रप्सेनौदुम्बरेणे"-त्यादि ॥ युग्मेन-द्व्यादिकलवता । शलाटुग्रप्सेन-अपक्वफलस्तबकेनेति प्रामाणिकनिबन्धृव्याख्यानाच्च ॥

२. "स्याद्गुच्छकस्तु स्तवकः" इत्यमरे कलिकादिभिराकीर्णः पल्लव ग्रन्थिः स्तवक इति विवेककारः । (महेश्वरः) प्राह ॥

३. मत्वन्तत्वे तु "यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा" "प्रत्यये भाषायां नित्यम्" (पा० ८।४।४५ वा०) इत्यनुनासिके युङ्मन्तमिति स्यात् । गोधुङ्मानितिवत् ॥

४. आममपक्वम् "आमोरुक् तद्भिदोः पुंसि स्यादपक्वेऽन्यलिङ्गवदि"ति मेदिनी ॥

५. ऊर्जशब्दोऽन्नार्थः (निघं० २।७) "ऊर्जाद उत यज्ञियासः" (ऋ० सं० ८।१।१३।४) इति श्रुतौ ऊर्जादाश्च यज्ञियाश्चे"-ति निरुक्तम् । (१।८।१) अन्नमिति कर्म्मकान्तम् । यवद्यतेस्य तदन्नन्तदिहोदुम्बरफलम् । पक्वं सुप्रवृकणमिति तन्निर्वचनदर्शनादिति गुणविष्णुसम्मतोऽर्थः । ततो भूम्नि मतुपि "शरादीनाञ्च" (पा० ६।३।१२०) इति पूर्वपदस्य दीर्घः ॥

६. ऊर्जीति भूम्नि मत्वर्थे ई (पा० ५।२।१२२ वा०) प्रत्ययेन साधुः ॥

बहुफलवती[1] प्रशस्तफलवती वा भव। किञ्च हे 'वनस्पते' उदुम्बर ! [2]त्वयाऽस्यां 'रयिः' पुत्ररूपं धनम् (निघं० २।१०।८) 'सूयताम्' प्रसूयताम्। त्वयाऽनुगृहीतेयं भाग्यवतः पुत्राल्लँभतामित्यर्थः। किमिव ? 'नुत्वा' 'नुत्वा' प्रेर्य्य प्रेर्य्य 'पर्णं' पत्राणीव।[3] जातावेकवचनम्। यथा त्वया पत्राणि प्रेर्य्य प्रेर्य्य प्रसूयन्ते तथेयं बहुपुत्रा त्वया क्रियतामित्यर्थः ॥ १ ॥ इति ॥

अथ सीमन्तमूर्द्ध्वन्नयति[4] भूरिति दर्भपिञ्जलीभिरेव प्रथमम्। भुव इति[5] द्वितीयम् स्वरिति तृतीयम् ॥ ५ ॥

इसके बाद सूखे कुश के गुच्छे से 'भूः' इस मन्त्र से प्रथम सीमन्त (= माँग) ऊपर को निकालता है और 'भुवः' इससे द्वितीय तथा 'स्वः' इससे तृतीय [माँग को निकालता है] ॥ ५ ॥

अथेति स्थाननियमार्थम्। तत्रस्थ एव पतिः। सीमन्तमुक्तरूपमूर्द्ध्वमुपरि नयति–नयेत्। इत्यर्थः। तत्र मन्त्रमाह–भूरितीति। अनेन मन्त्रेण प्रथमम्। केनोन्नयति ? दर्भपिञ्जलीभिरेव।

"अनन्तर्गर्भिणं साग्रङ्कौशं द्विदलमेव च।
प्रादेशमात्रं विज्ञेयं पवित्रं यत्र कुत्रचित् ॥
एतदेव हि पिञ्जल्या लक्षणं समुदाहृतम्।
आज्यस्योत्पवनार्थं यत्तदप्येतावदेव तु ॥
एतत्प्रमाणमेवैके कौशीमेवार्द्रमञ्जरीम्।
शुष्कां वा शीर्णकुसुमां पिञ्जलीम्परिचक्षते ॥"

इति कर्म्मप्रदीपोक्तलक्षणाभिः। कतमाभिरिति चेत्तिसृभिरित्यवधेहि। कपिञ्जलाधिकरणन्यायात्। तदिदं प्रथममुन्नयनं, भुव इति द्वितीयं दर्भपिञ्जलीभिरेव। स्वरिति तृतीयं दर्भपिञ्जलीभिरेव। तदेवं तिसृभिस्तिसृभिरेकमुन्नयनमिति–उन्नयनत्रित्वाद्दर्भपिञ्जाल्योऽपि नवैव सम्पद्यन्ते। तासाञ्च तिसृभिरेकमुन्नयनं, तावतीभिरपरं, तावतीभिरेवापरमिति व्याख्येयम्। अत एव भूरिति दर्भपिञ्जलीभिरिति सूत्रयित्वा प्रथममिति

१. भूम्नि प्रशंसायां वा मत्वर्थे इनिः। (पा० ५।२।१२२) ॥

२. "वानस्पत्यः फलैः पुष्पात्तैरपुष्पाद्वनस्पतिरि"–त्यमरः। अनेन तदधिष्ठात्री देवतैव संबोध्य प्रार्थ्यते ॥

३. "पत्रं पलाशं छदनं दलं पर्णं छदः पुमानि"त्यमरः ॥

४. अत्रोर्ध्वमुन्नयतीति चन्द्रकान्तसम्मतः पाठः। मुरारिमिश्रादिभिस्तु उन्नयतीत्येव पठितम् ॥

५. अत्रापि भुवरिति चेति चन्द्रकान्तः पपाठ ॥

सूत्रितम् । यदि पुनस्तिस्र एवदर्भपिञ्जल्यः स्युस्तर्ह्यादित एव दर्भपिञ्जलीभिरिति सूत्रयित्वा भूरिति प्रथमम् भुवरिति द्वितीयम् । इत्येवं विनियोगममूषामसूत्रयिष्यत् न चैवम् । तस्मादनुमिमीमहे भूरिति प्रथम एवोन्नयने तिस्रो दर्भपिञ्जल्यो व्यप्रियन्ते एवमुत्तरयोः । एवकारोऽत्र पक्षे करणान्तरव्यावृत्त्यर्थं इति चन्द्रकान्तभाष्यम् । मुरारिमिश्रास्तु--दर्भपिञ्जलीभिरेवेत्येवकारकरणाद्यावन्त्युन्नयनानि तावतीभिरेव तिसृभिरित्यर्थः । प्रथमं द्वितीयं तृतीयमिति वचनं व्याहृतिपिञ्जल्योः पृथग्विनियोगप्रदर्शनार्थम् । अन्यथा मिलिताभिराहृत्योन्नयनं प्रसज्येत । तथा चैकैकयाऽपि पिञ्जल्या एकैकमुन्नयनमिति ॥ ५ ॥

अथ बीरतरेण "येनादितेरि"-त्येतयर्चा ॥ ६ ॥

(मं० ब्रा० १।५।२)

'येनादितेः' आदि ऋचा से शर [बाण] से ऊर्ध्व सीमन्त का उन्नयन करे ॥६॥

अथेति पूर्वप्रक्रुतार्थम् । वीरतरेणेति । वीरास्तरन्त्यनेनेति बीरतरः शरस्तेनेत्यर्थः । तथाच कर्म्मप्रदीपः--

"श्वाविच्छलाका शलली तथा बीरतरः शरः" इति ।

सीमन्तमुन्नयेदित्यनुषज्यते । तत्र मन्त्रमाह-'येनादितेरि"-ति । अनेन मन्त्रेणेत्यर्थः । मन्त्रो यथा--

"येनादितेः सीमानं नयति प्रजापतिर्म्महते सौभाग्याय ।
तेनाहमस्यै सीमानं नयामि प्रजामस्यै जरदष्टिङ्क्रुणोमि" ॥२॥

इति । अस्यार्थः । 'प्रजापतिः' कश्यपः । 'येन' वीरतरेण शरेण 'अदितेः' देवमातुः 'सीमानम्' सीमन्तम्[1] । 'नयति' विनीतवान्[2] (विवृतं कृतवान्) किमर्थम् ? 'महते' बृहते 'सौभाग्याय' सुभगात्वाय । 'तेन' [3]शरेण 'अहम्' 'अस्यै' अस्याः[4] स्त्रियाः । 'सीमन्तं 'नयामि' विनयामि । (विवृतं करोमि) तेन च 'अस्यै' अस्याः 'प्रजां' पुत्रपौत्रादिकाम् 'जरदष्टिं' दीर्घकालजीविनीम् । 'कृणोमि' करोमि[5] ॥ २ ॥ ६ ॥

---

१. नामैकदेशग्रहणे नामग्रहणं भीमो भीमसेन इतिवत् ॥

२. नयतिरिह सोपसृष्टार्थे विनयने वर्त्तते धातूनामनेकार्थत्वात् ॥

३. तेनेति "तादर्थ्यात्ताद्रूप्याच्च ताच्छब्दयम्" इति हि न्यायः । तथा चेह "तदेवेदम्भवतः कार्षापणं यद्भवत्तो मथुरायां गृहीतम्" इतिवत्तच्छब्दो बोध्यः । एष हि महाभाष्यकृत्सम्मतः पन्थाः ॥

४. षष्ठ्यर्थे चतुर्थी (पा० २।३।६२। वा०) ॥

५. "कृविहिंसाकरणयोश्च" (भ्वा० प०) लटि "धिन्विकृण्व्योर च" (पा० ३।१।२०) इत्युप्रत्यये साधुः ॥

अथ पूर्णचात्रेण "राकामहमि"–त्येतयर्चा ॥ ७ ॥

(मं० ब्रा० १।५।३)

इसके बाद 'राकामहम्' आदि ऋचा से सूत से पूर्ण तकली से सीमन्त का ऊर्ध्व उन्नयन करे ॥ ७ ॥

अथानन्तरम् । पूर्णचात्रेण सूत्रपूर्णेन तर्कुणा । "चात्र तर्कु प्रकीर्त्तितम्" इति मुरारिधृतवचनाम् । सीमन्तमूर्द्ध्वन्नयतीति पूर्ववत् । मन्त्रो यथा––

"राकामहꣳ सुहवां सुष्टुती हुवे श्रृणोतु नः सुभगा बोधतुत्मना ।
सीव्यत्वपः सूच्याऽच्छिद्यमानया ददातु वीरꣳशतदायमुक्थ्यम्" ॥३॥

इति । अस्यार्थः । 'अहं' भर्त्ताऽस्याः । 'सुहवां' स्वाह्वानाम् । आह्वानप्रयोजनकारिणीम् 'राकाम्' पूर्णचन्द्रां पौर्णमासीम्[1] तदधिष्ठातृदेवताम् । 'सुष्टुती' शोभनया स्तुत्या[2] 'हुवे' आह्वयामि[3] । सा च 'सुभगा' शोभनधना[4] । सुपुण्या वा । 'नः' अस्माकम् 'आह्वानमि'ति शेषः । 'श्रृणोतु' श्रुत्वा च 'त्मना' आत्मना[5] (स्वयमेव) 'बोधतु' अस्मदभिप्रायमवधारयतु । "बुधिर् बोधने" (भ्वा० उ०) लोट्प्रार्थनायाम् ॥ बुध्वा च 'अपः' कर्म्म (निघं० २।१।१) पुत्रोत्पादनलक्षणम् । 'सूच्यां' सूचीस्थानया । 'अच्छिद्यमानया' अनवच्छिन्नया । (निरवच्छिन्नया) अभज्यमानयेति गुणविष्णुः । अनुग्रहबुध्या 'सीव्यतु' सन्तनोतु[6] । यथा वस्त्रादिकं छिन्नमपि सूच्या स्यूतं चिरतिष्ठति एवमिदं (कर्म्म) करोतु । कृत्वा च 'वीरं' विक्रान्तम् 'शतदायं' बहुधनं[7] बहुप्रदं वा । 'उक्थ्यं' प्रशस्यं (निघं० ३।८।६) पुत्रं 'ददातु' । इत्याशास्यते । आशंसायां लोट् ॥ ३ ॥ इति ॥ ७ ॥

त्रिश्वेतया शलल्या "यास्ते राके सुमतयः" इति ॥ ८ ॥

(मं० ब्रा० १।५।४)

---

१. "या पूर्वा पौर्णमासी साऽनुमति योत्तरा सा राके"ति श्रुतिः । पूर्णे राकानिशाकरे" इत्यमरश्च ॥

२. "सुपां सुलुगि"–(पा० ७।१।३९) त्यादिना पूर्वसवर्णदीर्घः ॥

३. "हः संप्रसारणं" "बहुलं छन्दसि" (पा० ५।१।२३–३४) इति सम्प्रसारणम् ॥

४. भग इति धननाम (निघं० २।९।१०) । "भगं श्री योनिवीर्येच्छाज्ञानवैराग्यकीर्त्तिषु । माहात्म्यैश्वर्ययत्नेषु धर्मे मोक्षे च, ना रवौ" इति मेदिनी ॥

५. "मन्त्रेष्वाङ्यादेरात्मनः" (पा० ६।४।१४१) इत्याकारलोपः ॥

६. "षिबु तन्तुसन्ताने" (दि० प०) लोडाशंसायाम् ॥

७. ददातेः कर्म्मणि भावे वा घञ् (पा० ३।३।१९) "आतो युगि" (पा० ७।३।३३) तियुक् ॥

इसके बाद 'यास्ते राके सुमतयः' आदि ऋचा से तीन स्थान में श्वेत स्याही के काटे (= शलली) से सीमन्तोन्नयन करे ॥ ८ ॥

त्रिश्वेतयेति। त्रिषु स्थानेषु श्वेतया। [१]अवच्छेदकत्वलक्षणविषयता सप्तम्यर्थः। शलल्या—शल्लकोकण्टकेन "श्वावित्तु शल्यस्तल्लोम्नि शलली शललं शलम्" इत्यमरः। सीमन्तमद्ध्र्वन्नयतीति पूर्वेण सम्बन्धः पूर्ववत्। अत्र "त्र्येण्या शलल्ये"—ति गृह्यान्तरे पाठः। तत्रैत शब्द एव श्वेतवाचकः। "वर्णादनुदात्तात्तोपधात्तो नः" (पा० ४।१।३९) ॥ इति तस्थ न मन्त्रो यथा——

"यास्ते राके सुमतयः सुपेशसो याभिर्द्ददासि दाशुषे वसूनि।
ताभिर्न्नो अद्य सुमना उपागहि सहस्रपोषꣳ सुभगे रराणा॥"१४ इति

अस्यार्थः——हे 'राके' देवि! (पौर्णमासाधिदेवते) 'सुपेशसः' शोभनरूपाः। पेश इति रूपनामसु पठ्यते (निघं० ३।७।१९)। 'ते' तव 'याः' 'सुमतयः' शोभनबुद्धयः। प्रतिविशिष्टाः सवबुद्धिभ्य इति यावत्[२]। 'याभिः' सुमतिभिस्त्वं 'दाशुषे' हविर्द्दत्तवते[३] यजमानाय। 'वसूनि' धनानि[४] 'ददासि'। 'हे सुभगे!' शोभनधने[५] 'अद्य' इदानीं 'ताभिः' [६]सुमतिभिरुपलक्षिता त्वम्। 'सुमनाः' उदारचेता भूत्वा 'नः' अस्मान् 'उपागहि' [७]उपागच्छ। किङ्कुर्वती? 'सहस्रयोषम्' बहुजनपोषकं सुतम्। "'रराणा' [८]ददतीति॥८॥

कृसरः स्थालीपाक उत्तरघृतस्तमवेक्षयेत् ॥ ९ ॥

कृसर अर्थात् तिल एवं चावल का स्थालीपाक लेकर उसके ऊपर से घी डालकर उसको दिखावे ॥ ९ ॥

कृसरः "तिलतण्डुलसम्पक्व कृसरः सोऽभिधीयते" इति कर्म्मप्रदीपोक्त-

---

१. "गृहीत्वा चाऽऽस्य केशेषु" इत्यादौ यथा॥

२. सुशब्दद्वयस्वारस्यबललभ्योऽयमर्थः॥

३. "दाश्वान्साह्वान्मीढ्वांश्च" (पा० ६।१।१२) इति निपातितः। अस्य वस्वन्ततया "वसोः सम्प्रसारणम्" (पा० ६।४।१३१) इति वस्योत्वम्॥

४. "वसु तोये धने मणौ" इति शब्दार्णवः॥

५. "भगं श्रीकाममाहात्म्यवीर्ययत्नार्थकीर्त्तिषु" इत्यमरः॥

६. उपलक्षणेऽत्र तृतीया। (पा० २।३।२१)॥

७ अत्र "बहुलं छन्दसि" (पा० २।४।७३) इति शपो लुकि हेरपित्वेन ङित्वान्मलोपः (पा० ६।४।३७)॥

८. रातिर्द्दानार्थः (अ० प०) पदव्यत्ययेन (पा० ३।१।८५) लटः शानच्॥

९. "कर्म्मण्यण्" (पा० ३।२।१) इत्यण्प्रत्ययः॥

लक्षणः। स्थाल्यां यः पच्यते सोऽयं स्थालीपाकः। तदनेन स्थालीपाकाऽऽवृता कृसरस्य पाकोऽवगम्यते। मनुष्यार्थत्वाच्च द्विस्तण्डुलानां प्रक्षालनं, तथाच गृह्यासङ्ग्रहे—

"कृत्वा ब्रह्मासनान्तं द्विः प्रक्षाल्य कृसरं पचेत्।
भक्षार्थत्वान्न निर्वाप उदगुद्वासनन्तथा॥
चूड़ाकर्म्मणि सीमन्ते यश्च पाकः सदा गृहे।
विवाहे चैव लाजानां नोक्तो निर्वापणो विधिः॥"

इति। उत्तरघृतः। उत्तरे उपरि घृतं यस्य सोऽयमुत्तरधृत (दत्त) घृत इत्यर्थः। तमिमं स्थालीपाकमवेक्षयेत्। पत्नीं दर्शयेत पतिः। स खल्वयं कृसरः स्थालीपाकाऽऽवृता यत्र कुत्रचिद्येन केनापि पक्तव्यः। सिद्धस्य तस्यापेक्षणमात्रस्यैव सूत्रणात्। तस्मादवेक्षणार्थमेवास्यासादनमिति सिद्धम्। अत्र होमानादेशान्न "मन्त्रस्य देवतायाश्च प्रजापतिरिति स्थितिरि"–ति वचनात्प्रजापतिदेवताकत्वश्चरोर्होमादेशे सत्येवास्य प्रवृत्तेरित्यवेक्षणलक्षणे एव प्रयोजने इति द्रष्टव्यम्। अत एव चूड़ाकरणेऽन्नं वृथापक्व इति वक्ष्यति (२।१।५)॥ ९॥

एवं स्थालीपाकं पश्यन्तीं वधूम्—

किम्पश्यसीत्युक्त्वा "प्रजामि"–ति वाचयेत्॥ १०॥

पति उससे पूछे कि तुम इसमें क्या देखती हो? तब वधू 'प्रजाम्'। इत्यादि मन्त्र पढ़ कर उत्तर दे॥ १०॥

"किं पश्यसि?" इति मन्त्रभागं पतिरुक्त्वा—"प्रजाः पशून्त्सौभाग्यम्मह्यं दीर्घायुष्ट्वं पत्युः" इति वधूं वाचयेद्भाषयेत्। अत्र मह्यमिति षष्ठ्यर्थे चतुर्थी। (पा० २।३।६२) दीर्घायुष्ट्वं–बहुकालसुखजीवित्वम्॥ १०॥

तᳬसा स्वयम्भुञ्जीत॥ ११॥

सा–वधूः। तम् अवेक्षितं सिद्धं कृसरम्॥ ११॥

वह [वधू] उस [दृष्ट कृसर = पके हुए तिल-तण्डुल] को स्वयं भोजन करे॥ ११॥

"वीरसू–र्जीवसू–र्जीवपत्नी"–ति ब्राह्मण्यो मङ्गल्याभिर्वाग्भिरुपासीरन्॥ १२॥

उसके भोजन करते समय ब्राह्मणी स्त्रियाँ वधू को 'वीरप्रसविनी होओ, जीवित पुत्र की माता, और जीवित पति की पत्नी होओ' इत्यादि मङ्गल वाक्यों से ईश्वर से प्रार्थना करें॥ १२॥

बीरान्–विक्रान्तान् सूते–इति बीरसूः। "बीरविक्रान्तौ" (चु० आ०) बीरयतेऽमित्रानिति वीरः तं सूते इतिबीरसूः। "षूङ्प्राणिगर्भविमोचने" (अ० आ०) ततः क्विप्। एवमग्रेऽपि[1]। 'त्वंभवे'ति वाक्यशेषः। इति–एवं प्रकाराभिर्म्मङ्गल्याभिर्म्मङ्गले साध्वीभिः "तत्र साधुः" (पा० ४।४।९८) इति यत्। वाग्भिर्ब्राह्मण्यो वधूमुपासीरन्गायेरन्। अनुनयेयुरित्यर्थः। यत्तु–साङ्खचायनपरिशिष्टभाष्ये तत्तत्कालेऽकृतान्यपि क्षेत्रसंस्कारकर्म्माणि काले जाते, सूतकेऽपगते मातुरङ्के तन्निधाय व्याहृतिभिर्हुत्वा क्रमेण कर्त्तव्यानीत्युक्तं तत्तु प्रमाणाभावादुपेक्ष्यमिति मुरारिमिश्राः॥ १२॥

अथ सोष्यन्तीहोमः॥ १३॥

अथेत्ययमपूर्वप्रकरणोपन्यासार्थः। आसन्नप्रसवां ज्ञात्वा सुखप्रसवार्थं होमः सोष्यन्ती होमः। "कार्य" इति शेषः॥ १२॥

इसके बाद सोष्यन्ती [= सुख प्रसवार्थ] होम करे॥ १३॥

कस्मिन्काले कथञ्चेत्यपेक्षायामाह––

प्रतिष्ठिते वस्तौ परिस्तीर्याग्निमाज्याहुती जुहोति "या तिरश्ची"–त्येतयर्चा "विपश्चित्पुच्छमभरदि"–ति च॥ १४॥

(मं० ब्रा० १।५।६–७)

यह होम गर्भ के प्रसव द्वार पर आ जाने के समय करे। [पहले कही गई विधि से] अग्नि [स्थापन आदि] परिस्तरण कर्म कर 'या तिरश्ची' आदि ऋचा से और 'विपश्चित् पुच्छमभरद्' आदि मन्त्र से दो आज्य की आहुति देनी चाहिए॥ १४॥

वस्तौ–योनिद्वारे[2] प्रतिष्ठिते–गर्भस्थित एव "बाले" बहिर्गन्तुमुपक्रान्ते। अग्नि परिस्तीर्य-परिस्तरणमुक्तन्तत्कृत्वा द्वे आज्याहुतो जुहोति। पतिः। "या तिरश्ची"त्यादि ऋग्भ्यां प्रत्येकं स्वाहान्ताभ्याम्॥ अत्र–परिस्तीर्येति विशेषोपदेशाद् ब्रह्मोपवेशनादिबाधः। एवञ्च क्षिप्रहोम एवायं, विशेषवचनात् परिस्तरणाज्यसंस्कारावत्राधिकाविति द्रष्टव्यम्॥

ऋचौ यथा—

"या तिरश्ची निष्पद्यते अहं विधारणी इति। तान्त्वा घृतस्य धारया यजे सꣳराधिनोमहं (सꣳराधिन्यै देव्यै देष्ट्र्यै) स्वाहा॥ ६॥

---

१. जीवान्–जीवतः सूते इति जीवसूः। यान्सूते ते जीवेरन्नित्याशंसा वाक्यार्थः। एवं–जीवस्य–जीवतः पत्नी जीवपत्नी अविधवेति॥

२. "वस्तिर्नाभेदधोद्वयोः" इत्यमरः॥

विपश्चित्पुच्छमभरत्तद्धाता पुनराहरत्। परेहि तं विपश्चित्पुमानयं जनिष्यतेऽसौ नाम स्वाहा ॥ ७ ॥

इति। अर्थोयथा—हे सराधिनि ! (तदभिख्ये देवते !) या ते धारणा शुभे कर्म्मणि प्रस्तूयमाने 'अहं' 'विधारणी' शुभफलविघातकारिणी 'इति' एवं विधा सती 'तिरश्ची'[1]वाञ्छितफल-विघ्नकारिणी 'निष्पद्यते' 'अहं' 'तां' तादृग्धारणावतीं 'त्वा' त्वामेव देवतां 'घृतस्य धारया' 'यजे' [2]पूजयामि। कथम्भूतां त्वाम् ? 'संराधिनीं'[3] सम्यक्साधिनीम्प्राणिनामिष्टस्य। तस्यै 'संराधिन्यै' 'देव्यै' दानादिगुणविशिष्टायै। अतएव 'देष्ट्र्यै' शुभफलानां[4] दात्र्यै। 'स्वाहा' सुहुतमस्तु ॥ ६ ॥

'विपश्चित्' कश्चिद्देवविशेषः। स 'पुच्छं' शिश्नं शिशूनाम् 'अभरत्' अहरत्[5]। हृतवान् 'तत्' विपश्चिदाहृतं पुच्छं 'धाता' प्रजापतिः 'पुनः' 'आहरत्' आनीतवान्। तदनुध्यानेन तत्पुनर्यथावस्थितमवातिष्ठत। इति-परोक्षमुक्त्वा प्रत्यक्षमुच्यते—हे 'विपश्चित् !' 'त्वं' 'परे हि' [6]परागच्छ दूरमपसर। येन 'अयं' मद्बुद्धिस्थो[7] मयाभिध्यातोऽत्र गर्भिण्याम् 'पुमान्' शिश्नसम्पन्नो 'जनिष्यते' उत्पत्स्यते। 'असौ नाम' देवदत्ताभिधानः। तस्मै तुभ्यं 'स्वाहा' सुहुतमस्तु ॥ ७ ॥ इति ॥

"पुमानयञ्जनिष्यतेऽसौ नामे" ते नामधेयं गृह्णाति ॥ १५ ॥

[उपर्युक्त 'विपश्चिद् पुच्छमभरद्' आदि मन्त्र में] 'पुमान् अयं जनिष्यतेऽसौ नाम' यदि पुत्र जन्म लेगा तो मैं इसका अमुक नाम रक्खूँगा—इस प्रकार मन में सोचकर मन्त्र में 'नाम' के स्थान पर भावी पुत्र के नाम को लेवे [और स्वाहाकार करे] ॥ १५ ॥

उक्तमन्त्रे "पुमानयमि"ति मन्त्रांशे असौ नामेत्यस्मिन्सर्वनाम्नि देवदत्त-

---

१. तिरोऽञ्चतीत्यर्थे क्विन्। उगित्वान्ङीप्। (पा० ४।१।६) "अचः" (पा० ६।४।१३८) इत्यकारलोपः।

२. "यजदेवपूजादौ" (भ्वा० उ०) लट् ॥

३. "राधसाधसंसिद्धौ" (स्वा० प०) ताच्छील्ये णिनिः। (पा० ३।२।७८) ॥

४. "दिश अतिसर्जने" (तु० प०) तृन्। ऋदन्तत्वान् ङीप्। (पा० ४।१।५) अतिसर्जनं दानम् ॥

५. हस्य भः (पा० ३।१।८४ वा०) ॥

६. परापूर्वक "हणगतावि—"ति धातुरत्र लोडन्तः। गुणविष्णुस्तु-त्वं परःश्रेष्ठ इत्यस्मिन्कर्मण्येहि सन्निहितोभव। सोर्लोपः (पा० ७।१।३९)। किन्त्वत्र-अवेहीतिवत् (पा० ६।१।८९) वृद्ध्यभावोनोपपद्यते। आर्षत्वानुसरणं तु क्लेशः।

७. "इदमस्तु सन्निकृष्टे०" इति नियमात्। सान्निध्यं बुद्ध्यवस्थानात् ॥

शर्म्मनाम स्वाहेत्येवं नाम गृह्णीयात्। स्वार्थेऽत्र धेयप्रत्ययः। (पा० ५।४ २५ वा०) ॥ १५ ॥

यत्तद्गुह्यमेव भवति ॥ १६ ॥

वह नाम जो रक्खे उसे प्रकाशित न करे ॥ १६ ॥

यत्तदानीं नाम गृह्णाति तद्गुह्यम् अप्रकाश्यम्भवति। एवकारकरणाद्यावज्जीवं स्वयमपि न गृह्णीयाज्ज्येष्ठस्येति स्मर्य्यते--

"आत्मनाम गुरोर्नाम नामातिकृपणस्य च।
श्रेयस्कामो न गृह्णीयाज्ज्येष्ठापत्यकलत्रयोः॥"

इति। अपरञ्चैतत्कारणं, यद्रिपुणा तज्ज्ञातमभिचार[1]उपयोजितम्महतेऽनर्थायावकल्पेतेति। अत्र शङ्खः-"काकादन्याः सेचकघातक्याः कोशातक्याः बृहत्याः कालक्लीतकस्य मूलानि पेषयित्वोपलेपयेद्देशं यस्मिन्प्रजायेत रक्षसामपहत्यै' इति। काकादनी-काकजङ्घा। गुञ्जेत्येके। सेचकघातकोकाकमाची। कोशातकी घोषकः। "सोनखंसर" इतिप्रसिद्धः। कालक्लीतकः कृष्णगुञ्जा॥ यथा मार्कण्डेयपुराणे--

"अग्न्यम्बुशून्ये च तथा निर्यूपे सूतिकागृहे।
प्रदीपशस्त्रमुशलभूतिसर्षपवर्जिते।
अनुप्रविश्य जातन्तमपहृत्यात्मसम्भवम्।
क्षणप्रसविनी बालं तत्रैवोत्सृजति द्विज!॥
सा जातहारिणी नाम सुघोरा पिशिताशनी।
तस्मात्संरक्षणङ्कार्यं यत्नतः सूतिकागृहे॥"

इति। यूपोऽत्र यूपाकारः काष्ठविशेषः। बैजवापः--

"षष्ठेऽह्नि रात्रिजागरणं जन्मगानं च कारयेत्" इति॥ १६॥

(अथजातकर्म्म)

यदास्मै कुमारञ्जातमाचक्षीरन्नथ ब्रूयात् "काङ्क्षत नाभिकृन्तनेन स्तनप्रतिधानेन चे"ति ॥ १७ ॥

जब [सूतिका गृह से धाई आदि कहे कि] 'इसे पुत्र पैदा हुआ है' तो पिता कहे कि 'नाभि से लगी हुई नाड़ी काटो और स्तन आदि पिलाकर प्रतिपालन करो' ॥ १७ ॥

---

१. "जन्मनक्षत्रयोन्या वै मारणादि यथातथम्।
कृतानि न चिरेणैव सिद्धिदानि महेश्वरि॥ इति शारदाटीकायां राघवभट्टः॥

अस्मै—पित्रे। वक्तव्यमाह—काङ्क्षतेति। नाभिकृन्तनेन—नाभिच्छेदनेन। "कृतीच्छेदने" (तु० प०) ल्युटि बाहुलकान्नुम् (पा० ३।३।१) स्तनप्रतिधानेन—स्तनपानेन "धेट् पाने" (भ्वा० पा०) भावेल्युट्। (पा० ३।३।११५) काङ्क्षत—प्रतिपालयत। समयं प्रतीक्षत। प्रकृत्यादित्वात्तृतीया॥ (पा० २।३।१८ वा०)। तदुभयञ्जातकर्म्मानन्तरं मातरः! करिष्यथेत्यर्थः। नाभि—र्नाभिलग्ना नाड़ी नालमित्यनर्थान्तरम्॥ हारीतः "ब्राह्मणमाहूय नाड़ीच्छेदनात्प्राक् जातकर्म्म—पुण्याहवाचनङ्कुर्वन्ति" इति। ब्राह्मणं—तत्कर्म्माभिज्ञ विप्रम्। विष्णुपुराणे—

"जाते पुत्रे पितुः स्नानं सचैलस्य विधीयते।
जातकर्म्म ततः कुर्याच्छ्राद्धमभ्युदये [1]च यत्॥"

इति। मनुः—

"प्राङ्नाभिवर्द्धनात्पुंसो जातकर्म्म विधीयते।
मन्त्रवत्प्राशनञ्चास्य सुवर्णमधुसर्पिषाम्॥"

इति। "वर्द्धनं च्छेदने" इत्यमरः। "वर्द्धच्छेदने" (चु० पा०) इति धात्वनुसारात्। पुंस इत्युक्तेः कन्याया एतन्न भवतीति गम्यते। अतएवास्य प्राशनमित्यप्युक्तम्। सुवर्णेति। सुवर्णेन हेम्ना मधुसर्पिषोर्म्मन्त्रपूर्वकम्प्राशनं मुखे निक्षेपणम्। अस्य बालकस्येत्यर्थः। तदुक्तं गृह्यान्तरे—"अनामिकया सुवर्णान्तरितया मधुघृते प्राशयति—घृतं वे"ति विकल्पे व्यवस्था गृह्यानुसारेण द्रष्टव्या। ब्रह्मपुराणे—"जातश्राद्धे न दद्यात्तु पक्वान्नं ब्राह्मणेषु हि" इति। एवं विधे श्राद्धेऽवनेजनपिण्डदानादि नास्तीति भर्तृयज्ञ—स्वामिनाविति रत्नाकरः॥

व्रीहियवौ पेषयेत्तथैवाऽऽवृता यथाशुङ्गाम्॥ १८॥

जिस प्रकार पहले शुङ्ग को पीसने की विधि कही गई है उसी प्रकार यव और धान को मिलाकर पीसना चाहिए॥ १८॥

व्रीहियवाविति द्वन्द्वनिर्देशादुभावपि मिलितौ पेषयेन्नत्वेकैकशः। तथैवाऽऽवृता-परिपाट्या यथाशुङ्गाम्पूर्वोक्ताम्। अन्यतरालाभेऽपि तत्प्रतिनिधिरूपादेयः। तथाच कर्म्मप्रदीपः—

"यथोक्तवस्त्वसम्पत्तौ ग्राह्यन्तदनुकारि यत्।
यवानामिव गोधूमा व्रीहीणामिव शालयः॥" इति।

---

१. अत्र "नाष्टकासु भवेच्छ्राद्धं न श्राद्धे श्राद्धमिष्यते। न शोष्यन्ती जातकर्म्मे प्रोषितागतकर्म्मसु" इति कर्म्मप्रदीपवचनं भवदेवभट्टमुरारिमिश्रादिभिरुपेक्षितम्। वीरपद्धत्यादिष्वपि "कर्त्तास्नानं वृद्धिश्राद्धञ्च कुर्यादि"त्युपक्रम एवोक्तम्।

तदेवं पिष्टौ व्रीहियवौ—

दक्षिणस्य पाणेरङ्गुष्ठेनोपकनिष्ठिकया चाङ्गुल्या अभिसङ्गृह्य कुमारस्य जिह्वायान्निमार्ष्टी—"यमाज्ञे"ति ॥ १९ ॥

(मं० ब्रा० १।५।८)

[नाड़ी छेदन से पूर्व] दाहिने हाथ से अनामिका एवं अङ्गुष्ठ के द्वारा [पिष्ट द्रव्य को] ग्रहण करके 'यमाज्ञे' यही ईश्वर की आज्ञा है' आदि मन्त्र पढ़कर बालक की जीभ में चटा देवे ॥ १९ ॥

निमार्ष्टि–निश्च्योतयति[1]। अत्र करणमन्त्रमाह—"इयमाज्ञा" इति–एवमादिनेति। मन्त्रो यथा—"इयमाज्ञेयमन्नमिदमायुरिदममृतम्" इति। मन्त्रार्थस्सुगमः। अत्र—

"प्राक् चूड़ाकरणाद्बालः प्रागन्नप्राशनाच्छिशुः।
कुमारस्तावद्विज्ञेयो यावन्मौञ्जीनिबन्धनम् ॥"

इति विशेषाभिधानेऽपि कुमारस्येति वचनं मौञ्जीबन्धनव्यांवदधिकारार्थम्। तेनैतानि जातकर्म्मादिमौञ्जीबन्धनान्तानि कर्म्माणि कुमारस्यैव न कुमार्याः। मनुरपि—

"अमन्त्रिका तु कार्येयं स्त्रीणामावृदशेषतः।
संस्कारार्थं शरीरस्य यथाकालं यथाक्रमम् ॥
वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः।
पतिसेवागुरौ वासो गृहार्थोऽग्निपरिक्रिया ॥

इत्येताभ्यां वचनाभ्यां जातकर्मादिसंस्कारमुपनयनाभावञ्च बोधयतीति[2] व्याख्यातारः ॥ १९ ॥

---

१. तद्रसं वस्त्रान्तरितमित्येतदर्थवशात्। वीरपद्धतौ तु–अनुमार्ष्टीत्युक्तन्तत्रानुमार्जनं तद्रसस्य, वर्षणं प्रक्षेपणं वा पूर्णस्येत्यत्र शिष्टाचारः प्रमाणम् ॥

२. वस्तुतस्तु—"प्राधान्यात्कुमारग्रहणं क्रियते। अनुपादेयलिङ्गाविवक्षायां तु कुमार्यप्यवगम्यमाना न निराक्रियते। ननु चैवमुपनयनव्रतादिकमपि क्रियताम् इति चेच्छृणु–अध्ययनार्थानि हि तानि व्रतानि। स्त्रियाः खल्वध्ययनं नास्ति। "न स्त्रीशूद्रौ वेदमधीयाताम्" इति हि ब्राह्मणम्। याज्ञवल्क्योऽपि "वैवाहिकोविधिः स्त्रीणामौपनायनिकः स्मृतः" इत्याह। औपनायनिकः उपनयनप्रतिनिधिभूतः (तत्कार्यकारी)। एतेन तत्पूर्वः सर्वोऽर्थममन्त्रकः संस्कारः स्त्रीणामप्रतिहत एव मनुवचनार्थः" इति व्याख्यान चन्द्रकान्तभाष्यस्थं युक्तमुत्पश्यामः ॥

अत्र ब्राह्मणवाक्ये—"स्त्रीशूद्रौ नाधीयेताम्" इत्यपि पाठः मुद्रितपुस्तके दृश्यते ॥

तथैव मेधाजननꣳसर्पिष्प्राशयेत् ॥ २० ॥

इसी प्रकार [दाहिने हाथ से] बुद्धि बढ़ाने की इच्छा से [मेधाजनन कर्म में भी घृत को चटा देवे ॥ २० ॥

तथैवेति दक्षिणस्य पाणेरित्यादिनोक्तप्रकारेणैवेत्यर्थः। मेधा श्रुतधारणविषया शक्तिः। "धीर्द्धारणावतो मेधा" इत्यमरः। तज्जनयतीति मेधाजननं सर्पिर्विशेषणम्। प्राशयेत् निःक्षिपेत् ॥ २० ॥

(मं० ब्रा० १।५।६)

जातरूपेण वाऽऽदाय कुमारस्य मुखे जुहोति "मेधान्ते मित्रावरुणावि"–त्येतयर्चा "सदसस्पतिमद्भुतमि"–ति च ॥ २१ ॥

(छं० आ० २।२।३।७)

अथवा, सुवर्ण [शलाका] लेकर कुमार के [अग्नि रूप] मुख में 'मेधान्ते मित्रावरुणौ' इस ऋचा से और 'सदसस्पतिमद्भुतम्' आदि मन्त्र से [घृत का] यजन करे अर्थात् जीभ पर चटा देवे ॥ २१ ॥

जातरूपं–सुवर्णम्। तथाच तत्पर्याये "चामोकरं जातरूपं महारजतकाञ्चने" इत्यमरः वाशब्दः समुच्चये। क्रियाद्वयोपादानं मन्त्रयोः पृथग्विनियोगप्रदर्शनार्थम्। जुहोति–जुहुयात्। निःक्षिपेदित्यर्थः।[1] जुहोति पदोपादानमिह कुमारमुखस्याग्नित्वेन ध्यानलाभार्थम्। अत एव गृह्यासंग्रहे "प्रगल्भोजातकर्म्मणी"––त्यग्निविशेषकथनमर्थवत्। अत एवाग्निविशेषोपदेशादत्र व्याहृतिहोमोऽपि कार्य इति कस्यचिन्मतमपास्तम्। प्रमाणान्तराभावादस्य चान्यथासिद्धेः। शिष्टाचारोऽप्येवमेव। अत्र गणेश्वरमिश्रादयस्तु–छन्दोगानामन्यस्यान्नप्राशनस्याविधानात्कुमारमुखे यवरसदानमेतदेवान्नप्राशनम्। अन्यथा संस्कारन्यूनता स्यात्। अतएव न पृथक्करणमिति[2]। ननु सूत्रकारेण पृथगसूत्रणादत्रान्नप्राशनं संस्कार एव नास्तीति चेन्न सूत्रकारानुक्तत्वमात्रस्याप्रयोजकत्वात्। अन्यथा–कन्यादानकर्णवेधाग्निहोत्राणामकरणप्रसङ्गात्।

---

१. जुहोति पदोपादानात्स्वाहान्ततामन्त्रयोरवगम्यते। मन्त्रयोर्भेदेनोपदेशाद्भेदेनव होमः। अतएव वीरपद्धतौ विनियोगोऽपि पृथगेव दर्शितः। किन्त्वत्र प्रथममन्त्रान्ते स्वाहाकारो नास्तीति चित्रं प्रतिभाति ॥

२. एषामयमाशयः। शास्त्रप्रामाण्यबलादेकेनापि कर्म्मणा संस्कारद्वयनिष्पत्तावपि न किमप्यनुचितम्। ननु "षष्ठेऽन्नप्राशनं मासि" इति नियतकालत्वमन्नप्राशनमुपदिश्यते इत्यन्येषामेव नियतकालत्वन्नामकरणेन व्यवहितत्वञ्च, नास्माकम्। नाप्यस्य नियतकालत्वमप्यस्ति–यथा च यमः—"ततोऽन्नप्राशनं षष्ठे मासि कार्यं यथाविधि। अष्ट-

"यन्नाम्नातं स्वशाखायां पारक्यमविरोधि च ।
विद्वद्भिस्तदनुष्ठेयमग्निहोत्रादिकर्म्मवत् ॥"

इति वचनात्सिद्धेस्तुल्यत्वादिति तात्पर्यगत्या वदन्ति । तत्र भाष्यकृतः यद्येतदन्नप्राशनं, जातकर्म्म कतरत्तर्हीति संस्कारन्यूनता तदवस्थैवेति । न चैकेन कर्म्मणा संस्कारद्वयसम्भवः । क्वचिदपि तथाऽदर्शनात् । किञ्च "ततोऽन्नप्राशनं कार्यं मासि षष्ठे यथाविधि" इत्यादिब्रह्मपुराणादिवचनादस्य कालभेदात् । न चतेषां वचनानां छन्दोगेतरपरत्वम्, बहुषु सङ्कोचापत्तेः । वस्तुतस्तु—"प्रगल्भो जातकर्म्मणि" "प्राशने तु शुचिस्तथेत्यग्निभेदकथनादस्मिन्नपि कल्पेऽन्नप्राशनं पृथगस्तीति निरपवादमिति । अतएव पद्धतौ पृथग्लिखनमिति दिक् ॥ मन्त्रो यथा—

"मेधान्ते मित्रावरुणौ मेधामग्निर्दधातु ते ।
मेधान्ते अश्विनौ देवावाधत्ताम्पुष्करस्रजौ" ॥ ६ ॥
"सदसस्पतिमद्भुतं प्रियमिन्द्रस्य काम्यम् ।
सनिम्मेधामयासिषं स्वाहा" ॥ ७ ॥

इति । अर्थो यथा--'मेधां' धारणावती[1] धियं 'पुष्करस्रजौ' पद्ममालिनौ ॥ ६ ॥ इति ।

'सदसस्पतिं' सभाया मुख्यम् 'अद्भुतम्' अभूतमाश्चर्यम् । 'इन्द्रस्य' देवराजस्य 'प्रियम्' वल्लभम्[2] । अथच 'काम्यम्' कमनीयम् । (अभीष्टसम्पादकं) 'मेधां' धारणावतीन्धियम् । 'सनिं' दातारं गुरुं सुराचार्यमहं शरणत्वेन 'अयासिषम्' प्राप्तवानस्मि । सोऽस्मै कुमाराय मेधान्ददात्वित्याशंसयेति वाक्यार्थः ॥ ७ ॥ इति च ॥

"कृन्तत नाभिमि" ति ब्रूयात् "स्तनञ्च प्रतिधत्ते"ति ॥ २२ ॥

इसके बाद पिता 'नाभि का कर्तन करो' और 'स्तन पिलाओ' यह कहे ॥२२॥

मेधाऽथ कर्त्तव्यं यद्देष्टम्मङ्गलकुले" इति कालद्वयमुपदिश्य कालान्तरमप्युपदिशति । मनुरपि "षष्ठेऽन्नप्राशनं मासि यद्वेष्टम्मङ्गलं कुले" इति तथैवोपदिशति । तदेतदपरे न क्षमयन्ते । जातकर्म्मरूपत्वादेतस्य नान्नप्राशनत्वम् । न खल्वेकेन कर्म्मणा संस्कारद्वयनिष्पत्तियुक्ता । नियतकालत्वादन्नप्राशनस्य नामकरणेन व्यवहितत्वात्तेति प्राङ्नाभिवर्द्धनात्करणमस्य न युक्ततरम् । स्वशाखायामनभिधातेऽपि च पारशाखिकोपादनमविरोधेऽनुमतं कात्यायनेन । तस्मात्प्रधानहोमदेवतामात्रमेवाध्वर्युभ्योग्रहीतव्यम् । पूर्वापरेतिकर्त्तव्यताकलापस्तु स्वशाखोक्त एव स्यादिति न किञ्चिदेतत् ॥

१. "धीर्द्धारणावती मेधा" इत्यमरः ।
२. "दयितं वल्लभं प्रियम्" इत्यमरः ।

निगदव्याख्यातम् ॥ २२ ॥

अत ऊर्ध्वमसमालम्भनमादशरात्रात् ॥ २३ ॥

इतिश्रीमद्गोभिलीये गृह्यसूत्रे द्वि०प्र०स्य सप्तमी कण्डिका ॥२॥७॥*॥



इस [नाभि के वर्धन] के बाद दस रात तक [पिता] बालक का स्पर्श न करे [या न देखें] ॥ २३ ॥

॥ इस प्रकार गोभिलगृह्यसूत्र के द्वितीय प्रपाठक में सप्तम कण्डिका की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ ७ ॥



अतोऽस्मान्नाभिवर्द्धनादूर्ध्वम्परतः । असमालम्भनम्—अस्पर्शनम् । अदर्शनमिति मुरारिमिश्राः ॥ आ दशरात्रात्—दशाहोरात्रपर्यन्तम् ॥ तेन "सूतिकां स्पृष्ट्वा सचेलः स्नायात्" इति । "माता शुद्धयेद्दशाहेन" इतिचैवमादिस्मृतौ मातुरस्पृश्यत्वय्यंदभिहितन्तदस्मान्नाभिवर्द्धनादूर्ध्वमिति बोध्यम् ॥ २३ ॥*॥

॥ इति श्रीमद्गोभिलीयगृह्यसूत्रव्याख्यायां "मृदुला"—ख्यायां मुकुन्दशर्म्मसङ्कलितायां द्वितीयप्रपाठकस्य सप्तमी कण्डिका ॥ २ ॥ ७ ॥ * ॥



अथाष्टमी कण्डिका

(अथ निष्क्रमणम्)

जननाद्यस्तृतीयोज्यौत्स्नस्तस्य तृतीयायां प्रातः सशिरस्कं कुमारमाप्लाव्यास्तमिते वीते लोहितिम्न्यञ्जलिकृतः पितोपतिष्ठते ॥१॥

जन्म से तीसरे शुक्ल पक्ष की तृतीया तिथि में प्रातःकाल नवजात कुमार को सिर से स्नान करा कर सूर्यास्त के बाद सन्ध्या के विगत होने पर पिता पुत्र ग्रहण के लिए हाथ फैलाकर अवस्थित होवे ॥ १ ॥

जननाज्जन्मन आरम्य तृतीयो यो ज्यौत्स्नः ज्योत्स्नायुक्तः पक्षः शुक्लपक्षस्तस्य तृतीयायां तिथौ सशिरस्कं शिरसा सह । अत्र सशिरस्कमित्यभिधानादन्यदा बालानामशिरस्कं स्नानन्दर्शयति । तथाच ब्रह्मपुराणम्—

"शिशोरभ्युक्षणं प्रोक्तं बालस्याचमनं स्मृतम् ।
रजस्वलादिस्पर्शे तु स्नातव्यन्तु कुमारकैः ॥" इति ।

एवञ्चेदं स्नानमदृष्टार्थम् । न तु शौचार्थमिति ध्येयम् ॥ कुमारं—बालम् ॥ तथाच ब्रह्मपुराणम्—

"प्राक्चूडाकरणाद् बालः प्रागन्नप्राशनाच्छिशुः ।
कुमारस्तावद्विज्ञेयो यावन्मौञ्जीनिबन्धनम् ॥"

इति । आप्लाव्य—स्नापयित्वा । रात्रौ कर्म्मणो विधानाद्रात्रावेव स्नानम्माभूत्येवमर्थं प्रातरित्युक्तम् । अस्तमिते अस्तङ्गते सवितरि सूर्ये वीते—विगते । लोहितिम्नि—लौहित्ये सन्ध्योपरम इत्यर्थः । अञ्जलिकृतः कृताञ्जलिः । "आहिताग्न्यादिषु" (पा० २।२।३७) पाठात् कृतशब्दस्य परनिपातः । उपतिष्ठते—आराधयति । अर्थाच्चन्द्रमसम् । "अभिमुखश्चन्द्रमसम्" इति लिङ्गात् । अत्र "उपान्मन्त्रकरणे" (पा० १।३।२५) इत्यात्मनेपदम् । अत्र "उपाद्देवतापूजासङ्गतिकरणमित्रकरणपथिष्विति वाच्यम्" इति वार्त्तिकादाराधने । अत्र दिशोऽनुपदेशात् प्राङ्मुख उपस्थानङ्कुर्यात् । "यत्र दिङ्नियमो नास्ती"ति कात्यायनवचनादिति भाष्यकृतः । प्रत्यङ्मुख इति पद्धतिकृतः । युक्तञ्चेदं शुक्लपक्षतृतीयायां चन्द्रमसः पश्चिमदिगवस्थितत्वेन तत्साम्मुख्येनैवोपस्थानस्य न्याय्यत्वात् ॥ १ ॥

अथ माता शुचिना वस्त्रेण कुमारमाच्छाद्य दक्षिणत उदश्चं पित्रे प्रयच्छत्युदक्शिरसम् ॥ २ ॥

इसके बाद उस [नवजात शिशु] की माता उसे साफ वस्त्र से ढक कर अपने पति के दाहिने बालक का उत्तर की ओर सिर करके उत्तान भाव से पिता की अञ्जलि में प्रदान करे ॥ २ ॥

अथ—अनन्तरमेव। शुचिना—निर्णिक्तेन। आच्छाद्य—आ ईषत्—मुखवर्ज्जम् छादयित्वा दक्षिणतः पितुर्द्दक्षिणस्यान्दिशि भूत्वा। अत्र च 'आद्यादिभ्यस्तसेरुपसंख्यानम्' (पा० ५।४।४४ वा०) इति सप्तम्यन्तात्तसिः। एवमग्रेऽपि। उदश्चम्—उत्तानम्। उदक्शिरसञ्च कुमारं पित्रे प्रयच्छति—ददाति ॥ २ ॥

स्वयञ्च—

अनुपृष्ठम्परिक्रम्योत्तरतोऽवतिष्ठते ॥ ३ ॥

[उसे देने के बाद स्वयं] अपने पति के पीछे से आकर उत्तर की ओर पति के वाम भाग में अवस्थित होवे ॥ ३ ॥

अनुपृष्ठं—पत्युः पृष्ठदेशेन। परिक्रम्य—गत्वा। उत्तरतः पत्युतरस्यान्दिशि अवतिष्ठते ऊर्ध्वा तिष्ठति। अत्र "समवप्रविभ्यःस्थः" (पा० १।३।२२ । इत्यात्मनेपदम् ॥ ३ ॥

अथ जपति—"यत्ते सुसीम" इति। "यथायन्न प्रमीयते पुत्रोजनित्र्याअधी"—ति ॥ ४ ॥

(मं० ब्रा० १।५।१०–१२)

इसके बाद 'यत्त सुसीम' आदि से लेकर यथा यन्न प्रमीयते पुत्रो जनित्र्या अधि' आदि तीन मन्त्रों का जप करता है ॥ ४ ॥

अथे—त्यानन्तर्यार्थम्। परिक्रम्योत्तरतः स्थितायान्तस्याम्। अनन्तरं पिता जपति—य तु परिक्रममाणायामेव। जप्यमाह—यत्त इति—एवमादि। यथायं अधीत्येतदन्तम्।

तदिदन्त्यृचस्या[1]द्यन्तज्ञापनार्थमिति पदद्वयमुक्तमिति बोध्यम्।

ऋचो यथा—

"यत्ते सुसीमे हृदयꣳहितमन्तःप्रजापतौ।
वेदाहम्मन्ये तद्ब्रह्म माहं पौत्रमघं नि गाम् ॥ १० ॥

1. ऋक्त्रयस्य।

यत्पृथिव्यामन्नमृतं दिवि चन्द्रमसि श्रितम् ।
वेदामृतस्याहन्नाम माहं पौत्रमघꣳरिषम् ॥ ११ ॥
इन्द्राग्नी शर्म्मयच्छतं प्रजायै मे प्रजापतिः ।
यथायं न प्रमीयेत पुत्रोजनित्र्या अधि" ॥ १२ ॥ इति ।

आसामर्थः--हे चन्द्र ! "यत्" 'ते' तव 'अन्तः' मध्ये 'सुसीमे' सुषीमे सुशीमे वा[1]। अतिशीतले 'प्रजापतौ' प्रजानामानन्दजनकत्वेन पत्याविव (स्वामिनीव) 'हृदयं' मनः 'हितम्' निहितम् अर्पितम्। 'अहं' 'वेद' जानामि। किं ? 'मन्ये तद् ब्रह्म' तदेतद्ब्रह्मैवभवतीति ध्रुवमुत्प्रेक्षे[2]। तेन 'पौत्रम्' पुत्रसम्बन्धि। 'अघम्'[3] दुःखम् 'अहं' 'मा निगाम्' मा नितरां प्राप्नुयाम्। अयमर्थः। यस्मादहं ब्रह्मवित्तस्मान्ममानिष्टसम्बन्धो न सङ्गच्छते इति ॥ १० ॥

'यत्' 'पृथिव्याः' शकासात् 'अन्'[4] निर्गतम्। अमृतम्[5]। 'दिवि' द्युलोके 'चन्द्रमसि' चन्द्रे 'श्रितम्' आश्रितम्। तद् 'अहम्' 'अमृतस्य' 'नाम' प्राकाश्यं[6] सम्भाव्यं वा रहस्यम् 'वेद' जानामि। ब्रह्मवित्त्वात्। अतः 'पौत्रं' पुत्रसम्बन्धि 'अघं' दुःखम्प्राप्य[7] 'मा रिषम्' हिंसितो माभवेयमित्यर्थः॥११॥

हे 'इन्द्राग्नी' ! युवां 'मे' मम 'प्रजायै' सन्तानाय। 'शर्म्म' कल्याणम्। 'यच्छतम्' दत्तम्। किंभूतौ ? 'प्रजापती' लोकपालौ। तथाच शर्म्म यच्छतं 'यथायं पुत्रो' 'मम' 'जनित्र्याः' मातुः। 'अधि' उत्सङ्गे स्थितो 'न प्रमीयेत' न [8]हिंस्येत कदाचिदापुरुषायुषम् ॥ १२ ॥ इति ।

अत्र भविष्यपुराणम्—

"द्वादशेऽहनि कर्त्तव्यं शिशोर्निष्क्रमणं गृहात् ।
चतुर्थे मासि कर्त्तव्यन्तथाऽन्येषाम्मतं विभो ! ॥"

---

१. "सुषी(शी)मः शिशिरो जडः" इत्यमरः ।

२. "मन्ये शङ्के ध्रुवं प्रायो नूनमित्येवमादिभिः । उत्प्रेक्षा व्यज्यते शब्दैरिवशब्दोऽपि तादृशः" इति महदुक्तेः । तादृशः क्रियापदसङ्गतः । उत्प्रेक्षाभिधायी ।

३. "अंहोदुःखव्यसनेष्वघम" इत्यमरः ।

४. "अम् गत्यादिषु" (भ्वा० प०) तस्मात्क्विनि मस्यनत्वे रूपम् ।

५. छान्दसो दीर्घः । गुणविष्णुसु-अनामृतममृतमित्याह—

६. "नाम प्राकाश्यसम्भाव्यक्रोधोपगमकुत्सने" इत्यमरः ।

७. केचित्तु—"मा ऋषम्' नावगच्छेयम् । "ऋषी गतौ" (तु० प०) माङिलुङर्थे-लङ्भाव आर्षः । अत्रानुस्वारो वर्णव्यत्ययकृतोꣳभावमापन्नः । इत्याहु ।

८. "मीङ्हिंसायाम्" (दि० आ०) आशंसायां लिङ् ।

इति । द्वादशेऽह्नीति शाखाभेदाद्विकल्पः । तथा—

"चतुर्थे मासि कर्त्तव्यं शिशोश्चन्द्रस्य दर्शनम् ।
तृतीये मासि कर्त्तव्यं शिशोस्सूर्यस्य दर्शनम् ॥"

इति । सूर्यचन्द्रदर्शनयोर्गृह्यानुसारेण व्यवस्था । अतुल्यार्थत्वात्समुच्चय इति कल्पतरुः । पारस्करः "चतुर्थे मासि निष्क्रमणिका—सूर्यमुदीक्षयति तच्चक्षुरिती"ति । अत्र च संस्कारो निष्क्रमणमेव । तत्परिगणने तस्यैव पाठात् । अनयोर्द्दर्शनयोराभ्युदयिकश्राद्धन्न कुर्वन्ति—"सूर्येन्दोः कर्म्मणी ये तु तयोः श्राद्धन्न विद्यते" इति कात्यायनवचनादिति कल्पतरुः ॥ ४ ॥

एवञ्जपित्वाऽथ कुमारम्—

उदङ्मम्मात्रे प्रदाय यथार्थम् ॥ ५ ॥

जप करने के बाद उसे उत्तान भाव से पुनः माता को देकर आगे जैसा कर्म हो वैसा करे ॥ ५ ॥

ऋजुरक्षरार्थः । यथार्थमिति कर्म्मणः परिसमाप्तिरुच्यते । इत्यसकृदवोचाम । तेन वामदेव्यगानमिदानीङ्कर्त्तव्यम् । तथा च कर्मप्रदीपः—

"अहोमकेष्वपि भवेद्यथोक्तश्चन्द्रदर्शने ।
वामदेव्यं गणेष्वन्ते बल्यन्ते वैश्वदेविके ॥" इति ॥ ५ ॥

अथयेऽत ऊर्ध्वं ज्यौत्स्नाः पूर्वोदित[1] एव तेषु पितोपतिष्ठतेऽपामञ्जलिं पूरयित्वाऽभिमुखश्चन्द्रमसम् ॥ ६ ॥

जन्म के चतुर्थ शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा से पूर्णिमा तक पन्द्रह दिनों के भीतर किसी एक रात्रि को चन्द्रमा के सम्मुख खड़ा होकर पिता तीन अञ्जलि जल दे ॥ ६ ॥

---

१. अत्र 'प्रथमोद्दिष्टे" इति पाठश्चन्द्रकान्तेन घृतः । प्रथमं यः काल उद्दिष्टः कथितस्तस्मिन्नेव काले तृतीयायामिति तदर्थमाह । प्रथमोदित इतिपाठेऽपि प्रथममुदितः कथितो यः कालस्तस्मिन्निति स एवार्थ इति च । एषोऽर्थः पद्धतिकृतो वीरेश्वरस्याप्यभिमतः । परं स "ततस्तथावस्थितमेव कुमारं मातरि समर्प्य तद्दिने तत्क्षण एव चन्द्राभिमुखः पिता गव्यदुग्धयवफलपुष्पचन्दनसहितमपामञ्जलिं पूरयित्वा चन्द्रोद्देशेन सकृन्मन्त्रेण द्विस्तूष्णीमुत्सृजेदि"त्याह । एतदन्त एव च पात्रजलेन पुष्पेण चापूर्य पूर्ववद्वामदेव्यगानमिति च । तेन चैककर्म्मतामनयोराष्टे । किन्तु यथार्थमिति पूर्वापरयोरुभयोरपि पृथक् २ परिदृश्यमानं कर्मान्तरत्वमवगमयति । तथाच प्रथमतृतीयज्यौत्स्ने एकङ्कर्म्म । तत्र मातुः कुमारस्य चाङ्गत्वमग्रेतनेषु ज्यौत्स्नेषु पित्रैवचन्द्रार्घदानम्पुत्रायुष्यकामनया कर्त्तव्यमिति तत्कर्मान्तरमिति सौत्रोऽर्थः प्रतिभाति । अस्य चैवमग्रेऽपि मासि २ वर्षंयावत्कर्त्तव्यमित्यप्यर्थः सम्भवति । मुरारिमिश्रैस्तु यथानुपदोक्तं व्याख्याऽकारि ॥

अथ—'तृतीयाकर्म्मण ऊर्ध्वं ये ज्यौत्स्नाः शुक्लपक्षास्तेषु प्रथमोदित एव चन्द्रमसि द्वितीयायां प्रतिपदि वा। पिता अपामञ्जलिश्चन्द्रोद्देशेन पूरयित्वाऽभिमुखः सन् चन्द्रमसमुपतिष्ठते आराधयति ॥ ६ ॥

"यदद्श्चन्द्रमसी"ति सकृद्यजुषा द्विस्तूष्णीमुत्सृज्य यथार्थम् ॥७॥

(म० ब्रा० १।५।१३)

'यददश्चन्द्रमसि' आदि यजु मन्त्र पढ़कर एक अञ्जलि जल दे और दो अञ्जलि जल बिना मंत्र के छोड़कर आगे का कृत्य करे ॥ ७ ॥

"यददश्चन्द्रमसि कृष्णम" इति मन्त्रेण सकृच्चद्रमसं प्रति उत्सृज्य। द्विरञ्जलिद्वयम्। तूष्णीमुत्सृजेत्। यथार्थमिति कर्म्मणः परिसमाप्तिरुच्यते। एतच्च कर्म्मान्यत्रस्थोऽपि पिताऽब्दपर्यन्तं[2] कुर्यात्। मन्त्रो यथा—

"यददश्चन्द्रमसि कृष्णं पृथिव्या हृदयꣳश्रितम्।
तदहव्विँद्वꣳस्तत्पश्यन्माहम्पौत्रमघꣳरुदम्" ॥ १३ ॥ इति।

अस्यार्थः। 'यत्' 'अदः' एतत् 'चन्द्रमसि' चन्द्रे 'कृष्णम्' लाञ्छनं तत् 'पृथिव्याः' 'हृदयं' प्रतिबिम्बं 'श्रितम्' आश्रितमधिष्ठितम्। "तत्' इदम् 'अहं' विद्वान्' ब्रह्मवित्वात्तत्स्वरूपं जानन् 'तद्' एवच 'पश्यन्' दृष्टवान[3] "स्मी"ति शेषः। यतोऽतः 'पोत्रम्' पुत्रसम्बन्धि 'अवं'

---

१. चन्द्रकान्तस्तु—अथेत्यपूर्वकर्मोपन्यासार्थः। अन्ये तु वर्णयन्ति। अथशब्दोऽधिकारानुवृत्त्यर्थः। कथन्नाम पूर्वंचदिदमपि चन्द्रदर्शन एवेति। अतोऽस्मास्तीयाच्छुक्लपक्षादूर्ध्वं ये ज्यौत्स्नाः शुक्लपक्षास्तेषु इत्येव व्याचख्यौ।

२. चन्द्रकान्तस्त्वेत्र हेतुमाह—तावतैव कृतत्वात्। वर्षान्तरेष्वपि त एव ज्यौत्स्ना एव मासास्त एवर्त्तवः पुनरावर्त्तन्ते। "अत ऊर्ध्वं ज्यौत्स्नेषु" इत्यकृत्वा "ये अत ऊर्ध्वं ज्यौत्स्नास्तेषु" इति करणाच्चैवमवगच्छामः। सर्वनाम्ना खल्वभिमतेषु ज्यौत्स्नेष्वेतदुपदिश्यते। असमास-गुरु-क्रमभेदपूर्ववचनाऽर्थापत्तयः खल्वर्थविशेषप्रतिपादनार्थं भवन्ति। शिष्टाश्चैवमाचरन्ति इति ॥

३. तथाच मनुः। "नामधेयं दशम्यान्तु द्वादश्यां वाऽस्य कारयेत्। पुण्ये तिथौ मुहूर्त्ते वा नक्षत्रे वा गुणान्विते" च इति। दशम्यामित्यशौचापकर्षं बोद्धव्यम्। अतीतायामिति शेषोवा। तथाच विष्णुः "अशौचव्यपगमे नामधेयकरणम्" इति। पुण्ये तिथावरिक्तासु मुहूर्त्ते गुणान्विते-अभिजिदादौ। पारस्करः "दशम्यामुत्थाप्य ब्राह्मणान्भोजयित्वा पिता नाम करोति" इति। उत्थाप्य-"सूतिकामि"ति शेषः। भविष्यपुराणे—"नामधेयन्दशम्यां तु केचिदिच्छन्ति पार्थिव!। द्वादश्यामपरे राज्यां मासे पूर्णे तथाऽपरे॥ अष्टादशेऽह्नि च तथा वदन्त्यन्ये मनीषिणः पुण्ये तिथौ मुहूर्त्ते वा नक्षत्रे वा गुणान्विते ॥" इति। अत्रराज्रिपदमहः परमन्यत्पूर्ववत्। श्रुतिः "एकादशे द्वादशेयाऽहनि पिता नाम कुर्यात्।" इति। याज्ञवल्क्यबृहस्पती-"अहन्येकादशेनाम" इति ॥ अत्र "व्युष्टे" इतिकथनान्ना-

दुःखम्प्राप्य 'मा रुदम्' मा रुद्याम् । ब्रह्मवित्त्वादेव' ॥ १३ ॥ इति ॥ ७ ॥

(अथ नामकरणम्)

जननाद्दशरात्रे व्युष्टे शतरात्रे सम्वँत्सरे वा नामधेयकरणम् ॥ ८ ॥

जन्म से दसवें दिन के या सौवें दिन के या एक वर्ष के बीत जाने पर [पिता] नाम करण करे ॥ ८ ॥

जननात्–जन्मदिवसादारभ्य दशरात्रे व्युष्टे–अतिक्रान्ते । एवं शतरात्रे सम्वँत्सरे वा व्युष्टे । नामैव नामधेयम् । "भागरूपनामभ्योधेयः" (पा० ५।४।३६ वा०) इतिधेयप्रत्ययः स्वार्थे । तस्य करणम् । इति कर्म्मणो-नामधेयम् । "कर्त्तव्यम्" इति सूत्रशेषः । अत्र विष्टयादिदोषादन्यहेतोर्वा पूर्वत्रासम्पत्तावुत्तरग्रहणम् इति व्यवस्थितो विकल्पो वाशब्दार्थः । न त्वैच्छिकः । तुल्यवद्विकल्पेऽनेको वाशब्दः सूत्रकारशैलोसिद्धः स चेह नास्तीति । तथाप्यैच्छिकविकल्पाङ्गीकारेऽष्टौ दोषास्तत्र सम्भवन्तीति व्यक्तं शुभ-कर्म्मनिर्णये ॥ ८ ॥

अथ यस्तत्करिष्यन्भवति पश्चादग्नेरुदगग्रेषु दर्भेषु प्राङुपविशति ॥ ९ ॥

इसके बाद जो [पिता या अन्य पुरोहित] नामकरण के लिए इच्छुक अग्नि के पश्चिम उत्तराग्र आस्तृत कुशासन पर पूर्वमुख होकर बैठे ॥ ९ ॥

अथेति–जातगृहनियमार्थम्[२] । तथाच निष्क्रमणात्पूर्वमेतत्कर्म्म जन्म-शालायामेव कर्त्तव्यम् । अन्यथा तु बहिश्शालायामपीत्यथशब्दाल्लभ्यते इतिभाष्यकृतः । तथाचोक्तं बह्वृचशाखायाम्—"तन्मध्ये जुहुयाद्यस्मि-ञ्जातः स्यात्" इति । यः कश्चित्पिता अन्यो वा तत्–नामकरणं करिष्यन् कर्त्तुमुद्यतो भवति । प्राङ–प्राङ्मुखः । निगदव्याख्यातमन्यत् । स खल्वय-मग्निः शालाग्नेरपि[३] लौकिक एव बोद्धव्यो न पुनः स्वयमाहितः । गर्भ-

---

र्वोक्त इति । ततः परं यथाशास्त्रं पुण्यतिथ्यादौ । अत्र मासेऽष्टादशे वाऽहनीत्येवम्पुराण-वचनं मतान्तरमितिव्यक्तम् । द्वादश्यांवेति मनूक्तिः पञ्चदश–मासयोर्यथावर्णं क्षत्रियादिषु द्रष्टव्या । अत्रास्येति सामान्ये नपुंसकवचनं स्त्रियमप्याह । "आर्षे लिङ्गवचनमतन्त्रम्" इत्यपि परिमासन्तेस्म पाणिनीयाः ॥

१. अयमर्थः । यस्मिन्गृहे कुमारोजातस्तस्मिन्नेव गृहे एतत् कर्त्तव्यमिति ॥

२. अन्यथा प्रागेव चन्द्रदर्शनात्कुमारस्य बहिर्गमनं स्यात् ॥

३. अग्निहोत्रिणोऽपि ॥

संस्कारहोमाणामेवतथानुज्ञानात्। नामधेयादौ लौकिकाग्नेरुपदेशाच्च। तथाच कर्म्मप्रदीपः—

"न स्वेऽग्नावन्यहोमः स्यान्मुक्त्वैकां समिदाहुतिम्।
स्वगर्भसंस्क्रियार्थांश्च यावन्नासौ प्रजायते॥
अग्निस्तु नामधेयादौ होमे सर्वत्र लौकिकः।
न हि पित्रा समानीतः पुत्रस्य भवति क्वचित्॥" इति॥ ९॥

अथ माता शुचिना वसनेन कुमारमाच्छाद्य दक्षिणत उदश्चङ्क्त्रे प्रयच्छत्युदकशिरसम्॥ १०॥

इसके बाद माता शुद्ध और साफ वस्त्र से उस कुमार को आच्छादित करके [नामकरण] कर्ता के दाहिने ओर आकर उत्तर की ओर [बालक का] सिर करके उत्तान भाव से उसे दे दे॥ १०॥

निगदव्याख्यातम्॥ १०॥

प्रदाय च माता—

अनुपृष्ठम्परिक्रम्योत्तरत उपविशत्युदगग्रेषु दर्भेषु॥ ११॥

इसके बाद अपने पति के पीछे से आकर उत्तर की ओर पति का वाय भाग में बैठे॥ ११॥

एतदप्युक्तार्थम्॥ ११॥

अथ जुहोति प्रजातपतये तिथये नक्षत्राय देवताया इति॥ १२॥

फिर [कुमार को गोद में लेकर] प्रजापति के लिए जन्म की तिथि के लिए और फिर जन्म नक्षत्र के देवता के तुष्ट्यर्थ होम करे॥ १२॥

अथेत्यानन्तर्यार्थकम्। उपविष्टायान्तस्याङ्कुमारं तस्यै प्रदाय जुहोति। इतरथा[1] गृहीतकुमारस्य हवनासम्भवात्। इत्येवमेके। गृहीतकुमार एव जुहोतीत्यपरे। पद्धतावप्येवमेव। कस्मै जुहोति? प्रजापतये। स चायं [प्रजापतिहोमः] "मनसा प्रजापतिन्ध्यायेत्तूष्णीं होमेषु सर्वत्रे"त्याश्वलायनवचनात्तथा कर्त्तव्यः। अत्राविशेषोक्तेर्देवतापदेन [2]तिथिनक्षत्रोभय-

---

१. अनादेशादाज्यन्द्रव्यम्। "आज्यन्द्रव्यमनादेशे जुहोतिषु विधीयते" इति कात्यायनवचनात्॥

२. तिथयः प्रतिपदाद्याः तासान्देवता पूर्णिमान्तानां ब्रह्मादयोविश्वेदेवान्ताः। यत्र त्तिथिहोमे "ॐ प्रतिपदे स्वाहा" इत्येवमादिकः प्रयोगः। तिथिदेवताहामे प्रकारः कर्मप्रदीपोक्तोऽग्रेव्यक्तः।

देवतालाभः। अत एव च विसमासकरणम्। तदुभयञ्च कुमारजन्मकालिकमेव। तथाच बह्वचगृह्ये—"त्रीणि चेतानि सदैवतानि जुहुयाद्यस्मिञ्जातः स्यादि"ति। तिथिदेवतास्तु—

"ब्रह्मा त्वष्टा च विष्णुश्च यमः सोमः कुमारकः।
मुनिर्वसुः पिशाचश्च धर्मोरुद्रोरविस्तथा॥
मदनश्चैव यक्षश्च विश्वेदेवास्तथैव[1] च।
अमायां पितरः प्रोक्ता यज्ञार्थास्तिथिदेवताः॥"

इति वचनोपात्ता इह ग्राह्याः। न तु पुराणान्तरोक्ताः। परिशिष्टसंवादात्। तथाचात्र होमप्रकारे कात्यायनः—

"नामधेये मुनिवसुपिशाचां बहुवत्सदा।
यक्षाश्च पितरो देवा यष्टव्यास्तिथिदेवताः॥" इति।

पुराणान्तरे मुन्यादिदेवतानभिधानात्। बहुवदिति—बहुवचनान्तशब्देनेत्यर्थः। एवमग्रेऽपि नक्षत्रदेवताहोममधिकृत्य तथा—

"आग्नेयाद्येऽथ[2] सार्पाद्ये विशाखाद्ये तथैव च।
अषाढाद्ये धनिष्ठाद्ये अश्विन्याद्ये तथैव च॥
द्वन्द्वान्येतानि बहुवदृक्षाणाञ्जुहुयात्सदा।
देवतास्वपि हूयन्ते बहुवत्सर्पपित्रपः॥

इति आग्नेयाद्ये—कृत्तिकारोहिण्यौ। एवमग्रेऽपि। साप—मश्लेषा। शेषमवशिष्टम्। द्वन्द्वद्वयं—पूर्वोत्तरफल्गुन्यौ। पूर्वोत्तरभाद्रौ च द्विवद्विवचनान्तम्। अवशिष्टानि—मृगशिरः प्रभृतीनि नक्षत्राणि। एकवदेकवचनान्तशब्देनेत्यर्थः[3]। देवाः विश्वेदेवाः।

ज्यौतिषे—

"अश्वो यमोऽनलो ब्रह्मा शशी शर्वोऽदितिर्गुरुः।
सर्पः पिता भगश्चैव अर्यमा च दिवाकरः॥
त्वष्टा वातः कृशान्विन्द्रो मित्रश्चैव पुरन्दरः।
निर्ऋतिः सलिलञ्चैव विश्वेदेवा हरिस्तथा॥

---

१. पूर्णिमायाम्॥

२. द्विवचनान्तात् सन्धिरभावः। प्रगृह्यसंज्ञायां (पा० १।१।११) प्रकृतिभाव (पा० ६।१।१२५) स्मरणात्।

३. अत्रापि लिङ्गनिर्णयस्तन्त्रान्तरे।

"हस्ताश्वातिश्रवणा अक्लीवे मृगशिरो न पुंसि स्यात्।
पुंसिपुनर्वसुपुष्यौ मूलन्त्वक्ली स्त्रियः शेषाः॥ इति॥

वसवोवरुणश्चैव तथैव स्यादजैकपात् ।
अग्निर्बु(ब्र्)ध्न्यस्तथा पूषा क्रमान्नक्षत्रदेवताः ॥" इति ।

अत्र अहिर्बुध्न इत्यपपाठः । 'उत्तानाहिर्बु(ब्र्)ध्न्यः शृणोत्वज एकपात्पृथिवी समुद्र" इति श्रुतौ पाठाविवादेन तथा निर्णयात् । सोऽयं होमस्य प्रकारविशेष इतिशब्देन सूच्यत–इति द्रष्टव्यम् ॥ १२ ॥

तस्य मुख्यान् प्राणान्त्संस्पृशन्[1] "कोऽसि कतमोऽसी" त्येतम्मन्त्रं जपति ॥ १३ ॥

(मं० ब्रा० १।५।१४–१५)

उस बालक के मुख में हाथ में प्राण वायु (= श्वास) का स्पर्श करते हुए 'कोऽसि कतमोऽसि' आदि मन्त्र का जप करे ॥ १३ ॥

तस्य–कुमारस्य । मुख्यान्–मुखप्रभवान् । "शरीरावयवाद्यत्" (पा० ५।१।६) इति भवार्थे यत्प्रत्ययः । प्राणान्–प्राणनिर्गमोपायभूतान्सप्तच्छिद्रविशेषान् । मुखमक्षिणी नासिके कर्णावित्येतद्रूपानिति यावत् । "कोऽसी"त्येवमादिमन्त्रं जपति । मन्त्रो यथा––

"कोऽसि कतमोऽस्येषोऽस्यमृतोऽसि, आहस्पत्यं मासं प्रविशासौ" ॥१४॥

स त्वाऽह्ने परिददात्वहस्त्वा रात्र्यै परिददातु रात्रिस्त्वाऽहोरात्राभ्याम्परिददात्वहोरात्रौ त्वाऽर्द्धमासेभ्यः परिदत्तामार्द्धमासस्त्वाम्मासेभ्यः परिददातु मासास्त्वर्त्तुभ्यः परिददत्वृतवस्त्वा सम्वँत्सराय परिददतु सम्वँत्सरस्त्वाऽऽयुषे जरायै परिददात्वसौ" इति ॥ १३ ॥

अस्यार्थः -असौ–इत्यामन्त्रणे । हे देवदत्त[2] ! त्वं 'कोऽसि ?' इति स्वरूपप्रश्नः । 'कतमोऽसि ?' इति जातिप्रश्नः (किञ्जातीयोऽसीति) 'एषोऽसी"–ति प्रत्यक्षनिर्द्देशः । 'अमृतोऽसि' अमरणधर्म्माऽसि । (अविनाश्यसि) यतोऽतस्त्वाम् 'आहस्पत्यम्' अहस्पतेः-सूर्यस्य सम्बन्धिनं (सौरं) 'मासं' सङ्क्रान्तिचिह्नितम् । 'प्रविश' तत्रात्मानमनु प्रवेशय । प्रथमं मासजीवी भव । ततः क्रमेणामृतत्वमेष्यसीति भावः ॥ १४ ॥

'असौ' हे देवदत्त ! इतिपुनरामन्त्रणमादरार्थम् । 'स' अहस्पतिः सूर्य्यः । 'त्वा' त्वाम् 'अह्ने' दिवसाय 'परिददातु' अर्पयतु । संवर्द्धनाय । याव-

---

१. "अत्र सम्मृशन्" इत्यपि पाठः क्वचिद्दृश्यते । अर्थतस्तौल्यमेव । "मृश् आमर्शे" (उ० ष०) पठितः आमर्शनं स्पर्श इति वृत्तिकृतः प्राहुः ॥

२. एतच्च यथाशास्त्रं कुलक्रमागतनामोपलक्षणम् ॥

च्छतायुष्ट्वम् । अत्र मासस्य विशेषणभूतोऽपि अहस्पतिः प्राधान्यात्स इत्यनेन परामृश्यते । इति गुणविष्णुभाष्यम् ॥ १५ ॥

इति । त्र्यवसानोऽयम्मन्त्रः ॥ १३ ॥

तत्र च मन्त्रे—

"आहस्पत्यम्मासं प्रविशासावि"—त्यन्ते च मन्त्रत्य घोषवदाद्यन्तरन्तस्थं दीर्घाभिनिष्ठानान्तं कृतन्नाम दध्यात् ॥ १४ ॥

आहस्पत्यं मासं प्रविशासौ' तक तीन मंत्र के पाठ के समय दो स्थान पर 'असौ' पद के बदले नूतन नाम रखकर जिसके अक्षर घोषवर्ण मध्य में अन्तस्थ वर्ण, और अन्त्य वर्ण दीर्घ या विसर्ग करते हुए व्यवहार करे ॥ १४ ॥

इति—एतस्मिन् मन्त्रान्तस्थे चासाविति स्थानद्वयस्थसर्वनाम्नि प्रकृतत्वात्कुमारस्य नाम दध्यात् गृह्णीयात् इत्यर्थः । कीदृशं नामेत्यपेक्षायामाह—घोषवदादीति । वर्गाणाम्प्रथमद्वितीयाः शषसाश्चाघोषप्रयत्नवन्तस्तद्भिन्नाश्च घोषवन्तः[2] । तेषाम्मध्ये एकतमवर्ण आदौ यस्य तद् घोषवदादि । अन्तरन्तः स्थम् । अन्तःस्था यरलवाः[3] । तेषाम्मध्ये चैकतमोऽपि वर्णोऽन्तर्मध्ये यस्य तत्तथा । दीर्घाभिनिष्ठानान्तम् । दीर्घो द्विमात्रो वर्णः । अभिनिष्ठानोविसर्जनीयमक्षरम् । "अभिनिष्ठानोऽप्यक्षरमात्रेऽपि स्याद्विसर्ज्जनीयेऽपी"ति मेदिनी । तौ (तदन्यतरौ) अन्तौ यस्य तत्तथा । क्वचित्तु—दीर्घाभिनिष्ठानमिति पाठः । दीर्घेणाभिनिष्ठन्यते समाप्यते यन्नाम तदिति तत्रैव व्याख्या चेति । कृतं—कृदन्तम् । अथच कृतं—पूर्वेषान्तेन पितामहादीनान्नामस्वेबैकमिति[1] दाक्षिणात्याः ॥ १४॥

---

१. तथाच बाह्यप्रयत्नानेकादशोपक्रम्य-शिक्षार्थमवलम्ब्य भट्टोजिदीक्षिताः प्राहुः—"ःखयांयमाः खय꣡क꣡पौ विसर्गः शरएवच । एते श्वासानुप्रदानाअघोषाश्च विवृण्वते ॥ कण्ठमन्ये तु घोषाः स्युः संवृता नादभागिनः" । इत्यादि । तथा च पाणिनीयशिक्षाऽपि—"घोषा वा संवृताः सर्वे" इति ॥

२. स्पर्शोष्मणोरन्तर्म्मध्ये स्थिता इत्यन्तःस्था इत्युच्यन्ते, एष छावन्तेऽपि पठ्यते । तथा चपा॰शिक्षायाम् "अन्तस्ताभिश्च संयुतम्"इति । तइमे यरलवाः तथाच वचनान्तरमपि-"अर्दा" घोषवदक्षरान्यरलवान्मध्ये पुनः स्थापयेदन्ते दीर्घविसर्जनीयसहितं नाम प्रयत्नात्कृतम् ॥ इति ॥

३. तथाच महाभाष्यम् "घोषवदाद्यन्तरन्तःस्थं त्रिपुरुषानूकमनरि प्रतिष्ठितं तद्धि-प्रतिष्ठिततमम्भवति । त्र्यक्षरं चतुरक्षरं वा नाम कृतङ्कुर्यान्न तद्धितम्" इति । त्रिपुरुषानूकमिति । त्रिपुरुषानुगतं कायति उच्चारयति यत्तदित्यर्थः "कैगै शब्दे" (भ्वा॰ प॰) कप्रत्यये कृताकारलोपमेतत ॥ "अनुकःकामुकोऽमिकः" इत्यभिधानात् त्रिपुरुषाननुकामयतेऽभिधातुमभिलषतीत्यर्थे निपातितः पाणिनिना "अनुकाभिकाभीकः कमिते (५।२।४)ति । दीर्घमध्यता चार्षवचनात् ॥

एतदतद्धितम् ॥ १५ ॥

[विशेषतः] इस नाम में तद्धित प्रत्यय न रहे ॥ १५ ॥

एतदिति--नाम्नःपरामर्शः। अतद्धितम् न विद्यते तद्धितस्तन्नामा प्रत्ययविशेषो यत्र तत् तद्धितान्तभिन्नम्। ननु कृतन्नाम दध्यादित्यनेनैवैतत्सिद्धमिति चेत्सत्यम्। सर्वथा[1]तद्धितसम्बन्धनिरासार्थमेतदिति पृथगभिहितम्। तथाच महाभाष्यं "नाम कृतङ्कुर्यान्न तद्धितमि-"ति। तथाच पुंसो नाम-बलिध्वंसी[2]-विश्वम्भरः। इत्येवम् ॥ १५ ॥

अयुग्दान्तꣳस्त्रीणाम् ॥ १६ ॥

कन्या का नाम युग्मान्त हो [अर्थात् तीन अक्षर या चार अक्षर का हो] किन्तु दकारान्त न हो [जैसे यशोदा] ॥ १६ ॥

स्त्रीणां पुनरयुक्-अयुग्माक्षरम्। दान्तं-दाकारान्तन्नाम दध्यादित्यनुवर्त्तते। अयमेव विशेषः। सर्वमन्यत्पूर्ववत्। तथाच महाभष्यं "त्र्यक्षरं चतुरक्षरं वा नामे"-ति। तदेतत्स्त्रीपुंसयोर्यथायोगमभिसम्बन्धनीयमयुग्मयुग्मोपलक्षणार्थम्। तथाच स्त्रीनाम "यशोदा" इत्येवमादि। अत्रान्येऽपि विशेषाः "स्त्रीणां सुखोद्यमक्रूरमि"--त्यादि मन्वादिषु द्रष्टव्याः ॥ १६ ॥

मात्रे चैव प्रथमन्नामधेयमभिधाय यथार्थम् ॥ १७ ॥

उस कुमार का नाम सबसे पहले उसकी माता को बतलावे। फिर जैसा कर्म हो करे ॥ १७ ॥

तच्च नामधेयं प्रथमं-पूर्वं मात्रे कुमारस्य। आख्याय कथयित्वा यथा-

---

१. अत्र चन्द्रकान्तभाष्ये-दीर्घाभिनिष्ठानान्तत्वसूत्रणादेव तद्धितान्तत्वे सिद्धे पुनरुपादानन्नियमार्थम्। एतदेवनामातद्धितान्तं न पुनरन्यदिति। तेन "यत्तद्गुह्यमेव भवति" इति। "अभिवादनीयं नामधेयङ्कल्पयित्वा" इति चैवमादिनाम्नां तद्धितान्तत्वमपि स्यादिति ॥

२. केचित्त्वत्राचक्षते—दीर्घाभिनिष्ठानान्तमित्यत्रान्तशब्दो "दशान्तः पट" इति वदवयवार्थः। तथाच दीर्घान्तं नाम "गोविन्दशर्म्मा" इत्यादिरूपम्। विसर्गाश्च "गोविन्दः" इत्यादिरूपम्। यद्वा "हरिशर्म्मा"-"हरिदेवः" इत्येवम्। अतएव कर्म्मप्रदीपे "गिरिशर्म्मैवमुक्त्वा०" इति। तथाच मनुः "माङ्गल्यं ब्राह्मणस्य स्यात्क्षत्रियस्य बलान्वितम्। वैश्यस्य धनसंयुक्तं शूद्रस्य तु जुगुप्सितम् ॥ शर्म्मवद्ब्राह्मणस्य स्याद्राज्ञो रक्षासमन्वितम्। वैश्यस्य पुष्टिसंयुक्तं शूद्रस्य तु जुगुप्सितम् ॥" इति। अत्र माङ्गल्यमित्यनेनामङ्गलसम्बन्धव्युदासोऽभिमतः। एवं पुष्टिर्धनस्य ॥ शङ्खः "शर्मान्तं ब्राह्मणस्योक्तं वर्म्मान्तं क्षत्रियस्य च। धनान्तञ्चैव वैश्यस्य दासान्तञ्चान्त्यजन्मनः" ॥ इत्येवमादि।

र्थम् । तत्कर्म्मसमापनङ्कुर्य्यादित्यर्थः । चशब्दात्पुरुषनाम्नः स्त्रीनाम्नश्च प्रथमम्मात्रे कथनम् । एवकारो मात्रे प्रथमनिवेदनार्थः ॥ १७ ॥

गौर्द्दक्षिणा ॥ १८ ॥

इस नामकरण संस्कार की दक्षिणा एक गौ ब्राह्मण को दे ॥ १८ ॥

नामधेयकर्म्मणः ॥ १८ ॥

(अथ जन्मदिनादिकृत्यम्)

कुमारस्य मासि मासि सम्वँत्सरे साम्वँत्सरिकेषु वा पर्वस्वग्नीन्द्रौ द्यावापृथिवी विश्वान्देवाꣳश्च यजेत ॥ १९ ॥

नवजात कुमार के प्रथम वर्ष प्रति मास की जन्म तिथि में, अथवा मात्र वर्ष की जन्मतिथि पर या [पूर्णिमा अमावास्या] पर्वों पर संवत्सर पर्यन्त अग्नि एवं इन्द्र, द्यावापृथिवी और विश्वेदेव देवों का यजन करे ॥ १९ ॥

जननादित्युपक्रमात् कुमारस्य जन्मतिथौ वक्ष्यमाण देवता यजेत् । तत्र समयविशेषमाह—मासि मासीति । प्रतिमासमित्यर्थः । तेन सम्वँत्सरपर्यन्तं याग:[1] । ऊर्ध्वं सम्वँत्सराज्जननमास एवैकस्मिन्वर्षान्ते जन्मतिथौ सम्वँत्सरे "वा पूर्णे" इति वाक्यशेषः । अत्रापि जन्ममासे जन्मतिथौ यजेतेति द्रष्टव्यम् । वा—अथवा साम्वँत्सरिकेषु पर्वसु । यजेत् सम्वँत्सरस्येमानि साम्वँत्सरिकानि तेषु "कालाट्ठञ्" (पा॰ ४।३।११) इति ठञ्ष्ठस्येक आदिवृद्धिः । पर्वसु-त्रयाणामृतूनां शरच्छिशिरग्रीष्माणा'मवसानतिथिषु कार्त्तिकी फाल्गुनी आषाढ़ीषु । अथवा द्वावत्र कालविकल्पौ । सम्वँत्सरपर्यन्तं मासि मासि कुमारस्य जन्मतिथौ यजेत । साम्वँत्सरिकेषु वा पर्वसूक्तरूपेषु यजेत । कतमाः पुनस्ता देवता उच्यन्ते-अग्नीन्द्रौ । द्यावापृथिवो द्यावापृथिव्यौ[2] एते द्वन्द्वदेवते । विश्वान्देवांश्चेति विश्वेभ्यो देवेभ्य इत्येवम् ॥१९॥

दैवतमिष्ट्वा तिथिन्नक्षत्रञ्च यजेत ॥ २० ॥

[जन्मतिथि के] देवता की पूजा करके जन्मतिथि और जन्म नक्षत्र की भी पूजा करे ॥ २० ॥

---

१. एतच्च "ऋतुः सम्वँत्सर" इति मतेन बोध्यम् । यत्र च मार्गादिमासचतुष्टयस्यैक ऋतुरेवमग्रेऽपि बोध्यम् ॥

२. द्यौश्चपृथिवीचेत्यर्थे द्वन्द्वे "दिवो द्यावे–" (पा॰ ६।३।२९) ति द्यावादेशः ।

जन्मतिथेर्दैवतम् इष्ट्वा जन्मतिथिं, जन्मनक्षत्रस्य दैवतमिष्ट्वा जन्मनक्षत्रश्च यजेत ॥ २० ॥

(अथ प्रोषितागतकर्म्म)

विप्रोष्य ज्येष्ठस्य पुत्रस्योभाभ्याम्पाणिभ्याम्मूर्द्धानम्परिगृह्य जपेत् यदा वा पिता म इति विद्यात्, उपेतस्य वा "अङ्गादङ्गात्सꣳस्रवसी" ति ॥ २१ ॥

(मं० ब्रा० १।५।१६–१८)

प्रवास से घर आकर पिता अपने ज्येष्ठ पुत्र का अपने दोनों हाथों से पकड़कर सिर सूँघे, अथवा जिस समय पुत्र 'मेरा पिता यही है'—ऐसा समझे, या जब निकट आवे उसी समय 'अङ्गादङ्गात् सम्भवसि' आदि मन्त्र को जपे और सिर सूँघे] ॥ २१ ॥

विप्रोष्य प्रवासादागत्य गृहम् । पिता पुत्रस्येति सम्बन्धिपदोपादानात् । मूर्द्धानमुत्तानाभ्यां पाणिभ्याम्परिगह्य "अङ्गादङ्गादि–"ति ऋचं जपेत् । यदा वा कुमारः । "अयम्मे पिता" इति विद्याज्जानीया (ज्ज्ञातुं शक्नुया–) त्तदा जपेत् । शक्त्यर्थेऽत्र लिङ् । (पा० ३।३।१७२) वा–अथवा उपेतस्य उपनीतस्य (कृतोपनयनस्य) कुमारस्य मूर्द्धानमुक्तदिशा परिगृह्य जपेत् । त इमे अत्र त्रयः कालविकल्पाः ॥ ऋचो यथा—

"अङ्गादङ्गात्संस्रवसि हृदयादधिजायसे ।
प्राणन्ते प्राणेन सन्दधामि जीव मे यावदायुषम्" ॥ १६ ॥
"अङ्गादङ्गात्सम्भवसि हृदयादधिजायसे ।
वेदो वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम् ॥ १७ ॥
"अश्मा भव परशुर्भव हिरण्यमस्तृतम्भव ।
आत्मासि पुत्र मा मृथा स जीव शरदःशतम्" ॥ १८ ॥

इति । आसामर्थाः । हे,पुत्र ! यस्त्वं मम 'अङ्गादङ्गात्' सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यः । "नित्यवीप्सयोः" (पा० ८।१।४) इति द्वित्वं 'संस्रवसि' संस्रुतोऽसि । वर्त्तमानसमोपे भूते लट् । (पा० ३।३।१३१) एवमग्रेऽपि । तथा 'हृदयात्' सर्वगात्रेभ्यः प्रधानभूतात् 'अधिजायसे' उत्पन्नोऽसि । तस्येत्थम्भूतस्य 'ते' तव 'प्राणं' प्राणवायुं 'प्राणेन' एव 'सन्दधामि' सततमविच्छिन्नं करोमि । तत्सन्धानात् 'मे' मम सुतस्त्वं 'यावदायुषम्' पुरुषायुषम् । शरदादित्वाट्टच् (पा० ५।४।१०७) समासान्तः । (शतवर्षं) व्याप्य (शतवर्षपर्यन्तं) 'जीव' ॥ १६ ॥

अत्र वेदशब्दो वेदाध्येतरि वर्त्तते । यथा कठशब्दः कठाध्येतरीति गुणविष्णुः । मन्त्रार्थः पूर्ववत् ॥ 'शतं शरदः' शतवर्षाणि । "संवत्सरो वत्सरोऽब्दोहायनोऽस्त्री शरत्समाः" इत्यमरः । शतमित्येकत्वं "विंशत्याद्याः सदैकत्वे सर्वाः संख्येयसंख्ययोरि"–त्यमरात् । अत्र सर्वा इति संख्यापरं प्रकरणात् । सञ्जीवेति पाठे सुखेन जीवेत्यर्थः । समिति सुखेऽर्थेऽव्ययम् ॥१७॥

हे पुत्र ! 'त्वम्' 'अश्मा' पाषाण इव दृढ़ो निर्व्याधिश्च 'भव' । 'परशुः' कुठार इव च्छेदकः परेषाम्भव । न तु च्छेद्यः । तथा 'हिरण्यं' सुवर्णमिव हितोरमणश्च 'भव' । यत् 'अस्तृतम्' अन्यैस्ताम्रादिभिरल्प[1]द्रव्यैराच्छादितं न भवति तत् "स्तृञ्आच्छादने" (क्र्या० उ०) क्तः । ततो नञ्समासः 'आत्माऽसि अहमिव त्वमतो 'मा मृथाः' या म्रियस्व । किन्तु स इत्थम्भूतस्त्वम् 'शतं शरदः' शतवर्षाणि 'जीव' प्राणिहि । सञ्जीवेति पाठे सुखेन प्राणिहीत्याशास्यते[2] ॥ १८ ॥ इति ॥ २१ ॥ (मं० ब्रा० २।५।१६)

"पशूनान्त्वा हिङ्कारेणाभिजिघ्रामि"—इत्यभिजिघ्रय यथार्थम् ॥२२॥

'पशूनां त्वा हिङ्कारेणाभिजिघ्रामि' आदि मन्त्र से आभिमुख सूँघ कर फिर जैसा कर्म हो करे ॥ २२ ॥

पशूनां त्वेति । अत्राऽन्तेऽसाविति मन्त्रब्राह्मणे पठ्यते । अनेनाभिजिघ्रय आभिमुख्येनाघ्राय । मूर्द्धानमिति प्रकृतेनाभिसम्बन्धनीयम् । यथार्थमिति च कर्म्मणः परिसमाप्तिरुच्यते । तेन वामदेव्यगानमिदानीङ्कर्त्तव्यम् । अत्रापि मन्त्रे–अन्तेऽसाविति सर्वनाम्नि सम्बोधनविभक्त्या पुत्रनाम प्रयोज्यम् ॥ तदिदम्प्रोषितागतकर्म्मेत्युच्यते । मन्त्रार्थस्तु––हे पुत्र ! अहं पिता 'त्वा' त्वां 'पशूनां' गवां 'हिङ्कारेण' हिङ्कृतेन गोजात्युचितशब्देन । (तत्पूर्वकम्) प्रकृत्यादित्वात् (पा० २।३।१८ वा०) तृतीया 'अभिजिघ्रामि' चुम्बाभि । यथा गावो वनादागताः स्वपुत्रकानभिजिघ्रन्ति–तथाऽहमपि त्वामिति ॥ १९ ॥ २२ ॥

एवमेवापरेषाम् ॥ २३ ॥

इसी विधि से अन्य छोटे पुत्रों का भी सिर सूँघे ॥ २३ ॥

अपरेषाम्– कनिष्ठानामप्येवमेव मूर्द्धालम्भनन्तदभिघ्राणञ्च कर्त्तव्यम् ॥ २३ ॥

---

१. अल्पत्वमिह ततो हीनता । अत एवापद्रव्यैरिति गुणविष्णुभाष्यम् । अप शब्दोऽत्र हीनार्थः ।

२. सर्वोऽपि ह्यात्मभूतश्चिरंजीविनमाशास्ते किं पुनरात्मानम् ।

यथाज्येष्ठं यथोपलम्भम् ॥ २४ ॥

छोटे-बड़े के अनुसार अथवा जिस समय जो निकट आवे [उसका सिर सूँघे] ॥ २४ ॥

यथाज्येष्ठम्—ज्येष्ठमनतिक्रम्य । यो यो वयसा ज्येष्ठस्तस्य तस्य प्रथमं कर्त्तव्यम् । तदेतत्सर्वेषां युगपदुपस्थितौ । अन्यथा तु यथोपलम्भम् । उपलब्धिक्रमेण यो यः पूर्वं सन्निधानमागच्छति तस्य तस्य वेति व्यवस्थितो विकल्पो वाशब्दार्थः ॥ २४ ॥

स्त्रियास्तूष्णीं मूर्ध्न्यभिजिघ्रणं मूद्ध्न्यभिजिघ्रणम् ॥ २५ ॥

इति श्रीमद्गोभिलीयगृह्यसूत्रे द्वितीयप्रपाठकेऽष्टमी कण्डिका ॥ २ ॥ ८ ॥ ❀ ॥

कन्या का मूर्धा बिना मन्त्र के सूँघे ॥ २५ ॥

॥ इस प्रकार गोभिल गृह्यसूत्र के द्वितीय प्रपाठक के अष्टम कण्डिका की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ ८ ॥

ऋजुरक्षरार्थः[1] । अन्ते द्विर्वचनं प्रकरणसमाप्त्यर्थम् ॥ २५ ॥

इति श्रीमद्गोभिलीयगृह्यसूत्रव्याख्याया "म्मृदुला" ऽऽख्यायाम्मुकुन्दशर्म्म-सङ्कलितायां द्वितीयप्रपाठकस्याष्टमी कण्डिका ॥ २ ॥ ८ ॥ ❀ ॥

---

१. ननु तूष्णीमभिजिघ्रणमित्युक्त्वा मूर्द्धालम्भः समन्त्रक इति कुतो न ज्ञायेतेति चेन्न । पुत्रेति मन्त्रलिङ्गविरोधात् । तत एवाभिजिघ्रणमात्रं समन्त्रकं प्राप्तमिति तूष्णीमित्युक्तम् । एतेन न केवलं प्रोषितागतकर्म्मैव स्त्रिया । अपि तु जातकर्मादिकमपि । तेन संस्कार-परिपाटी स्त्रीणामपि कार्या । परममन्त्रिकेतितदर्थः । तथाच मनुः—संस्कारानभिधाय "अमन्त्रिका तु कार्येयं स्त्रीणामावृदशेषतः" इति । इयमावृज्जातकर्मादिः । याज्ञवल्क्योऽपि—"अमन्त्रिकाः क्रियास्तासां विवाहस्तु समन्त्रकः" इति । अत्र चन्द्रकान्तः । तस्मान्मन्त्रलिङ्गविरोधादेव मूर्द्धाऽऽलम्भोऽमन्त्रकः सिद्धः । अतोऽभिजिघ्राणमात्रस्य तूष्णीन्त्वंसूत्रितमितिवदन्नमन्त्रकं तूष्णीमित्यनयोरर्थभेदं प्रष्टव्य आसीत् ।

अथ नवमी कण्डिका

अथातस्तृतीये वर्षे चूडाकरणम् ॥ १ ॥

बालक या बालिका के जन्म से तृतीय वर्ष चूड़ाकरण (शिखा का स्थापन) नामक संस्कार करना चाहिए ॥ १ ॥

अथेति[1] पूर्वप्रकृतार्थम् । अथ—पूर्वंप्रकृताज्जन्मनस्तृतीये वर्षे प्रवर्त्तनाने उदगयनादीनां[2] समुच्चयोपलब्धौ चूडायाः शिखायाः करणं स्थापनं[3]

---

१. अन्ननामकरणान्तेऽन्नप्राशनं संस्कारविधिना पद्धतिषु बीरेश्वरादिभिर्लिखितम् । समयोऽपि—षष्ठे मासि अष्टमे वा यथाकुलाचारमित्येवन्निर्दिष्टः । यथा च नामकरणान्ते ब्रह्मपुराणम्—"ततोऽन्नप्राशनं कार्यं मासि षष्ठे यथाविधि । अष्टमे वापि कर्त्तव्यं यद्वेष्टं मङ्गलं कुले ॥" इति । तदत्राचार्येणालिखनन्तस्य काम्यत्वं व्यनक्ति । काम्यकर्माणि चानेन पृथक्सूत्रितानि यथोपयोगन्तथा च वक्ष्यति "अथातःकाम्यमि" (४।५।१)—ति । किन्त्वे-तन्मुरारिमिश्रादिभिः प्रत्युक्तम् । तथाचोक्तब्राह्मवचनान्ते "षष्ठे मासेऽन्नप्राशनम्" इति पारस्करीयम् । "षष्ठे मासेऽन्नप्राशनं जातेषु दन्तेषु वे"—ति गौड़ात्तीयब्रह्मवचनमुपन्यस्य शङ्कितम् । ननु गोभिलाचार्येणाकथनादस्मिन्कल्पेऽन्नप्राशनं कर्त्तव्यमेव नेति चेन्न—उक्तयुक्तेरेव । (२।७।२१ सू०) । न चेतिकर्त्तव्यता बोधकाभावादेवाकरणमिति वाच्यम् । बोरेश्वरादिभिस्तस्याः प्रतिपादनात् । नच तल्लिखितान्नप्राशने "अन्नं वा एकच्छन्द-स्यमि"—त्यादिमन्त्रैर्होमे प्रमाणाभावः । मन्त्रलिङ्गस्यैव प्रमाणत्वात् । नच तन्मन्त्राणां सूत्रकारेणान्यत्र विनियुक्तत्वान्निराकाङ्क्षत्वेन मन्त्रलिङ्गमात्रमकिञ्चित्करमिति वाच्यम् । एकमन्त्रस्यापि बहुत्र विनियोगदर्शनात् । सकलशिष्टाचाराच्चेति दिक् । कश्चित्तु—अस्मि-न्कालेऽन्नप्राशनं न संस्कारकं नामकरणेन सह पूर्वापरक्रमानियमाद्वर्षे नामकरने तत्पूर्व-मेतत्करणात् । अत एव हिरण्यगर्भमहादाने सामवेदेऽन्नप्राशनं नास्तीत्युक्तं निबन्धृभिः । अपितु "भारद्वाजीमांसेन वाक्प्रसरणकामस्ये-"त्याद्युक्तफलेन काम्यमिति । तन्न । एवं निष्क्रमणमपि संस्कारकन्न भवेत् । हिरण्यगर्भे तु षोडशक्रियान्तगतन्नेत्युक्तम् । अन्यथा यजुर्वेदिनां नामकरणस्य न संस्कारता स्यादिति ।

भाष्यकृतस्तु-सूत्रानुक्तमन्नप्राशनं परशाखोक्तक्रमेण कर्त्तव्यम् । "यन्नाम्नातं स्वशा-खायामि-"ति कात्यायनवचनात् । "तथाप्यध्वर्युभिर्गृह्णीयादि"-ति श्रुतेश्च । सति सम्भवे पारस्करोक्तैव तत्रापीतिकर्त्तव्यता स्वशाखोक्तैव । तथाचाश्वलायनः "प्रतिविधौ देवतामात्रमन्यतो गृह्णीयादितिकर्त्तव्यता तु स्वशाखोक्तैवे"-ति । सा च पद्धतौ व्यक्ता ॥

२. तथाचाश्वलायनः—'उदगयने आपूर्यमाणपक्षे पुण्ये नक्षत्रे चौलकर्म्मोपनयनविवाहः । सार्वकालिकमेके विवाहम्' । इति । उदगयने—उत्तरायणे—आपूर्यमाणपक्षे शुक्लपक्षे । (यत्र चन्द्रमा कालमर्यादया पूर्णो भवति) आङत्र मर्यादार्थः ॥

३. मुरारिमिश्रास्तु—चूडानां वक्ष्यमाणरीत्या करणं संस्करणमिति कर्म्मनामधेय-मित्याहुः ॥

"संस्कारविधिना कर्त्तव्यमि"ति सूत्रशेषः । "शिखाचूड़ा केशपाशी" इत्यमरः । कपुष्णिका कपुच्छलाख्याः केशाश्चूड़ा इति कथ्यन्त इतिभाष्यकृतः । अतः शब्दो हेत्वर्थः । यस्मात् ।

"सदोपवीतिना भाव्यं सदा बद्धशिखेन च ।
विशिखो व्युपवीतश्च यत्करोति न तत्कृतम् ।।"

तथा—

"गार्भैर्होमैर्जातकर्म्मचौलमौञ्जीनिबन्धनैः ।
बैजिकं गार्भिकञ्चैनो द्विजानामपमृज्यते ।।"

इति मनुराह । भाष्यकृतस्तु—अत्रातः शब्दः स्मृत्यन्तरोक्तकाललाभायेत्याहुः[1] । तथाच मनुः—

"चूडाकर्म्म द्विजातीनां सर्वेषामेव धर्म्मतः ।
प्रथमाब्दे तृतीये वा कर्त्तव्यं श्रुतिचोदनात् ।।" इति ।

एतेन—

"ततः सम्वँत्सरे पूर्णे चूड़ाकर्म्म विधीयते ।
द्वितीये वा तृतीये वा कर्त्तव्य' स्मृतिदर्शनात् ।।"

इति यमवचने—द्वितीये वेत्यत्र पूर्णे इत्यनुषङ्गस्तेन तृतीयाब्दलाभः । नचैवं तृतीये वेति व्यर्थम् । तस्य तृतीयाब्दचरमावयवादिप्रशस्तपरत्वात् । अन्यथा पक्षत्रयानुपपत्तिः । तथा च लौगाक्षिः—"तृतीये भूयिष्ठे गते चूडा कार्या" इति ।। याज्ञवल्क्यः 'चडाकार्या यथाकुलम्" इत्याह । एवञ्चोक्तकालानां विकल्पः शाखाभेदाऽपेक्षया व्यवस्थित इति कल्पतरुः ।। अस्योपनीत्या सहाचरणे तु—"आद्येऽब्दे कुर्वते केचित्पञ्चमेऽब्दे तृतीयके ।

उपनीत्या सहैवेति विकल्पाः कुलधर्म्मतः" ।।

इति प्रयोगपारिजातोक्तं वचनमेव मानम् ।। १ ।।

पुरस्ताच्छालाया उपलिप्तेऽग्निरुपसमाहितो भवति ॥ २ ॥

जिस स्थान पर चूड़ाकर्म करे उसे पहले गोबर से लीपकर पूर्व भाग में अग्नि स्थापन करे ॥ २ ॥

निगदव्याख्यातमेतत् ।। २ ।।

---

१. अत्रारुचिबीजन्तु वक्ष्यमाणकल्पतरुकारव्याख्यानमेव। कातीयकल्पे हि 'यथामङ्गलं सर्वेषाम्" इत्युक्तम् ॥ तेन 'सामगानान्तृतीय एव वर्षे चूड़ाकरणं गोभिलीयानामिति स्थितम् ॥

तत्रैतान्युपक्लृप्तानि भवन्ति ॥ ३ ॥

उस लीपे हुए भूमि पर इन वक्ष्यमाण पदार्थों को रक्खे ॥ ३ ॥

तत्र—तस्मिन्नुपलिप्ते भूमिभागे। एतान्यनुपदवक्ष्यमाणानि। उपसमीपेऽग्नेःक्लृप्तानि आसादितानि भवन्ति। कर्तुरनियमः ॥ ३ ॥

एकविंशतिर्दर्भपिञ्जल्य उष्णोदककंस औदुम्बरः क्षुरः आदर्शो वा क्षुरपाणिर्नापित इति दक्षिणतः ॥ ४ ॥

इक्कीस दर्भपिञ्जूली, गर्म जल से भरा काँसे का पात्र, गूलर के काष्ठ का क्षुरा, दर्पण एवं लोहे के क्षुरा सहित नाऊ के दक्षिण भाग में रक्खे ॥ ४ ॥

कानि पुनस्तानि ? कस्यां वा दिश्यग्नेरासादयितव्यानीत्युच्यते—

दर्भपिञ्जल्यः। पवित्रलक्षणलक्षिताः पूर्वमुक्ताः (१।७।६) ताः सप्त सप्त कृत्वा स्थानत्रय आसादयितव्याः उष्णमुदकं यस्मिन् सः कंसः कांस्यापात्रम्। उदुम्बरस्ताम्रम्। "उदुम्बरस्तु देहल्यां वृक्षभेदे च पण्डके। कुष्ठभेदेऽपि च पुमांस्ताम्रे तु स्यान्नपुंसकम्" इति मेदिनी। तस्यायमौदुम्बरः। "प्रोहत्य प्रच्छिन्दन्" इत्यग्रिम [१६] सूत्रे छेदनस्याशङ्क्यमानत्वात्। नहि काष्ठेन तत्सम्भवति। तदभावे—आदर्शो वा। आसमन्ताद् दृश्यते मुखमत्रेत्यधिकरणे घञ्, आदर्शो दर्पणः "आदर्शोदर्पणः प्रोक्त" इत्यमरमाला "दर्पणे मुकुरादर्शौ" इत्यमरश्च। क्षुरेति। क्षुरं पाणौ करे यस्य स तथाविधो नापितः। इति—एतानि। दक्षिणतः। अर्थादग्नेः ॥ ४ ॥

आनडुहगोमयः। कृसरः स्थालीपाको वृथापक इत्युत्तरतः ॥ ५ ॥

साँड़ का गोबर, अमन्त्र पका हुआ कृसर (तिल तण्डुल), अवघातादिसंस्कार से रहित स्थालीपाक-चरु को उत्तर की ओर रखना चाहिए ॥ ५ ॥

आनडुहः अच्छिन्नमुष्कवृषसम्बन्धी[1] गोमयः। कृसरश्चासम्यक्पक्वौ तिलतण्डुलौ ॥ "कृसरस्तुतिलौदनः[2]" इत्यमरः ॥ स्थालीपाकश्चरुः। स खल्वयं वृथापक्वः। अवघातादिसर्वसंस्काररहितः। कर्मण्यव्याप्रियमाण-

---

१. अनड्वान् शब्दोऽभिधाने "उक्षाभद्रोबलीवर्द" इत्येवं पर्याये वृषभनाम्नि पठितः। अनः शकटं वहतीति तदर्थः। "अनः क्लीबे जले शोके मातृस्यन्दनयोरपी"ति रभसः। तथ भूतश्चाच्छिन्नमुक एव भवतीति ॥

२. वीरपद्धतौ तु—ततः सभ्यनाम्न्यग्नौ तिलतण्डुलमुद्गसाधितं स्थालीपाकं पचेदित्युक्तम् ॥

श्चेति वृथात्वं पाकस्य। इति एतद्द्वयम्। उत्तरतोऽग्नेरासादयितव्यम् ॥ ५ ॥

व्रीहियवैस्तिलमाषैरिति पृथक्पात्राणि पूरयित्वा पुरस्तादुप (नि) दध्युः ॥ ६ ॥

धान, यव, तिल और उड़द को अलग-अलग पात्रों में भरकर पूर्व दिशा में रखना चाहिए ॥ ६ ॥

व्रीहियवैरिति द्वन्द्वनिर्देशेनाभिधानान्मिलिताभ्यां व्रीहियवाभ्यामेवं तिलमाषाभ्यां पात्रद्वयं पूरणीयम्। पृथक् पात्राणीति बहुवचननिर्देशाच्चतुर्भिः पृथग्भूतैः पात्रचतुष्टयमित्यैवं षट्पात्राणामासादनं सिध्यति। एवमेव वीरपद्धतिस्वरसोऽपि। पुरस्तात्पूर्वस्यान्दिश्यग्नेः। उप(नि)दध्युः—स्थापयेयुः ॥ ६ ॥

कृसरो नापिताय सर्वबीजानि चेति ॥ ७ ॥

कृसर और सभी धान्यादि पूर्ण पात्रों को नापित को दे दे ॥ ७ ॥

"दातव्यानी"ति शेषः। [1]इतिनाऽऽद्यर्थकेनान्यदपि पारितोषिकं देयमित्युपदिशति। एतानि च प्रसङ्गादत्राऽभिहितानि प्रदानन्तु प्रतिपत्तिरूपतयाऽस्य कर्मान्त एव, वेतनदानस्य तदैवोचितत्वादिति भाष्यकारादयः ॥ ७ ॥

अथ माता शुचिना वस्त्रेण कुमारमाच्छाद्य पश्चादग्नेरुदग्रेषु दर्भेषु प्राच्युपविशति ॥ ८ ॥

इसके बाद माता बालक को साफ वस्त्र से आच्छादित करके अग्नि के पीछे उत्तराग्र आस्तृत कुशासन पर पूर्वमुख होकर बैठे ॥ ८ ॥

अथेत्यानन्तर्यार्थम्। आज्यसंस्कारानन्तरमित्यर्थः। माता—मातृस्थानीयाऽन्यापि[2]। प्राची—प्राङ्मुखी ॥ ८ ॥

अथ यस्तत्करिष्यन्भवति पश्चात्प्राङवतिष्ठते ॥ ९ ॥

इसके बाद [पिता या पुरोहित] जो कोई भी [चूड़ाकरण] संस्कार करने

---

१. "ज्वलितिकसन्तेभ्यो णः" (३।१।१४०)। इति पाणिनीये तथादर्शनात् ॥ अमरकोशेऽपि "इति हेतुप्रकरणप्रकाशादिसमाप्तिषु" इति ॥

२. उत्तरसूत्रे यः कश्चिदित्युक्तेरत्रापि तथाऽभ्युपगमस्याजानिकाचारपरिगृहीतत्वात् ॥

को [आहुति आदि में] प्रवृत्त हों, वह उसके पश्चात् भाग में पूर्वाभिमुख होकर बैठे ॥ ९ ॥

अथेति—किञ्चित्पूर्वप्रकृतं स्मारयति। किन्तत्? व्याहृतिभिर्होमं, तथाच पूर्वसूत्रम् "व्याहृतिभिर्होमो यथापाणिग्रहणे तथा चूडाकरणे०" इत्यादि। (१।१।२७।२८) तेनात्र पुरस्ताच्चोपरिष्टाच्च चतस्र आहुतयो भवन्ति॥ यः कश्चित्पित्रादिस्तत्कर्म करिष्यन्भवति स महाव्याहृतिभिर्व्यस्यसमस्ताभिश्चतस्र आहुतीर्हुत्वाऽथानन्तरं गृहीतकुमाराया मातुः पश्चात्प्राङ्–प्राङ्मुखः। अवतिष्ठते–ऊर्ध्वजानुस्तिष्ठेत् ॥ ९ ॥

(मं० ब्रा० १।६।१)

अथ जपत्या–"यमगात्सविता क्षुरेणे"ति सवितारं मनसा ध्यायन्नापितम्प्रेक्षमाणः ॥ १० ॥

इसके बाद 'आयमगात् सविता क्षुरेण' आदि मन्त्र को पिता या पुरोहित इस क्षुरहस्त नापित को देखते हुए और मन-ही-मन इस जगत् के प्रसविता देव [सूर्य] का ध्यान कर पढ़े ॥ १० ॥

अथ–तथाविधावस्थानानन्तरमेव। सवितारं–सूर्य्यम्। मनसा–श्रद्धादिगुणयुक्तेन। अन्यथा ध्यानस्य मानसिकत्वप्रसिद्धेर्म्मनसेत्यनर्थकं स्यात्। तथा च न्यायः 'सिद्धस्योपन्यासो विशेषावगतिकरः' इति। ध्यायन्–चिन्तयन्। नापितं क्षुरपाणिं प्रेक्षमाणोऽवलोकयन् "आयमगादि"–त्येतन्मन्त्रं जपति–जपेत्। मन्त्रार्थस्तु–हे कुमार! 'अयं' नापितः। साक्षात्! 'सविता' सर्वभूतानाम्प्रसविता देवः सूर्यः। 'क्षुरेण' उपलक्षितः। उपलक्षणेऽत्र (पा० २।३।८१) तृतीया। 'आगात्' आगतः। त्वच्चूडाकरणाय। आङोव्यवहितप्रयोगः (पा० १।४।८२) छान्दसः ॥ १ ॥ इति ॥ १० ॥

(मं० ब्रा० १।६।२)

"उष्णेन वाय उदकेनैधी–"ति वायुं मनसा ध्यायन्नुष्णोदककंस प्रेक्षमाणः ॥ ११ ॥

फिर, 'उष्णेन वाय उदकेनैधि' आदि मन्त्र को पढ़कर गर्म जल से युक्त कांसे के पात्र में देखकर मन-ही-मन वायु देवता का ध्यान करे ॥ ११ ॥

जपतीत्यनुवर्त्तते। वायुं श्रद्धापूतेन मनसा चिन्तयन्नुष्णोदककंसम्। उष्णोदकयुक्तं कांस्यपात्रं प्रेक्षमाणोऽवलोकयन् "उष्णेन वायो०" इति—इमम्मन्त्रञ्जपेदित्यर्थः। मन्त्रार्थस्तु–हे 'वायो'! 'उष्णेनोदकेन' गृहीतेन

कुमारस्य शिरः। प्लावयितुम् 'एधि' आगच्छ "अङ्क्तिश्च" (पा० ६।४।१०३) इति हेर्धिः ॥ २ ॥ इति ॥ ११ ॥ (मं० ब्रा० १।६।३)

दक्षिणेन पाणिनाऽप आदाय दक्षिणाङ्कपुष्णिकामुन्दति "आप उन्दन्तु जीवसे" इति ॥ १२ ॥

दाहिने हाथ से जल लेकर 'आप उन्दन्तु जीवसे' आदि मन्त्र पढ़कर दाहिनी कपुष्णिका अर्थात् मूर्धा के केशों को गीला करे ॥ १३ ॥

अपः प्रकृतादुष्णोदककांस्यपात्रात्। आदाय गृहीत्वा कपुष्णिकाम्। मूर्द्धोभयतः केशान्। "कपुष्णिकाऽभितः [1]केशामूर्द्ध्नि, पश्चात्कपुच्छलम्" इतिच्छन्दोगपरिशिष्टात्। उन्दति–उन्दयति–क्लेदयति "उन्दी क्लेदने" (रु० प०) अन्तर्भावितण्यर्थः। क्वचित्तथैव पाठः। अत्र करणमन्त्रमाह–आप इति। अस्यार्थः। वायुनाऽऽनीताः 'आपः' एनं कुमारम् 'जीवसे' जीवितुम् (जीवनायास्य) "तुमर्थे सेऽसेनि"–(पा० ३।४।९) त्यादिनाऽसे प्रत्यया। "अव्ययकृतो भावे" इति महाभाष्यानुशासनात् ॥ १२ ॥

(मं० ब्रा० १।६।४)

"विष्णोर्द्रंष्ट्रोऽसी" त्यौदुम्बरं क्षुरं प्रेक्षतेऽआदर्शं वा ॥ १३ ॥

'विष्णोर्द्रंष्ट्रोऽसि' 'तुम विष्णु की दंष्ट्रा हो' आदि मन्त्र से छूरें को देखे या दर्पण को देखना चाहिए ॥ १४ ॥

औदुम्बरं–ताम्रमयम्। "औदुम्बरम्भवेत्ताम्र' फलादौ यज्ञशाखिनः" इत्यजयः। प्रेक्षते–अवलोकयति ॥ अवलोकयेदिति विधिरत्र (पा० ३।४।७) लेडर्थः। एवमग्रेऽपि। मन्त्रार्थस्तु–हे क्षुर ! त्वं 'विष्णोः' 'दंष्ट्रः' द्रंष्ट्रा बृहद्दन्तः 'असि' भवसि ॥ पुंस्त्वमार्षम् ॥ १३ ॥ (मं० ब्रा० १।६।५)

"ओषधे त्रायस्वैनमि"–ति सप्त दर्भपिञ्जलीर्द[2]क्षिणायां कपुष्णिकाया-मभिशिरोग्रां निदधाति ॥ १४ ॥

'ओषधे त्रायस्वैनम्' आदि मन्त्र को पढ़कर सात दर्भ पिञ्जली को नीचे जड़ और ऊपर को फुनगी करके उस कुमार की दक्षिण कपुष्णिका (= मूर्धा के केशों) में रख दे ॥ १४ ॥

आसादितानामेकविंशतिदर्भपिञ्जलीनां (सप्तशः पृथक्२ स्थापिता-नाम्।) मध्यात् सप्त दर्भपिञ्जलीर्गृहीत्वा कुमारस्य दक्षिणायाम्[2]कपु-

१. कं शिरः पुष्णाति। शीतातपादितो रक्षणेनेति शेषः ॥

२. अत्र दक्षिणशब्दोभागं विशिनष्टीति न सर्वनामताऽस्य। (१९ सू०) उत्तर-शब्दोऽपि न दिग्वचन इति वक्ष्यते। तथाचामरः "वामं शरीरं सव्यं स्यादपसव्यन्तु दक्षिणम्" इति ॥

ष्णिकायाम् जूटिकायाम् "ओषधे त्रायस्वैनम्" इति मन्त्रेण निदधाति-स्थापयेत्। कथम्? अभिशिरोग्राः। शिरसोऽभीत्यभिशिरः। अव्ययीभावः (पा० २।१।१४) समासः। अग्राणि यासां तां तथाविधाः "कृत्वेति" शेषः। मन्त्रार्थस्तु-हे 'ओषधे!' कुशतरुण! (ओषध्यधिष्ठातृदेवते!) 'एनं' कुमारं 'त्रायस्व' रक्ष। "त्रैङ्पालने" (भ्वा आ०) प्रार्थनायां लोट् इति ॥ ५ ॥ १४ ॥ (मं० ब्रा० १।६।६)

ता वामेन पाणिना निगृह्य दक्षिणेन पाणिनौदुम्बरं क्षुरं गृहीत्वाऽऽदर्शं वाऽभिनिदधाति "स्वधिते मैनꣳहिꣳसीरि"ति ॥१५॥

उस [दर्भपिञ्जली और दक्षिण कपुष्णिका] को बाएँ हाथ से पकड़कर 'स्वधिते मैन ꣳ हिꣳसीः' आदि मन्त्र पढ़कर दाहिने हाथ से गूलर के काष्ठ का क्षुरा पकड़कर अथवा दर्पण को पकड़कर अच्छी तरह से धारण करे ॥ १५ ॥

ता दर्भपिञ्जलीर्दक्षिणकपुष्णिकाश्च निगृह्य-सर्वतोभावेन गृहीत्वा अभिनिदधाति-संलग्नां धारयति। "स्वधिते मैनं हि सीरि-"ति मन्त्रेण। मन्त्रार्थस्तु-'स्वधिते!' [1]हे ताम्रक्षुर! त्वम् 'एनं' कुमारं 'मा हिंसीः' न हिंसिष्यसि। भविष्यति माङि लुङ् (पा० ३।३।१५७) "न माङ्योगे" (पा० ६।४।७४) इत्यड्भावः ॥ १५ ॥ (मं० ब्रा० १।६।७)

"येन पूषा बृहस्पते"रिति त्रिः प्राञ्चम्प्रोहत्यप्र (वि) च्छिन्दन्त्स कृद्यजुषा द्विस्तूष्णीम् ॥ १६ ॥

'येन पूषा बृहस्पतेः' इस यजु मन्त्र को पढ़कर एक बार और दो वार बिना मन्त्र पढ़े ही चुपचाप केश काटते हुए तीन बार आगे की ओर क्षुरा चलावे ॥१६॥

त्रिः-वारत्रयम्। प्रोहति-प्रेरयति क्षुरम्। अप्रच्छिन्दन्-केशच्छेदम-कुर्वन्। क्वचिदविच्छिन्दन् इतिपाठः। अर्थतस्तौल्यमेव। तत्र प्रकारमाह-सकृदिति। यजुषा-"येने"त्युक्तेनैव ॥ द्वि-र्द्विवारं, तूष्णीम्-अमन्त्रकमेव। यजुर्यथा--

"येन पूषा बृहस्पतेर्वायोरिन्द्रस्य चावपत्।

तेन ते वपामि ब्रह्मणा जीवातवे जीवनाय दीर्घायुष्ट्वाय बलाय वर्चसे" ॥ ७ ॥

---

१. यद्यपि स्वधितिशब्दो वज्रपर्याये (निघं० २।२०।१६) पठ्यते। लोके तु "द्वयोः कुठारः स्वधिति"रिति कुठारपर्यायेऽभिधाने (अमरे) न तु क्षुरे। तथापि ताम्रक्षुरस्येव स्वधिति संज्ञा शब्दार्णवे "औदुम्बरः क्षुरः प्रोक्तः स्वधितिरि"ति ॥

इति । अस्यार्थः—हे कुमार ! 'येन' स्वधितिना 'पूषा' देवः 'बृहस्पतेर्वायोरिन्द्रस्य च' कपुष्णिकाम् 'अवपत्' भद्रङ्कृतवान्[1] । 'तेन' स्वधितिना 'ते' तव कपुष्णिकाम् । 'वपामि' भद्रङ्करोमि । किमर्थम् ? 'जीवातवे' एतदेवविवृणोति 'जीवनाय' अस्यैवार्थः 'दीर्घायुष्ट्वाय बलाये'ति । 'वर्च्चसे' तेजोवृद्धयर्थम्[2] । इति ॥ १६ ॥

अथायसेन प्रच्छिद्यानुडुहे गोमये निदधाति ॥ १७ ॥

इसके बाद लोहे के छूरे से [दर्भपिञ्जली के साथ दक्षिण कपुष्णिका के केश को] काटकर साँड़ के गोबर में रखना चाहिए ॥ १७ ॥

अथेति–पूर्वप्रकृतार्थम् । यः पूर्वम्प्रकृतश्छुरपाणिर्नापितस्तदीयेनायसेन लौहमयेन क्षुरेण प्रच्छिद्य–प्रकर्षेण पिञ्जलीभिः सहैव दक्षिणां कपुष्णिकां (जूटिकां) छित्वा । आनडुहे–गोमये । पूर्वमग्नेरुत्तरतः समासादिते । निदधाति–स्थापयेत् । मन्त्रानुपदेशादमन्त्रकमेव ॥ १७ ॥

अतिदिशति—एतयैवेति । अनन्तरोक्तयैवाऽऽवृता–परिपाटया (प्रक्रियया) कपुच्छलम् । "संस्कुर्यादि"ति शेषः । कपुच्छलन्तु शिरः पश्चाद्भागस्थाः केशा उक्त–(२।६।१२) वचनात् ॥

एतयैवोऽऽवृता कपुच्छलम् ॥ १८ ॥

इसी तरह से कपुच्छल को लोहे के छूरे से काटना चाहिए ॥ १८ ॥

के–शिरषि (पश्चाद्भागे) पुच्छवल्लम्बितो यः केशपाशः स कपुच्छल इत्याख्यायते ॥ १८ ॥

एतयैवोत्तरां कपुष्णिकाम् ॥ १९ ॥

इसी प्रकार बाएँ कपुष्णिका के केश को भी काटना चाहिए ॥ १९ ॥

पुनरतिदिशति—

उत्तरशब्दो वामवचनः । वामामपि कपुष्णिकामेतयैव प्रक्रियया संस्कुर्यादित्यर्थः ॥ १९ ॥

उन्दनप्रभृत्येवाऽभिनिर्वर्त्तयेत् ॥ २० ॥

[कपुच्छल और बाईं कपुष्णिका को काटने में गर्म जल से] भिगाना आदि सभी कार्य अलग से करे ॥ २० ॥

---

१. केशानच्छिन्दन् "क्षौरन्तु भद्राकरणम्मुण्डनं वपनं त्रिषु" इत्यमरः ॥

२. तादर्थ्ये चतुर्थी (पा० सू० १।३।१३ वा०) ।

उभाभ्यां पाणिभ्यां मूर्द्धानं परिगृह्य जपेत् 'त्र्यायुषञ्जमदग्नेरि–'ति ॥२१॥

इस प्रकार केश कर्तन के बाद दोनों हाथों से कुमार के मूर्द्धा को पकड़कर 'त्र्यायुषं जमदग्नेः' आदि मन्त्र का जप करे ॥ २१ ॥

अत्रापि विशेषमाह––

प्राक्तनं सूत्रद्वयमनेन विशिष्यते। उन्दनप्रभृति–क्लेदनप्रभृत्येवावृतम्। अभि सर्वतोभावेन निर्वर्त्तयेत्। आवर्त्तयेत्। न पुनः सर्वाप्यावृदावर्त्तनीया। तस्माद्—"दक्षिणेन पाणिनाऽप आदाय" इत्येवमादिकामावृतमावर्त्तयेन्न ततः पूर्वामपीत्यर्थः। तु शब्दो विशेषणार्थः। कथन्नाम ? कपुच्छले संस्क्रियमाणे कुमारमुदङ्मुखं धारयेद्यथा प्राञ्चं प्रोहणादिकं कर्त्तुं शक्येतेति ॥२०॥

(मं० ब्रा० १।६।८)

मूर्द्धानं–मस्तकं, कुमारस्य। मूर्द्धा ना मस्तकोऽस्त्रियामि"–त्यमरः॥ ऋज्वन्यत्। मन्त्रस्तु––

"त्र्यायुषञ्जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषमगस्त्यस्य त्र्यायुषम्।
यद्देवानान्त्र्यायुषन्तत्ते अस्तु त्र्यायुषम्" ॥ ८ ॥ इति।

अस्यार्थः–'जमदग्ने'र्म्महर्षेर्ऋचीकपुत्रस्य कश्यपस्य 'अगस्त्यस्य' 'देवानाम्' इन्द्रादीनाञ्च'यत्त्र्यायुष्यम्' त्रीण्यायूंषि समाहृतानीति समाहारद्वन्द्वे "अचतुरे" (पा० ५।४।७७) त्यादिनाऽच्समासान्तः। बालयुवस्थविरत्वानि। यद्वा "शतं वै पुरुषस्यायुरि–"ति श्रुतेः शतत्रयवर्षात्मकमायुः। 'तत्' त्र्यायुषम्। हे भद्रक ! (कृतचूड !) 'ते' तव 'अस्तु' भवतु। इत्याशास्यते॥ ८ ॥ इति ॥ २१ ॥

एतयैवाऽऽवृता स्त्रियास्तूष्णीम् ॥ २२ ॥

इसी प्रक्रिया से कन्या का भी चूड़ाकरण बिना मन्त्र के होगा ॥ २२ ॥

एतया–प्रकृतया। आवृता–प्रक्रिययास्त्रियाः कन्यकाया अपिसर्वेऽधस्तनोक्ताः संस्कारा भवन्ति। न पुनरानन्तर्य्याच्चूडाकरणाभिप्रायमेव। एवकारेण व्याप्त्यवगमात्। "अमन्त्रिका तु कार्येयं स्त्रीणामावृदशेषत" इति मनुवचनाच्च। किन्त्वेतावान्विशेषो यदस्यास्तूष्णी (ममन्त्रक) मिति ॥ २२ ॥

मन्त्रेण तु होमः ॥ २३ ॥

किन्तु होम तो मन्त्र पूर्वक ही होगा ॥ २३ ॥

अत्र प्रतिप्रसवमाह--

तुशब्दः समुच्चये भिन्नक्रमश्च। तेन वृद्धिश्राद्धमपि समन्त्रकमेव भवतीत्यर्थः ॥ २३ ॥

उदगग्नेरुत्सृप्य कुशलीकारयन्ति यथागोत्र-कुल-कल्पम् ॥ २४ ॥

अग्नि के उत्तर की ओर जाकर [कुमार बैठे और आत्मीय लोग] नापित से गोत्र और कुलानुसार पाँच या तीन शिखा सहित या शिखा रहित मुण्डन करावे ॥ २४ ॥

विमर्श—वसिष्ठ गोत्र के लोग पाँच शिखा रखते हैं और कुण्डपायी गोत्र के तीन शिखा। कौथुम शाखीय लोग शिखा सहित वपन करा देते हैं। यही कल्प के अनुसार वपन है।

अग्नेः। उदक्—उत्तरतः। उत्सृप्य—गत्वा। कुशलीकारयन्ति—नापितेन मुण्डयन्ति। "कुमारमिति" शेषः। कर्त्तुरनियमः। कुशलभद्रशब्दयोः पर्याये पाठात् कुशलीकरणं भद्राकरणमित्यनर्थान्तरम्। तथाचामरः "क्षौरन्तु भद्राकरणं मुण्डनं वपनन्त्रिषु" इति। कथमित्यपेक्षायामाह-- यथेति। गोत्रे यथा—"वासिष्ठाः पञ्चचूडाः स्युस्त्रिचूडाः कुण्डपायिनः" इत्यादि। कुले यथा—"भद्रादित्यानां[1] सूर्याद्यायतनसन्निधौ" इति। कल्पे यथा—"सशिखं कौथुमादीनां वपनं समुदाहृतम्" इत्यादि। एवञ्च कौथुमवारायणादीनां समावर्त्तनात्प्राङ्मुण्डनं सशिखमेवेति। तथाच समावर्त्तनान्ते—"केशश्मश्रुलोमनखान्वा पर्यंतिशिखावर्ज्जम्" (३।४।२४) इति सूत्रम्। परिशिष्टमपि—

"सशिखं वपनं कार्यमास्नानाद् ब्रह्मचारिणाम्।
आशरीरविमोक्षाय ब्रह्मचर्यन्न चेद्भवेत् ॥" (३. ६. १४)

इति भाष्यकृतः। आशरीरेति। नैष्ठिकब्रह्मचारिणां स्नानात्प्रागपि शिखाधर्त्तव्येत्यर्थः ॥ २४ ॥

आनडुहे गोमये केशान्कृत्वाऽरण्यंहृत्वा (२) निखनन्ति ॥ २५ ॥

इस प्रकार वपन के बाद सभी केशों को साँड़ के गोबर में रखकर वन में ले जाकर भूमि में गाड़ दे ॥ २५ ॥

---

१. भद्रादित्या—भगादयः। भगाः शाकद्वीपिनः। एवमन्येऽपि ॥
२. अरण्यं (ण्ये) गत्वा इति पाठान्तरम् ॥

पूर्वंमासादिते आनडुहे गोमये समस्तान्केशान्कृत्वा—निधाय । अरण्यं हृत्वा—नीत्वा तत्रैव निखनन्ति । बहुवचनादनियतः कर्त्ता ॥ २५ ॥

स्तम्बे हैके निदधाति ॥ २६ ॥

कुछ आचार्यों का कथन है कि झाड़ी-झङ्खाड़ में ले जाकर फेक दे ॥ २६ ॥

हेत्यैतिह्यार्थो निपातः एके किलाचार्याः । व्रीहियवादिस्तम्बे[1] तान् केशान्निखनन्ति ॥ २६ ॥

यथार्थम् ॥ २७ ॥

इस प्रकार कर्म की समाप्ति पर यथेच्छ जो कार्य हो करे ॥ २७ ॥

तन्त्रसमापनङ्कर्त्तव्यमित्यर्थः । अपरे तु मन्यन्ते—-यथार्थमिति—-यस्य येनार्थः प्रयोजनं स तं कुर्यात् । इति । कथन्नाम ? त्र्यायुषमित्यादिना मूर्द्ध-परिग्रहे कृते उत्तरतोऽग्नेः कुशलीकारयन्ति । असावपि कर्म्मशेषं समापये-दिति चन्द्रकान्तः ॥ २६ ॥

गौर्दक्षिणा ॥ २८ ॥

इति श्रीमद्गोभिलीयगृह्यसूत्रे द्वितीय प्रपाठकस्य नवमी
कण्डिका ॥ २ ॥ ९ ॥ ❀ ॥



इस कर्म की दक्षिणा एक गौ होती है ॥ २८ ॥

इस प्रकार गोभिल गृह्यसूत्र के द्वितीय प्रपाठक के नौवीं कण्डिका की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ ९ ॥



चूडाकरणकर्म्मणः ॥ २८ ॥

अत्र सूत्रकाराऽनुक्तोऽपि कर्णवेधः (पूर्वमकृतश्चेत्[2]) आवश्यक एवेति

---

१. "अप्रकाण्डे स्तम्बगुल्माबि" त्यमरः । प्रकाण्डस्तरोर्मूलस्कन्धयोरन्तरम् । तथा-चामरः "अस्त्री प्रकाण्डं स्कन्धः स्यान्मूलाच्छाखावधिस्तरोः" इति । "स्तम्बागुच्छस्तृ-णादिनः" इति च ॥

२. मुण्डनाख्योऽपि कर्मविशेषश्चूडाकर्मण एवानुरूपः (शिखाधारणाय) कुमारा-णाङ्कुमारीणां चाधुनातनैः कुलीनैराजानिकाचारसिद्धतया क्रियते । तत्र कर्णवेधोऽपि यथाविहितकालमनुरुध्येति । सचेदकृत इत्यर्थः ॥

गार्हस्थ्यधर्मे कुण्डलधारणस्य मन्त्राद्युक्तस्यान्यथाऽनुपपत्त्या कल्प्यते। तथाच मनुः—

"वैणवीन्धारयेद्यष्टिं सोदकञ्च कमण्डलुम्।
यज्ञोपवीतं वेदञ्च शुभे रौक्मे च कुण्डले॥" इति।

वेदम्—कुशमुष्टिम्। तदेतद् दीक्षाकाले। श्रुतिश्च—"दीक्षायां कुण्डली भवति—" इति। परन्तु—न संस्कारान्तर्गतः। तन्मध्येऽस्य पाठाभावात्। क्रमस्तत्र पारस्करोक्त एव। "यन्नाम्नातं स्वशाखायाम्पारक्यमविरोधि चे"ति कातीयपरिभाषणात्॥

अत्र यथोचितकालाकृता नामकरणादिसंस्कारा व्याहृतिहोमानन्तरं क्रमाविरोधेनोपनयनात् पूर्वमनुष्ठेयाः। इति द्रष्टव्यम्। तथाच महाव्याहृतिहोमानां सर्वप्रायाश्चित्तत्वमुक्त्वा—कात्यायनः—

"संस्कारा अतिपद्येरन्स्वकालाच्चेत्कथञ्चन।
हुत्वैतदेव कर्त्तव्या ये तूपनयनादधः॥" इति।

अत्रोपनयनादध इत्युक्त्योपनयनकालातिक्रमे नेदम्प्रायश्चित्तमपि तु व्रात्यस्तोमादीत्यनुपदं व्यक्तीभविष्यति॥ २८॥

इतिश्रीमद्गोभिलीयगृह्यसूत्रव्याख्याया"म्मृदुला"ख्यायां मुकुन्दशर्म्मसङ्कलितायां द्वितीयप्रपाठकस्य नवमी कण्डिका॥ २॥ ९॥ *॥



---

१. तत्र (संस्कारेषु) गौतमेनचत्वारिंशदभिहितास्तत्रमुख्या (एका) दश। "गर्भाधानं-पुंसवनं-सीमन्तोन्नयनं—जातकर्म्म-नामकरण-निष्क्रमणा-न्नप्राशन—चौलोपनयनं (चत्वारिवेदव्रतानि स्नानं) सहधर्म्मचारिणो संयोगः"। इति। सहधर्म्मचारिणीसंयोगो विवाहः। सुमन्तुना च "ब्राह्मणक्षत्रियविशां वृत्तिः-गर्भाधान-पुंसवन-सीमन्तोन्नयन-जातकर्म-नामकरण-निष्क्रमणा-न्नप्राशन-चौलो-पनयन-व्रतचर्या-ध्ययन-समावर्त्तन—विवाह-सोष्यन्ती-यज्ञदानानी-"ति षोडशोक्ताः। वृत्तिः-संस्क्रिया। सोष्यन्ती-सुखप्रसवार्थङ्कर्म्म। कैश्चिरत्वन्यथैव स्मर्यते। यथा—

"गर्भाधानमतश्च पुंसवनकं सीमन्तजाताभिधे नामाख्यं सह निष्क्रमेण च तथान्नप्राशनंकर्म्म च। चूडाख्यं व्रतबन्धकोऽप्यथ चतुर्वेदव्रतानां पुरः केशान्तः सविसर्गकः परिणयः स्यात्षोडशी कर्म्मणाम्॥" इति। अङ्गिरसा च पञ्चविंशतिरुक्ता। तदत्र गौतमोक्तेषु-चत्वारिवेदव्रतानि स्नानञ्चेत्यंशः पूर्वैरेवाऽशक्यतया परिहृतः। शेषा दश पूर्वैरेव परिसंख्याता। यथा—

"गर्भाधानं—पुंसवनं—सीमन्तोन्नयनन्तथा।
जातकर्म्म नामकर्म्म-निष्क्रमोऽन्नाशनं परम्॥
चौलकर्म्मोपनयनं—विवाहो दशमः स्मृतः।
संस्काराश्च दशैवैते प्रोक्ता गृह्येषु कर्म्मिणाम्॥" इति।

अत्रापि चत्वारो मुख्या इति मुरारिमिश्रादिमतमुपक्रम एव दर्शितन्तत्र द्रष्टव्यम्॥

अथ दशमीकण्डिका

(अथोपनयनम्–)

गर्भाष्टमेषु ब्राह्मणमुपनयेत् ॥ १ ॥

उपनयन

गर्भ से अष्टम वर्ष [जिस किसी शुभ तिथि] में ब्राह्मण कुमार का उपनयन करे ॥ १ ॥

---

१. अथोपनयनपूर्वं प्रतिषिद्धाप्रतिषिद्धानि प्रसङ्गादुपन्यस्यन्ते–तत्र मनुः (कुमारमधिकृत्य)—

"नाभिव्याहारयेद् ब्रह्म स्वधानिनयनादृते ।
शूद्रेण हि समस्तावद्यावद्वेदे न जायते ॥"

इति । स्वधानिनयनात् श्राद्धमन्त्रात् ऋते-विना । वेदे-वेदोदितकर्म्मणि । निमित्ते-सप्तमी । यद्योग्यो यावन्नभवतीत्यर्थः । गौतमः–"प्रागुपनयनात्कामचार–भक्ष-काम वादाः । नास्याचमनकल्पो विद्यते" इति । कामेति त्रिषु सम्बध्यते । यथेष्टगमन–भक्षण–भाषणः स्यादित्यर्थः । अनेन–वृथायानाश्लीलभाषण–पर्युषितान्नभक्षणादीनि न निषिद्धानि इति प्रतिपादितम् । यानि पुनरत्यन्तपतनीयानि सुरायानादीनि ता निनिषिद्धान्येव । प्रायश्चित्तोपदेशात् । कल्पग्रहणादाचमनमात्रमस्तीति गम्यते । गौतमः । "मद्यं नित्यं ब्राह्मणो वर्जयेत्" इति । अत्र ब्राह्मणशब्दो जातिवचनः । जातिस्तु–जन्मनैवेति स्थितम् । तथाच भगवता महाभाष्यकारेण स्मृतम्—

"तपः श्रुतञ्च योनिश्चेत्येतद् ब्राह्मणकारकम् ।
तपःश्रुताभ्यां यो हीनो जातिब्राह्मण एव सः" ॥

वामनोऽपि "जननेन या प्राप्यते सा जातिरि"ति । तथा पतञ्जलिरपि–स्मरति–"सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः" । इति । मूले–पूर्वजन्मानुष्ठितकर्मशेषे प्रारब्धपरनामके–इत्यर्थः । वसिष्ठः "न ह्यस्य विद्यते कर्म्म किञ्चिदाऽऽमौञ्जीबन्धनात् । अन्यत्रोदककर्म्म–स्वधा–पितृसम्बन्धेभ्यः" इति । उदककर्म्म–पितृतर्पणम् । स्वधा श्राद्धम् । पितृसम्बन्धं भूमिच्छत्रादिदानम् । दक्षः—

"जातमात्रःशिशुस्तावद्यावदष्टौ समा वयः ।
स हि गर्भसमो ज्ञेयो व्यक्तिमात्रप्रदर्शकः ॥"

इति । समा वर्षाणि । व्यक्तिमात्रेण न तु कर्म्माधिकारित्वेन । ब्रह्मपुराणे "मातापित्रोरथोच्छिष्टं बालो भुञ्जन्भवेत्सुधीरि"–ति । एतेनान्यदीयोच्छिष्टभोजने दोष एव ।

दक्षः—

"उपनीतस्य दोषोऽस्ति क्रियमाणैर्विगर्हितैः ।
अप्राप्तव्यवहारोऽसौ बालः षोडशवार्षिकः ॥" इति ।

एतेन धनप्रयोगेऽस्वातन्त्र्यमस्य दर्शितम् । न तु प्रायश्चित्ताभावः ।

अत ऊर्ध्वमुपनयनलिङ्गा मन्त्रा ब्राह्मणे श्रूयन्ते तेषां विनियोगविवक्षुरिदमाह—

गर्भाष्टमेषु—गर्भत आरभ्य गणनया येऽष्टमा [1]वर्षास्तेषु । बहुवचनव्यक्तिभेदाभिप्रायेण । यदोदगयनादीनां[2] समुच्चयस्तदैव । ब्राह्मणमुपनयेत् । उपनयनकर्म्मणा योजयेत् । उपनयनन्नामाध्ययनार्थमाचार्य समीपे येन कर्म्मणा नीयते—[3]तदुच्यते । तथाचाहुः—

"गृह्योक्तकर्म्मणा येन समीपं नीयते गुरोः ।
बालो वेदाय तद्योगाद्बालस्योपनयं विदुः ॥" इति ।

गर्भाष्टम इत्युपलक्षणम् । तथाच याज्ञवल्क्यः—

"गर्भाष्टमेऽष्टमे वाऽब्दे ब्राह्मणस्योपनायनम् ॥"
राज्ञामेकादशे सैके विशामेके यथाकुलम् ॥ इति ।

गर्भाष्टम इत्याधानकालापेक्षया । अष्टम इतिजननापेक्षया । पृथगुपादानात् । अत्रेच्छया विकल्पमाहुः । उपनयनमेवोपनायनम् । स्वार्थे णिच् । सैके इत्येकादश इत्यनुषक्तेनान्वितम् । विशान्द्वादश इत्यर्थः । अत्रोभयत्रापि समस्तगुणभूतोऽपि गर्भशब्दोऽनुवर्त्तनीयः । गोभिलसम्वादात् । यथाकुलम् । [4]कुलस्थित्या केचिदुपनयनमिच्छन्ति । विशेषकालमाह आपस्तम्बः—"वसन्ते ब्राह्मणमुपनयीत । ग्रीष्मे राजन्यम् । शरदि वैश्यम् ।" इति । वसन्त इत्याद्यधिकफलार्थम् । मनुरुपनयनमुपक्रम्य—

"ब्रह्मवर्च्चसकामस्य कार्यो विप्रस्य पञ्चमे ।
राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे ॥" इति ।

ब्रह्मवर्च्चसं वृत्त-स्वाध्याययोः सम्पत्तिः । इहार्थिनः । ऐहिकार्थकामुकस्य । एवमापस्तम्बः—"सप्तमे ब्रह्मवर्च्चसकाम, नवमे तेजस्कामं, दशमेऽन्नाद्यकाम्, एकादश इन्द्रियकामं, द्वादशे पशुकामम्" इति । गौतमः

---

१. "वर्णोऽस्त्री भारतादौ च जम्बूद्वीपाब्दवृष्टिषु । प्रावृट् काले स्त्रियाम्भूम्नी"—ति मेदिनी ॥ "वत्सरे वर्षमस्त्रियाम्" इत्यमरश्च ॥

२. तथाचाश्वलायनः—"उदगयन आपूर्यमाणपक्षे चौलकर्म्मोपनयनविवाहाः । सार्वकालिकमेके विवाहम्" इति । व्याख्यातमेतदधस्तात् (२।९।१) ॥

३. येन कर्म्मणाऽध्ययनार्हो भवति । तदुपनयनम् । अत्र देवलः—प्रथमं मातापितृभ्यागर्भाधानादिभिः संस्कृतो गर्भाष्टमे वर्षे तूपनयनार्हो भवति । तत्रोपाध्यायः पिता । गायत्री माता । एवमुपनीतो द्विपितृको द्विजातिरि"ति । द्विपितृकः—द्विमातापितृकः । एकशेषादुपक्रमेद्वयकीर्त्तनात् ॥

४. स्थितिर्म्मर्यादा । मर्यादा धारणा स्थितिरि"-त्यमरः ।

"उपनयनं ब्राह्मणस्याष्टमे, नवमे पञ्चमे वा काम्यम्" इति। अत्राष्टमे नित्यामित्यर्थतः। अत्र विशेषः शुभकर्म्मनिर्णये--यथाह पौलस्त्यः।

"पञ्चमे षष्ठवर्षे तु सगर्भे सप्तमेऽपि वा।
गुरुशुक्रशशाङ्कानां विशुद्ध्याऽऽरम्भयेद्व्रतम्॥
यदागर्भाष्टमे वर्षे शुद्धिर्नास्ति बृहस्पतेः।
अष्टमे वा, तथाप्येवं व्रतं तत्र न कारयेत्॥"

इत्येवं गोचरशुद्ध्यादिकमत्रोपयुक्तं बहूपपादितमेवमहामहो॰हर्षनाथशर्म्मकृते संस्कारदीपकेऽपीति तत एवावगन्तव्यम्, ग्रन्थविस्तरभिया च नेहोपन्यस्तम्॥ १॥

गर्भैकादशेषु क्षत्रियम्॥ २॥

क्षत्रिय कुमार का गर्भ से ग्यारहवें वर्ष [उपनयन] करे॥ २॥

उपनयेदित्यनुवर्त्तते ऽन्यदुक्तमधस्तात्॥ २॥ एवम्--

गर्भद्वादशेषु वैश्यम्॥ ३॥

वैश्य के बालक का गर्भ से बारहवें वर्ष [उपनयन] करे॥ ३॥

स्पष्टम्॥ ३॥

यथोक्तकालेषूपनयनासम्भवे त्वाह--

आषोडशाद्वर्षाद् ब्राह्मणस्यानतीतः कालो भवत्याद्वाविंशात् क्षत्रियस्याचतुर्विंशाद्वैश्यस्य॥ ४॥

[किन्तु किसी कारणवश आठ, ग्यारह और बारहवें वर्ष में उपनयन न हो सके तो] ब्राह्मण बालक का सोलह वर्ष की अवस्था पूरी होने तक, क्षत्रिय कुमार के बाइस वर्ष की अवस्था तक और वैश्य के बालक का चौबीस वर्ष तक का काल व्यतीत हुआ नहीं होता है [अतः सोलह, बाइस और चौबीस वर्ष तक उपनयन हो सकता है]॥ ४॥

अत्राभिविधावाङ् न मर्यादायाम्॥ "तेन[1] विना मर्य्यादा तेन सहेत्य-

---

१. तच्छब्देनात्रावधिरुच्यते। तेन मर्य्यादार्थकत्वे पञ्चदशवर्षान्तादिरेवगौणकालोऽवगम्येत। न चैतदिष्टम् यच्चयमवचनम्--
पतिता यस्य सावित्री दशवर्षाणि पञ्च च। ब्राह्मणस्य विशेषेण तथा राजन्यवैश्ययोः॥
प्रयाश्चित्तम्भवेदेषां प्रोवाच वदताम्बरः। विवस्वतः सुतःश्रीमान्पमोधर्म्मार्थतत्त्ववित्॥
सशिखं वपनङ्कृत्वा व्रतङ्कुर्यात् समाहितः। हविष्यं भक्षयेदन्नं ब्राह्मणान्पञ्च सप्त वा॥
एकविंशतिरात्रन्तु पिबेत्प्रसृतियावकम्। अतोयावकशुद्धस्य तस्योपनयनं स्मृतम्॥"
इति। तत्पतितसावित्रीकत्वाभावेऽपि पञ्चदशवर्षोपरि प्रायश्चित्तविशेषोपदेशार्थम्।

भिविधि" रिति परिभाषणादिह षोडाशादिवर्षान्तः कालो गौणः। तथाच

"औपनायनिकः कालः परः षोडशवार्षिकः।
द्वाविंशतिः परोऽन्यस्य स्याच्चतुर्विंशतिः परः॥" इति।
"विप्रस्य षोडशाद्वर्षाद्राज्ञो द्वाविंशतेः परम्।
वैश्यस्याष्टत्रिकादब्दात्सावित्रीपतनं भवेत्॥" इति।
"षोडशाब्दो हि विप्रस्य राजन्यस्य द्विविंशतिः।
विंशतिः स चतुर्थी च वैश्यस्य परिकीर्त्तिता॥

इति चैवमादि॥ ४॥

अत ऊर्ध्वं पतितसावित्रीका भवन्ति॥ ५॥

उक्त काल के बाद [अर्थात् ब्राह्मण कुमार सोलह वर्ष के बाद, क्षत्रिय बाइस वर्ष के बाद और वैश्य बालक चौबीस वर्ष के बाद] सावित्री से पतित हो जाता है [अर्थात् वह बालक सावित्री मन्त्र के उपदेश के योग्य नहीं रहता है ।।५।।]

न पुनः पञ्च दशबर्षोपरि पतितसावित्रीकत्वमस्यार्थः। तथाविधवचनव्यक्तेरभावात्। लघुनः प्रायश्चित्तस्योपदेशाच्च। पतितसावित्रीकाणां हि व्रात्यस्तोमः क्रतुःप्रायश्चित्तम्मन्वादिभिरुक्तम्। राजन्यवैश्ययोश्चाविशेषात्। अत्रापि तथैवेत्याह—तथाराजन्यवैश्ययोरिति। तस्मात्पतिता यस्य सावित्रीत्यस्य यस्य सावित्रीग्रहणन्न सम्पन्नमित्यर्थः। अत्र सपादधेनुत्रयदानं, व्रात्यस्तोमे तु सपाद नवधेनूनामिति विवेचितमन्यत्र। अत्र विशेषश्चन्द्रकान्तभाष्ये द्रष्टव्यः॥ स्वतन्त्रास्त्वाचक्षते-ब्राह्मणादीनामष्टमादिवर्षोपरि (गौणकाले) महाव्याहृतिहोमरूप एव प्रायश्चित्तन्तथाच छन्दोगपरिशिष्टे कात्यायनः—

"गौणेषु तेषु कालेषु कर्म्मचोदितमाचरेत्।
प्रायश्चित्तप्रकरणप्रोक्तान्निष्कृतिमाचरेत् ॥"

इति। प्रायश्चितञ्च व्यस्तैः समस्तैश्च महाव्याहृतिभिर्होम एव प्रायश्चित्तप्रकरणे एवंजातीयके उक्तः। यत्तु—

"संस्कारा अतिपत्येरन् स्वकालाच्चेत्कथञ्चन।
हुत्वैतदेव कुर्वीत ये तूपनयनादधः॥"

इति कर्म्मप्रदीपे उपनयनादध इतिकरणादुपनयनकालातिपाते न महाव्याहृतिहोमः प्रायश्चित्तमिति प्रतीयते तद्गौणकालस्याप्यतिपाते बोद्धव्यम्। तथाच हुत्वैतदेवेत्यत्रैतत्पदमहाव्याहृतिहोमकर्म्मपरम्। गौणकालस्याप्यतिपाते व्रात्यस्तोम एवेति। यमोक्तप्रायश्चित्तन्तु शाखान्तरविषयम्। एवं "द्वादशषोड़शविंशतीश्चेदतीता अवरुद्धकाला भवन्ती"ति पैठीनसिवचनमपि। तदित्थं सामअस्येऽत्र (गो० गृ० सू०) आङोमर्यादार्थकत्वाभिधानं केषाञ्चिदनवबोधमूलकमेव। कात्यायनस्य गोभिलोक्तास्पष्टविधिप्रदर्शकत्वप्रतिज्ञानात्। यथाचोक्तम्—

"अथातो गोभिलोक्तानामन्येषाञ्चैव कर्म्मणाम्।
अस्पष्टानां विधिं सम्यग्दर्शयिष्ये प्रदीपवदि-"ति॥

अतएतस्मात्कालादूर्ध्वन्त्रयोऽप्येते पतितसावित्रीका भवन्ति। स्वकाले सावित्र्या–(गायत्र्या–)मनुच्यमानायां ये पतन्ति–प्रायश्चित्तविशेषभागिनो भवन्ति ते पतितसावित्रीका व्रात्याश्च भण्यन्ते ॥ ५ ॥

नैतानुपनयेयुर्नाध्यापयेयुर्न्नयाजयेयुर्न्नैभिर्विवहेयुः ॥ ६ ॥

[उक्त सावित्री पतित] उन [पुरुषों] का पुनः उपनयन न करे, उनको कोई अध्ययन भी न करावे, उनसे न यज्ञ करावे और उनसे विवाह सम्बन्ध भी न करे ॥ ६ ॥

एतान्–पतितसावित्रीकान्। त्रयाणां प्रकृतत्वाद् बहुवचनम्। एनानिति पाठे एनः प्रकृत्यत्यन्तरम्। नोपनयेयुः––व्रात्यस्तोमात् क्रतोर्विना। तथाच स्मृत्यन्तरम्––

"अत ऊर्ध्वन्त्रयोऽप्येते यथाकालमसंस्कृताः।
सावित्रीपतिता व्रात्या व्रात्यस्तोमादृते क्रतोः॥" इति।

उपनयेयुरिति बहुवचनं तत्कर्त्तृसंसर्गिणामपि प्रायश्चित्तप्रज्ञापनार्थम्। तथाच स्मरणम्––

"व्रात्याचार्य्यस्य भुक्तान्नं कृच्छ्रपादेन शुद्धयति।
यश्चोपनयते व्रात्यान् त्रिभिः कृच्छ्रैः स शुद्धयति॥" इति।

एवमुत्तरत्रापि बोद्धव्यम्। न याजयेयुरित्यविशेषात्पाकयज्ञैरपि। नैभिः सह विवहेयु–र्विवाह (सम्बन्धं) ङ्कुर्य्युः। विवाहयेयुरिति पाठे एभिः सह विवाहसम्बन्धं न कारयेयुरिति व्याख्येयम्। एष्वपि कालेष्वनुपनीता एते त्रयोऽप्यकृतप्रायश्चित्ता उपनयनाद्यनर्हा भवन्तीति[1] परमार्थः।

---

१. तथाच श्रुतिः "स्वकालेऽनुच्यमानया सावित्र्या ये पतन्ति प्रायश्चित्तिनो भवन्ती"। स्मृतिः "पतितसावित्रीकेषूपपातकम्" इति। याज्ञवल्क्यः—

"आषोडशादाद्वाविंशाच्चतुर्विंशाच्च वत्सरात्।
ब्रह्मक्षत्रविशाङ्काल औपनायनिकः स्मृतः॥
अत ऊर्ध्वम्पतन्त्येते सर्वधर्म्मबहिष्कृताः।
सावित्रीपतिता व्रात्या व्रात्यस्तोमादृते क्रतोः॥" इति।

मनुः— "नैतैरपूतैर्विधिवदापद्यपि हि कर्हिचित्।
ब्राह्मान्यौनांश्च सम्बन्धानाचरेद्ब्राह्मणः सह"॥ इति।

विधिवद्यथाशास्त्रमपूतैरकृतप्रायश्चित्तैः। ब्राह्मान्वेदाध्यापनकृतान्। यौनान्। विवाहादीन्। एवञ्च व्रात्यस्तोमनामके यागे कृते उपनयनाद्यधिकारो ननूपनयनस्थान एवात्र व्रात्यस्तोम इति युक्तम्। तस्य प्रायश्चित्तरूपस्य संस्कारकत्वे मानाभावादिति। आपस्तम्बः "अशूद्राणामदुष्टकर्मणामुपनयनम्" इति। अदुष्टकर्म्मणां पतनीयकर्म्मभिरदूषितानाम्।

उपनयनप्रतिषेधादेव सर्वत्र प्रतिषेधे सिद्धे यदि केनचिल्लोभादज्ञानाद्वोपनीताः स्युस्तथापि नोत्तराणि कर्म्माणि पतितसावित्रीकाणाङ्कुर्य्यादिति सर्वेषाम्पाठः क्रियते ।। ६ ।।

यदहरुपैष्यन्माणवको भवति प्रग एवैनन्तदहर्भोजयन्ति कुशलीकारयन्त्याप्लावयन्त्यलङ्कुर्वन्त्यहतेन वाससाऽच्छादयन्ति ॥ ७ ॥

जिस दिन अनधीत बालक का उपनयन होता है, उस दिन प्रातःकाल ही (= प्रगे एव) उस बालक को प्रातराश (= दोपहर से पहले का) भोजन कराते हैं। उसके बाद उसका मुण्डन कराते हैं, उसे स्नान कराते हैं। फिर उसे आभूषण आदि से अलङ्कृत करते हैं और फिर उसे नवीन वस्त्र से आच्छादित करते हैं।।७।।

यदहर्यस्मिन्नहनि । अत्यन्तसंयोगे[1] द्वितीया (पा० २।३।५ उपैष्यन्-उपनयनं कारयिष्यन् । माणवको माणवोऽनधीतवेदः । स्वार्थे कन् । तथा च कात्यायनः---

"अनृचो माणवो ज्ञेय एणः कृष्णमृगः स्मृतः ।
रुरुर्गौरमृगः प्रोक्तस्तमुनिः शण उच्यते ॥"

इति अनृचो वेदशून्यः । प्रग एव प्रातरेव । "सायं साये प्रगे प्रातरि"-त्यमरः । एनं-माणवकं, भोजयन्ति- इत्युक्त्याऽत्र शङ्का न कार्य्येत्युपदिशति । भोजनञ्चात्र गोदुग्धादेरेव । तथा च श्रुतिः "पयोव्रतो ब्राह्मणो भवति यवागूव्रतो राजन्य आमिक्षाव्रतो वैश्यः" इति । व्रतमाहारः । तथा च गृह्यान्तरम्—"पयोयवाग्वामिक्षाहाराः क्रमशो द्विजातीनाम्" इति । यवागूक्ता (१-७-२०) आमिक्षा शृतोष्णे क्षीरे दधियोगेन कठिनं द्रव्यम् । तथा च श्रुतिः "तप्ते पयसि दध्यानयति सा वैश्वदेव्यामिक्षा भवति वाजिभ्यो वाजिनम्" इति । अभिधानञ्च "आमिक्षा सा शृतोष्णे या क्षीरे स्याद्दधियोगतः" इति (अमरः) वाजिनमतिरिच्यमानं तत्पय उच्यते ॥ कुशलीकारयन्ति मुण्डयन्ति "क्षौरन्तु भद्राकरणम्मुण्डनं वपनन्त्रिषु"इत्यमरः भद्राकरणं कुशलीकरणमित्यनर्थान्तरम् । अत्र शिखा न धार्य्या—

---

१. कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे हि सा विधीयते । तत्र च गुणक्रियाद्रव्यैरभावेन चेति सूत्रशेषो भाष्यादौ । तेषु गुणेन-मासङ्कल्याणी, क्रियया-मासमधीते, द्रव्येण-मासङ्गुडधाना अभावेन मासम्भोजनाभाव इत्युदाहृतानि ॥ अत्यन्तसंयोगो निरन्तरसम्बन्धः ।

"एते लूनशिखास्तस्य कोमलैर्दन्तकुड्मलैः ।
कुशकाशा विराजन्ते वटवः सामगा इव ॥"

इति विष्णुपुरणपर्यालोचनात् । समावर्त्तने "शिखावर्ज्जमि"ति विशेषोपदेशाच्च । आप्लावयन्ति--स्नापयन्ति । आप्लावनञ्चेदं घटत्रयाम्बुना । तथा च गृह्यासङ्ग्रहः "स्नानञ्चतुर्भिः कलशैः प्लावनन्तु त्रिभिर्घटैरि"ति । अलङ्कुर्वन्तिकेयूरकटककुण्डलादिभिर्य्यथालाभम् । अहतेनेति । अत्र गृह्याङ्ग्रहः--

"सकृद्धौतं नवं श्वेतं सदशं यन्न धारितम् ।
अहतन्तद्विजानीयाद्दैवे पैत्रे च पावनम्" ॥ इति ।

वाससेत्येकवचनादिदमधरीयमिति द्रष्टव्यम् । उत्तरीयन्तु उपरिष्टाद्यदजिनं सूत्रयिष्यति तदेव स्यात् । सर्वत्र बहुवचननिर्द्देशात्कर्त्तुरनियमः । अत्र भाष्यकृतः--"अग्निहोत्रञ्जुहोति यवागूम्पचती"ति वत् अत्राप्यार्थक्रमेण शाब्दक्रमोल्लङ्घनमिति प्रथमं वपनमनन्तरं स्नानमथभोजनमिति क्रमः । ज्यौतिषे भोजनानन्तरं वपननिषेधात् । तथाहि--

"न स्नानमात्रगमनोन्मुखभूषितानामभ्यक्तभुक्तरणकालविवासनानाम् । सन्ध्यानिशाकुजदिने च तिथौ च रिक्ते क्षौरं हितं न नवमेऽह्नि न चापि षष्ठयाम्" इत्याहुस्तन्न--अदृष्टार्थक्रमस्य ज्योतिश्शास्त्रविरोधेनानपवादात् । दृष्टान्ते त्वन्यथाऽनुपपत्त्या तथा कल्प्यते । प्रकृते निषेधस्यान्यक्षौरविषयत्वेनाप्युपपत्तेरन्यथा रोहिण्यादौ नववस्त्रधारणनिषेधात्तत्र विवाहविधेरानर्थक्यं स्यान्न स्याच्च रविवासरादौ उपनयनन्तत्र क्षौरनिषेधात् । अत एव "ब्राह्मणान् भोजयेत्तं च पर्य्युप्तशिरसमलङ्कृतमानयन्ती"ति पारस्करेऽपि भोजनानन्तरमेव मुण्डनं दर्शितमिति । धीरपद्धतिस्वरसोऽप्येवमेवेति महामहो० मुरारिमिश्राः प्राहुः ॥ ७ ॥

वाससाऽऽच्छादयन्तीत्युक्तमतोवासो विशेषं सूत्रयति--

क्षौम-शाण-कार्पासौ-र्णान्येषां वसनानि ॥ ८ ॥

बालक के पहनने का वस्त्र रेशमी हो, शण [= सन], कपास [सूती] या ऊनी होना चाहिए ॥ ८ ॥

क्षुमा-अतसी ',अतसी स्यादुमा क्षुमा" इत्यमरः । तथा निर्वृत्तं क्षौमम् । तेन निर्वृत्तमित्यर्थे (पा० ४।२।६८) अण्प्रत्यय आदिवृद्धिरेवमग्रेऽपि । शणः तमुनि उक्तः । कपासः प्रसिद्ध एव । ऊर्णा-मेषरोम । एतान्येषां ब्राह्मणादीनां वसनान्यधरीयाणि भवन्ति । अत्र वसनानां चतुष्ट्वा-

द्यथासंख्यान्वयो नेष्यते। एषां विषयव्यवस्थामुपदेक्ष्यति (२।१०।१२) अनुपदम् ॥ ८ ॥

ऐणेयरौरवाजान्यजिनानि ॥ ९ ॥

इनका उत्तरीय [यथाक्रम] कृष्णसार मृग का चर्म, रुरु मृग का चर्म और अज [बकरे] का चर्म होना चाहिए ॥ ६ ॥

एतानि ब्राह्मणादीनां यथाक्रममजिनानि—उत्तरीयतया ग्राह्याणीत्यर्थः। तथा च स्मृतिः—"उत्तरीयं समाख्यातं वासः कृष्णाजिनं शुभम्" इति। पारस्करगृह्यमपि "ऐणेयमजिनमुत्तरीयं ब्राह्मणस्य, रौरवं राजन्यस्याजं गव्यं वा वैश्यस्ये"—ति। एणी कृष्णसारमृगी तस्या इदमैणेयम्। "स्त्रीभ्योढगि" (पा० ४।१।१२०) ति ढस्येयादेशः (पा० ७।१।२) आदिवृद्धिः (पा० ७।२।११७)। अत एव "ऐणेयमेण्याश्चर्म्माद्यमेस्यणमुभे त्रिष्वि"-त्यमरोऽपि। एतेनैणस्येदमैणेयमिति [1]भाष्यकारीयव्याख्यानमपास्तमिति वेदितव्यम् ॥ न च "एणः कृष्णमृगः स्मृतः" इति तद्व्याख्यापककात्यायनवचनादार्ष एवायं प्रयोग इति वाच्यम् तस्य परम्परया[2] एण्यालक्षकत्वेनोपपत्तेस्तथाकल्पनायाम्मानाभावात्। रुरुश्च गौरवपुर्मृगः। "झंखार" इति प्रसिद्धः। अजश्छागः। अजिनश्चर्म्म। मनुः—

"कार्ष्ण—रौरव—वास्तानि चर्म्माणि ब्रह्मचारिणः।
वसीरन्नानुपूर्व्येण शाणक्षौमाविकानि च ॥"

कृष्णाया इदं कार्ष्णं, पृथायाः पार्थ इति वत्। कृष्णः कृष्णसारः। (तस्य-स्त्री कृष्णा तस्याः) वस्त—श्छागः। यमः "सर्वेषां रौरवाजिनम्"इति। तदेत"दितरासम्भवे" इति शेषपूरणेन व्याख्येयम्। स्मृतिः—

"मेखला सप्तहस्ता स्यादजिनश्च द्विहस्तकम्।
बहिर्लोम त्र्यङ्गुलश्च अखण्डं वा त्रिखण्डकम्।
चतुर्विंशाष्टषोड़शा-ङ्गुलैः खण्डानि कारयेत् ॥" इति।

विकल्पः शक्त्यपेक्षया कुलकल्पापेक्षया वा ॥ ६ ॥

---

१. भट्टनारायणीयम्।

२. पत्नीद्वारकन्तस्यै—(णस्यै)—वेदमिति जातिभेदाभिधायकं कातीयं वचनम्। जातिभेदाश्चामरेणैवानन्तरमुक्ताः "कृष्णसाररुरुन्यङ्कुरङ्कुसंवररौहिषाः। गोकर्णपृषतैणर्श्यरोहिताश्चमरोमृगाः" इति। तत्र एणश्चारुनेत्र इत्येवं जातिभेदव्यापकन्तद्व्यख्यानञ्चामरविवेके महेश्वरेण कृतम् ॥

मुञ्ज-काश-तामुन्योरशनाः ॥ १० ॥

बालक के लिए मेखला [करधनी] क्रमशः मूँज, काश और सन [= तमुनि] की होनी चाहिए ॥ १० ॥

तमुनिः शणः। रशना मेखला। "रशना मेखला काञ्ची"त्यमरः। अन्यत्पूर्ववत्। मनुः —

"मौञ्जी त्रिवृत्समा श्लक्ष्णकार्य्या विप्रस्य मेखला।
क्षत्रियस्य तु मौर्वी ज्या वैश्यस्य शणतान्तवी॥
मुञ्जालाभे तु कर्त्तव्या कुशाश्मन्तकवल्वजैः।
त्रिवृता ग्रन्थिनैकेन त्रिभिः पञ्चभिरेव वा॥" इति।

त्रिवृत् नवगुणीकृता त्रिवृतेति प्रथमान्तम् "आपञ्चैव हलन्तानाम्" इति टाप्। एकेन ग्रन्थिनेत्यादौच्छया विकल्पः। उपलक्षणे तृतीया (पा० २।३।२१) अत्र श्लक्ष्णा—ससृणस्पर्शा। मुर्वा—बल्लीविशेष "दुग्ध (ध) मरुरि"ति प्रसिद्धा। तेन निर्म्मिता मौर्वी ज्या। [धनुर्गुणः] तस्यैव सतो मेखलायां विनियोगः। मुञ्जालाभे—मुञ्जाद्यभावे। अश्मन्तकः कुशसदृशतृणविशेषः। बल्वजाः "शावय" इति प्रसिद्धाः। ग्रन्थौ प्रवरसाम्येन व्यवस्थितो विकल्प इति मुरारिमिश्राः [1]प्राहुः॥ १०॥

पार्ण–बैल्वा–ऽऽश्वत्था दण्डाः ॥ ११ ॥

और दण्ड पलाश, बेल और पीपल का होना चाहिए ॥ ११ ॥

पार्णः पालाशः "पलाशे किंशुकः पर्णोवातपोत" इत्यमरः। बिल्वाश्वत्थौ प्रसिद्धौ। पालाशादयः क्रमेण ब्राह्मणादीनान्दण्डाः प्रशस्ता इत्यर्थः। तथा च पारस्करः "पालाशो ब्राह्मस्य दण्डो बैल्वो राजन्यस्यौदुम्बरो वैश्यस्य सर्वे वा सर्वेषाम्"। इति। एषामभावे सर्वेषां सर्वे यज्ञियाः। आदुम्बर इति कुलकल्पभेदेन। स्मृतिः—

"धारयेद्बैल्वपालाशौ दण्डौ केशान्तिकौ द्विजः।
यज्ञार्हवृक्षजं वाऽथ सौम्यमव्रणमेव च॥" इति।

मनुः—

"केशान्तिको ब्राह्मणस्य दण्डः कार्य्यः प्रमाणतः।
ललाटसम्मितो राज्ञः स्यान्नासासम्मितो विशः॥" इति।

---

१. अत्र कुल्लूकभट्टः। अत्र च वाशब्दनिर्देशाद् ग्रन्थीनां न विप्रादिभिः क्रमेण सम्बन्धः। किन्तु सर्वत्र यथाकुलाचारं विकल्पः। ग्रन्थिभेदश्चायं मुख्यामुख्यापेक्षासम्भवाद् ग्रहीतव्यः॥ इति॥

केशस्य ललाटोर्ध्वकेशजन्मस्थानस्यान्तः केशान्तः। एवञ्चोर्ध्वस्थितस्य पुरुषस्य भूमितस्तत्पर्य्यन्तपरिमाणतो ब्राह्मणस्य दण्डः कार्य्यः। भ्रूमध्यसम्मितो राज्ञः। नासाग्रसम्मितो वैश्यस्येत्यर्थः। यत्तु-केशान्तिकः कर्णसमोपकेशमूलपर्यन्त इति कस्यचिद्व्याख्यानन्तन्न तथासति ब्राह्मण-क्षत्रिययोस्तस्य तुल्यपरिमाणत्वेन पृथगुपदेशानर्थक्यापत्तेरिति बोध्यम्। तथा—

"ऋजवस्ते तु सर्वे स्युरव्रणाः सौम्यदर्शनाः।
अनुद्वेगकरा नृणां सत्वचोनाग्निदूषिताः॥" इति।

ऋजव इति—अग्रादन्यत्र। "यूपवक्रा" इति गौतमेन नताग्रत्वस्य विधानात्। अव्रणा अच्छिद्रः। सौम्यदर्शनाः। अतिस्थौल्यादिनाऽभयानकाः। अनुद्वेगकारा स्वरूपेणाभीषणा इति मुरारिः। अदुःखदाः परेषामघातुकानामिति वयम्॥ ११॥

इदानीमुक्तनां वसनानां व्यवस्थामुपदिशति—

क्षौमंशाणं वा वसनं ब्राह्मणस्य,
कार्पासं क्षत्रियस्याऽऽविकं वैश्यस्य॥ १२॥

उन [पूर्वोक्त क्षौम-वस्त्र] में से ब्राह्मण को पहनने के लिए रेशमी कपड़ा या सन का, क्षत्रिय के लिए कपास [सूती] वस्त्र और वैश्य के लिए ऊनी वस्त्र होना चाहिए॥ १२॥

ऋज्वर्थं सूत्रम्॥ १२॥

एतेनैवेतराणि द्रव्याणि व्याख्यातानि॥ १३॥

इसी क्रमानुसार अन्य [चर्म और दण्ड आदि] द्रव्यों को भी समझ लेना चाहिए। [अर्थात् मृग छाला भी इसी प्रकार ब्राह्मण के लिए कृष्णसार मृग का, क्षत्रिय के लिए रुरु मृग का और वैश्य के लिए बकरे के चर्म का होना चाहिए। मूंज की करधनी ब्राह्मण के लिए, काश की मेखला क्षत्रिय के लिए और सन [सुतली] की मेखला वैश्य के लिए होनी चाहिए। ब्राह्मण के लिए पलाश का दण्ड, क्षत्रिय के लिए बिल्व का और वैश्य के लिए पीपल का दण्ड होना चाहिए]॥ १३॥

एतेनैवानुसारेण। इतराणि अजिन-वसन-दण्डाख्यानि। व्याख्यातानि त्रयाणां यथाक्रमेणोक्तानि॥ तथाच-ऐणेयमजिनं, मौञ्जी रशना, पार्णोदण्डश्च ब्राह्मणस्य, रौरवमजिनं, काशी रशना, वैल्वोदण्डश्च क्षत्रियस्य, आजमजिनं, शाणी रशना, आश्वत्थो दण्डश्च वैश्यस्येति सिद्धम्॥ १३॥

अलाभे वा सर्वाणि सर्वेषाम् ॥ १४ ॥

यदि [नियमानुसार योग्य वस्त्र आदि] न मिलें तो सभी वर्ण सभी प्रकार के वस्त्र आदि का व्यवहार कर सकते हैं ॥ १४ ॥

अलाभे—स्वस्वजात्युक्तवसनादीनामसम्पत्तौ । सर्वाणि क्षौमादीनि वसनादीनि सर्वेषां भवन्ति यथालाभम् । अत एव वसिष्ठः "सर्वेषान्तान्तवमरक्तम्" इति । अरक्तं विकृतरक्तरहितं, कौशुम्भन्तु प्रशस्तं, तथाच गौतमः "सर्वेषां कार्पासमविकृतं, काषायमप्येके" इति ॥ १४ ॥

पुरस्ताच्छालाया उपलिप्तेऽग्निरुपसमाहितो भवति ॥ १५ ॥

उपनयन के लिए यज्ञशाला के पूर्व भाग में अग्नि लीपे हुए स्थान पर स्थापित की जाती है ॥ १५ ॥

निगदव्याख्यातमेतत् ॥ १५ ॥

"अग्ने व्रतपत" इति हुत्वा पश्चादग्नेरुदगग्रेषु दर्भेषु प्राङाचार्य्योऽवतिष्ठते ॥ १६ ॥

(मं० ब्रा० १।६।९—१३)

'अग्ने व्रतपते' आदि [पाँच] मन्त्रों से आचार्य [बालक का प्रतिनिधि होकर] आहुति देकर अग्नि के पश्चिम भाग में उत्तराग्र आस्तृत कुशासन पर प्राङ्मुख हो बैठते हैं ॥ १६ ॥

"यथा पाणिग्रहणे तथा चूड़ाकरणे चोपनयने" (१।९।२८) इत्यतिदेशादुपनयनकर्म्मणः पुरस्ताच्चोपरिष्टाच्च महाव्याहृतिभिश्चतस्र आहुतयो भवन्ति, तदाहुतिचतुष्टयं हुत्वा "अग्ने व्रतपत" इत्येवमादिभिः पञ्चभिर्म्मन्त्रैः [अनादेशादाज्येन] पञ्चाहुतीश्च हुत्वा आचार्य्यः पश्चादग्नेरुदगग्रेषु दर्भेषु प्राङ् प्राङ्मुखः अवतिष्ठते—ऊर्ध्वस्थितो भवेत् । "हुत्वाऽऽचार्य्योऽवतिष्ठते"इति क्त्वा श्रवणात् कर्त्रन्तरानुपदेशाच्च होमोऽयमाचार्यकर्तृक एव । मन्त्रास्तु माणवकपठनीया "व्रतञ्चरिष्यामी"ति मन्त्रलिङ्गात् । न चेदानीं वेदपाठे तस्यानधिकारः । उपनयनकर्म्मणः पूर्वमेव तथास्यान्न तूपनयनकर्म्मण्यपि । मेखलामन्त्र तत्कर्तृकपाठस्य सर्वसम्मतत्वात् । अन्यपठितमन्त्रेणान्यकर्तृकक्रियायाश्चाश्मारोहादौ बहुत्र दर्शनान्न किञ्चिदेतत् । कौमुदी—नारायण—शूलपाणि—होरिलप्रभृतयोऽप्येवम्[1] ॥ १६ ॥

---

१. अत्र च "व्रतञ्चरिष्यामी"तिमन्त्रस्य साकाङ्क्षत्वान्निराकाङ्क्षीकरणाय व्रतनामकालपरिमाणयोरादेशः कर्त्तव्यः । एतद्व्रतमियत्कालिकमिति । कुतः ? "ब्रह्मचारी व्रतादेशे व्रतनाम प्रवाचयेत् ॥ चरिष्ये यावदन्ताय सावित्रे चान्तकीर्त्तनम्" इति गृह्यासंग्रहवचनादिति चन्द्रकान्तभाष्यम् ॥

अन्तरेणाग्न्याचार्य्यौ माणवकोऽञ्जलिकृतोऽभिमुख आचार्य्यमुदगग्रेषु दर्भेषु ॥ १७ ॥

अग्नि और आचार्य के मध्य अवस्थित उत्तराग्र कुशासन पर आचार्य के सम्मुख होकर और अञ्जलि को फैलाए हुए बालक को बैठना चाहिए ॥ १७ ॥

अत्रावतिष्ठत इत्यनुषञ्जनीयम् । अन्तरेणेति मध्यार्थेऽव्ययम् । तथाचामरः "अन्तरेण च मध्ये स्युः" इति । तद्योगेऽग्न्याचार्यौ इति षष्ठचर्थे द्वितीया (पा० २।३।४) [1]एवञ्चाग्न्याचार्य्ययोर्मध्ये माणवकः अञ्जलिकृतः[2] कृताञ्जलिराचार्याभिमुख उत्तराग्रेषु कुशेषूर्ध्वस्थितो भवेदित्यर्थः ।

मन्त्रो यथा——

अग्नेव्रतपते व्रतञ्चरिष्यामि तत्ते प्रब्रवीमि तच्छकेयम् ।
तेनर्द्ध्यासं समिदमहमनृतात्सत्यमुपैमि स्वाहा ॥ ९ ॥

अस्यार्थः——हे 'अग्ने !' 'व्रतपते !' शास्त्रीयनियमपालक ! । यदिदं 'व्रतम्' उपनयनाख्यम् 'चरिष्यामि' अहमनुष्ठास्यामि 'तत्' व्रतं 'ते' तुभ्यम् 'प्रब्रवीमि' निवेदयामि । तेन 'तत्' व्रतमहं त्वत्प्रसादात् सुखेन चरितुं 'शकेयम्' शक्नुयाम् "लिङ्याशिष्यङ्" (पा० ३।१।८६) इत्यङ् । व्रतचरणस्य फलमाह——'तेन' उपनयनव्रतेन करणभूतेनाहम् 'ऋद्ध्या, ऋद्धिम् अध्ययनलक्षणां समृद्धिम् । अमोडा (पा० ४।७।१३९) "प्राप्नुयामि"ति शेषः । तथा 'अहम्' 'अनृतात्' अलीकवचनात् । अस्माज्जगतो वा मिथ्याभूतात् पृथक् भूत्वा 'इदम्' एतद् व्रतं 'सत्यं' सत्यवचनस्वरूपम् । यद्वा इदमनिर्द्देश्यं सत्यं ब्रह्म । 'समुपैमि' सम्यक् प्राप्नोमि उपसर्गस्य व्यवहितप्रयोगश्छान्दसः (पा० १।४।८२) अयमर्थः——योऽहं प्रागुपनयनाद्यथेष्टाचार आसंसोऽहमधुना परित्यक्तानृतवादः सत्यभूतमिदं व्रतं चरिष्यामीति । यद्वा उपनयनव्रतजनितया ऋध्या ब्रह्मवर्चसलक्षणयाऽनृतादस्मादिदमनिर्द्देश्यं सत्यं ब्रह्म समुपैमि निष्कामयथोक्तकर्म्मानुष्ठानेनेति । तस्मैतेऽग्नये 'स्वाहा' सुहुतमस्तु ।। ९ ॥ एवम्——

"वायो व्रतपते ! ०० स्वाहा ॥" १० ॥
"सूर्य्य ! व्रतपते !०० स्वाहा ॥ ११ ॥
"चन्द्र ! व्रतपते !०० स्वाहा ॥ १२ ॥

---

१. सा चोपपदविभक्तिरिति "उपपदविभक्तीनां सम्बन्धोऽर्थः षष्ठ्यपवादत्वादि-"ति महाभाष्यवचनात्षष्ठ्याऽत्र विधियते ।

२. "आहिताग्न्यादित्वात् (पा० २।२।३७) कृतस्य पूर्वनिपातः ॥

"व्रतानां व्रतपते !०० स्वाहा ॥ १३ ॥ इति ।

'व्रतानां—'कर्मणां (यज्ञानां) (निघं० २।१।७) 'व्रतपते !' नियमपालक ! इन्द्र ! । शेषोऽर्थः स्पष्टः ॥ १०।११।१२।१३ ॥

अञ्जलिश्चात्र प्रसारितो न तु मुकुलितः । उपरिष्टात्तस्यापाम्पूरणोपदेशादिति द्रष्टव्यम् ॥ १७ ॥

तस्य दक्षिणतोऽवस्थाय मन्त्रवान्ब्राह्मणोऽपामञ्जलिम्पूरयति ॥ १८ ॥

उस बालक के दक्षिण भाग में अवस्थित होकर कोई वेदपाठी ब्राह्मण उसकी अञ्जलि जल से भर दे ॥ १८ ॥

तस्यानन्तरोक्तस्य माणवकस्य । दक्षिणतः दक्षिणदिशि । "आद्यादित्वात् (पा० ५।४।४४ वा०) सार्वविभक्तिकस्तसिः । न तु दक्षिणपार्श्वे । मङ्गल्ये दक्षिणाभिमुखेन क्रियापत्तेरिति भाष्यकृतः । अवस्थाय । ऊर्ध्वःस्थित्वा । मन्त्रवान्-अध्ययनयुक्तः । अधीतवेद इति यावत् । अपामिति तृतीयार्थे शेषे षष्ठी । (पा० २।३।५०) । अत्र मन्त्रानुपदेशाद् व्याहृतिभिरिति चन्द्रकान्तः । पद्धतौ तन्नास्ति ॥ १८ ॥

उपरिष्टाच्चाचार्यस्य ॥ १९ ॥

उसके बाद आचार्य की अञ्जलि भी भर दे ॥ १९ ॥

उपरिष्टात्—पश्चात् । अञ्जलिम्पूरयतीत्यनुषञ्जनार्थश्चकारः ॥१९॥

प्रेक्षमाणो जप—"त्यागन्त्रा समगन्महो—"ति ॥ २० ॥

(मं० ब्रा० १।६।१४–१५)

आचार्य बालक को देखते हुए 'आगन्त्रा समगन् महि' आदि मन्त्रों को पढ़े ॥ २० ॥

"माणवकमाचार्य" इति शेषः । स्वस्ति चरतादयमिति मन्त्रलिङ्गात् । अत्रापीतिशब्द आद्यर्थस्तेन मन्त्रद्वयम् । [1]तथाच मन्त्रः—

"आगन्त्रा समगन्महि प्रसुमर्त्त्यं युजोतन ।
अरिष्टाः सञ्चरेमहि स्वस्ति चरतादयम् ॥" १४ ॥

इति । अस्यार्थः—हे अग्न्यादयः ! यू यमेतमुपनीयमानं 'सुमर्त्त्यं' शोभ-

---

१. अत्र "परस्मात्सिंहावलोकितन्यायेनानुषङ्गाच्चेति हेत्वन्तरपूरणं चन्द्रकान्तभाष्ये ॥

नमनुष्यम् । 'प्रयुजोतन' अस्माभिः सह प्रकर्षेण मिश्रयत[1] । यथाऽनेन 'आगन्त्रा' आगमनशीलेन[2] ब्रह्मचारिणा । वयं 'समगन्महि' सङ्गच्छेमहि[3] । तथाऽस्माभिस्सह 'अयं' ब्रह्मचारो 'स्वस्ति' कल्याणेन 'चरतात्' गच्छतु ।। १४ ।। इति । अत्र "अग्निष्ट" इत्यादिमन्त्रो ब्राह्मणे सहपठितोऽपि "देवस्यते" इति वक्ष्यमाणमन्त्रान्ते द्रष्टव्यः । "शब्दक्रमादर्थक्रमो बलीयानि"–ति न्यायात् । इदानीं ह्यु दकपूर्णाऽञ्जलयोर्माणवकाचार्ययोः साङ्गुष्ठहस्तग्रहणस्यासुकरत्वात् । आचार्येणाऽपि तथैवाग्रे सूत्रणात् । संस्कारतत्त्वे रघुनन्दनेनापि तत्रैवायम्मन्त्रो धृतः । अयमेवार्थो भवदेवभट्ट–गुणविष्णवाद्यनुमतः । पद्धतिकृद्भिर्वीरेश्वरादिभिरपि समादृतः ।।

मन्त्रो यथा—

"अग्निष्टे[4] हस्तमग्रहीत्सविता हस्तमग्रहीत् ।
अर्यमा हस्तमग्रहोन्मित्त्रस्त्वमसि कर्मणाऽग्निण्चार्यस्तव" ।।१५।।

इति । अस्यार्थः–हेब्रह्मचारिन् ! योऽयन्ते हस्तोऽद्य मया गृहीतोऽतः पूर्वमग्न्यादयः क्रमेण ते हस्तमग्रहीत् । क्रियाकारकावृत्तिरादरार्था । अतः 'कर्म्मणा' गुरुशुश्रूषादिना 'त्वं' मम 'मित्त्रः' मित्त्रभूतः[5] (प्रियहितकारी) 'असि' भवसि । 'अग्निश्च' भगवान् 'तव' 'आचार्यः' गुरुः । (परिचरणीयः)अतः तत्परिचरणेनाहमेव परिचरितः स्यामिति भावः ।। १५ ।। इति ।। २० ।।

"ब्रह्मचर्यमागाभि"–ति वाचयति ।। २१ ।।

(मं० ब्रा० १।६।१६)

फिर, 'ब्रह्मचर्यमागाम्' आदि मन्त्र को बालक से पढ़वाए ।। २१ ।।

जपित्वा चाचार्य्यः "ब्राह्मचर्यमागामुप मा नयस्व" १६ इति मन्त्रं,

---

१. "युमिश्रणे" (अ० प०) लोटि शपः लुग्बाहुलकात् (पा० २।४।७६) "तप्तनप्तनथनाश्च" (पा० ७।१।४५) इति तस्य तनादेशः ।।

२. आङ्पूर्वाद् गमेस्ताच्छीलिकस्तृन्प्रत्ययः । (पा० ३।२।१३५) कर्त्तरि ।।

३. अत्राङ्पूर्वाद् गमेर्लिङर्थे यङ् (पा० ३।४।६) "मन्त्रे घसे" (पा० २।४।८०) त्यादिना च्लेर्लुकि "म्वोश्च" (पा० ८।२।६५) इति मस्य नत्वम् ।।

४. अत्राकृतषत्वनिर्द्देशोऽन्यत्र (पुस्तकान्तरे) "यजुष्येकेषाम्" (पा० ८।३।१०४) इति विभाषित इति ।।

५. अत्र मित्त्रमिवेत्यर्थे विहितस्य कनः (पा० ५।३।९६) "लुम्मनुष्ये" (पा० ५।३।९८) इति लुप् । आर्षं वा पुंस्त्वम् (पा० ३।१।८५ व्यत्ययेन । सुहृदि मित्त्र शब्दस्य नित्यनपुंसकत्वादेवमुक्तम् ।।

वाचयति । माणवकं पाठयति । मन्त्रार्थस्तु--हे गुरो ! । अहं 'ब्रह्मचर्य्यम्' तद्व्रतम् 'आगाम्, स्वीकृतवानस्मि यतोऽतो-'मा' माम् । 'उपनयस्व' छान्दसो व्यवहितोपसर्गप्रयोगः । (पा० १।४।८२) १६ ॥ २१ ॥

"को नामासी"ति नामधेयं पृच्छति तस्याचार्यः ॥ २२ ॥
(मं० ब्रा० १।६।१७)

आचार्य 'को नामासि' आदि मन्त्र पढ़कर उस बालक का नाम पूछे ॥ २२ ॥

"को नामासी" १७ इति एवं तस्य माणवकस्य । नामधेयं-नाम । आचार्य्यः पृच्छति । अत्र क इति नामविषयकः प्रश्नः । नामेति प्रसिद्धार्थ-कमव्ययम् । तथा च प्रसिद्धं नाम पृच्छति । कोऽसीति सूत्रार्थः ॥ २२ ॥

किं कृत्वा--

अभिवादनीयं नामधेयङ्कल्पयित्वा ॥ २३ ॥

इसके बाद आचार्य स्वयं अभिवादन के समय कहने योग्य [द्वितीय जन्म सूचक एक नवीन] नाम की कल्पना करके [कहे] ॥ २३ ॥

अभिवादनं-पादोपसङ्ग्रहणम् । सम्भाषणं वेति चन्द्रकान्तः । "समे तु पादग्रहणमभिवादनमित्युभे" इत्यमरः । तदर्थमभिवादनीयम् । नामधेय-त्वेन (पा० १।१।७५ वा०) वृद्धत्वाच्छः (पा० ४।२।११४) तस्यानीयर (पा० ७।४।२) कल्पयित्वेति वचनात्तदानीमेवाचार्येण तत्कल्पनमायाति । अभिवादनीयमितिकरणात्सर्वत्रैवाभिवादने ब्रह्मचारिणाऽऽचार्यकल्पितेनैव नाम्ना व्यवहरणीयमिति बोधयति ॥ २३ ॥

अभिवादनीयन्नाम विशिनष्टि—

देवताश्रयं वा नक्षत्राश्रयं वा ॥ २४ ॥

यह अभिवादन का नाम देवता परक हो या नक्षत्र परक होना चाहिए ॥२४॥

आद्यं यथा-"विष्णुशर्मनामासो"ति[1] । द्वितीयं यथा-"फाल्गुनशर्म[2]-नामासी"ति ॥ २४ ॥

---

१. अत्र नामधेये "शर्मान्तं ब्राह्मणस्ये"ति मानवं वचनं मानं, विशेषविचारस्तु-नामद्वैतप्रकरणे द्वैतनिर्णये द्रष्टव्यः ।

२. नक्षत्रपदेन जन्मादयुपनयनन्तास्समाख्यापकमेवेति केचिदाचक्षते ॥ केचित्तु शतपदचक्रानुसारिजन्मनक्षत्राश्रयन्नामाहुस्तत्तच्छं तस्यगुह्यत्वस्यागमेऽप्यभिधानात् । तथा चशारदातिलकटीकायां राघवभट्टोद्धृतम् "जन्मनक्षत्रयोन्या वै मारणानि यथातथम् । कृतानि न चिरेणैव सिद्धिदानि महेश्वरी"तिवचनम् ॥

गोत्राश्रयमप्येके ॥ २५ ॥

कुछ आचार्यों का मत है कि यह नाम गोत्र परक भी हो सकता है ॥ २५ ॥

तद्यथा "कौशिकशर्म्मनामासी-"ति ॥ २५ ॥

ततो माणवकेन[1] "ॐ अमुकनामाऽस्मी--"त्याचार्यकल्पिते नाम्नि कथिते--

उत्सृज्यापामञ्जलिमाचार्यो दक्षिणेन पाणिना दक्षिणं पाणिं साङ्गुष्ठं गृह्णाति--"देवस्य ते सवितुः प्रसवेऽश्विनो-र्बाहुभ्याम्पूष्णो हस्ताभ्याꣳहस्तं गृभ्णाम्यसा-वि"-ति ॥ २६ ॥

(मं० ब्रा० १।६।१८)

इसके बाद [बालक से मैं अमुक नाम वाला आप गुरु का अभिवादन करता हूँ'—इस प्रकार कहला कर उस] जलाञ्जलि को छोड़कर आचार्य 'देवस्य ते' देव सविता की अनुज्ञा में अश्विन देवता के बाहुओं से और पूषा देव के बाजू से मैं आचार्य तुम्हारा हाथ ग्रहण करता हूँ' आदि मन्त्र पढ़ते हुए दहिने हाथ से बालक का अँगूठा सहित हाथ पकड़ते हैं ॥ २६ ॥

पाणि "माणवकस्ये"ति शेषः। ग्रहणमन्त्रमाह "देवस्यत" इति। अत्रासाविति स्थाने माणवकस्य स्वकल्पितन्नाम सम्बोधनान्तं प्रयोज्यम्। एवमग्रेऽपि। [2]नारायणधीरेश्वरादयोऽप्येवम्। अत्र माणवकस्यापि जलाञ्जल्युत्सर्ग आचार्यस्यैवावगन्तव्योऽविशेषेणोपदेशात्। मन्त्रार्थस्तु--हे 'असौ! विष्णुशर्म्मन्! 'तव' हस्तं 'सवितुर्देवस्य' 'प्रसवे' अभ्यनुज्ञाने-सति[3]। 'अश्विनो' देवभिषजोः। 'बाहुभ्यां' 'पूष्णः' पूषापिष्टादइत्येवं[4] ख्यातस्य देवविशेषस्य 'हस्ताभ्याम्' अहम् आचार्यस्तव 'हस्तं' करं 'प्रति-

---

१. अत्र "को नामासि" ? "असौ नामास्मी"त्येवं ब्राह्मणे सहेव द्वयं पठ्यते। विनियोगोऽपि पृथगेव धीरेश्वरादिपद्धतिषु पठ्यते। "ॐ विष्णुशर्म्मनामास्मी"त्येवं वाक्याभिलापश्च। सूत्रकृता तूत्तरवाक्यस्यानभिधाने कारणं मृग्यम् ॥

२. अत्र हस्य भश्छान्दसः (पा० ८।२।३२ वा०) ॥

३. "प्रसवोऽभ्यनुज्ञानम्" इतिवृत्तिकृतः प्राहुः। तथाच तदभ्यनुज्ञातोऽहमित्यर्थः।

४. दक्षयज्ञविध्वंसने। शिवेन प्रहितो वीरभद्रा—"पूष्णश्चापातयद्दन्तान्योऽहसद्भिवृत्तैर्द्विजैरि-"ति भागवतादौ स्मर्यते। ततश्चानुगृहीतः शिवेन पिष्टादः कृत इति च।

गृह्णामि' । अत्र सर्वत्र [1]स्वत्वं षष्ठ्यर्थस्तत्प्रत्ताभ्यामित्यर्थः ॥१८॥ इति ॥ अत्र मन्त्रपाठानन्तरं हस्तग्रहणं बोद्धव्यमिति [2]भाष्यकारः ॥ २६ ॥

अथैनं प्रदक्षिणमावर्त्तयति 'सूर्यस्यावृतमन्वावर्त्तस्वासावि"–ति ॥२७॥

(मं० ब्रा० १।६।१९)

इसके बाद इस बालक को 'सूर्यस्यावृत' 'जिस प्रकार सूर्य दीप्तिमान् होकर भ्रमण करता है वैसे ही तुम भी तेजस्वी होकर इधर-उधर विचरण करो'—आदि मन्त्र को पढ़ते हुए आचार्य प्रदक्षिण क्रम से पूर्वाभिमुख करते हैं ॥ २७ ॥

अथेति—तद्देशनियमार्थम् । अथ तस्मिन्नेव देशे प्रत्यङ्मुखमवस्थितम् । एनं माणवकम् । असाविति सम्बोधनान्तं क्लृप्तनामग्रहणमिति प्रागुक्तन्न विस्मर्त्तव्यम् । मन्त्रार्थस्तु–हे 'असौ !' विष्णुशर्म्मन् ! 'सूर्यस्य' 'आवृतम्' आवर्त्तनम् 'अनु' लक्षीकृत्य 'आवर्त्तस्व' तिष्ठ । अयमर्थः–यावद्भानोरावर्त्तनन्त्वमत्र तिष्ठ । यद्वा यावत्सूर्य आवर्त्तते परभ्रमति । तावत्त्वमपि यतस्ततः सञ्चर । पुनस्तस्मिन्नस्तं जिगमिषौ गते वा त्वमप्यस्तं[3] (गृहं) प्रत्यावर्त्तस्वेति ॥ १९ ॥ २७ ॥

दक्षिणेन पाणिना दक्षिणमꣳसमन्ववमृश्यानन्तर्हितान्नाभिमभिमृशेत् "प्राणानां ग्रन्थिरसी–"ति ॥ २८ ॥

(मं० ब्रा० १।६।२०)

फिर आचार्य 'प्राणानां ग्रन्थिरसि' यह प्राणों की ग्रन्थि है' आदि मन्त्र पढ़ते हुए दाहिने हाथ से उस बालक के दाहिने कन्धे से होकर वस्त्रादि आवरण से रहित व्यक्त नाभि का स्पर्श करें ॥ २८ ॥

आचार्योदक्षिणहस्तेन माणवकस्य दक्षिणमंसं तूष्णीममन्त्रकमत्ववमृश्य-अनुस्पृश्य । अनन्तर्हिताम् अन्तर्द्धानरहितां व्यक्तां नाभिमभिमृशेत् स्पृशेदित्यर्थः । तत्र मन्त्रमाह–"प्राणानामि"ति । अत्रामुमित्येतस्मिन्त्सर्वनाम्नि द्वितीयान्तम्माणवकस्य नाम गृह्णीयात् । एवमग्रेऽपि (३२ सू०) असावित्यत्र प्रथमान्तमिति विशेषः । मन्त्रो यथा–"प्राणानाङ्ग्रन्थिरसि माविस्रसोऽन्तक इदन्ते परिददाम्यमुम्" इति ॥ २० ॥

---

१. अन्नाश्विनोः प्रसादान्नेऽव्यम् । पूषणश्च पुष्टिं बाह्वोर्हस्तयोश्च क्रमेणावेद्यये । ततश्च ।

२. वस्तुतस्तु–सूत्रान्ते इति करणेन इति अनेन मन्त्रेण गृह्णातीत्यन्वितोऽर्थस्तेन हस्तग्रहणे मन्त्रपूर्वकत्वऽभिहिते भाष्यकृदुक्तार्थ आपाततः प्रतीयमानोऽपि मन्त्रार्थपर्यालोचनया गृहीत्वा जपतीत्यर्थ एव सूत्रकारेणानुक्तोऽपि भवदेव·गुणविष्णु—वीरेश्वरा—दिभिरभ्युपगतः । चन्द्रकान्तस्तु–अत्र प्रमाणम्मृग्यमिति वदन्ननेन समाहितो वेदितव्यः ।

३. अस्तमिति गृहनामसु (निघं० ३।४।५) पठ्यते ।

अस्यर्थः। , हे नाभे ! अस्य ब्रह्मचारिणस्त्वं 'मा विस्रसः'[1] मा विस्रंसिष्यसि । स्वस्थानान्न चलिष्यसि । यस्त्वं 'प्राणानां' देहधारकवायूनां 'ग्रन्थिः' प्रति बन्धः । 'असि' भवसि । तथा हे 'अन्तक !' यम ! 'इदम्' अस्य ब्रह्मचारिणः शरीरम् 'अमुम्' ब्रह्मचारिणश्च 'ते' तुभ्यं 'परिददामि' समर्पयामि । त्वयि समर्पित एष रोगजरामरणादिकन्नानुप्राप्नुयादिति ॥ २० ॥ २६ ॥

उत्सृप्य नाभिदेश-"महुर" इति ॥ २९ ॥

(मं० ब्रा० १।६।२१)

आचार्य 'अहुरः' हि अहंकार नामक वायु इसे तुम्हें मैं देता हूँ' आदि मन्त्र पढ़ते हुए बालक के नाभि-पर हाथ फेर कर [प्राणाधान करे] ॥ २९ ॥

उत्सृप्य--नाभेरूर्ध्वङ्करन्नीत्वा नाभिदेशं-तत्समीपदेशम्[2] । जठरमिति तदर्थः । मन्त्रलिङ्गात् । अहरशब्दस्य जठराग्निवाचकत्वाम्नानात्तमभिमृशेदित्यनुवर्त्तते । एवमग्रेऽपि । मन्त्रस्तु—

"अहुर इदन्ते परिददाम्यमुम्" ॥ २१ ॥ इति । अस्यार्थः । हे 'अहुर' जठराग्ने ! इदमित्यादिपूर्ववत् । गुणविष्णुस्तु-अहुरिर्नाम वायुः । तस्यामन्त्रणे हे अहुरे । इत्येवं व्याख्यानात्[3] ॥ २१ ॥ २७ ॥

उत्सृप्य हृदयदेशं "कृशन" इति ॥ ३० ॥

(मं० ब्रा० १।६।२२)

फिर हृदय पर हाथ फेरकर 'कृशनः' आदि मन्त्र आचार्य पढ़े ॥ ३० ॥

कृशनोहृच्छयः पुरुषः तथाच श्रुतिः । "स चापर आत्मा हृदी-"ति । मन्त्रस्तु-"कृशन इदन्ते परिददाम्यमुम्" इति ॥२२॥ अर्थः पूर्ववत् ॥३०॥

दक्षिणेन पाणिना दक्षिणमंऽसमन्वालभ्य "प्रजापतये त्वा परिददाम्यसावि"-ति ॥ ३१ ॥

(मं० ब्रा० १।६।२३)

इसके बाद आचार्य दाहिने हाथ से बालक के दाहिने कन्धें को स्पर्श कर

---

१. "स्रंसुअधः पतने" (भ्वा० आ०) द्युतादिः । "माङि लुङ्-" (पा० ३।३।१७५) सर्वलकारापवादः । "शुद्ध्योलुङि" (पा० १।३।९३) इति परस्मैपदे द्युतादित्वात् (पा० ३।१।५५) च्लेरङि नलोपः (पा० ६।४।२४) ।

२. सामीप्यलक्षणया "वटे गावः सुशेरत" इति वत्प्रयोगोऽयम् । तेन नाभ्युपरिदेश उक्तो भवति मध्यमपदलोपिसमासात् ।

३. अत्र पक्षेऽयादेशे यलोपः । (पा० ८।३।१९) ।

'प्रजापतये त्वा परिददाम्यसौ' आदि (मं० ब्रा० १.६.२२) मन्त्र को पढ़ें ॥ ३१ ॥

असाविति–सम्बोधनान्तनामग्रहणम् । एवमग्रेऽपि मन्त्रार्थः स्पष्ट एव ॥ ३१ ॥

सव्येन सव्यं 'देवाय त्वा सावित्रे परिददाम्यसावि'ति ॥ ३२ ॥

(मं० ब्रा० १।६।२४)

इसके बाद बाँए हाथ से बालक के बाँए कन्धे का स्पर्श कर 'देवाया त्वा सवित्रे परिददाम्यसौ (मं० ब्रा० १.६.२४) आदि मन्त्र को आचार्य पढ़ें ॥ ३२ ॥

सव्यमित्यत्रांसमित्यनुषज्यते । स्पष्टमन्यत् ॥ मन्त्रार्थोऽपि स्पष्ट एव ॥ ३२ ॥

अथैनँ सम्प्रेष्यति–"ब्रह्मचार्यस्यसावि–"ति ॥ ३३ ॥

(मं० ब्रा० १।६।२५)

इसके अनन्तर आचार्य इस बालक को यह उपदेश दें कि 'तुम अमुक नामक आज से ब्रह्मचारी बन गए हो' ॥ ३३ ॥

अथेति पूर्वप्रकृतार्थम् । अथ पूर्वकृतमंसयोर्गृहीतमेवैनं माणवकं सम्प्रेष्यति समादिशत्याचार्यः । किं? ब्रह्मचार्यस्यसावि"ति । अस्यार्थः—हे असौ! माणवक! इतः प्रभृति त्वं ब्रह्मचारी[1] तन्नामानुरूपकर्मा 'असि' भवसि । अतो ब्रह्मचर्यनियमं मधुमांसवर्जनादिकं त्वया आ ब्रह्मचर्यपरिसमाप्तेः पालनीयमिति ॥ ३३ ॥

अथापरमतिदिशति—

समिधमाधेह्यपोऽशान-कर्म्मकुरु–मा दिवा स्वाप्सीरिति ॥ ३४ ॥

(मं० ब्रा० १।६।२६)

प्रतिदिन सायं-प्रातः अग्नि में समिदाधान करते रहना और यथास्थान शौच एवं आचमन आदि करना तथा दिन में न सोना' आदि ॥ ३४ ॥

विमर्श 'समिधमाधेह्यपोशान कर्म करु, मा दिवा स्वाप्सीः' आदि तीनों का उद्बोधक मन्त्र (मं० ब्रा० १.६ २६) पढ़ते हुए आचार्य उपदेश करें ॥ ३४ ॥

---

१. ब्रह्म वेदस्तदध्ययनाय व्रतमपि लक्षणया ब्रह्मोच्यते । तच्चरत्यनुतिष्ठतीति ब्रह्मचारी । ताच्छील्यार्थे (पा० सू० ३।२।७८) णिनिप्रत्ययः । उपधावृद्धिः (पा० सू० ७।२।११६) सततकरणञ्च ताच्छील्यम् ।

यत्तु वक्ष्यति अस्तमिते समिधमादधातीति। तां समिधं सायं प्रातराधेहि। अग्नयेऽर्पय। यच्च श्रुतावभिहितं "तस्माद्वा-एतदन्नमशिष्यन्पुरस्ताच्चोपरिष्टाच्चाद्भिः परिदधाति"[1] इति। तदिदमादिशति "अपोऽशाने"ति। अप् उदकम्। अशान-भक्षय। भोजनात्पुरस्तादुपरिष्टाच्चेत्यर्थः। मन्त्रौ तु-शाखान्तरादुपादेयौ "अमृतोपस्तरणमसि स्वाहे"ति पुरस्तात्। 'अमृताऽपिधानमसि स्वाहे' त्युपरिष्टात्। अन्यच्च-यत्किञ्चिद्विदित गुरुशुश्रूषादि कर्म्मतत्कुरु। इत्यपर आदेशः। दिवा-दिवसे। मा स्वाप्सीः। शयनं मा कार्षीरिति। गुरुणा ह्येवमादिष्टो ब्रह्मचारी सर्वत्रैव बाढमि'ति 'ओमि ति वा ब्रूयात्। एनञ्चादेशमनुपालयेदाब्रह्मचर्यम्। तदाह-कर्म्मप्रदीपः-

'ब्रह्मचारी समादिष्टो गुरुणा व्रतकर्मणि।
बाढमोमिति वा ब्रूयात्तत्तथैवानुपालयेत्॥' इति॥ ३४॥

उदगग्नेरुत्सृप्य प्राङाचार्य उपविशत्युदगग्रेषु दर्भेषु॥३५॥

आचार्य अग्नि के उत्तर में उत्तराग्र करके रक्खे हुए कुशों पर पूर्व मुख होकर बैठें॥ ३५॥

उदक्-उत्तरस्यान्दिशि। प्राङ्-प्राङ्मुखः। एवमग्रेऽपि॥ ३५॥

प्रत्यङ् माणवको दक्षिणजान्वीक्तऽभिमुख आचार्यमुदगग्रेष्वेव दर्भेषु॥ ३६॥

उसी स्थान में बालक (वटु) भी उत्तराग्र रक्खे हुए कुशाओं पर अपनी दाहिनी जाँघ को भूमि पर स्पर्श करते हुए आचार्य के सम्मुख बैठे॥ ३६॥

माणवकस्तु-दक्षिणजान्वक्तः। दक्षिणं जानु अक्तं भूमिगतं यस्य स तथाभूतः। 'अञ्जूव्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु' (रु० प०) गत्यर्थत्वात्कर्त्तरि क्तः (पा० ३।४।७२) भूगतदक्षिणजानुः। आचार्यऽभिमुखः। प्रत्यङ्मुखः। उदगग्रेषु दर्भेषूपविशति। उदङ्-अग्नेरुत्तरत एव॥ ३६॥

अथैनं त्रिः प्रदक्षिणं मुञ्जमेखलां परिहरन् वाचयती-"यं दुरुक्तात् परिबाधमाने-"ति। "ऋतस्य गोप्त्रीति च॥ ३७॥

(मं० ब्रा० १।६।२७-२८)

---

१. परिधानमिहोपस्तरणमावरणञ्च मन्त्रलिङ्गादेव।

तदनन्तर आचार्य इस बालक को तीन फेरा लगाते हुए मूँज की बनी हुई मेखला (करधनी) पहनाकर 'इयं दुरुक्तात्' (म० ब्रा० १.६.२७) और 'ऋतस्य गोप्त्री' (म० ब्रा० १.६.२८) आदि दो मन्त्रों का वाचन करावें ॥ ३७ ॥

अथ-अनन्तरमेव। उपविष्टमेव। एनं-माणवकं परिहरन्-परिवेष्टयन् कटिप्रदेशे प्रादक्षिण्येन त्रिर्वेष्टयन्[1]। परिवेष्टनावृत्तावपि मन्त्रवाचनं सकृदेव 'एकद्रव्ये कर्म्मावृत्तौ सकृन्मन्त्रवाचनमि'-त्युपनिषद्दर्शनात्। मन्त्रौ यथा—

'इयं दुरुक्तात्परिबाधमाना वर्णं पवित्रं पुनतीम आगात्।
प्राणापानाभ्यां बलमाहरन्ती स्वसा देवीसुभगा मेखलेयम् ॥ २७ ॥
ऋतस्य गोप्त्री तपसः परस्वी घ्नती रक्षः सहमाना अरातीः।
सा मा समन्तमभिपर्य्येहि भद्रे! धर्त्तारस्ते मेखले मा रिषाम' ॥२८॥

इति। अनयोरर्थः-ब्रह्मचारी ब्रूते-'इयं' प्रत्यक्षा मेखला मौञ्जी[2] 'नः'

१. अत्र 'मेखलां बध्नीते' (पा० २।२।८।१०) इत्यादि परशाखीयगृह्यसूत्रव्याख्यायां हरिहरमिश्राः। "ततो मेखलाम्मौञ्ज्यादिकां वक्ष्यमाणलक्षणां बध्नीते (आचार्यः) कटिप्रदेशे त्रिवृतां प्रवरसंख्याग्रन्थियुतां प्रादक्षिण्येन परिवेष्टयति। इयमित्यादिमन्त्रेण माणवकपठितेन। (मन्त्रलिङ्गात्) एवं गदाधरभाष्येऽपि-तत आचार्यो माणवककट्यां मेखलां रसनां बध्नीते। अत्रैवं बन्धनम्। आचार्यस्त्रिगुणाम्मेखलामादाय माणवकस्य वटोः कटिप्रदेशे प्रादक्षिण्येन त्रिर्वेष्टयति। तृतीये वेष्टने ग्रन्थयस्त्रयः पञ्च सप्त वा कार्याः। तदुक्तम्—

'त्रिवृता मेखला कार्या त्रिवारं स्यात्समावृता।
तद्ग्रन्थयस्त्रयः कार्य्याः पञ्च वा सप्त वा पुनः।' इति।

अत्र प्रवरसंख्यायां नियमः। त्र्यार्षेयस्य ग्रन्थित्रयं, पञ्चार्षेयस्य पञ्च। सप्तार्षेयस्य सप्तेति गर्गपद्धतौ। वृद्धाचारोऽप्येवमेव। आचार्यकर्तृकं मेखलाबन्धनं, कुमारस्य मन्त्रपाठः इति वासुदेव-मुरारिमिश्र-जयराम-हरिहराः। इत्यादि। तदित्थं कटिशब्दस्य स्कन्धपरत्वं व्यवस्थापयन्तस्तदर्थं मुधा क्लिश्यन्तः प्रतिसमाहिता वेदितव्याः।

२. उपलक्षणमेषा यथावर्णं मौर्व्यादेः। मेखलेति कटिप्रदेशस्थाया रसनाया नाम तथाच हैमः 'मेखलाऽद्रिनितम्बे स्याद्रशनाखड्गबन्धयोरिति। 'स्त्री कट्यां मेखला काञ्ची' त्यमरश्च। स्त्री-स्त्रीलिङ्गाभिधायि। तथाच कटिबन्धनं मेखलेति सर्वसम्मतम्। तत्र तत्र सप्तकीति समाख्यया सप्तहस्ता सा भवति माणवकहस्तेनेति बोध्यम्। तथा च स्मरन्त्यपि-'मेखला सप्तहस्ता स्यात्' इति।

अस्मान्। 'आगात्' आगता। किङ्कुर्वती ? 'दुरुक्तात्' असम्बद्धप्रलापादित। बाल्यकृतात् 'परि' सर्वतो 'बाधमाना' निवारयन्ती। 'पवित्रम्' अपि 'वर्ण' ब्राह्मणादिकं 'पुनती' द्विजत्वसम्पादनेन पावयन्ती। तथाच स्मृतिः—

'मातुर्यदग्रे जायन्ते द्वितीयं मौञ्जिबन्धनात्' इति।

पुनश्च प्राणापानाभ्यां' प्राणापानयोः[१]। 'बलम्' वीर्यम् 'आहरन्ती' आनयन्ती। (आहृत्य स्थापयन्ती) 'स्वसा' स्वसृबद्धिता[२]। 'देवी' दीप्तिमती। अत एव 'सुभगा' सौभाग्यप्रदा। सर्वलोककाम्येति गुणविष्णुः ॥ २७॥

हे 'भद्रे !' शोभने ! 'मेखले !' या त्वं ब्रह्मचारिसम्बन्धिनः 'ऋतस्य' सत्यस्य यज्ञस्य[३] वा 'गोप्त्री पालयित्री 'तपस' ब्रह्मचर्यस्य 'परस्वी' सर्वस्वभूता[४] 'रक्षः' रक्षांसि। जातावेकवचनम्। 'घ्नती' विनाशयन्ती। अरातीः[५] शत्रून्। 'सहमाना'[६] अभिभवन्ती। सा एवम्भूता त्वं मा' मां 'समन्तम्' समन्तात्[७] (सर्वतः) 'अभिपर्येहि' आभिमुख्येनागच्छ[८]। वेष्टयेत्यर्थः। 'ते' तव 'धर्तारः' कटौ धारयितारो वयम्। केनचित् 'मा रिषाम'[९] मा हिंसिष्महि। (हिंसिता मा भवेम) इति ॥ २८॥

अथ कौपीनपरिधानं यज्ञोपवीतधारणञ्च। तत्र प्रथममाचम्य—ब्राह्मणेभ्यः

---

१. षष्ठ्यर्थे चतुर्थी (पा० २।३।६२)।

२. परार्थे प्रयुज्यमानाः शब्दाः सादृश्यङ्गमयन्तीति गुणविष्णुः।

३. तथाच निरुक्तम्-'ऋतमिति सत्यं वा यज्ञं वे'ति (४।१९)।

४. 'गौरादित्वान्' (पा० ४।१।४१) ङीष ॥

५. तथाच श्रुतिः "या नोदूरे तडितो या अरातयोऽभिसन्ति जम्भया ता अनप्नसः" (ऋ० सं० २।६।३०) इति। अत्रारातयः शात्रवीः सेना इति दुर्गाचार्याः। कोशे तु पुल्लिङ्गोऽपि 'रिपौ वैरिसपत्नारि ......अभिघातिपरारातिप्रत्यर्थिपरिपन्थिन' इत्यमरः।

६. 'षहमर्षणे' (भ्वा० आ०) लटः शानच्। मर्षणं क्षमा अभिभवश्चेति (सि० कौ०) दीक्षितचरणाः प्राहुः।

७. जसोऽत्राऽऽमादेशः। (पा० ३।१।८५) व्यत्ययेन।

८. परिरनर्थकः। कुतः पर्यगच्छतीत्यत्र यथा। तथा पाणिनिः स्मरति 'अधिपरी अनर्थकौ' (१।४।९३) इति।

९. कर्म्मणि लुङ् माङ्योगे अड्भावश्च (पा० ६।४।७४) इति।

सपूगयज्ञोपवीतप्रमाण्डाष्टतयदानमाजानिकाचारात् अत्र मानमुपनिषत्सु 'अष्टौ ब्राह्मणान्ग्राहयित्वा विद्या सिद्धिर्भवती' त्यसकृदाम्नायते। तदेतदत्रापि ब्राह्मणेभ्यः पूर्वम्प्रदाय विद्यासिद्धचै यज्ञोपवीतधारणमिति मम प्रतिभाति। एतच्च यज्ञोपवीतधारणं सूत्रानुक्तकालमपि[1] इदानीमेव। अन्यत्र तथादर्शनात्।

तथाच मेखलाबन्धनानन्तरं जातकर्मः—'पवित्रञ्चास्मै प्रयच्छति। 'यज्ञोपवीतम्परमं पवित्रमिति' इति। अपि च —'सदा मन्त्रवदाधार्यमुपवीतन्द्विजातिभिरि'ति देववाक्याद्द्विजत्वसम्पत्त्यनन्तरमेवोपवीतधारणमायाति। अत्राङ्मर्यादार्थे। मर्यादयेति तदर्थः। मर्यादा तूक्ता प्राक् (२।१।१-३) द्विजत्वञ्च मेखलाबन्धनादनन्तरमेव। तथाच याज्ञवल्क्य —

'मातुर्यदग्रे जायन्ते द्वितीयं मौञ्जिबन्धनात्।
ब्राह्मणक्षत्रियविशस्तस्मादेते द्विजातयः॥' इति।

अत्रोक्त देवलवचने मनौ च—

'मेखलामजिनं दण्डमुपवीतङ्कमण्डलुम्।
अप्सु प्रास्य विष्टानि गृहीतान्यानि मन्त्रवत्॥'

इत्येवं समन्त्रकत्वन्तद्ग्रहणे स्मर्यते। तदत्रानुपदेशाच्छाखान्तरोक्तमन्त्रमुपादद्यात्[2]। यथा—

'यज्ञोपवीतमसि यज्ञस्य त्वोपवीतेनोपनह्यामी'ति! अस्यार्थः। हे उपवीत त्वं 'यज्ञोपवीतम्' तन्नाम असि' भवसि। अतः 'त्वा' त्वाम् 'यज्ञस्य' यज्ञसम्बन्धिना। तृतीयार्थे षष्ठी (पा० ३।१।८५) 'उपवीतेन' ब्रह्मसूत्रेण[3]

---

१. यज्ञोपवीतधारणन्तूपक्रम एवं सूत्रकारेणोक्तम् - यज्ञोपवीतिनाऽऽचान्तोदकेन च कृत्यम्' (१।१।२) इति। कालस्तु नोक्त इत्यन्यत्रोक्तोऽत्रोद्ध्रियते। जातावेकवचनम्। मनुरपि मेखलानन्तर 'कार्पासमुपवीतं स्वाद्विप्रस्योर्ध्ववृतन्त्रिवृद'—त्याह। याज्ञवल्क्योऽपि 'दण्डाजिनोपवीतानि मेखलाश्चैव धारयेदि'-ति ब्रह्मचारिकर्तव्यतया स्मरति।

२ शाखापदेनात्र साम्न एव बोध्यम्॥ याजुषाम्मन्त्रान्तराम्नानात्।

३. तथा चाग्नेयकोशः "उपवीतं ब्रह्मसूत्रं प्रोद्धृते दक्षिणे करे" इति उपवीतेनेति प्रकारित्वन्तृतीयार्थः। प्रकारस्तु सूत्रकृता (१ २।२) उक्त एव। यथा चाभिधानेऽपि 'प्रोद्धृते दक्षिणे करे' इति। तथाच भर्तृहरिः। 'प्रकृत्यादि (पा० २।३।१८) गणाज्जाता तृतीया तु तदात्मताम्। अवच्छेदकताबुद्धिप्रकारत्वादि शसती'ति।

'उपनह्यामि' परिदधामि। यज्ञोपवीतलक्षणमुक्तमधस्तात्। (१।२।१-३) अथोक्तम् (२।१०।९) अजिनमपीदानीमेव। 'मित्रस्य चक्षुरि'ति तैत्तिरीयशाखीयमन्त्रेण परिधापयेत्। तदेतत्सर्वम् 'यन्नाम्नातं स्वशाखायामि'-ति कातीयपरिभाषणाद् बोध्यम्। तथा चाश्वलायनः 'यज्ञोपवीतमजिनञ्चे'ति। एवञ्च द्रव्यकथनसूत्रक्रमेण न तद्धारणम्। तत्र क्रमेऽपि तात्पर्यकल्पने दण्डेऽपि तदापत्तेरित्याश्वलायनोक्तक्रम एव ग्राह्यः। पद्धतिरप्येवम्। अजिनधारणे मन्त्रस्तैत्तिरीयशाखायामुक्त उपादीयते पद्धतिकृद्भिर्म्महामहकवीरेश्वरैर्यथा—

'ॐ मित्रस्यचक्षुर्द्धरुणं बलीयस्तेजो यशस्वि स्थविरं समिद्धम्।
अनाहनस्यं वसनञ्जरिष्णुपरीदं वाज्यजिनन्दधेऽहम्'॥ १॥

अस्यार्थः—'अहमिदमजिनं' मृगचर्म्मं 'परिदधे' सर्वतोधारयामि (उत्तरीय भूतम्) कथम्भूतम्? 'मित्रस्य'—मित्राख्यदेवस्य 'चक्षु'र्न्नेत्ररूपम्। पुनः कथम्भूतम्? 'धरुणम्' धारणार्हम्। पुनः कथम्भूतम्? 'बलीयः अतिशयेन बलवत् शीतनिवृत्तिकारणम्। पुनःकथम्भूतम्? 'तेजः। पापतनूकरणसमर्थम्। तिजनिशाने' (भ्वा० प०) औणादिकोऽसुन्। पुनः कथम्भूतम्? 'यशस्वि' धारणेन यशोदानयोग्यम्। पुनः कथंभूतं 'स्थविरम्'। जीर्णं बहुदिनधारणयोग्यम्। पुनः कथम्भूतं 'समिद्धम्' अत्यन्तदीप्तिकारकम्। पुनः कथंभूतम्? 'अनाहनस्यम्' छेदान्यभोगक्षालनरहितम्। पुनः कथंभूतम्? 'वसनम्' आच्छादनयोग्यं 'जरिष्णु' कालान्तरेण वार्द्धक्यधर्मविशिष्टम्। 'वाजि' उद्वेजनम्, भयदातृपरेषामित्यर्थः। वाजीशब्दः पृषोदरादित्वात्सिद्धः। अत्र 'ओविजीभयचलनयोरि'ति धातुः। (मन्त्रप्रश्नाख्यपरिशिष्टमन्त्रविभागस्य रामाण्डारभाष्ये समासादितेय व्याख्या)॥ ३७॥

अथोदपीत्य—"धीहि भोः सावित्री मा भवाननु ब्रवीत्वि"—ति॥ ३८॥

इसके बाद बालक आचार्य (गुरु) के सन्निकट हाथ जोड़कर प्रपन्न होकर प्रार्थना करे कि—'हे गुरो! मुझे आप सावित्री का उपदेश करें'॥ ३८॥

अथेति पूर्वोक्तविशिष्टानन्तर्यद्योतनार्थः। अथ यज्ञोपवीतधारणानन्तरं माणवक आचार्यमुपसीदति। कृताञ्जलिपुटआचार्यगतचक्षुरुपसन्नो[१] भव॰

---

१. अत्रोपसत्तिर्न्नाम पादोपसङ्ग्रहणम्। उपसन्न इति कर्तृक्तान्तम्। सीदतेर्गत्यर्थत्वात् 'गत्यर्थाकर्म्मके' (पा० ३।४।७२) त्यादिना क्तः।

ति'अधीहि' इत्यनेन। अधीहि अध्यापय[1] अन्तर्भावितण्यर्थः। भोः! इत्याचार्यस्य सम्बोधनम्। अध्यापनस्यानेकविधत्वाद्विशेषप्रतिपत्तये पुनः स्पष्टमुच्यते-सावित्रीं-सवितृदेवताकाङ्गायत्रीम्॥ ३८॥

माणवकेनैवमभिहितः आचार्यः—

तस्मा अन्वाह-पच्छोऽर्द्धर्चशऋक्छ इति॥ ३६॥

इस प्रकार प्रार्थना के अनन्तर आचार्य उस बालक को पहले एक-एक चरण करके, फिर आधी-आधी ऋचा करके, पुनः सम्पूर्ण ऋचा की आवृत्ति करते हुए सावित्री का उपदेश करे॥ ३९।

तस्मै-माणवकाय अन्वाह-अनुक्रमेण ब्रूयात्। प्रकारमाह-पच्छ इति। अत्र द्वितीयैकवचनान्तात्पादशब्दाद्वीप्सायां (पा० ५।२।५) शस्प्रत्यय 'ऋचः शे' (पा० ६।३।५५) इति पादशब्दस्य पद्भावः। प्रथमं पादं, ततोऽर्द्धर्चशः। ऋचोऽर्द्धमर्द्धङ्कृत्वा। (प्रथमं पादद्वयं, तत एकम्पादम्) तत ऋक्छः। समस्तामृचं गायत्रीमित्यर्थः। (मं० ब्रा० १।६।२९) अर्द्धर्चश इति कृतसमासाच्छः[2]। अत्र पारस्करः-'अथास्मै सावित्रीमन्वाहोत्तरतोऽग्नेः प्रत्यङ्मुखायोपविष्टायोपसन्नाय समीक्षमाणाय समीक्षिताय, दक्षिणतस्तिष्ठत आसीनायेत्येके, पच्छोऽर्द्धर्चशः। कृत्स्नाञ्च तृतीयेन सहानुवर्त्तयन्'। इति। सावित्रीन्तत्सवितुरिति त्यृचम्। उपसन्नाय कृतपादोपसङ्ग्रहणाय। सहानुवर्तयन्। तृतीयवारे माणवकेन सह पठन्। एतच्च शक्त्यपेक्षयाभिधानम्। यदि माणवको मन्दमेधत्वाद्यथावदध्येतुन्न शक्नुयात्तदा यथाशक्त्यस्याध्यापयेत्। तथाचाश्वलायनगृह्यम् 'सावित्री-

---

१. वस्तुतस्त्वध्यापनं वेदस्य पुरःस्वयमधीत्य पश्चादन्तेवासिना सह पठनं वदिकसमयप्रसिद्धमिति पुरोऽध्ययनं प्रार्थ्यतेऽधीहि भो इति।

२. ऋचोर्द्धमर्द्धर्च्चमिति षष्ठीसमासः (पा० २।२।२) अत्रार्द्धशब्दस्य समासवाचित्वाभावेऽपि आर्ष एव समासः। ततश्चाप्रत्ययः। (पा० ५।४।७४) समासान्तः।

३. वैके इति पाठः साधीयान्। दक्षिणतो-दक्षिणस्यां दिशि तिष्ठते ऊर्ध्वंभूताय। आसीनायोपविष्टाय। अत्रैकशब्दः प्रधानार्थः। उत्तरतस्तिष्ठतो दक्षिणकर्णे गायत्र्युपदेशो दक्षिणाभिमुखत्वामन्तराऽसम्भवी वेदाभ्यासश्च दक्षिणमुखस्यामङ्गलतयापि निषिद्ध इति।

४. सकृन्मात्रोपदेशेन।

मन्वाह पच्छोर्द्धर्चशः सर्वय्यँथाशक्ति वाचयीते'ति । अत्रेतिशब्दः क्रमप्रकार-ज्ञापनार्थः ॥ ३९ ॥

महाव्याहृतीश्च विहृता ॐकारान्ताः ॥ ४० ॥

(मं० ब्रा० १।६।३०)

तदनन्तर 'भूः, भुवः और स्वः' इन तीन महाव्याहृतियों को अलग अलग करके पढ़ावें और ॐ कार का भी उपदेश कराना चाहिए ॥ ४० ।

विहृताः। विकृष्य हृताः पृथक्कृताः। विहिता इतिपाठे प्रयुक्ता इत्यर्थः। विहता इति पाठे पृथग्भूता न संहता इति यावत्। केचिद्वि-कृता इति पठन्ति। तत्रापि पृथग्भाव एवविकार इति तुल्योऽर्थ। ओंका-रान्ताः। ओंकारः अन्ते यासान्ताः। तेन विहृतानामेवोंकारान्तत्वम्। एवञ्च भूरों भुवरों स्वरों। इति प्रयोगः सिध्यति। इति नारायण–मुरारि-मिश्रादयः भवदेवभट्टस्तु ॐभूरित्येवम्प्रायुङ्क्त। तस्य मतेऽन्तशब्द आद्यर्थः। 'पर्युक्षणान्तान्व्यतिहरन्' (१।३।५) इत्यत्र यथा। बीरेश्वरस्तु तदु-भयमनुसरन् ॐ भूरों, ॐ भुवरों, ॐ स्वरों, इत्येवं स्वपद्धतौ प्रायुङ्क्त। तत्र मन्त्रादौ प्रणवदानं सम्प्रदायसिद्धमन्ते च सूत्र' विहितमिति बोध्यम् ॥ ४० ।

वार्क्षञ्चास्मै दण्डम्प्रयच्छन्वाचयति "सुश्रवः सुश्रवसं मा कुर्वि"-ति ॥ ४१ ॥

(मं० ब्रा० १।६।३१)

---

१. यत्तु– 'ब्रह्मणः प्रणवं कुर्यादादावन्ते च सर्वदा।
क्षरत्यनोङ्कृतम्पूर्वम्परस्ताच्च विशीर्यते ॥"

इति मनुवचनन्तद्वेदपारायणविषयन्न तु महाव्याहृतेः सावित्र्या वा प्रदानविषयम्। जपविषये तु गायत्र्या एव योगियाज्ञवल्क्येनाद्यन्तयोः प्रणव-योग उक्तः 'ॐकारः पूर्वमुच्चार्यो भुर्भुवः स्वस्ततः परम्। गायत्री प्रणवश्चान्ते जप्येह्येवमुदाहृतम्।' इति। एतेन 'एतदक्षरमेताञ्च जपेद्व्याहृतिपूर्विकाम्। सन्ध्ययोर्वेदविद्विप्रो वेद पुण्येन युज्यते।' इति मनुवचने जपपदं पाठपरम्। वेदपुण्येन युज्यत इतिफलाभिधानात्। वेदपदमत्र वेदपारायणपरम्। 'जप-व्याक्तायां वाची' (भ्वा० प०) ति स्मरणात्। पूर्वत्र तु 'जपमानसे चे'–(भ्वा० प०) ति विशेषः। एतदक्षरम्प्रणवरूपम् 'अकारञ्चाप्युकारञ्च मकारश्च प्रजा-पतिः। वेदत्रयान्निरदुहद् भूर्भुव स्वरितीति चे'ति तदुक्तेः। एतां गायत्रीम्। व्याहृतिपूर्विकां भूर्भुवःस्वरितित्येतत्पूर्विकाम्।

इसके बाद आचार्य इस बालक के हाथ में पलाश वृक्ष का दण्ड देकर 'सुश्रवः सुश्रवसं मा कुरु' आदि मन्त्र का वाचन करावें ॥ ४१ ॥

वृक्षस्येदं वार्क्षम् । प्राप्तदण्डानुवादेन प्रदानमात्रविधानात्पार्णा[1]दिरूपमित्यर्थः । अत्र चन्द्रकान्तः । वार्क्षञ्चेति चशब्दादजिनमपीदानीमेव प्रयच्छतीति व्याचक्षाणो दण्ड धारणोत्तरमजिनधारणमभिप्रैति तदाचारविरुद्धम् । मनुनाऽपि 'मेखलामजिनन्दण्डम्' इति क्रमएवाभ्यधायि । एवमाश्वलायनेनापि मेखलामुपक्रम्य 'यज्ञोपवीतमजिनं चे' त्युक्तमित्युक्तमनुपदम् । तमिमन्दण्डमस्मै ब्रह्मचारिणे । प्रयच्छन्–ददत् 'सुश्रवः' इत्यादिमन्त्रं वाचयति ब्रह्मचारिणमेव । मन्त्रो यथा—

'सुश्रवः सुश्रवसं मा कुरु । यथा त्वमग्ने सुश्रवः सुश्रवा
देवष्वेवमहं सुश्रवः सुश्रवा ब्राह्मणेषु भूयासम् ।। ३१ ।। इति ।

अस्यार्थः—दण्डं गृह्णन्ब्रह्मचारी तमग्निञ्च प्रार्थयते—हे सुश्रवः ? शोभनं श्रवो यशः प्रशंसा[2] यस्य स सुश्रवात् सत्संबोधने । हे शोभनकीर्त्ते दण्ड ! यथा त्वं वेदधारणार्थज्ञानादिना[3] लोके प्रख्यातयशाः । एवं 'मा' माम् अपि 'सुश्रवसं' सुयशसं 'कुरु' । एवं दण्डं प्रार्थ्याग्निमपि प्रार्थयते–हे अग्ने ! सुश्रवः शोभनकीर्त्ते !' 'यथा त्वं' 'देवेषु' देवमध्ये 'सुश्रवाः' 'शोभनयशाः' [सुयशाः] असि । 'एवमहम्' अपि 'हे सुश्रवः[4] ! शोभनकीर्त्ते । 'ब्राह्मणेषु' मनुष्येषु[5] 'सुश्रवाः' सुयशाः 'भूयासम्' भवेम । प्रशंसायामाशिषि लिङ् ।। ३१ ।। इति ।। ४१ ।

अथ भैक्षञ्चरति ।। ४२ ॥

अब उपनयन के अनन्तर बालक भिक्षाचरण करे ॥ ४२ ॥

अथ शब्दोऽयं विशिष्टमानन्तर्यं द्योतयति—यद्दण्डमजिनञ्च प्रतिगृह्या-

---

१　पर्णः पलाशः तस्यायं पार्णः । 'पलाशः किंशुकः पर्णोवातपोतः' इत्यमरः । आदिना यथासूत्रितम् (२।१०।११) ।

२.　शृणोतेः कर्मण्यसुन् (उ० ४।८८) श्रूयेमहीति श्रवः । यशः प्रशंसा वा । 'श्रवस्याच्छा पशुमच्च यूथम् ।' (ऋ० सं० ३।७।११।५) इति । प्रशंसाश्च पृथञ्चे'ति (४।२४) निरुक्तम् ।

३.　दण्डस्यार्थज्ञानहेतुता व्रतसम्पादनद्वारा सौकर्यातिशयं द्योतयितुं श्रुत्याऽभिहिता ।

४.　पुनरामन्त्रणेन दण्डादग्नेः सुश्रवस्त्वातिशयः ख्याप्यते ।

५.　अत्र विशेषाभिधायिनोऽपि सामान्यपरत्वं गुणविष्ण्वादिभिरुक्तम् ।

देशश्च गुरोरङ्गीकृत्य भास्करमुपस्थायाग्नि प्रदक्षिणीकृत्य अथ—अनन्तरं भैक्षं भिक्षासमूहम्। 'भिक्षादिभ्योऽण्' (पा० ४।२।३८) इति सामूहिकोऽणादिवृद्धिः। 'भैक्षं भिक्षाकदम्बकम्' इत्यमरः। चरति-चरेत्-आहरेदित्यर्थः। तथा च मनुः—

'प्रतिगृह्येप्सितं दण्डमुपस्थाय च भास्करम्।
प्रदक्षिणं परीत्याग्निश्चरेद् भैक्षं यथाविधि ॥'' इति।

उपस्थाय—अभिमुखमवस्थाय ॥ ४२ ॥

मातरमेवाग्रे, द्वे चान्ये सुहृदौ, यावत्यो वा सन्निहिताः स्युः ॥ ४३ ॥

सबसे पहले अपनी माता से भिक्षा माँगे। तब माता की दो अन्य सहेलियों से भिक्षा माँगे, अथवा वहाँ पर जितनी भी स्त्रियाँ उपस्थित हों सभी से माता से आरम्भ करके भिक्षा माँगनी चाहिए ॥ ४३ ॥

विमर्श—इस स्थल पर गोभिल पुरुष से भिक्षा माँगने का उल्लेख नहीं करते हैं—यह ध्यान रखना चाहिए ॥ ४३ ॥

मातरम्—स्वजननीमेवाग्रे-प्रथमं, 'प्रार्थयेदि'ति शेषः। सुहृदौ-स्निग्धहृदये। यावत्यो वा योषितः। सन्निहिताः। सन्निधौ स्थिताः। स्युः-भवेयुः। न चैनं विमानयेयुस्तावतीर्वा प्रार्थयेत्। तथा च मनुः—

'मातरं वा स्वसारं वा मातुर्वा भगिनीं निजाम्।
भिक्षेत भिक्षां प्रथमं याचैनं न विमानयेत् ॥' इति।

भविष्यपुराणे चोक्तमनुवचनान्ते-सुवर्णं रजतं रत्नं सा पात्रेऽस्य विनिःक्षिपेत् इति पठ्यते। सा-भिक्षादात्री मात्रादिः। निजां—सोदर्याम्। प्रथम-मुपनयनकालिक'भिक्षायाम्। सन्निहिता इत्युक्त्या

---

१. शौनकः। "अप्रत्याख्यायिनमग्रे भिक्षेत्। अप्रत्यख्यायिनीं वा" इति। मनुः—

"गुरोः कुले न भिक्षेत न ज्ञातिकुलबन्धुषु।
अलाभे त्वन्यगेहानां पूर्वंपूर्वं विवर्जयेत् ॥" इति।

पारस्करः "तिस्रोऽप्रत्याख्यायिन्यः। षड्द्वादशाऽपरिमिता वे"ति। "याचनीया" इतिशेषः। यद्वा प्रथमा द्वितीयार्थे। भिक्षेतेति क्रियापदं पूर्वसूत्रादनुषज्यते। न प्रत्याख्यातुं शीलं यासान्ता अप्रत्याख्यायिन्यः। तास्तिस्रः षड् वा द्वादश वा अपरिमिता असंख्या वा स्त्रियो भिक्षेतेत्यर्थः। एते भिक्षाविकल्पा आहारपर्याप्त्यपेक्षयेति हरिहरादयः। तथा च याज्ञवल्क्यः—

तत्रस्था एव भिक्षेत् न पुनः स्थानान्तरं गत्वेति बोद्धव्यम्। तत्प्रकारमाह—मनुः—

'भवत्पूर्वं चरेद् भैक्षमुपनीतो द्विजोत्तमः।
भवन्मध्यं तु राजन्यो वैश्यस्तु भवदुत्तरम्॥' इति।

एवञ्च 'भवति ! भिक्षां देही'—ति वाक्येन ब्राह्मणेन, 'भिक्षां भवति ! देही—'ति क्षत्रियेण। भिक्षां देहि भवती'—ति वैश्येन भिक्षाचरणङ्कर्त्तव्यमित्यायाति। हारीतः—

'सप्ताक्षरांश्चरेद् भिक्षां क्षाञ्च हिञ्च न वर्जयेदि'—ति।

क्षाञ्च हिञ्चेत्यनेन भिक्षां देहीति पदयोः प्रयोगोऽप्यावश्यक एवेति कल्पतरुः। गौतमः—'आदिमध्यान्तेषु भवच्छब्दः प्रयोज्यो वर्णाऽनुपूर्व्येणे'—ति। यमः—

'हस्तदत्ता च या भिक्षा सलितं व्यञ्जनानि च।
भोक्ता त्वशुचितां याति दाता स्वर्गन्न गच्छति॥' इति॥ ४३॥

आचार्याय भैक्षं निवेदयति॥ ४४॥

सभी भिक्षा द्रव्य का संग्रह कर बालक आचार्य को निवेदित करे॥ ४४॥

आचार्यायोपनेत्रे। भैक्षं-लब्धभिक्षानिचयम्। 'भिक्षादिभ्योऽण्' (पा० ४।२।३८) इति सामूहिकेऽणि आदिवृद्धिः। 'भैक्षं भिक्षाकदम्बकमि'त्यमरः। निवेदयति। निवेदये-दर्पयेत्। निवेदनप्रकारञ्च 'भैक्षम्भो।' इत्याचार्याय निवेद्य तद्दत्तं प्रतिगृह्णीयात् इति। आचार्येण तद्दानञ्च 'भुङ्क्ष्वे'त्यनुज्ञानरूपम्। अत्राचार्यः प्रथमां भिक्षां गृहीत्वा द्वितीयादिकां 'भुङ्क्ष्वे'त्यभिधाय ब्रह्मचारिण एव दद्यात्। स च तामादाय धारयेत्[1]॥ ४४॥

"ब्राह्मणेषु चरेद् भैक्षमनिन्द्येष्वात्मवृत्तये"। इति।

आत्मनः शरीरस्य वृत्तये जीवनोपयोगायैव भिक्षेत नाधिकमिति तदर्थः। ब्राह्मणेषु चरेदिति च ब्राह्मणविषय एव। अत एव व्यासः—"ब्राह्मणक्षत्रियविशश्चरेयुर्भैक्षमन्वहम्। सजातीयगृहेष्वेव, सार्ववर्णिकमेव वे"ति। तदेतत्सर्वन्दिनान्तरसाधारणमिति द्रष्टव्यम्॥

१. आचार्यश्च कर्म्मशेषं समापयेत्। अत्र चन्द्रकान्तभाष्ये हेतुरुक्तः। "परतो-ब्रह्मचारिण एव कर्मोपदेशादिदानीमाचार्यकर्म्मणोऽवसानावगते'रिति। अतः परश्चाग्रिमसूत्रमवतारयंस्तत्रैवाह—अवसितमुपनयनकर्म्म, प्रासङ्गिकमिदानीं ब्रह्मचारिणः कर्त्तव्यमनुवर्त्तामहे—स खल्वयं ब्रह्मचारी—"त्यादि।

स्वयञ्च तद्दिने—

तिष्ठत्यहः शेषं वाग्यतः ॥ ४५ ॥

भिक्षाचरण के अनन्तर शेष बचे हुए दिन को बालक सयत-वाक् होकर (जितना आवश्यक हो उतना ही बोलते हुए) वितावे ॥ ४५ ॥

अहश्शेषमासायम्मौनी तिष्ठेदित्यर्थः। वक्ष्यमाणकर्म्मार्थमेतत्। तेनान्य-दिने—मनुः—

'समाहृत्य तु तद्भैक्षं यावदर्थममायया।
निवेद्य गुरवेऽश्नीयादाचम्य प्राङ्मुखः शुचिः ॥ इति ॥

यावदिति। यावदर्थ[1]जातमुपात्तं तदपह्नवेन। एवञ्चाचार्यायादृष्टार्थ-मिदन्निवेदन[2] मात्रन्न तु दानमेवेति द्रष्टव्यम् ॥ ४५ ॥

अस्तमिते समिधमादधाति "अग्नये समिधमाहार्षम्" इति ॥ ४६ ॥

(मं० ब्रा० १।६।३२)

सूर्यास्त होने पर बालक ब्रह्मचारी 'अग्नये समिधमाहार्षम्' (मं० ब्रा० १.६.३२) आदि मन्त्र पढ़कर अग्नि में एक समिधा की लकड़ी डाले ॥ ४६ ॥

अस्तमिते—अस्तङ्गते सवितरि। 'अग्नये समिधमि' ति मन्त्रेण समिध-मुक्तलक्षणम् (१।१।७) आदधाति—आदध्यादग्नौ प्रक्षिपेत्। मन्त्रो यथा—
'अग्नये समिधमाहार्षं बृहते जातवेदसे। यथा त्वमग्ने! समिधा समिध्य-

---

१. अर्थजात इति पूर्वव्याख्यातृभिरुक्तन्तद् "जातिर्जातञ्च सामान्यमि" त्वाभिधानविरुद्धं प्रतिभाति। अर्थशब्दोऽत्र वस्तुवचनः "अर्थोऽभिधेयरैवस्तुप्रयोजन-निवृत्तिषु" इत्यमरात्। "यावदवधारणे" (पा० २।१।८) इत्यव्ययीभाव समास इति च पूर्णव्याख्यातं, वस्तुतस्तु प्रयोजनवचनत्वेऽपि न क्षतिः। यावता गुरोः प्रयोजनन्तावत्तस्मै निवेदनीयमकपटवृत्त्या। अवशिष्टञ्च "भुङ्क्ष्वे"—ति तेनाभ्यनुज्ञातं स्वयम्भक्षयेद्यथालब्धमिति तदर्थः। अत्र नाव्ययीभावः किन्तु तृतीयासमासः। अत्र "यावदन्नममायये"ति पाठः कुल्लूकेन धृतः। व्याख्या-तश्च तद्भैक्ष्यं बहुभ्य आहृत्य यावदन्नं तृप्तिमात्रोचितं गुरवे निवेद्य—निवेदनं कृत्वा अमायया न कदन्नेन सदन्नं प्रच्छाद्यैवमेतद्गुरुर्ग्रहीष्यतीत्यादि-मायाव्यतिरेकेण तदनुज्ञात आचमनं कृत्वा शुचिः सन्भुञ्जीत प्राङ्मुख इति।

२. निवेदनफलन्तु हितमितपथ्यालोचनं, येनास्य ब्रह्मचर्यन्न स्खलेदिति।

स्यैवमहमायुषा मेधया वर्चसा प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन धनेनान्नाद्येन समेधिषीय स्वाहा'। ३२ ॥ इति ॥

अस्यार्थः—ब्रह्मचारीब्रूते– अहम् 'अग्नये' 'समिधम्' उक्तलक्षणम्। 'आहार्षम्' आहृतवान्। किंभूताय ? 'बृहते' महते (निघं० ३।३।४) 'जातवेदसे' जातप्रज्ञानाय–जातधनाय[1] वा। इति परोक्षमुक्त्वा प्रत्यक्षमाह—हे 'अग्ने !' 'यथा त्वम्' अनया मदाहृतया 'समिधा' 'समिध्यसि'[2] दीप्यसे। 'एवमहम्' 'आयुषा' जीवितकालेन[3]। 'मेधया' धारणावत्या बुध्या 'वर्चसा' तेजसा[4] 'प्रजया' पुत्रपौत्रादिरूपया सन्तत्या[5]। 'पशुभि ' गवादिभिः 'ब्रह्मवर्चसेन' ब्राह्मणतेजसा[6] 'धनेन' व्रीहियवादिना 'समेधिषीय' वृद्धिमाप्नुयाम् इति ॥ ३२ ॥

अत्र मनुः—

'अग्न्याधानं भैक्षचर्यामधः शय्यां गुरोर्हितम्।
आसमावर्त्तनात्कुर्यात् कृतोपनयनो द्विजः ॥' इति।

तथा चात्रास्तमिते अस्तमिते इति वीप्सया विरोधः परिहर्त्तव्यः। हारीतोऽपि

'पुरा जग्राह वं मृत्युर्हिसन्वै ब्रह्मचारिणम्।
अग्निस्तं मोचयामास तस्मात्परिचरेत्सदा ॥
ब्रह्मचारी यदा त्वग्नावादध्यात्समिधन्नहि।
गृह्णीयात्तन्तदा मृत्युरादध्यात्समिधन्ततः ॥' इति।

अयमपि चोपरिष्टाद्वक्ष्यति–'मेखलाधारण भैक्षचर्यादण्डसमिदाधानोपस्पर्शन–प्रातरभिवादा इत्येते नित्यवदर्था' इति। य'त्वस्तमित' इत्यभिधानात् प्रात समिदाधानं न कर्त्तव्यमिति केचित्तत्र 'सायमादि-

---

१. वेद इति वेत्तेर्ज्ञानार्थात् (अ० प०) धन(लाभा)र्थाद्वा (निघं० ३।३।४) भावेऽसुनि (उ० ४।८८ ततश्च जातं वेदो येनेति बहुव्रीहिः।

२. "ञिइन्धीदीप्तौ" (रु० आ०) कर्मणि लट्। व्यत्ययेन (पा० ३।१।८५) परस्मैपदम्। यकि (पा० ३।१।६७) 'अनिदिताम्' (पा० ६।४ २४) ति नलोपः।

३. 'आयुर्जीवितकालीने'त्यमरः।

४. 'तेजः पुरीषयोर्वर्चः' इत्यमरः।

५. "प्रजा स्यात्सन्ततौ जने" इत्यमरः।

६. ब्रह्मणोवर्च्च इति षष्ठीसमासे "ब्रह्महस्तिभ्यां वर्च्चसः" (पा० ५।४।७८) इति टच्समासान्तः।

प्रातरन्तमेकङ्कर्म्म प्रचक्षते' इति कर्म्मप्रदीपात्। सायमारब्धस्य प्रातरेवापवर्गं इत्यर्थादुक्तमिति लाघवार्थं कण्ठरवेण नोक्तं सूत्रकृता। न तु कर्त्तव्यताविरहादेवेति बोध्यम्। तथा च मनुः—

'दूरादाहृत्य समिधः सन्निदध्याद्विहायसि।
सायं प्रातश्च जुहुयात्ताभिरग्निमतन्द्रितः॥' इति।

अत्र दूरादपीत्यप्यर्थोऽनुप्रवेश्यः। श्रुतिश्च 'ततः सायं प्रातः समिधमादध्यादि'-ति। अत्रैयमेवैषां (सामगानां) प्रधानाहुतिरित्यस्याः पुरस्ताच्चोपरिष्टाच्चेन्धनार्थं समिद्भवतीति कात्यायनः स्मरति—

'समिदादिषु होमेषु मन्त्रदैवतवर्जिता।
पुरस्ताच्चोपरिष्टाच्च इन्धनार्थं समिद्भवेत्॥' इति।

क्षिप्रहोमोऽयमिति न न्यञ्चकरणादाति भाष्यकृतो नारायणभट्टाः प्राहुः॥ इदञ्च समिदाधानं सन्ध्ययोः सन्ध्योपासनानन्तरमेव। तथाच कात्यायनः—

'ततः परं प्रवक्ष्यामि सन्ध्योपासनिकं विधम्।
अनर्हः कर्म्मणां विप्रः सन्ध्याहीनो यतः स्मृतः॥' इति।

विप्र इति कर्तृमात्रोपलक्षणम्॥ दक्षः—

'सन्ध्याहीनोऽशुचिर्न्नित्यमनर्हः सर्वकर्म्मसु।
यदन्यत्कुरुते कर्म्म न तस्य फलभाग्भवेत्॥' इति।

तदनन्तरं सन्ध्ययोरग्निमभिवाद्य गुरुमप्यभिवादयेत्। तथा च गृह्यान्तरम्—'उभयत्राग्निं समिध्य गोत्रनामनी प्रोच्याभिवाद्याचार्यमभिवादयेदि'ति॥ ४७॥

अथेदानीं ब्रह्मचारिणो भोजनकालः।

'कृताग्निकार्यो भुञ्जीत वाग्यतो गुर्वनुज्ञया।'

इति स्मरणात्। स खल्वयं ब्रह्मचारी उपनयनकर्म्मण ऊर्ध्वम्—

त्रिरात्रमक्षारलवणाशी भवति॥ ४७॥

---

१. अत्र बोरपद्धतौ आचार्याय भैक्षसमर्पणानन्तरम्—"अथ समिदाधानं यदि तस्मिन्नेव क्षणे क्रियते तदा तत्रैवाग्नावाचारात्कर्त्तव्यम्। अथ सन्ध्यामुपास्यास्तङ्गते सवितरि यदा क्रियते तदा कुशण्डिकामनुसन्धाय व्याहृतिहोमङ्कृत्वा प्रयोग इति। तत्र प्रथमं समन्त्रां समिधमाधाय अपरां समिधममन्त्रां क्षिपेत्ततो वामदेव्यगानान्तं तन्त्रं समापयेदिति चोक्तम्।

इस ब्रह्मचारी को उपनयन के बाद से लेकर तीन दिन तक खट्टा-तीता और नमक नहीं खाना चाहिए ॥ ४७ ॥

उपनीतश्चाहोरात्रत्रयमक्षारलवणं भुञ्जीतेत्यर्थः। अक्षारलवणं यथा-परिभाषितमुक्तमधस्तात् (२।३।१५) ॥ ४७ ॥

तस्यान्ते सावित्रश्चरुः ॥ ४८ ॥

इसके बाद तीन दिन के अनन्तर चौथे दिन चरु पका कर सविता देवता के उद्देश्य से आहुति प्रदान करे ॥ ४८ ॥

तस्य-व्रतस्य। न पुनरुपनयनकर्म्मणः न वा सन्निधानात् त्रिरात्रस्य। 'अव्यक्त प्रधानगामी'ति न्यायात्। अन्यथा-अस्यान्त इति ब्रूयात्। तथा च गृह्यान्तरम्—

'व्रतान्ते सावित्रश्चरुर्गोदानादीन्यनुप्रवचनीयानि व्रतान्यैन्द्रस्थालीपाकान्तानि भवन्ती'-ति। सविता देवताऽस्येति सावित्रः। 'तेन 'सवित्रे त्वा जुष्टं निर्वपामि' इति निर्वापः। 'सवित्रे स्वाहे'ति प्रधानहोमः ॥ ४८ ॥

अवसिना प्रासङ्गिकी कथा प्रकृतिमिदानीमुच्यते —

यथार्थम् ॥ ४९ ॥

इसके बाद यथा प्रयोजन विश्राम आदि कार्य करे ॥ ४९ ॥

उपनयनकर्म्मणः परिसमाप्तिरनेनोच्यते ॥ ४९ ॥

गौर्दक्षिणा ॥ ५० ॥

उपनयन संस्कार की दक्षिणा एक गाय होती है ॥ ५० ॥

॥ इति श्रीमद्गोभिलीये गृह्यसूत्रे द्वितीयप्रपाठकस्य दशमी कण्डिका ॥ १० ॥

॥ इति द्वितीय प्रपाठकः ॥ २ ॥

---

१. एतत्प्रकारश्चोक्तोऽधस्तात्। "अथोखलमुशले" इत्यादि (१।७।१) तत्राग्नयोवेतिस्थाने ऊह इहाभिहितः। एवमुक्तसूत्रादष्टसूत्री। ततः पुनः "तद्यवा (१।८।३) इत्यारभ्य 'महाव्याहृतिभिराज्येनाभिजुहुयात्' (१।८।५) इत्यन्तम्। पुन 'हुं त्वैतन्' (१।८।१९) इत्यादिसूत्रद्वयं सावित्रचरुहोमसूत्रतया मुरारिमिश्रैर्योजितम्। एतदन्ते व ततस्तन्त्रसमापनम्। व्रतान्तविहितस्याप्यस्य व्रताशक्तस्योपनयनदिन एव समावर्त्तनपक्षे तत्पूर्वङ्करण, समावर्त्तनपूर्वकालविहितत्वादिति द्रष्टव्यम्। पद्धतिरप्येवमित्युक्तम्।

उपनयनकर्म्मण एव। नोपनयनव्रतस्य। उपनयनकर्म्मणोऽनन्तरमा-'चार्याय वरो दक्षिणा' इति गृह्यान्तरसूत्रणात्[1] 'गौर्वरो ब्राह्मणस्ये'-( )ति च वक्ष्यति। [2]मुरारिमिश्रास्तु-यथार्थङ्गौर्दक्षिणेत्येकमेव सूत्रं लिखन्ति-स्म। व्याचक्षत च-इयञ्चोपनयनकर्मदक्षिणा, न तु व्रतान्तदक्षिणा। यथा-र्थशब्दस्यानन्तरोक्तकर्म्मशेषसमापनार्थत्वात्। 'कर्म्मशेषसमाप्तौ गौराचार्याय देया ब्रह्मणे पूर्णपात्रादीनी'-ति गृह्यान्तरवचनाच्च। नारायण-शूलपाणि-प्रभृतयोऽप्येवम् इति। अत्रान्ते यथार्थमित्यादेरभ्यासः प्रपाठकसमाप्ति-द्योतकः पठ्यतेऽन्यत्र[3]॥ ५०॥

॥ इत्युपनयनम् ॥

॥ इति श्री मद्गोभिलीयगृह्यसूत्रव्याख्याम्मृदुलाख्यायां मुकुन्दशर्म्मकृतसङ्कलितायां द्वितीय प्रपाठकस्य दशमी कण्डिका॥ १०॥

प्रपाठकश्चायं समाप्तः॥ २॥

॥ इस प्रकार गोभिल गृह्यसूत्र के द्वितीय प्रपाठक के दसवें खण्ड की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत 'अनाकुला' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई॥ १०॥

॥ इस प्रकार गोभिल गृह्यसूत्र के द्वितीय प्रपाठक की हिन्दी पूर्ण हुई॥ २॥

——*——

१. अत्र चन्द्रकान्तभाष्ये-तस्माच्च गृह्यान्तराद्दक्षिणेयमाचार्याय दातव्या। तस्माद्-ब्रह्मचारिणे भैक्षदानान्तरमेवाचार्यः कर्मशेषं समापयेदिति भट्टनारायणाद्यनुमतं समीचीनमवोचाम। समिदाधानस्य प्रधानकर्म्मान्तरतयोपनयनकर्म्मानङ्ग-त्वात्। अहः शेषस्थितेस्तादर्थ्याच्चेत्युक्तम्।

२. तथाचोक्तम्- 'गौर्विशिष्टतमा विप्रैर्वेदेष्वपि निगद्यते।
न ततोऽन्यद्वरं यस्मात्तस्माद्गौर्वरमुच्यते'' ॥ इति।

३. चन्द्रकान्तभाष्यादौ। तत्र द्वितीयस्यार्थान्तरयोजना च क्रियते। अन्ते च परन्तु सावित्रचरोः कर्म्मक्रमस्यासूत्रणाद्यथार्थमित्यस्य कर्मापवर्गपरत्वावगतेश्च पूर्वैव योजना समीचीनेति प्रतिपद्यामहे। अतिक्रान्तसम्बन्धश्चाचार्यानुमत इति चेति तत उपरतमस्माभिः।

अथ तृतीयः प्रपाठकः

तत्र

प्रथमा कण्डिका

* सरला *

इदानीमुपनयनसंस्कारसंस्कृतेन गुरुशुश्रूषुणा ब्रह्मचारिणा वेदव्रतादिकं तपश्चरता साङ्गो वेदोऽधिगन्तव्यः। तथा च मनुः (२.१६४-१६५)—

अनेन क्रमयोगेण संस्कृतात्मा द्विजः शनैः।
गुरौ वसन् सञ्चिनुयाद् ब्रह्माधिगमिकं तपः॥
तपोविशेषैर्विविधैर्व्रतैश्च विधिचोदितैः।
वेदः कृत्स्नोऽधिगन्तव्यः सरहस्यं द्विजन्मना॥ इति।

अतस्तद्व्रतविवक्षयेदमाह—

अथातः षोडशे वर्षे गोदानम्॥ १॥

* अनाकुला *

इस उपनयनसंस्कार के बाद सोलहवें वर्ष 'गोदान' नामक संस्कार करना चाहिए॥ १॥

विमर्श—उपनयनकाल का समय आठवें वर्ष से आरम्भ करके सोलहवाँ वर्ष लेना चाहिए। अतः जिसका गर्भ से गिनकर आठवें वर्ष में उपनयन हुआ है उसका 'गोदान-संस्कार' गर्भ से चौबीसवें वर्ष में होना चाहिए। जिसका नौ से लेकर सोलह वर्ष के बीच उपनयन हुआ हो, उसका गोदान संस्कार २५ से लेकर ३२ वर्ष की अवस्था में होना चाहिए॥ १॥

'अथ' प्रकरणान्तरद्योतनार्थम्। 'अतः' उपनयनकालतः षोडशे वर्षे तथा च यस्य गर्भाष्टमेऽब्देभूतमुपनयन तस्य गर्भचतुर्विंशाब्दे, एवं यस्य नवमादि षोडशाब्दान्ते एवोपनयनं तस्य पञ्चविंशादि द्वात्रिंशाब्दान्ते 'गोदानम्' नाम संस्कारविशेष कार्यम्॥ १॥

चूडाकरणेन केशान्तकरणं व्याख्यातम्॥ २॥

इस कर्म में जो केश काटने का संस्कार होता है वह पूर्वोक्त चूड़ाकरण के नियमानुसार करना चाहिए, जिसकी व्याख्या पहले की जा चुकी है॥ २॥

अस्मिंश्च कर्मणि केशवपनं कर्तव्यम्, तच्च केशान्तकरणं 'चूडाकरणेन'

पूर्वोक्तेन 'व्याख्यातम्' कथितम्', चूडाकरणवत् कर्तव्यमित्यर्थः ॥ २ ॥

ब्रह्मचारी केशान्तान् कारयते ॥ ३ ॥

सर्वाङ्गलोमानि सँहारयते ॥ ४ ॥

[इस समावर्तन के समय] ब्रह्मचारी जब अपने केश कटाए, तभी उसे चाहिए कि शरीर के सभी अन्य अङ्गों (कुक्षि, वक्ष, उपस्थ और शिखा) के केश भी कटा दे ॥ ३-४ ॥

'ब्रह्मचारी' ब्रह्म वेद, तद्ग्रहणाचारविशिष्टः आद्याश्रमी, यदैव 'केशान्तान्, कारयते' तदैव 'सर्वाणि अङ्गलोमानि संहारयते' कक्षवक्षोपस्थशिखाकेशानपि वापयेदित्यर्थः[2] । ३-४ ॥

गोमिथुनं दक्षिणा ब्राह्मणस्य ॥ ५ ॥ अश्वमिथुनं क्षत्रियस्य ॥ ६ ॥ अविमिथुनं वैश्यस्य ॥ ७ ॥ गौर्वैव सर्वेषाम् ॥ ८ ॥

ब्राह्मण जाति के ब्रह्मचारी के लिए इस गोदान संस्कार की दक्षिणा दो गाय है ॥ ५ ॥

क्षत्रिय जाति के ब्रह्मचारी को चाहिए कि वह दो अश्व अपने आचार्य को गोदान संस्कार को दक्षिणा दे ॥ ६ ॥

वैश्य जाति का ब्रह्मचारी अपने आचार्य को दो भेंड़ गोदान संस्कार को दक्षिणा दे ॥ ७ ॥

अथवा, सभी जाति के ब्रह्मचारी को चाहिए कि वह वेदाध्ययन की दक्षिणा अपने आचार्य को दो गाय देवें ॥ ८ ॥

---

१. एवं चास्योपनयन व्रतान्ते कियन्तमपि कालं वपनं न कर्तव्यं येन पिञ्जूलीभिः सह कपुष्णिकाग्रहणच्छेदनादि कर्त्तुं शक्यते । तद्युक्तं यदुक्तं 'ता वामेनाभिगृह्य' त्यादि (२.९-१५) । तथा चोक्तम् (कर्मप्रदीपः ३.६-१५)—

वपनं नास्य कर्त्तव्यमर्वाग् गोदानिकव्रतात् ।

व्रतिनो वत्सरं यावत् षण्मासानिति गोतमः ॥ इति ॥

वचनमिदं प्रागुक्तमतमेव समर्थयत इति द्रष्टव्यम् ।

२ मातरि प्राप्तायां ब्रह्मचारिणः स्वयमेव वपनक्रिया नियम्यते । अथ माता शुचिनावसनेनेत्यादि सूत्रबलाच्चूडाकर्मणि माता कुमारम् अङ्के कृत्वोपविशति तथागतश्च तमन्यः संस्करोति । केशान्तकरणे तु न ब्रह्मचारी मातुरङ्कगतो भवति, अकुमारत्वेनायुक्तत्वाद् गुरुकुले चेदानीमस्यावस्थानात्, इति ।

अस्य हि गोदानकर्मणः 'दक्षिणा' 'गोमिथुनं' गोद्वयम् आचार्याय देयम्; 'ब्राह्मणस्य' कर्त्ता ब्राह्मणश्चेदित्यर्थः ॥ ५ ॥ 'क्षत्रियस्य' 'अश्वमिथुनम्' अश्वद्वयं गोदानकर्मणः दक्षिणा ॥ ६ ॥ 'वैश्यस्य' 'अविमिथुनं' मेषद्वयं दक्षिणा ॥ ७ ॥ 'वा' अथवा 'गौः एव' 'सर्वेषां' ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यानां दक्षिणा ॥ ८ ॥ तथाहि ब्राह्मणब्रह्मचारी, वैश्यब्रह्मचारी च स्वस्वाचार्याय गोद्वयमेव दक्षिणा वेदाध्यापनस्य देयेति ॥ --८ ॥

अजः केशप्रतिग्राहाय ॥ ९ ॥

केशकर्तन करने वाले नापित को एक बकरा दक्षिणा में देना चाहिए ॥ ९ ॥

'केशप्रतिग्राहाय केशप्रतिग्रहकर्त्रे नापिताय 'अजः' छागः एकएव दक्षिणा देया सर्वजातिब्रह्मचारिभिरिति' ॥ ९ ॥

द्वितीयाश्रमग्रहणस्य वर्षाधिककालाऽपेक्षास्तीति ज्ञायेत एव चेत्, आचार्याय गोदक्षिणादानानन्तरमपि 'अनाश्रमी न तिष्ठेत् क्षणमपि' इति ब्रह्मचर्याश्रमएवावलम्बनीय इति। पुनरपि आचार्यान्तिकमुपनीतो भवेत्, तस्यैवाचार्यस्यान्तिके ब्रह्मापरपर्यायवेदालोचनयास्योद्वाहकालं प्रतीक्षेतेति। तत्रोपनयनेतिकर्त्तव्यतामाह;—

उपनयनेनैवोपनयनं व्याख्यातम् ॥ १० ॥ नत्विहाहतं वासो नियुक्तम् ॥ ११ ॥ नालङ्कारः ॥ १२ ॥ नाचरिष्यन्तँ सम्वत्सरमुपनयेत् ॥ १३ ॥

[यदि समावर्तन के बाद ब्रह्मचारी, किसी कारण वश उसी समय विवाह न होने के कारण, गृहस्थाश्रम में प्रवेश न प्राप्त करे तो 'एक क्षण भी अनाश्रमी नहीं रहना चाहिए'—इस नियम के अनुसार वह ब्रह्मचर्याश्रम में ही रहें। अतः पुनः-

---

१. अथ गोदानव्रतप्रयोगः—

ब्राह्मणाननुज्ञाप्य गणेशं सम्पूज्य गोदानव्रताङ्गं नान्दीमुखश्राद्धं करिष्ये—इति संकल्प्य, तत् कृत्वा, गोदानव्रताङ्ग केशान्तकर्म करिष्ये इति सङ्कल्प्य चूडाकरणकर्मवदग्नि प्रतिष्ठापनादि केशवपनान्तं कर्म ब्रह्मचारी कुर्यात्, न त्वाचार्यः। नात्र व्रीह्यादीनामासादनम्। सर्वेषामङ्गलोम्नां च वपनम्। गोमिथुनं दक्षिणा ब्राह्मणस्य, अश्वमिथुनं क्षत्रियस्य, अविमिथुनं वैश्यस्य। यथोक्तदक्षिणाऽलाभे सर्वेषामपि गौर्दक्षिणा आचार्याय देया। अथ 'केशप्रतिग्राहाय नापितायाजो देयः' इति केशान्तकरणप्रयोगः सुब्रह्मण्योक्तः।

उपनयन करके पहले की भाँति आचार्य के पास रहकर वेद का अध्ययन करते हुए विवाह की प्रतीक्षा करे। अतः पुन उपनयन का प्रतिपादन करते हैं—]

पहले की भाँति उपनयन संस्कार करे, जिसकी व्याख्या पहले की जा चुकी है ॥ १० ।

[विशेष यह है कि] यहाँ पर नवीन वस्त्र न पहने ॥ ११ ॥

अलङ्कार आदि भी धारण न करे ॥ १२ ॥

यदि एक वर्ष पर्यन्त ही ब्रह्मचर्य व्रत को धारण करना हो तो [गोभिल आचार्य के अनुसार] पुनः उपनयन न करे ॥ १३ ॥

'उपनयनेन' पूर्वोक्तेनैव 'उपनयनम्' एतदपि 'व्याख्यातम्' कथितम् ॥ १० ॥ विशेषस्तु 'इह' उपनयने 'अहतं वासः' न नियुक्तम्' ॥ ११ ॥ किञ्चेह 'अलङ्कारः अपि न नियुक्त इत्येव ॥ १२ ॥ एतदुपनयननिषेधमाह; एतदुपनयनतः 'संवत्सरम्' अपि 'आचरिष्यन्तं' ब्रह्मचर्यव्रतानुष्ठानमकरिष्यन्तं ब्रह्मचारिणं 'न उपनयेत्' पुनरुपनीतीभवनस्य प्रयोजनं नास्तीति भावः। समाप्तं गोदानम् ॥ १३ ॥

ब्रह्मचारिणां ब्रह्मचर्यावस्थायां यथा यथाचरणं कर्त्तव्यं, यद यच्च व्रतमनुष्ठेयम्,[१] अतस्तद्वक्तुमारभते;—

---

१. संवत्सरमपि कालं व्रतधारणं यो न करोति, तं नोपनयेदित्यादि—आचार्यस्यायं नियमः। अर्थाद् ब्रह्मचारिणोऽपि नियमः। गोदानिके उपनयने अयं नियमः। कुतः? अत्रैवोक्तत्वात् (द्र० सू० २.१०.४१ पृ० ३१२)।

अत्र तर्कालङ्कारः—स खल्वयं नियमो गोदानिक एवोपनयने स्यात्; कुतः? अत्रैवोपदेशात्। तस्मात् संवत्सरमपि व्रतं यो न चरिष्यति, तस्यापि प्राचीनमुपनयनं भवति। अन्ये त्वाहुः-प्रकरणादेवैतस्मिन्नुपनयने प्राप्ते पुनरुपनयनग्रहणं सामान्यार्थम्। तस्मात् प्राचीनेऽप्युपनयनेऽयं नियमः, तेन यस्यापि षोडशे वर्षे उपनयनं तस्यापि संवत्सरव्रतचरणात् परत उपरिष्टादपि षोडशाद् वर्षाद् गोदानं स्यात्, न तु षोडश एव वर्षे इति बोद्धव्यम्। परतो वक्ष्यमाणा अपि धर्माः सामान्यगोचरा एवेति। नैतदेवम् 'उपनयेत्' इत्यनुक्तौ वाक्यार्थस्यैवाघटनात्। अन्यथाभिधाने चाचार्यस्य निषेधस्यालाभात्, अतिक्रमणाभिधानाच्च। समा मासा अहोरात्रा' इत्याद्युदाहृतगृह्यासंग्रहवचनेन प्राचीने उपनयने विशेषस्याभिधानाच्च तत्रैतस्याः प्रवृत्तेः। सोऽयमुपनयति। सन्निहितं गोदानादिकमेवोपनयनमभिधत्ते। न प्राचीनमिति। व्यक्तिवचनः खल्वयम्। व्यक्तिवचनानाञ्च सन्निहितव्यक्तिपरत्वमाग्नेयी न्याये सिद्धान्तितम्। तत कुत एवानेन सामान्यपरिग्रहः शक्यते वक्तुम्।'

वार्क्षश्चास्मै दण्डं प्रयच्छन्नादिशति ॥ १४ ॥ आचार्याधीनो भवान्यत्राधर्माचरणात् ॥ १५ ॥

उपनयन के समय जब माणवक को दण्ड प्रदान करे, तब उस समय आचार्य उपदेश करे । १४ ॥

१. आचार्य का यदि कोई अधर्माचरण हो तो ब्रह्मचारी उसका अनुकरण न करे और उसके किसी अधर्म के उपदेश को भी न सुने । किन्तु आचार्य के अन्य आज्ञा वचनों का सदैव उसे पालन करना चाहिए ॥ १५ ॥

उपनयनकाले यदा माणवकाय 'दार्क्षं दण्ड प्रयच्छन्' तदैव 'आदिशति' अनुसूत्रवक्ष्यमाणान् उपदेशानिति ॥ १४ ॥ ते चोपदेशा इमे;—(१) 'अधर्म्माचरणात् अन्यत्र' अधर्माचरणमाचार्यस्य नानुकरणीयम् अधर्मकोपदेशश्च न श्रवणीयः, ततोऽन्यत्र सदा सर्वथैव 'आचार्याधीनो भव' आचार्याज्ञाकारी आचार्याभिमतानुगामी च भव, इति प्रथमोपदेशः ॥ १५ ॥

क्रोधानृते वर्जय ॥ १६ ॥ मैथुनम् ॥ १७ ॥ उपरि शय्याम् ॥ १८ ॥ कौशलीबगन्धाञ्जनानि ॥ १९ ॥

२. ब्रह्मचारी को क्रोध और ३. मिथ्या व्यवहार (झूठ बोलना आदि) नहीं करना चाहिए ॥ १६ ॥

४. उसे स्त्री प्रसङ्ग नहीं करना चाहिए ॥ १७ ॥

५. (गुरु की शय्या से) ऊपर अपनी शय्या न लगावे ॥ १८ ॥

६. (मन में विकार उत्पन्न करने वाले) नृत्य गीत एवं वाद्य आदि बजाना या उसक चर्चा ७. गन्ध-माल्य आदि का व्यवहार तथा ८. आँखों में अञ्जन आदि नहीं लगाना चाहिए । १९ ॥

(२, ३) क्रोधानृते' क्रोधम्, अनृतम् मिथ्याव्यवहारञ्च 'वर्जय' सत्यपि क्रोधकारणे क्रोधकार्यं विवादादिकं मा कुरु, किञ्च मिथ्याभाषणादिकमपि न कार्यम् ॥ १६ ॥ (४) 'मैथुन स्त्रीसङ्गं' वर्जय इत्येव सर्वत्र ॥ १७ ॥ (५) 'उपरि शय्यां' गुरुशय्यातः उच्चैः शयनं वर्जय । इति पञ्चमोपदेशः ॥१८॥ (६, ७, ८) कौशीलवं नृत्यगीतवादित्राद्यनुष्ठानम्, गन्धः घृष्टमलयजादिको माल्याद्युत्थश्च, अञ्जन चक्षुषोः शोभासम्पादकम्; एतान्यपि त्रीणि वर्जय'।

---

१. तच्चाभ्यङ्गोद्वर्तनादिकं सुखार्थम् । तथा च मनुः—(२.१७८)

अभ्यङ्गमञ्जनं चाक्ष्णोरुपानच्छत्रधारणम् ।
कामं क्रोधञ्च लोभञ्च नर्तनं गीतवादनम् ॥ इति ॥

अत्रापि यथा चाध्ययनस्य व्याघातकरो मनोजाविर्भावः स्यादेवं कौशीलवादिकं वर्जयेत्, न तु सामादिगीतवादित्रचर्चां, नापि गुरुप्रसादगन्धमाल्यादिं, न च रोगाद्युपशमनायाञ्जनव्यवहारं वर्जयेत्। अतएव मनुनाऽभ्यधायि 'यः स्रग्व्यपि द्विजोऽधीते' इत्यादि ॥ १६-१९ ॥

स्नानम् ॥ २० ॥

अवलेखनदन्तप्रक्षालनपादप्रक्षालनानि ॥ २१ ॥

९. ब्रह्मचारी को जलक्रीडा पूर्वक स्नान नहीं करना चाहिए ॥ २० ॥

१०. बिना किसी कारण से जमीन नहीं कुरेदनी चाहिए, ११. दन्त शोभा के लिए तुत्थ से दाँतों को नहीं रँगना चाहिए और १२. न तो आवश्यकता से अधिक पैर ही धोना चाहिए ॥ २१ ॥

(९) 'स्नानम्' जलक्रीडापूर्वकं, वर्जय[1] ॥ २० ॥ (१०, ११, १२) 'अवलेखनं' 'मुखशोभनालकातिलकादि' 'दन्तप्रक्षालनं' दन्तमलदूरीकरणायैव यावदावश्यकं तदतिरिक्तं दन्तशोभादिसम्पादनाय तुत्थरञ्जनादिनोपसेवनम्, 'पादप्रक्षालनं' आवश्यकातिरिक्तम; इमानि च त्रीणि वर्जय[2] ॥ २०-२१ ॥

क्षुरकृत्यम् ॥ २२ ॥ मधुमांसे ॥ २३ ॥ गोयुक्तारोहणम् ॥ २४ ॥ अन्तर्ग्राम उपानहोर्धारणम् ॥ २५ ॥

१३. क्षुरे से केश वपन या रोओं को नहीं काटना चाहिए ॥ २२ ॥

अस्य व्याख्यायां कुल्लूकभट्ट—अभ्यङ्गं तैलादिना शिरः सहितदेहमर्दनलक्षणम्। कज्जलादिभिश्च चक्षुषोरञ्जनम्। पादुकायाश्छत्रस्य च धारणम्। काम मैथुनातिरिक्तविषयाभिलाषातिशयम्। मैथुनस्य स्त्रिय इत्यनेनैव निषिद्धत्वात्। क्रोध-लोभ-नृत्य-गीत-वीणा-पणवादि वर्जयेत्। इति ॥

१. तथा चोक्तं कर्मप्रदीपे (३.६.१६) —

न गात्रोत्सादनं कुर्यादनापदि कथञ्चन।
जलक्रीडामलङ्कारं व्रती दण्ड इवाऽऽप्लवेत् ॥

(छन्दोगपरिशिष्टम् ३.६ १६)

२. अवलेखन कङ्कतादिना शिरसः। भूयेर्वा निष्प्रयोजनम्। दन्तप्रक्षालनम् दन्तधावनं 'पत्रत्रोटिकादिना' घर्षणम्। पादप्रक्षालनम् उद्वर्तनपूर्वकं सुखार्थम्। पादेन वा पादस्य। 'पादेन नाक्रमेत् पादम्' इति स्मरणात्।

१४. मधुमक्खियों से एकत्रित शहद का और १५. मांस का सेवन नहीं करना चाहिए ॥ २३ ।

१६. गो से जो गाड़ी चलाई जाय उसपर आरोहण न करे ॥ २४ ॥

१७. ग्राम के मध्य में चमड़े का जूता न पहने ॥ २५ ॥

(१३) 'क्षुरकृत्यम्' क्षुरेणं केशलोमादीनां वापनं वर्जय ।[1] पूर्वं यदुक्तं ब्रह्मचारीत्यादि सूत्रद्वयं केशवपनव्यवस्थापकं तत् समावर्तनाङ्गभूतं बोध्यम् ॥ २२ ॥ (१४, १५) 'मधु' सारघं वर्जय [2]। २३ । (१६) गोयुक्ते शकटादौ आरोहणं वर्जय ॥ २४ ॥ (१७) 'अन्तर्ग्रामे' ग्राममध्ये 'उपानहोः' चर्मपादुकयोः 'धारणं' वर्जय ॥ २५ ॥

स्नयमिन्द्रियमोचनमिति ॥ २६ ॥ मेखलाधारणभैक्षचर्यदण्डधारणसमिदाधानोदकोपस्पर्शनप्रातरभिवादा इत्येते नित्य-

---

१. क्षुरकर्म, एवं चेद् ब्रह्मचारिणा जटिलेन भाव्यम् । तन्न, कुतः ? तथा च कर्मप्रदीपः (३.६.१४) —

सशिखं वपनं कार्यमा स्नानाद् ब्रह्मचारिणाम् ।
आशरीरविमोक्षाय ब्रह्मचर्यं न चेद् भवेत् ॥

इतिवचनात्. वपनं नास्य कर्तव्यमिति वचनात् । तस्मात् क्षुरकर्मप्रतिषेधात्-मुण्डनस्य च विधानात् कर्तार्या मुण्डनमिति युक्तम् । अन्ये तु वृषणयोरित्यध्याहारं कृत्वा व्याचक्षते । अपरे त्वेकत्र विधानादन्यत्र प्रतिषेधाद् विकल्पमाहुः । तथा च मनुः (२.२.१९) —

मुण्डो वा जटिलो वा स्यादथवा स्याच्छिखाजटः ॥ इति ॥

'अथवा क्षुरकृत्यप्रतिषेधान्मुण्डनविधानाच्च मुण्डनं कर्तव्यमेव, तदन्यत् क्षुरकृत्यम्, अङ्गलोमसंहारादिकं न कर्तव्यमित्ययं सूत्रार्थः' इति तर्कालङ्कारः ।

२. तथा चोक्तं मनुसंहितायाम् (२.१७७) —

वर्जयेन्मधुमांसञ्च गन्ध माल्यं रसान् स्त्रियः ।
शुक्तानि यानि सर्वाणि प्राणिनाञ्चैव हिंसनम् ॥ इति ॥

क्षौद्रं मांसं च न खादेत् । गन्धश्च कर्पूर-चन्दन-कस्तूरिकादि वर्जयेत् । एषाञ्च गन्धानां यथासम्भवं भक्षणमनुलेपनञ्च निषिद्धम् । माल्यञ्च न धारयेत् । उद्रिक्तरसांश्च गुडादीन् न खादेत् । स्त्रियश्च नोपेयात् । यानि स्वभावतो मधुरादिरसादि कालवशेनोदकवासादिना चाम्लयन्ति तानि शुक्तानि न खादेत् । प्राणिनां हिंसां न कुर्यात्' इति चास्य कुल्लूकभट्टोक्ता व्याख्या ।

धर्माः ॥ २७ ॥

१८. स्वयं से इन्द्रिय-मोचन (हस्तमैथुन आदि) न करे ॥ २६ ॥

विमर्श—इस प्रकार आचार्य शिष्य को १८ उपदेश देते हैं ॥ २६ ॥

मेखला धारण करना, भिक्षाचरण करना, दण्ड धारण करना समिधा का आधान, जल से हाथ-पैर धोकर (उपासना करना) और प्रातःकाल उठकर गुरुजनों का अभिवादन करना—ये कर्म नित्य प्रतिदिन करना चाहिए ॥ २७ ॥

[समावर्तन के मध्य ब्रह्मचारी के लिए चार कर्म और भी विहित हैं जो गौतम के द्वारा कहे गए हैं, उसे गोभिल आचार्य भी कहते हैं। उपनयन से लेकर सोलह वर्ष तक ब्रह्मचर्य व्रत धारण कर वेदाध्ययन पूर्ण करके ब्रह्मचारी आचार्य को गौ दक्षिणा देकर घर लौटे।]

(१८) 'स्वयमिन्द्रियमोचनम्' हस्तमैथुनञ्च वर्जयेत्येव।[1] 'इति' इमेष्टादश वर्जनीया गताः ॥ २६ ॥ कर्त्तव्यानुपदिशति;-(१-५) मेखलाया धारणम्, भिक्षाचारिणोभावावलम्बनम्[2], दण्डस्य धारणम्, समिधः आधानम्,

१. मनः प्रधानानि दशेन्द्रियाणि मनश्चैकादशः। तथा च मनुः—

श्रोत्रं त्वक् चक्षुषी जिह्वा नासिका चैव पञ्चमी।
पायूपस्थं हस्तपादं वाक् चैव दशमी स्मृता॥
बुद्धीन्द्रियाणि पञ्चैषां श्रोत्रादीन्यनुपूर्वशः।
कर्मेन्द्रियाणि पञ्चैव पाय्वादीनि प्रचक्षते॥
एकादशं मनो ज्ञेयं स्वगुणेनोभयात्मकम्।
यस्मिन् जिते जितावेतौ भवतः पञ्चकौ गणौ॥ (२.९०.९२)

स्वयमिति कामतः श्रोत्रादीनामिन्द्रियाणां स्वस्वविषयगोचरं प्रतिषिद्धे कर्मण्यनिवारणं बद्ध्वा प्रवर्तनम् मोक्षणम् इन्द्रियमोचनम् इत्युच्यते तद् वर्जयेदिति। तथा च श्रीवेदव्यासः—

धृत्या शिश्नोदरान् रक्षेत् पाणिपादौ च चक्षुषा।
चक्षुः श्रोत्रे च मनसा मनो वाचञ्च कर्मणा॥ इति।

केचिदेवं वा सूत्रमिदं व्याचख्युः—स्वयमिन्द्रियमोचनं कामतो रेतः स्कन्दनं वर्जय इति। यद्यपि—

स्वप्ने सिक्त्वा ब्रह्मचारी द्विजः शुक्रमकामतः।
स्नात्वाऽर्कमर्चयित्वा त्रिः पुनर्मामित्यृचं जपेत्॥ (मनु० २.१८१)

२. भैक्षचर्या च कथं कर्तव्येत्याह मनुः—

उदकानामुपस्पर्शनपूर्वकमीश्वरोपासनम्, प्रातरुत्थायैव गुरुजनेभ्योऽभिवादनम्, 'इति एते' पञ्च व्यवहाराः नित्यधर्म्माः[1] प्रतिदिनकर्त्तव्याः ॥२७॥

ब्रह्मचारिणां चत्वारि वेदव्रतान्यनुष्ठेयानि गोतमेनोक्तानि चाचार्योऽव्ययमाह;—

गोदानिकव्रातिकादित्यव्रतौपनिषद्ज्यैष्ठसामिका संवत्सराः ॥ २८ ॥

सोलह वर्षों के मध्य षोडशाब्द नाम से प्रसिद्ध चार व्रत ब्रह्मचारी और करें—१. गोदानव्रत, २. व्रातिकाब्द, ३. आदित्यव्रत, और ४. ज्यैष्ठसामिकाब्द ॥ २८ ॥

विमर्श— १) सोलह वर्षों के मध्य कुछ वर्ष जिनमें वेद के ग्रन्थों का अध्ययन पूर्ण करना होता है 'गोदानव्रत' कहते हैं। इस व्रत का पालन करने वाले ब्रह्मचारी को 'गोदानिक' कहते हैं। ये वर्ष 'गोदानिक अब्द' कहे गए हैं। (२) कुछ वर्ष तक अरण्य संहिता पढ़नी होती है। इन वर्षों को 'व्रातिकाब्द' कहते हैं। (३) आदित्यव्रतौपनिषदाब्द' में प्रधानतः आदित्यव्रत साम का और उपनिषद् तथा ब्राह्मण ग्रन्थ

वेदयज्ञैरहीनानां प्रशस्तानां स्वकर्मसु ।
ब्रह्मचार्याहरेद् भैक्ष गृहेभ्यः प्रयतोऽन्वहम् ॥
गुरोः कुले न भिक्षेत न ज्ञातिकुल बन्धुषु ।
अलाभे त्वन्यगेहानां पूर्वं पूर्वं विवर्जयेत् ॥
सर्वं वापि चरेद् ग्रामं पूर्वोक्तानामसम्भवे ।
नियम्य प्रयतो वाचमभिशस्तास्तु वर्जयेत् ॥ इति ॥

(मनु० २.१८३-१८५)

१. प्रातरभिवादाः पादोपसंग्रहणम् । तच्च—

व्यत्यस्तपाणिना कार्यमुपसंग्रहण गुरोः ।
सव्येन सव्यः स्पष्टव्यो दक्षिणेन तु दक्षिणः ॥ (मनु० २.७२)

पादोपसंग्रहणं कार्यमित्यनन्तरमुक्तम् । तद् व्यत्यस्तपाणिना कार्यमिति विधीयते । कीदृशो व्यत्यासः कार्य इत्यत आह सव्येन पाणिना सव्यः पादो दक्षिणेन पाणिना दक्षिणः पादो गुरोः स्प्रष्टव्यः । उत्तानहस्ताभ्यां चेदं पादयोः स्पर्शनं कार्यम् । यदाह पैठीनसिः— उत्तानाभ्यां हस्ताभ्यां दक्षिणेन दक्षिणं सव्यं सव्येन पादावभिवादयेत् ।' दक्षिणोपरिभावेन व्यत्यासो वाऽय शिष्टसमाचारात् इति चास्य व्याख्या ।

का अनुशीलन करना होता है। (४) कुछ वर्ष 'ज्यैष्ठसामिकाब्द' होते है। इनमें ज्येष्ठ साम आदि का अध्ययन करना होता है।

यद्यपि ये सभी षोडशाब्द ही 'गोदानिक' हैं। वस्तुतः जैसे सामवेद दो आर्चिको में विभक्त है—१. पूर्वार्चिक और २. उत्तरार्चिक और यद्यपि सभी छन्दोमय हैं, फिर भी उत्तर साम के समूह को 'उत्तरार्चिक' कहते हैं और मात्र पूर्व साम के समूह को 'छन्द' नाम से पुकारते हैं। वैसे ही यहाँ सभी षोडशाब्द 'गोदानिक' हैं। ज्योतिशास्त्र में भी ग्रह आदि की दशा का काल यद्यपि निश्चित होता है। फिर भी उनकी अन्तर्दशा में निजभोग्य वर्ष या मास कुछ ही होते हैं ॥ २८ ॥

'संवत्सराः, पूर्वोक्ताः उपनयनतः षोडशसंख्याकाः, गोदानिकादिकाः भवेयुरित्यर्थः। तत्र षोडशाब्देषु, केचनाब्दाः 'गोदानिकाः' स्युः, अत्र वेदग्रन्थानां सर्वेषामेवाध्ययनं समाप्यम्। केचनाब्दाः 'व्रातिकाः' स्युः विशेषतोऽत्रारण्यसंहितोव्रतपर्वणामेवानुशीलनं कर्त्तव्यम्। केचनाब्दाः 'आदित्यव्रतोपनिषदाः स्युः, अत्र आदित्यव्रतसाम्नामुपनिषद्ब्राह्मणस्य चानुशीलनं प्रधानतः कर्त्तव्यम्। केचनाब्दाः 'ज्यैष्ठसामिकाः' स्युः। अत्र तु ज्येष्ठसाम्नां त्रयाणामेवानुशीलनं प्रधानतः कार्यमिति। यद्यपीमे षोडशैवाब्दाः। गोदानिकाः परन्तत्राप्युत्तराब्दानां व्रातिकादिविशेषपरिचयसत्त्वादाद्याब्दानां कतिपयानां तदभावात् केचनाब्दाः प्रथमादयः सामान्यतो गोदानिका इत्येवाख्यायन्ते, पराब्दाश्च विशेषतो व्रातिकेत्यादिभिः प्रसिद्धाः'। तथा च सामवेदीय आर्चिकः सर्व एव छन्दोमयस्तथापि उत्तरदलस्य उत्तरार्चिक इति विशेषनामप्रसिद्धेः पूर्वस्य तु 'छन्दः' इत्येव। यथापि ज्योतिःशास्त्रे, ग्रहा-

---

१. गोदानिकमाग्नेयेन्द्रपावमानानां वेदपर्वणाम्। व्रातिकमारण्यकस्य शुक्रियवर्जस्य। आदित्यव्रतं शुक्रियाणाम्, औपनिषदम् उपनिषद्ब्राह्मणस्य। ज्येष्ठसामव्रतमाज्यदोहानामध्ययनार्थमिति। 'मूर्धानन्दिवोऽरतिम्' इत्यादि साम्ना गानाध्ययनार्थमित्यर्थः। ननु चत्वारि वेदव्रतानि इति गौतमेन पुरुषसंस्कारमध्ये पाठात् कथममीषामध्ययनार्थत्वमुच्यते? नैष दोषः—

तपोविशेषैर्विविधैर्व्रतैश्च विधिदेशितैः।
वेदः कृत्स्नोऽधिगन्तव्यः सरहस्यो द्विजन्मना ॥

इति मनुनाऽध्ययनार्थत्वस्याप्यमीषामुपदेशात्। तस्मात् पुरुषार्थानामेव सतामेषां संयोगपृथक्त्वन्यायेनाध्ययनार्थत्वमध्ययनार्थानामेव वा पुरुषार्थत्वादरणीयम् इति केचिदाहुः।

दीनां सर्वेषामेव दशाकालानां वहुत्वेऽपि निजभोग्यत्वर्षा मासा वा तत्र स्वल्पा एव भवन्तीति ।। २८ ।।

ब्रह्मचारिकृत्यमाह—

तेषु सायं प्रातरुदकोपस्पर्शनम् ।। २९ ।।

आदित्यव्रतं तु न चरन्त्येके ।। ३० ।।

उन (गोदानिकादि चारो व्रतों) में सायंकाल तथा प्रातःकाल आचमनादि पूर्वक ईश्वरोपासना करे ।। २९ ।।

कुछ लोग 'उपनिषद् व्रत' के साथ 'आदित्यव्रत' का अनुशीलन नहीं करते हैं ।। ३० ।।

विमर्श—वस्तुतः कुछ याज्ञिकों के अनुसार आदित्य व्रत युक्तियुक्त नहीं है।। ३० ।।

'तेषु' गोदानिकादिषु चतुर्ष्वेव व्रतेषु 'सायंप्रातः 'उदकोपस्पर्शनम्, आचमनादिपूर्वकमीश्वरोपासनं कार्यम् ।। २९ ।। 'एके' आदित्यव्रतन्तु 'न चरन्ति' उपनिषद्व्रतमेव केवलमाचरन्ति[1]। न पुनरादित्यव्रतयुक्त तदिति भावः ।।३०।।

ये चरन्त्येकवाससो भवन्ति ।। ३१ ।। आदित्यश्च नान्तर्दधतेऽन्यत्र वृक्षशरणाभ्याम् ।। ३२ ।। नापोऽभ्यवयन्त्यगूर्द्ध्वं जानुभ्यामगुरुप्रयुक्ताः ।। ३३ ।।

।। इति तृतीयप्रपाठकस्य प्रथमा कण्डिका ।। ३ ।। १ ।।

—-*—-

१. जो लोग ('आदित्यव्रत' के साथ 'उपनिषद् व्रत का) अनुशीलन करते हैं वे (उत्तरीय वस्त्र न पहनकर मात्र) एक वस्त्र पहनकर ही व्रत का अनुष्ठान करें ।। ३१ ।।

---

१. एके शाखिन आदित्यव्रतं न चरन्ति । येषामारण्यकान्तर्भूतानि शुक्रियाणि व्यस्तानि पठ्यन्ते ते न चरन्ति, आरण्यकाध्ययनेनैव तेषामधीतत्वात् । येषां तु पुनः पृथक् पठ्यन्ते (अर्थात् आरण्यकानन्तर्भूतानि पृथगेव शुक्रियाणि पठ्यन्ते) यथा कौथुमानाम्, ते चरन्ति, एवं विनिवेशेनायं विकल्पो द्रष्टव्यः ।

२. तब तक घर एवं वृक्ष के अतिरिक्त सूर्य को तिरोहित नहीं करना चाहिए अर्थात् छाता आदि का व्यवहार न करे ॥ ३२ ॥

३. गुरु की विशेष आज्ञा के बिना तब तक जानु पर्यन्त जल से अधिक जल में न तैरे अर्थात् नदी पार आदि न करें ॥ ३३ ॥

'ये' तु 'चरन्ति' चरेयुः, ते 'एकवाससः' उत्तरीयहीनाः 'भवन्ति' भवेयुः तावत्कालमिति तेषां प्रति प्रथमोपदेशः। 'च' पुनः 'वृक्षशरणाभ्याम् अन्यत्र' 'आदित्यं न अन्तर्दधे' वृक्षच्छायां गृहे च भवत्येवादित्यान्तर्धानम्। ततोऽन्यत्र आदित्यान्तर्धानाय छत्रादिकं न व्यवहरेयुरिति द्वितीयः। 'अगुरुप्रयुक्ताः' गुरुभिः विशेषकार्यार्थमननुज्ञाताः 'जानुभ्यामूर्ध्वम् अपः' जानुदघ्नाधिकान्युदकानि 'न अभ्यवयन्ति' नावतरन्ति गभीरनदीपारं न गच्छेयुरिति तृतीयोपदेशः[१] ॥ ३१-३३ ॥

---

१. अथ ब्रह्मचर्यव्रतविशेषाणां प्रयोग उच्यते। तत्र गोदानव्रतप्रयोगः—

ब्राह्मणाननुज्ञाप्य गणेशं संपूज्य गोदानव्रताङ्गं नान्दीमुखश्राद्धं करिष्ये इति संकल्प्य तत् कृत्वा गोदानव्रताङ्गकेशान्तकर्म करिष्ये इति संकल्प्य चूडाकर्मवदग्निप्रतिष्ठापनादि केशवपनान्तं कर्म ब्रह्मचारी कुर्यात्। न त्वाचार्यः। नात्र व्रीह्यादीनामासादनम्। सर्वेषामङ्गलोम्नां च वपनम्। गोमिथुनं दक्षिणा ब्राह्मणस्य, अश्वमिथुनं क्षत्रियस्य, अविमिथुनं वैश्यस्य। यथोक्तदक्षिणाऽलाभे सर्वेषामपि गौर्दक्षिणा आचार्याय देया। अथ केशप्रतिग्राहाय नापितायाजो देय इति।

अथ गोदानव्रताङ्गोपनयनं कर्तव्यम्। तस्य प्रयोग उपनयनवत्। अत्र विशेषः होमश्चोहेन अग्ने व्रतपते व्रतं गोदानं सांवत्सरिकं चरिष्यामीत्यादि। अहतवस्त्रपरिधारणमलङ्करणञ्च वर्जयेत्। न सावित्र्युपदेशः। पूर्वधृतयज्ञोपवीतमेखलादण्डाजिनानां त्यागः। पुनर्धारणं च। अथाऽऽदेशा द्वादशाऽऽचार्येण कर्तव्याः। अथ दण्डं प्रयच्छन्नाचार्य उपनयनोक्तानादेशान् वदेत् गोदानव्रतान्ते आग्नेयैन्द्रपवमानपर्वणां श्रावणम्। तदन्ते ऐन्द्रश्चरुः सावित्रचरुवत् कर्तव्यः, निर्वापकाले इन्द्राय त्वा जुष्टं निर्वपामीति। आज्यभागान्ते ऋचं साम यजामहे इत्येतयर्चा, सदसस्पतिमद्भुतमिति मन्त्रेण वा, उभाभ्यां वा चरुहोमं कुर्यात्। अग्ने व्रतपत इति पञ्चाऽऽज्याहुतयः। ततः स्विष्टकृद् व्याहृतिहोमादि। ब्रह्मणे पूर्णपात्रं दक्षिणा। आचार्यायाजं मेषं गाञ्च पूर्वदक्षिणां दद्यात्। आग्नेये पर्वणि श्राविते ऽजदक्षिणा। ऐन्द्रपर्वणि मेषदक्षिणा। पवमाने पर्वणि श्राविते गौर्दक्षिणेति गोदानव्रतप्रयोगः।

अथ व्रातिकव्रतप्रयोगः—व्रातिकव्रताङ्गं पुनर्नान्दीमुखश्राद्धम्, व्रातिकव्रताङ्गं पुनरुपनयनम्। व्रातिकमेतावत्कालिकमित्यूहं कृत्वा पञ्चाऽऽज्य होमा इति विशेषः।

॥ इति सामवेदीये गोभिलगृह्यसूत्रे तृतीयप्रपाठके प्रथमखण्डस्य डा० सुधाकरमालवीय कृता सरला व्याख्या समाप्ता ॥ ३।१ ॥

———*———

॥ इस प्रकार गोभिल गृह्यसूत्र के तृतीय प्रपाठक के प्रथम खण्ड की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत 'अनाकुला' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ ३.१ ॥

———*———

गोदानव्रतान्ते श्राविताना मुपाकर्मारिभ्याध्ययनम्। व्रतान्ते आरण्यकगेयगानस्वाध्याय-पञ्चकस्याऽऽज्यदोहादिसामत्रयर्वाजतस्य श्रावणं तदन्ते ऐन्द्रश्चरुः। आज्यहोमे व्रातिकं सांवत्सरिकमित्यूहयुक्ताः पठितव्याः। आचार्यदक्षिणा इति।

अथाऽऽदित्यव्रतप्रयोगः—तदङ्गं नान्दीमुखश्राद्धम्, आदित्यव्रताङ्गं पुनरुपनयनम्। आदित्यमेतावत्कालिकमित्याद्यूहयुक्तमन्त्रैः पञ्चाऽऽज्यहोमाः। आदित्यव्रतिन एकवस्त्र-धारणम्। वृक्षगृहाभ्यामन्यत्रच्छत्रादिना सूर्यस्य व्यवधान निषेधः। जानुदघ्नाधिके जलेऽवतरणनिषेधः; गुर्वाज्ञया न दोषः। व्रातिकव्रतान्ते श्रुतस्याऽऽरण्यकस्याध्ययनम्। व्रतान्ते महानाम्नीभिन्नानां शुक्रियाणां श्रावणम्। व्रतान्ते ऐन्द्रश्चरुः। ऐन्द्रश्चरुं हुत्वा व्रतमादित्यमेतावत्कालिकमित्याद्यूहवद्भिः पञ्चाऽऽज्यहोमाः। अत्राऽऽचार्याय गोदानम्। ब्रह्मणे पूर्णपात्रम्। अन्यत् सर्वं पूर्ववदिति।

अथ द्वितीया कण्डिका

* सरला *

आदित्यव्रतानन्तरमध्ययनक्रमान्महानाम्निकेन भवितव्यम्। तथा चार्षेयं ब्राह्मणम्—आदित्यस्योन्नयनं तदादित्यात्प्रेत्याचक्षते एभ्यो महानाम्न्य इति। औपनिषदज्येष्ठसामव्रतयोस्तु प्रासङ्गिकोऽस्मिन् क्रमे उपन्यासः, कालादीनां सामान्यात्। महानाम्निकस्य तु कालक्रियाकलापयोरसमत्वात् तस्य स्वे क्रमे उपन्यासः कृतः। अतः पृथगारम्भार्थमिदमाह—

द्वादशमहानाम्निकाः संवत्सराः ॥ १ ॥

नवषट्त्रय इति विकल्पः ॥ २ ॥

* अनाकुला *

'महानाम्नी' नाम से प्रसिद्ध सामानुशीलन व्रत बारह वर्षों में पूर्ण होता है। किन्तु नौ, छः या तीन वर्षों में पूर्ण होने का इसका विकल्प भी है ॥ १–२ ॥

विमर्श—यह महानाम्नी व्रत काम्य प्रयोग है। जो लोग इस काम्य व्रत का अनुष्ठान करना चाहें वे षोडशाब्द में गोदानादि चारो व्रतों का अनुष्ठान करके अवश्यकर्तव्य ब्रह्मचर्य व्रत पूर्ण करें। ये द्वादश आदि वर्ष पूर्वोक्त सोलह वर्ष से अतिरिक्त हैं। इसे यथा सामर्थ्य बारह, नौ, छः या तीन वर्ष में ब्रह्मचर्य धारण करके पूर्ण करे। इस व्रत का फल आचार्य आगे कहेंगे ॥ १-२ ॥

'महानाम्निकाः' महानाम्निसामानुशीलनसाध्याः 'संवत्सराः' 'द्वादश, नव, षट्, त्रयः'—'इति विकल्पः' अस्ति। इमे च काम्यव्रतसाधना द्वादशादिका अब्दाः गोदानिकषोडशाब्दतोऽतिरिक्ता ज्ञेयाः ॥ १-२ ॥

संवत्सरमप्येके ॥ ३ ॥ व्रतन्तु भूयः ॥ ४ ॥

पूर्वैश्चेच्छ्रुता महानाम्न्यः ॥ ५ ॥

कुछ याज्ञियों के अनुसार इस व्रत का अनुष्ठान एक वर्ष तक करे ॥ ३ ॥

यदि इस व्रत के अनुष्ठान के पूर्व 'महानाम्नी साम' का अनुशीलन पर्याप्त हो तो एक ही वर्ष का व्रत यथेष्ट है ॥ ४-५ ॥

'संवत्सरम्' 'अपि' तस्य साम्नोऽनुशीलनम् 'इति' 'एके' आचार्या वदन्ति[१] ॥४॥ 'तु अपि 'व्रतम्' एकवार्षिकमेवेदम् 'भूय.' बहु मन्येत, यदि 'चेत्' 'पूर्वैः' व्रतप्राक्कालेः महानाम्न्यः' 'श्रुताः' अनुशीलिताः स्युः[२] ॥ ४-५ ॥

एतत्काम्यकर्मणो बह्वादरताबोधनाय वेदश्रुतं लौकिकप्रवादं दर्शयति —

अथापि रौरुकिब्राह्मणं भवति कुमारान् ह स्म वै मातरः पाययमाना आहुः—शक्वरीणां पुत्रका व्रतं पारयिष्णवो भवतेति[३] ॥ ६ ॥

वस्तुतः रौरुकि ब्राह्मण में एक लौकिक प्रवाद आम्नात है कि माताएँ अपने पुत्र को स्तन पान कराते-कराते कहती हैं कि—'हे वत्स शक्वरी छन्द में निबद्ध 'महानाम्नी' अनुष्ठान के नियम में पारंगत होने में तुम समर्थ होओ ॥ ६ ॥

'अथापि[४] 'रौरुकि ब्राह्मण' रौरुकिनामब्राह्मणोक्त लौकिकप्रवादवचनं 'भवति' अस्ति । किन्तत् ? इत्युच्यते-'ह'[५] निश्चयं पुरा 'मातरः' 'कुमारान्'

---

१. अत्र केचित्—अथवा पूर्वपूर्वकल्पेषु कृच्छ्रभूयस्त्वात् फलभूयस्त्वं कल्पनीयम् । तथा च कर्मप्रदीपः (२.१.१३)—

यत्र स्यात् कृच्छ्रभूयस्त्वं श्रेयसोऽपि मनीषिणः ।
भूयस्त्वं ब्रुवते तत्र कृच्छ्राच्च श्रेयो ह्यवाप्यते ॥ इति ॥

एवञ्च सर्वान् पुरुषान् प्रत्यविशेषेणामी विकल्पा भवन्ति न तु पुरुषशक्त्याद्यपेक्षयेति बोध्यमित्याहुः । सूत्रेऽत्र एके इत्यनेन यत् सांवत्सरिकं व्रतमुक्तम्, तदिदमेकीयं मतमाचार्यस्याप्यनुमतमिति प्रतिपद्यामहे । यदुक्तं गृह्यासंग्रहे—

आचार्यानुमतं वाक्यमेकीयं गृह्यते क्वचित् ।
शेषाणि चैव वाक्यानि आचार्यो न प्रशंसति ॥ (गृ० सं० १.१०२)

२. यदि पूर्वैर्बहुवचनात् पित्रादिभिः पुरुषैर्यथोक्तव्रतचर्यया आचार्यस्यानुगमनं कुर्वद्भिः श्रुता महानाम्न्यः, तदाऽसौ संवत्सरपक्षेणाधिक्रियते नान्यथा इति ।

३. सूत्रमिदं भवतीत्यत्र, आहुरित्यत्र, भवतेतीत्यत्र च विभज्य सूत्रत्रयं कल्पितवन्तौ सामश्रमितर्कालङ्कारौ ।

४. अथशब्दो ब्राह्मणवाक्योपादानार्थः रौरुकिशाखाब्राह्मणमपि व्रतचर्याप्ररोचनाय भवति ।

५. ह स्म वै इति अनर्थकाः निपाताः । गद्यत्वाद् ब्राह्मणवाक्यस्य । तथा च यास्कः—अमिताक्षरेष्वनर्थका इति ।

स्वपुत्रान् 'पायमानाः' स्तन्यमिति यावत् आहुः स्म' उक्तवत्यः। किमुक्तवत्यः तदाह– 'हे' 'पुत्रकाः!' यूयं 'शक्करीच्छन्दोमूलकमहानाम्नीनां 'व्रतम्' अनुशीलननियमं 'पारयिष्णवः' 'भवत'[1]–'इति' ॥ ६ ॥

इदानीं तद्व्रतकालेष्वनुष्ठेयानाह—

तास्वनुसवनमुदकोपस्पर्शनम् ॥ ७ ॥ नानुपस्पृश्य भोजनं प्रातः ॥ ८ ॥ सायमुपस्पृश्याभोजनमा समिदाधानात् ॥ ६ ॥

१. महानाम्नी व्रत में शक्वरी निबद्ध महानाम्नी के साधन के लिए प्रत्येक सन्ध्या के समय हाथ-पैर आदि धोकर ईश्वरोपासना करे ॥ ७ ॥

२. प्रत्येक सन्ध्याकाल में (ईश्वरोपासना के लिए) जल स्पर्श आदि बिना किए प्रात.काल भोजन भी न करे ॥ ८ ॥

३. सायंकाल में (ईश्वरोपासना के लिए) जल ग्रहण न करके भी, समिदाधान के पहले भोजन न करे [इस प्रकार ब्रह्मचारी सन्ध्योपासन और समिदाधान करके ही सायं भोजन करे ॥ ९ ।

(१) 'तासु' शक्करीषु शक्करीसाधनायेति यावत्। 'अनुसवनम्' प्रतिसन्ध्यम् 'उदकोपस्पर्शनम्' जलैर्हस्तपादादिकं विधूयेश्वरोपासनं कर्त्तव्यमिति प्रथमनियमः ॥ १० ॥ (२) प्रतिसन्ध्यम् 'अनुपस्पृश्य' ईश्वरोपासनायोदकस्पर्शनमकृत्वा 'प्रातर्भोजनम्' अपि न कर्त्तव्यम्[2] ॥ ११ ॥ (३) 'सायम्' 'उपस्पृश्य' अपि 'आसमिदाधानात्' समिदाधानात् प्राक् 'अभोजनं' भोजनं न कर्त्तव्यम्[3] ॥ १२ ॥

कृष्णवस्त्रः कृष्णभक्षः ॥ १० ॥ आचार्याधीनः ॥ ११ ॥ अपन्थदायी ॥ १२ ॥ तपस्वी ॥ १३ ॥ तिष्ठेद्दिवा आसीत नक्तम् ॥ १४ ॥ वर्षति च नोपसर्पेच्छन्नम् ॥ १५ ॥

४. काला या रंगीन अथवा मलिन वस्त्र न पहने ॥ १० ॥

---

१. हे पुत्रकाः, अनयास्मदाशिषा शक्वरीणां महानाम्नीनां यदेतद् व्रतं तस्य 'पारयिष्णवः' पारङ्गतारो भवत'' इति। इति शब्दो ब्राह्मणवाक्यपरिसमाप्त्यर्थः।

२. अनुपस्पृश्याऽऽस्नात्वा प्रातर्भोजनं न कर्तव्यम्।

३. उपस्पृश्य स्नात्वा, अपराह्णे 'आ समिदाधानात् समिदाधानात् पूर्वं सायमभोजनम्।

महीन अथवा मोटा अनाज है—ऐसा बिना विचार किए ही भोजन करना चाहिए ॥ १० ॥ ब्रह्मचारी को सर्वथा गुरु का आज्ञाकारी होना चाहिए ॥ ११ ॥ पथिकों को मार्ग देने में ब्रह्मचारी बाध्य न हो ॥ १२ ॥ उसे तपस्वी होना चाहिए ॥ १४ ॥ [तपस्वी का लक्षण है कि] उसे दिन में खड़े रहकर समययापन करना चाहिए ॥ १३ ॥ रात्रि में चाहे बैठे, चाहे सोए । १४ ॥ वर्षा के समय (पानी में भींगने के भय से) गृह का आश्रय ग्रहण न करे [इस प्रकार दिन में खड़े रहते हुए, रात्रि में बैठकर या सोकर और पानी में भींगते हुए भी घर में न जाय । मात्र वृक्ष आदि की प्राकृतिक छाया का आलम्बन कर उसे तपस्वी जीवन बिताना चाहिए ॥ १५ ।

(४) कृष्णवर्णं रञ्जितमपि वा नलदूषितमेव वस्त्रं व्यवहरेत् । (५) कदर्याकदर्याविचारणैवान्नादिकं भक्षणीयम् ॥ १० ॥ (६) आचार्यस्य अधीनः सर्वतआज्ञाकारी[१] भवेदिति शेषः ॥ ११ ॥ पथिकेभ्यः पन्थादानशीलो न भवेत्[२] तथा च स्नातकव्रतमाचरेदिति भावः ॥ १२ ॥ (८) भवेदित्येव । तपस्वित्वञ्चाग्रिमसूत्रत्रिकेण स्फुटीभविष्यति ॥ १३ ॥ (क) 'दिवा' अहनि तिष्ठेत् इत्येव । नोपविशेत् शयनकथा तु दूरपराहृता (ख) नक्तम्' रात्रौ 'आसीत्' शयनोपवेशने कुर्वीत, न च तिष्ठेदिति नियमः ॥ १४ ॥ (ग) 'वर्षति च' पर्जन्ये 'छन्नं' मनुष्यादिभिर्निर्मितं गृहादिकं न उपसर्पेत् नाश्रयेत् । वृष्टिरपि एव भवेदित्याशयोऽथवा वृक्षादिच्छायावलम्बनेऽपि न दोषः ॥ १५ ॥

वर्षन्तं ब्रूयादापः शक्वर्य इति ॥ १६ ॥ विद्योतमानं ब्रूया—

---

(१) स्यादिति वर्तते । उक्तं सत् पुनरुच्यते—अतिशयेन आचार्याधीनत्वार्थम् । कथं नाम ? आचार्यकार्याविरोधेन व्रतकर्माणि कर्तव्यमिति । मातृपितृशुश्रूषाऽप्याचार्यातिसृष्टेन कर्तव्या । तथा च मनुः (२.२०५)—

न चातिसृष्टो गुरुणा स्वान् गुरूनभिवादयेत् ॥

(२) स्यादिति वर्तते । तथा च मनुः (२.१३८)—

चक्रिणो दशमीस्थस्य रोगिणो भारिण स्त्रियः ।
स्नातकस्य च राज्ञस्य पन्था देयो वरस्य च ॥

इत्येषामपि मार्गो न देयः । अत्र कुल्लूकभट्टः—चक्रयुक्तरथादियानारूढस्य नवत्यधिकवयस, रोगार्तस्य, भारपीडितस्य, स्त्रियाः, अचिरनिवृत्तसमावर्तनस्य, देशाधिपस्य, विवाहाय प्रस्थितस्य पन्थास्त्यक्तव्यः इति—

देवँ रूपाः खलु शक्वर्यो भवन्तीति ॥ १७ ॥ स्तनयन्तं ब्रूयान्महा महान् घोष इति ॥ १८ ॥

यदि पानी बरसता हो तो कहे कि–'ये जल धारा सभी शक्वरी छन्दोमय मन्त्र ही हैं' ॥ १६ ॥ विद्युत् की चमक देखकर कहे कि 'ये सब शक्वरी छन्द भी निश्चय ही इसी प्रकार होते हैं' ॥ १७ ॥ और मेघों का गर्जन सुनकर कहे कि—'ये बड़े-बड़े शब्द अवश्य ही शक्वरी छन्द के हैं' ॥ १८ ॥

(९) 'वर्षन्तं' पर्जन्यमभिलक्ष्य 'आपः' इमाः अपि शक्कर्यः' शक्करिच्छन्दोरूपा एव 'इति' एवं ब्रूयात्' (१६) ॥१०॥ विद्योतमानं बलाहकमभिलक्ष्य 'एवंरूपाः खलु शक्कर्यः भवन्ति इति एवं 'ब्रूयात्' (१७) ॥ ११ ॥ 'स्तनयन्तं' गर्जन्तं घनघटामण्डलमभिलक्ष्य महाः' महत्याः शक्कर्या एव 'महान् घोषः' 'इति' एवं ब्रूयात्' ॥ १८ ॥

न स्रवन्तीमतिक्रामेदनुपस्पृशन् ॥ १९ ॥ न नावमारोहेत् ॥ २० ॥ प्राणसँशये तूपस्पृश्यारोहेत् ॥ २१ ॥

यदि मार्ग में सोते वाली नदी बायें या दाहिने अनति दूर पर मिले तो उसका जलस्पर्श किए बिना आगे न जाए ॥ १९ ॥ वह नौका पर न चढ़े (अर्थात् तैर कर ही नदी पार करे) ॥ २० ॥ किन्तु यदि उसे प्राणसंकट का भय हो तो जल स्पर्श कर नौका पर बैठकर नदी पार करना चाहिए ॥ २१ ॥

(१२) 'स्रवन्तीम्' नदीम् 'अनुपस्पृश्य' उपस्पर्शनमकृत्वैव 'न अतिक्रामेत्' पन्थानमिति ॥ १९ ॥ (१३) 'नावं न आरोहेत्, सन्तरणेनैव नदीपारादिकं गच्छेदिति भावः ॥ २० ॥ (१४) 'प्राणसंशये' यत्र सन्तरणेन पारादिगमने प्राणसंशयः स्यात्, तत्र 'तु' 'उपस्पृश्य' जलम् 'आरोहेत्' नावमिति ॥ २१ ॥

तथा प्रत्यवरुह्य ॥ २२ ॥ उदकसाधवो हि महानाम्न्य इति ॥ २३ ॥ एवं खलु चरतः कामवर्षी पर्जन्यो भवति ॥ २४ ॥

नौका से उतरते समय भी उसी प्रकार जलस्पर्श करना चाहिए ॥ २२ ॥ क्योंकि महानाम्नी ऋचाएँ उदक व्यवहार के द्वारा ही साधनीय होती हैं, अतः

इस व्रत के साधन के लिए सर्वथा उदक व्यवहार का विधान है ॥ २३ ॥ इस प्रकार के आचरण करने वाले जन के लिए मेघ निश्चय ही कामवर्षी होते हैं ॥ २४ ॥

'प्रत्यवरुह्य' नीत इति यावत् 'तया' एव उपस्पर्शनं कर्त्तव्यम् ॥ २२ ॥ महानाम्नीव्रते कथमेवं कर्त्तव्यमित्याह—'हि' यतः 'महानाम्न्यः' ऋचः 'उदकसाधवः' उदकव्यवहारेणैव साधनीया भवन्ति। अतः एतद् व्रतसाधनाय सर्वथैवोदकव्यवहारो विधेय इति भावः ॥ २३ ॥ तेन किम्फलमित्याह;—'एवम्, उक्तप्रकारेण 'चरतः' जनस्य 'खलु' निश्चयमेव 'पर्जन्यः' कामवर्षी भवति'। एवञ्च व्रतमिदं काम्यमिति फलितम् ॥ २४ ॥

अनियमो वा कृष्णस्थानासनपन्थभक्षेषु ॥ २५ ॥

अथवा असमर्थ होने के कारण पूर्वोपदिष्ट कृष्ण वस्त्र धारण आदि नियम का पालन न करने में कोई दोष नहीं है ॥ २५ ॥

'वा' अथवा 'कृष्णस्थानासनपन्थभक्षेषु' पूर्वोक्तेषु 'अनियमः' कर्त्तव्यतया नियमो न स्वीकर्त्तव्यः, असमर्थश्चेदकृतेऽपि कस्मिंश्चिन्नियमे न क्षतिः इत्यर्थः ॥ २५ ॥

तृतीये चरिते स्तोत्रीयामनुगापयेत् ॥ २६ ॥ एवम् इतरे स्तोत्रीये ॥ २७ ॥ सर्वा वाऽन्ते सर्वस्य ॥ २८ ॥

[यह महानाम्नी व्रत जब तक अनुष्ठेय हो उसके] तृतीयांश समय बीतने पर आचार्य इस व्रती को प्रथम ऋक् मूलक साम गान का अभ्यास करावें ॥ २६ ॥ बाद में शेष समय बीतने पर शेष द्वितीय और तृतीय स्तोत्रिय ऋक् का गान भी तृतीयांश के अनुसार करावें।

विमर्श—इस प्रकार व्रतकाल के मध्यम तृतीयांश के बीतने पर मध्यम ऋक् मूलक सामाध्याय का अध्यापन आचार्य करें। इसी से यह सिद्ध है कि अन्तिम ऋक् मूलक साम गान का अध्यापन करना चाहिए ॥ २७ ॥

अथवा व्रतकाल के अन्त में एक ही बार में तीनो स्तोत्रिय ऋचाओं का गान करावें।

विमर्श—इस प्रकार यह भी विकल्प है कि समस्त महानाम्नी ऋचाओं के साम गान का उपदेश आचार्य अन्त में एक ही बार करें ॥ २८ ॥

यावत्कालमेतद् व्रतमाचरितव्यं भवेत्, तस्य 'तृतीये' अंशे 'चरिते'

'स्तोत्रीयां' प्रथमामृचम्' अनुगापयेत्' आचार्यः। व्रतानुष्ठेयकाल तृतीय-

(१) प्रथमस्तोत्रीयानुगाने महानाम्न्यार्चिकमन्त्राः—

ॐ विदा मघवन् विदा गातुमनुशसिषो दिशः।
शिक्षा शचीनांपते पूर्वीणाम्पुरुवसो ॥ १ ॥
ॐ आभिष्ट्वमभिष्टिभिः स्वान्नांशुः।
प्रचेतन प्रचेतयेन्द्र द्युम्नाय न इषे ॥ २ ॥
ॐ एवाहि शक्रो राये वाजाय वज्रिवः।
शविष्ठ वज्रिनृञ्जसे महिष्ठं वज्रिन्नृञ्जसे
आयाहि पिब मत्स्व ॥ ३ ॥
इति, सा० स० म० प्र० स०।

महानाम्न्यार्चिकेषु प्रथमस्तोत्रीयाणां मन्त्राणां व्याख्या—

हे मघवन! धनवन् इन्द्र, विदाः त्वं विद्धि। अत्र वेदितव्यकर्मविशेषस्यानुपादानात् सर्वं जानीहीत्यर्थः। यतस्त्वं सर्वज्ञः, तस्मात् गातुं यजमानगन्तव्यं देशं विदाः जानीहि। यद्वा, गातुः गायतेः स्तुतिकर्मणः, त्वदर्थं क्रियमाणां स्तोतुः स्तुतिं विद्धि। ततो दिशः यजमानस्य साधुमार्गेण स्वर्गं गन्तुं मार्गान् अनुशंसिषः अनुशंस अपदिशं बोधयेति यावत्। हे शचीनाम्पते! शचीशब्देन कर्म प्रज्ञा वा, पूर्वीणां बह्वीणां शचीनां पते स्वामिन्, हे पुरुवसो पुरु प्रभूतं वसु! धनम् यस्य, हे प्रभूतधनेन्द्र! आभिः इदानीं क्रियमाणाभिः, अभिष्टिभिः अभ्येषणाभिः प्रार्थनाभिः स्तुतिभिस्स्मदीयाभिः, हेतुभिः त्वं शिक्ष, शिक्षतिर्दानकर्मा; देहि वसूनीति शेषः। पुरुवसो इति सम्बोधनसामर्थ्याद् वसूनीति लभ्यते। स्वर्णांशुः स्वरादित्यः, नकार उपमार्थीऽयः, अंशुः अश्नोतेर्व्याप्तिकर्मणः। तथा च आदित्य इव व्याप्तो भवतीन्द्रः। हे प्रचेतन! हे प्रशस्तज्ञानेन्द्र! प्रचेतय। अस्मदीयां भक्तिमवधारय जानीहि। हे इन्द्रः नः अस्मभ्यं द्युम्नाय यशसे, यद्वा धनलाभाय, इषे अन्नलाभाय च भव, हि-शब्दः कारणपरः, हि यस्मात्, त्वं शक्रः धनदाने समर्थं एव भवसि तस्मात् धनादिकं प्रयच्छ। हे वज्रिवः वज्रवन्निन्द्र, यद्वा वज्रः व्रजनं गमनं तद्वान् वज्री, अथवा वज्रायुधं तद्वन्निन्द्र, राये धनलाभाय, वाजाय अन्नलाभाय च प्रसन्नो भवेति शेषः। हे शविष्ठ अतिशयेन बलवन्। हे वज्रिन् इन्द्र, ऋञ्जसे अस्माभिर्धनलाभार्थं प्रसाध्यसे, यद्वा प्रसाधय अस्मान् धनादिभिः समृद्धान् कुर्वित्यर्थः। हे मंहिष्ठ, अतिशयेन दानशीलपूज्य, वा हे वज्रिन् ऋञ्जसे अस्माभिः प्रसाध्यसे। यस्मादेवं तस्माद् आयाहि अस्मदीयं यज्ञं प्रत्यागच्छ। आगत्य च पिब। तं सोमं पीत्वा मत्स्व हृष्टो भवेति। इति।

भाग-गते आचार्यस्तं व्रतिनमाद्यर्ङ्मूलकं सामाध्यापयेदित्यर्थः ॥ २६ ॥ 'इतरे' द्वितीय-तृतीये' अपि स्तोत्रीये' ऋचौ 'एवम्' तृतीयांशानुसारत एवानु॰

---

(१) द्वितीयस्तोत्रीयानुगाने महानाम्न्यार्चिकमन्त्राः—

ॐ विदा राये सुवीर्यम्भुवो वाजानाम्पतिर्वशां अनु ।
महिष्ठ वज्रिन्नृञ्जसे य. शविष्ठः शूराणाम् ॥ ४ ॥
ॐ यो मंहिष्ठो मघोनामंशुर्न शोचिः ।
चिकित्वो अभिनो नयेन्द्रो विदे तमु स्तुहि ॥ ५ ॥
ॐ ईशे हि शक्रस्तमूतये हवामहे जेतारमपराजितम् ।
स नः स्वर्षदति द्विषः क्रतुश्छन्द ऋतं बृहत् ॥ ६ ॥

इति, सा० स० ग० द्वि० स्त० ।

महानाम्न्यार्चिकेषु द्वितीयस्तोत्रीयाणां मन्त्राणां व्याख्या—

हे इन्द्र, सुवीर्य शोभनो वीरः पुत्रः शोभनपुत्रोद्भवसामर्थ्यम् । यदा शोभनवीर्यं युद्धादिष्वपराजयम्, विदा। लम्भय प्रापय, किमर्थम् ? राये धनार्थम्, धनं रक्षितुमित्यर्थः । वाजानां सेनानां बलानां वा पतिः स्वामी त्वं भुवः भवसि । वशान् काम्यमानानर्थान्, अनु अभिलक्ष्य, यथाकाममित्यर्थः, यद्वा वशांस्त्वदधीनान् यजमानान् भुवः भावयसि । हे मंहिष्ठ अतिशयेन बलवन्, यः च मघोनां धनवतां मध्ये मंहिष्ठः अतिशयेन दाता, तस्मादस्माभिर्धनार्थं प्रसाध्यसे । अंशुर्न व्याप्त आदित्य इव, शोचिः दीप्तो भवतीन्द्रः । हे चिकित्वः, चिकित्वन् ज्ञानवन्निन्द्र, नः अस्मान् अभिलक्ष्य नय धनादि प्रापय । इन्द्रः परमैश्वर्ययुक्तः, विदे विद्यते सर्वैर्ज्ञायते, तमु तमेवेन्द्रं स्तुहि स्तुतिं कुर्विति । ऋषिरात्मानमेव शास्ति–हि यस्मात् शक्रः शत्रुहनन-समर्थः, इन्द्रः ईशे ईष्टे सर्वस्येति, तस्मात् तमेव स्तुहीति समन्वयः । तम् इन्द्रम्, ऊतये अस्मद्रक्षणार्थम्, हवामहे आह्वयामहे, कीदृशम् ? जेतारं युद्धेषु शत्रुजयशीलम्, अत एव । अपराजितं न कदाप्यन्यैः पराजितम्, सः इन्द्रः, नः अस्माकम्, द्विषः द्वेष्टॄन्, अतिस्वर्षत् अत्यर्थमुपतपतु विनाशयतु, अथवा, स्वरतिर्गतिकर्मा, अस्मत्तः शत्रूनतिगमयतु अतिपारयतु । (तथा च बह्वृचाः स नः पर्षदित्यामनन्ति) । क्रतुः अस्माभिरनुष्ठीयमानं कर्म, छन्दः गायत्र्यादिकं शस्त्रलक्षणम, ऋतम् उदकम् सोमरसं इत्यर्थः । यद्वा, ऋतं सत्यभूतं कर्मफलं तत्सर्वं बृहत् प्रभूतमस्त्विति शेषः । इति ।

तृतीयस्तोत्रीयानुगाने महानाम्न्यार्चिकमन्त्राः—

ॐ इन्द्रं धनस्य सातये हवामहे जेतारमपराजितम् ।
स नः स्वर्षदति द्विषः स नः स्वर्षदति द्विषः ॥ ७ ॥

ऊँ पूर्वस्य यत्ते अद्रिवोऽंशुर्मदाय ।
सुम्न आधेहि नो वसो पूर्त्तिः शविष्ठ शस्यते ।
वशीहि शक्रो नूनं तन्नव्यं सन्नयसे ॥ ८ ॥

ऊँ प्रभो जनस्य वृत्रहन् समर्येषु ब्रवावहै ।
शूरो यो गोषु गच्छति सखा सुशेवो अद्वयुः ॥ ९ ॥

इति, सा० स० म० त्रि० स० ॥

महानाम्न्यार्चिकेषु तृतीयस्तोत्रीयाणां मन्त्राणां व्याख्या—

जेतारम् अपराजितम् इन्द्रम्, धनस्य सातये लाभार्थम्, हवामहे आह्वयाम इति । सः इन्द्रः, नः अस्माकम्, द्विषः द्वेष्टॄन् अतिस्वर्षत् विनाशयतु । येऽप्यन्ये स्वयं द्वेषं न कुर्वन्ति तथापि द्विषः अस्माभिर्द्वेष्याः, तानप्यतिस्वर्षत् (सर्वत्र हि वेदेषु योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्म इत्यादौ द्वेष्टॄणां द्वेष्याणाञ्च विनाशः प्रार्थ्यते)। हे अद्रिवः अद्रयः पर्वताः तद्वन् इन्द्र, इन्द्रो यतः पर्वतान् भिनत्ति अतः पर्वतेन्द्रयोर्भेद्यभेदकसम्बन्धः । यद्वा, आदृणात्यसुररक्षांसीति वा, अन्यैः स्वयं न दीर्यते प्रहृत इति वा अद्रिर्वज्रः, तद्वन्निन्द्र, पूर्वस्य पुरातनस्य ते तव यद् धनमस्ति तदस्मभ्यमाहरेति । हे इन्द्र, योऽयमंशुः सोमलताखण्डः, तज्जन्यः सोमरस इत्यर्थः, स च मदाय भवति । यस्मादस्माभिर्दत्तः सोमः, तव मदाय भवति तस्मात् हे वसो निवासहेतो इन्द्र, नः अस्मान् सुम्ने सुखे धने वा, आधेहि स्थापय । हे शविष्ठ बलवत्तमेन्द्रः, तव पूर्तिः त्वदीयं धनपूरणं दानमित्यर्थः, शस्यते सर्वैः स्तूयते । हि यस्मात् शक्रः समर्थ इन्द्रः वशी सर्वस्य नियन्ता खलु । यद्वा, वशी वसुविषयस्वीकारवान्, अत एव शक्रः दाने शक्तिमान् तस्मात् ते दानं स्तूयते । हे प्रभो सर्वस्य जनस्य स्वामिन्, हे वृत्रहन् वृत्रो मारकः शत्रुः, तद्धनवान् शत्रुघातिन्, नव्यं नूतनं वली पलितादिलक्षणेन पुराणत्वेन वर्जितम्, तमिन्द्रं त्वां नूनम् अवश्यम्, सन्यसे अहं सम्यग् नितरां प्रक्षिपामि । अस्मिन् कर्मणि हविषो भोक्तृत्वेन स्थापयामीत्यर्थः । यद्वा, हे इन्द्र ! नव्यं नूतनमन्यैरक्षतपूर्वं यथा भवति तथा नूनमिदानीं सन्यसे अस्माभिः सेव्यसे । किञ्च अर्येषु अर्थेषु प्राप्तव्येषु यज्ञादिषु कर्मसु संप्रवावहै त्वञ्चाहञ्चावां सम्भाषां करवावहै (सर्वस्य यजमानस्येन्द्र साक्षात्कारो भवति, तमर्थं द्योतयितुमेकत्र सहवदनमित्यर्थं इति सायणाचार्यः)। य इन्द्रः शूरः समर्थः, गोषु गवार्थं युद्धादिषु शत्रुभ्यो गवानयनार्थं गच्छतीत्यर्थः । कीदृशः ? सखा समानख्यानः, सखिवदत्यन्तस्निग्धः, अतएव सुशेवः शोभनसुखः अकृच्छ्रेण सुखकरः, अद्वयुः द्वयरहितः सत्यानृतवर्जितः, केवलसत्यरूप इत्यर्थः । यद्वा, यद् द्वन्द्वं मनसि वचसि क्रियायां वाऽन्यत् कार्यमिति तद्रहितः । इति ।

गापयेत्। एवं हि व्रतकालस्य मध्यम तृतीयेंऽशेऽतीते मध्यमङ्मूलकं सामाध्यापयेत् किञ्चान्तिमतृतीयेंऽशेऽन्तिमङ्मूलकं साम चाध्यापयेत् इति पर्यवसितार्थः ॥ २७ ॥ 'वा' अथवा 'सर्वस्य' व्रतकालस्य 'अन्ते' एकदैव 'सर्वाः'[१] स्तोत्रीयाः अनुगापयेत्; महानाम्नीसाम पूर्णमेवाध्यापयेदिति यावत् ॥ २८ ॥

यद्विहित महानाम्नीसामानुगापनं तत्रेति कर्त्तव्यतामाह :—

उपोषिताय सम्मीलितायानुगापयेत् ॥ २९ ॥

इस प्रकार आचार्य को चाहिए कि 'उपयोषिताय' आदि आगे कहे जाने वाले विधिपूर्वक भोजन शून्य रहने वाले ब्रह्मचारी के लिए और 'सम्मीलिताय' आदि आगे कहे जाने वाले विध्यनुगत वस्त्र पहनकर नेत्र बन्द किए हुए ब्रह्मचारी को सामगान का उपदेश करे ॥ २९ ॥

'उपोषिताय' वक्ष्यमाण (३२) विध्यनुगतभोजनशून्याय किञ्च

---

(१) सर्वा इति पञ्चपुरीषपदैः सह सम्पूर्णो महानाम्न्यार्चिकः तन्न शेषमन्त्रः –

ऊँ एवा ह्येव एवा ह्यग्ने एवा हीन्द्र ।
एवा हि पूषन् एवा हि देवाः ॥ १० ॥

(इति, सा० स० म० शे० ख)

अथ पुरीषपदानि व्याख्यायन्ते—

हे इन्द्र ! त्वम् एवा (मन्त्रे तु एवा इति निपातस्य च (६, ३, १३६) इति दीर्घः, एवं सर्वत्र ज्ञातव्यम्। अव्याख्यादीर्घे यथा स्वान्नांशुः (द्र० पृ० ३४०) इति।) एव हि एवमुक्तगुणोऽसि खलु। यद्वा, एव शब्दः इण् गतौ इत्यस्मात् वन्प्रत्ययान्तः। अस्मदीयं यज्ञ प्रत्येव आगन्ता भवेति शेषः। एवेति पुनरुक्तिरादरार्था। हे अग्ने ! अग्रस्य नेतः देवानां पुरतो गन्तरिन्द्र, एतदात्मक वा इन्द्र एव हि, एवं गुणयुक्तः खलु यज्ञ प्रत्यागन्ता वा भव। हे इन्द्र ! परमैश्वर्ययुक्त, यद्वा, इन्धे प्रकाशयति तेजसा भूतानीतीन्द्रः, अथवा इदं सर्वं जगत् प्रथममपश्यदितीन्द्रः, एव हि। पूषन् विश्वस्य पोषक एतदात्मक वा इन्द्रः, एवमुक्तगुणः खलु त्वम्। हे देवाः इन्द्रादयः, सदा सर्वदेवानां बलरूपेणेन्द्रस्यावस्यानात् इन्द्र एव बहुत्वेन सम्बोध्यते। हे इन्द्र ! एवमुक्तगुणः खलु त्वम्। यद्वा, एवशब्दात् 'सुपां सुलुक०' इति (७.१.३९) जसो लुक् अस्मदीयं यज्ञम् आगन्तारो भवतेत्यर्थः। इति शेषमन्त्रव्याख्या।

'सम्मीलिताय' वक्ष्यमाण (३०) विध्यनुगतवसनबद्धनेत्राय एव ब्रह्मचारिणे 'अनुगापयेत् शक्करी स्तोत्रीयास्तिस्र, आचार्यः ॥ २९ ॥

'सम्मीलनप्रकारमाह :—

कंसमपां पूरयित्वा सर्वौषधीः कृत्वा हस्ताववधाय प्रदक्षिणमाचार्योऽहतेन वसनेन परिणह्येत् ॥ ३० ॥

आचार्य एक कांसे के पात्र में जल भरकर उसमें धान्य सात औषधि द्रव्य डालकर ब्रह्मचारी के दोनों हाथों को उसमें डुबोकर उसकी दोनों आंखों को नवीनवस्त्र से बांध दें।

विमर्श—इस प्रकार से नेत्र के बन्धन की क्रिया को 'परिणहन कर्म' कहते हैं (तु० शाङ्खा० गृह्य० ६.३.७) और इस प्रकार परिणहन कर्म के अन्त में आचार्य ब्रह्मचारी को महानाम्नी साम का अध्ययन करावें ॥ ३० ।

'कंसं' पात्रमेकम् 'अपां' प्रदानेन 'पूरयित्वा' तत्रोदकपूर्णकांस्यपात्रे 'सर्वौषधीः' व्रीह्यादीः सप्त 'कृत्वा' क्षिप्त्वा, तत्रैव 'हस्तौ' ब्रह्मचारिणः 'अवधाय' निमग्नौ कारयित्वा 'आचार्य.' 'प्रदक्षिण' यथा स्यात् तथा 'अहतेन वसनेन' तस्यैव अक्षिणी परिणह्येत्' बद्धे कुर्यात्। इत्थमेव सम्पाद्यं तस्य सम्मीलनम् ॥ ३० ।

परिणहनान्ते[1] वाऽनुगापयेत् ॥ ३१ ॥ परिणद्धो वाग्यतो न भुञ्जीत त्रिरात्रमहोरात्रौ वा ॥ ३२ ॥

आचार्य परिणहन कर्म के अन्त में ब्रह्मचारी को महानाम्नी साम का गान करे ॥ ३१ ॥ पूर्वोक्त प्रकार से परिणद्ध वह ब्रह्मचारी वाणी का संयम (मौन व्रत) करते हुए तीन रात या एक दिन एवं एक रात भोजन करे ॥ ३२ ॥

---

१. परिणहनान्ते परिणहनान्तरमित्यर्थः। एतस्मिन् पक्षेऽनुपोषितायैव वाग्यताय निमग्नहस्ताय परिणद्धाक्षायारण्य एवानुगापनं भवति, पश्चादुपोषणमिति। एवं च हस्तोन्मज्जनोत्थानचंक्रमणानि स्नानसन्ध्योपासनमूत्रपुरीषादिक विना न कर्त्तव्यानि। परिणहनस्रंसनं तु तत्रापि न कर्त्तव्यम्। उक्तं च—

न हस्तोन्मज्जनोत्थाने कार्ये स्नानादिकं विना।
अक्षिसन्नहनत्यागस्तत्रापि न भवेत् क्वचित् ॥
यदाऽनुपोषित एवानुगीतस्तदाऽरण्ये तथैव निमग्नहस्तः।

'परिणहनान्ते' 'वा' च 'अनुगापयेत्' ब्रह्मचारिणं महानाम्नीसाम आचार्यः ॥ ३१ ॥ 'परिणद्धः' सः 'वाग्यतः' भवेत् 'किञ्च 'त्रिरात्रम् अहोरात्रौ वा, यथासामर्थ्यं 'न भुञ्जीत' भोजनं न कुर्वीत् ॥ ३२ ॥

परिणहनोपवासवैकल्पमाह;—

अपि वाऽरण्ये तिष्ठेदाऽस्तमयात् ॥ ३३ ॥ श्वोभूतेऽरण्येऽग्निमुपसमाधाय व्याहृतिभिर्हुत्वाऽथैनमवेक्षयेद् अग्निमाज्यमादित्यं ब्राह्मणमनड्वाहमन्नमपो दधीति स्वरभिव्यख्यं ज्योतिरभिव्यख्यमिति ॥ ३४ ॥ एवं त्रिः सर्वाणि ॥ ३५ ॥

अथवा, सूर्यास्त काल से लेकर (रात्रि पर्यन्त) वन में ही रहे ॥ ३३ ॥ इसके बाद प्रभात होने पर रात्रि में अरण्य में ही अग्नि यथाविधि प्रज्वलित कर (उस प्रज्वलित अग्नि में ब्रह्मचारी 'भूर्भुवः स्वः' इन) व्याहृतियों से आहुति देकर (हवन करे)। इसके बाद आचार्य उस ब्रह्मचारी को १. अग्नि, २. आज्य, ३. आदित्य, ४. ब्राह्मण, ५. वृषभ, ६. अन्न, ७. जल और ८. दधि इन आठ माङ्गलिक द्रव्यों का दर्शन करावें। वहाँ 'स्वरभिव्यख्यं ज्योतिरभिव्यख्यम्' (स्वः देखा, ज्योति देखा)—इस मन्त्र का पाठ करावे ॥ ३४ ॥ इस प्रकार उक्त क्रम से तीन बार सभी वस्तुओं के प्रति (मन्त्र पाठ कराए) ॥ ३५ ॥

विमर्श —स्वरभिव्यख्यम् आदि मन्त्र गोभिलाचार्य द्वारा गृहीत है ॥ ३५ ॥

'अपि वा' अथवा 'आ अस्तमयात्' सूर्यास्तकालादारभ्य अरण्ये तिष्ठेत्' अरण्यस्थितिं कुर्वीत। एतस्मादेव लिङ्गाद् उपोषणाहः, कृत्स्नमेकस्मिन्नरण्येऽवस्थानम्। अथवा, आअस्तमयात् अस्तमयं यावदरण्ये तिष्ठेत् रात्रौ तु ग्रामे वासीत ॥ ३३ ॥ तत 'श्वोभूते' प्रभातायां रजन्यां 'अरण्ये, एव तत्र 'अग्निम्' 'उप समाधाय' यथाविधि प्रज्वाल्य तत्र आज्यलिप्तेऽग्नौ ब्रह्मचारी 'व्याहृतिभिः भूर्भुव स्वरिति 'हुत्वा' 'अथ' अनन्तरम्, आचार्यः 'एनम्' ब्रह्मचारिणम्, 'अग्निम्' आज्यम, आदित्यं, ब्रह्माणम्, अनड्वाहम्, अन्नम्; अपः, दधि–'इति' अष्टौ 'अवेक्षयेत्' दर्शयेत्। तत्र च 'स्वरभिव्यख्य ज्योतिरभिव्यख्यं'–'इति' इमं मन्त्रं पाठयेत्। 'एवं' उक्तलक्षणं मन्त्रं त्रिः' त्रिवारं 'सर्वाणि' वस्तूनि प्रति पाठयेदित्येव। तथा च एतन्मन्त्रस्य त्रिस्त्रिः पाठेनैव अग्न्यादीनामवेक्षणमिति निष्पन्नम् ॥ ३३-३५ ॥

शान्ति कृत्वा गुरुमभिवादयते ॥ ३६ ॥ सोऽस्य वाग्वि-सर्गः ॥ ३७ ॥

सभी कर्मों की समाप्ति पर शान्ति पाठ कर आचार्य का अभिवादन करे ॥३६॥ (गुरु का अभिवादन करने तक) वह ब्रह्मचारी (संयत वाक् रहे । अभिवादन के बाद) संयत वाक् का नियम छोड़ दे ॥ ३७ ॥

सर्वकर्मशेषे 'शान्ति कृत्वा' शान्तिपाठं पठित्वेति यावत् 'गुरुम्' आचार्यम् 'अभिवादयते' ॥ ३६ ॥ 'स.' अभिवादनकाल एव 'अस्य' व्रतिनः 'वाग्विसर्गः' वाचां विसर्गो यत्र तादृशः ॥ ३७ ॥

अनड्वान् कंसो वासो वर इति दक्षिणाः ॥ ३८ ॥ प्रथमे विकल्पः ॥ ३९ ॥ आच्छादयेद् गुरुमित्येके ॥ ४० ॥

(महानाम्नीव्रत के अन्त में) वृषभ, कांस्यपात्र, वस्त्र और गौ दक्षिणा देनी चाहिए ॥ ३८ ॥

गौ के विकल्प के रूप में (ही वृषभ, कांस्यपात्र आदि में एक देने को कहा) है ॥ ३९ ।

विमर्श—छन्दोगपरिशिष्ट ३.८.१४ में कहा है—

गौर्विशिष्टतमा विप्रैर्वेदेष्वपि निगद्यते ।
न ततोऽन्यद् वरं यस्मात् तस्मात् गौर्वर उच्यते ॥

इस प्रकार गो दक्षिणा वर अर्थात् श्रेष्ठ है ॥ ३९ ॥

किन्ही याज्ञिक के मत से गुरु को सर्वाङ्ग वस्त्र से आच्छादित करना चाहिए ॥ ४० ॥

विमर्श - कर्मप्रदीप ३.८.१५ में कहा है—

येषां व्रतानामन्तेषु दक्षिणा न विधीयते ।
वरस्तत्र भवेद् दानमपि वाच्छादयेद् गुरुम् ॥ ४० ।

'अनड्वान् वृषभः, 'कंस' कांस्यपात्रम्, वासः 'वसनम्, 'वरः' गौः इति' चतस्रः दक्षिणाः' महानाम्निव्रतस्येति शेषः ॥ ३८ ॥ तत्र च 'प्रथमे' अनडुह्-द्रव्ये एव विकल्पः' विकल्पतः कंसादीनामन्यतमो व्यवस्थेयः ॥ ३९ ॥ 'एके' आचार्याः 'तु' 'गुरुम् आच्छादयेत्'-वासोभिरिति शेष —इत्येव विदध-तीति ॥ ४० ॥

इदानीं पुनः सर्वव्रतसामान्यमेव किञ्चिद् वक्तव्यमित्यत आह—

ऐन्द्रः स्थालीपाकस्तस्य जुहुयादृचं साम यजामह इत्येतयर्चा सदसस्पतिमद्भुतमिति चोभाभ्यां वा ॥ ४१ ॥ अनुप्रवचनीयेष्वेवं सर्वत्र ॥ ४२ ॥

इन्द्र देवताक स्थाली पाक (चरु) को पकावे। इस चरु को यथाभाग ग्रहण कर 'ऋचं साम यजामहे' (४.२.३.१०) इस ऋचा का पाठ करते हुए अथवा 'सदसस्पतिमद्भुतम्' (२.२.३.४) आदि ऋचा अथवा दोनों ऋचाओं का पाठ करते हुए होम करे ॥ ४१ ॥

सभी साम ग्रन्थों के अध्ययन में यही विधि समझनी चाहिए। (किन्तु महानाम्नी साम के लिए यह विधि नहीं है) ॥ ४२ ॥

विमर्श—द्वितीय प्रपाठक के दसवें खण्ड के सोलहवें सूत्र में व्रत ग्रहण के समय जिन मन्त्रों आदि का निर्देश किया गया है कुछ पाठ-भेद से वे ही मन्त्र अध्ययन की समाप्ति में भी विहित हैं ॥ ४२ ॥

महानाम्निकव्रतकृत्यमुक्त्वेदानीं सर्वव्रतसाधारणशेषकर्त्तव्याणि क्रमाद् विधत्ते—

'ऐन्द्रः' इन्द्रदेवताकः 'स्थालीपाकः' पक्तव्य इति यावत्। 'तस्य' स्थालीपाकान्नस्य भागैकम् 'ऋचं साम यजामहे (४, २, ३, १०)' 'इति' एतया ऋचा, 'वा' अथवा सदसस्पतिमद्भुतम् (२, २.३.४) 'इति' एतया एतया ऋचा, 'वा' अथवा 'उभाभ्याम् एव ऋग्भ्याम् 'जुहुयात्' ॥ ४१ ॥ एवं उक्तप्रकारो विधिः 'अनुप्रवचनीयेषु' सर्वसामाध्ययनेष्वेव बोध्यः, न तु महानाम्निसामाध्ययनार्थं एवेति ॥ ४२ ॥

पूर्वत्र (२ प्र० १० ख १६ सू०) व्रतग्रहणकाले ये मन्त्रा विहिताः व्रतसमाप्तिकाले तेषामेव पाठपरिवर्त्तनेन व्यवहारो विधीयते;—

सर्वत्राचारिषं तदशकं तेनारात्समुपागामिति मन्त्रविशेषः ॥ ४३ ॥

सभी व्रतों के अन्त में मन्त्रविशेष में (पाठ का परिवर्तन करना चाहिए। वे पाठ परिवर्तन किस प्रकार हों? इस पर कहते हैं कि) आचार्यम्, तदशकम्, तेनारात्सम् और उपागाम् आदि पूर्वोक्त (मन्त्र ब्रा० १ ६.९-१०) मन्त्र की क्रिया आदि भूतकाल के रूप में व्यवहृत करे। (इसी प्रकार 'अग्ने व्रतपते' (१.६.९-१३) आदि पाँचों मन्त्रों में जानना चाहिए) ॥ ४३ ॥

'सर्वत्र' व्रतान्तेषु 'मन्त्रविशेषः' पाठपरिवर्त्तनकृतः कर्त्तव्यः इति कानि च तानि पाठपरिवर्त्तनानि ? इत्याह–'अचारिषम्', 'तदशकम्' 'तेनारात्सम्' 'उपागम्' 'इति' इमानि। तानि च मन्त्रब्राह्मणोक्तेषु 'अग्ने व्रतपते (१, ६; ९-१३)' इत्येवमादिषु पञ्चसु' बोध्यानि ॥ ४३ ॥

आग्नेयेऽज ऐन्द्रे मेषो गौः पावमाने पर्वदक्षिणाः ॥ ४४ ॥

विद्यार्थी को चाहिए कि वह साम के 'आग्नेय-पर्व' गुरु से पढ़ लेने पर एक अज (बकरा); (साम के) 'ऐन्द्र पर्व' पढ़ लेने पर एक भेड़ा तथा 'पावमान-पर्व' पढ़ लेने पर एक गाय दक्षिणा में दे ॥ ४४ ॥

विमर्श—इन्हीं को पर्व दक्षिणा कहते हैं। वस्तुतः गेयगान नामक सामवेदीय गान का 'पर्व' नाम से प्रधान रूप में परिच्छेद त्रय के पढ़ाने की ये दक्षिणा

---

१. प्रथममन्त्रस्तु—

ॐ अग्ने व्रतपते व्रतमचारिषं तत् ते प्रब्रवीमि तदशकम्।
तेनारात्समिदमहमनृतात् सत्यमुपागां स्वाहा ॥ इति।

द्वितीयमन्त्रस्तु—

ॐ वायो व्रतपते व्रतमचारिषं तत्ते प्रब्रवीमि तदशकम्।
तेनारात्समिदमहमनृतात् सत्यमुपागां स्वाहा ॥

तृतीयमन्त्रस्तु—

ॐ सूर्यव्रतपते व्रतमचारिषं तत् ते प्रब्रवीमि तदशकम्।
तेनारात्समिदमहमनृतात् सत्यमुपागां स्वाहा ॥

चतुर्थमन्त्रस्तु—

ॐ चन्द्र व्रतपते व्रतमचारिषं तत् ते प्रब्रवीमि तदशकम्।
तेनारात्समिदमहनृतात् सत्यमुपागां स्वाहा ॥

पञ्चममन्त्रस्तु—

ॐ व्रतानां व्रतपते व्रतमचारिषं तत् ते प्रब्रवीमि तदशकम्।
तेनारात्समिदमहमनृतात् सत्यमुपागां स्वाहा ॥

मं० ब्रा० १।६।९-१३। सर्वेषां मन्त्राणां तु मन्त्रब्राह्मणमेवाकरस्थानम्।

गोभिलाचार्यसूत्रोपदेशात् (३·२·४३) पाठभेद इति। केचित्तु 'व्रतमचार्षम्' 'तत्ते प्रावोचम्' 'तदशकम्' 'तेनाशकम्' 'तेनारात्स्यम्' इति पाठभेदेन मैत्रायणी-संहिताऽपि (४।९।२६) आकरस्थानमित्याकलयन्ति।

होती हैं। यदि छात्र इसे ब्रह्मचर्यावस्था में न दे सके तो गृहस्थाश्रम में जब प्रवेश करने लगे तब दे दे ॥ ४४ ॥

'आग्नेये' पर्वणि अधीते, तस्याध्यापनस्य दक्षिणा, 'अजः' एकः आचार्याय देयः। 'ऐन्द्रे' पर्वणि अधीते, तस्याध्यायपनस्य दक्षिणा, 'मेषः' एकः आचार्याय देयः। 'पावमाने' पर्वणि अधीते, तस्याध्यापनस्य दक्षिणा, 'गौः' एका आचार्याय देया। इति 'पर्वदक्षिणाः' गेयगाननाम-सामग्रन्थीयपर्वनाम परिच्छेदानामध्ययननिमित्ता दक्षिणाः आचार्यलभ्याः, ताश्च ब्रह्मचर्यावस्थायां दातुमसमर्थश्चेत् गृहस्थाश्रमप्रवेशकाले एव दातव्याः तत्र च न दोषश्रुतिः ॥ ४४ ॥

गुरुकुलात् पितृगृहे प्रत्यागतस्य गुर्वादिभोजनं विधत्ते;—

प्रत्येत्याचार्यं सपर्षत्कं भोजयेत् ॥ ४५ ॥ सब्रह्मचारिणश्चोपसमेतान् ॥ ४६ ॥

गुरुकुल से अपने घर लौटने पर गुरु एवं गुरु पुत्रों आदि परिजनों के सहित अपने आचार्य को शिष्य भोजन कराए ॥ ४५ ॥

यह भोजन अपने घर पर हो या गुरु गृह में हो शिष्य को चाहिए कि वह अपने सहपाठियों को भी निमन्त्रण देकर उनके साथ भोजन कराए ॥ ४६ ॥

'अप्रत्येति' गुरुकुलात् स्वगृहे प्रत्यागतः 'सपर्षत्कं पुत्रादिपरिजनसहितम् 'आचार्यं 'भोजयेत्'। तदिदं भोजनं स्वगृहे आचार्यादिकानानीय आचार्यगृहे गत्वा चेति न नियमः ॥ ४५ ॥ किञ्च 'सब्रह्मचारिणः' सतीर्थाः समानकालव्रत चरिणश्च 'उप' समीपे स्वगृहे 'समेतान्' निमन्त्रणाहूतान् 'च' अपि भोजयेदित्येव ॥ ४६ ॥

ज्येष्ठसाम्नो महानाम्निकेनैवानुगापनकल्पो व्याख्यातः ॥ ४७ ॥

ज्येष्ठ-साम का अध्ययन प्रकार 'महानाम्नी' के समान ही कहा गया है ॥४७॥

विमर्श – ज्येष्ठ साम के अध्ययन में भी शिष्य को उपवास करके नेत्र बन्धन आदि कार्य करना चाहिए।

'ज्येष्ठसाम्नः'¹ 'अनुगापनकल्प' अध्यापनप्रकारः 'महानाम्निकेन एव' कथितः। ज्येष्ठसाम च महानाम्निकमिव उपोषितमुपनद्धाक्षमरण्यगं वाध्यापयेदित्यर्थः ॥ ४७ ॥

अथेदानीं कौथुमानाचिरप्रतिपाल्यनियमानाह;—

तत्रैतानि नित्यव्रतानि भवन्ति ॥ ४८ ॥ न शूद्रामुपेयात् ॥ ४९ ॥ न पक्षिमांसं भुञ्जीत ॥ ५० ॥ एकधान्यमेकदेशमेकवस्त्रञ्च वर्जयेत् ॥ ५१ ॥

इस (समावर्तन) के बाद यहाँ आगे कहे जाने वाले नित्य कर्मों का पालन अवश्य करना चाहिए ॥ ४८ ॥

१. शिष्य को शूद्रा कन्या से विवाह नहीं करना चाहिए ॥ ४९ ॥

२. उसे पक्षियों का मांस नहीं खाना चाहिए ॥ ५० ॥

३. प्रतिदिन एक ही प्रकार का अन्न न खाए (अर्थात् कभी गेहूँ, कभी धान्य (चावल), कभी जौ का व्यवहार करे)। बहुत दिनों तक निरन्तर एक ही देश में न रहे। (अर्थात् एक बार देशाटन के लिए घर से बाहर अवश्य निकले)। एक ही वस्त्र का सदैव न पहने (अर्थात् अदल-बदल कर धुले हुए वस्त्र पहनना चाहिए) ॥ ५१ ॥

'तत्र' समावर्त्तनात् परम् 'एतानि' नित्यव्रतानि, सर्वथैव प्रतिपाल्यः नियमाः 'भवन्ति' ॥ ४८ ॥ (१) शूद्रां न उपेयात्' शूद्रायाः पाणिग्रहणं न

---

१. ननु त्रीणि ज्येष्ठसामानि। उक्तञ्च—अग्नेर्वैश्वानरस्य त्रीण्याज्यदोहानीति (आर्षेय ब्राह्मणम् ३.१९)। कस्मादिहैकवचनं ज्येष्ठसाम्न इति ? उच्यते—त्रयाणामप्येकस्यामृचि गीतत्वाद् ऋचमभिप्रेत्यैकवचनं कृतम्।

आज्यदोहमन्त्रत्रयी तु—

ॐ मूर्धानं दिवो अरतिं पृथिव्या वैश्वानरमृत आ जातमग्निम्।
कविं सम्राजमतिथिं जनानामासन्नः पात्रं जनयन्त देवाः ॥
ॐ त्वां विश्वे अमृतजायमानं शिशुं न देवा अभि सं नवन्ते।
तव क्रतुभिरमृतत्वमायन् वैश्वानर यत् पित्रोरदीदेः ॥
ॐ नाभिं यज्ञानां सदनं रयीणां महामाहावमभि सं नवन्ते।
वैश्वानरं रथ्यमध्वराणां यज्ञस्य केतुं जनयन्त देवाः ॥
(सा० स० उ० ४.२ ऋ० ३)

कुर्यात्[1] ॥ ४९ ॥ (२) 'पक्षिमांसं न भुञ्जीत्' विहिताविहितस्य कस्यापि पक्षिणो मांसं न अद्यात् ॥ ५० ॥ (३) 'एकधान्यम्' एक देशं एकवस्त्रं च वर्जयेत्' चिरमेकविधशस्यमेव नाद्यात्, सर्वदैव निरन्तरमेकदेशे एव वासं न कुर्यात् किञ्च आच्छिन्नमेकमेव वस्त्रं न परिदध्यात् अपितु कदाचित् धान्यं' कदाचिद्वा गोधूमं, कदाचिद् वा यवं भक्षेत्, एवं वर्षमध्ये एकवारमपि देशाटनं कर्त्तव्यमेव, किञ्च परिहितवस्त्राणि सदैव परिवर्त्य प्रक्षालनादिना पुनर्गृह्यादिति ॥ ५१ ॥

उद्धृताभिरद्भिरुपस्पृशेत् ॥ ५२ ॥

जब जब हाथ-पैर एवं मुख आदि धोना हो उस उस समय कूएँ से जल भर कर व्यवहार करे। (अर्थात् पहले से संगृहीत जल का उपयोग न करे। इससे गर्मी में ठण्डा और जाड़े में गरम जल मिलता है) ॥ ५२ ॥

(४) 'उद्धृताभिः अद्भिः उपस्पृशेत्'[2] तत् क्षणमेवोदकान्युद्धृत्यतैरेव हस्तमुखप्रक्षालनादिकं कुर्यात् न तु पूर्वोद्धृतैः। एतेन च शीतकाले उष्णवारिलाभः, ग्रीष्मे च शीतवारिलाभः सुकरो भवेत्, विषकीटपतनादिदोषशङ्कापि न स्यादिति भावः ॥ ५२ ॥

आदेशनात् प्रभृति न मृण्मयेऽश्नीयात् ॥ ५३ ॥ न पिबेत् ॥ ५४ ॥ श्रवणादित्येके ॥ ५५ ॥

सावित्री के उपदेश के बाद से शिष्य को मिट्टी के बर्तन में भोजन या पान नहीं करना चाहिए ॥ ५३ ॥

---

१. शूद्रैव भार्या शूद्रस्य सा च स्वा च विशः स्मृते।
ते च स्वा चैव राज्ञश्च ताश्च स्वा चाग्रजन्मनः।

मनुसंहिता ३.१३। अस्य व्याख्यानं कुल्लूकभट्टः—

'शूद्रस्य शूद्रैव भार्या भवति, न तूत्कृष्टा वैश्यादयस्तिस्रः। वैश्यस्य च शूद्रा वैश्या च भार्या मन्वादिभिः स्मृता। क्षत्रियस्य वैश्याशूद्रे क्षत्रिया च। ब्राह्मणस्य क्षत्रिया वैश्या शूद्रा ब्राह्मणी च। वसिष्ठोऽपि 'शूद्रामप्येके मन्त्रवर्जम्' इति द्विजातीनां मन्त्रवर्जित शूद्राविवाहमाह—इत्याह।

२. जलाशयात् करकादिना उद्धृताभिरद्भिः उपस्पृशेत् आचामेत् उक्तमेव चाणक्यशतके—

दृष्टिपूतं न्यसेत् पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत्।
सत्यपूतं वदेद् वाक्यं मनःपूतं समाचरेत् ॥

कुछ आचार्य के मतानुसार गुरुमुख से वेदाध्ययन की समाप्ति जब हो, तब से लेकर मिट्टी के वर्तन में न खाए और न पानी पीए ॥ ५४-५५ ॥

इस प्रकार गोभिलगृह्यसूत्र के तृतीयप्रपाठक के द्वितीय खण्ड को डॉ० सुधाकर मालवीय कृत 'अनाकुला' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ ३.२ ॥

(५) 'आदेशनात् प्रभृति' सावित्र्युपदेशादारभ्य 'मृण्मये न अश्नीयात्' किञ्च मृण्मये 'पिबेत्' अपि 'न' ॥ ५३-५४ ॥ 'एके' आचार्यास्तु 'श्रवणात्' वेदाध्ययनश्रवणसमाप्तिर्यदा भवेत्, ततः प्रभृत्येव मृण्मये न अश्नीयात् न गुरुमुखात् च पिबेदित्याहुः[1] ॥ ५५ ॥

इति सामवेदीय गोभिलगृह्यसूत्रे तृतीय प्रपाठके द्वितीय-
खण्डस्य व्याख्यानं समाप्तम् ३-२

---*---

अथ महानाम्नी साम

(प्रथम स्तोत्रीयानुगानम्)

१—   २ १र २   १   १र १   १
ए २ । विदामघवन्विदाः । गातुमनुशꣳसिषः । दाइ
२   २   ५   १र—   १ र २ र र
शा ३ १ उवा २ ३ । ई ३ ४ डा। ए २। शिक्षाशचीना-
१   २र र १र   १ २   २
म्पताइ। पूर्वोणाम्पूरू २। वसा ३ १ उवा २ ३। ई ३ ४
५   २र १   १ २   २
डा। आभिष्ट्वमभा २ इ। ष्टिर्भिरा ३ १ उ बा २ ३ । ई
५   १र   ऽ २   २
३ ४ डा । स्वर्णाꣳशू २ः। हा ३ २ उबा २ ३ । ई ३ ४

---

१. अथौपनिषदादिवानां प्रयोग उच्यते—तत्रौपनिषद्व्रते तदङ्गं नान्दीमुखश्राद्धं तदङ्गमुपनयनञ्च पूर्ववत् । व्रतमौपनिषदमेधावत्कालिकमित्यूहवद्भिर्मन्त्रैः पञ्चाज्यहोमाः । आदित्यव्रतान्ते श्रुतानां शुक्रियाणामध्ययनम् । व्रतान्ते उपनिषदां ब्राह्मणानां रहस्यस्य च श्रावणम् । तदन्ते ऐन्द्रश्चरुः । चरुहोमान्ते व्रतमौपनिषदमेतावत्कालिकमित्याद्यूहमुक्त्वा पञ्चाज्यहोमाः । आचार्याय गोदानं ब्रह्मणे पूर्णपात्रमन्यत् सर्वं पूर्ववत्—इति ।

५ ११र र १२ २१र —१ १ १२
डा। प्राचे। तनप्रचेतया। इन्द्रा। द्युम्नाय ना २ इषाइ। इडा। इन्द्रा।
११र—२१ —१ १२ २१र—१ १ १रर
द्युम्नायन २ इषाइ। अथा। इन्द्रा। द्युम्नायना २ इषाइ। इडा। एवा
ररररर २ २ ३ २१ २ ५४
हिशक्रोरायेवाजायवा १ न्त्रो ३ वा:। शविष्ठ वज्रिन्ना ३। जासाइ।
१ १ १ २ १ १११
मँ्हिष्ठ वज्रिन्ना २ ३ हो। जा सा ३ २। उवा ३ २। इद् इडा। २ ३ ४
११२ २१ — १ १ ११११
५ आ या। हि पिब मा २ त् सुवा। इ डा २ ३ ४ ५॥

(द्वितीयस्तोत्रीयानुगानम्)

१—२ १ररर र १र रर र —१
ए २। विदारायेसुवीरियाम्। भुवोवाजानाम्पतिर्वशाँ्२। अनुआ ३ १
२ ५ १— १ २ ११
उवा २ ३। ई ३४ डा। ए २। मँ्हिष्ठ वज्रिन्नृञ्जसाइ। यः
१ ऽ २ १ ५ १र ऽ २
शविष्ठः शूरा २ णा ३ १ उवा २ ३ ई ३ ४ डा। योमँ्हिष्ठ मघो २। न
२ ५ २ र ऽ २
३ १ उवा २ ३। ई ३४ डा। अँ्शुर्नशोचा २ इ। हा ३ १ उवा २ ३।
२ ५ १ १र र १ २ २र
ई ३ ४ डा। चाइ। किस्वो अभिनोनया। ईन्द्रो। विदेतमू २ स्तुहाइ।
१२ ११र —
१ १२ ११र — १ १ १२ २१र १
इडा। ईन्द्रो। विदेतमू २ स्तुहाई। अथा। ईन्द्रो। विदेतमू २ स्तुहाइ।
१ १रर र २ २ २ २र१र २ ४ ५
इडा। ईशेहिशक्रस्तमूतये हवा १ मा ३ हाइ। जेतारमपरा ३। जाइताम्।
१ १ १ २ १ ११११
सनः स्वर्षदता २ ३ होइ। द्वा इषा ३ १ उवा २३। इद् इडा २ ३ ४ ५।
१२ २१ १ १— ११११
क्रातुः। छन्द ऋता २ म्बृहात् इडा। २ ३ ४ ५॥

महानाम्नो साम ।

(तृतीयस्तोत्रीयानुगानम्)

१ – १ २र१ १र रर र – १ २
ए २ । इन्द्रन्धनस्य सातयाइ । हवामहे जेतारमपरा २ । जितमा ३१
२ ५ १– १ २ १ १
उवा २ ३ । ई ३ ४ डा । ए २ । सनः-स्वर्ष दति द्विषाः । सानः स्वर्षदता
१ २ २ ५ १र – १
२ इ । द्विष आ ३ १ उवा २ ३ ई ३ ४ डा पूर्वस्य यत्तआ २ । द्रिव आ ३ १
२ ५ २१ र ऽ २ २
उवा २ ३ । ई ३ ४ डा । अँ शुम्मंदाया २ । हा ३ १ उवा २ ३ । ई ३ ४
५ १ २र र १ २ १ – १ १ १२
डा । सून्नआधेहिनोवसाउ । पूर्त्तीः शविष्ठशा२स्य ताइ । इडा पूर्त्तीः ।
१२ – १ १ १२ २१ १ १
शविष्ठशा २ स्यताइ । अथा । पूर्त्तीः । शविष्ठशा२स्य ताइ । इडा । वशो-
रर २ १ २१र १र ४ ५ १र
हिशक्रोनूनं तन्नव्यँ सा१न्या३साइ । प्रभो जनस्यवा ३ । त्राहान् । समर्येषु
१ १२ १ १ १ १ १ १ र २र १
ब्रवा २३ होई । वाहा ३१ उवा २३ । इढ्उडा २ ३ ४ ५ । शूरो । योगो-
१र – १ १ १ २ २१र – १ १ १ १ १ १
षुगा २ च्छता ३ । इडा । साखा । सुशेवो २ द्वयुः । इडा २ ३ ४ ५ ॥–

(पञ्चपुरीष पदानुगानम्)

१ २ २र१ १ १ १ १ १ १ २र २
आइवा । हियेवा २ ३ ४ ५ । होइ । हो । वाहा ३ १ उ वा २ ३ । ई
५ १ २ २ १ १ १ १ १ १ २र
३४ डा । आइवा हियग्ना २ ३ ४ ५ इ । होई हो । वा हा ३ १ उवा २ ३
२ ५ १ २ २ १ १ १ १ १ १ १ १ २
ई ३ ४ डा । आइवा । हि इन्द्रा २ ३ ४ ५ होइ । हो । वाहा ३ १ उवा २ ३

२ ५ १ २ २१ ऽऽऽऽ १ १ २र
इ ३ ४ डा। आइवा हि पूषा २ ३ ४ ५ न्। होइ। हो बाहा ३ १ उवा
२ ५ १ २ २२र१११ १ १ २
२३। ई ३४ डा। आइवा। हि देवा २ ३ ४ ५ होइ हो। बाहा ३ १ उवा
र ५२ ५ १ ५ २ र१११ १
२३। ई ३ ४ डा। आइवा हि देश २ ३ ४/५। होइ। हो। बाहा ३ १
२ ५
उवा २ ३ ई ३ ४ डा ॥ १ ॥

अथ तृतीयप्रपाठकस्य
तृतीया कण्डिका

* सरला *

गोदानव्रतान्ते वेदपर्वणा 'श्रवणादूर्ध्वम् अध्ययने प्राप्ते वेदारम्भस्य कालान्तरविधानार्थमिदमाह—

प्रौष्ठपदीँ हस्तेनोपाकरणम् ॥ १ ॥

* अनाकुला *

हस्त नक्षत्र से युक्त भाद्रपद मास की किसी तिथि में पूर्वाह्ण के समय 'उपाकरण' नामक कर्म करना चाहिए ॥ १ ॥

विमर्श—जिस क्रिया द्वारा वेद के नवीन पाठ (अध्ययन और अध्यापन) का आरम्भ किया जाता है उस अनुष्ठान को 'उपाकरण' कहते हैं। यह कर्म आचार्य एवं शिष्य दोनों के लिए कर्त्तव्य हैं। ऋग्वेदियों और यजुर्वेदियों का उपाकरण 'श्रावण' मास में होता है। अत एव इस अनुष्ठान को 'श्रावणी' भी कहते हैं ॥ १ ॥

'हस्तेन प्रौष्ठपदीं' हस्तनक्षत्रयुतां भाद्रपदीयां यां कामपि तिथिं प्राप्य तदैव 'उपाकरणं' नाम वेदाध्यापनारम्भसूचकं कर्म वक्ष्यमाणेतिकर्त्तव्यताकं कर्त्तव्यम्। उप समीपे आक्रियन्ते अध्ययनाय शिष्याः येन कर्मणा तत्।

अत्रोपाकरणे—

कथं पुनरिदमवगम्यते—यत् प्रतिशब्द अध्याहृत्य प्रतिवर्षमुपाकरणमिति? उच्यते—एवं हि श्रूयते आचार्यस्याध्यापयतः शिष्याणां चावर्तयताम् अज्ञानकृतः प्रामादिको यो दोषः, तेन छन्दसां यातयामत्वं भवति। यातयामैश्छन्दोभिः श्रौतस्मार्तकर्मकारिणः सम्यक्फलभाजो न भवति; तत्र

यदेतदुपाकर्मोत्सर्गलक्षणं कर्म तेन पुनश्छन्दसामयातयामत्वं जन्यते तस्मादावृत्त्यर्थः प्रतिशब्दोऽध्यासियत इति। उक्तञ्च कर्मप्रदीपे (३.८. १६-१८)—

अस्थानोच्छ्वासविच्छेदघोषणाध्यापनादिकम्।
प्रामादिकं श्रुतौ यत् स्याद् यातमामत्वकारि तत्॥
प्रत्यब्दं यदुपाकर्म सोत्सर्गं विधिवद्द्विजैः।
क्रियते छन्दसां तेन पुनराप्यायनं भवेत्॥
अयातयामैश्छन्दोभिर्यत् कर्म क्रियते द्विजैः।
क्रीडमानैरपि सदा तत् तेषां सिद्धिकारकम्॥

उपाकरणविधिविवक्षयेदमाह—

व्याहृतिभिर्हुत्वा शिष्याणाँ सावित्र्यनुवचनं यथोपनयने॥२॥

(भूः भुवः और स्वः—इन तीन) व्याहृतियों द्वारा तीन आहुतियाँ प्रदान करके, उपनयन संस्कार में उपदेश के समान वेदाध्ययन का प्रारम्भ करने के लिए समुपस्थित नवीन छात्रों को पादशः, अर्धर्चशः फिर अन्त में समस्त ऋक् का अनुवचन करते हुए सावित्री का उपदेश करना चाहिए॥ २॥

१—'व्याहृतिभिः' भूर्भुवः स्वरिति मन्त्रत्रिकैः 'हुत्वा' आज्यमेव 'शिष्याणां' वेदाध्ययनारम्भकृत्तमुपस्थितानां नवानां 'सावित्र्यनुवचनं' सावित्रीनामर्चोऽध्यापनं कर्त्तव्यम्। एतच्च 'यथा उपनयने' कृतम्, तथैवात्रापि पादशोऽर्द्धर्चशऋक्श इति यावत्॥ २॥

सामसावित्रीञ्च॥ ३॥ सोमँ राजानं वरुणमिति॥ ४॥

सावित्री ऋचा पर आश्रित साम गान भी (आचार्य पादशः, अर्धर्चशः और ऋक्शः अभ्यास कराएँ॥ ३॥

'सोमं राजानं' (छं० आ० २.५.१) आदि ऋचा एवं ऋङ्मूलक साम (गे० गा० ३.१.१) का भी अभ्यास करना चाहिए॥ ४॥

२—'च' अपि 'सवित्रीम्' ऋचमाश्रित्य गीतं ग्रन्थाध्यापनारम्भसूचकं 'साम' अनूच्यात् अनुवाचयेत् शिष्यान्। आदौ तावदाचार्यो भागशोब्रूयात्तदनु तथैव तत्साकमेव शिष्याः सर्व एव मिलित्वा ब्रूयुरिति यावत्॥ ३॥

३—'च' अपि 'सोमं राजानं वरुणम्' (छ० आ० १, २, ५, १)' 'इति' ऋच मनूच्यात् तन्मूलकं साम च (गे० गा० ३, १, १)॥ ४॥

आदितश्छन्दसोऽधीत्य यथार्थम्॥ ५॥

इसके बाद सभी मिलकर छन्दो नामक आर्चिक का आदि से लेकर अन्त तक (जहाँ तक पढ़ा ही) पाठ करें। फिर पारायण समाप्त होने पर यथा प्रयोजन अन्य कार्य करें ॥ ५ ॥

४—ततः सर्वे मिलित्वा 'छन्दसः' छन्दोनामसामवेदीयार्चिकग्रन्थस्य आदितः आरभ्य सर्वमेव भागद्वयं यावदधीत वा अधीयीरन् सामवेदसंहितायाः सामशून्यायाः समग्रायाः यावदधीतायाः वा पारायणं कर्त्तव्यमित्यर्थः। 'अधीतेन' पारायणे समाप्ते 'यथार्थम्' यथाप्रयोजनमपरापरं कर्त्तव्यम् ॥ ५ ॥

अक्षतधाना भक्षयन्ति धानावन्तङ्करम्भिणमिति ॥ ६ ॥

वेद पाठ के बाद बिना भुने हुए यव का 'धानावन्त करम्भिणम्' (छ० आ० ३.३.२.७) इस ऋचा का पाठ करते हुए सब लोग भक्षण करें ॥ ६ ॥

५—अनुवचनेऽध्ययने च समाप्ते 'धानावन्तङ्करम्भिणम् (छ० अङ्क ३, १, २, ७)'–'इति' इमामृचं पठित्वा 'अक्षतधानाः' भ्रष्टएव धाना उच्यन्ते तत्र चाक्षतत्वं मृग्यम्, ता एव 'भक्षयन्ति' आचार्यादयः ॥ ६ ॥

अक्षतधानाग्रहणं गोधूमधानाप्रतिषेधार्थम्। अक्षता यवाः त एव भृष्टा धानाः। तथा चोक्तं कर्मप्रदीपे (३.९.१)—

अक्षतास्तु यवाः प्रोक्ता भृष्टा धाना भवन्ति।
भृष्टास्तु व्रीहयो लाजा घटाः खण्डिक उच्यते ॥

यवाः अक्षताः प्रोक्ताः, ते एव भृष्टाः धाना भवन्ति, भर्जनोत्तरं यवानां धाना संज्ञा भवन्ति, व्रीहयो धान्यानि भर्जनोत्तरं लाजसंज्ञां लभन्ते, खाण्डिकशब्देन घटा समूहः उच्यते। धानावन्तमित्यृचा भक्षयन्ति न साम्ना। कुतः ? ऋगधिकारात्।

दध्नः प्राश्नन्ति दधिक्राव्णो अकारिषमिति ॥ ७ ॥ आचान्तोदकाः ॥ ८ ॥ खण्डिकेभ्यो अनुवाक्या अनुगेयाः कारयेत् ॥ ९ ॥

इसके बाद 'दधिक्राव्णोऽकारिषम्' आदि मन्त्र का पाठ करके सभी लोग दधि का भक्षण करें ॥ ७ ॥

फिर सभी लोग आचमन कर यथा स्थान स्वस्थ हो आसन ग्रहण करें ॥ ८ ॥

इसके बाद आचार्य जहाँ तक पाठ हो चुका है उसके आगे से अध्ययन करावें ॥ ९ ॥

ततश्च 'दधिक्राव्णो अकारिषम् (छ० अ० ४, २, २, ७) इति' ऋचं पठित्वा 'दध्नः प्राश्नन्ति' त-एवेति । अनन्तरम् 'आचान्तोदकाः' उदकैः कृताचमनाः ते सर्वे भवेयुः (भूयुः) । ततः 'खाण्डिकेभ्यः' अधीतवेदखण्डेभ्यः' पुरातनछात्रेभ्यः इति यावत् । 'अनुवाक्याः' अनुवाकश एव अनुगेयाः' स्वगानानुरूपगायकाः 'कारयेत्' आचार्यः ॥ ९ ॥

सावित्रमहः काङ्क्षन्ते ॥ १० ॥ उदगयने च पक्षिणीं रात्रिम् ॥ ११ ॥

जिस दिन उपाकरण अनुष्ठान हो उस दिन आचार्य वेदाभ्यास से विश्राम ग्रहण करें ॥ १० ॥

और उस दिन से लेकर दूसरे दिन तक आचार्य पाठ से विराम प्राप्त करें ॥ ११ ॥

सावित्रमहः' यद्दिने सावित्र्युपदेशोऽनुवचनं वा तद्दिनं 'काङ्क्षन्ते' वाञ्छन्ति आचार्याः वेदाभ्यासतो विश्रामायेति ॥ १० ॥

'च' अपि तदेव सावित्रमहः उपनयननिबन्धनं वक्ष्यमाण मुत्सर्गनिमित्तं वा 'उदगयने' चेदु भवेत् तर्हि 'पक्षिणीं' रात्रिं तद्दिनमारभ्य परदिनावशेष-पर्यन्तं विश्रामाय काङ्क्षन्ते आचार्या इति ॥ ११ ॥

उभयत एके त्रिरात्रम् ॥ १२ ॥ आचार्याणाञ्चोदकोत्सेचन-मुभयत्र ॥ १३ ॥

कुछ याज्ञिकों का मत है कि 'उपाकरण' और 'उत्सर्ग' इन दोनो ही अनुष्ठानों में शिष्यों को तीन रात्रि तक विश्राम करना चाहिए ॥ १२ ॥

इन दोनों ही अनुष्ठानों में जलाञ्जलि क्षेपण पूर्वक आचार्यों का नाम स्मरण करते हुए अपनी तृप्ति का साधन करना चाहिए ॥ १३ ॥

'एके' तु आचार्याः 'उभयतः' दक्षिणायनोत्तरायणेतदुभयकाले एव तथा च वेदोपाकरणे वेदोत्सर्गे च कर्मणि सम्पन्ने 'त्रिरात्र' काङ्क्षन्ते विश्रामायेति ॥ १२ ॥

९—'उभयत्र' उपाकरणे उत्सर्गे च 'आचार्याणां' वेदशाखाप्रचारकाणां नामतः 'उदकोत्सेचनं' जलाञ्जलिक्षेपणं तर्पणमिति यावत् कर्त्तव्यमिति शेषः ॥ १३ ॥

श्रवणामेक उपाकृत्यैतमासावित्रात् कालं काङ्क्षन्ते ॥ १४ ॥ तैषीमुत्सृजन्ति ॥ १५ ॥

कुछ आचार्यों का कहना है कि श्रावण मास की पूर्णमासी को यह उपाकरण करे तथा उस दिन से लेकर भाद्रपद मास की हस्त नक्षत्र से युक्त तिथि तक छात्रों को विश्राम देना चाहिए ॥ १४ ॥

पौष मास की पूर्णमासी को वेदाध्यापन का उत्सर्ग करे ॥ १५ ॥

'एके' आचार्याः 'श्रवणां' श्रावणीं पौर्णमासीं प्राप्य 'उपाकृत्य' आसावित्रात्' सवितृदेवताकं भाद्रपदीयं हस्तनाम नक्षत्रमभिव्याप्य 'एतं कालं' काङ्क्षन्ते' अध्ययानाध्यापनविश्रामायेति। इत्युपाकरणम् अथोत्सर्गः। 'तैषी' तिष्यनामनक्षत्रयुतां पौषीं पौर्णमासी मिति यावत् प्राप्य 'उत्सृजन्ति' वेदाध्यापनत्यागसूचकमुत्सर्जनं नाम कर्म कुर्वन्ति आचार्या एवेति। इदमेवोदगयनीयं प्रत्युपाकरणम् ॥ १४-१५ ॥

प्राङ्वोदङ्वा ग्रामान्निष्क्रम्य या आपोऽनवमेहनीयास्ता अभ्येत्योपस्पृश्यच्छन्दाँ स्यृषीनाचार्यांश्च तर्पयेयुः ॥ १६ ॥

उत्सर्ग के अनन्तर तीन दिन के विश्राम काल में अपने अपने ग्राम के पूर्व में या उत्तर दिशा में जाकर, कम से कम नाभि तक जल वाले जलाशय में स्नान कर जल का उपस्पर्शन पूर्वक छन्दों के नाम का उल्लेख करते हुए मन्त्र प्रष्टा ऋषियों का नाम लेकर शिष्य अपनी अपनी शाखा के प्रवर्तकादि आचार्यों का नाम ग्रहण पूर्वक जलाञ्जलि देते हुए तर्पण करे ॥ १६ ॥

एतस्मिन्नुदगयनीये सम्पन्ने च पक्षिणीं त्रिरात्रं वा विश्रामाय काङ्क्षन्ते आचार्या इत्युक्तं पुरस्तात्। तत्र च विश्रामावसरे 'ग्रामात्' स्ववासभूमेः 'प्राक् वा' पूर्वस्यां दिशि वा 'उदक् वा' उत्तरस्यां दिशि या निष्क्रम्य, 'या आपः' 'अनवमेहनीयाः' मेहनस्पर्शिन्यो मेहनीयाः ततोऽर्वाचीनाः अवमेहनीयाः, न तादृश्यः, मेहनोद्दूर्ध्वगता नाभिदध्ना इति यावत्; 'ताः' आपः 'अभ्येत्य, 'उपस्पृश्य' 'छन्दांसि' छन्दोनामान्युल्लिख्य, 'ऋषीन्' मन्त्रद्रष्टृषिनामान्युल्लिख्य, 'आचार्यान्' स्व-स्व-शाखाकारनामादीन्युल्लिख्य 'च' तर्पयेयुः जलाञ्जलिदानैः स्मरणतः स्वात्मतृप्तिं सम्पादयेयुरित्यर्थः ॥ १६ ॥

तस्मिन् प्रत्युपाकरणेऽअनाध्याय आपुनरुपाकरणाच्छन्दसः ॥ १७ ॥

उस उत्सर्ग रूप प्रत्युपाकरण के सम्पन्न होने से लेकर पुन उपाकरण होने तक

सामवेदीय ग्रन्थमात्र का मेघ निमित्तक अनध्याय भी होगा। इस अनध्याय में पिछले पाठ की आवृत्ति या विचार विमर्श भी त्याज्य है ॥ १७ ॥

'तस्मिन्' उक्तलक्षणे प्रात्युपाकरणे' उत्सर्गापरपर्याय कर्मणि सम्पन्ने ततः प्रभृति 'आ पुनरुपाकरणात् भाद्रपदीयहस्तनाम नक्षत्रयुक्तकालं यावत् 'छन्दसः सामवेदीय छन्दो ग्रन्थमात्रस्य 'अभ्रानध्यायः अभ्रनिमित्तको यः वक्ष्यमाणलक्षणोऽनध्यायो भवति, अत्र चानध्यायकाले अधीतानामपि छन्दोग्रन्थानामभ्यासं विचारादिकञ्च वर्जनीयम् ॥ १७ ॥

उक्ताभ्रानध्यायमेव स्फुटयति—

विद्युत् स्तनयित्नुपृषितेष्वाकालम् ॥ १८ ॥

बिजली, मेघमाला और वृष्टि आ जाने पर उसके दूसरे दिन उसी समय तक छन्द ग्रन्थ की चर्चा या पाठ का अनध्याय होता है ॥ १८ ॥

विद्युत् गर्जनपूर्वदृश्यज्योतिः, स्तनयित्नुर्मेघमाला, पृषितावृष्टिविन्दवः, एतत् त्रितयमेकदेव दृश्येत्, चेत् तदा आ कालम् यत्कालिकी घटना, तत्पर-दिवसीयतावत्कालं यावत् अनध्यायच्छन्दोऽध्ययनस्येति। अयमेवाभ्रान-ध्याय उच्यते ॥ १८ ॥

उल्कापातभूमिचलनज्योतिषोरुपसर्गेषु निर्घाते च ॥ २० ॥

उल्कापात, भूकम्प, सूर्य एव चन्द्रग्रहण होने पर आकाश साफ होने तक अन-ध्याय होता है ॥ २० ॥

उल्कापाते, भूमिचलने, ज्योतिषोः सूर्यचन्द्रयोः उपसर्गे ग्रहणादौ च आ कालमेवानध्यायः सर्वेषामेव ग्रन्थानाम् ॥ १९ ॥

'च'अपि 'निर्घाते' मेघोदये विमलाकाशे वा स्थिते वज्रपाते आ काल-मेवानध्यायः ॥ २० ॥

अथ सार्वकालिकसाधारणानध्यायाह—

अष्टकामावास्यासु नाधीयीरन् ॥ २१ ॥ पौर्णमासीषु च ॥ २२ ॥

प्रत्येक अमावस्या और प्रत्येक अष्टमी को भी अनध्याय करना चाहिए ॥ २१ ॥
इसी प्रकार प्रत्येक पूर्णिमा को भी अनध्याय होगा ॥ २३ ॥

'अष्टकामावास्यासु' सर्वास्वेव वेदं वेदाङ्गानि च 'न अधीयीरन्' एष नित्यानाध्यायः ॥ २१ ॥

'पौर्णमासीषु' 'च' 'न अधीयीरन्' एषोऽपि नित्यानध्यायः ॥ २२ ॥

तिसृषु कार्त्तिक्यां फाल्गुन्यामाषाढ्याञ्चाहोरात्रम् ॥ २३ ॥

विशेषतः कार्त्तिकी, फाल्गुनी और आषाढ़ीपूर्णिमा को एक दिन तथा एक रात का (जबतक तिथि रहे) अनध्याय होगा ॥ २३ ॥

'कार्त्तिक्यां फाल्गुन्याम् आषाढ्याम्'—इत्येतासु 'तिसृषु' 'अहोरात्रम्' तद्दिनं तद्रात्रिश्च नाधीयीरन्नित्येव ॥ २३ ॥

अथ नैमित्तिकानध्याया उच्यन्ते;-

सब्रह्मचारिणि च प्रेते ॥ २४ ॥ स्वे च भूमिपतौ ॥ २५ ॥

सतीर्थं (एक गुरु के शिष्य) की मृत्यु होने पर एक दिन और रात तक अनध्याय होगा ॥ २४ ॥

और अपने भू-स्वामी की मृत्यु पर भी अनध्याय होगा ॥ २५ ॥

'सब्रह्मचारिणि' सतीर्थे 'प्रेते' 'च' मृते अहोरात्रम् नाधीयीरन् ॥ २४ ॥

'च' अपि 'स्वे' भूमिपतौ भूस्वामिनि प्रेते अहोरात्रम् नाधीयीरन् ॥ २५ ॥

त्रिरात्रमाचार्ये ॥ २६ ॥ उपसन्ने त्वहोरात्रम् ॥ २७॥ गीतवादित्ररुदितातिवातेषु तत्कालम् ॥ २८ ॥ शिष्टाचारोऽतोऽन्यत्र ॥ २९ ॥

आचार्य की मृत्यु होने पर तीन रात तक अनध्याय करे ॥ २६ ॥ शिष्य के मरने एक पर दिन और रात का अनाध्याय होगा ॥ २७ ॥

गीत, वाद्य, रोना या आंधी-पानी आने पर जब तक उपद्रव शान्त न हो तब तक अनध्याय रहेगा ॥ २८ ॥ पूर्वोक्त निमित्तों के अतिरिक्त किसी विशेष बाधा पर भी अनध्याय होंगे जैसे शिष्ट व्यक्ति के आने पर उनके स्वागतार्थ अनध्याय रहेगा ॥ २९ ॥

'आचार्ये' स्वे एव प्रेते 'त्रिरात्रम्' नाधीयीरन् ॥ २६ ॥ 'उपसन्ने' शिष्ये प्रेते 'तु' 'अहोरात्रम्' एव नाधीयीरन् ॥ २७ ॥ गीतं, वादित्र, रुदितं, अतिवातो झञ्झा, एषु सत्सु 'तत्कालम्' यावत् स्यात् तावदेव नाधीयीरन् । २८ । 'अतः' उक्तेभ्य एभ्यः हेतुभ्यः 'अन्यत्र' 'शिष्टाचारः' अप्येकोऽनध्यायहेतुः; तथाहि शिष्टेऽपि कस्मिंश्चित् समागते नाधीयीरन् । २९ ।

गतमिदं वेदाध्यनप्रकरणम् । अथाद्भुतप्रकरणम्;

अद्भुतेकुलपत्योः प्रायश्चित्तम् ॥ ३० ॥ वँ शमध्यमयोर्मणिके वा भिन्ने व्याहृतिभिर्जुहुयात् ॥ ३१ ॥

कोइ अद्भुत बात हो जाय तो गृहस्वामी और गृहस्वामिनी प्रायश्चित्त करें ॥ ३० ॥ अर्थात् जिस बांस या बल्ली पर सम्पूर्ण घर का बोझा हो उसके भग्न होने पर अथवा घर के खम्भों के एकाएक फट जाने पर या जल का घड़ा (मटका) फूट जाय तब व्याहृतियों द्वारा आज्याहुति देनी चाहिए ॥ ३१ ॥

'अद्भुते' कस्मिंश्चिदपि उपस्थिते 'कुलपत्योः' यस्मिन् कुले समुपस्थितमद्भुतम् भवेत् तस्यैव स्वामिनोः दम्पत्योः 'प्रायश्चित्तं' कर्त्तव्यम् भवेत् । ३० । कीदृशेऽद्भुते कीदृशं प्रायश्चित्तं कर्त्तव्यमित्याह;—वंशः स्थूणोपरिस्थः, मध्यमाश्च स्तम्भाः, एतयोः 'भिन्ने' 'भिन्नयोः अनिमित्त त एव विदीर्णयोः सतोः 'वा' अथवा 'मणिके' जलाधारबृहद्भाण्डे भिन्ने अनिमित्तमेव स्फुटिते, एतद भुत दोषप्रशमनाय 'व्याहृतिभिः भूर्भुवः स्वरिति मन्त्रैः 'जुहुयात्' आज्यहवनं कुर्यात् ॥ ३१ ॥

दुःस्वप्नेष्वद्यनोदेवसवितरित्येतामृचं जपेत् ॥ ३२ ॥ अथापरम् ॥ ३३ ॥

दुःस्वप्न देखने पर 'अद्य नो देव सवितः' (छ० आ० २. १. ५. ७) मन्त्र का पाठ करे ॥ ३२ ॥ और अन्य घटना के अनुसार भी कर्त्तव्य कहे जाते हैं ॥ ३३ ॥

'दुःस्वप्नेषु 'अद्य नो देवसवितः (छ० आ० २, १, ५, (७)–'इति' एताम् 'ऋचं' 'जपेत्' । एतज्जपादेव एतदद्भुतदोषप्रशमनं भवेन्नाम । गतमिदमद्भुतप्रकरणम् । ३२ । 'अथ' अद्भुतप्रायश्चित्तविधानानन्तरम् 'अपरम्' अपि किञ्चिन्नैमित्तिकमस्ति तदु वक्तव्यम् ॥ ३३ ॥

चित्ययूपोपस्पर्शनकर्णक्रोशाक्षिवेपनेषु सूर्याभ्युदितः सूर्याभिनिम्लुप्तपापस्पर्शे इन्द्रियैश्च पापस्पर्शे पुनर्मामैत्विन्द्रियमित्येताभ्यमाज्याहुती जुहुयात् ॥ ३४ ॥

दैवात् बौद्ध (चैत्य) के खम्भे के स्पर्श हो जाने पर, कान में किसी प्रकार के अशुभ शब्द के सुनाई पड़ने पर, आँख फड़कने पर एवं सूर्योदय के बाद जगने पर या सूर्यास्त के समय नींद आने पर और अन्य भी अपने हाथ आदि इन्द्रियों से

पराई स्त्री के स्तन आदि का स्पर्श हो जाने पर 'पुनर्मामैत्विन्द्रियम्' आदि दो मन्त्रों से दो आज्याहुति प्रदान करनी चाहिए ॥ ३४ ॥

किन्तदित्याह;—'चित्ययूपः' बौद्धयूपः तस्य उपस्पर्शनम्, कर्णयोः स्वयोः क्रोशः शब्दः, अक्ष्णोः वेपनं कम्पनम् एषु निमित्तेषु;—किञ्च सुप्ते एव सूर्योऽभ्युदितः अपि वा सुप्ते एव सूर्योऽस्तं गतश्चेत;—इन्द्रियैः हस्तादिभिः पापवस्तूनां परवधूरोजादीनां स्पर्शे 'पुनर्मा मैत्विन्द्रियं पुनरायुः पुनर्भगः। पुनर्द्रविण मैतु मा पुनर्ब्राह्मणमैतु मा। ३३। पुनर्मः पुनरात्मा म आगात् पुनश्चक्षुः पुनः श्रोत्रं म आगात्। वैश्वानरो अदब्धस्तनूपा अन्तस्तिष्ठतु मे मनोऽमृतस्य केतुः (स्वाहा)' ॥ ३४ ॥ (म० ब्रा—१, ६, ३३-३४)—'इति' एताभ्याम् ऋग्भ्याम्' आज्याहुती' आज्यास्याहुतिद्वयं 'जुहुयात्' ॥ ३४ ॥

आज्यलिप्ते वा समिधा ॥ ३५ ॥ जपेद्वा लघुषु ॥ ३६-३ ॥

अथवा किसी अन्य पाप के होने पर दो घृताक्त लकड़ी अग्नि में हवन करे ॥ ३५ ॥ यदि बहुत छोटा दोष हो जाय तो उक्त दोनों मन्त्र का मन ही मन जप करे ॥ ३६ ॥

॥ इस प्रकार गोभिलगृह्यसूत्र के तृतीयप्रपाठक के तृतीय खण्ड की डा० सुधारकर मालवीय कृत 'अनाकुला' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ ३.३ ॥

'वा' अथवा अनतिरिक्तनिमित्ते 'आज्यलिप्ते' समिधौ' समित्काष्ठद्वयमात्रं जुहुयात्। तथैव तत्पापप्रशमनं भवेन्नाम ॥ ३५ ॥ 'वा' अथवा लघुषु' ततोऽप्यनिमित्तल्पोषु उक्तमृग्द्वयं जपेदेव न तु समिदाहुतेरप्यपेक्षेतिशम् ॥ ३६ ॥

इति गोभिलगृह्यसूत्रे तृतीयप्रपाठके तृतीयखण्डस्य डा० सुधाकर मालवीय कृता सरलाव्याख्यासमाप्ता। ३,३

———*———

अथ तृतीयप्रपाठकस्य चतुर्थीकण्डिका

अथ समावर्त्तनम्

ब्रह्मचारी वेदमधीत्य ॥ १ ॥

* अनाकुला *

ब्रह्मचारी को एक वेद को (आद्यन्त) पढ़कर (ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना चाहिए) ॥ १ ॥

विमर्श—वेद, आरण्यक, उपनिषद् आदि का अध्ययन करना कहा गया है। अनेक ग्रन्थों में व्रतान्तर से इनका विधान किया गया है। अतः आचार्य का कहना है कि यथेष्ठ एक वेद को कम से कम सम्पूर्ण रूप से पढ़ना चाहिए। मनु के अनुसार भी वेदों का या दो वेद अथवा एक वेद का यथाक्रम अध्ययन करके ही गृहस्थाश्रम में जाना चाहिए। कौथुम शाखा के अध्येता को किन ग्रन्थों का अध्ययन करना चाहिए। इस सम्बन्ध में संग्रहश्लोक इस प्रकार हैं—

द्विपञ्चाशदिमे ग्रन्थाः शाखायाः कौथुमेरिह।
प्रोक्ताः सामोदधौ यस्माच्छ्रौते स्मार्ते सुनिश्चिताः ॥ १ ॥
तस्माद्वै सामशाखायां ग्रन्थभेदो निगद्यते।
श्रौतस्मार्तोदिते यस्मान्न मुह्यंत कथञ्चन ॥ २ ॥

१ २ ३
वेदारण्यकमूहोऽत्र रहस्यं गानमुच्यते।
६ ७ ८
छन्दस्यारण्यके चैव मन्त्राः सोत्तरकाः स्मृताः ॥ ३ ॥
९–११ १२
छन्दस्यादित्रयं स्तोभः सपदं स्याच्चतुष्टयम्।
१३ १४ १५ १६
प्रौढः षड्विंशकं सामावधानार्षेयके तथा ॥ ४ ॥
१७ १८ १९ २०
देवताध्यायवंशाख्याः संहितोपनिषत् तथा।
अष्टमोपनिषच्चैव ब्राह्मणे समुदीरिताः ॥ ५ ॥
२१ २२ २३
नारदी लोमशी शिक्षा गौतमी चेति वै त्रिधा।

२४ २५ २६
कल्पसूत्रं तथा क्षुद्रं लाट्यायनकमेव च ॥ ६ ॥
२७ २८
उपग्रन्थाः पञ्चविधा निदानं ताण्ड्यलक्षणम् ।
२९ ३०
अनुपस्थ्यादनुस्तोत्रं कल्पानुपदमेव च ॥ ७ ॥
एतादृशविधं सूत्रं सामगेषु च विश्रुतम् ।
३१ ३२ ३३ ३४
ऋक्तन्त्रं च सामतन्त्रञ्च सञ्ज्ञाकरणमेव च ॥ ८ ॥
३५ ३६
धातुलक्षणकञ्च स्यादिति व्याकरणानि च ।
३७ ३८
अनुक्रमणिका चेति नैगेयञ्च ततः परम् ॥ ९ ॥
३९ ४० ४१
फुल्लं गोभिलगृह्यञ्च मन्त्रलक्षणकं तथा ।
४२ ४३
गायत्र्यादिविधानञ्च ततः स्तोभानुसंहरः ॥ १० ॥
४४ ४५
छन्दोगपरिशिष्टं तु गृह्यसंग्रह एव च ।
४६ ४७
श्राद्धकल्पं ततो वेद्यासाधन गोभिलीयकम् ॥ ११ ॥
४८ ४९ ५० ५१
स्नानविधिरुपाकर्म श्रावणेन परो विधिः ।
५२
द्विपञ्चाशदिमे ग्रन्था वृषोत्सर्गान्तगाः स्मृताः ॥ १२ ॥

इति कौथुमशाखायां ग्रन्थसंख्या यथाक्रमात् ।
एतामधीत्य निखिलं वेदोक्तं ज्ञातुमर्हति ॥ १३ ॥

* सरला *

वेदमित्यावश्यकत्वाभिप्रायेण । तथा च मनुः—

'वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथाक्रमम् ।
अविप्लुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममाविशेत् ॥' इति ।

वेदशब्दोऽयं साङ्गस्य वेदस्याभिधायकोऽङ्गानामेव वेति स्वभाष्ये चन्द्र-

कान्त आहान्तमतोपन्यासेन ॥ १ ॥

उपन्याहृत्य गुरवे ॥ २ ॥

ब्रह्मचारी गुरु को उनकी दक्षिणा निवेदित करे ॥ २ ॥

उप…गुरुसमीपे । नि भृतं विनीतं 'यथास्यात्तथा । गुरवे-गुर्वर्थम् । तादर्थ्ये[२] चतुर्थी[२] । (पा० १।४।४४) आहृत्य-आनीय । 'दक्षिणामि'-ति शेषः । अस्योत्तरेण (दारान् कुर्वीतेत्यनेन) सम्बन्धः ॥

अत्र मनुः—

'न पूर्वङ्गुरवे किञ्चिदुपकुर्वीत धर्म्मवित् ।
स्नास्यंस्तु गुरुणाऽऽज्ञप्तः शक्त्या गुर्वर्थमाहरेत् ॥' इति ।

धर्म्मवित् गुरुदक्षिणादानधर्म्मज्ञोब्रह्मचारी स्नानात्पूर्वङ्किञ्चिद्गोवस्त्रादिधनं गुरवे नावश्यन्दद्यात् । यदि तु यदृच्छातोलभते तदा गुरवे दद्यादेव । अत एव स्नानात्पूर्वङ्गुरवे दानमाहापस्तम्बः । 'यदन्यानि द्रव्याणि यथा[३]लाभमपहरति दक्षिणा एव ताः । स एव ब्रह्मचारिणोयज्ञो नित्यव्रतमि'-ति । स्नास्यन्पुनर्गुरुणाऽऽप्ताज्ञो यथाशक्ति धनिनं याचित्वाऽपि प्रतिग्रहादिनापि गुरवेऽर्थमाहृत्यावश्यन्दद्यादित्यर्थः । उपकुर्वाणस्यायं विधिः । नैष्ठिकस्य स्नानासम्भवादिति बोध्यम् ॥ २ ॥

अनुज्ञातो दारान् कुर्वीत ॥ ३ ॥

गुरु की अनुज्ञा प्राप्त कर अपना विवाह सम्बन्ध करे ॥ ३ ॥

गुरुणा गृहवासाय-अनुज्ञातः । तथाच मनुः—

'गुरुणानुमतः स्नात्वा समावृत्तो यथाविधि ।
उद्वहेत द्विजो भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम् ॥' इति ।

दारानिति[४] । स्नानात्प्रागेव कन्यां प्रार्थयेदित्यर्थः । तेन नाश्रम-

(१) 'निभृतविनीतप्रश्रिताः समाः' इत्यमरः ।

(२) उपकार्योपकारकभावसम्बन्धस्तादर्थ्यम् । 'कृत्तद्धितसमासैः सम्बन्धाभिधानं भावप्रत्ययेने'-ति महाभाष्यकारवचनात् ॥

(३) अत्र योग्यतालक्षणे यथार्थेऽव्ययीभावः । योग्यताचार्थाबाध एव । तथाच लाभस्य योग्यं यथालाभमित्यर्थः ।

(४) उक्तमपि (२।१।१ सू०) दारकरणमिहानुज्ञातत्वादिरूपगुणविधानार्थम्पुनरुच्यते । दारार्थं वा । अथवा दारान् कुर्वीत । कर्त्तुं प्रयतेतेत्यर्थः । तदनेन दारकरणाय

क्रम'विरोधस्सम्भवति । तथा कात्यायनः—

'यदि दत्ता भवेत्कन्या वाचा सत्येन केन चित् ।
सोऽन्त्यां समिधमाधास्यन्नादधीतैव नान्यथा ।'

इति । अन्यथा—कन्यामप्राप्य । समावर्त्तने कृते तदुत्तरं कन्यालाभविलम्बेऽनाश्रमित्वं स्यात्तच्चानिष्टम् । तथाच मनुः—

'अनाश्रमी न तिष्ठेत दिनमात्रमपि द्विजः ।
आश्रमेण विना तिष्ठन्प्रायश्चित्तीयते हि स ॥' इति ।

तस्माद्व्रतस्थ एव कुतश्चित्कन्यां प्राप्य पुण्यदिने स्नात्वा तदुत्तरदिने विवाहं कुर्यादिति वक्तु'लार्थः । कात्यायनः—

'अनूढैव तु सा कन्या पञ्चत्वं यदि गच्छति ।
न तदा व्रतलोपः स्यात्तेनैवान्यां समुद्वहेत् ॥'

अथ चेन्न लभेतान्यां याचमानोऽपि कन्यकाम् ।
तमग्निमात्मसात्कृत्वा क्षिप्रं स्यादुत्तराश्रमी ॥' इति ।

तेनैव—कृतान्तिमसमिदाधाग्निनैव ॥ ३ ॥

कीदृशान् दारान् कुर्वीत ? इत्युच्यते—

असगोत्रान् ॥ ४ ॥

जिस कन्या से विवाह करना हो उसका और अपना एक ही गोत्र न हो ॥ ४ ॥

गोत्रं—प्रसिद्धम् । 'समानं गोत्रं येषान्ते सगोत्रास्तद्भिन्नान् असगोत्रान् । दारान्कुर्वीतेति गतेन सम्बन्धः । एवमग्रेऽपि ॥ ४४ ॥

मातुरसपिण्डान् ॥ ५ ॥

वह कन्या उस वर की माता के कुल के सात पीढी में भी न हो ॥ ५ ॥

प्रयत्नो विधीयते न तु दारकरणम् । तस्य दानोत्तरभावित्वात् । इत्युक्तमनुवचनादवसीयते ॥

(१) ब्रह्मचारी–गृही भूत्वा वनी भवेद्वनीभूत्वा प्रव्रजेत् इति श्रुतेः । 'आश्रमादाश्रयं गच्छेदि'ति स्मृतेश्च ॥

(२) समानता वरगोत्रेण । 'समभिव्याहृतपदेनोत्थिताकाङ्क्षा प्रधानक्रियाकर्त्रा शाम्यती'ति नियमात् । तेन 'समातरं पितरं नमस्करोति'—त्यत्र नमस्कर्तृ निरूपितमेव मातृत्वमिति सिद्धम् ॥

मातुः सपिण्डा ये न भवन्ति तान्। सापिण्डयमुक्तपूर्वमनुसन्धेयम् ॥ ५ ॥

नाग्निका तु श्रेष्ठा ॥ ६ ॥

अग्निका कन्या विवाह के लिए श्रेष्ठ होती है ॥ ६ ॥

विमर्श—जिस कन्या का मासिक धर्म प्रकाशित हो चुका हो। ऐसी प्राप्त यौवना को 'अनग्निका' कहते हैं ॥ ६ ॥

नाग्निकेत्यनागतार्त्तवोच्यते। 'नाग्निकाऽनागतार्त्तवे'त्यमरात्। सा तु श्रेष्ठेति तादृशान्दारानुद्वहेदिति केचिद्व्याचक्षते। नैतत्सुन्दरम्। दारानित्युपात्तविभक्तिवचनातिक्रमात्। तस्माद् दारकरणेन सहास्य न सम्बन्धोऽपितु—

'एष्टव्या बहवः पुत्रा यद्येकोऽपि गयां व्रजेत्।
गौरीं वाप्युद्वहेद्भार्य्यां नीलं वा वृषमुत्सृजेत् ॥'

इति वचनाद्दारान्करिष्यता तावद्गौरी प्राप्तावेव यतनीयं, दातुस्तु नग्निका श्रेष्ठेति' सूत्रार्थः। तथा च वसिष्ठः—'तस्मान्नग्निका दातव्ये'ति ॥ ६ ॥

---

(१) अत्र चन्द्रकान्तः। नग्निकाः। तत्र

'यावन्न लज्जयाङ्गानि कन्या पुरुषसन्निधौ।
यान्यादीन्युपगूहेत तावद्भवति नग्निका'

इत्युक्तलक्षणा वा ग्राह्या। यच्च वचनान्तरम्—

'सप्तसंवत्सरादूर्ध्वं विवाहः सार्ववर्णिकः।
कन्यायाः शस्यते राजन्नन्यथा धर्मगर्हितः ॥' इति।

तद्विवाहयितुः कन्यायाः सप्तसंवत्सरादूर्ध्वं विवाहः शस्यते। इत्येतत्परं, न पुनर्दातृभिप्रायम्। 'अष्टवर्षा भवेद्गौरी'-ति वचनात्। मनुरप्याह—

'त्रिंशद्वर्षोवहेद्भार्यां हृद्यां द्वादशवार्षिकीम्।
त्र्यष्टवर्षोऽष्टवर्षां वा धर्मे सीदति सत्वरः ॥ इति।

यत्पुनः स्मरणम्—

'सर्वेषामेव दानानामेकजन्मानुगं फलम्।
हाटकक्षितिगौरीणां सप्तजन्मानुगं फलम् ॥' इति।

नत्वेन गौरीदानं विधीयते। किन्तर्हि? यदृच्छया कृतं गौरीदानमनेन स्तूयते। तस्माददोषः। विधीयतां वा गौरीप्रदानं तथापि नानुपपत्तिः। कथम्? गौरीप्रदाने तावत्सप्तजन्मानुगं फलंभवति। नग्निका तुनरवोऽपि विशिष्टफलदात्रीति

अथाऽऽप्लवन् ॥ ७ ॥

विवाह के लिए गुरु की अनुमति प्राप्त करने के अनन्तर ब्रह्मचर्य व्रत समाप्ति सूचक विहित स्नान करना चाहिए ॥ ७ ॥

अथेत्या[१]नन्तर्यार्थम् । व्रतान्तबोधितैन्द्रस्थालीपाकादिकर्म्मानन्तरम् । ब्रह्मचारी आप्लवनम्–स्नानम् । 'आप्लाव आप्लवः स्नानम्' इत्यमरात् । 'कुर्यादि'–ति शेषः ॥ ७ ॥

तद्विधिविवक्षयेदमाह—

उत्तरतः पुरस्ताद्वाऽऽचार्यकुलस्य परिवृतं भवति ॥ ८ ॥

आचार्य कुल सम्बन्धी स्थान के उत्तर की ओर या पूर्व दिशा की ओर एक अच्छे प्रकार से सर्वतः आवृत स्नान गृह का निर्माण करे ॥ ८ ॥

आचार्यकुलस्य–गुरुगृहस्य 'कुलं जनपदे गोत्रे सजातीयगणेऽपि च । भवने च तनौ क्लीबम्' इति मेदिनी । उत्तरतः । उत्तरस्यां दिशि । सार्वविभक्तिकस्तसिः । (पा० ५।४।४४ वा०) पुरस्तात्–पूर्वस्यां वा । परि-सर्वतोभावेन [मण्डपादिरूपेण] वृत–मा[२]वृतमाच्छादितम्भवति । किञ्चित्स्थानम् ॥ ८ ॥

वचनव्यक्तेः सम्भवात् । स खल्वयमर्थः सूत्रे तुशब्दं प्रयुञ्जताऽऽचार्येण सूचितः । इयञ्च पूर्वेषामाचार्याणाम्मतानुसारिणी व्याख्या । अस्मच्छास्त्रे तु अव्यञ्जनाऽरजस्काऽपयोधरा सोमाद्यैरभुक्ता कन्या आचार्येण प्रशस्यते तथा च गृह्यासङ्ग्रहे–'नग्निकां तु वदेत्कन्यां + + + प्रशस्यते' इति (२।१।५७ सू०) सुव्यक्तमुक्तवताऽऽचार्यपुत्रेण (कात्यायनेन) इदमेव सूत्रं व्याख्यातमित्यवगच्छामः । तस्मान्नात्र स्मृत्यन्तरविरोधः शङ्कनीयः । गौर्या अपि निरुक्तनग्निकात्वानपायात् । अथापि स्याद्दारकरणेन समस्य सम्बन्धः । तथापि नानुपपत्तिः । अनियतत्वाद्विभक्तिवचनातिक्रमोपपत्तेः । नियता खलु असगोत्रा स्वस्य । मातुरसपिण्डा च दारकरणे । नग्निका पुनरनियता । श्रेष्ठत्वात् । अतोऽत्र विभक्तिवचनातिक्रमः क्रियते सूत्रकृतेति न किञ्चिदनुचितम् । अस्याश्च वर्णनायामापातविरुद्धानि स्मृत्यन्तरवचनानि बुद्धिमद्भिर्व्याख्येयानि । ग्रन्थगौरवभयादुपरम्यतेऽस्माभिरिति ॥

(१) कन्याप्रार्थनानन्तरं, कन्यायां वाचा दत्तायां सत्यामित्येव केचिद्वर्णयति ।

(२) उपसर्गार्थस्य धातुनान्तर्भावादुपसर्गा अर्थविशेषद्योतका एवेति राद्धान्तो व्याकृतिविदाम् ॥ उपेत्य धातून्सृजन्त्यनेकार्थान्द्योतयन्त इत्युपसर्गा उच्यन्ते ।

तत्र प्रागग्रेषु दर्भेषूदङ्ङाचार्य उपविशति । ९ ॥

प्राग् ब्रह्मचार्युदगग्रेषु दर्भेषु ॥ १० ।

स्नानागार में पश्चिम की ओर कुश के मूल और पूर्व की ओर अग्रभाग वाले कुशासनों पर आचार्य उत्तराऽभिमुख होकर बैठे एवं उत्तराग्र रखे हुए कुशासन पर ब्रह्मचारी पूर्वाभिमुख होकर बैठे ॥ ९-१० ॥

तत्र-तस्मिन्परिवृते स्थाने । उदङ्-उत्तराभिमुखः ॥ ९ ॥

तस्मिन्नेन परिवृते स्थाने-आचार्यसन्निधौ- उपविशीत्यनुवर्त्तते । प्राक्-प्राङ्मुखः ॥ १० ॥

सर्वौषधिविफाण्टिताभिरद्भिर्गन्धवतीभिः शीतोष्णाभिरा-चार्योऽभिषिञ्चति ॥ ११ ॥

सर्वौषधि द्रव्यों को एक में मिलाकर सुगन्धित तथा समशीतोष्ण जल से आचार्य उस ब्रह्मचारी का अभिषिञ्चन करे ॥ ११ ॥

विमर्श—कूड़, जटामांसी, हरिद्रा, बच, शिलाजीत, चन्दन, मुरामांसी, लालचन्दन, कर्पूर और भद्रमोथ—ये सब सर्वौषधि द्रव्य हैं। इन सब द्रव्यों को एक साथ कूट कर गर्म जल में फेंटकर कपड़े से ढँककर रख देवे। ऐसे द्रव्य जल को 'फाण्ट' कहते हैं ॥ ११ ॥

व्रीह्यादिसर्वौषधीभिः[1] सह या आपोविफाण्टिता[2] विपक्वाः । उष्णीकृता इति यावत् । ताभिर्गन्धवतीभिः । सुगन्धिद्रव्यसुवासिताभिः । शीतोष्णाभिः । शीतोदकमिश्राभिरुष्णाभिः । यद्वा शीताश्चता उष्णाश्चेति शीतोष्णास्ताभिः । नातिशीताभिर्नाप्यत्युष्णाभिः । आद्भिर्जलैः । 'ब्रह्मचारिणम्' इतिशेषः । सोऽयं परमतोपन्यासः ॥ ११ ॥

स्वमतमधीयते—

स्वयमिव तु ॥ १२ ॥

---

(१) कात्यायनः 'व्रीहयः शालयोमुद्गगोधूमाः सर्षपास्तिलाः । यवाश्चौषधयः सप्तविदोधनान्त धारिताः ॥' इति ।

(२) ईषत्पक्वः क्वाथविशेष फणन्तेः क्त (पा० ३।२।१०२) निपातितः । तत इतच (पा० ५।२।३६) फाण्टिताईषत्क्वथिता आपः । अत्रौषधियोगविशे इति ता अत्र विफाण्टिता उक्ताः ।

इसके बाद आचार्य के ही अनुसार वह ब्रह्मचारी भी स्वयं अपना अभिषिञ्चन करे ॥ १२ ॥

तु-शब्दात्पक्षोविपरिवर्त्तते । इवशब्द एवार्थः । स्वयमेव ब्रह्मचार्यात्मानमभिषिञ्चेन्न पुनराचार्यः । अत एव वक्ष्यति- 'आत्मानमभिषिञ्चति' (३।४।१६) इति । तस्मादाचार्योऽभिषिञ्चेदित्येतत्परमतमिति तत्त्वकारादयः । मुरारिमिश्रास्तु-इवशब्दोऽत्र वार्थे । तु शब्दोवार्थे । तथाच स्वयमेववा ब्रह्मचार्यात्मानमभिषिञ्चेत् ॥ १२ ॥

अत्र हेतुमाह—

मन्त्रवर्णो भवति ॥ १३ ॥

स्वयं अभिषिञ्चन के समय भी मन्त्रोच्चारण होता है ॥ १३ ॥

विमर्श—स्वयं अभिषेक के पांच मन्त्र आगे कहते हैं ॥ १३ ॥

मन्त्रवर्णोऽभिषेकमन्त्रलिङ्गम् । तत्स्वरसादित्यर्थः । तद्यथा-'तेनाहम्मामभिषिञ्चामि' इति । 'तेनमामभिषिञ्चतम्' इति च । एवञ्च द्वितीयपक्षे हेतूपदर्शनात् सूत्रकारसम्मति रपि तत्रैव । अतएव बीरेश्वरोपाध्यायाः स्वपद्धतौ तथैव लिखितवन्तः । वस्तुतस्तु-आचार्योब्रह्मचारिणमभिषिञ्चति । ब्रह्मचारी वा स्वयमेवात्मनमभिषिञ्चति । इति । तथाच पठन्ति—

'ब्रह्मचारी अनुज्ञातो गुरुणा गुरुरेव वा ।
सर्वौषधिमिश्राभिः शीतोष्णाभिः सुगन्धिभिः' ॥

इत्येवमादि ॥ १३ ॥

अभिषेकप्रकार इदानीमभिधीयते—

'येऽप्स्वन्तरग्नयः प्रविष्टाः' इत्यपमाञ्जलिमवसिञ्चति ॥ १४ ॥

(मं० ब्रा० १।७।१)

'ये अपस्नन्तरग्नयः प्रविष्टा' आदि (म० ब्रा० १. ७. १.) मन्त्र से एक अञ्जलि जल पृथ्वी पर गिराए ॥ १४ ॥

अपां प्रकृतानामेव । अञ्जलिम् । अञ्जल्यवच्छिन्ना आपः । अवसिञ्चति-अवाचीनं (अधः) सिञ्चति । त्यजति ब्रह्मचारी । 'भूमावि'-त्यर्थः । एवञ्च 'अतितान्सृजामी-'ति मन्त्रलिङ्गमनुगृह्यते । एवमुत्तरत्रापि ।

मन्त्रो यथा—

'येऽप्स्वन्तरग्नयः प्रविष्टा गोह्य उपगोह्यामनोकोमनोहा ।
खलोविरुजस्तुनुदुषिरिन्द्रियहा अतितान्सृजामि ॥ १ ॥

इति । अस्यार्थः-हे 'अग्नयः' ! वक्ष्यमाणा अष्टौ 'अप्सु' जलेषु 'अन्तः' मध्ये 'प्रविष्टाः' जलं दूषयितुं 'तान्' एतान् जलदूषकान् । 'अति सृजामि' त्यजामि[1] । केपुनस्ते ? गोह्यादयः । तत्र 'गोह्यः'[2] संवार्यः । शरीरान्तर्विद्यमानः । 'उपगोह्यः' अङ्गसन्तापकः । 'मनोकः' मन एव ओको[3] निवासस्थानं यस्य सः । 'मनोहाः'[4] मनः (मनस उत्साहं) हन्तीति मनोहाः । 'खलः' सञ्चेता[5] । 'तुनुदुषिः' तुदन्तं (व्यथयन्तं) नुदन्तं (प्रेरयन्तं) च दुष्यति विकृतिङ्गमयतीति तुनुदुषिः[6] । 'इन्द्रियहाः' इन्द्रियाणि हन्तीति इन्द्रियहाः ॥ १ ॥ इति ॥ १४ ॥

'यदपां घोरं यदपां क्रूरं यदपामशान्तमि'ति च ॥ १५ ॥

(मं० ब्रा० १।७।२)

'यदपां घोरं यदपां क्रूरं यदपामशान्तम्' आदि (म० ब्रा० १. ७. २.) मन्त्र से भी एक अञ्जलि पृथ्वी पर गिराए ॥ १५ ॥

अस्य 'अति तत्सृजामी'-ति शेषः । 'अपां' सम्बन्धि 'यद्' 'घोरं' भयानकम् । 'यत्' च 'अपां' सम्बन्धि । 'क्रूरम्' निष्ठुरम् । 'यत्' च 'अपां' सम्बन्धि 'अशान्तम्' रुजाकरम् 'तत्' अतिसृजामि । त्यजामीत्यर्थः ॥ २ ॥

---

(१) अतिसर्गोदानम् । 'सृज विसर्गे' (तु० प०) इत्यस्माद्भावे घञि कृत्ते विसर्गोविसर्जनन्दानमित्यनर्थान्तरम् । तथाचामरः 'त्यागोविहापितन्दानमुत्सर्जनविसर्जन' इति । सोऽयमतिपूर्वस्त्यगेऽत्र प्रयुक्तः ॥

(२) 'गुहू संवरणे' (भ्वा० उ०) कर्म्मणि 'ऋहलोर्ण्यत्' (पा० ३।१।२४) इतिण्यत्प्रत्ययः । उपधागुणः । एवमुपगोह्योऽपि ।

(३) 'ओकः सद्माश्रयश्चौकाः' इत्यमरे ओकशब्दोऽकारान्तोऽपि 'ओक उचः के' (पा० ७।३।६४) इति निपातितः । मनःशब्दोऽत्र 'ये सान्तास्तेऽदन्ता' इति न्यायेनादन्तः ।

(४) मनोहन्तीत्यर्थे बाहुलकाद्विट् । 'विड्वनोरि'-(पा० ६।४ ४१) त्यात्वम् । एवमग्रेऽपि (इन्द्रियहाइत्यत्र) बोध्यम् ॥

(५) 'खलसञ्चये' (भ्वा० प०) पचाद्यच् (पा० ३।१।१३४) ॥

(६) 'इकृक्ष्यादिभ्यः' (पा० ३।३।१०८ वा०) इतीक्प्रत्यये गुणाभावः । दलोपः पृषोदरादित्वात् (पा० ६।३।१०९) ॥

इति। अनेनाप्यपामञ्जलिमवसिञ्चति। तस्मादत्रापि भूमावेवाञ्जलिपरित्याग इति कर्मेन्द्रियापदयोरनुषङ्गार्थश्चकारः ॥ १५ ॥

'यो रोचनस्तमिह गृह्णामि' इत्यात्मानमभिषिञ्चति ॥ १६ ॥

(म० ब्रा० १।७।३)

इसके बाद 'यो रोचनस्तमिह गृह्णामि' (म० ब्रा० १.७.३) आदि मन्त्र से ब्रह्मचारी अपने मस्तक आदि का अभिषिञ्चन करे ॥ १६ ॥

'यो रोचन' इति मन्त्रेण ब्रह्मचारी आत्मानमभिषिञ्चति। अभिषिञ्चेत्। अभीति सर्वतोभावे। अयमभिषेकः 'अङ्गानां शिरः प्रधानमि'ति शिरसि कर्त्तव्यः। 'अव्यक्तं प्रधानगा'मी'ति न्यायादप्या'प्लावनमित्यधिकाराच्च। अस्य 'तेनाहम्मामभिषिञ्चामि' इति शेषः। अस्यार्थः। गोह्यादिषु त्यक्तेषु। 'यो'ऽन्यो 'रोचनः' तदाख्योऽग्निर्द्दीप्तिकरः'। 'तम' 'अहम्' 'इह' स्थितम्। गृह्णामि। तथाच 'तेन' जलान्तर्वर्त्तिना रोचनेन 'अहं' 'माम्' आत्मानम् 'अभिषिञ्चामि' इति। ३। किमर्थमित्युत्तरेणान्वितम्। १६॥

'यशसे तेजस' इति च ॥ १७ ॥

(मं० ब्रा० १।७।४)

इसके बाद 'यशसे तेजसे' (म० ब्रा० १. ७. ४) आदि मन्त्र से अपना अभिषेक करे ॥ १७ ॥

'यशसे' इत्यादिना मन्त्रेण च पूर्ववदात्मानमभिषिञ्चति। ब्रह्मचारी। प्रकृतानामपामञ्जलिना। मन्त्रो यथा—

'यशसे तेजसो ब्रह्मवर्च्चसाय बलायेन्द्रियाय वीर्यायान्नाद्याय रायस्पोषाय त्विष्टया अपचित्यै'। ४। इति।

अस्यार्थः। अत्र सर्वत्र तादर्थ्ये चतुर्थी (पा० १।४।४४ वा०)

---

(१) सन्देहे हि प्रधानानुसरणं कर्त्तव्यमिति हि न्यायाशयः।

(२) यद्यपि 'स्नानश्चतुर्भिः कलशैस्त्रिभिराप्लवनं स्मृतम्' इति कात्यायनेन परिभाषितन्तथापि स्नानमात्रं जहदजहल्लक्षणया भाष्यकृद्भिरत्राप्लवनं व्याख्यातम्। तथा च मन्त्रेण योऽयमभिषेकस्तदेवाप्लवनापरपर्यायं स्नानं प्रधानकर्मेति प्रतिपादयिष्यते ॥

(३) 'रुचदीप्तावभिप्रीती च' (भ्वा० आ०) नन्द्यादित्वाल्ल्युः (पा० ३।१।१३४) योरनः। (पा० ७।१।१) ॥

'ब्रह्मवर्च्चसाय'[1] याजनाध्यापनोत्कर्षजतेजसे। 'रायस्पोषाय'[2] धनसमृद्धयै। 'त्विष्यै'[3] दीप्तये। 'अपचित्यै'[4] पूजायै। अन्यत्सुगमम् ॥ ४।१७ ॥

'येन स्त्रियमकृणुतमि'-ति च ॥ १८ ॥

(मं० ब्रा० १।७।५)

अन्त में 'येन स्त्रियमकृणुतम्' (म० ब्रा० १. ७. ५) आदि मन्त्र से तृतीय अञ्जलि) जल अभिषिञ्चित करे ॥ १८ ॥

'येन स्त्रियमि'-तिमन्त्रेण चात्मानमभिषिञ्चति। मन्त्रो यथा—

'येन स्त्रियमकृणुत येनापामृशतं सुराम्। येनाक्षावभ्यषिञ्चतं ये चेमाम्पृथिवीम्महीम्। यद्वान्तदश्विना यशस्तेन मामभ्यषिञ्चतम्' ॥ ५ ॥

इति। अस्यार्थः—अनेन देवत्रैधावश्विनौ कर्म्मणामधिष्ठातारौ संस्तूय-प्रार्थ्यते हे! 'अश्विना!' आश्विनौ![5] 'येन कर्मणा युवां 'स्त्रियं' विपुण्या-त्याम् 'अकृणुतम्'[6] हिंसितवन्तौ। 'येन' च 'सुराम्' मदिराम्[7] 'अपामृशतं' खण्डितवन्तौ (नेयंपातव्येति) 'येन' वा 'आक्षान्'[8] पाशकानपि अपामृशत-मित्येव। 'ये' येन 'च' 'इमां' 'महीं' महतीं[9] 'पृथिवीम्' भूमिम् 'अभ्य-षिञ्चतम्' अभिषिक्तवन्तौ (शस्यप्ररोहणादिद्वारा सर्व्वंद्धितवन्तौ) एवं भूतं

(१) ब्रह्मणोवर्च्चोब्रह्मवर्च्चसं तस्मै। 'ब्रह्महस्तिभ्यां वर्च्चसः' (पा० ५।४।७८) इति समासान्तः।

(२) रै इति धननाम 'अर्थरैविभवाअपी'त्यमरात्। षष्ठयाः प्रतिपुत्रपयस्पोपेषु' (पा० ८।३।५३) इतिसत्वम्।

(३) त्विषिर्दीप्त्यर्थः। 'इक् कृष्यादिभ्यः' (पा० ३।३।१०८ वा०) इतीक्प्रत्य-योभावे। कित्वाद्गुणाभावः। गुणविष्णुमते त्विष्या इति पाठः। तत्र त्विषेः क्तिन् (पा० ३।३।९४) भावे स्त्रियां बोध्यः॥

(४) 'पूजानमस्याऽपचितिरि—'त्यमरः।

(५) 'सुपां सुलुक्०' (पा० ७।१।३९) इत्यादिनाऔङआत्।

(६) 'कृविहिंसाकरणयोश्च' (भ्वा० प०) लङ्। 'धिन्विकृण्व्योरच' (पा० ३।१।८०) इत्युप्रत्ययः।

(७) 'सुराहलिप्रिहालापरिस्नुद्वरुणात्मजे' तिमद्यपर्यायेऽमरः।

(८) 'अक्षास्तु देवनाः पाशकाश्चते' इत्यमरः॥

(९) 'पृषोदरादित्वात्' (पा० ६।३।१०९) अच्छब्दलोपः॥

'यद्' 'वां' युवयोः 'यशः' शोभनङ्कर्म्म 'तेन' यशसापुरस्कृतौ युवां 'माम्' अपि 'अभ्यषिञ्चतम्' अभिषिक्तं (सर्व्वंद्धितं) कुरुतम् । यथायुवाभ्यामभिषिक्तः कृतकृत्योभवानीति ॥ ५ ॥ ॥ १८ ॥

एवं मन्त्रेण त्रिः—

तूष्णीञ्चतुर्थम् ॥ १९ ॥

शेष जल को बिना मन्त्र के शरीर पर गिराए ॥ १९ ॥

तूष्णीम्-अमन्त्रं चतुर्थम्मार्जनम् कुर्यादित्यर्थः ॥ १९ ॥

उपोत्थायाऽऽदित्यमुपतिष्ठेतो–'द्यन्भ्राजभृष्टिभिरि'–त्येतत्प्रभृतिना मन्त्रेण ॥ २० ॥

(मं० ब्रा० १।७।६-९)

इसके बाद स्नान स्थान पर खड़े होकर 'उद्यन् भ्राजभृष्टिभिः' (मं० ब्रा० १. ७. ६–८) आदि तीन मन्त्रों में से किसी एक से सूर्योपस्थान करे ॥ २० ॥

उप–आचार्यसमीपात् । मन्त्रेण–उद्यन्नित्यादि–मा मा हिंसीरित्यन्तेन ४ मन्त्रकदम्बेन । मक्ष्यमाण (२२) सूत्रस्वरसात् । उपतिष्ठेत-तदभिमुखः सन्नाराधयेत् । अत्र देवपूजायामुपात्तिष्ठते-(पा० १।३।२५ वा०) रात्मनेपदं बोध्यम् मन्त्रो (मन्त्रकदम्बो) यथा—

'उद्यन्भ्राजभृष्टिभिरिन्द्रोमरुद्भिरस्थात्प्रातर्यावभिरस्थात् ।
दशसनिरसि नशसनिम्माकुर्वात्वाविशाम्या माविश ॥ ६ ॥

उद्यन्भ्राजभृष्टिभिरिन्द्रोमरुद्भिरस्थात्सान्तपनेभिरस्थात् ।
शतशनिरसि शतशनिम्मा कुर्वात्वाविशाम्यामाविश ॥ ७ ॥

उद्यन्भ्राजभृष्टिभिरिन्द्रोमरुद्भिरस्थात्सायय्यावभिरस्थात् ।
सहस्रसनिरसि सहस्रसनिम्माकुर्वात्वाविशाम्यामाविश ॥ ८ ॥

चक्षुष्ट्वमस्यव मे पाप्मानं जहि ।
सोमस्त्वाराजाऽवतु नमस्ते अस्तु मा मा हिंसीः ॥ ९ ॥

इति । अस्यार्थः । अत्र निस्रऋचो यजूंषि चतुर्थी अनुष्टुप् । 'इन्द्रः' परमैश्वर्ययोगादादित्यः । 'उद्यन्' उदीयमानः । 'मरुद्भिः' एकोनपञ्चाशत्संख्यै-

र्वायुभिर्द्देवैर्वा[1]। सह 'अस्थात्' स्थितवान्। कि भूतैः? 'भ्राजभृष्टिभिः' [2]भृष्टिर्द्दीप्तिः। भ्राजाभृष्टिर्येषान्तैर्भर्जनसाधयदीप्तिमद्भिः। न केवलं मरुद्भिरेव किन्तु 'प्रातर्यावभिः' प्रातर्यावानोदेवविशेषास्तैस्सह[3]। 'अस्थात्' तिष्ठति[4]। एपरूपरोक्षयाऽभिष्टूय-प्रत्यक्षीकृत्येवाचष्टे-हे इन्द्र! त्वं 'दशसनिः' दशानां गवादिधनानां सनि[5]र्द्दाता 'असि' भवसि। अतः 'मा' माम् अपि 'दशसनि' 'दशानां दातारं 'कुरु'। अहं 'त्वा' त्वाम् 'आविशामि' अर्थित्वेनोपगच्छामि। अतस्त्वमपि 'मा' माम्। 'आविश' अभिमतफलदानेनाभिमुखोभव ॥ ६ ॥

'सान्तपनेभिः'[6] देवविशेषैः ॥ ७ ॥

एवं 'सायं यावानो देवविशेषा' इति गुणविष्णुः ॥ ८ ॥

हे सूर्य्य! त्वं 'मे' मम 'पाप्मानम्'[7] पापमनिष्टम्। 'अपजहि'[8] अपनय। यस्त्वं त्रिलोक्याः 'चक्षुः' दर्शकः[9] 'असि' भवसि। तं 'त्वा' त्वाम 'सोमः' देवानामन्तर्भूत इति कृत्वा 'अवतु' आप्याययतु। योह्यस्माकं ब्राह्मणा-

---

(१) 'मरुतौपवनामरौ' इत्यमरः। अत्र सह शब्दयोगं विनापि तृतीया वृद्धौयूने'-(पा० १।२।६५) तिनिर्द्देशात् ॥

(२) भ्राजतेर्दीप्त्यर्थात् (भ्वा० आ०) भावे अङि (पा० ३।३।१०४) भ्राजाशब्दोधात्यर्थमभिदधदिह तत्साध्यम्भर्जनमभिधाय पुनस्तत्करणमाह शब्दस्वाभाव्यान्निगमस्थत्वाच्च ॥

(३) केचित्तु-प्रातः सवने यावभिर्गमनशीलैर्ऋष्यादिभिः। 'याप्रापणे' (अ०प०) वनिप्। (पा० ३।२।७४) सप्तकगणैः 'सेवितः' इति शेषः। तेच-'मध्वादिषु द्वादशसुभगवान् कालरूपधृक्। लोकतन्त्राय चरति पृथग्द्वादशभिर्गणैः। धाताकृतस्थलीहेति-र्वासुकीरथकृन्मुने। पुलस्त्यस्तुम्बरुरिति मधुमासन्नयन्त्यमी' ॥ इत्यादिना श्रीमद्भागवते (स्कं० १२ अ० ११) उक्ताः ॥

(४) वर्त्तमानेलङर्थेलुङ् (पा० ३।४।६) ॥

(५) 'षणुदाने' (त० उ०) 'छन्दसि वनसनरक्षिमथ्याम्' (पा ३।३।२९) इतीन्प्रत्ययः ॥

(६) 'बहुलं छन्दसि' (पा० ७।१।१०) इति भिसऐसभावे एत्वम् (पा० ७।३।१०३) केषाञ्चिन्मते सान्तपनानाममाध्यन्दिनसवनं देवाः। इति व्याख्येयम् ॥

(७) 'अस्त्रीपङ्कं पुमान्पाप्मा पापं किल्विषकल्मषम् ॥ इत्यमरः ॥

(८) उपसर्गस्य पृथक्कृतिश्छान्दसी। (पा० १।४।८२)।

(९) अथ चास्य सर्वस्यालोकस्य चक्षुर्दर्शनेन्द्रियम्। (श्रुतिः) ॥

नामोषधीनाञ्च 'राजा' भवति । तथा च श्रुतिः 'सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजे'ति । अभिधानमप्याग्नेयमस्मिन् विषये 'ओषधीशोनिशापतिरि'ति । एवम्भूताय 'ते' तुभ्यं 'नमः' नमस्कारः 'अस्तु' भवतु । त्वं 'मा' मां 'माहिंसीः' मा जहि । किन्तुसर्वतोरक्षेत्यर्थः । अक्षुष्ट्वमित्यत्र 'युष्मत्तदि' (पा० ८।३।१०३) त्यादिना षत्वम् । तत्र युष्मदिति-युष्मदादेशास्त्वं त्वा ते तवोच्यन्ते ॥ ९ ॥ तदेतदविहारपक्षेबोध्यम् ॥ १८ ॥

अथ विहारपक्षमाह—

यथालिङ्गं वा विहरन् ॥ २१ ॥

मन्त्र से उपस्थान में लिङ्गानुसार प्रातः, मध्याह्न या सायं आदि जिसमें योजित है उसका प्रयोग कर लेना चाहिए ॥ २१ ॥

विमर्श— पूर्वोक्त तीन मन्त्रों में से जिसमें 'प्रातः' शब्द पठित है उस मन्त्र से प्रातःकाल सूर्योपस्थापन करे और जिसमें 'सान्तय' शब्द है उससे मध्याह्न में तथा जिसमें 'साय' पठित है उससे सायंकाल उपस्थापन करे ॥ २१ ॥

वा-अथवा । तस्मिन्नेव दिने यथालिङ्गम्[१] यथालिङ्गेन मन्त्रेण । प्रातःलिङ्गेन मन्त्रेण प्रातः । सान्तपनलिङ्गेन मध्याह्ने । सायंलिङ्गेन सायाह्ने । उपतिष्ठेतेत्यर्थः । विहरन्निति । एकत्कालत्रये मन्त्रान्विभजन्[३] । विहारो-विकर्षणं-पृथक्करणमित्यनर्थान्तरम् ॥ २१ ॥

'चक्षुरसी'त्यनुबध्नीयात् ॥ २२ ॥

(मं० ब्रा० १।७।९)

तीनों ही कालों में उन मन्त्रों के बाद 'चक्षुरसि' (म० ब्रा० १. ७. ९) आदि मन्त्र का पाठ करना चाहिए ॥ २२ ॥

त्रिष्वपि 'चक्षुरसी'ति मन्त्रमनु[४]बध्नीयादित्यर्थः ॥ २२ ॥

---

(१) 'तृतीयासप्तम्योर्बहुलम्' (पा० २।४।८४) इत्यव्ययोभावात्परं तृतीयाविभक्तेर्वाऽभावः । इत्येवं व्याख्यातम् ॥

(२) अस्योत्तरसूत्रेणाभिसम्बन्धः । सत्रन्तमेतत् । मुरारिमिश्रमते एकमेवैतत्सूत्रद्वयम् ॥

(३) विहारपक्षोतावत्त्रयाणाम्मन्त्राणामेकैकस्य मन्त्रस्य खल्वेमेवकैकस्मिन् उपस्थाने विनियोगः सम्पन्नः । चतुर्थस्य तु मन्त्रस्य सन्ध्यात्रयेऽपि अत्र विनियोगोऽनेन सूत्रेण क्रियते ॥

(४) अनु-प्रातरादिमन्त्राणां पश्चात् । बध्नीयाद्-ग्रथयेदित्यर्थः । तथा च यथालिङ्गं मन्त्रमुच्चार्थ चक्षुरसीति च पश्चादुक्त्वा सर्वत्रोपतिष्ठेत ॥

मेखलामवमुञ्चते 'उदुत्तमं वरुणपाशमि'-ति ॥ २३ ॥

(मं० ब्रा० १।७।१०)

इसके बाद 'उदुत्तमं वरुणं पाशम्' (मं० ब्रा० १.७.१०) आदि मन्त्र को पढ़कर (ब्रह्मचर्यकाल में गृहीत) मेखला का अवमोचन करना चाहिए ॥ २३ ॥

अवमुञ्चते—अवाचीनं मुञ्चति । 'उदुत्तमम्' इति मन्त्रेण । मुञ्चत इति वच्छेदनप्रतिषेधार्थम् । अव इत्यधस्तान्मोचनार्थम् । अस्मिन्नेवावसरेऽजिनपरित्यागोऽपि । स्नानोत्तरं तद्धारणानौचित्यात् । 'स्नानादूर्ध्वं गृही भवेदि'-ति वचनात् । पद्धतिरप्येवम् ॥

मन्त्रो यथा—

'उदुत्तमं वरुणपाशमस्मदवाधमं विमध्यमं[१] श्रथाय ।
अथादित्य व्रते वयन्तवानागसोअदितयेस्याम' ॥ १० ॥

इति । अस्यार्थः । हे 'वरुण' देव ? 'उत्तमम्' उत्तमाङ्गे (शिरसि) स्थापितं त्वदीयं पाशम् । 'अस्मत्' अस्मत्तः सकाशात् । 'उत्-श्रथाय' । उत्कृष्योन्मुच्य विनाशय । एवम् 'अधमम्' अधमाङ्गे (पादप्रदेशे) स्थापितन्त्वदीयं पाशम् 'अव'[२] अवाचीनं कृत्वा (ऽस्मत्तोऽपकृस्य) विनाशय । 'मध्यमं' मध्यमप्रदेशे स्थितं पाशं 'वि' विश्रथाय । विमोक्षयः (विच्छेदय) 'अथा' अथ[३] पाशत्रयविमोचनान्तरम् । हे 'आदित्य' आदितिपुत्र वरुण ! 'अनागसः' अनपराधाः । (निष्पापा) वयं 'तव' व्रते' कर्मणि[४] । (निघं० १।७) वर्त्तमानाः सन्तः 'अदितये' अदीनतायै[५] । 'स्याम' भवेम । (अखण्डित[६] त्वाय योग्या भवेम) ॥ १० ॥ इति ॥ २३ ॥

---

(१) 'श्रथ मोक्षणे' (चु० उ०) चिचिमित्त्वाद्घ्रस्वः । लोटि मध्यमपुरुषैकवचने रूपम् । श्रथायेतिदीर्घश्छान्दसः । (पा० ६ ३।१३७) यद्वाश्रन्थविमोचनप्रतिहर्षयोः' (क्या० प०) लोटि मध्यस्यैकवचने 'छन्दसि शायजपी' (पा० ३।४।८४)—ति नः शायजादेशे तस्य ङित्वान्न लोपे श्रथायेतिरूपम् ॥

(२) उपसर्गस्य पृथग्भावश्छान्दसः । (पा० १।४।८२) उपसर्गबलाद्यायक्रियाध्याहारे प्रसक्ते प्रकान्त एवाध्याहृतः । एवमग्रेऽपि ॥

(३) 'निपातस्य चे -(पा० ६।३।१३६)-ति दीर्घः ॥

(४) तथा च निरुक्तम् 'व्रतमिति कर्मनाम वृणोतीति सतः' (२।१३) इति ॥

(५) तथा च निरुक्तम् 'अदितिरदीना देवमाता चे'ति (४।४।२२) अत्र च 'द्व्येकयोरि' (पा० १.४।२२) ति बद्भावप्रधानो निर्देशा दीनतेति ॥

(६) 'दो अवखण्डने' (दि० प०) क्तिन्भावे 'द्यतिस्यतिमास्थामित किति' (पा० ७।४।४) इतीत्वेदितस्ततो नञ्समासः । भावप्रधानश्च निर्देश इतीत्थं व्याख्यातम् ॥

ब्राह्मणान्भोजयित्वा स्वञ्चभुक्त्वाकेशश्मश्रु लोमनखानि वापयति शिखावर्जम् ॥ २४ ॥

[मेखला त्याग के अनन्तर स्नातक व्रत की समाप्ति पर और गृहस्थाश्रम के प्रवेश के समय] ब्राह्मणों को भोजन कराकर और अपने स्वयं भी भोजन कर शिखा को छोड़कर मोंछ, दाढ़ी आदि बालों को और नखों का कर्तन करा दे ॥ २४ ॥

ब्राह्मणान् भोजयित्वेति। अभ्युदयिकश्राद्धङ्कृत्वेत्यर्थं इति भट्टनारायणः। यत्तु कर्म्मसमाप्तिनिमित्तकमेवेदं ब्राह्मणभोजनमितिस्नानात्प्रागेवैतच्छ्राद्धम्। इदानीं ब्राह्मणभोजनमात्रमिति च मतं तन्न इदानीङ्कर्म्मसमाप्त्यभावादुपरिष्टादपि कर्म्मान्तरोपदेशात्। वस्तुतो ब्राह्मणभोजनान्तरमेवेदम्। स्वयञ्चेति। 'दधितिलान्वे'तिशेषः। तथा च पारस्करः 'दधितिलान्वाप्राश्ये'ति। पद्धतिरप्येवम्। कश्चित्तु परकीयग्रहणे आकाङ्क्षाविरहात् ब्राह्मणभोजनसाहचर्य्याच्च यथेष्टमेवभोक्तव्यमित्याह।

अत्र शिखावर्जमित्यभिधानात्प्राक्सशिखं वपनं कर्त्तव्यमितिदर्शितम्। (२।१।२५) उपनिषच्च 'भ्रूप्रकोष्ठशिखावर्जं सर्वगात्राणि वापयेत्' इति ॥ २४ ॥

स्नात्वालङ्कृत्याहते वाससी परिधाय स्रजमाबध्नीत 'श्रीरसि मयि रमस्वे'ति ॥ २५ ॥

(मं० ब्रा० १।७।११)

स्नानादि करके, आभूषणादि पहनकर, नवीन वस्त्रों को पहनाकर 'श्रीरसि मयि रमस्व (मं० ब्रा० १. ७. ११) आदि मन्त्र पढ़कर उसे माला पहननी चाहिए ॥२५॥

अलङ्कृत्य–कुण्डलादिभिरात्मानम्। अहते-'ईषद्धौतन्नवमि' त्याद्युक्तलक्षणे। वाससी वस्त्रयुगम्। (अन्तरीय–मुत्तरीयञ्च) परिधाय। स्रजम्-पुष्प-

(१) अभिषेकात्मकं स्नानं प्रधानकर्मेतिप्रतिपन्नम्। अग्रिमसूत्रे (२५)स्नात्वा इति तु वपनोत्थाप्रायत्यापनोदनार्थस्नानमुच्यते। नत्वेतत्प्रधानङ्कर्म्म। न हि भुक्ताप्रधानङ्कर्म्मक्रियते। न वा प्रधानं स्नानकमन्त्रकं तदङ्गस्त्वभिषेकोमन्त्रवानितिसाम्प्रतं तस्मात्प्रधानकर्म्मणः पश्चादाभ्युदयिकं श्राद्धमितिवर्णनं भाष्यकृतोऽनुपपन्नमेव। तत्खलुपुरस्तादेवकर्म्मणो यथाप्राप्तङ्कर्त्तु मुचितम्। 'यच्छ्राद्धं कर्मणामादौ अन्वाहार्यणतदुच्यत' इति वृद्धिश्रमधिकृत्यकर्म्मप्रदीपवचनात्। अत एकस्मिन्दिनेऽनेककर्म्मानुष्ठितावेकदैवतदनुष्ठानं व्यवस्थापितमधस्तात्।

(२) 'सम्भोज्यभिप्रान्भुञ्जीते'-ति प्रतिविशिष्टभोजनसमरमेवात्रमूलम्।

मालाम् आ-उपरि-शिरसि । बध्नीत । तत्रमन्त्रमाह 'श्रीरसी'ति' । अस्यार्थः । हे माले ! त्वं 'श्रीः' लक्ष्मीः । 'असि' भवसि । सात्वं 'मयि' विषये । 'रमस्व' अवस्थानं कुरु । इति । यज्ञोपवीतद्वितयपरिधानमपीदानी-मेवाचारादितिमुरारिमिश्राः प्राहुः ।। २५ ।।

'नेत्र्यौ स्थोनयतं मामि'-त्युपानहौ ।। २६ ।।

(मं० ब्रा० १.७।१२)

'नेत्र्यौ स्थो नयतं माम्' (म० ब्रा० १. ७. १२) आदि मन्त्र से उपानह (जूता) पहनना चाहिए ।। २६ ।।

'नेत्र्यौस्थ' इतिमन्त्रेण । उपानाहौं आवध्नीतेत्यनुषज्यते । अत्राङ्घ्रोऽथ योग्यतावशात्तेनपादयोः । 'नानार्थाह्यव्ययाः परे' इत्याग्नेयमभिधानम् । मन्त्रार्थस्तु—

हे उपानहौ ! यतो युवां 'नेत्र्यौ' नयन-(गमन-) शक्तिप्रदे 'स्थः' भवथः । अतो 'माम्' इष्टं देशान्तरम् 'नयतम्' प्रापयतम् । प्रार्थनायां लोट् ।। २६ ।।

'गन्धर्वोऽसी'-ति वैणवदण्डं गृह्णाति ।। २७ ।।

(मं० ब्रा० १।७।१३)

'गन्धर्वोऽसि' (म० ब्रा० १. ७. १३) आदि मन्त्र से बांस निर्मित दण्ड की यष्टि धारण करे ।। २७ ।।

वैणवम् । वेणुर्वंशस्तन्मयम् । दण्डादिधारणे स्मृत्यन्तरोक्तम्मानान्तर-माहुर्म्मुरारिमिश्राः—

'वैणवीन्धारयेद्यष्टिमन्तर्वासस्तथोत्तरम् ।
यज्ञोपवीतद्वितयं सोदकञ्च कमण्डलुम् ।।
छत्रञ्चोष्णीषममलं पादयोश्चाप्युपानहौ ।
रौक्मे च कुण्डले चैव कृत्तकेशनखोद्विजः ।।' इति ।। २७ ।।

आचार्यं सपरिषत्कमभ्येत्याचार्यपरिषदमीक्षते-
'यक्षमिव चक्षुषः प्रियो वो भूयासमि'ति ।। २८ ।।

(म० ब्रा० १।७।१४)

---

(१) अत्रापि 'सर्वेषु गात्रेषु शिरःप्रधानम्' इति न्यायोऽनुसृतः ।

इसके बाद शिष्य मण्डली से घिरे हुए आचार्य के पास आकर 'यक्षमिव चक्षुषः प्रियो वो भूयासम्' (म० ब्रा० १. ७. १४) आदि मन्त्र का उच्चारण करते हुए शिष्य परिवार से युक्त आचार्य का दर्शन करे ।। २८ ।।

सपरिषत्कम् । परिषदा सभया सहितम् । 'समाज्यापरिषद्गोष्ठीसभासमिति संसदः' इत्यमरः । सा च शिष्यादेः । अभ्येत्य-अभिमुख्येन गत्वा पुनराचार्यवचनमाचार्यसहितायाः परिषद ईक्षणार्थम् । मन्त्रार्थस्तु-हे सपरिषत्काचार्य्याः ! गुरुत्वादत्र बहुवचनम्[1] । 'चक्षुष' इति जात्येकवचनम् । 'यक्ष इव' यक्षो यथा दर्शनीयतया प्रियो भवति तथाहं 'वः' युष्माकं 'प्रियः' 'भूयासम्' भवेयमिति ।। १४ ।। २८ ।।

उपोविश्य मुख्यान्प्राणान्संमृशन् 'ओष्टापिधाना नकुली'ति।।२९।।

(मं० ब्रा० १।७।१५)

वहाँ पास में अर्वोपवेशन करके अपने मुख में आए श्वास-प्रश्वास को पवित्र करते हुए 'ओष्ठापिधाना नकुली दन्तपरिमितः पविः' (म० ब्रा० १. ७. १५) आदि मन्त्र पढ़ना चाहिए ।। २९ ।।

उप-आचार्य्यसमीपे । मुख्यान्-मुखेभवान् । प्राणान्-वायून् । तेषाममूर्त्तत्वात् तदायतानि संमृशन्-स्पृशन् । 'ओष्ठापिधाना' इत्येतदादिकं मन्त्रं 'जपेदि'-ति शेषः सर्वत्र । मन्त्रो यथा—

'ओष्ठापिधाना नकुली दन्तपरिमितः पविः ।
जिह्वे मा विह्वलो वाचं चारु माद्येह वादय ।। १५ ।। इति ।

अस्यार्थः-स्नातकेन जिह्वा स्वा प्रार्थ्यते-हे 'जिह्वे' 'इह' प्रस्तुते कर्म्मणि । 'अद्य' त्वं 'मा विह्वल' विश्लथसञ्चालनं मा विधेहि । उः[2] पादपूरणे । किन्तु 'मा' माम । 'चारु' शोभनं यथा स्यात्तथा 'वाचं'[3] 'वादय' । यतस्त्वम् 'ओष्ठापिधाना' ओष्ठावपिधान[4]मावरणं यस्याः सा । तथा 'नकुली' कुक्कुटीव । नकुलपत्नीव वा चञ्चलस्वभावा[5] । अत्र सादृश्य-

(१) तथाच स्मर्यते-'एकत्वं न प्रयुञ्जीतगुरावात्मनि चेश्वरे' इति । एकत्वमेकवचनम् ।

(२) तथा च निरुक्तम् । 'अथापि पदपूरणः । इदमु-तदु' (२।२।५) इति ।

(३) ब्रु विना समानार्थत्वाद्द्विकर्म्मकता (पा० १।४।५१) ।

(४) 'तथाचामरः-अपिधानतिरोधानपिधानाच्छादनानि चे'ति ।

(५) 'नकुली कुक्कुटीमांस्याः पशुपाण्डवयोः पुमान्' इति मेदिनी । अत्र पशुश्चतुष्पाज्जन्तुविशेषएव ।

मूलकस्तत्वारोपः। एवमग्रेऽपि। तथा 'दन्तपरिमितः पविः'[1] दन्तावरणभूता वज्रबत्वंभवति ॥ १५ ॥

अत्रैनमाचार्योऽर्हयेत् ॥ ३० ॥

इस समय आचार्य इस स्नातक को आशीर्वाद दें ॥ ३० ॥

अत्र-एतस्मिन्नवसरे। एनं-स्नातकम्। आचार्य 'उत्तरतोगाम्' (४।१०।१ सू०) इत्यादिना वक्ष्यमाणेन विधिना अर्हयेत्-पूजयेत्। तथाच मनुः—

'तं प्रतीतं स्वधर्मेण ब्रह्मदायहरं पितुः।
स्रग्विणन्तल्प आसीनमर्हयेत्प्रथमं गवा ॥'

इति। तं स्नातकम्। स्वधर्म्मेण स्वधर्म्मानुष्ठानेन प्रतीतं-ब्रह्मचर्यमारभ्य[2]ख्यातम्। पितुः-पितृतः। दीयत इति दायः। ब्रह्म एव दायो ब्रह्मदायस्तस्य हरम्[3] पितृतो गृहीतवेदमित्यर्थः। स्रग्विणं-मालयाऽलङ्कृतं तल्पे-उत्कृष्टशय्यायाम्[4]। आसीनमुपविष्टम् कृत्वा प्रथमं विवाहात्प्राक्। गवा-गोसाधनमधुपर्केण। पिता अन्यो वा वरयिता अर्हयेत् पूजयेत्। इत्यर्थः। अत्र केचित् 'कर्म्मणःकरणसंज्ञासम्प्रदानस्य च कर्म्मसंज्ञा' (पा० १२३।१३ वा०) इति विभक्तिव्यत्ययदर्शकेन गान्तस्मैद[5]द्यादित्यप्यर्थमाहुः ॥ ३० ॥

गोयुक्तँ रथमुपसङ्क्रम्य पक्षसी कूबरं बाहुं[6] वाऽभिमृशेत्। 'वनस्पते वीड्वङ्गोहिभूया' इति ॥ ३१ ॥

(मं० ब्रा० १।७।१६)

---

(१) 'ह्रादिनी वज्रमस्त्रीस्यात्कुलिशम्भिदुरं पविः' इत्यमरः।

(२) 'प्रतीते निपुणख्यातवित्तविज्ञातविश्रुताः' इत्यमरः।

(३) उपलक्षणमेतदाचार्यादेः। 'तितैवोपनयेत्पुत्रम्' इत्यादिना पितुरेवोपनयने मुख्यः अधिकारः। 'उपनीयगुरुःशिष्यं शिक्षयेच्छौचमादितः। आचार्यमग्निकार्यञ्च सन्ध्योपासनमेव चे'ति च मनुः स्मरति। पितुरभावेऽन्योऽपि तत्स्थानीयः सगोत्रः।

(४) 'तल्पन्तु शयनीये स्यादि'ति विश्वः।

(५) गोदानमत्र गार्हस्थ्यधर्म्मप्रतिपालनार्थम् तां विनाऽग्निकार्याद्यसम्भवतीति।

(६) अत्र कूबरबाहू वेति चन्द्रकान्तभाष्यकृद्भिधृतः पाठः। कूबरो युगन्धरः। (यत्र रथस्याश्चा बध्यन्ते तत्काष्ठम्। युगकाष्ठबन्धनस्थानम् वा) युगं वोढृर्बन्धनकाष्ठन्धारयतीति युगन्धरः। तस्य बाहू इव बाहू। कूबरबाहू-कूबरपार्श्वे। तौ वा। कूबरोरथिस्थानं, तस्य बाहू कूबरबाहू-रथस्येषे इतिकेचिदित्येवं तद्व्याख्यानञ्च तत्रैव भाष्ये।

इसके बाद (यात्रा प्रारम्भ करने के लिए) गो-वृषभ युक्त जिस रथ (बैलगाड़ी) पर सवार होना हो उस रथ के चक्के को अथवा उसके जूए (=कूबरबाहू) को छूकर 'वनस्पते वीड्वङ्गो हि' (म०ब्रा० १.७.१७) आदि मन्त्र का पाठ करे ।। ३१ ।।

गोभिर्युक्तं रथम् । उपसङ्क्रम्य-सम्यगुपेत्य । पक्षसी[1]-चक्रे । कूबरं-रथिस्थानम् । बाहुं-चक्रालम्बिकीलकं वा । अभिमृशेत्-स्पृशेत् । 'वनस्पते' इति मन्त्रेण पादत्रयेण । मन्त्रो यथा—

'वनस्पते वीड्वङ्गोहि भूया अस्मत्सखा प्रतरणः सुवीरः ।
गोभिः सन्नद्धो असि वीड़यस्वास्थाते जयतु जेत्वानि ।। १६ ।।

इति । अस्यार्थः । हे 'वनस्पते' ! वनस्पति-(वृक्ष-) विकाररथ[1] ! त्वं 'बीड्वङ्गः' संस्तब्धाङ्गोदृढ़ावयवः । वीडयतिः संतम्भनकर्मा नैरुक्तो-धातुः । ततो 'भृमशी'त्यादिना (उ० ११७) उप्रत्ययो बाहुलकात् । सस्त-ब्धो दृढ़ाभवत्यनेनेति । संस्तभ्यन्ते शत्रवोऽनेनेति वा वीडु-बलिष्ठम् (निघं० २।९।१५) वीडूनि-दृढ़ानि महाभारसहानि अङ्गानि चक्रकूबर[3] प्रभृतीनि य-स्यसः । तथा 'अस्मत्सखा' वयं सखायोयस्य तादृशश्च 'भूयाः' भव । किञ्च 'प्रतरणः' प्रकर्षेण तरन्ति दुर्गाणि येन सः । 'सुवीरः' शोभनाः बीराः शूरभटाः पुत्रादयो वा यस्मात्सः । एवम्भूतोभव । त्वं 'गोभिः' वृषभैः 'सन्नद्धः' संयुक्तः[5] 'असि' भवसि । अतस्त्व[7]मस्मानपि 'वीडयस्व' दृढीकुरु[8] । किञ्च 'ते' तव 'आस्थाता' अरोढ़ा (त्वय्यवस्थितोरथी) 'जेत्वानि' जेत-व्यानि द्विषद्वृन्दानि[9] 'जयतु' अभिभवतु[10] ।। १६ ।। इति ।। ३१ ।।

---

(१) अमरकोशे वृक्षपर्याये वानस्पत्यः फलैः पुष्पात्तैरपुष्पाद्वनस्पतिरि-'त्युक्तम् । तदत्र तद्विकारेऽपि तच्छब्दप्रयोगः फलवत् ।।

(२) 'पक्षसी च स्मृतौ पक्षौ' इति अमरटीकायां व्याख्यासुधायां शुभाङ्कः ।

(३) कूबरस्तु युगन्धरः' इत्यमरः ।

(४) प्रवर्द्धयितेति सायणः । करणे ल्यूट् । (पा० ३।३।११७) योरनः (पा० ७।१।१)

(५) एतद्विशेषणेनास्य शुभावहत्वमाशास्यते । अत्र-सुसारथिरिति गुणविष्णुः ।

(६) सायणस्तु-गोभिर्गोविकारैश्चर्मभिः । सन्नद्धः सम्यग्बद्धः । तथाच निरुक्तम् । 'अथापि चर्म च श्लेष्मा च गोशब्देनोच्यते । पृथगोभिः सम्बद्ध इति' इति (२।५) (७) यतस्त्वं बीड्वङ्गः । (८) दृडावयवान् कुरु ।

(९) शत्रुसैन्यानि । 'जिजये' (भ्वा० प०) 'कृत्यार्थेतवैकेन्केन्यत्वनः' (पा० ३।४।१४) इति तव्यार्थे त्वन्प्रत्ययः ।

(१०) 'जिञ्चि अभिभवे' (भ्वा० प०) अभिभवोन्यूनीकरणं न्यूनीभवनञ्च । आद्येसकर्म्मकोद्वितीयेऽकर्मकः ।

ततोरथमारुह्य—

'आस्थाता ते जयतु जेत्वानी'–त्यातिष्ठति ॥ ३२ ॥

जूए के स्पर्श के अनन्तर 'अस्थाता ते जयतु जेत्वानि' (म० ब्रा० १. ७. १७ आदि मन्त्र पढ़कर चढ़ना चाहिए ॥ ३२ ॥

'आस्थाता ते' इतिमन्त्रचतुर्थपादेनरथमातिष्ठति—आरोहति[1] ॥३२॥

प्राङ्वोदङ् वा अभिप्रयाय प्रदक्षिणमावर्त्योपयाति ॥ ३३ ॥

इस रथ पर पूर्वाभिमुख अथवा उत्तराभिमुख बैठकर रथ चलावे और प्रदक्षिण क्रम से आवर्तन करते हुए अपने घर पर जाय ॥ ३३ ॥

ततः प्राङ्-मुख-उदङ्मुखो वा। अभिप्राय—सर्वतोभावेन प्रकर्षेण गत्वा प्रदक्षिणं दक्षिणेन प्रगतं यथास्यात्तथा आवृत्य-आवर्त्तनङ्कृत्वा। उपयाति-उपायायादाचार्यसमीपमागच्छेत् ॥ ३३ ॥

उपयातायाघ्र्यमिति कौहलीयाः ॥ ३४ ॥

इति श्रीमद्गोभिलीयगृह्यसूत्रस्य तृ०प्र०के चतुर्थी कण्डिका ॥ ३।४ ॥

स्वीकीय गृह पर आए उस स्नातक का आचार्य कोहल के अनुसार उसके आत्मीयजन अर्घ्य आदि देकर स्वागत करें ॥ ३४ ॥

॥ इस प्रकार गोभिलगृह्यसूत्र के तृतीयप्रपाठक के चतुर्थ कण्डिका की डा० सुधाकर मालवीय कृत 'अनाकुला' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ ३.४ ॥

कौहलीयाः। शाखाविशेषाध्यायिनस्तु-रथादवरुह्याचार्यसमीपमुपयातायोपागताय स्नातकाय अर्घ्यमर्हण-माचार्येण पित्रा वा कर्त्तव्यन्न तु पूर्वमिति मन्यते ॥ ३४ ॥

इति गोभिलगृह्यसूत्रे तृतीयप्रपाठके चतुर्थखण्डस्य डा० सुधाकर मालवीय कृता सरलाव्याख्या समाप्ता ॥ ३.४ ॥

——*——

(१) रथे सम्यक्तिष्ठति। आसन्न मर्यादायाम्।

अथ तृतीयप्रपाठकस्य

पञ्चमीकण्डिका

अत ऊद्‌र्ध्वं वृद्धशीली स्यादिति समस्तोद्देशः ॥ १ ॥

* अनाकुला *

ब्रह्मचर्य के बाद अविवाहित होकर भी पुरुष को अपने माता पिता आदि वृद्ध-जनों की आज्ञा में रहना चाहिए—यही समस्त उपदेशों का सार है ॥ १ ॥

* सरला *

'अतः' ब्रह्मचर्यात् 'ऊद्‌र्ध्वं' परस्तात् अकृतोद्वाहोऽपि पुरुषः वृद्धशीली-स्यात्' वृद्धानां मात्रादीनां शुश्रूषापर आज्ञानुवर्त्ती च भवेत्। अथवा वृद्धः पक्वबुद्धिः तत्स्वाभावको भवेत्। 'इति' एतन्मात्रेणैव 'समस्तोद्देशः' समग्राणामेव धर्माणाम् उपदेश सिद्धो भवेदिति ॥ १ ॥

तत्रैतान्याचार्याः परिसञ्चक्षते ॥ २ ॥

ब्रह्मचर्य के बाद आश्रमसन्धि तक गोभिल आदि आचार्यों के उपदेश इस प्रकार हैं— ॥ २ ॥

'तत्र' ब्रह्मचर्योत्तरकाले आश्रमसन्धाविति यावत्, 'आचार्याः' गोभि-लादयः 'एतानि' बुद्धिस्थानि अनुपदं वक्ष्यमाणानि 'परिसञ्चक्षते' परि-संख्यनानि कुर्वन्ति। परिसंख्यानञ्च निषेधविशेषम्, निषिद्धादन्यत्र विधानमित्येव तस्य विशेषत्वम् ॥ २ ॥

नाजातलोम्न्योपहासमिच्छेत् ॥ ३ ॥

स्नातक अजात लोम वाली कन्या से या शृङ्गाररस से अनभिज्ञ बालिका से भी उपहास न करे ॥ ३ ॥

'अजातलोम्न्या'¹ रसानभिज्ञया वालिकया 'उपाहसम्' अपि 'न' 'इच्छेत्' अपि ॥ ३ ॥

---

(१) तदुक्तमष्टाङ्गहृदये पञ्चदशाध्याये—

यदा बाल्यमतिक्रम्य तारुण्यं यान्ति योषितः ।
कायश्च मनसो भावस्तदा तासां विवर्तते ।
स्तनौ पीनोन्नतौ स्यातां योनिश्च परिवर्धते ।।
समुद्भवन्ति लोमानि वस्तिदेशे समन्ततः ।
जरायुकोशात् त्वच्छं शोणितञ्च प्रवर्त्तते ।।
तदार्तवं रजश्चेति पुष्पनाम्ना च गद्यते ।
मासि मासि स्रवेद्रक्तं शशशोणितसन्निभम् ।।
लाक्षारसनिभं वाऽपि तददोषं विनिर्दिशेत् ।
तिस्रश्चतस्रो वा पञ्चाप्यवध्नाति तन्निशाः ।
अतोऽन्यथा रजः स्त्रीणां जानीयाद् दोषवद्भिषक ।।
अरुणनामशोकानां प्रायशश्च प्रवर्तते ।
द्वादशाद् वत्सरादूर्ध्वं याति पञ्चाशताक्षयम् ।।
आर्तवस्रावदिवसादृतुः षोडश रात्रयः ।
गर्भग्रहणयोग्यस्तु स एष समयः स्मृतः ।।
नारीणां प्रकृतेर्भेदादृतुकालस्य चान्यथा ।
गर्भग्रहणकालस्य कीर्तितं देहवेदिभिः ।।
दिने व्यतीते नियतं सङ्कुचत्यम्बुजं यथा ।। इति ।

कालनिर्णयदीपिकायामपीदमेवोक्तम्—

ऋतुकाल इति प्रोक्तं गार्ग्यादिमुनिसत्तमैः ।
स्त्रीचिह्नं यौवनं प्राप्य षोडशे वत्सरे सदा ।
कृत्रिमो दशमादूर्ध्वमौषधस्य निषेवणात् ।
एकादशे द्वादशे वा ऋतुकालं वदन्ति हि ।।
अनुरागाद् द्वादशाब्दे त्रयोदशे तु केचन ।
चतुर्दशे पञ्चदशे स्त्रीचिह्नं तु भविष्यति ।।
वातजा पित्तजा चेति दारुणा त्रिविधा स्मृता ।
वातजा द्वादशे वर्षे पित्तजा च चतुर्दशे ।।
दारुणा षोडशे वर्षे शोणितं पतति ध्रुवम् ।। इति ।

नायुग्वा ॥ ४ ॥

अपने से वृद्ध या अपने से छोटी अयोग्य नारी से भी उपहास आदि न करे ॥४॥

एवञ्च जातव्यञ्जना ऋतुमत्येव भवतीति सूत्रेणानेन अनृतुमतीसङ्गमो विशिष्य निषिध्यते ।

असंस्कृतां पुष्पहीनां कन्यकां वा द्विजाधमः ।
गन्तुमिच्छति पापात्मा नरकं याति दारुणम् ॥

इति वदतां मार्कण्डेयाचार्याणामप्यत्र वानुकूलत्वादिति ।

निर्णयसिन्धौ च—

प्रथमर्तोः पूर्वं स्त्रीगमनं न कार्यम्—

प्राग् रजोदर्शनात् पत्नीं नेयाद् गत्वा पतत्यधः ।
व्यर्थीकारेण शुक्रस्य ब्रह्महत्यामवाप्नुयात् ॥

इत्याश्वलायनोक्तेः ।

सनातनधर्मप्रदीपे च—

अप्रौढां कन्यकां विप्रो यभेत् कामातुरोऽन्वहम् ।
तस्यैव नरके वासः कानीनः स्यात् तदुद्भवः ॥ इति ॥

देवलवचनात् । एवञ्चात्रानागतार्तवासङ्गमनिषेधात् 'ऊर्ध्वं त्रिरात्रात्' (२।५।७) इति सूत्रे सूत्रास्यास्यापवादकत्ववर्णना या कृता सा न मनोरमा, गोभिलाचार्यस्य नववध्वा ऋतुदर्शनादूर्ध्वं त्रिरात्रादित्यर्थ एव तात्पर्यात्, न तु केवलं विवाहकालात् परमेव त्रिरात्रादिति (एतच्चोपपादितं पादटीकायां द्र० पृ० ३५१), अनागतार्तवागमननिषेधवाक्यानां भूयसोलम्भाच्च ।

यद्यपि गोभिलाचार्येण 'नग्निका तु श्रेष्ठा' इति सूत्रयता ऋतुमतिविवाहोऽपि जघन्यपक्षीय इति भङ्ग्या प्रतिपादितम्, तत् पुत्रेण च गृह्यासंग्रहे 'तां प्रयच्छेत् त्वनग्निकाम्' इत्युक्त्वा तत् समर्थितम्, तथाऽपि पुनः स्नातकप्रकरणे नाजातेत्यादि सूत्रं विरचय्य अनुमतीविवाह एव अजातव्यञ्जनासंसर्गप्रसक्तिरिति प्रदर्श्य च नग्निकाविवाहे एव प्रकृष्टं तात्पर्यमिति प्रमाणीक्रियते । अत एव 'अनग्निका तु श्रेष्ठा' इति केषाञ्चिदर्वाचीनानां सूत्रकल्पना नितरां निरस्ता इत्यत्राप्यवहितैर्भवितव्यं धीमद्भिः । अथ यदि केषुचिद् गृह्येषु मन्त्रप्रयोगादिलिङ्गपरामर्शेन ऋतुमतीविवाह एव साध्यत्वेन निर्णीयते इति मन्यन्ते केचन व्यवहारपेशलाः, तन्मतन्तु पुराकल्पीयत्वेन गोभिलीयव्यतिरिक्तविषयत्वेन आपत्कल्पीयत्वेन जघन्यकल्पीयत्वेन वा समर्थनीयमित्यलं पल्लवितेन, विस्तरस्तु सनातनधर्मप्रदीपादिषु विचारो द्रष्टव्य इति ।

'क्षयुग्वा' अयोग्यया अपि 'न' तथा ॥ ४ ॥

न रजस्वलया ॥ ५ ॥

रजस्वला नारी से भी उपहास न करे ॥ ५ ॥

'रजस्वलया' अपि 'न' तथा ॥ ५ ॥

न समानर्ष्या ॥ ६ ॥

समान आयु वाली या ऋषिपत्नी आदि परस्त्री से भी मजाक आदि न करे ॥६॥

'समानर्ष्या' समान: योग्य: ऋषि: पति: यस्या अस्ति, तथा सधवया अपि 'न' तथा ॥ ६ ॥

नापरया द्वारा प्रपन्नमन्नं भुञ्जीत ॥ ७ ॥

रहस्यमय एवं किसी अन्य ढङ्ग से प्राप्त अन्न का भोजन न करे ॥ ७ ॥

'अपरया' गुप्तया 'द्वारा' 'प्रपन्नम्' प्राप्तम् 'अन्नम्' 'न भुञ्जीत' ॥ ७ ॥

न द्विःपक्वम् ॥ ८ ॥

दोबारा पकाए हुए अन्न का भोजन न करे ॥ ८ ॥

'द्विःपक्वम्' पक्वं पुन: पक्वम् अन्नं 'न भुञ्जीतेत्येव ॥ ८ ॥

न पर्युषितम् ॥ ९ ॥

पर्युषित (बासी) अन्न का भोजन न करे ॥ ९ ॥

''पर्युषितम्' अन्नम् 'न' भुञ्जीत ॥ ९ ॥

अन्यत्र शाकमांसयवपिष्टविकारेभ्यः ॥ १० ॥

विशेष यह है (कन्द, मूल एवं फलादि से तैयार) शाक अथवा मांस, यव पिसा हुआ या अन्न से बने विकृत पदार्थ जलेबी आदि मिष्ठान्न—द्रव्य यदि वासी हो तो भी खाया जा सकता है ॥ १० ॥

तत्रास्ति विशेष:—शाकमांसयवानां पिष्टविकाराभ्याम् अन्यत्र पूर्वोक्तो निषेधो ज्ञेय:। तथा च शाकादिविकृतपिष्टकमिष्टान्नादौ पर्युषितत्वं न दोषयेति ॥ १० ॥

न वर्षति धावेत् ॥ ११ ॥

वर्षा होने के समय न दौड़े ॥ ११ ॥

'वर्षति' पर्जन्ये 'न' धावेत् ॥ ११ ॥

नोपानहौ स्वयँ हरेत् ॥ १२ ॥

मार्ग में चलते हुए अपने जूतों को स्वयं अपने लेकर न चले ॥ १२ ॥

'उपानहौ' स्वस्यापि, 'स्वयं' 'न आहरेत्' हस्तेनेति निर्माणप्रज्ञया वा ॥ १२ ॥

नोदपानमवेक्षेत् । १३ ।

कुएँ में न झांके न एकटक देखे ॥ १३ ॥

'उदपानम्' कूपं 'न' 'अवक्षेत' तथावेक्षणे तत्र पतनसम्भवात् ॥ १३ ॥

न फलानि स्वयं प्रचिन्वीत । १४ ।

वृक्षों पर चढ़कर अपने लिए या दूसरों के लिए भी फल को न तोड़े ॥ १४ ॥

'फलानि' आम्रपनसादीनि 'स्वयं' 'न प्रचिन्वीत' वृक्षशाखादिभ्य इति यावत् ॥ १४ ॥

नागन्धाँ स्रजं धारयेत् । १५ ।

कुरण्टक आदि पुष्पों को गन्ध रहित माला न धारण करे ॥ १५ ॥

'अगन्धां' गन्धशून्यां 'स्रजं' मालां 'न' धारयेत्' मस्तके इति यावत् ॥ १५ ॥

अन्यां हिरण्यस्रजः । १६ ।

अन्य सुवर्ण की माला धारण करे ॥

तत्राप्ययं विशेष —'हिरण्यस्रजः' 'सुवर्णमालातः अन्यां' न धारयेत् स्वर्णमालाभरणन्तु धारयेदित्येव ॥ १६ ॥

नामालोक्ताम् । १७ ।

गृहस्थाश्रम से पहले माला के अतिरिक्त प्रलम्बादिकों को न धारण करे ॥ १७ ॥

गृहस्थाश्रमतः प्राक् आमालोक्तां माला व्यतिरिक्तां प्रालम्बादिकां 'न' धारयेत् ॥ १७ ॥

स्रगिति वाचयेत् । १८ ।

शिर (गले) में धारण करने वाली माला (स्रक्) धारण करे ॥ १८ ॥

स्रग्लक्षणं शिरोवेष्टमिकां मालां तु धारयेदेव ॥ १८ ॥

भद्रमित्येतां वृथा वाचं परिहरेत् । १९ ।

जो वस्तु अच्छी न हो उसे 'अच्छी वस्तु है'—ऐसी वृथा वाणी न बोले ॥ १९ ॥

विमर्श—मनु (४.१३९) ने भी कहा है—

भद्रं भद्रमिति ब्रूयाद्भद्रमित्येव वा वदेत् ।
शुष्क वैरं विवाद च न कुर्यात् केनचित् सह ॥

अर्थात् मनु के अनुसार निश्प्रयोजन वैर या निश्प्रयोजन विवाद आदि नहीं करना चाहिए ॥ १९ ॥

'भद्रम्'— 'इति' 'वृथा वाचं' अभद्रेऽपि भद्रोक्तिं 'परिहरेत्' न प्रयुञ्जीत ॥ १९ ॥

भद्रमिति ब्रूयात् । २० ।

'भद्रम्'—इति 'ब्रूयात्' सत्यमेव तद्भद्रं चेत् ॥ २० ॥

तत्रैते त्रयः स्नातका भवन्ति । २१ ।

समावर्त्तन में स्नातक तीन प्रकार के होते हैं ॥ २१ ॥

अथ स्नातक विभागान् दर्शयति—'तत्र' समावर्त्तितेषु 'स्नातकाः' कृतब्रह्मचर्यव्रतान्तस्नानाः 'त्रयः' त्रिविधाः 'भवन्ति' ॥ २१ ॥

विद्यास्नातको व्रतस्नातको विद्याव्रतस्नातक इति । २२ ।

१. विद्यास्नातक, २. व्रत स्नातक और ३. विद्याव्रतस्नातक ॥ २२ ॥

---

(१) भद्रं भद्रमिति भद्रमित्येवधादेत् ।
शुष्कवैरं विबादं च न कुर्यात् केनचित् सह ॥
म० सं० ४।१३९ ।

व्याख्यायामस्य कुल्लूकभट्टः—प्रथमं भद्रपदमभद्रपदपरम्, द्वितीयं भद्रशब्द-पर्यायपरम्, अभद्रं यत् तद् भद्रशब्दपर्यायपरप्रशस्तादिशब्देन प्रब्रूयात् तथाचाऽऽ-पस्तम्बः—'नाभद्रमभद्रं ब्रूयात् पुण्यं प्रशस्तमिति ब्रूयाद् भद्रमित्येव' इति । भद्र-पदमेव वा तत्र योज्यम् । शुष्कं निष्प्रयोजनं वैरं विवादं न केनचित् सह कुर्यात् ।" इत्याह ।

विमर्श—१. विद्यास्नातक वह है जो विद्याप्राप्ति तक ब्रह्मचर्य में जितने नियम पालन करने पड़ते हैं उतने काल तक नियम पालन न करके वेदाध्ययन समाप्त कर समावर्तन करे।

२. व्रत स्नातक वह है जो विद्याग्रहण के नियमों का पालन करके भी समग्र वेदाध्ययन समाप्त कर समावर्तन करे।

३. विद्याव्रत स्नातक वह है जो समस्त विद्याओं को प्राप्त कर यथानियम व्रत का पालन करके समावर्तन करे ॥ २२ ॥

तत् त्रिविधत्वमेवे स्फुटयति—

'विद्यास्नातकः' विद्याग्रहणनियमपालनमन्तरेणापि वेदविद्यां समग्रामवाप्यैव अपूर्णेऽपि काले स्नातः 'व्रतस्नातकः' विद्याग्रहणनियमान् प्रतिपाल्यापि समग्रवेदविद्याग्रहणे न कृतकृत्योऽपि च पूर्णे काले स्नातः 'विद्याव्रतस्नातकः' विद्यां समग्रां प्रगृह्य, व्रतं च यथावत् प्रतिपाल्यं, यथाकालं स्नातः, 'इति' इमे त्रयः स्नातकाः ॥ २२ ॥

तेषामुत्तमः श्रेष्ठस्तुल्यौ पूर्वौ । २३ ।

उक्त तीनों प्रकार के स्नातकों में विद्याव्रतस्नातक ही श्रेष्ठ होता है। अन्य दो की समान मर्यादा ही है ॥ २३ ॥

'तेषां' त्रिविधानां स्नातकानां मध्ये 'उत्तमः' तृतीयः विद्याव्रतस्नातक एव 'श्रेष्ठ', 'पूर्वौ' विद्यास्नातक व्रतस्नातकौ उभावेव 'तुल्यौ' समानमर्य्यादौ ॥ २३ ॥

नार्द्रं परिदधीत । २४ ।

स्नातक भींगे कपड़े न पहने ॥ २४ ॥

पुनरपि स्नातकव्रतान्याह—'आर्द्रं' वासः 'न' 'परिदधीत' ॥ २४ ॥

नैकं परिदधीत । २५ ।

मात्र एक कपड़ा न पहने, नीचे लँगोट आदि अवश्य धारण करे ॥ २५ ॥

'एकं' वासः 'न' 'परिदधीत' एवञ्च अन्तर्वासः कौपीनखञ्जडं व्यवहरेदेव ॥ २५ ॥

न मनुष्यस्य स्तुतिं प्रयुञ्जीत । २६ ।

मनुष्य की झूठी प्रशंसा न करे ॥ २६ ॥

मनुष्यस्य स्तुतिं न प्रयुञ्जीत चाटुवादं परित्यजेदिति ॥ २६ ॥

नादृष्टं दृष्टतो ब्रुवीत । २७ ।

जिसे अपने से प्रत्यक्ष न देखा हो, उसे प्रत्यक्ष देखा हुआ न कहे ॥ २७ ॥

'अदृष्ट' किमपि कर्म 'दृष्टतः' परदृष्टहेतुना स्वयं दृष्टमिव सूचयन् मन्वानो वा 'ब्रुवीत' ॥ २७ ॥

नाश्रुतँ श्रुततः । २८ ।

जिसे अपने कानों से न सुना हो, उसे अपने कानों से सुना हुआ न कहे ॥ २८ ॥

'अश्रुतं' किमपि वाक्यं, श्रुततः 'परश्रुतहेतुना स्वयं श्रुतमिव सूचयन् मन्वानो वा न ब्रुवीत ॥ २८ ॥

स्वाध्यायविरोधिनोऽर्थानुत्सृजेत् । २९ ।

स्वाध्याय के विरुद्ध (अन्य) कार्यों की उपेक्षा करे ॥ २९ ॥

विमर्श--स्वाध्याय पाँच प्रकार का है—१. स्वीकार, २. विचार, ३. अभ्यास, ४. जप, और ५. छात्रों को विद्या देना। उनमें से किसी भी स्वाध्याय में बाधा न हो – इस प्रकार की दिनचर्या रक्खे।

'स्वाध्यायविरोधिनः अर्थात्' स्वाध्यायः पञ्चधा उपपद्यते, स्वीकारात् विचारात् अभ्यसनात् जपात् छात्रेभ्योदानाच्च तदेषामन्यतमस्यापि विरोधिनो येऽर्था विषयाः तान् 'उत्सृजेत्' परित्यजेत् ॥ २९ ॥

तैलपात्रमिवात्मानं दिधारयिषेत् । ३० ।

तैलपात्र के समान अपने शरीर को धारण करे ॥ ३० ॥

विमर्श--मार्ग में चलता हुआ पुरुष जिस प्रकार तेल से भरे पात्र को लेकर बड़ी ही सावधानी से चलता है कि कहीं छलक न जाए उसी तरह शरीर में आत्मा की भी सावधानी से रक्षा करे। ऐसा न करने से अकाल में ही शरीरच्युति सम्भव है। इसलिए ब्रह्मचर्य आश्रम के बाद भी संयमपूर्वक आहार-विहार करे ॥ ३० ॥

'तैलपात्रं तैलैः पूर्णं पात्रं' पर्णद्रोण्यादिकम् 'इव' आत्मानं' जीवात्मानं 'दिधारयिषेत्' देहे धारयितुमिच्छेत्। तैलपूर्णपात्रहस्तः कश्चिद् यथा पथि अतीव सावधानो गच्छति, अन्यथा वेगगमनेन वक्रगमनेन मनसोऽप्रणिधानेन च पात्रस्थतैलानामुच्छलनं सपात्राणां भूमौ पतनं ततञ्च पुनरापादनासम्भवः, भूम्याः कथञ्चिदापादितेऽप्यपि तेषु

परिमाणाल्पत्वञ्चानिवार्यं भवेत्। तथैव देहस्थमिमात्मान मतियत्नेनैव देहे रक्षितुमिच्छेत् चिरं देहे रक्षणं त्वसम्भवमेव, परिमिच्छेत् तादृशेच्छया च किञ्चित्कालमपि रक्षितुं समर्थो भवेत् किञ्च यावत् कालं रक्षितः स्यात् तावदपेक्षाकृतोऽक्लेशोऽपि स्यात्, अन्यथा यावत् स्थेयं तावत्कालमपि न तिष्ठेत् किञ्चस्थतोऽप्यपेक्षाकृतः क्लेशी भवेन्नामेति ॥ ३० ॥

न वृक्षमारोहेत् । ३१ ।

वृक्ष पर न चढ़े (क्योंकि पेड़ पर चढ़ने से अभ्यास न होने से फिसल कर गिर जाने से अकालमृत्यु सम्भव है) ॥ ३१ ॥

वृक्षं' 'न आरोहेत्'। तदारोहणेन ततः पतनमनुमरणमङ्गहानि र्वा भवेन्नाक ॥ ३१ ॥

न प्रतिसायं ग्रामान्तरं व्रजेत् । ३२ ।

प्रतिदिन सन्ध्या के बाद अन्य गाँव भ्रमण करने न जाए ॥ ३२ ॥

विमर्श--रात्रि में विहार दोषों का कारण है। अतः आचार्य का कथन है कि सन्ध्या के बाद घर से दूर कहीं विचरण न करे। रात्रि में ही प्रणय या चोरी आदि होते हैं ॥ ३२ ॥

'प्रतिसायं ग्रामान्तरं' न व्रजेत्। तादृशव्रजनेन गुप्तप्रणयादिकं तथा च तत एव प्राणहानिरपि सम्भवति ॥ ३२ ॥

नैकः । ३३ ।

एकाकी दूसरे गाँव में न जाए ॥ ३३ ॥

विमर्श--आचार्य का कहना है कि अकेला घर से दूर गाँव में न जाए क्योंकि सहायक के अभाव में घर पर कोई अशुभ आशंका या तबियत खराब हो जाने की सूचना नहीं दे सकता है। अतः सदैव एक साथी के रहने पर ही ग्रामान्तर में जाए ॥ ३३ ॥

'एकः' एकाकी एव ग्रामान्तरं न व्रजेत् तथा च ग्रामान्तरगतोविपन्नश्चेत् यः सहायो भवेत् अथवा यथास्थानं संवादमपि नयेदेवं कश्चनापरो द्वितीयः सहगोऽतीवावश्यकः ॥ ३३ ॥

न वृषलैः सह । ३४ ।

दुष्ट जनों का संसर्ग न करे ॥ ३४ ॥

विमर्श—वस्तुतः संसर्ग से ही दोष आते हैं सत्संगति से ही गुणों का प्राकट्य होता है ॥ ३४ ॥

'वृषलैः' दुर्नीतिकैः 'सह' न व्रजेत्। तथा च संसर्गजा दोषगुणा भवन्ति' ॥ ३४ ॥

न कासृत्या ग्रामं प्रविशेत् । ३५ ।

प्रसिद्ध मार्ग को छोड़कर शीघ्र पहुँचने के लिए कुपथ से ग्राम में न प्रवेश करे ॥ ३५ ॥

विमर्श—प्रसिद्ध राजमार्ग से चलने में निर्भयता रहती है। कुपथ में चोर आदि का भय रहता है। अतः मुख्य मार्ग से ही चलना चाहिए ॥ ३५ ॥

'कासृतया' कुपथेन ग्रामं न प्रविशेत्। अपितु प्रसिद्धेन पथा दूरतरेणापि प्रविशेत्। तथा च निर्भयगमन भवेत् ॥ ३५ ॥

न चाननुचरश्चरेत । ३६ ।

प्रवास में जाते समय अपने साथ में किसी नौकर या छात्र आदि को अवश्य लेकर चलना चाहिए ॥ ३६ ॥

च अपि 'अननुचरः' भृत्यशिष्यात्मीयान्यतमपरिचारकविहीनः न चरेत् प्रवासं न गच्छेत्। अतएवोक्त भृत्याभावे भवति मरणं ॥ ३६ ॥

एतानि समावृत्तव्रतानि । ३७ ।

ये सभी कर्म विद्यास्नातक के लिए कहे गये हैं ॥ ३७ ॥

'एतानि' उक्तानि समावृत्तव्रतानि समावृत्तानां स्नातकानां कर्माणीति ॥ ३७ ॥

यानि च शिष्टा विदध्युः ॥ ३८ ॥

इति गोभिलगृह्यसूत्रे तृतीयप्रपाठके पञ्चमी कण्डिका समाप्ता ॥ ३.५ ॥

अन्य शिष्ट जन भी जो स्नातक को उसके हितार्थ उपदेश करें उसका भी वह प्रतिपालन करे ॥ ३८ ॥

॥ इस प्रकार गोभिलगृह्यसूत्र के तृतीयप्रपाठक के पञ्चमी कण्डिका की डा० सुधाकर मालवीय कृत 'अनाकुला' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ ३.४ ॥

—*—

च अपि यानि उक्तान्यानि शिष्टः गुर्वादयः विदध्युः तानि च कर्त्तव्यान्येवेति' ॥ ३८ ॥

॥ इति गोभिलगृह्यसूत्रे तृतीयप्रपाठके पञ्चमखण्डस्य डा० सुधाकर मालवीयकृता सरलाव्याख्या समाप्ता ॥ ३.५ ॥

———*———

(१) स्नातकव्रतविषये यदुक्तं गृह्यान्तरेषु तस्मात् किञ्चिदिहोपस्थाप्यते—

तत्र च छन्दोगद्राह्यायणखदिरगृह्याण प्रायः समानानुपूर्वीकाणि सूत्राणि वृद्धशीली स्यादत ऊर्ध्वम्। नाजातलोम्न्योपहासमिच्छेत्। नायुग्वा न रजस्वलया न समानर्ष्या। अपरेया द्वारा प्रपन्न द्विःपक्वपर्युषितानि नाश्नीयात्। अन्यत्र शाकमांसयवपिष्टविकारेभ्यः। पायसाच्च। फलप्रचयनोदपानावेक्षणवर्षतिधावनोपानत्स्वयहरणानि न कुर्यात्। नागन्धं स्रजं धारणयेन्न चोद्धरण्यस्रक्। भद्रमिति न वृथा व्याहरेत्। इति।

जैमिनिगृह्यसूत्राणि च—तस्य व्रतानि भवन्ति नाजातलोम्न्योपहासमिच्छेत्, वर्षति न धावेत्, नोपानहौ स्वयं हरेत्, न फलानि स्वयं प्रचिन्वीत, न प्रतिसायं ग्रामान्तरं व्रजेत्, नैको न वृषलैः सह, नोदपानमवेक्षेत् न वृक्षमारोहेत्, न सक्रममारोहेत्, नानन्तर्धायाऽऽसीत, नापरया द्वारा प्रपन्नमन्नमश्नीयात् न शुक्तं न द्विपक्व न पर्युषितमन्यत्र शाकमांसयवपिष्टान्नपृथुकफाणितदधिमधुघृतेभ्यो, नानर्मणि हसेत्, न नग्नः स्नायात्, शुक्तावाचो न भाषेत, जनवादं कलहांश्च वर्जयेत्। त्रयः स्नातका भवन्तीति ह स्माऽऽहारुणिगौतमः—विद्यास्नातको व्रतस्नातको विद्याव्रतस्नातक इति। तेषामुत्तमः श्रेष्ठस्तुल्यौ पूर्वौ। इति।

लौगाक्षिकाठकगृह्ययोः समानानुपूर्वीकाणि सूत्राणि—द्विवस्त्रोऽत ऊर्ध्वम्। तस्माच्छोभनं वासो भर्तव्यमितिश्रुतिः। वैणवदण्डधारीनित्यम्। छत्रधारी। अपन्थदायी। अदत्तहरणं प्रतिषिद्धम्। अपरया द्वारा निःसरणम्, मलवद्वाससा सह सम्भाषा। रजोवाससा सह शय्या। गुरोर्दुरुक्तवचनम्। अस्थाने स्मयनम्। सरणम्। गायनम्। नर्तनम्। तस्य चेक्षणम्। इति।

आश्वलायनगृह्यसूत्राणि च—

विद्यान्ते गुरुमर्थेन निमन्त्र्य कृत्वाऽनुज्ञातस्य वा स्नानम्। तस्यैतानि व्रतानि भवन्ति। न नक्तं स्नायात्। न नग्नः स्नायात्। न नग्नः शयीत। न नग्नां स्त्रियमीक्षेतान्यत्र मैथुनात्। वर्षति न धावेत्। न वृक्षमारोहेत्। न कूपमवरोहेत्। न बाहुभ्यां नदीं तरेत्। न संशयमभ्यापद्येत। महद् वै भूतं स्नातको भवतीति विज्ञायेत। इति।

मानवगृह्यसूत्राणि तु—आमन्त्र्य गुरून् गुरुवधूश्च स्वान् गृहान् व्रजेत्। प्रतिषिद्धमपरया द्वारा निष्क्रमणं मलवद्वाससा सह संवसनं रजःसुवासिन्या सह शय्या गुरोर्दुरुक्तवचनमस्थानेशयनं स्मयनं सरणं स्थानं यानं गानं तस्य चेक्षणम्। पौर्णमास्याममावस्यायां वा आग्नेयेन पशुना यजेत। तस्य हविर्भक्षयित्वा यथा सुखमत ऊर्ध्वं मधुमांसे प्राश्नीयत् क्षारलवणे च। इति।

वराहगृह्यसूत्राणि च—आमन्त्र्य गुरून् गुरुवधूश्चे स्वान् गृहान् व्रजेत्। प्रतिषिद्धमपरया द्वारा निःसरणं मलवद्वाससा सह संभाषा रजस्वद्वाससा सह शय्या गोगुर्वोर्दुरुक्त बचनमस्थाने शयनं स्मयनं स्नानं गानं स्मरणमिति तानि वर्जयेत्। याजनं वृत्तिरुञ्छशीलमयाचितप्रतिग्रहः साधुभ्यो वा याचितमनायासेन सिध्यमानायां वा वैश्यवृत्तिः। स्वाध्यायविरोधिनोऽर्थान् विसृजेत्। इति।

बोधायनीय गृह्यपरिभाषासूत्राणि च—त्रयः स्नातका भवन्ति—वेदस्नातको व्रतस्नातको वेदव्रतस्नातकश्चेति। अथैतेषामत ऊर्ध्वंनित्यानि भवन्ति। औपासना दण्डः कमण्डलुरुपानही छत्रं द्वे वाससी द्वे यज्ञोपवीते उष्णीषमजिनमन्तर्वास इति। पूर्वेण ग्रामान्निष्क्रमणप्रवेशनानि च वाग्यत उत्तरेण वा। बहिर्वाच विसृजेत्। प्रश्नमनुवाकं वाऽधीयीत। ब्रह्मपरो ब्रह्मनित्यो देवेभ्य ऋषिभ्यः पितृभ्यस्तर्पणानि कृत्वाऽश्नीयात्। दिवा नोष्णीषी नक्तमुष्णीषीमूत्रपुरीषोत्सर्गेषु च निवीती नित्ययज्ञोपवीती तिष्ठान्नाऽऽचामेत् प्रह्वोवा। सन्ध्ययोश्च वहिर्ग्रामादासनं वाग्यतश्च। आ जायासङ्गमात् स्नातका भवन्त्यत ऊर्ध्वं गृहस्थाः। अविच्छेदाय वेदव्रतैर्व्यवहरेत् कौमारेण माहश्वरेण धान्वन्तरेणेति। इति।

पारस्कर गृह्यसूत्राणि तु—स्नातस्य यमान् वक्ष्यामः। कामादितरः। नृत्यगीतवादित्राणि न कुर्यान्न च गच्छेत्। काम तु गीतं गायति वैव गीते वा रमत इति श्रुतेह्यंपरम्। क्षेमे नक्तं ग्रामान्तरं न गच्छेन्न च धावेत्। उदपानवेक्षणवृक्षारोहणफलपतनसन्धिसर्पणविव्रतस्नानविषमलङ्घनशुक्तवदनसन्ध्यादित्यप्रेक्षणभैक्षणानि न कुर्यात् न ह वै स्नात्वा भिक्षेतापह वै स्नात्वा भिक्षां जयतीति श्रुतेः। वर्षत्यप्रावृतो व्रजेदयं मे वज्र इति। अप्स्वात्मान नावेक्षेत। अजातलम्नीं विपुंसी षण्ढं च नोपहसेत्। गर्भिणीं विजन्येति ब्रूयात्। सकुलमिति नकुलम्। भगालमिति कपालम्। मणिधनुरितीन्द्रधनुः। गां धयन्तीं परस्मै नाऽऽचक्षीत। उर्वरायामनर्न्तर्हितायां भूमावुत्सर्पस्तिष्ठन्न मूत्रपुरीषे कुर्यात्। स्वयं प्रशीर्णेन गुदं प्रमृजीव। विकृतं वासो नाऽऽच्छादयीत। दृढव्रतो वधत्र स्यात् सर्वत आत्मानं गोपायेत् सर्वेषां मित्रमिव शुक्रियमध्येष्यमाणः। इति।

अथ तृतीयप्रपाठकस्य

षष्ठी कण्डिका

गाः प्रकाल्यमाना अनुमन्त्रयतेमा मे विश्वतो वीर्य इति । १ ।

* अनाकुला *

समावृत्तविधि और गोपालन विधि

चारागाह में चराने के लिए गौ आदि को घर से ले जाते समय 'इमा मे विश्वतो वीर्यं:' (म० ब्रा० १. ८. १) मन्त्र का पाठ करे ॥ १ ॥

* सरला *

'प्रकाल्यमानाः' चारणभूमौ गमनार्थं गृहान्निष्काश्यमाना गाः; 'इमा मे विश्वतो वीर्यो भव इन्द्रश्च रक्षतम् । पूषँस्त्वं पर्यावर्त्तयानष्टा आयन्तु नो गृहान् ॥ १ ॥ (म० ब्रा० १. ८. १)—इति अनेन मन्त्रेण 'अनुमन्त्रयेत ॥ १ ॥

प्रत्यागता इमा मधुमतीर्मह्यमिति । २ ।

जब गौ आदि पशु घर पर लौट कर आवें तो 'इमा मधुमतीर्मह्यम्' (म० ब्रा० १. ८. २.) आदि मन्त्र पढ़े ॥ २ ॥

प्रत्यागताः चारणभूमितो गृहागतास्ता गाः इमा मधुमतीर्मह्यमनष्टाः पयसा सह । गाव आज्यस्य मातर इहेमः सन्तु भूयसीः (म० ब्रा० १. ८. २) इति अनेन मन्त्रेण अनुमन्त्रयेतेत्येव ॥ २ ॥

पुष्टिकामः प्रथमजातस्य वत्सस्य प्राङ्मातुः प्रलेहनाज्जिह्वया ललाटमुल्लिह्य निगिरेद् गवाँ श्लेष्मासीति । ३ ।

पुष्टि की कामना वाले पुरुष को चाहिए कि गौ के बछड़े को जन्म के समय ही जब तक उसको माँ उसे चाटे अपनी जिह्वा से उस वत्स के ललाट को चाटे । चाटते

समय मुँह में आई हुई लार को 'गवां श्लेष्मासि' (मं० ब्रा० १. ८. ३) आदि मन्त्र को पढ़ते हुए निगल जाए ॥ ३ ॥

पुष्टिकामः पुरुषः प्रथमजातस्य वत्सस्य, मातुः प्रलेहनात् प्राक् एव तस्य 'ललाटं, जिह्वया' स्वकीयया उल्लिह्य आस्वाद्य लेहनेन मुखागतं श्लेषमाणं 'गवां श्लेष्मासि गावो मयि श्लिष्यन्तु' ॥ ३ ॥ (मं० ब्रा० १.८.३)—इति इमं मन्त्रं मनसा पठन्नेव निगिरेत्, गलाधः कुर्यात् । इत्येतत् पुष्टिकामस्य प्रथमं कार्य्यम् (एतेन वत्समातुः स्नेहतोऽपि समधिकः स्नेहः प्रतिपालकस्यावश्यकस्तथासत्येव यथाभिलषितपुष्टिर्भवतीति सूचितम्) ॥ ३ ॥

पुष्टिकाम एव संप्रजातासु निशायां गोष्ठेऽग्निमुपसमाधाय विलयनं जुहुयात् संग्रहण संगृहाणेति । ४ ।

जिस पुरुष को पुष्टि की इच्छा हो वह रात में गाय के बियाने पर गृह में ठीक से अग्नि प्रज्वलित करके 'संग्रहण संग्रहण' (मं० ब्रा० १. ८. ४) आदि मन्त्र को पढ़ते हुए विलयन अर्थात् आधे मथे हुए दधि का होम करे ॥ ४ ॥

'पुष्टिकाम एव' पुरुषः, निशायां रात्रौ सम्प्रजातासु प्रसूतासु गोषु 'गोष्ठे' तत्रैव गोस्थाने, 'अग्निम्' 'उपसमाधाय, सम्यक् प्रज्वाल्य, तत्र 'संग्रहण संगृहाण ये जाताः पशवो मम । पूषैषां शर्म्म यच्छतु यथा जीवन्तो अप्ययात्' ॥ (मं० ब्रा० १.८.४)—'इति' एतेन मन्त्रेण विलयनं' अर्द्धमथितं दधि 'जुहुयात्' स्रुवेणेति । (इत्येतत् पुष्टिकामस्य द्वितीयं कार्य्यम् । एतेन, गवां प्रसवक्लेशजमपनीतं स्यात्) ॥ ४ ॥

पुष्टिकाम एव संजातास्वौदुम्बरेणासिना वत्समिथुनयोर्लक्षणं करोति पुंस एवाग्रेऽथ स्त्रिया भुवनमसि साहस्रमिति । ५ ।

जिस व्यक्ति को पुष्टि की कामना हो वह गाय के जुड़वा बछड़ा और बछिया को जन्म देने पर 'भुवनमसि साहस्रम्' (मं० ब्रा० १. ८. ५, ६) आदि मन्त्र पढ़ते हुए गूलर की लकड़ी की बनी तलवार से बछड़े (पुरुष) के एक कान में और बछिया के दोनों कान में चिह्न बना देवे ॥ ५ ॥

'पुष्टिकाम एव' पुरुषः, सम्प्रजातासु प्रसूतासु गोषु 'वत्समिथुनयोः' द्वयोर्द्वयोर्वत्सयोः 'औदुम्बरेण' उदुम्बरकाष्ठीयेन असिना, चिह्नकविशेषेण

'लक्षण' चिह्नम् उभयोः समरूपमेव 'करोति' कुर्यात्। तत्र, 'पुंसः एव' चिह्नम् 'अग्रे' कर्त्तव्यम्, 'अथ' तदनन्तरं च 'स्त्रियाः'। अत्र चिह्नकरणे मन्त्रौ 'भुवनमसि साहस्रमिन्द्राय त्वा सृमोऽददात् अक्षतमरिष्टमिलान्दम् ॥ ५ ॥ गो पोषणमसि गोपोषस्येशिषे गोपोषाय त्वा। सहस्र पोषणमसि सहस्रपोषस्येशिषे सहस्रपोषाय त्वा' ॥ ६ ॥ (म० ब्रा० १. ८. ५-६)—इति इमौ ॥ ५ ॥

कृत्वा चानुमन्त्रयेत लोहितेन स्वधितिनेति । ६ ।

इस प्रकार चिह्न बनाकर 'लोहितेन स्वधितिना' (म० ब्रा० १. ८. ७) आदि मन्त्र पढ़ते हुए उन बछड़ों का अनुमन्त्रण करे ॥ ६ ॥

विमर्श--चिह्न बना देने से यदि बछवा या बछिया कहीं खो जाये तो मिलने में कठिनाई नहीं होगी ॥ ६ ॥

'कृत्वा' अङ्कनं च ततः 'लोहितेन स्वधितिना मिथुनं कर्णयोः कृतम्'। (यावतीनां) भूयसीनां व एषमो लक्षणमकारिषम्। (भूयसीनां) भूयसीनां च उत्तरामुत्तरां समां क्रियासम्' ॥ ७ ॥ (म० ब्रा० १. ८. ७) 'इति' अनेन मन्त्रेण 'अनुमन्त्रयेत्' तां वत्सानिति शेषः। अत्र च मन्त्रे 'लोहितेन —इति पदलिङ्गात् स चौदुम्बरोऽसिः लोहितः स्यादिति गम्यते, लोहितत्वञ्च तस्य ज्वलनेन सिन्दूरादिना वा भवितव्यम्। तथा च दाहने सिन्दूरादिरञ्जितेन वा वत्सयुग्माः चिह्निताः स्युः किञ्चात्रैव 'कर्णयोः'—इति पददर्शनात् तेषां कर्णेष्वेव चिह्नानि कर्त्तव्यानीति च गम्यते। (एतेन) चरणभूम्यादौ बहुस्वामिक वत्सानामेकत्र चरणेऽपि विभ्रमः सुपरिहार्यः, किञ्चैकविधचिह्नेन द्वयोर्द्वयोः कर्णावङ्किताविति एकेऽपहृते तदन्वेषणं सुकरं भवेदित्येतत् पुष्टिकामस्य तृतीयं कार्यम् ॥ ६ ॥

तन्त्रीं प्रसार्य्यमाणां बद्धवत्साञ्चानुमन्त्रयेतेयं तन्त्रीगवां मातेति । ७ ।

'इयं तन्त्री गवां माता' (म० ब्रा० १. ८. ८) आदि मन्त्र से बछड़े के बन्धन की रस्सी को सुखावे ॥ ७ ॥

'प्रसार्यमाणां' शुष्कीभवनाय बद्धवत्साञ्च गो दोहनादौ तन्त्रीं वत्सबन्धनरज्जुं 'इयं तन्त्री गवां माता सवत्सानां निवेशनी। सा नः पयस्वती

दुहा उत्तरामुत्तरां समाम् ॥ ८ ॥ (म० ब्रा० १. ८. ८)—'इति' अनेन मन्त्रेण 'अनुमन्त्रयेत्' ॥ ७ ॥

तत्रैतान्यहरहः कृत्यानि भवन्ति । ८ ।

गो के पोषण में प्रतिदिन इन कृत्यों को करना चाहिए ॥ ८ ॥

'तत्र' गोपोषणे एतानि 'अहरहः कृत्यानि' प्रतिदिनं कर्त्तव्यानि 'भवन्ति' भवेयुः ॥ ८ ॥

निष्कालन प्रवेशने तन्त्री विरहणमिति । ९ ।

प्रथम तो गौ आदि को चारागाह में ठीक से चरने देना, दूसरे जब वह चरकर लौटे तो उन्हें यत्नपूर्वक खूंटे से बांधना, तीसरे गो से अधिक गौ के बछड़े का ध्यान रखना आदि ॥ ९ ॥

'निष्कालन प्रवेशने' प्रथमद्वितीयसूत्रोक्ते 'तन्त्री विहरणं' सप्तम-सूत्रोक्तम् अपि 'इति' इमानि त्रीणि ॥ ९ ॥

गोयज्ञे पायसश्चरुः । १० ।

पुष्टि कामना वाला पुरुष गो यज्ञ करे। उस गो यज्ञ के निमित्त दूध में पका चरु आवश्यक है ॥ १० ॥

अथ पुष्टिकामेन गोयज्ञः कार्यः तत्र द्रव्यदेवते विदधत्ते । 'गोयज्ञे-पायसः' पयसा सिद्धः चरुः पक्तव्यः ॥ १० ॥

अग्निं यजेत पूषणमिन्द्रमीश्वरम् । ११ ।

अग्नि, पूषा, इन्द्र और ईश्वर—ये चार देव अर्चनीय हैं ॥ ११ ॥

'अग्निं' 'पूषणम्' 'इन्द्रम्' 'ईश्वरम्'—इमान् चतुरो देवान् 'यजेत' अर्च्चयेत् ॥ ११ ॥

ऋषभपूजा । १२ ।

ऋषभ की पूजा गो यज्ञ का प्रधान अङ्ग है ॥ १२ ॥

'ऋषभस्य' वृषभस्य पूजा अपि कार्या ॥ १२ ॥

गोयज्ञेनैवाश्वयज्ञो व्याख्यातः । १३ ।

गो यज्ञ और अश्व यज्ञ दोनों ही एक प्रकार से होते हैं ॥ १३ ॥

गोयज्ञेन' उक्तेनानेन 'एव' अश्वयज्ञः व्याख्यातः विशेषणोपदिष्टः। तथा च अश्वयज्ञेऽपि पायसश्चरुर्द्रव्यम्, अग्नाद्या एव देवताः। ऋषभपूजास्थानेऽश्वपूजनम् ॥ १३ ॥

यमवरुणौ देवतानामभ्यधिकौ ॥ १४ ॥

किन्तु अश्व यज्ञ में विशेषता यह है कि यम और वरुण दोनों की भी पूजा होती है ॥ १४ ॥

'अत्र' अश्वयज्ञे 'देवतानां' मध्ये 'यमवरुणौ' इमौ देवौ 'अधिकौ' पूज्याविति ॥ १४ ॥

गन्धैरभ्युक्षणं गवां गन्धैरभ्युक्षणं गवाम् ॥ १५।६ ॥

इति गोभिलगृह्यसूत्रे तृतीयप्रपाठके षष्ठी कण्डिका समाप्ता ॥ ३.६ ॥

गोशाला में प्रतिदिन दोनों ही सन्ध्याओं में गुग्गुल आदि जलाकर धूप देकर उसे सुवासित रखना चाहिए ॥ १५ ॥

॥ इस प्रकार गोभिलगृह्यसूत्र के तृतीय प्रपाठक के षष्ठ खण्ड का डा० सुधाकर मालवीय कृत 'अनाकुला' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ ३.६ ॥

'गन्धैः' धूपदीपादिभिः 'गवाम्' 'अभ्युक्षणं' प्रहर्षणं कार्यमिति शेषः। वीप्सायाञ्च द्विवचनम्, तेन प्रतिदिनमेव सायं प्रातः सायमेव वा गोगृहे अग्निं प्रज्वाल्य तत्र गुग्गुलादिगन्धद्रव्यप्रक्षेपणेन च तद्गृहं धूपायितं कार्यम्। एतेन मशकादीनामुपद्रवो वारितः स्यात्, गृहदोषश्च विदूरितो भवेदिता ॥ १५ ॥

इति गोभिलगृह्यसूत्रे तृतीयप्रपाठके षष्ठखण्डस्य डा० सुधाकर मालवीय कृता सरलाख्या व्याख्या समाप्ता ॥ ३.६ ॥

—*—

१. गवादिनापुष्टिकामनाविषयमधिकृत्य यदुक्तं गृह्यान्तरेषु तेभ्यो यथासम्भवमुपादीयते—तत्र छन्दोगखादिरद्राह्यायणगृह्याणां सूत्राणि—पुष्टिकामो गाः प्रकालयेतेमा म इति। प्रत्यागता इमा मधुमतीति। पुष्टिकाम एव प्रथमजातस्य वत्सस्य प्राङ् मातुः प्रलेहनाल्ललाटमुल्लिह्य निगिरेद्—गवामिति। संप्रजातासु गोष्ठे निशायां विलयन जुहुयात् संग्रहणेति। अथापरं वत्समिथुनयोः कर्णे लक्षणं कुर्याद् भुवनमिति।

पुंसोऽग्रे । लोहितेनेत्यनुमन्त्रयेत । तन्तीं प्रसारितामियं तन्तीति । इति ।

अथैषां प्रयोगः — तत्र पुष्टिप्रदकाम्यकर्माण्युच्यन्ते — तत्राऽऽदावनुमन्त्रणम् । गवानुमन्त्रणाङ्गं पूर्वदिने नान्दीमुखश्राद्धं प्रथमारम्भे कुर्यात्, त्रिरात्रोपवासश्च, प्रातर्गवां पुष्ट्यर्थमरण्यं नीयमनानां गवामनुमन्त्रणं करिष्ये इति संकल्प्य गृहदारण्यं नीयमाना गा इमा मे विश्वत इति मन्त्रेणानुमन्त्रयते । अस्य मन्त्रस्य प्रजापतिर्ऋषिरनुष्टुप् छन्द इन्द्रो देवता गवानुमन्त्रणे विनियोगः । इमा मे इति मन्त्रः । सायमरण्याद् गृहं प्रत्यागता गा इमा मे मधुमतीरिति मन्त्रेणानुमन्त्रयेत । अस्य मन्त्रस्य प्रजापतिर्ऋषिरनुष्टुप् छन्द इन्द्रो देवता प्रत्यागतगवानुमन्त्रणे विनियोगः । ततो मन्त्रः । एतदुभयं प्रत्यहं कार्यम् । इति गवानुमन्त्रणप्रयोगः ।

अथ गवां प्रसवसमये पुष्टिप्रदश्लेष्मभक्षण प्रयोग उच्यते — गवां प्रसवसमये प्रथमजातस्य वत्सस्य माता गौर्जिह्वया आस्वादं यावत्कालं न करोति ततः पूर्वमेव यजमानो वत्सस्य ललाटं स्वजिह्वया तूष्णीमास्वाद्य मनसा शीघ्रं मन्त्रमुच्चार्य श्लेष्म भक्षयति । गवां पुष्ट्यर्थं ललाटोल्लेहननिगरण कर्मणी करिष्ये इति संकल्पयेत् । अस्य मन्त्रस्य प्रजापतिर्ऋषिर्यजुः श्लेष्मा देवता श्लेष्मभक्षणे विनियोगः । गवामिति मन्त्रः । वसन्तादारभ्य मासत्रयेऽस्यानुष्ठानमिति केचित् । वर्षास्वित्यन्ये । तदुभयं न साधु, प्रसवकालस्यनियतत्वात् । इति ।

अथ गोपुष्ट्यर्थं विलयनहोमः, तदङ्गं नान्दीश्राद्धम् । सर्वासु गोषु प्रसूतासु निशायां गोष्ठेऽग्निं प्रतिष्ठाप्य क्षिप्रहोमविधिना संग्रहणसंगृहाणेतिमन्त्रेण घृतविलयनेनैकामाहुतिं जुहुयात् । विलयन शब्देन घृतनिस्यन्दनमर्धमथितं दधि वोच्यते, अनयोरन्यतरेण होमः । नात्र विलयनसस्कारो न परिस्तरणब्रह्मोपवेशनादिकम् । काम्यत्वाद् भूमि जपमात्रम् । प्रपदविरूपाक्षौ न स्मः, क्षिप्रहोमे तयोर्निषेधात् । अस्य मन्त्रस्य प्रजापत्रृषिरनुष्टुप् छन्दः पूषा देवता विलयनहोमे विनियोगः । मन्त्रपाठः । इदं पूष्णे न मम । इति ।

अथ वत्समिथुनयोर्लक्षणं कुर्यात् — गवां पुष्ट्यर्थम् । अत्र त्रिरात्रमुपवासस्तदङ्गं नान्दीश्राद्धम् । वत्समिथुनयोः कर्णयोर्लक्षणमहं करिष्ये । ततः प्रसूतासु गोषु ताम्रमयेणासिना वत्सयोश्चिह्नं कुर्याद् भुवनमसीति मन्त्रेण । अस्य मन्त्रस्य प्रजापतिर्ऋषिर्गायत्रीच्छन्दः स्वधितिर्देवता वत्सस्य कर्णयोश्चिह्नकरणे विनियोगः । ततो मन्त्रः । ततो गोपोषणमसीति मन्त्रः । अस्य मन्त्रस्य देवतादयः पूर्ववत् । एकः कर्णौ यथा द्वेधा दृश्यते तथा छेदनं द्वयो कर्णयोः कुर्यात् । कर्णभेदान्मन्त्रावृत्तिः । प्रथमं दक्षिणकर्णे पश्चाद् वामे । प्रथमं पुंस एव पश्चात् स्त्रियश्चिह्नकरम् । पुंसोऽग्रभागे स्त्रियोऽधस्तत्चिह्नकरणमिति व्याचक्षाणो 'मिथुनं कर्णयोरि'ति

मन्त्रलिङ्गं पीडयेदतस्तदुपेक्ष्यम्। असिना स्वधितिना क्षुरेण चिह्नं कुर्यात् लोहितेन स्वधितिनेति मन्त्रलिङ्गादिति भट्टनारायणोपाध्यायः। असिना वत्समिथुनयोर्लक्षणं करोतीत्यत्रासिपदश्रुतेर्लिङ्गाद् बलीयस्त्वादसिपद रूढ्या खड्गबोधकमिति केचित्। ततो लोहितेनेति मन्त्रेणानुमन्त्रयते। अस्य मन्त्रस्य प्रजापतिर्ऋषिस्त्रिपादनुष्टुप् छन्दो गोर्देवता कृतलक्षणस्यानुमन्त्रणे विनियोगः। ततो मन्त्रपाठः। अत्रापि कर्मलक्षणभेदादनुमन्त्रणभेदः। तत इयं तन्ती गवां मातेति मन्त्रेण वत्सबन्धनरज्जुं प्रसार्यमाणामनुमन्त्रय। पुनस्तेनैव मन्त्रेण बद्धवत्सरज्जुमप्यनुमन्त्रयते।

अस्य मन्त्रस्य प्रजापतिर्ऋषिरनुष्टुप् छन्दो वत्सो देवता प्रसार्यमाणरज्ज्वभिमन्त्रणे विनियोगः। ततो मन्त्रः। इदञ्च कृत्यं प्रत्यहं कार्यमिति।

अथ गोयज्ञप्रयोगः—स च गवां पुष्ट्यर्थः। तस्य कालः परिभाषोक्त उदगयनादिः तदङ्गं नान्दीश्राद्धं कृत्वा, गवां पुष्ट्यर्थं गोयज्ञस्थालीपाकं करिष्ये इति संकल्प्य सर्वं पार्वणस्थालीपाकवत् कुर्यात्। निर्वापकाले विशेषः। अग्नये त्वा जुष्टं निर्वपामि, पूष्णे त्वा निर्वपामि, इन्द्राय त्वा जुष्टं निर्वपामि, ईश्वराय त्वा जुष्टं निर्वपामि। इति। पयसि चरुश्रपणम्। अस्य कर्मणः काम्यत्वाद् वक्ष्यमाणप्रकारेण भूमिजपपरिसमूहनविरूपाक्षप्रपदजपं कुर्यात्। आज्यभागान्ते चरुहोमः। अग्नये स्वाहा, इदमग्नये न मम। एवं पूष्णे, इन्द्राय, ईश्वराय। वृषभस्य शृङ्गौ तैलेनाभ्यज्य गले यथासम्भवमाभरणं बद्ध्वा घासादिकञ्च दत्वा पूजनं कुर्यात्। सायमागतानां गवां गन्धैरभ्युक्षणम्। ब्रह्मणे पूर्णपात्रदानम्। वामदेव्यगानं ब्राह्मणभोजनञ्च कुर्यात्। इति।

अथाश्वयज्ञप्रयोग उच्यते—स गोयज्ञवत्। गोयज्ञोऽश्वयज्ञश्च विद्यमानानां गवामश्वानाञ्च पुष्ट्यर्थः, 'पुष्टिकामः' इति सूत्रोक्तेः अविद्यमानासु गोषु असत्स्वश्वेषु च नायं गोयज्ञोऽश्वयज्ञश्च। तथाच विद्यमानानामश्वानां पुष्ट्यर्थमश्वयज्ञमहं करिष्ये इति संकल्प्य पूर्ववत् पायसचरुं कुर्यात्। निर्वापकाले विशेषः, गोयज्ञवदग्निपूषेन्द्रेश्वरेभ्यः हविर्निरूप्य यमवरुणयोर्निर्वापः। आज्यभागान्ते गोयज्ञवदग्न्यादिभ्यश्चतसृभ्यो देवताभ्यश्चरुं हुत्वा यमाय वरुणाय च जुहुयादिति। अनयोः काम्यत्वात् काम्येषु वक्ष्यमाणत्रिरात्रोपोषणमशक्तौ त्रिरात्रमेकभक्तं वा। अन्ये तु मार्गपालीदिने गोयज्ञो नीराजनदिनेऽश्वयज्ञ इति कर्मप्रदीपवचनानुसारेणाऽऽहुः। इति।

—*—

अथ तृतीयप्रपाठकस्य
सप्तमीकण्डिका

अथातः श्रवणाकर्म्म । १ ।

* अनाकुला *

अब श्रावणकर्म का विधान करते हैं ॥ १ ॥

* सरला *

'अथ' अधिकारार्थः । 'अतः' ऊर्ध्वं 'श्रवणाकर्म' अधिकृतं वेदितव्यम् ॥ १ ॥

पौर्णमास्यां कृत्यम् । २ ।

यह कर्म श्रावण मास की पूर्णिमा से प्रारम्भ करे ॥ २ ॥

तच्च श्रवणाकर्म्म 'पौर्णमास्यां' तिथौ कृत्यं करणीयं भवति आरब्धव्यमिति । श्रवणाकर्मेति महासञ्ज्ञाकरणसामर्थ्यादन्वर्थतः श्रवणानक्षत्रयुक्तायामेव पौर्णमास्यामिति ॥ २ ॥

पुरस्ताच्छालाया उपलिप्य शलाग्नेरग्नि प्रणयन्ति ॥ ३ ॥

जहाँ नित्य अग्निहोत्र की अग्नि स्थापित हो, उसी के सामने गोबर से लीपकर अग्निहोत्र से अग्नि लेकर विधि-विधान से अग्नि प्रज्वलित करे ॥ ३ ॥

'शालायाः' अग्न्यागारस्य 'पुरस्तात्' पुरोभागे 'उपलिप्य' गोमयेत्यादिना, शालाग्नेः अग्न्यागारस्थिताग्नित एव 'अग्नि' गृहीत्वा प्रणयन्ति यथाविधि प्रज्वालयन्ति प्रज्वालयेयुः गृहस्था अविशेषेणेति ॥ ३ ॥

अभितश्चत्वार्युपलिम्पन्ति ॥ ४ ॥

उस नवीन स्थापित अग्नि के चारो ओर के स्थानों को गोबर से लीप कर साफ करे ॥ ४ ॥

'अभितः' तस्याभिनवस्याग्नेः, चत्वारि स्थानानि 'उपलिम्पन्ति' गोमयेत्यादिनैव ॥ ४ ॥

प्रतिदिशम् । ५ ।

प्रत्येक दिशा में लीपे ॥ ५ ॥

'प्रतिदिशं' दिशं दिशं प्रति साधिके प्रक्रमे अन्यूनं प्रक्रमपरिमितस्थाने तल्लिम्पनं कर्त्तव्यम् ॥ ५ ॥

साधिके प्रक्रमे । ६ ।

प्रति दिशा में कम से कम एक भूमि लीपनी चाहिए ॥ ६ ॥

'त्रिपदः प्रक्रमः स्मृतः' ॥ ६ ॥

अग्नौ कपालमाधाय सकृत्संगृहीतं यवमुष्टिं भृज्जत्यनुपदहन् । ७ ।

अग्नि पर खप्पर रखे। उसमें एक मुट्ठी यव डालकर ऐसा भूने कि वह जल न जाय ॥ ७ ॥

अग्नौ तत्र कपालं घटार्द्धप्रायं भाजनम् 'आधाय' स्थाप्य तस्मिन्नेवोत्तप्ते भ्राष्ट्रे 'सकृत्सङ्गृहीतं एकदैव सङ्गृहीतं मुष्टिमतं यवान्नम् 'अनुपदहन्' दग्धं यथा न भवेत् तथा कृत्वा 'भृज्जयति' भर्जयेत् ॥ ७ ॥

पश्चादग्नेरुलूखलं दृं हयित्वाऽवहन्त्युद्वेचम् ॥ ८ ॥

अग्नि के पश्चाद् भाग में उलूखल को दृढ़ रूप से स्थापित करके, उसमें उस यव को डालकर, उसकी भूँसी मुसल से अवघात कर निकालते हैं ॥ ८ ॥

'अग्नेः' तस्य 'पश्चात्' भागे 'उलूखलं' दृंहयित्वा दृढं स्थापयित्वा तत्र उद्वेच, तुष मुक्तं यथा स्यात्तथा कृत्वा 'अवहन्ति' मुष्टिमितान् तान् भृष्टयवान्, मुसलेनेति ॥ ८ ॥

सुकृतान् सक्तून् कृत्वा चमस ओप्य शूर्पेणापिधाय निदधाति ॥ ९ ॥

इस प्रकार भूसी निकले हुए यव से (पीस कर) सत्तू बनाकर उसे (पीने के पात्र) चमस में रखकर उसे सूप से ढँककर यथास्थान रखना चाहिए ॥ ९ ॥

एवञ्च 'सुकृतान्' निस्तुषीकृतान् 'सक्तून्' भृष्टयवचूर्णान् 'कृत्वा' 'चमसे' पानपात्रविशेषं 'ओप्य' संस्थाप्य 'शूर्पेण' अपिधाय च 'निदधाति' यथास्थानं रक्षति ॥ ९ ॥

दक्षिणपश्चिमे अन्तरेण सञ्चरः ॥ १० ॥

किस दिशा में इसे रक्खे ? उत्तर है कि नैर्ऋत्यकोण में गमनागमन मार्ग को छोड़कर जहां ठाक हो वहीं रख दे ॥ १० ॥

क्व दिशि रक्षेत् ? इत्याशङ्कामपनोदितुमाह—दक्षिणपश्चिमे द्वे दिशौ अन्तरेण मध्ये सञ्चरः गमनागनमार्गं। तदेतत्सञ्चरातिरिक्तप्रदेशेषु यत्र कुत्र वा रक्षेदित्यभिप्रायः ॥ १० ॥

अस्तमिते चमसदर्व्यावादाय शूर्पञ्चातिप्रणीतस्यार्द्धं व्रजति । ११ ।

सूर्यास्त होने पर, चमस, दर्वी, सूप लेकर नित्य अग्नि से पृथक् अग्नि के पास होम करने के लिए जाए ॥ ११ ॥

'अस्तमिते' सवितरि 'चमस--दर्व्यौ शूर्पं च' 'आदाय' गृहीत्वा 'अतिप्रणीतस्य' अतिरिक्तरूपेण स्थापितस्य,[१] नित्याग्नितः पृथक् कृत्वा द्वितीयतया स्थापितस्य 'अग्निवस्य, तस्यैवाग्नेः 'अर्द्धं' समीपं 'व्रजति' होमार्थमिति ॥ ११ ॥

शूर्पे सक्तूनावपति चमसे चोदकमादत्ते । १२ ।

पहले चमस में रखा सत्तू सूप में डाले। फिर उस चमस में जल लेवे ॥ १२ ॥

चमसे रक्षितान् तान् तान् 'सक्तून्' 'शूर्पे' आवपति 'च' अपि शून्ये तत्र चमसे 'उदकम्' आदत्ते गृह्णीयात् ॥ १२ ॥

---

(१) अतिरुपसर्गं स खल्वयं प्रणीत एवाग्निरतिप्रणीत इति भण्यते। तन्त्रान्तर-प्रसिद्धो वा, एवं हि तन्त्रान्तरकाराः स्मरन्ति अग्निमुपसमाधाय तस्यैकमुल्मुकं प्राग् दक्षिणाप्रणयेत्—

ये रूपाणि प्रतिमुञ्चमाना असुराः सन्तः स्वधया चरन्ति।
पुरापुरो निपुरो ये भवन्त्याग्निष्टाल्लोकात् प्रणुदात्वस्मात् ॥

इति सोऽग्निरति प्रणीतो भवति। भणितिरियं चान्द्रीये भाष्ये। अतिप्रणीत-स्येति नित्याग्नितः पृथक् कृत्वा अतिरिक्तरूपेण स्थापितस्याभिनवस्याग्नेरिति प्रकृतोऽर्थः ॥

सकृत् संगृहीतान् दर्व्या सक्तून् कृत्वा पूर्वउपलिप्त उदकं निनीय बलिं निर्वपति यः प्राच्यां दिशि सर्पराज एष ते बलि रिति । १३ ।

फिर उस दर्वी से एक बारगी पूरा सत्तू उठा ले और पूर्व दिशा में गोबर से लीपे हुए स्थान में चमस पात्र में रक्खा हुआ जल सींचकर उसके ऊपर यथा क्रम—'यः प्राच्यां दिशि सर्पराज एष ते बलिः' (म० ब्रा० २. १. १) आदि मन्त्र से बलि करे ॥ १३ ॥

ततः 'दर्व्या' तथा 'सक्तून्' 'सकृत्' एकबारं 'संगृहीतान् कृत्वा, गृहीत्वा, किञ्च 'पूर्वे' पूर्वस्यां दिशि 'उपलिप्ते' गोमयादिलिप्तस्थाने 'उदकं' चमसाद् गृहीत 'निनीय' निषिच्य, तदुपरि 'यः प्राच्यां दिशि सर्पराज एष ते बलिः' ॥ १ ॥ (म० ब्रा० २. १. १)—'इति' अनेन मन्त्रेण 'बलिं' भाग निर्वपति संस्थापयति ॥ १३ ॥

उपनिनयत्यपाँ शेषं यथा बलिं न प्रवक्ष्यतीति ।१४।

चमस पात्र में बचे जल से प्रदत्त बलि पर कुछ जल सिंचित करे। इस प्रकार बलि पर जल का छींटा दे कि बलि बह न जाय ॥ १४ ॥

'अपां शेषं' तच्चमसपात्रस्थमवशिष्टं जल उपनिनयति' उपनिनयेत् स्थापितबलेरुपरि किञ्चित् क्षिपेत्। तथा कृत्वा क्षिपेत् 'यथा' च 'बलिं' तं बलिं 'न प्रवक्ष्यति' न प्रबहेत् ॥ १४ ॥

सव्यं बाहुमन्वावृत्य चमसदर्व्यावभ्युक्ष्य प्रताप्यैवं दक्षिणैवं प्रतीच्यैवमुदीची यथालिङ्गमव्यावर्त्तमानः । १५ ।

वहीं पर रहकर कुछ बाएँ ओर हटकर इसी प्रकार दक्षिण की ओर एक बलि, पश्चिम की ओर एक बलि और उत्तर की ओर एक बलि रक्खे। बलि देते समय अर्थानुसार यथाक्रम १. यः दक्षिणस्यां दिशि ..., २. यः प्रतीच्यां दिशि ... और, ३. यः उदीच्यां दिशि ··· (म० ब्रा० २. १. २–४) आदि तीन मन्त्रों को पढ़े। (इस प्रकार चारो तरफ बलि देकर शेष जल को छिड़के) ॥ १५ ॥

ततश्च 'अव्यावर्त्तमानः तत्रैकत्रैवस्थितो 'सव्यं बाहुम्' अन्वावृत्य वामभागावर्त्तनक्रमेण 'एवं' यथोक्तेन सकृत् संगृहीतादि प्रकारेण 'दक्षिणा' दक्षिणस्यां दिशि देया बलिः 'यथालिङ्ग' मन्त्रलिङ्गमनतिक्रम्य मन्त्रलिङ्गा-

नुसारत एव मन्त्रं 'यो दक्षिणभ्यां दिशि सर्पराज एष ते बलिः ।। २ ।। यः प्रतीच्यां दिशि सर्पराज एष ते बलिः ।। ३ ।। यः उदीच्यां दिशि सर्पराज एष ते बलिः' ।। ४ ।। (मं० ब्रा० २. १. २–४) पठित्वा हर्त्तव्येति ।।१५ ।।

शूर्पेण शेषमग्नावोप्यानतिप्रणीतस्यार्द्धं व्रजति । १६ ।

इसके बाद खाली चमस और दर्वी को धोकर उसी अग्नि के ऊपर सुखाकर, अवशिष्ट सत्तू उसी अग्नि में डालकर इस चिरस्थाई अग्नि के पास जाए जिससे यहाँ अग्नि लाया था ।। १६ ।।

'एवं प्रतीची' बलिः हर्त्तव्या । 'एवम् उदीची' बलिः च हर्त्तव्या । ततश्च 'चमसदर्व्यौ' 'अभ्युक्ष्य' जलधौते प्रकृत्य 'प्रताप्य' तस्मिन्नेवाग्नौ, 'शेषं' अवशिष्टसक्तुभागम् 'अग्नौ' तस्मिन्नेव 'ओप्य' प्रक्षिप्य 'अनतिप्रणीतस्य' चिरस्थायिन एव तस्य, यतो गृहीत्वा एषोऽतिप्रणीतः तस्य 'अर्द्धं' समीपं 'व्रजति' व्रजेत् ।। १६ ।।

पश्चादग्नेर्भूमौ न्यञ्चौ पाणी प्रतिष्ठाप्य नमः पृथिव्या इत्येतं मन्त्रं जपति । १७ ।

उस चिरस्थाई अग्नि के पृष्ठ भाग में दोनों हाथ नीचे करके 'नमः पृथिव्यै' (मं० ब्रा० २. १. ३) आदि मन्त्र का जप करे ।। १७ ।।

'अग्नेः' चिरस्थापितस्य अनतिप्रणीतस्य तस्य 'पश्चात्' भूमौ 'न्यञ्चौ' अधोमुखौ 'पाणी' हस्तौ 'प्रतिष्ठाप्य'

'नमः पृथिव्यै दंष्ट्राय विश्वभृन्मा ते अन्ते रिषाम ।।
सँहतमाविवधीर्विहतं माऽभिसंवधी ।। ५ ।।

(मं० ब्रा० २. १. ५) इति एतं मन्त्रं जपति'[1] ।। १७ ।।

---

(१) अस्य सायणाचार्यकृता व्याख्या–हे अग्ने, त्वं विश्वभृत् पाकप्रकाशादिदानेन विश्वस्य धारकोऽसि, तस्मै पृथिव्यै दंष्ट्राय, षष्ठ्यर्थे चतुर्थी, पृथिव्या दंष्ट्रभूताय नमः । ते तवान्ते समीपे वर्तमाना वयं मा रिषाम समृद्धा भवामेत्यर्थः । त्वञ्च संहतं पुत्रधनादिसञ्चयं मा विवधीः मा हिंसीः, वियुक्तं मा कुर्वित्यर्थः । तथा विहितं बलीष्टहितकं मा अभिसंवधीः अभिमुखेन मा संहतं कुरु । इति । सामश्रमी तु पृथिव्यै देव्यै नमः नमस्कुर्मः, हे विश्वभृत् सर्वेषां धारयित्रि देवि, कालस्य दंष्ट्राय दंष्ट्राया अन्ते समीपे स्थिता अपि वयं यतस्ते तव स्वांशाः अतः मा रिषाम विनश्येम ।

प्रदोषे पायसश्चरुः । १८ ।

तब रात्रि के प्रथम अर्ध प्रहर में पायस का चरु पकावे ॥ १८ ॥

ततः प्रदोषे रात्रिप्रथमयामे 'पायसः चरुः' पक्तव्यः ॥ १८ ॥

तस्य जुहुयात्; श्रवणाय विष्णवेऽग्नये प्रजापतये विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहेति । १९ ।

उस चरु में से एक एक भाग लेकर 'श्रवणाय स्वाहा' आदि पाँच मन्त्र पढ़कर पाँच आहुतियाँ प्रदान करे ॥ १९ ॥

'तस्य' चरो, एकैकं भागं गृहीत्वा 'श्रवणाय स्वाहा' 'इति' इत्येवं पञ्चभिर्मन्त्रैः 'जुहुयात्' पञ्चहोमान् कुर्यादिति ॥ १९ ॥

स्थालीपाकावृताऽन्यत । २० ।

इसके बाद का सभी कर्म स्थालीपाक यज्ञ की भाँति करे ॥ २० ॥

अन्यत कर्मशेषं स्थाली पाकावृता स्थालीपाकरीत्या कर्त्तव्येति शेषः ॥ २० ॥

उत्तरतोऽग्नेर्दर्भस्तम्बँ समूलं प्रतिष्ठाप्य सोमोराजेत्येतं मंत्रं जपति याँ संधाँ समधत्तेति च । २१ ।

उस अग्नि के उत्तर भाग में मूल सहित कुशपुञ्ज स्थापित कर 'सोमो राजा सोमस्तम्बो राजा ... और यां सन्ध्यां समधत्त यूयम् ... (म० ब्रा० २. १. ४, ५) आदि मन्त्र का जप करे ॥ २१ ॥

अग्ने तस्यैव उत्तरतः समूलं दर्भस्तम्बं प्रतिष्ठाप्य सोमो राजा सोमस्तम्बो राजा सोमो स्माकँ राजा सोमस्य वयँ स्मः ॥ अहिजम्भन मसि सोमस्तम्बँ सोमस्तम्ब महिजम्भन मसि ॥ ६ ॥ (म० ब्रा० २. १. ४) इति एतं मन्त्रं च अपि याँ सन्धाँ समधत्त यूयँ सप्तऋषिभिः सह । ताँ सर्पामात्यक्रामिष्ट नमो वो अस्तु मानो हिँसिष्ठ ॥ ७ । (म० ब्रा० २.१.५) इति मन्त्रं जपति ॥ २१ ॥

इतश्च प्रार्थ्यते सहतं पञ्चतत्त्वसमष्टीभूतं सजीवमस्मद्देहं मा बधीः । न काले विनश्येः । विहतं वियुक्तं च प्रकृत्या जीवं तत्र पुनर्मा अभिसबधी. अभिसम्बद्धं मा कार्षीरिति ।

श्वस्ततोऽक्षतसक्तून् कारयित्वा नवे पात्रेऽपिधाय निदधाति । २२ ।

इस कर्म के दूसरे दिन अपने पुत्र या पुरोहित आदि से जव का नया सत्तू तैयार कराकर नवीन पात्र में ढँककर रख दे ॥ २२ ॥

'ततः' तदनन्तरं 'श्वः' परदिने 'अक्षतसक्तून्' यवसक्तून् कारयित्वा' पुत्रपुरोहितादिना 'नवे पात्रे' 'अपिधाय' आच्छाद्य 'निदधाति' स्थापयति ॥ २२ ॥

अहरहस्तूष्णीं बलीन् हरेत् सायं प्राग्घोमादाग्रहायण्याः । २३ ।

इसी सत्तू में से प्रतिदिन पूर्ववत् बलिभाग यथा स्थान प्रदान करे और अगहन मास की पूर्णिमा के पहले दिन तक इसी प्रकार कर्म करे ॥ २३ ॥

॥ इस प्रकार गोभिलगृह्यसूत्र के तृतीयप्रपाठक के सप्तमी कण्डिका की डा० सुधाकर मालवीय कृत 'अनाकुला' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ ३.७ ॥

तैरेव सक्तुभिः 'अहरहः' प्रतिदिनं सायं होमात्' सायङ्कालीनहोमतः पुरस्तादेव 'तूष्णीम्' अमन्त्रमेव 'बलीन् हरेत्'। 'आ आग्रहायण्याः' अग्रहायणमासीयपौर्णमासीं यावत् पौर्णमासीतः प्राग्दिनपर्यन्तमिति । समाप्तं श्रवणाकर्म ॥ २३ ॥

॥ इति गोभिलगृह्यसूत्रे तृतीयप्रपाठके सप्तमीकण्डिकाया डा० सुधाकर मालवीयकृता सरलाव्याख्या समाप्ता ॥ ३.७ ॥

——*——

(१) अथात्र श्रवणा कर्मविषये यदुक्तं गृह्यान्तरेषु तस्मात् किञ्चिदिहोपस्थाप्यते । तदत्र पारस्करगृह्यसूत्राणि—अथातः श्रवणाकर्म । श्रावण्यां पौर्णमास्याम् । स्थालीपाकं श्रपयित्वाऽक्षतधानाश्चैककपालं पुरोडासं धानानां भूयसीः पिष्ट्वा आज्यभागाविष्ट्वाज्याहुती जुहोति । अपश्वेतपदा जहोति । न वै श्वेतस्येति । स्थालीपाकस्य जुहोति विष्णवे श्रवणाय श्रावण्यै पौर्णमास्यै वर्षाभ्यश्चेति । धानावन्तमिति धानानाम् । घृताक्तान् शक्तून् सर्पेभ्यो जुहोति । आग्नेयपाण्डुपार्थिवानां सर्पा णामधिपतये स्वाहा, श्वेतवायवान्तरिक्षाणां सर्पाणामधिपतये स्वाहा, अभिभूः सौर्यदिव्यानां सर्पाणामधिपतये

स्वाहेति । सर्वंहुतमेककपालं ध्रुवाय भौमाय स्वाहेति । प्राशनान्ते शक्तूनामेकदेशं शूर्पे न्युप्योपनिष्क्रम्य बहिः शालायाः स्थण्डिलमुपलिप्योल्कायां ध्रियमाणायां माऽन्तरागमतेत्युक्त्वा वाग्यतः सर्पानवनेजयति । आग्नेयपाण्डुपार्थिवानां सर्पाणामधिपतेऽवनेनिक्ष्व श्वेतवायवान्तरिक्षाणां सर्पाणामधिपतेऽवनेनिक्ष्व अभिभूः सौर्यदिव्यानां सर्पाणामधिपतेऽवनेनिक्ष्वेति । यथावनिक्तं दर्व्योपघातं शक्तून् सर्पेभ्यो बलिं हरति । आग्नेयपाण्डुपार्थिवानां सर्पाणामधिपत एष ते बलिः, श्वेतवायवान्तरिक्षाणां सर्पाणामधिपत एष ते बलिः, अभिभूः सौर्यदिव्यानां सर्पाणामधिपत एष ते बलिरिति । अवनेज्य पूर्ववत् कङ्कतः प्रलिखति । आग्नेयपाण्डुपार्थिवानां सर्पाणामधिपते प्रलिखस्व, श्वेतवायवान्तरिक्षाणां सर्पाणामधिपते प्रलिखस्वाभिभूः सौर्यदिव्यानां सर्पाणामधिपते, प्रलिखस्वेति । अञ्जनानुलेपन स्रजश्चाञ्जस्वानुलिम्पस्व स्रजोऽपि नह्यस्वेति । सक्तूशेषं स्थण्डिले न्युप्योदपात्रेणोपनिनीयोपतिष्ठते नमोऽस्तु सर्पेभ्य इति तिसृभिः । स यावत् कामयेत न सर्पा अभ्युपेयुरिति तावत् सन्ततयोदधारया निवेशन त्रिः परिषिञ्चन् परीयादपश्वेतपदा जहीति द्वाभ्याम् । दर्वीं शूर्पं प्रक्षाल्य प्रयच्छति । द्वारदेशे मार्जयन्त आपो हि ष्ठेति तिसृभिः । अनुगुप्तमेदं सक्तुशेषं निधाय ततोऽस्तमितेऽस्तमितेऽग्निं परिचर्य दर्व्योपघातं सक्तून् सर्पेभ्यो बलिं हरेदाग्रहायण्याः । तं हरन्तं नान्तरेण गच्छेयुः । दर्व्याचमनं प्रक्षाल्य निदधाति । धानाः प्राशनन्त्यसंस्यूताः । ततो ब्राह्मणभोजनम् । इति ।

अथ श्रवणाकर्मप्रयोग उच्यते—तत् श्रावण्यां पौर्णमास्यां कर्तव्यम् । तस्य याज्जीवं प्रतिसंवत्सरमनुष्ठेयत्वात् प्रथमप्रयोगे नान्दीश्राद्धं कुर्यात् । प्रातरेव श्रवणाकर्म करिष्ये इति सङ्कल्प्य अग्न्यायतनस्य पुरस्तात् संस्कृते स्थण्डिले औपासनाग्नेरेकदेशमाहृत्य प्रणयति, ततोऽतिप्रणीतस्याग्नेश्चतसृषु दिक्षु किञ्चिदधिके प्रक्रमान्तरिते देशे गोमयेनोलिप्य प्रादेशमात्रं चतुरस्रं स्थण्डिलं कुर्यात् । त्रिपदः प्रक्रमो ग्राह्य इति । ततोऽग्निमुपसमाधायातिप्रणीताग्नेरुत्तरत इदमग्रेषु दर्भेषु यवान् भर्जनकपालमुलूखलं मुषलं शूर्पमनुगुप्ता अपश्चाऽऽसादयित्वाऽनुगुप्ताभिरद्भिः प्रोक्ष्य चक्राघटित मृन्मयं कपालमग्नौ संस्थाप्य, तस्मिन् कपाले सकृद्, गृहीतयवमुष्टिं प्रक्षिप्य भृज्जति यथा यवा दग्धा न भवेयुस्तथा । ततो भृष्टान् यवानुदगुद्वास्य प्रणीताग्नेः पश्चादुलूखलं दृढं संस्थाप्य तस्मिन् भृष्टान् यवान् प्रक्षिप्य मुषलमादाय पार्वणस्थालीपाकवदवहननं कुर्यात् । यथा यवा सक्तवो भवन्ति तथोद्धं चं कृत्वाऽवहननं कुर्यात् । एव सम्यक् सक्तून् कृत्वा तान् चमसे संस्थाप्य शूर्पेणाऽऽच्छाद्य गृहे निदधाति । एतावत् कर्म अह्नि कर्तव्यम् । इतः परं वक्ष्यमाणकर्मानुष्ठानाय सञ्चरप्रदेशोऽतिप्रणीताग्नेर्दक्षिणपश्चिमयोर्मध्यमप्रदेशः । ततोऽस्त गते सूर्येऽतिप्रणीतस्याग्नेः समीपं गच्छति चमसं

दर्वीञ्च गृहीत्वा, ततश्चमसे स्थितान् सक्तून् शूर्पे निक्षिप्य चमसेनोदकं गृह्णाति। ततः सञ्चरेण प्रविश्यातिप्रणीतस्याग्नेरुत्तरतो मार्गेण पूर्वस्यां दिशि गत्वा प्राङ्मुख उपविश्य पूर्वदिशि कृते मण्डले चमसजलं हस्तेन निनीय दर्व्या सकृत् सक्तून् गृहीत्वा मन्त्रेण बलिं निवपति। वक्ष्यमाणां चतुर्णां मन्त्राणां प्रजापतिर्ऋषिर्निगदः सर्पो देवता सर्पबलिकर्मणि विनियोगः, यः प्राच्यां दिशीति मन्त्रः। ततश्चमसेऽवशिष्टमुदकं हस्तेन गृहीत्वा बलिसमीपे निक्षिपति यथा बलिः स्वस्थानान्न प्रच्युतो भवेत्। ततोऽप्रदक्षिणेनाभ्यावृत्य चमसं दर्वीञ्चाभ्युक्ष्य युगपदेव प्रताप्य, पूर्ववच्चमसेनोदकं गृहीत्वा दर्व्या सक्तून् गृहीत्वाऽग्नेरुत्तरतो गत्वा दक्षिणस्यां दिशि दक्षिणाभिमुख उपविश्य पूर्वंकृतदक्षिणमण्डले चमसादुदकं पाणिना निनीय, दर्व्या सक्तून् निवपति, यो दक्षिणस्यामिति मन्त्रेण। पूर्ववच्चमसोदकं हस्तेन बलिसमीपे निक्षिपेत्। ततः पूर्ववदभ्यावृत्य चमसदर्व्यावभ्युक्ष्याग्नौ प्रताप्य पश्चिममण्डलस्य पुरतः प्रत्यङ्मुख उपविश्य तत्रैव पश्चिमस्थण्डिलेऽपो निनीय मन्त्रेण बलिं निवपति, यः प्रतीच्यामिति। पुनः पूर्ववदपो निक्षिप्य चमसदर्व्यावभ्युक्ष्य प्रतापयेत्। नात्राभ्यावर्तनं तत्रैव स्थितत्वात्। तत् उत्तरस्थण्डिलस्य दक्षिणत उत्तराभिमुखो भूत्वा उत्तरस्थण्डिलेऽपो निनीय मन्त्रेण सक्तून् निक्षिप्य पुनरपोऽवनयति पूर्ववत्। य उदीच्यां दिशीति बलिमन्त्रः। अत्र केचित् प्रतीच्यामुदीच्यां चमसदर्व्योः प्रोक्षणप्रतापनयोः प्रतिषेधं वर्णयन्ति, तेषा'मेव प्रतीच्येवमुदीच्यां'ति सूत्रविरोधः स्पष्ट एव। व्यावर्तननिषेधस्तु तत्र स्थितत्वात् स्पष्टार्थः। ततोऽवशिष्टसक्तून् शूर्पेणातिप्रणीताग्नौ तूष्णीं प्रक्षिप्य पूर्वोक्तदक्षिणपश्चिममध्यसञ्चरणमार्गेण गृह्याग्निसमीपमागच्छति। ततस्तस्याग्नेः पश्चाद् भूमौ न्यञ्चौ पाणी प्रतिष्ठाप्य नमः पृथिव्या इति मन्त्रं जपेत्। अस्य मन्त्रस्य प्रजापतिर्ऋषिरनुष्टुप् छन्दोऽग्निर्देवता भूमिजपे विनियोगः। नमः पृथिव्यै इति मन्त्रः। ऋत्विक्कर्तृकपक्षेऽपि नास्त्यत्रोहः। सन्ध्यां निर्वर्त्य गृह्याग्नौ सायमौपासनं विधाय पायसस्थलीपाकं कुर्यात्। अत्र केचिद् वैश्वदेवबलिहरणानन्तरं स्थालीपाकं वदन्ति, तन्न साधु, प्रमाणाभावात् प्रदोषे स्थालीपाकविधिविरोधाच्च। सन्ध्याहोमयोर्नियतकालत्वात् कालात्यये प्रायश्चित्तश्रवणाच्च, तयोः पूर्वमनुष्ठानं न्याय्यम्। बलिहरणं तु न तथा। तत आचान्तोदकः प्राणानायम्य श्रवणाकर्म करिष्ये इति सङ्कल्प्याग्निमुपसमाधाय ब्रह्मोपवेशनादि ब्रह्मणे पूर्णपात्रदक्षिणादानान्तं पार्वणस्थालीपाकवत् कुर्यात्। तत्र विशेषतः—पात्रासादनकाले पयसाऽप्यासादनं समूलदर्भस्तम्बस्य च। निर्वापकाले श्रवणाय त्वा जुष्टं निर्वपामि। एवं विष्णवे अग्नये, प्रजापतये, विश्वेभ्यो देवेभ्यः। आज्यभागान्ते पायसचरुहोमाः पञ्च, श्रवणाय स्वाहा इदं श्रवणाय न मम, एवं विष्णवे, अग्नये, प्रजापतये, विश्वेभ्यो

देवेभ्यः। ब्रह्मणे दक्षिणादानान्तेऽग्नेरुत्तरतः समूलं दर्भस्तम्बं प्रागग्रं प्रतिष्ठाप्य सोमो राजेत्येतं मन्त्रम्, यां सन्धां समधत्तेति च मन्त्रं जपति। उभयोर्मन्त्रयोः प्रजापतिर्ऋषिजुंषी सोमसूर्यौ देवते जपे विनियोगः। ततो मन्त्रद्वयपाठः। सूत्रे एवमिति निर्देशादन्यकर्तृकपक्षेऽप्यनयोर्जपः। ततो वामदेव्यगानं ब्राह्मणभोजनादिकञ्च। तत उत्तरे दिवसे प्रातर्होमानन्तरं पूर्ववदौपासनाग्नौ सक्तून् कृत्वा अन्येन वा कारयित्वा नूतनपात्रे संस्थाप्य पात्रान्तरेणाऽऽच्छाद्य गृहे स्थापयति। अत ऊर्ध्वमाग्रहायणीपौर्णमासीपर्यन्तं प्रतिदिनं सायं होमात् पूर्वं तूष्णीं बलिं हरेत्। अत्र केचित् तूष्णीमित्युक्तेरमन्त्रकं बलिहरणं मन्यन्ते। अपरे तु तूष्णीमित्युक्त्वा वाङ्नियमनं कथ्यते मन्त्रेण बलिं हरेदिति वदन्ति। अत्र द्वितीयः पक्षो ज्यायान्, आरम्भे मन्त्रपाठात् त्रैविद्यवृद्धानामाचाराच्च। आचम्य प्राणानायम्य सर्पबलिं करिष्ये इति सङ्कल्प्य चमसे उदकं गृहीत्वा अपेक्षितसक्तून् सूर्पे गृहीत्वा गृह्याग्नेः पुरस्तादेतदग्नेरुल्मुकं निधाय, तत्र परितः पूर्वोक्तैश्चतुर्भिर्मन्त्रैर्बलिहरणं कुर्यात्। बलेः पुरस्तादुपरिष्टाच्चापां निनयनम्, चमसदर्व्योरभ्युक्षणं प्रतपनञ्च। नात्र बलिशेषहोमोऽवशिष्टसक्तूनां दिनान्तरे बलिहरणायोपयोक्ष्यमाणत्वात्। नात्र न्यञ्चकर्म, न्यञ्चकर्म न सर्वदेति निषेधात्। इत्यहरहः सर्पबलिप्रयोगः। इति।

---*---

अथ तृतीयप्रपाठकस्य

अष्टमी कण्डिका

आश्वयुज्यां पौर्णमास्यां पृषातके पायसश्चरूरौद्रः । १ ।

* अनाकुला *

अश्विन मास की पूर्णिमा को पृषातक में रुद्र देवता के लिए पायस चरु पकावे ॥ १ ॥

विमर्श—घी मिले हुए दूध को 'पृषातक' कहते हैं ॥ १ ॥

* सरला *

'आश्वयुज्यां पौर्णमास्यां' आश्विनपूर्णिमायां 'पृषातके आज्यमिश्रिते, पयसि सम्पादिते (इति भावतोलब्धः) 'रौद्रः' रुद्रदेवताकः 'पायसः चरुः' पक्तव्यः इति शेषः ॥ १ ॥

तस्य जुहुयादा नो मित्रावरुणेति प्रथमां मानस्तोक इति द्वितीयाम् । २ ।

उस चरु से एक एक भाग लेकर 'आ नो मित्रा वरुणा' (छ०आ० ३. १. ३. ७) आदि मन्त्र से प्रथम आहुति और 'मानस्तोके तनये मा न' — (म० ब्रा० २. १. ८) आदि मन्त्र से द्वितीय आहुति देनी चाहिए ॥ २ ॥

'तस्य' चरोः एकैकमंशं गृहीत्वा 'आ नो मित्रावरुणा' (छ०आ० ३.१.३.७) 'इति' प्रथमाम्' आहुतिं किञ्च 'मानस्तोके तनये मा न आयौ मा नो गोषु मा नो अश्वेषु रीरिषः । वीरान्मा नो रुद्र भामिनो बधी हविष्मन्तः सदमित्त्वा हवामहे ॥ ८ ॥ (म० ब्रा० २.१.८) इति द्वितीयाम् आहुतिं जुहुयात् ॥ २ ॥

गोनामभिश्च पृथक् काम्यासीत्येतत्प्रभृतिभिः । ३ ।

और 'काम्यसि' (यजु० ८.४३) आदि ग्यारह मन्त्रों से गौ के नामानुसार ग्यारह आहुति चरु से देवे ॥ ३ ॥

विमर्श—इडा, रम्भा, हव्या, काम्या, चन्द्रा, ज्योता, अदिति, सरस्वती, मही, विश्रुति और अघ्न्या—ये गौ के ११ नाम हैं ॥ ३ ॥

'च' अपि 'काम्यसि इत्येतत् प्रभृतिभिः' यजुर्वेदप्रसिद्धैः (य० वे० सं० ८.४३) 'गोनामभिः एकादशभिः 'पृथक्' नामशः एकादशाहुतीर्जुहुयात्तस्यैव चरोरंशं गृहीत्वेति ॥ ३ ॥

स्थालीपाकावृताऽन्यत् । ४ ।

इसके बाद का अन्य कर्म स्थालीपाक यज्ञ की रीति से करना चाहिए ॥ ४ ॥

'अन्यत्' सर्वं 'स्थालीपाकावृता' स्थालीपाकरीत्या एव कर्त्तव्यमिति ॥ ४ ॥

पृषातकं प्रदक्षिणमग्निं पर्याणीय ब्राह्मणानवेक्षयित्वा स्वयमवेक्षेत तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् । पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतमिति ॥ ५ ॥

इसके बाद अग्नि की प्रदक्षिणा करके उस पृषातक को अपने पास लेकर निकटस्थ ब्राह्मणों को प्रदर्शित और तच्चक्षुर्देवहितं यजु मन्त्र पढ़ कर उसमें स्वयं अपना मुख देखे ॥ ५ ॥

ततः 'अग्निं प्रदक्षिणं' यथा स्यात् तथा पृषातकम्' आज्यमिश्रितं पयः 'पर्याणीय' स्वसमीपं गृहीत्वा तच्च 'ब्राह्मणान्' तत्रागतान् 'अवेक्षयित्वा दर्शयित्वा तच्चक्षुर्देवहितम्'—'इति' इमं मन्त्रं पठन् 'स्वयम् अवेक्षेत ॥५॥

ब्राह्मणान् भोजयित्वा स्वयं भुक्त्वा जातुषान्मणीन् सर्वौषधिमिश्रानाबध्नीरन् स्वस्त्ययनार्थम् ॥ ६ ॥

कर्म की समाप्ति पर निमन्त्रित ब्राह्मणों को भोजन कराकर अपने भी भोजन करे और सप्तधान्य की पोटली बनाकर उसके साथ जतुष नामक मणियों को मिला कर बाहु में या अन्य कहीं कमर के ऊपरी भाग में कल्याण के लिए बांधे ॥ ६ ॥

विमर्श—१. व्रीहि, २. धान, ३. मूँग, ४. गेहूँ, ५. सरसों, ६. तिल और ७. यव—ये सप्त धान्य हैं ॥ ६ ॥

'ब्राह्मणान्' निमन्त्रितान् 'भोजयित्वा भोजनदानेन तर्पयित्वा ततः 'स्वयं भुक्त्वा' 'सर्वौषधिमिश्रान्' ब्रीहिशालिमुद्गगोधूम-सर्षप-तिल-यव-मिश्र-पोट्टलिसहितान् 'जातुषान्' जातुषनामकीन् लाक्षाकृतान् 'मणीन्' 'स्वस्त्ययनार्थं कल्याणाय 'अबध्नीरन्' स्वबाह्वादाविति ॥ ६ ॥

सायं गाः पृषातकं प्राशयित्वा सहवत्सा वासयेत् ॥ ७ ॥

सायंकाल जब गाएँ चरकर वापस आवें तो उन्हें पृषातक पिलाना चाहिए और रात्रि में वत्सों को अलग अलग न बांधकर अपनी-अपनी माता-गौ के पास ही बांधना चाहिए ॥ ७ ॥

'सायं' समुपस्थिते 'गाः' 'पृषातकं' तत् 'प्राशयित्वा' पाययित्वा 'सहवत्साः' वत्सैः सहिताः ताः 'वासयेत' तां रात्रिमिति ॥ ७ ॥

स्वस्ति हासां भवति ॥ ८ ॥

इस कार्य गौ आदि भी प्रसन्न रहती है ॥ ८ ॥

एतेन कर्म्मणा 'आसां' गवां 'स्वस्ति' सुखं भवति ॥ ८ ॥

नवयज्ञे पायसश्चरुरैन्द्राग्नः ॥ ९ ॥

नूतन शस्य के लिए उत्साह प्रकाशनार्थ यज्ञ होता है। इस नावान्नेष्टि यज्ञ में इन्द्राग्नि के नाम से आहुति प्रदान की जाती है। यह उसी नये अन्न के पायस सिद्ध चरु से होती है ॥ ९ ॥

'नवयज्ञे' नूतनशस्यनिमित्तोत्साहादिप्रकाशनाय परमदेवाद्यर्चनं कर्त्तव्यं भवति, तत्र। 'पायसः' पयसा दुग्धेन सम्पादितः 'चरुः' पक्तव्यः। स च 'चरुः' 'ऐन्द्राग्नः' इन्द्राग्निदेवताको भवेदिति नवयज्ञद्रव्यदेवतानिर्द्देशः ॥ ९ ॥

तस्य मुख्याँ हविराहुतिँ हुत्वा चतसृभिराज्याहुतिभिरभिजुहोति शतायुधायेत्येतत् प्रभृतिभिः ॥ १० ॥

उस नवान्नेष्टि (यज्ञ) के मुख्य ऐन्द्राग्नी देवों को आहुति देकर 'शतायुधाय...' (म० ब्रा० २. १. ९–११) आदि चार मन्त्रों से आज्याहुति द्वारा चार होम करना चाहिए ॥ १० ॥

'तस्य' नवयज्ञस्य 'मुख्याम् आहुतिं' इन्द्राग्निदेवताकां 'हुत्वा' ततः परं 'शतायुधाय शतवीर्याय शतोतयेभिमातिषाहे। शतं यो नः शरदो अजीजा-

दिन्द्रो नेषदतिदुरितानि विश्वा ये ॥ ९ ॥ चत्वारः पथयो देवयाना अन्तराद्यावापृथिवी वियन्ति । तेषां यो अज्यानि मजीजिमावहास्तस्मै वो देवाः परिदत्तेह सर्वे । १० ॥ ग्रीष्मो हेमन्त उत वो वसन्तः शरद्वर्षाः सुवितन्नो अस्तु । तेषामृतूनां शत शारदानां निवात एषामभये स्याम ॥ ११ ॥ इद्वत्सराय परिवत्सराय संवत्सराय कृणुता बृहन्नमः । तेषां वयं सुमतौ यज्ञियानां ज्योग्जीता अहताः स्याम' ॥ १२ ॥ (म० ब्रा० २. १. ९. १२) 'इत्येतत्प्रभृतिभि.' 'चतसृभिः' मन्त्रैः 'आज्याहुतिभिः' अभिजुहोति" ॥ १० ॥

---

(१) तत्र चतुर्णां प्रथममन्त्रस्तु—

ॐ शतायुधाय शतवीर्याय शतोतयेऽभिमातिषाहे ।

शतं यो नः शरदो अजीयादिन्द्रो नेषदतिदुरितानि विश्वा ॥ इति ।

व्याख्या—शतायुधायास्मदरिष्टशमनार्थं शतसंख्यवज्राद्यायुधयुक्ताय न केवलं बह्वायुधत्वं किन्तु शतवीर्याय, शतमित्यपरिमितवचनम्, अपरिमितवीर्याय, बह्वायुधप्रेरणसामर्थ्ययुक्तायेत्यर्थः । शतोतये, ऊतिरवनम् वनम्, बहुधा रक्षणयुक्ताय; तथाभिमातिषाहे अभितो हिंसकानां शत्रूणाम् अभिभवित्रे, इदमप्यस्तीति शेषः । किञ्च यो महानुभाव इन्द्रोऽस्ति स नोऽस्मान् शरदः शतं शतसंवत्सरम् अजीयात अज्यात्, गमयत्वित्यर्थः । तथा अस्माकं विश्वा विश्वानि दुरितानि अतिनेषद् अतिनयतु । इति ।

द्वितीयमन्त्रस्तु—

ॐ चत्वारः प्रथमो देवयाना अन्तरा द्यावापृथिवी वियन्ति ।

तेषां यो अज्यनिमजीतिमावहात् तस्मै नो देवाः परिदत्तेह सर्वे ॥ इति ।

व्याख्या - हे देवाः, श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धा ये चत्वारो देवयाना देवप्रयाणसाधनाः पथयः पन्थानोऽर्चिरादयः द्यावापृथिवी अन्तरा द्यावापृथिव्योर्मध्ये वियन्ति विविधं गच्छन्ति, देवलोकपर्यन्तमायता वर्तन्ते तेषां मध्ये यः पन्थाः अज्यानिम् अहानिम् अप्रच्युतिम् अजातिम्, (छान्दसो दीर्घः) अजयम्, अन्येषामभिभवामापम् आवहात् आवहति प्रापयति, यद्वा अज्यनिम् अजीतिम् इति ज्या वयोहानावित्यस्य रूपद्वयम्, अतो न पृथगर्थता । तस्मै मार्गाय हे देवा नोऽस्मान् इहास्मिन् कर्मणि परिदत्त प्रयच्छत । इति ।

स्थाली पाकावृताऽन्यत् ॥ ११ ॥

इस (श्रवणा) कर्म के अन्य सभी कृत्य स्थालीपाक यज्ञ की विधि के अनुसार करना चाहिए ॥ ११ ॥

'अन्यत्' अवशिष्टकार्यजातं 'स्थालीपाकावृता' स्थालीपाकयज्ञरीत्या एव भवेन्नाम ॥ ११ ॥

हविरुच्छिष्टशेषं प्राशयेद् यावन्त उपेताः स्युः ॥ १२ ॥

हविः शेष अन्न को यज्ञ के दर्शनार्थ आए परिजनों में और जो निमन्त्रित हैं उन्हें भी यथा भाग खिलाना चाहिए ॥ १२ ॥

'उच्छिष्टशेषम्' उत्सर्गीकृतस्य हविष शेषं 'हविः' 'यावन्तः' दर्शकाः

तृतीयमन्त्रस्तु—

ॐ ग्रीष्मो हेमन्त उत नो वसन्तः शरद् वर्षाः सुवितन्नो अस्तु ।

तेषामृतूनां शतशारदानां निवात एषामभये स्याम ॥ इति ।

व्याख्या—ग्रीष्मादयः पञ्च निर्दिष्टा ऋतवः सन्ति तान् प्रार्थये—नोऽस्माकम् ऋतुसम्बन्धि दत्तं हविः सुवितं सुष्ठु प्राविवं सुष्ठु हितं वाऽस्तु भवतु । उताप्यर्थं । किञ्च तेषां पञ्चऋतुनाम्, कीदृशाम् ? शतशारदानाम्, विविधानामृतूनाम्, निवाते वातरहिते अत एवाभये भयरहिते प्रदेशे स्याम भवेम, शतायुःपर्यन्तम्, शतायुःपर्यन्तं सर्वतुं निवृंतिम् अनुभवेमेत्यर्थः ।

चतुर्थमन्त्रस्तु—

ॐ इद्वत्सराय परिवत्सराय संवत्सराय कृणुता बृहन्नमः ।

तेषां वयं सुमतौ यज्ञियानां ज्योगजीता अहता स्याम ॥ इति ।

सर्वेषामाकर स्थानन्तमन्त्रब्राह्मणम् २।१।९–१२ ।

व्याख्या—हे मदीयाः पुत्रादयः ऋत्विजो वा, यूयम् इद्वत्सराय परिवत्सराय, संवत्सराय च देवाय बृहत् प्रभूतं नमो नमस्कार हविर्वा कृणुते कुरुत । उक्तत्रय-मुद्वत्सदानुनत्सरयोरुप लक्षणम् । चान्द्रा, प्रभवादिवत्सराः क्रमेण संवत्सरपरिवत्सरो-द्वत्सरनाम्ना पुनरावर्तन्ते । तथा च पूर्वेषां वचनम्

चान्द्राणां प्रभवादीनां पञ्चके पञ्चके युगे ।

संपर्यु दन्विदित्येतच्छब्दपूर्वास्तु वत्सराः ॥ इति ।

तेषां यज्ञियानां यज्ञार्हाणाम् इद्वत्सरादीनां सुमतौ शोभनबुद्धावस्मदनुग्रहयुक्ते चेतसि वयं ज्योक् चिरकालम् । अजीता अजीर्णा अहता अहिंसिताः स्याम भवेम् । इति ।

परिजना निमन्त्रिताश्च 'उपेताः' तत्रागताः 'स्युः' तान् सर्वानेवाविशेषेण प्राशयेत् । १२ ॥

सकृदपामुपस्तीर्य्य द्विश्चरोरवद्यति । १३ ।

हवि शेष चरु के ऊपर एक बार जल छिड़कर मेक्षण द्वारा टुकड़े-टुकड़े करे अर्थात् उसे चरु का तीन भाग करे ॥ १३ ॥

'चरोः' उपरि 'अपां' भागं 'सकृत्' एकवारम् 'उपस्तीर्य्य' प्रथमसिञ्चनं प्रकृत्य 'द्विः' द्विवारम् 'अवद्यति' तं चरुं मेक्षणेनेति ॥ १३ ॥

त्रिर्भृगूणाम् ॥ १४ ॥

विशेष यह है कि भृगु गोत्रोत्पन्न उन चरुओं को चार भाग में बाँट दे ॥ १४ ॥

भृगुगोत्रोत्पन्नानां 'त्रिः' त्रिवारमवदानं कर्त्तव्यमिति विशेषः ॥ १४ ॥

अपां चैवोपरिष्टात् ॥ १५ ॥

और उसी प्रकार उन विभक्त चरुओं पर भी एक बार जल सिञ्चन करे ॥ १५ ॥

'च' अपि 'उपरिष्टात्' तस्यैवावदातस्य चरोः, 'अपां' प्रक्षेपः कर्त्तव्यः । १५ ॥

असँस्वादं निगिरेद् भद्रान्नः श्रेय इति । १६ ।

एवं त्रिः । १७ ।

तब चरु में से कुछ भाग लेकर 'भद्रान्न श्रेयः ...' (म० ब्रा० २. १. १३) आदि मन्त्र के द्वारा बिना स्वाद लिए—इस प्रकार उस चरु भाग को तीन बार निगल जाना चाहिए ॥ १६–१७ ॥

एवं कृत्वा ततः कियन्मात्रं तच्चरुं 'भद्रान्नः श्रेयः समनैष्टदेवास्त्वया वसेन समशीमहि त्वा । सनो मयोभूः पितेवाविशस्व शं तोकाय तन्वे स्योनः (स्वाहा)' ॥ १३ ॥ (म० ब्रा० २. १. १३) 'इति इमं मन्त्रं पठित्वा 'असंस्वादं' तच्चरोः आस्वादं सम्यक् गृहीतं न भवति यथा तथाकृत्यैव 'निगिरेत्' दन्तैश्चवर्णमकृत्वैव गलाधः कुर्यादिति ॥ १६ ॥

'एवं' मन्त्रपाठपूर्वकमसंस्वादश्च 'त्रिः' त्रिवारम् निगरणं कर्त्तव्यम् ॥ १७ ॥

तूष्णीं चतुर्थम् । १८ ।

किन्तु चौथे चरु के भाग को बिना मन्त्र के ही निगल जावे ॥ १८ ॥

'चतुर्थं' निगरणं 'तूष्णीम्' अमन्त्रकमेव परमन्नाप्यसंस्वादमिति वर्त्तते ॥ १८ ॥

भूय एवावदाय कामं तत्र संस्वादयेरन् । १९ ।

पुनः चरु को विभक्त कर अपनी इच्छानुसार स्वाद लेकर खाए ॥ १९ ॥

'भूयः' पुनरपि पूर्ववत् 'अवदाय' चरुच्छेदं प्रकृत्य 'तत्र' तस्मिन् पक्षे 'कामं' यथा स्यात् तथा 'संस्वादयेरन्' तं चरुभागमिति ॥ १९ ॥

आचान्तोदकाः । २० ।

इसके अनन्तर जल से आचमन करे ॥ २० ॥

ततः 'अचान्तोदकाः' भवेयुः उदकैः कृताचमनाः स्युरिति । ततश्च 'अमोसि प्राण तदृतं ब्रवीम्यमाह्यसि सर्वमनु प्रविष्टः ॥ २० ॥

प्रत्यभिमृशेरन्मुखँ शिरोऽङ्गानीत्यनुलोममोऽसीति । २१ ।

इसके बाद 'अमोसि प्राण....' (म० ब्रा० २. १. १४) आदि मन्त्र पढ़कर ललाट से दाढ़ी तक मुख और ब्रह्मरन्ध्र से कर्णमूल आदि पैरों के अङ्गों को जल से धोए ॥ २१ ॥

स मे जराँ रोगपमृज्य शरीरादपाम 'एधि मा मृथा न इन्द्र (स्वाहा) ॥ १४ ॥ (म० ब्रा० २. १. १४) 'इति इमं मन्त्रं पठन्नेव मुखं 'ललाटादि चिबुकपर्यन्तं 'शिरः' ब्रह्मरन्ध्रम् 'अङ्गानि' कर्णमूलादीनि पादाग्रान्तानि प्रत्यभिमृशेरन्' उदकैः सिञ्चरन्निति ॥ २१ ॥

एतयैवावृता श्यामाकयवानाम् । २२ ।

इस नवीन व्रीहि के यज्ञ की रीति से ही श्यामाक (सांवा का चावल), यव और शस्य के भी विषय में भी कृत्य होता है ॥ २२ ॥

'एतया एव आवृता' अनया नवव्रीहियज्ञोक्तरीत्या एव श्यामाकयवानाम् अपि नवानां यज्ञः कार्यः । विशेषस्तु -- 'श्यामाकानां' श्यामाकसम्बन्धिनि यज्ञे 'अग्नि पश्चात् प्रथमः स हि वेद यथा हविः शिवा । अस्मभ्यमोषधिः कृणोतु विश्वचर्षणि.' (स्वाहा) ॥ १५ ॥ (म० ब्रा० २. १. १५) इति ॥ २२ ॥

अग्निः प्रश्नातु प्रथम इति श्यामाकानाम् । २३ ।

श्यामाक यज्ञ के विषय में यह विशेषता है कि 'शतायुधाय' आदि मन्त्र के स्थान पर 'अग्निः प्राश्नातु प्रथमः (म० ब्रा० २. १. १५) इस मन्त्र का अध्याहार करना चाहिए ॥ २३ ॥

एष मन्त्रोऽध्याहार्यः किञ्च 'यवानां' यवसम्बन्धिनि यज्ञे-
'एतमुत्यं मधुना संयुतं य व ँ सरस्वत्या अधिवनाव चक्रुर्धि ।
इन्द्र आसीत्सीरपतिशतक्रतुः कीनाशा आसन्मरुतः सुदानवः' (स्वाहा) ॥
(म० ब्रा० २. १. १६) इति ॥ २३ ॥

एतमुत्यं मधुना संयुतं यवमिति यवानाम् ॥२४॥३.८।

और नवीन व्रीहि (यव) के यज्ञ में 'एतमुत्यं मधुना' (म० ब्रा० २. १. १६) आदि मन्त्र का अध्याहार करना चाहिए ॥ २४ ॥

॥ इस प्रकार गोभिलगृह्यसूत्र के तृतीयप्रपाठक के अष्टमी कण्डिका की डा० सुधाकर मालवीय कृत 'अनाकुला' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ ३.८ ॥

एष मन्त्रो व्यवहर्त्तव्य इति ॥ २४ ॥

॥ इति गोभिलगृह्यसूत्रे तृतीयप्रपाठके अष्टमीकण्डिकाया डा० सुधाकर मालवीयकृता सरलाव्याख्या समाप्ता ॥ ३.८ ॥

—-*—-

(१) अथाऽऽश्वयुजी कर्मप्रयोग उच्यते —आश्वयुज्यां पौर्णमास्यामाश्वयुजी कर्म कर्तव्यम् । प्रथमे प्रयोगेऽनुज्ञां गणेशपूजनं नान्दीमुखश्राद्धं च कुर्यात् । आश्वयुजि मासे पौर्णमास्यां प्रातरौपासनं कृत्वा आश्वयुजीस्थालीपाकं करिष्ये इति सङ्कल्प्य सर्वं पार्वणस्थालीपाकवत् कुर्यात् । तत्र विशेषः पात्रासादने—अग्नेरुत्तरतो दधिमिश्रितं घृतं घृतमिश्रितं पयो वा पृषातकाख्यं चवंथं पयश्च व्रीहि-शालि-मुद्ग-गोधूम-सर्षप-तिल-यवादिसर्वौषधिमिश्रितान् लाक्षामयान् मणींश्चाऽऽसादयेत् । होमकालेऽग्नेरैशान्यां पृषातकं स्थापयेत् । निर्वापकाले रुद्राय त्वा जुष्टं निर्वपामि । पयसि चरुं श्रपयेत् । आज्यभागान्तेऽवदानधर्मेण पायसचरुमवदाय आ नो मित्रेति प्रथमं हुत्वा पुनश्चरुमवदाय मा नस्तोक इत्यनेन द्वितीयं जुहोति । आ नो मित्रेत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिर्गायत्रीच्छन्दो रुद्रो देवता चरुहोमे विनियोगः । ततो मन्त्रः स्वाहा, इदं रुद्राय न मम । अथाष्टभिर्गोनामभिर्यथापठितैराज्येन जुहुयात्, काम्या-

ऽसि स्वाहा। इदं काम्यायै न ममेति देवतोद्देशः सर्वत्र। एवं प्रियाऽसि स्वाहा, हव्याऽसि स्वाहा, ईडे स्वाहा, रम्भे स्वाहा, सरस्वति स्वाहा, महि स्वाहा, विश्रुते स्वाहा। ततः स्विष्टकृदादिपूर्णपात्रदक्षिणादानान्तेऽग्निं प्रदक्षिणीकृत्य पूर्वमासादितं, पृषातकमानीय मन्त्रेण ब्राह्मणानवेक्षयित्वा यजमानः स्वयमवेक्षते। अस्य मन्त्रस्य प्रजापतिर्ऋषिस्त्रिष्टुप् छन्दः शुक्रो देवताऽवेक्षणे विनियोगः। तच्चक्षुरिति अवेक्षणाय ब्राह्मणानां सन्निधानाभावे पृषातकं स्वयं पश्येत्। ब्राह्मणानिति बहुवचनादवेक्षकास्त्रयः। बहुवचनस्य त्रित्वे पर्यवसानस्य कपिञ्जलाधिकरणे सिद्धान्तितत्वात्। ततो ब्राह्मणान भोजयित्वा स्वयं भुक्त्वा जातुषान् सर्वौषधिमिश्रान् मणीनाबध्नीरन् स्वस्त्ययनाय स्वयं गाः पृषातकं प्राशयित्वा सहवत्सा विवासयेत्। स्वस्ति हाऽऽसां भवति। आबध्नीरन्निति बहुवचनाद् यजमानपुत्रादीनां बाहौ मणिबन्धनम्। इति। 'लाक्षामयमणिबन्धनमपि नित्यं न तु काम्यं स्वस्त्ययनार्थमिति तु नाधिकारविधिः, वाक्यभेदप्रसङ्गात्। किन्तु मणिबन्धनस्तावकम्। एतेन 'मणिबन्धनं काम्यम् अकृतेऽपि न दोषः' इति केषाञ्चिदुक्तिः परास्ता, निर्मूलत्वात्।' इत्येवं वदति सुब्रह्मण्यः। तर्कालङ्कारोऽपि 'स्वस्त्ययनार्थमिति मणिबन्धनं स्तौति, न फलविधिः, वाक्यभेदापत्तेः। कथं नाम? मणीनाबध्नीरन्, तच्च स्वस्त्ययनार्थं भवति इति यदि द्वावप्यर्थौ विधित्सितौ, भिद्येत वाक्यम्' एवमाह। भाष्यकारमते तु यद्यपि नित्येऽपि काम्यसम्बन्धो दृश्यते तथाऽपि रक्षामणिमूलिकाप्रतिसरादिबन्धस्य लोके भूयसा काम्यतैव दृश्यते अतोऽस्य काम्यतैव भवितुमुचितेति, तदत्र भगवन्तोऽनूचानाः प्रमाणम्।

अथ नवयज्ञप्रयोगः। स च नित्यः, गौतमेन नित्यसंस्कारमध्ये परिगणितत्वात्। स च नूतनव्रीहिभिः कर्तव्यः, नवयज्ञ इत्यन्वर्थसंज्ञाकरणात्। नवयज्ञस्य प्रथमारम्भे नान्दीमुखश्राद्धम्। ततः प्राणानायम्य सङ्कल्पं करोति, नवान्नसंस्कारार्थं नवयज्ञं करिष्ये इति। ततोऽग्निमुपसमाधाय सर्वं पार्वणस्थालीपाकवत् कुर्यात्। पात्रासादनकाले प्रकृतिवत् पात्राण्यासाद्य नवान् तण्डुलान् पयश्चाऽऽसादयेत्। 'इन्द्राग्निभ्यां त्वा जुष्टं निर्वपामी'ति नवानां तण्डुलानां निर्वापः। पयसि चरुश्रपणम्। आज्यभागान्ते नवचरुमादाय जुहोति, इन्द्राग्निभ्यां स्वाहा, इदमिन्द्राग्निभ्यां न मम। चरुं हुत्वा शतायुधायेत्येतत्प्रभृतिभिश्चतस्र आज्याहुतीर्जुहोति। एषां चतुर्णां मन्त्राणां प्रजापतिर्ऋषिराद्यस्य पङ्क्तिश्छन्दस्त्रयाणां त्रिष्टुप् छन्दः इन्द्रो देवता ग्रीष्मादय इद्वत्सराश्च देवता आज्यहोमे विनियोगः। शतायुधायेति चतुर्भिर्मन्त्रहोमः प्रत्याहुतयस्तु इदमिन्द्राय इदं देवेभ्यः। इदं ग्रीष्मादिभ्यो न मम। इदमिद्वत्सरादिभ्यो न ममेति। ततः स्विष्टकृदादिकं कुर्यात्। प्राशनकाले यजमानस्त्र्यार्षेयश्चेद वाम-

हस्तेन दक्षिणहस्ते सकृदुपस्तीर्य मेक्षणेन हविरुच्छिष्टस्य मध्यात् पूर्वार्धाच्चावदाय सकृद-भिघारयति। पञ्चार्षेयश्चेत् सकृदुपस्तीर्य मेक्षणेन हविरुच्छिष्ट मध्यात् पूर्वार्धाच्चा-वदाय सकृदभिघारयति। अत्रोपस्तरणाभिघारणमुदकेन न त्वाज्येन। एवमवत्तं हविर्भद्रान् नः श्रेय इति मन्त्रेणाऽऽस्वादनमकुर्वन् दन्तैरसम्भिन्दन् भक्षयेत्, पूर्ववदुप-स्तीर्यावदायाभिघार्य मन्त्रेण द्वितीयं भक्षयेत्। पुनः पूर्ववत् कृत्वा मन्त्रेण तृतीयम्। एवममन्त्रकं चतुर्थम्। अस्य मन्त्रस्य प्रजापतिर्ऋषिस्त्रिष्टुप् छन्दो व्रीहयो देवता नवव्रीहिहविर्भक्षणे विनियोगः। ॐ भद्रान् न इति मन्त्रः। ततो भूय एवावदाय काममास्वादयन् भक्षयेत्। ये चान्येऽपि ब्राह्मणाः सन्निहिताः स्युस्तेभ्यो दत्त्वा यजमानो भक्षयेत्। तेषामपि पूर्ववद् भक्षणविधिः। परन्तूपस्तरणावदानाभिघार-णानि यजमानकर्तृकाणि सर्वे कृताचमना मुखं शिरोऽङ्गानि चानुलोमं पृथग'मोऽसी'ति मन्त्रेणाभिमृशेरन्। अङ्गानीत्येतद्बहुवचनस्य त्रित्वे पर्यवसानाच् जठरं दक्षिणबाहुं वामबाहुं पृथग् पृथगभिमृशेतेति यावत्। अस्य मन्त्रस्य प्रजापतिर्ऋषिस्त्रिष्टुप् छन्दः प्राणो देवताङ्गाभिमर्शने विनियोगः। 'ॐ अमोऽसी'ति मन्त्रः। हविःशेषं यजमानो भोजनकाले भक्षयेत्। वामदेव्यगानं ब्राह्मणभोजनम्। इति नवव्रीहि-यज्ञप्रयोगः। वर्षतौ नवश्यामाकानां पयसि चरुः पूर्वोक्तनवव्रीहियज्ञवत् कर्तव्यः। वसन्ततौ यवानां चरुर्नवयज्ञवत् कर्तव्यः। तत्र श्यामाकहविःशेषभक्षणे मन्त्रान्तरम् 'अग्निः प्रश्नातु प्रथम' इति। अस्य मन्त्रस्य प्रजापतिर्ऋषिरनुष्टुप् छन्दो जठरा-ग्निर्देवता श्यामाकचरुप्राशने विनियोगः। यवहविःशेषभक्षणे 'एतमुत्य'मिति मन्त्रः। अस्य मन्त्रस्य प्रजापतिर्ऋषिर्जगती छन्द इन्द्रो देवता यवचरुप्राशने विनियोगः। इति। व्रीहियज्ञो यवयज्ञश्च गृहस्थानाम्, श्यामाकयज्ञो वानप्रस्थानामिति व्यवस्था। इति नवयज्ञप्रयोगः।

—*—

अथ तृतीयप्रपाठकस्य

नवमीकण्डिका

आग्राहाण्यां बलिहरणम् ॥ १ ॥

* अनाकुला *

अगहन (मार्गशीर्ष) की पूर्णिमा को भी बलिहरण करना चाहिए ॥ १ ॥

* सरला *

'आग्रहाण्यान्' अग्रहायणो मार्गशीर्ष इति पर्यायवचनम् । अग्रहायणस्येयमाग्राहायणी, तस्यां पौर्णमास्याम् अपि 'बलिहरणम् ॥ १ ॥

तत् श्रवणेनैव व्याख्यातम् ॥ २ ॥

यह बलि श्रावण मास के ही समान व्याखात है ॥ २ ॥

एतच्च बलिहरणं 'श्रावणेन एव व्याख्यातम्' श्रावण्यां बलिहरणे यद्युपदिष्टमिहापि तत्तदेव बोध्यमिति ॥ २ ॥

नमः पृथिव्या इत्येतं मन्त्रं न जपति ॥ ३ ॥

श्रावण मास के बलि प्रदान में 'नमः पृथिव्या' आदि मन्त्र विनियुक्त है उसे न पढ़े ॥ ३ ॥

'नमः पृथिव्यै'—'इति एतं मन्त्रं' न जपति आग्रहायणबलिहरणकारीति श्रावण्यां बलिहरणे उक्तं 'न्यञ्चौ पाणी प्रतिष्ठाप्य 'नमः पृथिव्या' इत्येतं मन्त्रं जपति तदत्र न भवतीत्येव विशेष इति ॥ ३ ॥

अपराण्यपि कानिचित् तद्दिनकर्त्तव्यान्याह—

अथ पूर्वाह्ण एव प्रातराहुतिं हुत्वा दर्भान् शमीं वीरणां फलवतीमपामार्गं शिरीषमेतान्याहारयित्वा तूष्णीमक्षतसक्तूना

मग्नौ कृत्वा ब्राह्मणान् स्वस्तिवाच्यैस्तैः सम्भारैः प्रदक्षिणमान्यागारात् प्रभृति धूमं शातयन गृहानुपरीयात । ४ ।

इस (थलिहरण) के बाद उसी दिन पूर्वाह्न में प्रातः आहुति देकर कुश एवं शमी वृक्ष के पत्तों, खस फल सहित, वैर की डाल, अपामार्ग की डाल, और शिरीष वृक्ष की शाखा को लाकर अग्नि में बिना मन्त्र के सत्तू से होम कर, वहाँ उपस्थित ब्राह्मणों से स्वस्तिवाचन कराकर दक्षिणा देकर प्रसन्न करे। इन दर्भ के समूह को लेकर अग्निगृह (रसोई) से लेकर सारे घर में धूम से धूपित करे ॥ ४ ॥

'अथ' शब्दो बलिप्रकरणतो वैभिन्नं द्योतयति । तद्दिने पूर्वाह्णे प्रातराहुतिं हुत्वा एव 'दर्भान्' कुशतृणानि, 'शमीं' तद्वृक्षपत्रं, 'वीरणां' वीरणतृणं, फलफलवतीं सफलां बदरीशाखां, अपामार्गं, तच्छाखां, शिरीषं तच्छाखां, एतानि सम्भाराणि 'आहारयित्वा' येन केनचित् अक्षतसक्तूनां, यवसक्तूनां भागं 'तूष्णीम्' अमन्त्रकमेव 'अग्नौ' कृत्वा प्रक्षिप्य 'ब्राह्मणान्' तत्रत्यान् दक्षिणादानादितोषणेन 'स्वस्ति' शब्दं कल्याणवचनं वा 'वाचयित्वा' 'एतैः' दर्भादिभिः 'सम्भारैः' सह 'प्रदक्षिणं' यथा स्यात् तथा 'अग्न्यागारात्' अग्निगृहात् प्रभृति गृहान् सर्वानेव अनु लक्ष्य धूमं प्रदाय 'शातयन्' निर्वापयंश्च 'परीयात्' सतो व्रजेत् एतेन सर्वगृहेषु शान्त्यर्थं दर्भादिभिर्धूमदानं फलितम् ॥ ४ ॥

उत्सृजेत् कृतार्थान् सम्भारान् । ५ ।

धूम को ठण्डा भी करे और कुश समूह को फेंक भी दे ॥ ५ ॥

तान् 'सम्भारान्' 'कृतार्थान्' निष्पन्नप्रयोजनान् इति 'उत्सृजेत्' परित्यजेत् ॥ ५ ॥

जातशिलासु मणिकं प्रतिष्ठापयति वास्तोष्पत इत्येतेन द्विकेन । ६ ।

पत्थर के समान सुदृढ़ ईंटों से बनी वेदी पर 'वास्तोष्पते' (गे० गा० ७.२०-२१) आदि दो साम मन्त्रों को पढ़ कर जल का घट स्थापित करे ॥ ६ ॥

'जातशिलासु' उत्पन्नशिलासु शिलावद्दृढनिर्म्मितासु इष्टकासु इष्टकनिर्म्मित वेद्यासु 'वास्तोष्पते (गे० गा० ७. २. २०-२१)—इति अनेन

द्विकेन सामद्वयेन 'मणिकं' मृण्मयं ताम्रादिमयं वा बृहत् जलाधारं 'प्रतिष्ठापयति' ॥ ६ ॥

पर्केण द्वावुदकुम्भौ मणिक आसिञ्चेत । ७ ।

उस घड़े में पर्कसाम (गे० गा० १. १. १.) आदि साम मन्त्र पढ़ते हुए कलश से जल डाले ॥ ७ ॥

ततः तस्मिन् 'मणिके' 'पर्केण' पर्कनाममन्त्रेण (गे० गा० १. १. १) 'द्वौ' 'उदकुम्भौ' उदकपूर्णकलशौ 'आसिञ्चेत्' ॥ ७ ॥

समन्न्यायन्त्वीत्येतयर्चा प्रदोषे पायसश्चरुः । ८ ।

प्रदोषकाल में समन्न्यायन्ति (अ० आ० ३. ३. ६) आदि अरण्यगान का ऋचा पढ़ कर पायस चरु पकावे ॥ ८ ॥

'प्रदोषे' रजनीमुखे 'समन्न्यायन्ति' (अ० आ० ३. ३. ६) 'इति' एतया ऋचा 'पायसः चरुः पक्तव्यः ॥ ८ ॥

तस्य जुहुयात् प्रथमाहव्युवासेति । ९ ।

उस चरु का कुछ भाग लेकर 'प्रथमा हव्युवासा' (म० ब्रा० २. २. १.) आदि मन्त्र से एक आहुति देनी चाहिए ॥ ९ ॥

'तस्य' चरोः अंशं गृहीत्वा 'प्रथमा हव्युवासा धेनुरभवद्यमे ।
सा नः पयस्वती दुहा उत्तरामुत्तरां समाम्' ॥ १ ॥
(म० ब्रा० २. २. १)—इति मन्त्रेण 'जुहुयात्' ॥ ९ ॥

स्थालीपाकावृतान्यत् । १० ।

अन्य कृत्य पूर्वोक्त स्थालीपाक की विधि से ही करना चाहिए ॥ १० ॥

'अन्यत्' अवशिष्टकार्यजातं 'स्थालीपाकावृता' स्थालीपाकयज्ञरीत्या एव भवेन्नाम ॥ १० ॥

पश्चादग्नेर्बर्हिषि न्यञ्चौ पाणी प्रतिष्ठाप्य प्रतिक्षत्र इत्येता व्याहृतीर्जपति । ११ ।

अग्नि के पश्चिम ओर कुश के ऊपर दोनों हाथ नीचे कर 'प्रतिक्षत्रे ...' (म० ब्रा० २. २. २–६) आदि इन मन्त्रों का जप करे ॥ ११ ॥

'अग्नः' तस्य पश्चात् पश्चिमे 'बर्हिषि' आस्तृतकुशोपरि 'न्यञ्चौ' अधोमुखौ 'पाणी' हस्तौ प्रतष्ठाप्य' 'प्रतिक्षत्रे प्रतिष्ठामि राष्ट्रे ॥ २ ॥ प्रत्यश्वेषु प्रतितिष्ठामि गोषु ॥ ३ ॥ प्रतिप्राणे प्रतितिष्ठामि पुष्टौ ॥ ४ ॥ प्रत्यङ्गेषु प्रतितिष्ठाम्यात्मनि ॥ ५ ॥ प्रतिद्यावा पृथिव्योः प्रतितिष्ठामि यज्ञे (म० ब्रा० २. २. २–६)—इति एता व्याहृतीः जपति ॥ ११ ॥

पश्चादग्नेः स्रस्तरमास्तारयेदुदगग्रैस्तृणैरुदक्प्रवणम् । १२ ।

फिर उस अग्नि के पश्चिम ओर उत्तराग्र कुशा आदि पर बैठने के लिए उत्तर की ओर नीचे आसन करके बिछावे ॥ १२ ॥

'अग्नेः' तस्य 'पश्चात्' पश्चिमस्यां दिशि 'उदगग्रैः तृणैः' उत्तराग्रीकृतैः कुशाशादिभिः 'उदक्प्रवणं' उत्तरनिम्नं यथा स्यात्तथा 'स्रस्तरं' आसनं 'आस्तारयेत्' आस्तृतं कुर्यात् ॥ १२ ॥

तस्मिन्नहतान्यास्तरणान्यास्तीर्य दक्षिणतो गृहपति रुप-विशति । १३ ।

उस अहत एवं आस्तृत आसन पर बिछौना आदि दक्षिण की ओर गृहस्वामी बैठे ॥ १३ ॥

'तस्मिन्' स्रस्तरे 'अहतानि' अखण्डितानि 'आस्तरणानि' तिर्यक्प्रक्षेपणीयतृणानि 'आस्तीर्य्य' पातयित्वा तत्र 'दक्षिणतः' दक्षिणस्यां 'गृहपतिः' अनुष्ठानकारी 'उपविशति' उपविशेत् ॥ १३ ॥

अनन्तरा अवरे यथाज्येष्ठम् । १४ ।

उन गृहस्वामी के बायीं ओर पहले बड़े वृद्ध जन बैठें, उसके बाद छोटे युवक एवं बच्चे आदि यथाक्रम से बेठें ॥ १४ ॥

'अनन्तराः' अव्यवहिता 'अनन्तराः' अव्यवहिताः 'अवरे' गृहपतितः' कनिष्ठाः यथाज्येष्ठं ज्येष्ठानुक्रमेण उत्तरोत्तरं स्थानमधिकुर्य्युरिति ॥ १४ ॥

अनन्तराश्च भार्याः सजाताः । १५ ।

उसके बाद यथाक्रम वपनी सजातीय स्त्रियां भी छोटे बड़े क्रम से बैठें ॥ १५ ॥

'अनन्तराः' तदव्यवहिताः भार्याः गृहपतिबध्वादयः 'च' अपि यथा ज्येष्ठमुत्तरोत्तरं उपविशेयुरित्येव । तत्र विशेषमाह 'सजाताः' समावजातीयाः असवर्णानामत्रोपवेशने नाधिकार इति भावः ॥ १५ ॥

समुपविष्टेषु गृहपतिः स्वस्तयेत् । १६ ।

सभी के बैठ जाने पर गृहस्वामी स्वस्तिवाचन प्रारम्भ करे ॥ १६ ॥

'समुपविष्टेषु' स्वावरादि भार्य्यान्तेषु परिजनेषु 'गृहपतिः' अनुष्ठाता 'स्वस्तयेत्' स्वस्तिवाचनं कुर्य्यात् ॥ १६ ॥

न्यञ्चौ पाणी प्रतिष्ठाप्य स्योनापृथिविनो भवेत्येतामृचं जपति । १७ ।

दोनों हाथ नीचे करके 'स्योना पृथिवि नो भव' (म० ब्रा० २. २. ७) आदि ऋचा का जप करे ॥ १७ ॥

तथाहि स्वस्तिवाचनप्रकारमेव दर्शयति न्यञ्चौ अधोमुखौ 'पाणी' हस्तौ प्रतिष्ठाप्य 'संस्थाप्य स्योना पृथिवि नो भवानृक्षरा निवेशनी। यच्छानः शर्म स प्रथमो देवान्मा भयादिति ॥ ७ ॥ (म० ब्रा० २. २. ७) इति एतां ऋचं जपति ॥ १७ ॥

समाप्तायां संविशन्ति दक्षिणैः पार्श्वैः । १८ ।

स्वस्तिवाचन समाप्त कर लेने पर प्रदक्षिण क्रम से यथाक्रम छोटे-बड़े जन बैठ जायँ ॥ १८ ॥

'समाप्तायां' पाठक्रियायां 'दक्षिणैः पार्श्वैः' दक्षिणपार्श्वानुसारेण स्वावरादिभार्य्यान्तोपविष्टः सर्वपरिजनप्रदक्षिणतः इति यावत् 'संविशन्ति' अग्निपरिजनयोर्मध्यतः आगच्छन्ति ॥ १८ ॥

एवं त्रिरभ्यात्मावृत्य स्वस्त्ययनानि प्रयुज्य यथान्यायम् । १९ ।

इस प्रकार तीन बार प्रदक्षिणा कर (वामदेव्यादि) स्वस्त्ययन साम गान का गायन करके पूर्वोक्त रीति से शेष कर्म करना चाहिए ॥ १९ ॥

'एवं' परिजनप्रदक्षिणया 'त्रिः' त्रिवारम् अभ्यात्मं स्वोप वेशदनस्थानमभिलक्ष्य 'आवृत्य' आवर्त्तनं कृत्वा 'स्वस्त्ययनानि' वामदेव्यादीनि सामानि 'प्रयुज्य' गीत्वा 'यथान्यायं पूर्वोक्तवत् क्रियाशेषं कार्यमिति ॥ १९ ॥

अरिष्टासाम संयोममेके । २० ।

कुछ आचार्य इस (स्वस्त्ययन) में अरिष्ट-साम को भी मिलाने को कहते हैं ॥ २० ॥

'एके' आचार्या अत्र 'अरिष्टसामसंयोग' अरिष्टनामकसाम्नः संयोगमपि आहुः[१] ॥ २० ॥

अप उपस्पृश्य यथार्थम् । २१ ।

आगे आचमन क्रिया करके यथा प्रयोजन अगला कर्म करे ॥ २१ ॥

॥ इस प्रकार गोभिलगृह्यसूत्र के तृतीय प्रपाठक के अष्ठ खण्ड को डा० सुधाकर मालवीय कृत 'अनाकुला' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ ३.९ ॥

---

(१) अरिष्टम् अरिष्टवर्गाख्यं सामसंयोगम् इतस्ततो विप्रकीर्णानां साम्नामेकीकृतं सामसमुदायम् । अबोध्यग्निर्महिवीणामिति द्वे त्वावत इत्यादिकं वा सर्वलोकप्रसिद्धम् । प्रयुज्येति वर्त्तते ।

मन्त्रस्तु—

ॐ अबोध्यग्निः समिधा जनानां प्रतिधेनुमिवायतीमुपासम् ।

यह्वा इव प्र वयामुज्जिहानाः प्र भानवः सस्रते नाकमच्छ ॥ इति ।

सा० स० पू० १।२ ८।१ ।

अस्य व्याख्या—अयमग्निः जनानामध्वर्य्वादीनां समिधा समद्भिः, अबोधि प्रबुद्धोऽभूत्, धेनुमिव अग्निहोत्रार्थं धेनुं प्रति यथा प्रातर्बुध्यते तद्वत् आयतीमागच्छन्तीम् उपासं प्रति उषःकाले इत्यर्थः । अथ प्रबुद्धस्याग्नेः भानवः रश्मयो ज्वालाः, यह्वाः महान्तः, वयां शाखां प्रोज्जिहानाः प्रोद्गमयन्तो वृक्षा इव । यह्वा महान्तः प्रोज्जिहानाः स्वधिष्ठानं त्यजन्तो भानवः, नाकम् अन्तरीक्षम्, अच्छ आभिमुख्येन प्रसस्रते प्रसरन्ति, सस्रे त सिस्रे त इति पाठौ । इति सायणाचार्यकृता ।

मन्त्रस्तु— ॐ महि त्रीणामवरस्तु द्युतं मित्रस्यार्यम्णः ।

दुराधर्षं वरुणस्य ॥ इति । सा० स० पू० २।२।१०।८ ।

अस्य व्याख्या—'त्रीणां त्रयाणां मित्रस्य अर्यम्णः वरुणस्य च द्युक्षं दीप्तम्, अत एव दुराधर्षम्, अन्यैर्धर्षितुं बाधितुमशक्यं महि महत्, अवः अवः रक्षणम् अस्माकमस्तु' । इति ।

मन्त्रस्तु ॐ त्वावतः पुरूवसो वयमिन्द्र प्रणेतः ।

स्मसि स्थातर्हरीणाम् ॥ इति । सा० स० पू० २।२।१०।९ ।

अस्य व्याख्या —'हे पुरूवसो बहुधन इन्द्र, प्रणेतः कर्मणां पारं प्रकर्षेण नेतः, हे हरीणाम् एतत्संज्ञकानामश्वानां स्थातः अधिष्ठातः इन्द्र, त्वावतः त्वत्सदृशस्य, इन्द्रसमानस्यान्यस्याभावात् तथेत्यर्थः, तव स्वभूताः वयं स्मसि स्मः ।' इति ।

'उपस्पृश्य अप' आचम्य क्रियासमाप्तिं मत्वा 'यथार्थं स्वप्रयोजनानुगतं विहरेदिति' ॥ २१ ॥

इति गोभिलगृह्यसूत्रे तृतीयप्रपाठके अष्टखण्डस्य डा० सुधाकर मालवीय कृता सरलाव्याख्या समाप्ता ॥ ३.९ ॥

—*—

(१) अथाऽऽग्रहायणीप्रयोग उच्यते— आग्रहायण्यां मार्गशीर्षपौर्णमास्यां बलिहरणं श्रवणाकर्मवत् कर्तव्यम्। नमः पृथिव्या इत्येतन्मन्त्रं न जपति, विशेषस्तूच्यते— प्रथमारम्भे नान्दीश्राद्धम्। प्रातराहुतिं हुत्वा दर्भान् शमीं वीरणां फलयुक्तबदरीशाखामपामार्गं शिरीषञ्चाऽऽहृत्याऽऽर्यं बाऽऽक्षतसक्तून् कृत्वा तेषामेकदेशं तूष्णीमग्नौ प्रक्षिपेत्। ततो ब्राह्मणान् स्वस्ति वाचयित्वा तेभ्यो यत्किञ्चिद् दत्त्वा पूर्वाह्णे षड्भिर्दर्भादिभिरेकीकृतैः सम्भारैः प्रादक्षिण्येन नित्याग्निशालामारभ्य भित्तिपटलादिसंलग्नं धूमं शातयन् सर्वान् गृहाननुगच्छेत्। एवं धूमशातनानन्तरं दर्भादीन् सम्भारानुत्सृजेत्। ततस्तूष्णीमैशान्यां स्थापितासु तिसृषु जातशिलासु वास्तोष्पत इत्यनेन सामद्वयेन तदृचः च मणिकं प्रतिष्ठापयति, जातशिला शर्करशिलेत्यर्थः। मणिकं बृहदुदकभाण्डमित्यर्थः। वास्तोष्पतिसामप्रकाशो यथा—वास्तोष्पताइ। ध्रु वा। स्थू णा ओ २३४ वा। अं सत्रं सोम्या ना २म्। द्रप्सः पुराम्भे ता शश्वता २३इ नाम्। आ २३४ इन्द्राः। मु नी २। ना ३१ उवा २३। सा २३४ भा ॥ वास्तो ष्प ते ध्रु वा। स्थूणा ३। आ २३४। सत्रं सो। स्यानाम्। द्र प्सः पुराम्भेत्ता शश्वता २३ ईनाम्। आ २३ इन्द्राः मुनी २। नो २३४ वा। २३४ खा ॥ वास्तोष्पते ध्रु वा स्थू णां सत्रं सोम्यानाम्। द्र प्सः पुराम्भे त्ता शश्वतीनामिन्द्रोमु नी नां सखा। ततो मणिके समन्या यन्तीत्यृचा द्वावुदकुम्भावासिञ्चेत्, प्रतिकुम्भमृगावृत्तिः। अस्या गृत्समद ऋषिस्त्रिष्टुप् छन्दोऽग्निर्देवता सेवने विनियोगः। समन्या यन्तीति मन्त्रः, एतावत् कृत्यं पूर्वाह्णे कुर्यात्। श्रवणाकर्मवदस्तमिते बलिहरणम्। ततः सायंसन्ध्यां नित्यहोमञ्च निर्वर्त्य पयसि चरुः कर्तव्यः। आग्रहायणीस्थालीपाकं करिष्ये इति संकल्प्य आग्रहायण्यै त्वा जुष्टं निर्वपामीति निर्वापः। आज्यभागान्ते चरुमवदाय जुहुयात् प्रथमा ह्व्युवाससेति मन्त्रेण। अस्य मन्त्रस्य प्रजापतिर्ऋषिरनुष्टुप् छन्दः आग्रहायणी देवता चरुहोमे विनियोगः। प्रथमेति मन्त्रः, इदमाग्रहायण्यै न मम। अन्यत् सर्वं पार्वणस्थालीपाकवत् कर्तव्यम्। दक्षिणादानान्ते पश्चादग्नेर्बर्हिषि न्यञ्चौ पाणी प्रतिष्ठाप्य प्रति क्षत्र इत्येतौ व्याहृतीश्च जपति।

अनयोः प्रजापतिर्ऋषिस्त्रिष्टुप् छन्दोऽग्निर्देवता जपे विनियोगः। प्रतिक्षत्रे मन्त्रः। ॐ भूर्भुवः स्वः। केचिदत्र वामदेव्यं गीत्वा आग्रहायणीकर्म समापयन्ति स्वस्तरारोहणं कर्मान्तरम् इति च वदन्ति, परे तु स्वस्तरारोहणमाग्रहायण्यङ्गम्, सूत्रे तस्य कर्मान्तरत्वबोधकाथशब्दाभावात्, अभ्यहारे प्रमाणाभावाच्च। पश्चादग्नेर्बर्हिपि व्यञ्चकरणवत् स्वस्तरारोहणमपि तस्मिन्नेव दिने वामदेव्यगानात् पूर्वं कर्तव्यम् इत्याहुः। इत्याग्रहायणीप्रयोगः।

अथ स्वस्तरारोहणप्रयोग उच्यते—उदगयने प्राग् वसन्तात् पुण्येऽहनि पूर्वाह्णे नान्दीश्राद्धं विधाय सायं बलिहरणान्ते पश्चादग्नेरुदगग्रैस्तृणैरुदक्प्रवणं स्वस्तरमास्तीर्य तस्मिन्नहतान्यूर्णामयानि कार्पासमयानि वास्तरणान्यास्तीर्य दक्षिणतो गृहपतिरुपविशति, तस्योत्तरतस्तद्भ्रातर एकपाकोपजीविनश्च यथाज्येष्ठमुपविशन्ति। ततस्तेषामुत्तरतो गृहपतिप्रभृतीनां पत्न्यः क्रमेणोपविशन्ति। ततस्तासामपत्यान्यपि क्रमेण स्वायाः स्वाया मातुरुत्तरत उपविशन्ति। सम्यक् प्राङ्मुखेषूपविष्टेषु गृहपतिः सर्वोपद्रवशान्त्यर्थं स्वस्तरारोहणं करिष्ये इति सङ्कल्प्य स्वस्तरेऽधोमुखौ हस्तौ संस्थाप्य 'स्योना पृथिवी'त्येतामृचं जपेत्। अस्याः प्रजापतिर्ऋषिरनुष्टुप् छन्दः पृथिवी देवता जपे विनियोगः। समाप्तायामृचि सर्वे दक्षिणपार्श्वैः प्राक्शिरसः संविशन्ति। एवमुपवेशनक्रमेण संवेशनमुत्थानञ्च त्रिवारमभ्यात्मं कार्यम्। ततो यथाज्ञानं स्वस्त्ययनमुच्चार्य वामदेव्यं गायेत्। स्वस्त्ययनप्रयोगे 'महि त्रीणामि'ति द्वे 'त्वावत' इत्येकं साम प्रयोक्तव्यम्। अरिष्टवर्गसामगानमेके वदन्ति। तत अप उपस्पृश्य यथाकाममन्यत्र शयनं कुर्युः। इति स्वस्तरारोहणप्रयोगः।

—*—

अथ तृतीयप्रपाठकस्य

दशमी कण्डिका

अष्टका रात्रिदेवता ॥ १ ॥

* अनाकुला *

अष्टका कर्म का अनुष्ठान रात्रि में करे ॥ १ ॥

* सरला *

'रात्रिदेवता' रात्रिः देवता अस्याः 'अष्टका' इति नाम क्रिया कर्त्तव्येति शेषः 'पुष्टिकर्म' पुष्टिः पोषणं फलमस्येति ॥ १ ॥

पुष्टिकर्म । २ ।

पुष्टि (पोषण) की कामना से इस कर्म को करे ॥ २ ॥

पुष्टिकाम एवस्याधिकारी तथा चास्य काम्यत्वं स्थितम् ॥ २ ॥

आग्नेयी पित्र्या वा प्राजापत्यर्त्तुदेवता वैश्यदेवीति देवता-विचाराः । ३ ।

कुछ आचार्यों के मत से अष्टका के देवता अग्नि हैं, पितृगण हैं, प्रजापति हैं अथवा ऋतु देवता वैश्वदेवी है—इस प्रकार अष्टका के देव के विषय में अचार्यों के भिन्न-भिन्न मत हैं ॥ ३ ॥

'आग्नेयी' अग्निदेवताका 'पित्र्या' पितृदेवताका 'वा' अथवा प्राजा-पत्या' प्रजापतिदेवताका 'ऋतुदेवता' ऋतवः एव देवता यस्याः 'वैश्वदेवी' सर्वदेवता 'इति' एवं 'देवताविचाराः' सन्तीविशेषः ॥ ३ ॥

चतुरष्टको हेमन्तस्ताः सर्वाः समांसाश्चिकीर्षेदिति कौत्सः । ४ ।

कौत्स आचार्य के अनुसार आग्रहायण आदि (हेमन्त) से लेकर चार महीनों में चार अष्टका का अनुष्ठान मांस के सहित करे ॥ ४ ॥

विमर्श—वेद में 'शतं हिमाः', 'शरदः शतम्' प्रयोगों से प्रतीत होता है कि शरद ऋतु में वर्ष पूर्ण होता है। हेमन्त में वर्ष का आरम्भ हो जाता है। अतः 'कौत्स' मार्गशीर्ष से पहिला महीना लेकर अष्टका कर्म का विधान करते हैं ॥ ४ ॥

'कौत्सः' आचार्यस्तु 'हेमन्तः' कार्त्तिकादिमाघान्तोमासचतुष्टयः चतुरष्टकः चतसृभिरष्टकाभिरुपेतः 'इति' मन्यते। किञ्च ताः सर्वाः अष्टकाः 'समांसाः' मांसद्रव्यकाः 'चिकीर्षेत्' कर्तुमिच्छेत् ॥ ४ ॥

त्र्यष्टक इत्यौद्गाहमानिस्तथा गौतमवार्कखण्डी ॥ ५ ॥

उद्गाहमानि नामक और गौतम नामक आचार्य तथा वार्कखण्डी आचार्य हेमन्त ऋतु में ही अष्टका अनुष्ठान का विधान करते हैं ॥ ५ ॥

'औद्गाहमानिः' तथा गौतम—वार्कखण्डी' इमे आचार्याः, हेमन्तः त्र्यष्टकः तिस्रोऽष्टका यत्र 'इति' मन्यते इति शेषः ॥ ५ ॥

योर्ध्वमाग्रहायण्यास्तामिस्राष्टमी तामपूपाष्टकेत्याचक्षते । ६ ।

आग्रहायण मास की पूर्णिमा के बाद कृष्णाष्टमी को आचार्यगण 'अपूपाष्टका' नाम से अभिहित करते हैं ॥ ६ ॥

'आग्रहायण्याः' पौर्णमास्याः, ऊर्ध्वम् उपरि 'या' तामिस्राष्टमी अन्धकारपक्षीया 'अष्टमी' तिथिः 'ताम्' तिथिम् 'अपूपाष्टका' इति 'आचक्षते' आचार्या इति यावत्। एतेन तत्राष्टाम्याम् अष्टकाकृत्यं कर्त्तव्यम्, तच्च अपूपैः, साध्यमिति फलितम् ॥ ६ ॥

स्थालीपाकावृता तण्डुलानुपस्कृत्य चरुं श्रपयति । ७ ।

स्थालीपाक की भाँति इसमें भी तण्डुल आदि से 'चरु' पकाकर अनुष्ठान करे ॥ ७ ॥

'स्थालीपाकावृता' पूर्वोक्त्या स्थालीपाकरीत्या 'तण्डुलान्' 'उपस्कृत्य' संस्कृत्य तैरेव तण्डुलैः 'चरुं' हवनीयान्नं 'श्रपयति' श्रपयेत् परिपचेत् ॥ ७ ॥

अष्टौ चापूपान् कपालेऽपरिवर्त्तयन् । ८ ।

और एक मिट्टी की बड़ी कड़ाही में आठ पूआ पकावे परन्तु मेक्षण आदि कलछी को बिना छूए ही पकावे ॥ ८ ॥

'च' अपि कपाले एकस्मिन् मृत्कटाहे 'अष्टौ' अपूपान् पिष्टकविशेषान् 'अपरिवर्त्तयन्' मेक्षणादिना अस्पृन्नेव श्रपयेत् ॥ ८ ॥

एककपालानमन्त्रानित्यौद्गाहमानिः । ९ ।

उद्गाहमानि आचार्य के अनुसार पूए को भिन्न-भिन्न कड़ाही में बिना मन्त्र के पकाना चाहिए ॥ ९ ॥

इमान् अपूपान् परिमाणेन 'एककपालान्' एककपालपूर्णमितान्, किञ्च 'अमन्त्रान्' मन्त्रपाठसाहित्यशून्यान् 'इति' औद्गाहमानिः' आचार्यः मन्यते इति शेषः ॥ ९ ॥

त्र्यैयम्बक प्रमाणान् । १० ।

एक पूए का परिमाण हथेली के बराबर होना चाहिए ॥ १० ॥

त्र्यैयम्बकं करतलम्, तत्प्रमाणामेव अपूपान् श्रपयेत् इत्यस्माकं मतमिति ॥ १० ॥

शृतानभिघार्योदगुद्वास्य प्रत्यभिघारयेत् । ११ ।

पूआ पक जाने पर घी का आघार दे और अग्नि के उत्तर की ओर उसे उतार कर पुनः घी का आघारण करे ॥ ११ ॥

'शृतान्' पक्वान् तान् अभिघार्य घृतेन, 'उदक्' उत्तरतः अग्नेः उद्वास्य संस्थाप्य 'प्रत्यभिघारयेत् घृतेनैव तान् पूपानिति ॥ ११ ॥

स्थालीपाकावृतावदाय चरोश्चापूपानाश्चाष्टकायै स्वाहेति जुहोति । १२ ।

पूर्वोक्त स्थालीपाक की विधि से उस चरु और पूए आदि से कुछ भाग काटकर 'अष्टकायै स्वाहा' आदि मन्त्र से अग्नि में हवन करे ॥ १२ ॥

'स्थालीपाकावृता' स्थालीपाकरीत्या 'चरोश्च' तस्य 'अपूपानाञ्च' तेषाम् अंशान् 'अवदाय' सङ्कृत्य गृहीत्वा 'अष्टकायै स्वाहा'—इति अनेन मन्त्रेण 'जुहोति' जुहुयात् ॥ १२ ॥

स्थालीपाकावृतान्यत् ॥ १३ ॥

स्थालीपाक के सभी विधान यहाँ पर अनुष्ठित होंगे ॥ १३ ॥

'अन्यत्' क्रियाशेषं सर्वं स्थालीपाकावृता' स्थालीपाकरीत्यैव कार्यमिति समाप्तापूपाष्टका ॥ १३ ॥

तैष्या ऊर्ध्वमष्टम्यां गौः ॥ १४ ॥

पौष मास की पूर्णिमा के बाद अष्टमी को गो आलम्भन करे ॥ १४ ॥

'तैष्याः' पौषपौर्णमास्याः 'ऊर्ध्वम्' पुरस्तात् 'अष्टम्यां' कृष्णपक्षीयायाम्, 'गौः' आलब्धव्येति शेषः ॥ १४ ॥

ताँ सन्धिवेलासमीपं पुरस्तादग्नेरवस्थाप्योपस्थितायां जुहुयाद्यत्पशवः प्रध्यायतेति ॥ १५ ॥

सूर्योदय काल से कुछ पूर्व उस गाय को अग्नि के समक्ष लाकर उस सन्धि बेला में 'यत्पशवः प्रध्यायत मनसा'—(म० ब्रा० २. २. ८) आदि मन्त्र को पढ़कर घृत की आहुति देवे ॥ १५ ॥

'सन्धिवेलासमीपं' सूर्योदयकालात् किञ्चित् पूर्वमेव 'तां' गां 'अग्नेः पुरस्तात् अवस्थाप्य' 'उपस्थितायां' तस्यां सन्धिवेलायाम्, सूर्योदयक्षणे इति यावत्, 'यत्पशवः प्रध्यायत मनसा हृदयेन च। वाचा सहस्रपा यथा मयि बध्नामि वो मनः' ॥ ८ ॥ (म० ब्रा० २. २. ८)—'इति' मन्त्रेण तत्रैवाग्नौ 'जुहुयात्' घृतमिति ॥ १५ ॥

हुत्वा चानुमन्त्रयेतानु त्वा माता मन्यतामिति ॥ १६ ॥

पूर्वोक्त आहुति देकर अनु त्वा माता मन्यताम्' (म० ब्रा० २. २. ९) आदि मन्त्र से उस गाय का संज्ञपन के लिए अनुमन्त्रण करे ॥ १६ ॥

'हुत्वा' कार्यारम्भद्योतिकामाहुतिं पूर्वोक्ताम्, 'च' अपि 'तां' गाम् 'अनुत्वा माता मन्यतामनुपितानुभ्राताऽनु सगर्भ्योऽनुसखा सायूथ्यः' ॥ ९ ॥ (म० ब्रा० २. २. ९) इति मन्त्रेण 'अनुमन्त्रयेत' संज्ञपनार्थं निमन्त्रयेदिति ॥ १६ ॥

यवमतीभिरद्भिः प्रोक्षेदष्टकायै त्वा जुष्टां प्रोक्षामीति । १७ ।

'अष्टका देवता की तुष्टि के लिए प्रीतिपूर्वक सेवनीय गाय को मैं प्रोक्षित करता हूँ'—इस मन्त्र को पढ़ते हुए वध्य गौ को यव-जल से धोना चाहिए ॥ १७ ॥

'अष्टकायै' अष्टकानामदेवतायाः तुष्टयर्थं 'त्वा' 'जुष्टां' प्रीति-सेवनीयां गाम् 'प्रोक्षामि' अहम्—'इति' मन्त्रं पठन् 'यवमतीभिः' अद्भिः 'प्रोक्षेत्' तामालब्धव्यां गामिति ॥ १७ ॥

उल्मुकेन परिहरेत् परिवाजपतिः कविरिति । १८ ।

'परिव्राजपतिः कविः' (छ० आ० १. १. ३. १०) आदि मन्त्र पढ़कर एक मुट्ठी भर उल्मुक (खर) जला कर, उस उल्मुक से गौ की प्रदक्षिणा करनी चाहिए ॥ १८ ॥

'परिव्राजपतिः कविः (छ० आ० १ १. ३. १०)—इति मन्त्रं पठन् उल्मुकेन प्रज्वलिताग्निना 'परिहरेत् प्रदक्षिणीकुर्यात् तां गामिति ॥ १८ ॥

अपः पानाय दद्यात् । १९ ।

इसके बाद गौ को पीने के लिए एक पात्र में पानी देना चाहिए ॥ १९ ।

तस्यै गवे इति शेषः ॥ १९ ॥

पीतशेषमधस्तात्पशोरवसिञ्चेदात्त देवेभ्यो हविरिति । २० ।

उसके पीने से जो पानी बचे उस पानी से 'आत्त देवेभ्यो हविः' (म० ब्रा० २. २. १०) आदि मन्त्र से गौ के अवोभाग का सिञ्चन करे ॥ २० ॥

'पीतशेषं' पानाववशिष्टमुदकम् 'आत्त देवेभ्यो हविः ॥ १० ॥ (म० ब्रा० २. २. १०) इति मन्त्रं पठन् 'पशोः' तस्यैव अधस्तात् अवसिञ्चेत्' नीचैः सिञ्चनं कुर्वीत ॥ २० ॥

अथैनामुदगुत्सृप्य संज्ञपयन्ति । २१ ।

इसके बाद इस गाय को (संज्ञपन के लिए) अग्नि के उत्तर की ओर लाकर शास्ता ऋत्विक्‌गण संज्ञपन करते हैं ॥ २१ ॥

'अथ' अनन्तरम् 'एनाम्' गाम् 'उदक्' अग्नेरुत्तरतः 'उत्सृप्य' उत्सर्पणेन नीत्वा संज्ञपयन्ति हन्युः शासितार ऋत्विज इति ॥ २१ ।

प्राक्शिरसमुदकपदीं देवदेवत्ये । २२ ।

यदि देव कार्य के लिए इस गाय का संज्ञपन हो तो उसे पूर्व की ओर मुँह करके रक्खे और उसके चारो पैर उत्तर की ओर हों । २२ ॥

तत्र च—'देवदेवत्ये' कार्ये तां 'प्राक्‌शिरसम् उदकपदीं' ॥ २२ ॥

दक्षिणाशिरसं प्रत्यक्पदीं पितृदेवत्ये । २३ ।

यदि पितृकार्य के लिए संज्ञपन हो तो उस गाय का मुँह दक्षिण में और पैर पश्चिम की ओर रक्खे ॥ २३ ॥

विमर्श—१. प्रोक्षण के लिए देवताओं के अनुसार मन्त्र ऊह कर लेना चाहिए । जैसे वास्तुकर्म में वास्तोष्पतये त्वा जुष्टां प्रोक्षामि' इस प्रकार ऊह करे । कहा भी है—

ऊहः प्रोक्षण मन्त्रे स्याल्लिङ्गदेवतयोर्वशात् ॥ २३ ॥

किन्तु पितृदेवत्ये कार्ये 'दक्षिणशिरसं प्रत्यक्पदीं' संज्ञपेयुरिति ॥ २३ ॥

संज्ञप्तायां जुहुयाद्यत्पशुर्मायुमकृतेति ॥ २४ ॥

गौ के संज्ञपन के बाद 'यत्पशुर्मायुमकृत' (म० ब्रा० १. २. ११) इत्यादि मन्त्र से घृत की आहुति देनी चाहिए ॥ २४ ॥

'संज्ञप्तायां' तस्यां 'यत्पशुर्मायुमकृतोरोवापद्भिराहत । अग्निर्मा तस्मादेनसो विश्वामुञ्चत्वँ हसः ॥ ११ ॥ (म० ब्रा० १.२.११) इति मन्त्रेण जुहुयात् आज्यमिति शेषः ॥ २४ ॥

पत्नी चोदकामादाय पशोःसर्वाणि स्रोतांसि प्रक्षालयेत।२५।

इसके बाद यजमान की पत्नी जल लेकर संज्ञपित पशु की सभी चक्षु आदि इन्द्रियों को धोए ॥ २५ ॥

विमर्श—'च' का अर्थ है 'और' अर्थात् दर्भ का कूर्च लेकर स्रोतों को धोए। स्रोत स्थान माथे में नेत्र आदि ७, स्तन आदि ४, नाभि १, कटिदेश १ और गुह्यदेश १—ये १४ स्थान हैं। कहा भी है—

सप्त तावन्मूर्धन्यानि तथा स्तनचतुष्टयम्।
नाभिश्रोणिरपानं च गोः स्रोतांसि चतुर्दश ॥ कर्मप्रदीप ३.१०.२।

यहाँ जो गवालम्भन आचार्य ने कहा है वह यह दुधारु गाय नहीं है। बल्कि नील गाय आदि के लिए ऐसा कहा है। यह गाय तो 'अघ्न्या' बध न करने योग्य है। इस गवालम्भन के संदर्भ में श्रीसातवलेकर प्रणीत 'गोज्ञानकोश' और गीता प्रेस से प्रकाशित एतद्विषयक समीक्षा ग्रन्थ देखना चाहिए। इस विषय में याज्ञस्मृति के ३.१०.९ पर 'महोक्षं...' आदि पर मिताक्षरा टीका देखनी चाहिए। पारस्कर-गृह्यसूत्र में भी मधुपर्क में गवालम्भन स्मृति बचन के आधार पर भाष्यकार ने इसे कलिवर्ज्यं कहा है ॥ २५ ॥

'च' अपि तदैव पत्नी यजमानस्य 'उदकम् आदाय पशोः संज्ञप्तस्य 'सर्वाणि स्रोतांसि' चक्षुरिन्द्रियादीनि प्रक्षालयेत् ॥ २५ ॥

अग्रेण नाभिं पवित्रे अन्तर्धायानुलोममाकृत्यपामुद्धरन्ति। २६।

नाभि के समीप पवित्रद्वय को अन्तर्हित कर अनुलोम क्रम से क्षुर से निम्न नाभिगामि कर काटते हुए वपा (मेदस) को निकालना चाहिए ॥ २६ ॥

'अग्रेण नाभिं' नाभेरग्रतः नाभिसमीपे 'पवित्रे' 'अन्तर्द्धाय' 'अनुलोम'

यथा स्यात्तथा 'आकृत्य' क्षरेण निम्नाभिगामी कर्त्तनं कृत्वा, ततः वपां मेदसम् 'उद्धरन्ति' उद्धरेयुः ॥ २६ ॥

ताँ शाखाविशाखयोः काष्ठयोरवसज्याभ्युक्ष्य श्रपयेत । २७ ।

उस (निकृन्त वपा) को शाखा एवं विशाखा नामक पलाश के काष्ठ से निर्मित पात्र में रखकर एक दूसरे के ऊपर संस्थापित कर जल से सींचकर पकावे ॥ २७ ॥

'शाखाविशाखयोः' एतन्नामकपात्रयोः 'काष्ठयोः' पलाशनिर्मितयोः उद्र्ध्वाधोमुखीभावावस्थितयोः आधाराच्छादनयोः मध्ये 'तां' वपां 'अवसज्य' संस्थाप्य 'अभ्युक्ष्य' जलपातैः 'श्रपयेत्' पचेदिति ॥ २७ ॥

प्रश्च्युतितायां विशसथेति ब्रूयात् । २८ ।

साफ की गई उस वपा में 'गाय से चमड़े को निकालो'—ऐसा कहे ॥ २८ ॥

'प्रश्च्युतितायां' प्रक्षालितायां तस्यां वपायां 'विशसथं' गां विगतचर्मा कुरुथ 'इति' ब्रूयात् ॥ २८ ॥

यथा न प्रागग्नेर्भूमिँ शोणितं गच्छेत् । २९ ।

चमड़ा निकालने में सावधानी रखे कि अग्नि के आगे की भूमि पर रुधिर न बह चले ॥ २९ ॥

परं तत्र विशसने सातर्क्यमिदमवालम्ब्यम् 'अग्नेः' 'प्राक्' पुरतः भूमिं 'शोणितं' 'यथा न गच्छेत्' इति ॥ २९ ॥

भृतामभिघार्योदुगुद्वास्य प्रत्यभिघारयेत् । ३० ।

इस वपा के पककर तैयार होने पर उस पर घी का अभिघारण कर अग्नि के उत्तर तरफ संस्थापित कर पुनः उस पर घी छोड़े ॥ ३० ॥

'भृतां' पक्वां वपाम् 'अभिघार्य' घृतेन, 'उदक्' अग्नेः उत्तरतः 'उद्वास्य संस्थाप्य 'प्रत्यभिघारयेत्' पुनर्घृतेनैवाभिघारणं कुर्यात् ॥ ३० ॥

स्थालीपाकावृता वपामवदाय स्विष्टकृदावृतावाष्टकायै स्वाहेति जुहोति । ३१ ।

इसके बाद शीत से कठिन हुई उसको स्थालीपाक की रीति से अथवा स्विष्टकृद् याग की विधि से चाकू से काटकर 'अष्टकायै स्वाहा' मन्त्र से होम करे ॥ ३१ ॥

ततः शैत्येन कठिनीभूतां तां 'वपाम्' स्थालीपाकरीत्या स्विष्टकृद्रीत्या

व अवदानेन अवदाय' कर्त्तयित्वा, कल्पितमंशं गृहीत्वा 'अष्टकायै स्वाहा'— 'इति' मन्त्रेण तत्र 'अग्नौ' 'जुहोति' जुहुयात् ॥ ३१ ॥

स्थालीपाकावृतान्यत् स्थालीपाकावृतान्यत् ॥ ३२ ॥

अन्य अवशिष्ट कर्म स्थालीपाक के नियम से अनुष्ठित होंगे ॥ ३२ ॥

॥ इस प्रकार गोभिलगृह्यसूत्र के तृतीय प्रपाठक के दशम खण्ड की डा० सुधाकर मालवीय कृत 'अनाकुला' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ ३.१० ॥

॥ इस प्रकार तृतीय प्रपाठक समाप्त हुआ ॥ ३ ॥

'अन्यत्' अवशिष्टकार्यजातं 'स्थालीपाकावृता' स्थालीपाकरीत्यैव कुर्यादिति शेषः । द्विर्वचनं प्रपाठकसमाप्तिसूचकमिति ॥ ३२ ॥ ३.१० ॥

॥ इति गोभिलगृह्यसूत्रे तृतीयप्रपाठके दशमखण्डस्य डा० सुधाकर मालवीयकृता सरलाव्याख्या समाप्ता ॥ ३.१० ॥

॥ इति तृतीयःप्रपाठकः समाप्तः ॥

——*——

---

(१) अथात्राष्टका प्रयोगो गृह्यकर्मप्रकाशिकानुसारेण तत्प्रयोगबुभुत्सुनां परिज्ञानायोच्यते—'अष्टका च रात्रिदेवता अग्निदेवता पितृदेवता प्रजापतिदेवता ऋतुदेवता वैश्वदेवी वा । अन्ये तु अग्न्यादयो देवता मतान्तराभिप्रायेण, गोभिलाचार्यस्य तु रात्रिदेवताऽष्टका इति वदन्ति । तत्र सूत्रविरोधः स्पष्ट एव । तच्च कर्म नित्यं पुरुषसंस्कारमध्ये । पठितत्वात् । यदत्र पुष्टिफलं श्रूयते तच्चाऽऽनुषाङ्गिकमिति स्पष्टं भाष्ये । षड्दैवत्यानुसन्धानमात्रं सर्वास्वष्टकासु, न तु निर्वापकाले उक्तदेवतानामुच्चारणम् । सर्वत्राष्टकादेवता । ताश्चाष्टकाश्चतस्रो हेमन्ते मांसयुक्ताः कर्तव्या इति कौत्स ऋषिर्मन्यते । अष्टकात्रयं हेमन्ते कर्तव्यमित्यौद्गाहमानिमतम् । तथैवगौतमवार्कखण्डिमतम् । अस्मदाचार्याणां मते त्वष्टकात्रयमेव, हेमन्ते तस्यैवोत्तरत्रोपदेक्ष्यमाणत्वात् । मध्यमाष्टका च मांससहिता । तिसृणामष्टकानां मध्ये प्रथमा या मार्गशीर्षपौर्णमास्या ऊर्द्ध्वं कृष्णाष्टमी साऽपूपसाध्या अपूपाष्टका ।

पौषपौर्णमास्या ऊर्ध्वं या कृष्णाष्टमी सा मांससाध्या मांसाष्टका । या च माघपौर्णमास्या ऊर्ध्वं कृष्णाष्टमी सा शाकसाध्या शाकाष्टकेत्युच्यते । अष्टकाश्राद्धकरणे

न नान्दीमुखश्राद्धम्, न श्राद्धे श्राद्धमिष्यते इति कर्मप्रदीपस्मरणात्। प्रातर्होमान्ते अपूपाष्टकां करिष्ये इति संकल्प्याग्निमुपसमाधाय पात्रासादनकाले प्रकृतिवत् पात्राण्यासाद्य अपूपाष्टकाकरणार्थं करतलप्रमाणानष्टौ कपालान्यासाद्य चर्वर्थं व्रीहीनपूपार्थं पिष्टान् दृषदं दृषत्पुत्रञ्च समूलं बर्हि परिस्तरणार्थं समूलदर्भांश्चाऽऽसादयेत्। निर्वापकालेतण्डुलान् पिष्टांश्च गृहीत्वा तन्त्रेण निर्वपति। अष्टकायै त्वा जुष्टं निर्वपामि। तन्त्रेणावहत्य प्रक्षाल्य इमे चर्वर्थास्तण्डुला इमे चापूपार्था इति तण्डुलान् विभज्य पिष्टार्थं तण्डुलान् दृषदि संस्थाप्य दृषत्पुत्रेण पिष्टान् करोति।

छिन्ने पिष्टे तथा लूने सान्नाय्ये मार्तिके तथा।
पश्चान्मन्त्राः प्रयोक्तव्या मन्त्रा यज्ञार्थसाधकाः॥ इति।

सुदर्शनभाष्यस्मरणात्, सिद्धे पिष्टे मन्त्रसंस्कारः, ततश्चरुं श्रपयेत्। भाष्यकारमते तु श्रपिते चरौ तच्छेषांस्तण्डुलान् शिलायां पिष्ट्वा अष्टावपूपान् श्रपयेत्, पिष्टैरपूपान् कृत्वा श्रपयति। तत्प्रकारश्च—चरोरुत्तरत अग्नावष्टौ कपालानि संस्थाप्य तेषु परिवर्तनमकुर्वन् अपूपान श्रपयति। अभिघार्य चरुमुद्गुद्वास्य अपूपांश्चोद्गुद्वास्य प्रत्यभिघारयति। आज्यभागान्ते स्रुचि सकृदुपस्तीर्यावदानधर्मेण चरोर्मध्यात् पूर्वार्धाच्चावद्यति। पञ्चार्षेयश्चेत् पश्चार्धाच्च तृतीयमवद्यति। एवमपूपेभ्यः प्रत्येकं प्रत्येकं द्विस्त्रिर्वाऽवदाय सकृभिघार्यं सर्वाणि हवींषि पृथक् पृथक् प्रत्यभिघार्यावदानान्येकीकृत्य 'अष्टकायै स्वाहे'ति जुहोति। इदमष्टकायै न मम। अन्यत् सर्वं पार्वणस्थालीपाकवत् कर्तव्यम्। अपूपैर्ब्राह्मणान् भोजयेत्। इत्यपूपाष्टकाप्रयोगः।

अथ मध्यमाष्टकाप्रयोग उच्यते—यद्यप्यत्र सूत्रकृता गोः संज्ञपनमुल्लिखितम्, तथाऽपि कलिवर्ज्यप्रकरणे गवालम्भस्य निषेधात् तत्प्रतिनिधित्वेन छागस्य स्मरणात्, अत्रैव प्रकरणे सूत्रकारेण शक्तस्य छागेन विहितत्वात् तत्पक्षमवलम्ब्यते। पौष्याः पौर्णमास्या ऊर्ध्वं या कृष्णाष्टमी तस्यां प्रातर्होमान्ते अनुज्ञां कृत्वा मध्यमाष्टकां करिष्ये इति संकल्प्य, सूर्योदयकाल एवाग्नेः पूर्वस्यां दिशि प्रत्यङ्मुखं छागमवस्थाप्योपस्थिते पशौ 'यत् पशव' इति मन्त्रेण स्रुवेणाऽऽज्यं जुहोति। अस्य मन्त्रस्य प्रजापतिर्ऋषिरनुष्टुप् छन्दः पशवो देवताः पशोरुपस्थितिहोमे विनियोगः। ततो मन्त्रः। इदं पशुभ्यो न मम। तत उपविष्टे ब्रह्मणि पात्राण्यासादयति—यवमिश्रोदकं पवित्रे क्षुरमेकशाखाविशाखे, पलाशकाष्ठे बर्हिरिध्ममाज्यं समिधौ स्रुक्स्रुवावाज्यस्थालीमनुगुप्ता अपश्चाऽऽसाद्याऽऽज्यतन्त्रेणाऽज्यसंस्कारान्तं प्रकृतिवत् कुर्यात्। ततः पशुमनामिकाग्रेण स्पृशन् 'अनु त्वा माता'त्यनुमन्त्रयते—अस्य मन्त्रस्य प्रजापतिर्ऋषिरनुष्टुप्

छन्दः पशुदेवताऽनुमन्त्रेण विनियोगः। ततो मन्त्रः। ततो यवयुक्तेन जलेन पशुं प्रोक्षति अष्टाकायै त्वा जुष्टं प्रोक्षामीति सौत्रो मन्त्रः। उल्मुकेन पशुं प्रदक्षिणीकुर्यात् 'परिवाजपतिरि'त्यृचा— अस्याः प्रजापतिर्ऋषिर्गायत्री छन्दोऽग्निर्देवता उल्मुकेन पशुपरिहरणे विनियोगः। तत् ऋक्। पशोः पानार्थं जलं तूष्णीं दद्यात्, व्याहृतिभिरन्ये। पीतशेषमुदकं पशोरधोभागे सिञ्चेन्मन्त्रेण। अस्य मन्त्रस्य प्रजापतिर्ऋषिर्यजुः पशुर्देवता उदकसेचने विनियोगः। 'ॐ आत्तं देवेभ्यो हविः'। अथैनं पशुमुत्तरस्यां दिशि नीत्वा संज्ञपयन्ति। बहुवचनादनियताः शमितारः। ते च देवदैवत्ये पशौ प्राक्शिरसमुदक्पादं पितृदैवत्ये च दक्षिणशिरसं प्रत्यक्पादं संज्ञपयन्ति। मृते पशौ 'यत् पशुरि'तिमन्त्रेण जुहोति —अस्य मन्त्रस्य प्रजापतिर्ऋषिरनुष्टुप् छन्दोऽग्निर्देवता संज्ञप्तहोमे विनियोगः। ततो मन्त्रः। इदमग्नये न मम। ततः पत्नी चोदकमादाय पशोर्मूर्ध्नि सप्त द्वाराणि नाभिं श्रोणिमपानञ्च प्रक्षालयति। नाभेरग्रतः प्रागग्रे पूर्वासादितपवित्रे अन्तर्धाय क्षुरेणानुलोमं छित्वा मांसचर्मणोरन्तरवर्तिनीं वपामुद्धरन्ति। तत उद्धृतां वपां पूर्वासादितशाखाविशाखयोः प्रसार्याभ्युक्ष्याग्नौ श्रपयेत्। ततः पक्वायां वपायां यथा न प्रागग्नेर्भूमिं शोणितं गच्छेत् तथा विशसथेति सम्प्रेषणं यजमानोऽन्यान् प्रति वदेत्। एतेनाग्नेः पूर्वस्यां दिशि विशसनं ज्ञायते। शृतां वपामभिघार्योद्वास्य प्रत्यभिघारयेत्। ततः स्रुचि सकृदुपस्तीर्य कृत्स्नां वपां क्षुरेणावदाय द्विरभिघारयति त्र्यार्षेयाणाम्। पञ्चार्षेयाणान्तु द्विरुपस्तीर्य कृत्स्नां वपामवदाय द्विरभिघारयति। ततोऽष्टकायै स्वाहेति वपां जुहोति। इदमष्टकायै न मम। ततोऽन्यत् कर्म स्थालीपाकवत् कर्त्तव्यम्। ततोऽग्नेरुत्तरतो व्रीहीन् उलूखलं मुषलं शूर्पं चरुस्थालीं पवित्रे मेक्षणद्वयं क्षुरं कांस्यपात्रत्रयं प्लक्षशाखायुक्तं प्रस्तरञ्चाऽऽसादयेत्। अत्र पात्राणां द्वन्द्वश आसादनम्। ततः सर्वाण्यङ्गानि गृहीत्वाऽग्नौ श्रपयेत्। वामं सक्थि क्लोमानञ्च वक्ष्यमाणान्वष्टक्याय स्थापयेत्।

अवत्तान्यङ्गानि बृहत्कांस्यपात्रे निक्षिप्य प्रकृतगृह्याग्नौ श्रपयति। अस्मिन्नेव क्रमे अष्टकायै त्वा जुष्टं निर्वपामीति व्रीहीन् निरूप्यावहत्य त्रिः फलीकृत्य प्रक्षाल्य श्रपयति। ततः शृतमोदनचरुं मांसचरुञ्च प्रादक्षिण्येन पृथङ् मेक्षणाभ्यां मिश्रीकरोति। यद्यपि पशोः शामित्राग्नौ श्रपणमुपदिष्टं तथाप्यत्र 'तस्मिन्नेवाग्नौ श्रपयती'ति सूत्रकृदुक्तेर्गृह्याग्नौ श्रपणं न तु तस्माद्धृतेऽग्नौ। ततः शृतं चरुद्वयमभिघार्योदगुद्वास्य प्रत्यभिघारयेत्; अस्मिन् क्रमे परिसमूहनादि समिदाधानान्तं कर्म कुर्यात्। ततः पूर्वासादिते एकस्मिन् कांस्यपात्रे मांसरसमवनयति। ततोऽग्नेः पश्चात् पूर्वासादिते बर्हिषि प्लक्षशाखां प्रागग्रां निधाय तस्मिन् कांस्ये मांसावदानानि स्थापयति। अथवा प्लक्षशाखायुक्तप्रस्तरं प्रागग्रमस्मिन् एव काले अग्नेः पश्चान्निधाय तस्मिन् मांसावदा-

नान्यासादयति प्रागपवर्गम् । ततोऽन्यस्मिन् कांस्यपात्रे द्वादशानामवदानानां पृथक् पृथगवदानधर्मेणावदानं कुर्यात् । पुनरन्यस्मिन् पात्रे स्विष्टकृद्धोमार्थं सर्वेभ्योऽङ्गेभ्य उत्तरार्धपूर्वार्धेभ्यः पृथक् पृथगवद्यति । अत्रोपस्तरणादिकं प्रकृतिवत् । ओदनचरोरप्यवदानधर्मेण पूर्ववदेव पात्रे बिल्वफलप्रमाणमवदानम् । उत्तरार्धात् पूर्वार्धाच्च स्विष्टकृदर्थमोदनचरोरपि स्विष्टकृत्पात्रेऽवदानम् । ततः स्विष्टकृद्होमावदानं परिहाय पूर्वगृहीतैर्मांसावदानैः सह रसमप्येकी कुर्यात् । तत आज्यभागौ हुत्वा चतुर्गृहीतमाज्यं गृहीत्वा 'अग्नावग्निरि'ति प्रथमया ऋचा जुहुयात् पञ्चार्षेयाणाम् । त्र्यार्षेणामपि चतुर्गृहीतमेवात्र पूर्ववद् विशेषाभावात्, चतुर्गृहीतमाज्यं गृहीत्वेत्यत्र विशेषोपदेशाच्च । अस्य मन्त्रस्य प्रजापतिऋ॑षिर्विराट् त्रिष्टुप् छन्दोऽग्निर्देवताहोमे विनियोगः । मन्त्रः—इदमग्नये न मम । ततः प्रथमपात्रे यद्गृहीतं मांसजातं तस्मात् तृतीयांशं हस्तेन गृहीत्वा स्रुचि संस्थाप्य द्वितीयतृतीभ्यामृग्भ्यां जुहोति । अनयोः प्रजापतिऋ॑षिस्त्रिष्टुप् छन्दोऽष्टका देवता होमे विनियोगः । मन्त्रौ । इदमष्टकायै न मम । ततस्तस्मादेव मांसजातादेकमंशं हस्तेन गृहीत्वा स्रुचि निधाय चतुर्थीपञ्चमीभ्यामृग्भ्यां जुहोति । अनयोः प्रजापतिऋ॑षिस्त्रिष्टुब्-बृहती छन्दसी अष्टका देवता होमे विनियोगः । मन्त्रौ । इदमष्टकायै न मम । पुनस्तस्मिन्नेवावशिष्टं मांसजातं हस्तेनाऽदाय स्रुचि निधाय षष्ठीसप्तमीभ्यामृग्भ्यां जुहोति । अनयोः प्रजापतिऋ॑षिर्बृहती छन्दोऽष्टका देवता होमे विनियोगः । मन्त्रौ । इदमष्टकायै न मम । ततः पात्रान्तरे स्विष्टकृदर्थमवदाय यत् स्थापितं तत् सर्वं हस्तेन स्रुचि संस्थाप्याष्टम्यर्चा उत्तरार्धपूर्वार्धे जुहोति । अस्य मन्त्रस्य प्रजापतिऋ॑षिरनुष्टुप् छन्दोऽग्निर्देवता होमे विनियोगः । ततो मन्त्रः । इदमग्नये स्विष्टकृते ततो न मम । व्याहृतिहोमादि तन्त्रशेषं पार्वणस्थलीपाकवत् समापयेत् ।

छागस्यासम्भवे स्थालीपाकः कर्तव्यः । तस्य प्रयोगः—पशोः स्थाने स्थालीपाकं करिष्ये इति सङ्कल्प्य पात्रासादनकाले प्रकृतिवत् पात्राण्यासाद्य चरुस्थालीद्वयमोदनचर्वर्थं मांसस्थानीयपायसचर्वर्थञ्च शूर्पद्वयं तण्डुलान् पयश्च कांस्यपात्रत्रयं प्लक्षशाखां मेक्षणद्वयञ्चाऽऽसादयेत्, निर्वापकाले अष्टकायै त्वा जुष्टं निर्वपामीत्यादि तण्डुलप्रक्षालनान्तकृत्वा अन्यशूर्पस्थितपायसचर्वर्थंतण्डुलान् पुरस्तादग्नेः संस्थाप्य यवोदकेनाष्टकायै त्वा जुष्टं प्रोक्षामीति प्रोक्ष्य गृह्याग्नेरङ्गारमादाय पशुवत् 'परि वाजपतिरि'ति तण्डुलानामुपरि भ्रामयेत् । एतत् पर्यग्निकरणम् । ततः पर्यग्निकृतानामवहननादि कुर्यात् । अत्र तण्डुलानामेकदेशं गृहीत्वा अन्वष्टक्यार्थमन्यत्र स्थापयेत् । ओदनचरुमन्यस्थाल्यां पायसचरुञ्चान्यस्थाल्यां दक्षिणतः पूर्वस्याधिश्रयणमुत्तरतोऽपरस्य । पृथङ् मेक्षणाभ्यां मिश्रीकरोति । ततः कांस्यपात्रे पायसचरो-

रास्रावणम् । ततोऽभिघारादि । अग्नेः पश्चाद् बर्हिष्योदनचरुमासाद्य प्लक्षशाखा-युक्ते प्रस्तरे पायसचरोर्द्वादश पिण्डान् कृत्वासादयेत् । आज्यभागान्ते मांसावदानवद् द्वादशपिण्डेभ्य एकस्मिन् कांस्यपात्रेऽवदानधर्मेणावदाय मांसाष्टकावदोदनचरुमप्येवं बिल्वफलमात्रं मेक्षणेनावदाय स्विष्टकृदर्थमन्यऽस्मिन् कांस्यपात्रे बिल्वमात्रमवदाय स्रुचि गृहीत्वा मांसावदानहोमवदष्टर्चेन होमं कुर्यात्, अन्यत् सर्वं प्रकृतिवत् । अत्र पशोः स्थाने पायसचरोर्विधानेऽपि पशूपस्थितहोमप्रभृतिवपाहोमान्तानां पदार्थानां निवृत्तिः । एवमनुमन्त्रणासेचन-संज्ञप्तिहोममन्त्राणामपि निवृत्तिरेव । प्रोक्षणमन्त्रस्तु स्थालीपाकपक्षेऽप्यविरोधात् स्यादेव । स्थालीपाककरणेऽप्यशक्तौ स्वस्या अन्यस्या वा गोर्यथासम्भवं ग्रासम् 'एषामेऽष्टका' इत्येतावता मन्त्रेण दद्यात्, तत्राप्यशक्तौ वनं गत्वा कक्षमुपसमाधाय 'एषामेऽष्टका' इति मन्त्रं पठेत् । उक्तानां पक्षाणामन्यतम-माश्रित्य प्रत्यब्दमष्टका कर्त्तव्यैव । केचित्तु कलौ पैतृके कर्मणि पशुबन्धस्य निषेधात् स्थालीपाकपक्ष एव मुख्य इति वदन्ति ।

---*---

अथ चतुर्थ प्रपाठकस्य
प्रथमा कण्डिका

अनुप्रहरति वपाश्रपण्यौ प्राचीमेकशूलां प्रतीचीमितराम् । १ ।

* अनाकुला *

वपा होम के अनन्तर वपाश्रपण के साधनभूत उन पूर्वोक्त दोनों शाखा-विशाखा को उसी अग्नि में इस प्रकार डाल दे कि एकशूला (=शाखा) पूर्वाग्रा हो और दूसरी दूसरी (विशाखा) पश्चिमाग्रा हो ॥ १ ॥

विमर्श—वपा पकाने के लिए पलाश-काष्ठ निर्मित शाखा विशाखा होता है। उनमें से एक नीचे होता है और एक ऊपर ढका रहता है। इनमें से ऊपर वाले पात्र को 'शाखा' या 'एकशूला' भी कहते हैं। इसमें वपा रक्षित होती है। उसके ऊपर ढकने के लिए नीचे मुँह रक्खे पात्र को 'विशाखा' कहते हैं ॥ १ ॥

* सरला *

'अनु' पश्चात्, वपाहोमान्तरमिति यावत् । 'वपाश्रपण्यौ' वपाश्रपणसाधन्यौ ते पूर्वोक्ते शाखाविशाखे 'प्रहरति' परिहरेत, प्रक्षिपेत् । क्व ? पूर्वोक्तन्यायात् तत्रैवाग्नौ । तत्र च प्रहरणेऽयं नियमः,—'एकशूलां' शाखानामिका वपाश्रपणी 'प्राचीं' प्रागग्राम्, 'इतराम्' अपरां विशाखानाम्निका वपाश्रपणीं 'प्रतीचीं' प्रत्यगग्राम्, प्रहरेदिति योज्यम् ॥ १ ॥

अवद्यन्त्यवदानानि सर्वाङ्गेभ्योऽन्यत्र वामाच्च सक्थनः क्लोम्नश्च । २ ।

वाम सक्थि और क्लोम को छोड़कर सब अङ्गों से टुकड़े काट-काट कर मांस ग्रहण करे ॥ २ ॥

'वामात्' सक्थनः, 'क्लोमनः च', अन्यत्र, वामसक्थि क्लोम च वर्जयित्वा अन्येभ्यः सर्वाङ्गेभ्यः' 'अवदानानि' मांसानि 'अवद्यन्ति' क्षुरेण खण्डखण्डी कुर्वन्ति ॥ २ ॥

वामँ सक्थ्यन्वष्टक्याय निदध्यात् । ३ ।

समस्त वाम सक्थि को अष्टका कर्म के लिए रक्खे (उसे टुकड़े टुकड़े न करे ।। ३ ।।

तदखण्डितं 'वामं सक्थि' अन्वष्टक्याय अनुपदवक्ष्यमाणाय कर्मणे निदध्यात् संस्थापयेत् ।। ३ ।।

तस्मिन्नेवाग्नौ श्रपयत्योदनचरुञ्चमाँ सचरुञ्चपृथङ्मेक्षणाभ्यां प्रदक्षिणमुदायुवन् । ४ ।

उसी (एक ही) अग्नि में भात-चरु और मांस चरु दोनों को पकावे किन्तु दोनों को अलग-अलग कलछुल से दादिने ओर से ऊपर नीचे करके चलाते हुए पकावे ।। ४ ।।

'तस्मिन्नेव' एकस्मिन् 'अग्नौ' 'ओदनचरुञ्च मांसचरुञ्च' उभावेव चरू 'पृथङ्मेक्षणाभ्यां पृथक्पृथक्स्थापिताभ्यां मेक्षणाभ्यां 'प्रदक्षिण' दक्षिणावर्त्तेन मोक्षणं चालनं यथा स्यात्तथा 'उदायुवन्' ऊर्ध्वमोषन्मिश्रयन् 'श्रपयति' श्रपयेत् पचेदिति ।। ४ ।।

शृतावभिघार्योदगुद्वास्य प्रत्यभिघारयेत् । ५ ।

अच्छी प्रकार से दोनों के पक जाने पर उमें घी का सिंचन करे और अग्नि के उत्तर को ओर उतार कर पुनः घी का अभिघारण करे ।। ५ ।।

'शृतौ' तौ चरू 'अभिघार्य' घृतेन, 'उदक्' अग्नेरुत्तरतः 'उद्वास्य' 'प्रत्यभिघारयेत्' घृतेनैव ।। ५ ।।

कंसे रसमवासिच्य प्लक्षशाखावतिप्रस्तरेऽवदानानिकृत्वा स्थालीपाकावृतावदानानां कँसेऽवद्यति स्विष्टकृतश्च पृथक् । ६ ।

मांस के यूष (रस) को एक अलग कांसे के बर्तन में उड़ेल कर रख ले और मांस आदि को पलाश की शाखा से निर्मित आच्छादन विशिष्ट वाली पत्थर की कुंडी में रक्खे । यूष (रस) हीन मांसखण्ड की टुकड़े-टुकड़े कर उसे स्विष्टकृत याग के लिए दूसरे बर्तन में रक्खे ।। ६ ।।

मांसचरुस्थालीतः निचोड्य 'रस' मांसयूष 'कंसे' कांस्यपात्रे 'अवासिच्य' पातयित्वा 'प्लक्षशाखावति' प्लक्षशाखानिर्मिताच्छादनविशिष्टे 'प्रस्तरे' प्रस्तरनिर्मितकुण्डे 'अवदानानि' यूषहीनमांसखण्डानि 'कृत्वा' स्थापयित्वा 'च' अपि 'स्विष्टकृतः' स्विष्टकृद्यागार्थं 'पृथक् कंसे' पूर्वस्थापित-

यूषाधारातिरिक्तकांस्यापात्रे स्थालीपाकरीत्या 'अवदानानां' मांसानां किञ्चिदंशम् 'अवद्यति' सङ्कृत्य गृह्णाति ॥ ६ ॥

चरोरुद्धृत्य बिल्वमात्रमवदानैः सह यूषण सन्नयेत् ॥ ७ ॥

भात की चरुस्थली से बेल के बराबर मात्रा में चरु लेकर पत्थर की कूड़ी में रक्खे और मांस के खण्ड के साथ कांसे के पात्र में रक्खे यूष का इसमें मिलावे ॥ ७ ॥

ओदनचरुस्थालीतः 'बिल्वमात्र' बिल्वप्रमाणं 'चरोः' अंशम् 'उद्धृत्य' 'अवदानैः' प्लक्षशाखाच्छादितप्रस्तरपात्रस्थितैः मांसखण्डैः 'सह' 'यूषेण' कांस्यपात्रस्थेन मांसरसेन 'सन्नयेत्' एकीकुर्यात् तत्रैव यूषमध्ये एव स्थापयेदिति ॥ ७ ॥

चतुर्गृहीतमाज्यं गृहीत्वाष्टर्चंप्रथमया जुहुयादग्नावग्निरिति ॥ ८ ॥

पूर्वोक्त विधि से चार बार ग्रहण किए गए घृत को लेकर 'अग्नावग्नि' (म० ब्रा० २. २. १२-१८) आदि आठ मन्त्रों में से 'अग्नावग्निश्चरति' आदि प्रथम ऋचा से होम करे ॥ ८ ॥

'चतुर्गृहीतम् आज्यम्' (पूर्ववत्) गृहीत्वा 'अष्टर्चंप्रथमया' अष्टानामृचां समाहारोऽष्टर्चं (म० ब्रा० २. २. १२-१८), तत्र या प्रथमा ऋक् तया 'अग्नावग्निश्चरति प्रविष्ट ऋषीणां पुत्रो अधिराज एषः। स नः स्यो नः सुयजा यजा च यथा देवानां जनिमानि वेद' ॥ १२ ॥ (म० ब्रा० २. २. १२)—'इति' 'अनया जुहुयात्' गृहीतं तत ॥ ८ ॥

सन्नीतात् तृतीयमात्रमवदाय द्वितीयातृतीयाभ्यां जुहोत्युत्तरस्यां स्वाहाकारं दधात्येवमेवावरे चतुर्थीपञ्चमीभ्यां षष्ठीसप्तमीभ्याञ्च शेषमवदायसौविष्ठकृतमष्टम्यां जुहुयात् ॥ ९ ॥

पूर्वोक्त बेल के बराबर परिमाण का ओदन चरु मांस के साथ मिलाकर यूष (—रस) में जो रखा गया था उसमें से एक तिहाई लेकर द्वितीय 'ओलूखलाः' और तृतीय 'इडायास्पद' (म० ब्रा० २. २. १३-१४) मन्त्र से एक आहुति देनी चाहिए। तृतीय आहुति के अन्त में स्वाहा शब्द का प्रयोग करे। इसके बाद दो तिहाई चरु भी, चतुर्थ 'एषैव सा या पूर्वा' और पञ्चम 'एषैव सा या प्रथमा' (म० ब्रा० २. २. १५-१६) मन्त्र से एवं छठे और सातवें 'यां देवाः प्रति' और 'संवत्सरस्य

प्रतिमां' (म० ब्रा० २. २. १७–१८) आदि मन्त्र से आहुति देवे। शेष मन्त्रों के अन्त में 'स्वाहा' शब्द लगाकर यथाक्रम दो आहुति देनी चाहिए। अन्त में आठवां मन्त्र 'अन्वियन्नो अनुमति' (म० ब्रा० २. २. १९) पढ़कर स्विष्टकृत याग के लिए पूर्व गृहीत मांस के टुकड़ों से होम करे॥ ९॥

'सन्नीतात्' (पूर्वोक्तात) यूषपात्रे नीतात् बिल्वप्रमाणात् ओदनचरोः 'तृतीयमात्रम्' एकतृतीयांशम् 'अवदाय' कर्त्तयित्वा 'द्वितीया तृतीयाभ्याम्'

'औलूखलाः सम्प्रवदन्ति ग्रावाणो हविष्कृण्वन्तः परिवत्सरीणाम्।
एकाष्टके सुप्रजसः सुवीरा ज्योग् जीवेम बलिहृतो वयं ते॥ १३॥
इडायास्पदं घृतवत्सरीसृपं जातवेदः प्रतिहव्या गृभाय।
ये ग्राम्याः पशवो विश्वरूपास्ते षां सप्तानां मयि रन्ति रस्तु (स्वाहा)॥ १४॥ (म० ब्रा० २.२.१३ १४)

इत्येताभ्यामृग्भ्यां 'जुहोति' जुहुयात्। तत्र च 'उत्तरस्याम्' तृतीयायाम् 'इडायास्पदम्' इत्येतस्याम् एव अन्ते 'स्वाहाकारं दधाति' स्वाहापदं प्रयुंज्यात्। 'अवरे' अपरे द्वे तृतीयमात्रे 'चतुर्थी-पञ्चमीभ्याम्'।

'एषैव सा या पूर्व्वा व्यौच्छत् से यमप्स्वन्तश्चरति प्रविष्टा।
वधूर्जिगाय प्रथमा जनित्रीविश्वे ह्यस्यां महिमानो अन्तः॥ १५॥
एषैव सा या प्रथमा व्यौच्छत् सा धेनूरभवद्विश्वरूपा।
संवत्सरस्य या पत्नी सा नो अस्तु सुमङ्गली' (स्वाहा)॥ १६॥
(म० ब्रा० २. २. १५–१६)

इत्येताभ्याम् ऋग्भ्यां षष्ठी सप्तमीभ्याम्।

'यां देवाः प्रतिपश्यन्ति रात्रीं धेनुमिवायतीम्।
सा नः पयस्वती दुहा उत्तरा मुत्तरां समाम्॥ १७॥
संवत्सरस्य प्रतिमां यां त्वारात्रि यजामहे।
प्रजा मजार्यां नः कुरु रायस्पोषेण सं सृज' (स्वाहा)॥ १८॥
(म० ब्रा० २. २. १७–१८)

इत्येताभ्यां जुहुयादिति। 'सौविष्टकृतम्' स्विष्टकृदर्थं 'शेषम्' इत्येताभ्यामृग्भ्यां 'च' एवमेव 'उत्तरस्यां स्वाहाकार'–इत्येतन्नियमेनैव स्थालीपाकरीत्या यद्गृहीतम्, तत 'अवदाय' गृहीत्वा अष्टम्या।

'अन्वियन्नो अनुमतिर्यज्ञं देवेष मन्यताम्।
अग्निश्च हव्यवाहनः स नोऽदाहाद्दाशुषे मयः॥ १९॥
(म० ब्रा० २. २.१९)

इत्यनयर्चा 'जुहुयात्'॥ ९॥

यद्युवा अल्पसम्भारतमः स्यादपि पशुनैव कुर्वीतापि वा स्थालीपाकं कुर्वीतापि वा गोग्रासमाहरेदपि वारण्ये कक्षमुपाधाय ब्रूयादेषामेष्टकेति—न त्वेव न कुर्वीत न त्वेव न कुर्वीत । १० ।

।। इति भट्टनारायणकृतौ गोभिलगृह्यसूत्रस्य चतुर्थप्रपाठकस्य प्रथमा कण्डिका ।। ४.१ ।।

——*——

यदि अल्प सामग्री हो, तो भी पशु-मांस (अर्थात् सात प्रकार के ग्राम्य पशुओं में से कोई एक) से अष्टका कर्म सम्पादित करना चाहिए। यदि पशु-मांस से अष्टका कर्म न कर सके तो (गोभिल मत से) स्थालीपाक से ही कर्म सम्पादित करे। यदि दोनों का अभाव हो तो गौ को ग्रास देने से भी कर्म का अनुष्ठान सम्भव है। यदि वह भी न कर सके तो वन में जाकर दोनों हाथ ऊपर उठाकर कहे कि—'यही हमारा मांसाष्टका कर्म है।' किन्तु मांसाष्टका कर्म अवश्य करे ।। १० ।।

विमर्श—'न त्वेव कुर्वीत'—यह पुनः कथन प्रपाठक समाप्ति का द्योतक है। तृतीय प्रपाठक यहीं पर समाप्त होना चाहिए। क्योंकि गोभिलाचार्य प्रपाठक के अन्त में सूत्र की द्विरुक्ति करते हैं। चतुर्थ प्रपाठक इसके बाद से प्रारम्भ होना चाहिए ।। १० ।।

।। इस प्रकार गोभिलगृह्यसूत्र के चतुर्थ प्रपाठक के प्रथम कण्डिका की डा० सुधाकर मालवीय कृत 'अनाकुला' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ।। ४.१ ।।

'यदि' 'उ' अपि 'वै' निश्चयेन 'अल्पसम्भारतमः' अत्याल्पायोजनः पुरुषः स्यात्, 'अपि' तथापि 'पशुना' सप्तानां ग्राम्याणां पशूनामन्यतमेन येन केनापि 'कुर्वीत' 'एव' सम्पादयीतैव एतामष्टकाम्। अपि वा पश्वभावेऽपि 'स्थालीपाकं 'कुर्वीत' एव। 'अपि वा स्थालीपाककरणसामर्थ्याभावेऽपि गोग्रासम् आहरेत्' एतेनापि सिद्धेन्नामाष्टकाकृत्यम्। अपि वा 'अरण्ये' 'कक्षम् उपाधाय' कक्षं दर्शयित्वा, ऊर्ध्वबाहुर्भूत्वेति यावत्, एषा म अष्टका'—'इति' 'ब्रूयात्' एतेनामपि सिद्धेन्नामाष्टकाकृत्यम्। 'तु' प्रत्युत गोपश्वलाभे मांसाष्टकां 'न कुर्वीत'— इति 'न एव'।

नेति नेति प्रतिषेधार्थीयौ द्वौ प्रतिषेधौ प्रकृतमर्थं गमयतः। न न कुर्वीत अपि तु कुर्वीतैव अवश्यं कुर्यादित्यर्थः। अभ्यासः प्रकरणपरिसमाप्त्यर्थः। अथवा अष्टकालोपे दोषगुरुत्वप्रज्ञापनार्थः अविलोपे च फलभूयस्त्व-

प्रज्ञापनार्थोऽभ्यासः। तथा च यास्केनोक्तम् 'अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्त' इति[1]। अथवा सूत्रद्वयमेतत्, तत्र पूर्वस्य यथोक्त एवार्थः उत्तर चोत्तरेण सह सम्बध्यते। न त्वेव न कुर्वीत श्वस्ततोऽन्वष्टक्यमिति। तेन किम्? स्थालीपाकपक्षेऽप्यन्वष्टक्यमवश्य कुर्यादिति दर्शयति, इतरथा पश्वभावे सक्थ्याद्यभावादस्य लोपो मा भूदिति। अतश्चरुद्रपक्षेऽप्यन्वष्टक्यस्यावश्य-कर्त्तव्यत्वद्योतनार्थोऽभ्यासः।

तथाचोक्तम्—

ओदनव्यञ्जनार्थन्तु पश्वभावेऽपि पायसम्।
सद्रव्यं श्रपयेत् तद्वदन्वष्टक्येऽपि कर्मणि[2]॥ इति।

द्विर्वचनं प्रपाठक समाप्तिद्योतकमिति समाप्ता मांसाष्टका॥ १०॥

॥ इति गोभिलगृह्यसूत्रे चतुर्थप्रपाठके प्रथमकण्डिकाया डा० सुधाकर मालवीयकृता सरलाव्याख्या समाप्ता॥ ४.१॥

——*——

(१) यास्कोक्तिरियं प्रमाणत्वेनोपन्यस्ता चन्द्रकान्तेनापि स्वभाष्ये।

(२) कर्मप्रदीपः ३।१०।८। अत्र 'ऊहनव्यञ्जनार्थमिति' 'वज्रवासो' मुद्रितः पाठः।

अथाऽऽश्वयुजीकर्माग्रहायणकर्माष्टकाकर्मणां विषये यदुक्तं गृह्यान्तरेषु तदत्र संगृह्य यथासम्भवमुपस्थाप्यते। तत्र —छन्दोग-द्राह्यायण-खादिर-गृह्याणां प्रायः समानुपूर्वीकाणि सूत्राणि—

आश्वयुजीं रुद्राय पायसः। मानस्तोके इति जुहुयात्। पयस्यवनयेदाज्य तत् पृषातकम्। तेनाभ्यागता गा उक्षेद् आ नो मित्रावरुणेति। वत्सांश्च मातृभिः सह वासयेत् तां रात्रिम्। नवयज्ञे पायस ऐन्द्राग्नः। शतायुधायेति चतसृभिराज्यं जुहुयादुपरिष्टात्। अग्निः प्राश्नात्विति च। तस्य शेषं प्राश्नीयुर्यावन्त उपेताः। उपस्तीर्यापो द्विर्नवस्यावद्येत्। त्रिर्भृगुणाम्। अपां चापरिष्टात्। भद्रान्न इत्यसंस्वाद्य प्रगिरेत् त्रिस्त्रिः। एतमुत्यमिति वा यवानाम्। अमोऽसीति मुख्यान् प्राणानभिमृशेत्। आग्रहायणं कर्म श्रावणेन व्याख्यातम्। नमः पृथिव्या इति न जपेत्। प्रदोषे पायसस्य जुहुयात् प्रथमेति। न्यञ्चौ पाणी कृत्वा प्रतिक्षत्र इति

जपेत्। पश्चादग्नेः स्वस्तरमुदग्रैस्तृणैरुदक्प्रवणमास्तीर्य तस्मिन्नास्तरेणे गृहपतिरास्ते। अनुपूर्वमितरे। अनन्तरा भार्या पुत्राश्च। न्यञ्चौ पाणी कृत्वा स्योनेति गृहपतिर्जपेत्। समाप्तायां दक्षिणैः पार्श्वैः संविशेयुस्त्रिस्त्रिरभ्यात्ममावृत्य। स्वस्त्ययनानि कुर्युः। ततो यथार्थं स्यात्। ऊर्ध्वमाग्रहायण्यास्तिस्रस्तामिस्राष्टम्योऽष्टका इत्याचक्षते। तासु स्थालीपाकाः। अष्टौ चापूपाः प्रथमायाम्। तानपरिवर्तयन् कपाले श्रपयेत्। उत्तमायां शाकमन्वाहार्यं। अष्टकायै स्वाहेति जुहुयात्। मध्यमायां गौः। तां पुरस्तादग्नेः प्रत्यङ्मुखीमवस्थाप्य जुहुयाद् यत् पशव इति। हुत्वा चानुमन्त्रयेतानु त्वेति। यवमतीभिरद्भिः प्रोक्षेदष्टकायै त्वा जुष्टां प्रोक्षामीति। प्रोक्ष्योल्मुकेन परिहृत्य प्रोक्षणीः पाययेत्। उदङ्ङुत्सृप्य प्रत्यक्छिरसीमुदक्पादीं संज्ञपयेत्। संज्ञप्तायां जुहुयाद् यत् पशुरिति। तस्याः पत्नी स्रोतांसि प्रक्षालयेत्। पवित्रे अन्तर्धायोत्कृत्य वपामुद्धारयेत्। यज्ञियस्य वृक्षस्य विशाखा-शाखाभ्यां परिगृह्याग्नौ श्रपयेत्। प्रसृतायां विशसेत्। उक्तमुपस्तरणाभिघारणं यथा स्विष्टकृतः। अष्टकायै स्वाहेति जुहुयात्। सर्वाङ्गेभ्योऽवदानान्युद्धारयेत्। न सव्यात् सक्थ्नः। न क्लोम्नः। सव्यं सक्थि निधाय। पृथङ्मेक्षणाभ्यामवदानानि स्थालीपाकञ्च श्रपयित्वा। कंसे रसं प्रस्राव्य। प्लक्षशाखास्ववदानानि कृत्वा। एकैकस्मात् कंसे अवद्येत्। स्थालीपाकाच्च। चतुर्गृहीतमष्टगृहीतं वाऽत्र जुहुयादग्नाविति। कंसात् पराभिर्द्वाभ्यां द्वाभ्यामेकैकामाहुतिम्। सौविष्टकृतीमष्टम्या। वह वपामिति विज्ञेये वपाहोमः। जातवेद इति दैवत्ये। तदादेशमनाज्ञाते। यथाऽष्टकाया इति। पशुरेव पशोर्दक्षिणा। स्थालीपाकस्य पूर्णपात्रम्। इति।

जैमिनिगृह्यसूत्राणि च — नवेन यक्ष्यमाणः पुराणेनाग्रे यजेताग्निधन्वन्तरी प्रजापतिमिन्द्रं तिस्रश्च नवाहुतीर्नवेन यजेत शरदि व्रीहीणां वसन्ते यवानां वर्षासु श्यामाकानामैन्द्राग्नो वैश्वदेवो द्यावापृथिव्यश्चरव एकचरुर्वोक्त एवोपस्तरणाभिघारण द्विर्हविषोऽवद्यति अथ प्राश्नीयात् भद्रान् नः श्रेयः समनैष्ट देवायतयावसेन समशीमहि त्वा। स नो मयोभूः पितो आविशस्व श तोकाय तनुवे स्योन इति, एतमुत्यं मधुना संयुतं यवं सरस्वत्या अधिमना वचर्कृषुः। इन्द्र आसीत् सीरपतिः शतक्रतुः कीनाशा आसन् मरुतः सुदानव इति यवस्य प्राश्नीयात्। अग्निः प्रथमः प्राश्नातु स हि वेद यथा हविः। शिवा अस्मभ्यमोषधीः कृणोतु विश्वचर्षणीरिति श्यामाकस्य प्राश्नीयात् प्राश्नीयात्।

ऊर्ध्वमाग्रहायण्यास्त्रयोऽपरपक्षास्तेषामेकैकस्मिन् एकैकाऽष्टका भवति। शाकाष्टका मांसाष्टकाऽपूपाष्टकेति। तत्र शाकमांसापूपानि हवींष्योदनञ्च तेषां हविः स्वस्थाली-

पाकावृता अग्नौ जुहुयादष्टकायै स्वाहा, एकाष्टकायै सुराधसे स्वाहा संवत्सराय परिवत्सरायेदावत्सरायेद्वत्सरायावत्सराय कृणुता नमोभिः। त्वया वयं सुमतौ यज्ञियानां ज्योग् जीता अहताः स्याम स्वाहेति हुत्वोपतिष्ठते—एहि भगैहि भगैहि भगेति, मध्यमायां गां कारयेत् तामष्टकायै प्रोक्षेत् तस्यास्त्रीणि सव्यान्युपोद्धरति पार्श्वमपवनीं श्रोणीमिति, श्वोभूते श्राद्धमन्वष्टक्यं तदहर्वा ब्राह्मणान् हविरर्हानुपवेश्य तांस्तर्पयित्वा तस्मादग्नेर्दक्षिणतः षडग्नीन् प्राणीय तेषामेकैकस्मिन्नेकैकां कर्षूं खानयेदायामेन प्रादेशमात्रीं पार्थिवेन त्र्यङ्गुलामवाग् वैकाङ्गुलामिति, तासु पिण्डान् निदधात्यनु नामापहस्तेन मज्जाः पितृभ्यः उपकर्षति; पार्श्वानि स्त्रीणां तत्राध्वर्यव। केचिदधीयते मध्यमं पिण्डं पत्नी प्राश्नीयात् प्रजाकामस्य तथा श्राद्धस्य स्थालीपाकं वा श्राद्धस्य स्थालीपाकं वा। इति।

लौगाक्षिकाठकगृह्योश्च—आग्रहायण्यामेतान्येव चत्वारि हर्वींष्यासादयेद् यानि श्रावण्यां यवमयस्त्वपूपः। एवावन्दस्वेत्यपूपस्य जुहोति। उप ते गा इति स्थालीपाकस्य। उक्तं धानासक्तूनाम्। अवते हेड इति वारुणोभरभिजुहुयात् नित्याभिश्च त्वामग्ने वृषभं चेकितानं संवत्सरस्य प्रतिमामिति च। उदग्दशमास्तरणमास्तीर्य शिरस्त उदकंनिधाय व्रीहियवानोप्य आपो हिष्ठीयाभिः शय्यामभ्युक्ष्य त्रातारमिन्द्रमिति शमीशाखायां शय्यां निर्मार्ष्टि। ऐन्द्राग्नं वर्मेत्यहतं वासः परिधाय स्यो ना पृथिवीति दक्षिणेन पार्श्वेन संविशति ज्योतिष्मतीत्यन्तेन। अम्युणाक्षिद सवेशनान्तमेवं द्विरुत्तरम्। चैत्र्यामुद्रोहणमुपरि शय्या नात्र स्थालीपाको न शाखया निर्मार्ष्टि। तिस्रोष्टकाः पितृदेवत्याः। ऊर्ध्वमाग्रहायण्यास्त्रयस्तामिस्रास्तेष्वष्टमीष्वष्टका यज्ञाः। प्रथमां शाकेन द्वितीयां मांसेन तृतीयामपूपैः। ऋतूनां पत्नीति षड् द्वे द्वे स्थालीपाकस्य जुहोति। देवा ग्रावाण इति सर्वत्र तृतीया। इयमेवेत्यनुवाकेन पञ्चभिः पञ्चभिरभिजुहुयात्। गवा चेदष्टका स्यात् पशुना वा तदुक्तम्। वह वपामिति वपां जुहुयात्। पेश्योऽवदानस्थानेऽङ्गारिणीः कुर्यात्। यथाकामं मज्जुका। ये समाना इति द्वाभ्यां स्थालीपाकस्य पेशीनां च जुहोति। स्विष्टकृद्धर्मेण वहान्नं वह मांसं जातवेदः पितृभ्य इति जुहुयात्। इति।

आश्वलायनगृह्यसूत्राणि च—आश्वयुज्यामाश्वयुजीकर्म। निवेशनमलंकृत्य स्नाताः शुचिवाससः पशुपतये स्थालीपाकं निरूप्य जुहुयुः, पशुपतये शिवाय, शङ्कराय पृषातकाय स्वाहेति। पृषातकमञ्जलिना जुहुयात् ऊनं मे पूर्यतामिति। सजूर्ऋतुभिः सजूर्विधाभिः देवेभ्य स्वाहा। सजूर्ऋतुभिः सजूर्विधाभि सजूर्द्यावापृथिवीभ्यां स्वाहेत्याहिताग्नेराग्रयणः स्थालीपाकः। अनाहिताग्नेरपि शालाग्नौ। मार्गशीर्ष्यां प्रत्यवरोहणं चतुर्दश्याम्। पौर्णमास्यां वा। विवेशनं पुनर्नवीकृत्य लेपनस्तरणो

पस्तरणीस्तमिते पायसस्य जुहुयुरपश्वेत पदा जहि पूर्वेण चापरेण च। सप्त च वारुणीरिमाः सर्वाश्च राजबान्धवीः स्वाहा, न वै श्वेतस्याभ्यागारेऽहिर्जघान किञ्चन। श्वेताय वैदार्वाय नमः स्वाहेति। नात्र सौविष्टकृत्। अभयं नः प्राजापत्येभ्यो भूयादित्यग्निमीक्षमाणो जपेत शिवो नः सुमना भवेति हेमन्तं मनसा ध्यायात्। पश्चादग्नेः स्वस्तरः स्वस्तीर्णः। तस्मिन्नुपविश्य स्योना न पृथिवी भवेति जपित्वा संविशेत् सामात्यः प्राक्शिरा उदङ्मुखः। यथावकाशमितरे। ज्यायान् ज्यायान् वाऽनन्तरः। मन्त्रविदो मन्त्रान् जपेयुः। सहाय यतो देवा अवन्तु न इति त्रिः। एता दक्षिणमुखा, प्रत्यङ्मुखा उदङ्मुखाश्चतुर्थम्। सहाय सौर्याणि स्वस्त्ययनानि च जपित्वाऽन्नं संस्कृत्य ब्राह्मणान् भोजयित्वा स्वस्त्ययनं वाचयीत। हेमन्तशिशिरयोश्चतुर्णामपरपक्षाणामष्टमीष्वष्टकाः। एकस्यां वा। पूर्वेद्युः पितृभ्यो दद्यात्। ओदनं कृसरं पायसम्। चतुःशरावस्य वाऽपूपान्। उदीरतामवर उत् परास इत्यष्टाभिर्हुत्वा यावतीभिर्वा कामयीत। अथ श्वो भूतेऽष्टकाः पशुना स्थालीपाकेन च। अप्यनडुहो यवसमाहरेत्। अग्निना वा कक्षमुपोषेत्। एषमेष्टकेति। नत्वेवानष्टकः स्यात्। तां हैके वैश्वदेवीं ब्रुवत आग्नेयीमेके सौर्यामेके प्राजापत्यामेके रात्रिदेवतामेके नक्षत्रदेवतामेक ऋतुदेवतामेके पितृदेवतामेके पशुदेवतामेके। पशुकल्पेन पशुं संज्ञप्य प्रोक्षणोपाकरणवर्जं वपामुत्खिद्य जुहुयाद् वह वपां जातवेद इति। अथावदानानां स्थालीपाकस्य च अग्ने नय सुपथेति, शान्ता पृथिवीति, आपो मरीचिः प्रवहन्त्विति, विश्वे आदित्या वसवश्चेति, प्रजापते न त्वदेतान्यन्यः। सौविष्टकृत्यष्टमी। ब्राह्मणान् भोजयेदित्युक्तम्। इति।

आपस्तम्बगृह्यसूत्राणि तु—धानाः कुमारान् प्राशयन्ति। एवमत ऊर्ध्वं यदशनीयस्य सक्तूनां वैतं बलिं हरेदा मार्गशीर्ष्याः। मार्गशीर्ष्यां पौर्णमास्यामस्तमिते स्थालीपाकः। अहार्षामिति बलिमन्त्रस्य सन्नामः। अतंनमुत्सृजति। अनाहिताग्नेराग्रयणम्। नवानां स्थालीपाकं श्रपयित्वा आग्रयणदेवताभ्यः स्विष्टकृच्चतुर्थाभ्यो हुत्वा तण्डुलानां मुखं पूरयित्वा गीर्त्वाचम्योदतपिण्डं संवृत्योत्तरेण यजुषाऽगारस्तूप उद्धिद्येत्। हेमन्तप्रत्यवराहणम्। उत्तरेण यजुषा प्रत्यवरुह्योत्तरैर्दक्षिणैः पार्श्वैः नवस्वस्तरे संविशन्ति। दक्षिणतः पितोत्तरामीतवमवशिष्टानां ज्येष्ठोऽज्येष्ठाऽनन्तरः। सह्यात्तराभ्यां पृथिवीमभिमृशन्ति। एवं संवेशनादि त्रिः। ईशानाय स्थालीपाकं श्रपयित्वा क्षेत्रपत्यं च प्राचीमुदीचीं वा दिशमुपनिष्क्रम्य स्थण्डिलं कल्पयित्वाऽग्नेरुपसमाधानादि। अपरेणाग्निं द्वे कुटीकृत्वा। उत्तरया दक्षिणस्यामीशानमावाहयति। लौकिक्या वाचोत्तरस्यां मीढुषीम्। मध्ये जयन्तम्। यथोढमुदकानि प्रदाय त्रीनोदनान् कल्पयित्वा अग्निमभ्यानीयोत्तरैरुपस्पर्शयित्वा उत्तरेण

थास्त्रमोदनेभ्यो हुत्वा सर्वतः समवदायोत्तरेण यजुषाऽग्निं स्विष्टकृतम्। उत्तरेण यजुषोपस्थायोत्तरैः सहोदनानि पर्णान्येकैकेन द्वे द्वे दत्वा देवसेनाभ्यो दशोत्तराभ्यः। पूर्ववदुत्तरैः। ओदनपिण्डं संवृत्य पर्णपुटेऽवधायोत्तरेण यजुषा वृक्ष आसजति। अत्र रुद्रान् जपेत्। प्रथमोत्तमौ वा। अभित एतमग्निं गाः स्थापयति यथैना धूमः प्राप्नुयात्। ता गन्धैर्दर्भाग्रमुष्टिनाऽवोक्षति वृषाणमेवाग्रे। गवां मार्गेनाऽग्नौ क्षेत्रस्य पतिं यजते। ईशानवदावाहनम्। चतुर्षु सप्तसु वा पर्णेषु नामादेशं दधाति। क्षिप्रं यजेत पाको देवः। उत्तराभ्यामुपतिष्ठते। स्थालीपाकं ब्राह्मणान् भोजयेत्। क्षेत्रपत्यं प्राश्नन्ति ये सनाभयो भवन्ति। यथा वैषां कुलधर्मः स्यात्। या माध्याः पौर्णमास्या उपरिष्टाद् व्यष्टका तस्यामष्टमीज्येष्ठया सम्पद्यते तामेकाष्टकेत्याचक्षते। तस्याः सायमौपकार्यम्। अपूपं चतुःशरावं श्रपयति। अष्टाकपालं इत्येके। पार्वणवदाज्यभागान्तेऽञ्जलिनोत्तरयाऽपूपाज् जुहोति। सिद्धः शेषस्तमष्टधा कृत्वा ब्राह्मणेभ्य उपहरति। श्वो भूते दर्भेण गामुपाकरोति पितृभ्यस्त्वा जुष्टामुपाकरोमीति। तूष्णीं पञ्चाऽऽज्याहुतीर्हुत्वा तस्यै वपां श्रपयित्वोपस्तीर्णाभिघारितां मध्यमेनान्तमेन वा पलाशपर्णेनोत्तरया जुहोति। मांसोदनमुत्तराभिः। पिष्टान्नमुत्तरया। आज्याहुतीरुत्तराः। स्विष्टकृत्प्रभृति समानमा पिण्डनिधानात्। अन्वष्टक्यामेवैके पिण्डनिधानमुपदिशन्ति। अथैतदपरं दध्न एवाञ्जलिना जुहोति यथाऽपूपमिति।

मानवगृह्यसूत्राणि च—आश्वयुज्यां पौर्णमास्यां प्रातर्नित्येषु स्थालीपाकेषु स्थालीपाकमन्त्रायातयति। तस्याग्निं रुद्रं पशुपतिमीशानं त्र्यम्बकं शरदं पृषातकं गा इति यजति। दधिघृतमिश्रः पृषातकः। तस्याऽऽनो मित्रावरुणा प्रवाहवेति च हुत्वा। अम्भः स्थाम्भो वो भक्षीयेति गाः प्राशनापयति। अवसृष्टाश्च वसेयुः। ब्राह्मणान् घृतवद् भोजयेत्। नानिष्ट्वाग्रयणेन नवस्याश्नीयात्। पर्वण्याग्रयणं कुर्वीत वसन्ते यवानां शरदि व्रीहीणाम्। अग्रपाकस्य पयसि स्थालीपाकं श्रपयित्वा। तस्य जुहोति। सजूरग्नीन्द्राभ्यां स्वाहा। सजूर्विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा। सजूर्द्यावापृथिवीभ्यां स्वाहा। सजूःसोमाय स्वाहेति। शरदि सोमाय श्यामाकानां वसन्ते वेणयवानाम्। उभयत्र वाज्येन। वत्सः प्रथमजो दक्षिणा। ब्राह्मण एव हविःशेषं भुञ्जीतेति श्रुतिः। आग्रहायण्यां पौर्णमास्यां पयसि स्थालीपाकं श्रपयित्वा तस्य जुहोति। अपःश्वेतपनागहीति, श्वेतो रुषत्यो विदधात्पश्च इति, नवै श्वेतस्याभ्यचारे अहिरिति, अभयं नः प्रजापतेभ्यो भूयात् स्वाहा इति। स्वस्तरेऽहतं वास उदग्दशमास्तीर्योदकांस्येऽश्मानं व्रीहीन् यवान् वाऽस्य परिषिञ्चति। स्योना पृथिवि भवेति द्वाभ्यां सूत्रमाणमिति द्वाभ्याम्। शमीशाखाया च सपलाशयोदञ्चं त्रिः

समुन्मार्ष्टि—स्योना पृथिवि भवेति द्वाभ्यां सूत्रामाणमिति द्वाभ्यां नमोऽस्तु सर्पेभ्य इति तिसृभिश्च। शाम्यन्तु सर्पा इति ज्येष्ठप्रमथानुदीच आवेशयति। उदीर्ध्वं जीवो असुर्नं आगादप इति कनिष्ठप्रथमानुज्जिहते। चैत्र्यामुद्रोहणम्। न तत्र स्थालीपाको न शाखया समुन्मार्ष्टि। अयं तल्पः प्रतरणो वसूनामिति तल्पमभिमन्त्रयते। त्रीणि नाभ्यानि फाल्गुन्यमाषाढ्यां कार्तिक्याम्। तासु नाधीयीत। तासु पयसि स्थालीपाकः स व्याख्यातः। तिस्रोऽष्टकाः। ऊर्ध्वमाग्रहायण्याः प्राक् फाल्गुन्यास्तामिस्राणामष्टम्यः। तासु नाधीयीत। तासु पयसि स्थालीपाकं श्रपयित्वा तस्य जुहोति या देव्यष्टकेष्वपसाप इति। उलूखलग्रावाणो घोषमकुर्वत इति। यां जनाः प्रतिनन्दन्तीति। चतस्रः स्थालीपाकस्य। अष्टकायै सुराधसे स्वाहेति सर्वत्रानुषजति। हेमन्तो वसन्तो ग्रीष्म ऋतव इति। शान्ता पृथिवि शिवमन्तरिक्षामति। आपो मरीचीरिति। कविरग्निरिन्द्र इति। विश्व आदित्या वसवश्च सर्वे इति। पञ्चाऽऽज्यस्य। जयान् हुत्वेडामग्न इति स्विष्टकृदिति। एवं सर्वासु। उत्तमायाः प्रदोषे चतुष्पथेऽङ्कुशो गां कारयेत्। यो य आगच्छेत् तस्मै दद्यात्। श्वोऽन्यां कारयेत्। तस्या वपां जुहुयात्—वह वपां जातवेद इति। अथास्या वक्षस उदगोदनं श्रपयति। तस्याष्टकाहोम कल्पेन शेषो व्याख्यातः। अवशिष्टं भक्तं रन्धयति। श्वोऽवशिष्टं भक्तं रन्धयित्वा पिण्डानामावृता त्रीन् मांसौदनपिण्डान् निदधाति। श्राद्धपरमपक्षे पितृभ्यो दद्यात्। अनुगुप्तमन्त्रं ब्राह्मणान् भोजयेत्। नावेदविद् भुञ्जीतेति श्रुतिः। यदि गवा पशुना वा कुर्वीत प्राक्षणमुपपायन पर्यग्निकरणमुल्मुकहरणं वापोहोममिति। अर्धं वपां जुहुयात्। स्थालीपाकमवदानानि च। सोमाय पितृमते स्वधा नम इति जुहोति। यमायाङ्गिरस्वते पितृमते स्वधा नम इति द्वितीयम्। अग्नये कव्यवाहनाय स्वधा नम इति तृतीयम्। एव मासि मासि नियतम्। तन्त्र पिण्डपितृयज्ञे। इति।

पारस्करगृह्यसूत्रं च—आश्वयुज्यां पृषातकाः। पायसमैन्द्रं श्रपयित्वा दधिमधु घृतमिश्रं जुहोति इन्द्रायेन्द्राण्या अश्विभ्यामाश्वयुज्यै पौर्णमास्यै शरदे चेति। प्राशनान्ते दधि, पृषातकमञ्जलिना जुहोति—ऊनं मे पूर्यतां पूर्णं मे मा व्यगात् स्वाहेति। दधि-मधु-घृतमिश्रममात्या अवेक्षन्त आयात्विन्द्र इत्यनुवाकेन। मातृभिर्वत्सान् संसृज्य तां रात्रिमाग्रहायणीञ्च। ततो ब्राह्मणभोजनम्। मार्गशीर्ष्यां पौर्णमास्यामाग्रहायणीकर्म। स्थालीपाकं श्रपयित्वा श्रवणावदाज्याहुती हुत्वाऽपरा जुहोति। यां जनाः प्रतिनन्दन्तीति संवत्सरस्येति। संवत्सरायेति। ग्रीष्मो हेमन्त इति। स्थालीपाकस्य जुहोति सोमाय मृगशिरसे मार्गशीर्ष्यै, पौर्णमास्यै हेमन्ताय चेति। प्राशनान्ते सक्तुशेषं सूर्पे न्युप्योपनिष्क्रमणप्रभृत्या मार्जनात्।

मार्जनान्त उत्सृष्टो बलिरित्याह । पश्चादग्नेः स्वस्तरमास्तीर्याहतञ्च वास आप्लुता अहतवाससः प्रत्यवरोहन्ति दक्षिणतः स्वामी जायोत्तरा यथाकनिष्ठमुत्तरतः । दक्षिणतो ब्राह्मणमुपवेश्योत्तरत उदपात्रं शमीशाखा सीतालोष्टमश्मनो निधायाग्निमीक्षमाणो जपति अयमग्निरिति । पश्चादग्नेः प्राञ्चमञ्जलिं करोति । दैवीं नावमिति तिसृभिः स्वस्तरमारोहन्ति ब्राह्मणमामन्त्रयते ब्रह्मन् प्रत्यवरोहामेति । ब्रह्मानुज्ञाताः प्रत्यवरोहन्ति आयुस्कीर्तियशोबलमन्नाद्य प्रजामिति । उपेता जपन्ति सुहेमन्तः सुवसन्त इति । स्योना पृथिवि नो भवेति दक्षिणपार्श्वैः प्राक्शिरसः संविशन्ति उपोदतिष्ठन्तीति । एवं द्विरपरं ब्रह्मानुज्ञाताः । अधः शयीरंश्चतुरो मासान् यथेष्टं वा ।

ऊर्ध्वमाग्रहायण्यास्तिस्रोऽष्टकाः । ऐन्द्रो वैश्वदेवी प्राजापत्या पित्र्येति । अपूपमांसशाकैर्यथासंख्यम् । प्रथमाष्टका पक्षाष्टम्याम् । स्थालीपाकं श्रपयित्वाज्यभागाविष्ट्वाज्याहुतीर्जुहोति । त्रिंशत्स्वसार उपयन्तीति । ज्योतिष्मतीति । एकाष्टकेति । अनानुजामनुजामिति । अभून्मम सुमताविति । पञ्चव्युष्टीरनुपञ्चेति । पञ्चदिशः पञ्चदशेनेति । ऋतस्य गर्भः प्रथमेति । या प्रथमेति । शुक्रऋषभेति । ऋतूनां पत्नीति । स्थालीपाकस्य जुहोति शान्ता पृथिवीति । आपो मरीचीः परिपान्त्विति । विश्वे आदित्या इति । अष्टकायै स्वाहेति । मध्यमा गवा । तस्यै वपां जुहोति वह वपां जातवेदः पितृभ्य इति । श्वोऽन्वष्टकासु सर्वासां पार्श्वसक्थि सव्याभ्यां परिवृते पिण्डपितृयज्ञवत् । स्त्रीभ्यश्चोपसेवनञ्च कर्पूंसु सुरया तर्पणेन चाञ्जनानुलेपनं स्रजश्च । आचार्यायान्तेवासिभ्यश्चानपत्येभ्य इच्छन् । मध्या वर्षे च तुरीया शाकाष्टका इति ।

बौधायनीयगृह्यसूत्राणि तु—अथाष्टकाहोमः । तैषे मास्यपरपक्षस्याष्टम्यां क्रियेत । एवं माघ एवं फाल्गुने यदि विहृतः । यद्यु वै समस्त उपरिष्टान्माघ्याः पौर्णमास्या अपरपक्षस्य सप्तम्यामष्टम्यां नवम्यामिति क्रियेतापि वाऽष्टम्यामेव । श्वः करिष्यामीति ब्राह्मणान् निमन्त्रयते योनिगोत्रश्रुतवृत्तसम्पन्नानसम्बन्धानित्येके । कामं सम्बन्धानपि श्रुतवृत्तसम्पन्नान् श्रुतवृत्तयोर्हि स्वधा निधीयत इत्युपदिशन्ति । तान् श्वो भूते श्मश्रुकर्माभ्यञ्जनस्नानैर्यथोपपादं सम्पूज्य स्वयमाप्लुत्य शुचौ समे देशे देवयजनोल्लेखनप्रभृत्या प्रणीताभ्यः कृत्वा बर्हिरादाय गामुपाकरोति पितृभ्यस्त्वा पितामहेभ्यस्त्वा प्रपितामहेभ्यस्त्वा जुष्टामुपाकरोमीति । तूष्णीमित्येके । अथैनामद्भिः प्रोक्षति, पितृभ्यस्त्वा पितामहेभ्यस्त्वा प्रपितामहेभ्यस्त्वा जुष्टां प्रोक्षामीति । तूष्णीमित्येके । तामत्रैव प्रतीचीनशिरसीं दक्षिणापदीं संज्ञपन्ति । तस्यै संज्ञप्ताया

अद्भिरभिषेकम्। प्राणानाप्याययति तूष्णीम्। तूष्णीं वपामुत्खिद्य हृदयमुद्धरति। प्रज्ञातानि चावदानानि। तान्येतेष्वेव शूलेषूपनिक्षिप्यैतस्मिन्नेवाग्नौ श्रपयन्ति। पृथङ्मांसं चौदनं चापूपांश्च श्रपयन्त्यन्यांश्च भक्ष्यविशेषान् सर्वं सिद्धं समानीयायुग्मान् ब्राह्मणान् सुप्रक्षालितपाणिपादानप आचम्य सदर्भोपक्लृप्तेष्वासनेषु द्वौ दैवे त्रीन् पित्र्ये एकैकमुभयत्र वा प्राङ्मुखानुपवेशयत्युदङ्मुखान् वा। स यदि प्राङ्मुखान् दक्षिणापवर्गः। यद्युदङ्मुखान् प्रागपवर्गः। तेषामेवोदकं निनीय सप्रणवेन क्षणं ग्राहयति। अष्टकाश्राद्धे क्षणं क्रियतामित्यों तथेति प्रतिवचनम्। प्राप्नोतु भवान् प्राप्नोतु भवानिति। प्राप्नवानि प्राप्नवानीतीतरे प्रत्याहुः।

अथैनान् तिलमिश्रा अपः प्रतिग्राहयति अमुष्मैं स्वधा नम इति। त्रिस्तिलोदकमेके समामनन्ति पुरोऽन्नं द्विस्तिलोदकं दद्याद् भुक्तवत्सु च तृतीयमिति। अथैनान् वस्त्रगन्धपुष्पधूपदीपमाल्यैर्यथोपपादं सम्पूज्य पृच्छति उद्ध्रियतामग्नौ च क्रियताम्, काममुद्ध्रियतां काममग्नौ च क्रियतामितीतरे प्रत्याहुः। अपि वा अग्नौ करिष्यामीति कुरुष्वेतीतरे प्रत्याहुः। अथाभ्यनुज्ञातः परिधानप्रभृत्याऽग्निमुखात् कृत्वा शृतायां वपायां पञ्च श्रवाहुतीर्जुहोति याः प्राचीरिति। त्रेधा वपां विच्छिद्यौदुम्बर्या दर्व्या जुहोति सोमाय पितृमत इति। अथाष्टकाहोमं जुहोति इयमेव सा या प्रथमा व्यौच्छत् इति पञ्चदश। ईयुष्टे ये पूर्वतरामपश्यन् इत्येकाम्। संवत्सरस्य प्रतिमाणम् इत्येकाम्। ताः सप्तदशः। अथापूपमष्टधा विच्छिद्य त्रीण्यावदानानि वपायाः कल्पेन हुत्वाऽथेतराणि ब्राह्मणेभ्यो दत्त्वा अवतान्यवदानानीडासूने प्रतिच्छाद्यौदनं मांसं यूषमित्याज्येन समुदायुत्यौदुम्बर्या दर्व्योपघातं दक्षिणार्धे जुहोति पितृभ्य स्वधा नमः स्वाहेत्यादि। अग्नय कव्यवाहनाय स्विष्टकृते स्वधा नमः स्वाहेति दक्षिणार्धपूर्वार्धे। मांसौदनं पात्रेषूद्धृत्य विशेषानुपनिक्षिप्य हुतशेषेण संसृज्य दक्षिणाग्रेषु दर्भेषु सादयित्वा दक्षिणाग्रैर्दर्भैः प्रतिच्छाद्याभिमृशति पृथिवी ते पात्रमिति। अथैतानि ब्राह्मणेभ्य उपनिक्षिप्य ब्राह्मणानाङ्गुष्ठनाखेनातृदिशति अमुष्मै स्वधा नम इति। भुञ्जानान् समीक्षते प्राणे निविष्टोऽमृत जुहोमीति पञ्चभिः। ब्रह्मणि न आत्माऽमृतत्वायेत्यात्मानम्। न चात ऊर्ध्वं निरीक्षते ह्रीका हि पितर इति विज्ञायते। सर्वैः कामैस्तर्पयन् स्वधायुक्तानि ब्राह्मण्यमिश्रावयन् राक्षोघ्नानि च नैर्ऋतानि च। तृप्यन्ते तृप्ताः स्थेत्युक्त्वा तृप्ताः स्म इति। प्रतिवचनम्। तृप्तानप आचमय्याशयेष्वन्नशेषान् सम्प्रकिरति येऽग्निदग्धा इति। अथैनान् संक्षालनेन विषिञ्चन्नवकीर्य स्वदितमिति वाचयित्वा दक्षिणाभिराराधयति। सुवर्णहिरण्यप्राणिवस्त्रलोहभूमिभाण्डैर्गवाश्वाजाविकहस्तिदासपुरुषव्रीहियवमाषतिलदण्डोपानच्छत्रकमण्डलुयानासशयनोपधानैः सर्वोपकरणैर्यथोपपाद सम्पूज्याक्षय्य वाचयित्वोप-

संगृह्य स्वधां वाचयित्वोत्थाप्य प्रसाद्य संसाद्य प्रदक्षिणीकृत्य शेषमनुज्ञाप्यैतेनैव यथेतमेत्यान्नशेषान्निवेदयते। यथाब्रूयुस्तथा कुर्यात् तैस्त्वभ्यनुज्ञेयम्। अथाभ्यनुज्ञातो दक्षिणेनाग्निं दक्षिणाग्रान् दर्भान् संस्तीर्य तेष्वन्नशेषैः पिण्डं ददाति पितृभ्यः स्वधा स्वधा नम इति चतुर्विंशतिः। अथैनान् संक्षालनेन त्रिरपसलैः परिषिञ्चति ऊर्जं वहन्तीरिति। जयप्रभृति सिद्धमा धेनुवरप्रदानात्। आचमने चाग्निमुखे चाभिश्रावणे चोपसंग्रहणे च पश्चाद्धोमेषु च यज्ञोपवीतम्। अथेतरत्र प्राचीनावीतम्। एवमेव श्वोभूते मांसशेषेणवमेव श्वोभूते यदि श्राद्धम्। अथ यदि गां न लभते मेषमजं वालभते। आरण्येन वा मांसेन यथोपपन्नेन। खड्गमृगमहिषमेषवराहपृषतशशरोहितशार्ङ्गतित्तिरिकपोतकपिञ्जलवार्ध्रीणसानामक्षय्यं तिलमधुसंसृष्टम्। तथा मत्स्यस्य शतबलेः क्षीरोदनेन वा सूपोदनेन वा। यद्वा भवत्यामैर्वा मूलफलैः प्रदानमात्रम्। हिरण्येन वा प्रदानमात्रम्। अपि वा गोग्रासमाहरेत्। अपि वा अनूचानेभ्य उदकुम्भानाहरेत्। अपि वा श्राद्धमन्त्रानधीयीत। अपि वाऽरण्येऽग्निना कक्षमुपोषेदेषा मेऽष्टकेति। न त्वेवानष्टकः स्यात्। सिकता श्राद्धे पवित्रं यद्यध्यवसानाय यद्यन्ववकिरणाय। कुशा कुतपो दूर्वा इति श्राद्धे पवित्रं यद्यासनाय यदि परिस्तरणाय यद्युत्पवनाय। तिलाः श्राद्धे पवित्रं यदि दानाय यदि भोजनाय यद्यपां संसर्जनाय। खड्गः श्राद्धे पवित्रं यदि मांसं यद्यस्थिमयं पात्रम्। दौहित्रः श्राद्धे पवित्रं यदि भोक्ता यदि परिवेष्टा यद्यमिश्रावयिता। इत्यष्टका होमा व्याख्यात इति।

---*---

अथ चतुर्थप्रपाठकस्य
द्वितीयाकण्डिका

श्वस्ततोऽन्वष्टक्यमपरश्वो वा । १ ।

* अनाकुला *

अष्टका कार्य के दूसरे दिन या उसके तीसरे दिन 'अन्वष्टका' कार्य करे ॥ १ ॥

* सरला *

'ततः' अष्टकाकार्यादनन्तरम् । 'श्वः' द्वितीयदिने 'अपरश्वः' तृतीयदिने 'वा' 'अन्वष्टक्यम्' अन्वष्टकाकृत्यं कुर्यादिति ॥ १ ॥

दक्षिणपूर्वेऽष्टमदेशे परिवारयन्ति तथायतं तथामुखैः कृत्यम् । २ ।

रहने के घर से अग्नि कोण में, अष्टम भाग स्थान रोक कर, दक्षिण पूर्व दिशा विस्तृत, इस अग्निकोणाभिमुख स्थापित द्रव्यादि से कार्य सिद्ध करने के लिए रुकावट न हो, ऐसा एक उत्तम मण्डप बनावे ॥ २ ॥

स्वावासभूमौ 'दक्षिणपूर्वे' दक्षिणपूर्वयोर्दिशोरन्तराले आग्नेयकोणे, 'अष्टमदेशे' स्वावासस्थानाष्टमे भागे, 'तथायतं' दक्षिणपूर्वायतं स्थानम्, 'तथामुखैः' आग्नेयाभिमुखैः स्थापित सम्भारादिभिः 'कृत्यम्' अन्वष्टक्यम् कार्यं यथा स्यादेव प्रशस्त कृत्वा 'परिवारयन्ति' परितः आच्छादयन्ति, आच्छादयेयुर्जना यजमानकर्मकरा इति ॥ २ ॥

चतुरवराद्ध्यान् प्रक्रमान् पश्चादुपसञ्चार उत्तरार्द्धे परिवृतस्य लक्षणं कृत्वाग्निं प्रणयन्ति । ३ ।

उस मण्डप में ऊपर की ओर कम से कम बारह पग भूमि छोड़कर तत्पश्चात् आने जाने का रास्ता छोड़कर नीचे के आधे भाग में रेखा कर वहाँ अग्नि प्रणयन करे ॥ ३ ॥

'परिवृतस्य' तस्य मण्डपस्य 'अवरार्द्ध्यान्' अपरार्द्धविदितान् 'चतुः प्रक्रमान्' अन्यूनान् द्वादशपदभूमि विहाय ततः 'पश्चात्' 'उपसञ्चारः' गमनागमनमार्गः भवेत् 'उत्तरार्द्धे' तु 'लक्षणं' पूर्वोक्तं 'कृत्वा' 'अग्नि प्रणयन्ति' ॥ ३ ॥

पश्चादग्नेरुलूखलं दृँ्हयित्वा सकृत्संगृहीतं व्रीहिमुष्टि-मवहन्ति सव्योत्तराभ्यां पाणिभ्याम् । ४ ।

अग्नि के पश्चिम भाग में दृढ़ता के साथ उलूखल रख कर उसमें एक ही बार में कई एक मुट्ठी धान्य लेकर दोनों हाथ से मूसल पकड़ कर धान्य कूटे ॥ ४ ॥

'अग्नेः पश्चात्' उलूखलं दृंहयित्वा दृढं स्थापयित्वा तत्र 'सकृत्' एक-वारेणैव 'संगृहीतं' व्रीहिमुष्टिम्' कतिपयमुष्टिपरिमितं धान्यं यथा च कृत्यं सम्पद्यते 'सव्योत्तराभ्याम्' उभाभ्यामेव 'पाणिभ्यां' मुसलं गृहीत्वा 'अव-हन्ति' अवहन्यात् ॥ ४ ॥

यदा वितुषाः स्युः सकृदेव सुफलीकृतान् कुर्वीत ॥ ५ ॥

पूर्वोक्त प्रकार कूटने से धान्य आदि में जब भूसी न रहे तब उसे सूप से फटक कर, उस भूसी आदि को उड़ाकर तण्डुल तैयार करे ॥ ५ ॥

तेनावघातेन 'यदा' ते धान्यसंघातः 'वितुषाः' विगततुषाः 'स्युः' तदा 'सकृदेव' एकवारेणैव तान् अवहतधान्यसमूहान् 'सुफलीकृतान्' शूर्पादिना तुषान् पृथक् कृत्य तण्डुलरूपान् 'कुर्वीत' ॥ ५ ॥

अथामुष्माच्च सक्थ्नो माँ्सपेशीमवकृत्य नवायाँ्सूनायाम-णुशश्छेदयेद्यथा मांसाभिघाराः पिण्डा भविष्यन्तीति ॥ ६ ॥

इधर उस पूर्व-रक्षित वाम ऊरु से मांस-पेशी आदि काटकर नये वर्तन में खण्ड-खण्ड कर काटे । उसे इस प्रकार खण्ड-खण्ड करे कि जिसमें घी के (अभिघार) ढार देने से वह पिण्डाकार बन जाये ॥ ६ ॥

'अथ' अपरत्र 'च' 'अमुष्मात्' अष्टकायै हतायाः गोः 'सक्थ्नः' रक्षित-वामसक्थिभागात् 'मांसपेशीः' 'अवकृत्य' कर्त्तनेन गृहीत्वा 'नवानां' 'सूनायां' व्यञ्जनकर्त्तन्यां तथा 'अणुशः' छेदयेत् । सूनाशब्देन काष्ठमधिकरणमुच्यते । तस्याम् अणुशः अल्पशश्छेदयेत् । 'यथा' कीर्त्तिताः ते 'मांसाभिघाराः' घृतमिश्रिताः सन्तः 'पिण्डाः' पिण्डाकाराः भवेयुर्नाम ॥ ६ ॥

तस्मिन्नेवाग्नौ श्रपयत्योदनचरुञ्च मांसचरुञ्च पृथङ्मेक्षणाभ्यां प्रसव्यमुदायुवन् ॥ ७ ॥

एक ही अग्नि पर 'ओदनचरु' और 'मांसचरु' को भिन्न-भिन्न रखे हुए मेक्षण द्वारा बांयी ओर से चलावे और ऊपर को चलौना से उठा-उठा कर देखता हुआ उसे पकावे ॥ ७ ॥

तस्मिन्नेव' एकस्मिन् 'अग्नौ' 'ओदनचरुञ्च मांसचरुञ्च' उभावेव चरू 'पृथङ्मेक्षणाभ्या' पृथक् पृथक् स्थापिताभ्यां मेक्षणद्वयाभ्यां 'प्रसव्यं' वामावर्त्तेन मेक्षणचालनं यथा स्यात् तथा 'उदायुवन्' ऊर्द्ध्वमीषन्मिश्रयन्—'श्रपयेत्' पचेदिति ॥ ७ ॥

शृतावभिघार्य दक्षिणोद्वास्य न प्रत्यभिघारयेत् ॥ ८ ॥

इन दोनों चरु के अच्छे प्रकार पक जाने, पर घी का ढार दे अग्नि के दक्षिण भाग में उतारे परन्तु उसमें पूर्ववत् पुनः घी का ढार नहीं देना चाहिए ॥ ८ ॥

'शृतौ' तौ चरु 'अभिघार्य' घृतेन, 'दक्षिणा अग्नेर्दक्षिणतः 'उद्वास्य' संस्थाप्य 'न प्रत्यभिघारयेत' अष्टकायामिवात्र प्रत्यभिघारणं न कुर्वीतेति ॥ ८ ॥

दक्षिणार्द्धे परिवृतस्य तिस्रः कर्षूः खानयेत् पूर्वोपक्रमाः प्रादेशयामाश्चतुरङ्गुलपृथिवीस्तथावखाताः ॥ ९ ॥

उस मण्डप के दक्षिण भाग में तीन गढ़ा खोदना चाहिए। इन गढ़ों की लम्बाई प्रदेश मात्र, चौड़ाई चार अंगुल और चार ही अंगुल गहराई भी होगी ॥ ९ ॥

'परिवृत्तस्य तस्य मण्डपस्य दक्षिणार्द्धे' दक्षिणेंऽशे 'तिस्रः कर्षूः त्रीन् गर्त्तान् 'खानयेत्'; ताश्च कर्षवः 'पूर्वोपक्रमाः पूर्वदिगारभ्य क्रमेणारब्धाः ॥'

---

(१) पूर्वोपक्रमाः यासां पूर्वा प्रथमं खातुमुपक्रम्यते, अथ मध्यमा, अथोत्तमा। ता इमाः पूर्वोपक्रमाः। का पूर्वेति चेत्? उक्तं च कर्मप्रदीपे (२. ७. १)—

पुरतो यात्मनः कर्षूः सा पूर्वा परिकीर्त्यते।
मध्यमा दक्षिणेनास्यास्तद्दक्षिणत उत्तमा ॥

अथवा प्रत्येक पूर्वस्याः 'पूर्वस्यां दिशि 'याः खातुमुपक्रम्यन्ते ताः पूर्वोपक्रमा इति। एवञ्च पितृ्यत्वात् प्रसव्य खननम्। खननञ्चामूषां शङ्कुना करणीयम्—

शङ्कुश्च खादिरः प्रोक्तो रजतेन विभूषितः।
शङ्कुश्चैवोपदेशश्च द्वादशाङ्गुल इष्यते ॥

इति कर्मप्रदीपोक्तलक्षण (२. ७. ३) इति।

प्रादेशयामाः प्रादेशपरिमितदीर्घाः, चतुरङ्गुलप्रशस्ताः, 'तथा अवखाताः' चतुरङ्गुलखातविशिष्टाः भवेयुरिति[1] ॥ ९ ॥

पूर्वस्याः कर्ष्वाः पुरस्ताल्लक्षणं कृत्वाग्नि प्रणयन्ति ॥ १० ॥

पहिले गड़हे के सामने रेखा खींच कर अग्नि प्रणयन करे और पूर्वोक्त रूप से करके अग्नि लावे ॥ १० ॥

'पूर्वस्याः कर्ष्वाः' प्रथमस्य गर्त्तस्य 'पुरस्तात्' 'लक्षणं' पूर्वोक्तरूपं 'कृत्वा' तत्र अग्नि 'प्रणयन्ति' प्राणयेयुरिति ॥ १० ॥

अपरेण कर्षूः पर्याहृत्य लक्षणे निदध्यात् ॥ ११ ॥

उन गड़हों के निकट दूसरे बगल में रखे ॥ ११ ॥

किञ्च 'अपरेण कर्षूः' कर्षणाम् अपरपार्श्वेऽदूरे एव अग्नि 'पर्याहृत्य' परित आहृत्य 'लक्षणे' पूर्वोक्ते 'निदध्यात्' स्थापयेत् ॥ ११ ॥

सकृदाच्छिन्नं दर्भमुष्टिं स्तृणाति ॥ १२ ॥

कुछ जड़ काटी हुई कुश मुट्ठी एक ही बार में अग्नि के चारों ओर बिछा देवे ॥ १२ ॥

'आच्छिन्नं' ईषच्छिन्नं किञ्चिमूलच्छिन्नं 'दर्भमुष्टिम्' 'सकृत्' एकवारं 'स्तृणोति' स्तृणुयात्, अग्नेश्चतुर्दिक्षु ॥ १२ ॥

कर्षूश्च पूर्वापक्रमाः ॥ १३ ॥

पूर्वादि क्रम से उस गड़हे में भी वही कुशमुट्ठी बिछावे ॥ १३ ॥

'च' अपि ,पूर्वोपक्रमाः' कर्षूः स्तृणुयादेव यदग्रा कर्षूस्तदग्रैरेव कुशैः स्तरणं कर्तव्यम् ॥ १३ ॥

पश्चात् कर्षूणां स्वस्तर मास्तारयेद्दक्षिणाग्रैः कुशैर्दक्षिणाप्रवणम् ॥ १४ ॥

---

(१) अयञ्च तासां विशेषः —

वाय्वग्निदिङ्मुखान्तास्ताः कार्याः सार्धाङ्गुलान्तराः ।
तीक्ष्णान्ता यवमध्याश्च मध्यं नाव इवोत्किरेत् ॥
—कर्मप्रदीप २. ७. २। इति ।

ताश्च दक्षिणासंस्था न कोणसंस्था इति, मध्यमा दक्षिणेनास्यास्तद्दक्षिणत उत्तमा । इति वचनात् ।

तीनों गड़हों के पश्चिम भाग में दक्षिणाग्र कई एक कुश से प्रदक्षिणा क्रम से स्वस्तारण करे ॥ १४ ॥

'कर्षूणा' गर्त्तानां 'पश्चात्' 'दक्षिणाग्रैः कुशैः' 'दक्षिणाप्रवणम्' 'स्वस्तरम्' 'आस्तारयेत् ॥ १४ ॥

वृषीञ्चोपदध्यात् तत्र । १५ ।

उसी स्थान में काठ का आसन रखे ॥ १५ ॥

'तत्र' कर्षूणां पश्चादेव 'वृषी' काष्ठासनं 'च' 'उपदध्यात्' स्थापयेदिति ॥ १५ ॥

अस्मात्राहरन्त्येकैकशः सव्यं बाहु मनु चरुस्थाल्यौ मेक्षणे कंसं दर्वीमुदकमिति । १६ ।

यजमान के बांयी ओर मांसचरु की दो हांड़ी, दोनों के चलौने और जल क्रम से रखे ॥ १६ ॥

'अस्मै' अस्य यजमानस्य 'सव्यं बाहुम् अनु लक्षीकृत्य वामभागे इति यावत् 'चरुस्थाल्यौ' मांसौदनयोः 'मेक्षणे' अन्नाद्यावर्त्तनसाधने 'कंसम्' अन्नाद्याधारभूतं कांस्यपात्रम् 'दर्वीम्' परिवेशनसाधनम्' 'उदकम्' च 'एकैकशः' क्रमात् 'आहरन्ति' आहृत्य स्थापयेयुः ॥ १६ ॥

पत्नी बर्हिषि शिलां निधाय स्थगरं पिनष्टि । १७ ।

यजमान की स्त्री बिछाए हुए कुश के ऊपर शिला रखे और उस शिला पर चन्दनादि पीसे ॥ १७ ॥

'पत्नी' यजमानस्य 'बर्हिषि' कुशोपरि 'शिलां' पेषणाधारभूतां 'निधाय संस्थाप्य, तत्र 'स्थगरं चन्दनादिकं गन्धद्रव्यं 'पिनष्टि' पेषणं कुर्यात् ॥ १७ ॥

तस्याञ्चैवाञ्जनं निघृष्य तिस्रो दर्भपिञ्जूलीरञ्जूति सव्यन्तराः । १८ ।

उसमें अञ्जन घिस कर, उससे तीन दर्भपिंजुली थोड़ी-थोड़ी दूर पर रंगे ॥ १८ ॥

किञ्च 'तस्याम्' एव शिलायाम् 'अञ्जनं' सौवीरं 'निघृष्य' घर्षयित्वा तेन 'तिस्रः दर्भपिञ्जूलीः' 'सव्यन्तराः' व्यन्तरः पुनःपुनरवकाशः, तत्सहिताः कृत्वा 'अञ्जति' अञ्जेत् ॥ १८ ॥

तैलञ्चोपकल्पयेत् । १६ ।

उसी शिला पर तेल भी तैयार करे ॥ १९ ॥

'च' अपि 'तैलम्' 'उपकल्पयेत्' करतलमर्द्दनादिना पेषणेनैव वा तिलानाम् ॥ १९ ॥

क्षौमदशाञ्च । २० ।

रेशमी कपड़े से सूत निकाल कर रखे ॥ २० ॥

'क्षौमदशां' क्षुमनिर्मित वसनस्य 'दशां' प्रान्तस्थितदशाःस्थसूत्रम् 'च' अपि 'उपकल्पयेत्' क्षौमवसनप्रान्ततो निष्कास्य रक्षेत् ॥ २० ॥

शुचौ देशे ब्राह्मणाननिन्द्यानयुग्मानुदङ्मुखानुपवेश्य दर्भान् प्रदायोदकपूर्वं तिलोदकं ददाति पितुर्नाम गृहीत्वाऽसावेतत्ते तिलोदकं ये चात्र त्वा मनुयाश्च त्वमनु ते स्वधेति । २१ ।

गड़हे के दक्षिण में कुशासन पर तीन अनिन्द्य ब्राह्मणों को उत्तर मुँह बैठाकर अपने पिता का नाम लेकर पितास्वरूप एक ब्राह्मण के हाथ में थोड़ा जल देकर 'आसावेत्तते'—मन्त्र से तिल मिला जलदान देवे ॥ २१ ॥

'शुचौ देशे' पवित्रे स्थाने (कर्षूणां 'दक्षिणत एव, यथा च तेषामग्रत एव कर्षू पिण्डाः स्युः) 'अनिन्द्यान्' पाङ्क्तेयान्' 'अयुग्मान्' त्रीन् 'ब्राह्मणान्' 'उदङ्मुखान्' 'उपवेश्य' तेभ्यो 'दर्भान्' आसनार्थं 'प्रदाय' 'पितुः' स्वस्य 'नाम' 'गृहीत्वा' 'असावेतत्ते'—इत्यादिकमन्त्रेण 'उदकपूर्वं' उदकानपूर्वम्, 'तिलोदकम्, 'तिलोदकम्' तिलैर्मिश्रितमुदक 'ददाति' दद्यात् ॥२१॥

अथ उपस्पृश्यैवमेवेतरयोः । २२ ।

पितामह और प्रपितामह के प्रतिनिधिस्वरूप अन्य दो ब्राह्मणों को इसी प्रकार हाथ धोकर प्रत्येक को तिल, जल दान करे ॥ २२ ॥

'इतरयोः' स्वपितामहप्रपितामहयोः प्रतिनिधिब्राह्मणयोः अपि 'एवमेव' उदकपूर्वं तिलोदकदानम्, परम् 'अप उपस्पृश्य' जलस्पर्शनं कृत्वा । एकस्मै ब्राह्मणाय स्वपितृनामोच्चारणपूर्वकमुदकदानं तमनु तिलोदकदानञ्च कृत्वा ततो जलस्पर्शनं हस्तधौतं कृत्वैवापरस्मै द्वितीयब्राह्मणाय स्वपितामहनामोच्चारणपूर्वकमुदकदानं तमनु तिलोकदानञ्च प्रकृत्य तत। पुनरपि

जलस्पर्शं प्रकृत्य तृतीय ब्राह्मणाय स्वप्रपितामहनामोच्चारणपूर्वकमुदकदानं तमनु तिलोदकनाञ्च कुर्यादिति ॥ २२ ॥

तथा गन्धान् । २३ ।

उन्हें उसी प्रकार गन्धादि भी देवे ॥ २३ ॥

'गन्धान्' अपि तेभ्यः 'तथा' एव दद्यात् ॥ २३ ॥

अग्नौ करिष्यामीत्यामन्त्रयँ होष्यतः । २४ ।

होम करने के पहले यजमान उन तीन ब्राह्मणों को पूछ कि अग्नि में पितृगण की अर्चना करूँ" ॥ २४ ॥

'होष्यतः' होमं करिष्यतो यजमानस्य 'अग्नौ करिष्यामि' 'इति' उक्त्या 'आमन्त्रणं' कर्त्तव्यमिति ॥ २४ ॥

कुर्वित्युक्त कंसे चरू समवदाय मेक्षणेनापघातं जुहुयात् स्वाहा सोमाय पितृमत इति पूर्वां स्वाहाग्नये कव्यवाहनाये-त्युत्तराम् । २५ । २ ।

तीनों ब्राह्मण एक वाक्य से 'करो' ऐसा कहें। तब यजमान कांसे के बर्तन में मांसचरु और ओदनचरु में से मेक्षण से थोड़ा सा एकत्र जगह लेकर उपघात होम करे। उनमें से 'स्वाहा सोमाय पितृमते' मन्त्र से प्रथम आहुति देवे और 'स्वाहाग्नये कव्यवाहनाय' से दूसरी आहुति दे ॥ २५ ॥

तैः आमन्त्रितब्राह्मणैः 'कुरु' 'इति' 'उक्ते' होमकरणे प्रवृत्तो यजमानः 'कंसे' कांस्यपात्रे 'चरू' ओदनचरुं मांसचरुञ्च 'समवदाय' एकीकृत्य 'मेक्षणेन' तदीयं किञ्चिद् गृहीत्वा 'उपघातं जुहुयात् उपघातनामहवनं यागारम्भसूचकं होमं कुर्यात्। तत्र 'पूर्वाम्' आहुतिं 'स्वाहा सोमाय पितृमते'—इति, 'उत्तराम्' आहुतिं 'स्वाहाग्नये कव्यवाहनाय'—इति ॥ २५ ॥

इति गोभिलगृह्यसूत्रे चतुर्थप्रपाठके द्वितीयखण्डस्य डा० सुधाकर मालवीय कृता सरलाव्याख्या समाप्ता ॥ ४.२ ॥

——*——

॥ इस प्रकार गोभिलगृह्यसूत्र के चतुर्थ प्रपाठक के द्वितीय खण्ड की डा० सुधाकर मालवीय कृत 'अनाकुला' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ ४.२ ॥

——*——

अथ चतुर्थप्रपाठकस्य
तृतीयाकण्डिका

अत ऊर्ध्वं प्राचीनावीतिना वाग्यतेन कृत्यम् । १ ।

* अनाकुला *

इसके पश्चात् 'अन्वष्टका' कार्य की समाप्ति तक जो-जो क्रियायें करनी हों उनमें प्राचीनावीति (दक्षिण कन्धे पर यज्ञोपवीत) होकर करे और संयत् वाक् होकर रहे ॥ १ ॥

* सरला *

'अतः ऊर्ध्वम्' इति आरभ्य अन्वष्टक्यसमाप्ति यावत् । 'प्राचीनावीतिना' दक्षिणस्कन्धत उपवीतं धृत्वा, 'वाग्यतेन' नियवाग् भूत्वा 'कृत्यम्' एतदन्वष्टक्यं नाम कार्यमिति ॥ १ ॥

सव्येन पाणिना दर्भपिञ्जूलीं गृहीत्वा दक्षिणाग्रां लेखामुल्लिखेदपहता असुरा इति । २ ।

बाये हाथ में 'स्वस्तर' से एक दर्भ पिञ्जुली लेकर दाहिने हाथ में लेते हुए, 'अपहता असुरा' मन्त्र से तीनों कर्षू (जलपात्र) से क्रमशः दक्षिण मुँह रेखा करे ॥ २ ॥

'सव्येन, वामेन 'पाणिना' 'दर्भपिञ्जूलीं' स्वस्तरात् 'गृहीत्वा' दक्षिणे पाणौ 'अपहता असुरा रक्षाँसि वेदिषदः' ॥ ३५ ॥ (म० ब्रा० २.३.३)— इति मन्त्रेण 'दक्षिणाग्रा लेखाम्' तथैव पिञ्जूल्या 'उल्लिखेत्' तासु कर्षूस्विति ॥ २ ॥

सव्येनैव पाणिनोल्मुकं गृहीत्वा दक्षिणार्द्धे कर्षूणां निदध्याद्ये रूपाणि प्रतिमुञ्चमाना इति । ३ ।

बायें हाथ से जलती आग लेकर दाहिने हाथ में रखकर कर्षू (जलपात्र) आदि के बीच रेखा पात के अगले भाग में 'ये रूपाणि' मन्त्र से स्थापन करे ॥ ३ ॥

'सव्येन एव पाणिना' 'उल्मुकं ज्वलदग्निं 'गृहीत्वा' आनीय दक्षिणे पाणौ कर्षूणां' तासां मध्ये 'दक्षिणार्द्धे' (तथा च रेखापातमुखे इति फलितम्) 'ये रूपाणि प्रतिमुञ्चमाना असुराः सन्तः स्वधया चरन्ति। परा पुरो निपुरो ये भरन्त्यग्निष्ठांल्लोकात् प्रणुदत्वस्मात्' ॥ ४ ॥ (म० ब्रा० २.३.४) इति मन्त्रं सर्वत्रैव पठन् तं हस्तस्थमुल्मुकं 'निदध्यात्' स्थापयेत् ॥ ३ ॥

अथ पितॄनावाहयत्येत पितरः सोम्यास इति । ४ ।

फिर उन्हीं कर्षुओं (जलपात्रों) से एक ही समय पिता, पितामह और प्रपितामह तीनों को 'एतः पितरः' मन्त्र से यथाक्रम आवाहन करे ॥ ४ ॥

'अथ' अनन्तरम्। तत्रैव 'एत पितरः सोम्यासो गम्भीरेभिः पथिभिः पूर्व्यिणेभिः। दत्तास्मभ्यं द्रविणेह भद्रं रयिं च नः सर्ववीरं नियच्छत' ॥ ५ ॥ (म० ब्रा० २.३.५)—'इति' पितॄन्' पितामहप्रपितामहान् यथाक्रमेण 'आवाहयति' आवाहयेदिति ॥ ४ ॥

अथोदपात्रान् कर्षूषु निदध्यात् । ५ ।

इसके पश्चात् उन कर्षू (जलपात्र) आदि में एक एक जलपात्र रखे ॥ ५ ॥

'अथ' आवाहनान्तरम्; 'कर्षूषु' 'उदपात्रान्' त्रीन् एकैकक्रमेण 'निदध्यात्' स्थापयेदिति ॥ ५ ॥

सव्येनैव पाणिनोदपात्रं गृहीत्वासलवि पूर्वस्यां कर्ष्वां दर्भेषु निनयेत् पितुर्नाम गृहीत्वासाववनेनिक्ष्व ये चात्र त्वामनु यांश्च त्वमनु तस्मै ते स्वधेति । ६ ।

बांये हाथ से कर्षू के पास रखे हुए जलपात्र को लेकर दाहिने हाथ के अंगूठे के मूल से जल को लेकर पिता का नाम लेकर 'असौ अवनेनिक्ष्व' इत्यादि मन्त्र पढ़कर पहले से रखे हुए कर्षू के ऊपर रखे हुए दर्भ में आहूत अपने पिता को जलदान करावे (इसी को निनयन कहते हैं) ॥ ६ ॥

'सव्येन एव पाणिना' 'उदपात्रं' इतः पूर्वमेव स्थापितमुदकपात्रं 'गृहीत्वा' तदुदकपात्रस्थं जलम् 'अवसलवि' दक्षिणहस्तबद्धाङ्गुष्ठमूलेन पितृतीर्थेन पथा 'पितुर्नाम गृहीत्वा' स्वपितृनामग्रहणपूर्वकं 'असाववनेनिक्ष्व' —इति मन्त्रं पठन् 'पूर्वस्यां कर्ष्वां' पातिता ये दर्भाः, तेषु 'दर्भेषु' 'निनयेत्' आहूतं पितरं प्रापयेदिति ॥ ६ ॥

अप उपस्पृश्यैवमेवेतरयोः । ७ ।

पितामह और प्रपितामह के उद्देश से भी इसी प्रकार 'निनयन' करे, परन्तु प्रति बार जल स्पर्श करे। पितृ निनयन के पीछे हाथ धोकर पितामह के लिए 'निनयन' करे, फिर हाथ धोकर प्रपितामह के लिए निनयन करे ॥ ७ ॥

'इतरयोः' पितामहप्रपितामहयोरर्थयोरपि निनयनम् 'एवमेव' कार्यम् अपरयोः कर्ष्वोर्यथाक्रमेणेति। तत्र च प्रतिवारम् अप उपस्पर्शनं कर्तव्यमिति ॥ ७ ॥

सव्येनैव पाणिना दर्वीं गृहीत्वा सन्नीतात् तृतीयमात्रमवदायावसलवि पूर्वस्यां कर्ष्वां दर्भेषु निदध्यात् पितुर्नाम गृहीत्वासावेष ते पिण्डो ये चात्र त्वामनुयाँश्च त्वमनु तस्मै ते स्वधेति । ८ । अप उपस्पृश्यैवमेवेतरयोः । ९ ।

पूर्वगृहीत कांसे के पात्र में मिला हुआ चरु दर्वी से काटकर तीन भाग करे और एक-एक कर क्रम से हाथ धो-धो कर कुश के ऊपर अपने पिता का नाम लेकर 'असावेष ते पिण्डः' आदि मन्त्र से क्रम से तीन पिण्ड देवे ॥ ८-९ ॥

यथा पूर्वं निनयनं कृतम् तथैव तिसृष्वेव कर्षूषु पिण्डदानञ्च कार्यमिति फलितार्थः। अत्र मन्त्रे 'असावेष ते पिण्डः'—इत्येव विशेषः। पूर्वस्थापितां 'दर्वीम्'। 'सन्नीतात्' पूर्वं कांस्यपात्रे ओदनचरुर्मांसञ्च सन्नीतः, तस्मात्। 'तृतीयमात्रम्' एकतृतीयांशमिति ॥ ८-९

यदि नामानि न विद्यात् स्वधा पितृभ्यः पृथिवीषद्भ्य इति प्रथमं पिण्डं निदध्यात् स्वधा पितृभ्योऽन्तरिक्ष सद्भ्य इति द्वितीयं स्वधा पितृभ्यो दिविषद्भ्य इति तृतीयम् ॥ १० ॥

यदि पिता का नाम स्मरण न हो, तो पहिला पिण्ड पृथ्वीस्थ पितृगण के लिए, द्वितीय अन्तरिक्षस्थ पितृगण के लिए एवं तृतीय द्युलोकस्थ पितृगण के लिए कर्षूओं के बीच पूर्वोक्तानुसार रक्खे ॥ १० ॥

'यदि' 'नामानि' पित्रादीनाम् 'न विद्यात्'? तर्हि 'प्रथमं पिण्ड' 'स्वधा०'—इति मन्त्रेण 'निदध्यात्' तत्र कर्षूमध्ये पूर्ववदित्येव, 'द्वितीयं' पिण्डं 'स्वधा०' 'इति' मन्त्रेण निदध्यादित्येव—'तृतीयं' पिण्ड स्वधा०'—इति मन्त्रेण निदध्यादित्येव ॥ १० ॥

निधाय जपत्यत्र पितरो मादयध्वं यथाभाग मावृषायध्व-मित्यपर्यावृत्य ॥ ११ ॥

तीन गड़हों में पूर्वोक्त रीति से पिण्ड रखने पर यजमान एक स्थान में बैठकर 'अत्र पितरः' आदि मन्त्र पढ़े ॥ ११ ॥

पिण्डान् त्रीनेव तिसृषु कर्षूषु यथोपदिष्टं 'निधाय' 'अपर्यावृत्य' पर्या-वर्त्तनं वर्जयित्वा एकत्रैव स्थितो यजमानः—

'अत्र पितरो मादयध्वं यथाभागमावृषायध्वम्' ॥ ६ ॥ (म० ब्रा० २. ३. ६) 'इति' मन्त्रं जपति जपेदिति ॥ ११ ॥

पुराच्छ्वासादभिपर्यावर्त्तमानो जपेदमी मदन्त पितरो यथा भाग मा वृषायिषतेति ॥ १२ ॥

एक निःश्वास के छोड़ने के पहले तीनों गड़हे आदि की परिक्रमा कर 'अमी मदन्त पितरो यथाभाग मा वृषायिषता' आदि मन्त्र को पढ़े ॥ १२ ॥

'उच्छ्वासात्' नासिकया श्वासत्यागात् 'पुरा' प्रागेव 'अभिपर्यावर्त्त-मानः' 'तिस्रः कर्षूः अभिव्याप्य 'परि' सर्वतः (अनुल्लम्फनेति भावः) 'आव-र्त्तमानः' आवर्त्तनं कुर्वाणो यजमानः 'अमी मदन्त पितरो यथाभागमा-वृषायिषत' ॥ ७ ॥ (म० ब्रा० २. ३. ७) 'इति' इमं मन्त्रं जपेत् अभि-पर्यावर्त्तनञ्चैतद्वामत एव पैत्रे सव्यस्यैव सर्वत्र विधानात् ॥ १२ ॥

सव्येनैव पाणिना दर्भपिञ्जूलीं गृहीत्वावसलवि पूर्वस्यां कर्ष्वां पिण्डे निदध्यात् पितुर्नाम गृहीत्वसावेतत्त आञ्जनं ये चात्र त्वामनु याँश्च त्वमनु तस्मै ते स्वधेति ॥ १३ ॥

बांये हाथ में उस अञ्जन से रंगे कुश की तीन पिञ्जुली लेकर दाहिने हाथ के अंगूठे की जड़ से पूर्व आदि तीन गड़हों में स्थित तीन पिण्ड पर एक एक क्रम से 'आसावेतत् त आञ्जनम्' आदि मन्त्र से दर्भमुष्टी प्रदान करे ॥ १३ ॥

यथा पूर्वं निनयनं पिण्डदानञ्च कृतम्' तथैव 'दर्भपिञ्जुलीं पत्न्या सौवीराञ्जनेनाक्तां स्थितां क्रमतः ॥ १३ ॥

अप उपस्पृश्यै मेवेतरयोः ॥ १४ ॥

प्रथम और दूसरे पिण्ड पर पिञ्जुली देने पर एक-एक बार हाथ धोवे ॥ १४ ॥

अप उपस्पृश्य पिण्डानामुपरि दद्यादिति। तदत्र मन्त्रे 'असावेतत्त आञ्जनम्'—इत्येव विशेषः ॥ १४ ॥

तथा तैलं तथा सुरभि ॥ १५-१६ ॥

तब दर्भ पिञ्जुली प्रदान के अनुसार इस मन्त्र से उस उस के ऊपर तैल, सुगन्धि चन्दनादि प्रदान करे ॥ १५–१६ ॥

विमर्श—मन्त्र में विशेषता यह होगी कि 'आञ्जन' शब्द के बदले 'तैल' और 'सुरभि' शब्द व्यवहृत होंगे ॥ १५-१६ ॥

'तथा' पिञ्जलीदानोक्तप्रकारेणैव 'तैलं' पत्न्यापादितं तेनैव मन्त्रेण तास्वेव कूर्षूषु दद्यात्। किञ्च 'तथा' तेनैव प्रकारेण 'सुरभि पत्न्या' पिष्टं स्थगरं तेनैव मन्त्रेण तास्वेव कर्षूषु दद्यात्। पर मुभयत्रैव 'असावेतत्ते तैलम्'–इति, 'असावेतत्ते सुरभि'–इति चोहनं कर्त्तव्यमेव ॥ १५-१६ ॥

अथ निह्नुते पूर्वस्यां कर्ष्वां दक्षिणोत्तानौ पाणी कृत्वा नमो वः पितरो जीवाय नमो वः पितरः शूषायेति मध्यमायां सव्योत्तानौ नमोः वः पितरो घोराय नमो वः पितरो रसायेत्युत्तमायां दक्षिणोत्तानौ नमो वः पितरः स्वधायै नमो वः पितरो मन्यव इत्यथाञ्जलिकृतो जपति नमो वः पितरः पितरो नमो व इति ॥ १७–२१ ॥

इसके अनन्तर पहले पिण्ड पर दोनों हाथ दक्षिणोत्तान (दक्षिण कर तल ऊपर को रहे एवं उसके ऊपर बांया करतल नीचे को) करे। फिर मध्यम पिण्ड पर बांया करतल ऊर्ध्व मुख और उस पर दक्षिण कर अधोमुख और शेष पिण्ड पर; पुनः दक्षिणोत्तान दोनों हाथ करे। अन्त में समस्त तीनों पिण्डों को लक्ष्य कर अञ्जलिपूर्वक 'नमो वः' इत्यादि मन्त्रों को पढ़ते हुए चार बार नमस्कार करे ॥ १७–२१ ॥

'अथ' सुरभिदानानन्तरं निन्हुते' निन्हवनं नमस्करणं कार्यमिति ॥१७॥

'तत्र 'पूर्वन्त स्याम्' 'उत्तमायां' च 'कर्ष्वां 'दक्षिणोत्तानौ' 'पाणी' कृत्वा' 'मध्यमायां' तु 'सव्योत्तानौ' पाणी कृत्वा' ततो तिसृष्वेव कर्षूष्वेकदैव 'अञ्जलिकृतः' जपति जपेत् यथाक्रमेण चतुरो मन्त्रान् 'नमो वः पितरो जीवाय नमो वः पितरः शूषाय ॥ ८।१८ ॥

नमो वः पितरो घोराय नमो वः पितरो रसाय ॥ ९।१९ ॥

नमो वः पितरः स्वधायै नमो वः पितरो मन्यवे ॥ १०।२० ॥

नमो वः पितरः पितरो नमो वः ॥ ११ ॥ (म० ब्रा० २, ३, ४-११)–इत्यादिकानिति ॥ २१ ॥

गृहानवेक्षते गृहान् नः पितरो दत्तेति ॥ २२ ॥

अनन्तर 'गृहान्नः पितरो दत्त' आदि मन्त्र पढ़कर गृहिणी को देखे ॥ २२ ॥

ततः 'गृहान्' स्वगृहिणीम् 'अवेक्षते, 'गृहान्नः पितरो दत्त' ॥ १२ ॥ (म० ब्रा० २. ३. १२)—'इति' मन्त्रं पठन्निति ॥ २२ ॥

पिण्डानवेक्षते सदो वः पितरो देष्मेति ॥ २३ ॥

इसके अनन्तर 'सदो वः पितरो' आदि मन्त्र से पिण्ड आदि देखे ॥ २३ ॥

ततः सदो वः पितरो देष्म' ॥ १३ ॥ (म० ब्रा० २. ३. १३)—'इति' मन्त्रं पठन् 'पिण्डान्' तानेव अवेक्षेतेति ॥ २३ ॥

सव्येनैव पाणिना सूत्रतन्तुं गृहीत्वासलवि पूर्वस्यां कर्ष्वां पिण्डे निदध्यात् पितुर्नाम गृहीत्वाऽवेतत्त वासो ये चात्र त्वामनु यांश्च त्वमनु तस्मै ते स्वधेत्यप उपस्पृश्यैवमेवेतरयोः ॥ २४–२५ ॥

पत्नी द्वारा बने रेशमी कपड़े के किनारे से एक एक सूत लेकर बांयें ही हाथ से पुर्वादि गड़हे के क्रम से पिता आदि के नाम ले ले कर 'असावेतत्ते वासो' आदि मन्त्र से पिण्ड आदि के ऊपर वस्त्र प्रदान करे ॥ २४-२५ ॥

पत्न्या सम्पादिता क्षौमदशा, त एव एकैकं 'सूत्रतन्तुं' 'गृहीत्वा' पूर्वादिषु कर्षूषु क्रमात् पित्रादिनामग्रहणपूर्वकं निदध्यात् । मन्त्रे तु 'एतद्वः पितरो वासः' ॥ १४ ॥ इत्येव विशेषः ॥ २४ ॥

अत्रापि द्वितीयतृतीययोरप उपस्पर्शनं कार्यमेव ॥ २५ ॥

सव्येनैव पाणिनोदपात्रं गृहीत्वावसलवि पिण्डान् परिषिञ्चेदूर्जं वहन्तीरिति ॥ २६ ॥

पूर्व स्थापित जलपात्र को बायें हाथ में लेकर पहले की भांति 'पितृतीर्थ' मार्ग से अंगूठे से एक ही बार में तीन पिंड पर 'ऊर्जं वहन्ती' आदि मन्त्र से परिषिञ्चन करे ॥ २६ ॥

'उदपात्र' पूर्वमेव स्थापितं तत् 'सव्येनैव पाणिना गृहीत्वा अवसलवि' पितृतीर्थेन 'ऊर्जं वहन्तीरमृतं घृतं पयः कीलालं परिस्रुतं स्वधास्थ तर्पयत मे पितॄन्' ॥ १५ ॥ (मं० ब्रा० २. ३. १५)—इति मन्त्रेण 'पिण्डान्' त्रीन् एकदैव परिषिञ्चेत् ॥ २६ ॥

मध्यमं पिण्डं पुत्रकामा प्राश्नीयादाधत्त पितरो गर्भमिति ॥ २७ ॥

पुत्र की कामना वाली पत्नी 'आधत्त' आदि मन्त्र का पाठ कर मध्यम पिण्ड को सब या थोड़ा भक्षण करे ॥ २७ ॥

'पुत्रकामा पत्नी' आधत्त पितरो गर्भं कुमारं पुष्करस्रजम् । यथेह पुरुषः स्यात् ॥ १६ ॥ (मं० ब्रा० २. ३. १६) 'इति' मन्त्रं पठती 'मध्यम पिण्डम्' समग्रं तदीयं किञ्चिदंशं वा 'प्राश्नीयात्' ॥ २७ ॥

यो वा तेषां ब्राह्मणानामुच्छिष्टभाक् स्यात् ॥ २८ ॥

उन ब्राह्मणों के उच्छिष्ट खाने वाले जो कोई हों, वे भी इन पिण्डों को समस्त या कुछ अंश खा सकते हैं ॥ २८ ॥

'उच्छिष्टभाक्' दौहित्रः श्रद्धासमन्वितश्च । प्राश्नीयादित्येव ॥ २८ ॥

अभून्नो दूतो हविषो जातवेदा इत्युल्मुकमद्भिरभ्युक्ष्य द्वन्द्वं-पात्राणि प्रक्षाल्य प्रत्यतिहारयेत् ॥ २९ ॥

'अभून्नो' आदि मन्त्र पढ़ कर गड़हे आदि में रखे इंगारा पर जल छिड़के एवं उस भस्म पर चरुस्थाली पात्र आदि को धोकर शिष्यादि लावे ॥ २९ ॥

'अभून्नो दूतो हविषो जातवेदा अवोड्ढव्यानि सुरभीणि कृत्वा । प्रादात् पितृभ्य स्वधया ते अक्षन् प्रजानन्नग्ने पुनरेहि योनिम्' ॥ १७ ॥ (मं० ब्रा० २. ३. १७) 'इति' मन्त्रं पठन् 'उल्मुकं' कर्षूदक्षिणार्द्धे स्थापितम् 'अद्भिः' 'अभ्युक्ष्य' तदीयेनैव भस्मना 'द्वन्द्वं' यथा स्यात् तथा 'पात्राणि' चरुस्थाल्यादीनि 'प्रक्षाल्य' 'प्रत्यतिहारयेत्' आनयेत् शिष्यादिनेति ॥ २९ ॥

अप्सु पिण्डान् सादयेत् प्रणीते वाग्नौ ब्राह्मणं वा भोजयेद् गवे वा दद्याद् ॥ ३०-३३ ॥ वृद्धिपूर्त्तेषु युग्मानाशयेत् प्रदक्षिणमुपचारः ॥ ३४-३५ ॥ यवैस्तिलार्थः ॥ ३६।३ ॥

उन सब पिंडों को जल में फेक देवे या उसी अग्नि में डाले या किसी भूखे ब्राह्मण को भोजन करावे अथवा किसी गौ को खिलावे। वृद्धि और पूर्त्त के उपलक्ष में (पितृलोक की अर्चना के समय) भी पूर्वोक्त सब अनुष्ठान करे॥ ३०-३३॥

विमर्श—शरीर वृद्धि के अनुसार अन्नप्राशन आदि संस्कार वृद्धि कर्म है। वापी, कूप, तालाब आदि का खोदवाना पूर्त्त कर्म है। अन्वष्टका कार्य में १, ३ आदि अयुग्म ब्राह्मण भोजन की व्यवस्था है। यहाँ २, ४ आदि युग्म ब्राह्मण भोजन करावे एवं अन्वष्टका कार्य में बामावर्त्त में चरुपाक करने का नियम है। यहाँ दक्षिणावर्त्त में चरुपाक करे॥ ३०-३३॥

तिल से जो जो कार्य कहे गए हैं, यव से भी वे कार्य होंगे॥ ३४-३६॥

॥ इस प्रकार गोभिलगृह्यसूत्र के चतुर्थ प्रपाठक के तृतीय खण्ड को डा० सुधाकर मालवीय कृत 'अनाकुला' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई॥ ४.३॥

——*——

तान् त्रीनेव 'पिण्डान्' भुक्तशेषान् वा पिण्डांशान् 'अप्सु' नद्यादिषु 'सादयेत्' निक्षिपेत्॥ ३०॥

'वा' अथवा 'प्रणीते अग्नौ' तत्रैव सादयेदित्येव॥ ३१॥

'वा' अथवा ब्राह्मणं' यं कमपि क्षुधातुरं 'भोजयेत्'॥ ३२॥

'वा' अथवा 'गवे' यस्यै कस्यै चिद् दद्यादितिसमाप्तमन्वष्टक्यम्॥३३॥

श्राद्धप्रसङ्गात् वृद्ध्यादिषु विशेषमुपदिशति:—वृद्धिः शरीरवृद्ध्यनुसारतः सम्पाद्या अन्नप्राशनादिका, पूर्त्तास्तु वापीकूपतडागादयः, तेष्वपि कर्त्तव्येषु तत्तत्कर्मणः प्रागेव अन्वष्टक्यवत् पित्रर्चनं कर्त्तव्यमिति। विशेषस्तु तेषु 'युग्मान्' ब्राह्मणान् 'आशयेत्' इह तु 'अयुग्मान्-इत्युक्तम् (प्र० ४ खं० २ सू० २१) किञ्च इहोपचारे 'प्रसव्यम्' इत्युक्तम् (प्र० ४ खं० २ सू० ७)॥ ३४॥ वृद्ध्यादिषु तु 'प्रदक्षिणम्' यथा स्यात् तथा उपचारः कर्त्तव्यः इति॥ ३५॥ अथ तेषु द्रव्यातिदेश उच्यते। तिलैः यः अर्थः प्रयोजनं भवेत्, यवैः अपि स एवार्थः सिद्धेदिति[1]॥ ३६॥ ३॥

॥ इति गोभिलगृह्यसूत्रस्य चतुर्थप्रपाठके तृतीयखण्डस्य डा० सुधाकरमालवीय कृता सरलाव्याख्या समाप्ता॥ ४.३॥

——*——

(१) आवहनादिकस्तिलार्थस्तिलनिष्पाद्यपदार्थः, यवैः कर्तव्य इति वर्तते। अन्योऽपि—'प्रातरामन्त्रितान् विप्रान्' इत्येवमादिको विशेषः। तथाच—

प्रातरामन्त्रितान् विप्रान् युग्मानुभयतस्तथा ।
उपवेश्य कुशान् दद्यादृजुनैव हि पाणिना ॥ इति । क० प्र० १।२।१ ।

कर्मप्रदीपपाद् वासिष्ठाच्च श्राद्धकल्पादुपलब्धव्य। । श्राद्धमन्त्राश्चाऽऽवाहनाद्य। परिसंख्यानादुपलब्धव्या: ।

तथाचोक्तम्—

इदं शास्त्रं च गृह्यञ्च परिसंख्यानमेव च ।
वसिष्ठोक्तञ्च यो वेद स श्राद्धं वेद नेतरः ।। इति ।

कर्मप्रदीपः १।४।१२ ।

इदानीमेतच्चिन्त्यते—किं ब्राह्मणभोजनं श्राद्धे प्रधानम् 'उत पिण्डदानमिति' ? तत्र ते श्लोका भवन्ति—

प्राधान्यं पिण्डदानस्य केचिदाहुर्मनीषिणः ।
गयादौ पिण्डमात्रस्य दीयमानस्य दर्शनात् ॥
श्रुतौ च पिण्डदानस्य केवलस्य विधानतः ।
भीष्मस्य ददत: पिण्डान् हस्तोत्थानस्मृतेरपि ॥
भोजनस्य प्रधानत्वं वदन्त्यन्ये महर्षय। ।
ब्राह्मणानां परीक्षायां महायत्नप्रदर्शनात् ॥
महाफलविधेश्चैव पङ्क्तिपावनभोजनात् ।
अपाङ्क्त्यभोजनाद् दातुर्महानर्थप्रदर्शनात् ॥
आमश्राद्धविधानस्य विनापिण्डैः क्रियाविधेः ।
तदालभ्याप्यनाघ्रायविधानश्रवणादपि ॥
विद्वन्मतान्युपादाय मम त्वेतद् हृदि स्थितम् ।
प्राधान्यमुभयोर्यस्मात् तस्मादेष समुच्चय। ।। इति ।

कर्मप्रदीप: ३।१०।९-१४ ।

इमे श्लोका कर्मप्रदीपस्य तृतीयप्रपाठकस्यान्तिमे खण्डे पठ्यन्ते । क्वचिद् द्वितीयचतुर्थौ विहाय । तस्मादस्माकं समुच्चयपक्ष आदरणीयः । अत्र च निमित्ततो ब्राह्मणभोजनस्य पिण्डदानस्य चाननुष्ठानेऽपि उभयो: प्राधान्यं नानुपपन्नम् । असोमयाजिपक्षे दधिपयोयागवत् । फलश्रुतिश्च उभयत्राप्यस्ति ; ब्राह्मणभोजनं प्रधानं पिण्डदानमङ्गम् इति शूलपाणिप्रभृतय: । अन्नोत्सर्ग। प्रधानम् इति वाचस्पतिमिश्रादय: । स्मरन्ति च—

श्राद्धं कृत्वा प्रयत्नेन त्वराक्रोधविवर्जित। ।
उष्णमन्नं द्विजातिभ्य। श्रद्धया प्रतिपादयेत् ।। इति ।

अत्र खल्वन्नोत्सर्गे श्राद्धपदं प्रयुक्तम् ।

तथा स्मृत्यन्तरम्—

संस्कृतं व्यञ्जनाढ्यान्नं पयोदधिघृतान्वितम् ।
श्रद्धया दीयते यस्मात् तेन श्राद्धं निगद्यते ॥ इति ।

अपि च नित्यश्राद्धादौ तावत् पिण्डनिषेधोऽवगम्यते ; स च प्राप्तस्यैव भवति । प्राप्तिश्चातिदेशादेव । स खल्वङ्गानामेव न प्रधानस्य । कस्मात् ? उपकारकत्वेनैवातिदेशस्य सप्तमाध्याये सिद्धान्तितत्वात्, तस्मात् पिण्डदानमङ्गमेव । अङ्गेषु फलश्रुतिरर्थवाद एव । केवलपिण्डदानविधिस्तु अङ्गभूतपिण्डदानात् कर्मान्तरमेव, प्रकरणाधिकरणन्यायात्—इति श्राद्धविवेकः । इदन्त्विह वक्तव्यम्—'मासमग्निहोत्रं जुह्वति' इति कुण्डपायिनामयने यथा अग्निहोत्रवत् जुह्वति इति वचनव्यक्त्या नयमिकस्याग्निहोत्रस्य धर्मा अतिदिश्यन्ते प्रधानश्च होमो योऽग्नये च प्रजापतये च इति, यथा वा 'उद्भिदा यजेत' इत्येवमादौ अव्यक्तयजतौ सोमिकधर्मा इव प्रधाना अपि यजतयः प्रदिश्यन्ते तयो रूपान्तराभावात् तद्वदत्रापि स्यात् । आनर्थक्याद्धि प्रधानस्यानतिदेश उक्तः । न चैवमानर्थक्यं शक्यते वक्तुम् । अथ मन्यसे—नासौ प्रधानस्यातिदेशः । कस्य तर्हि ? अङ्गस्यैव । प्रधानं खल्वत्र जुहोतिना यजतिना च विहितम्, द्रव्यदेवते पुनरङ्गे एवातिदिश्येते अङ्गान्तरवत् इति । एवं तर्हि प्रकृतेऽपि श्राद्धचोदनया प्रधानं विहितम् इति न प्रधानस्यातिदेशः, अपि तु अङ्गमेव—इति कर्तव्यताकलापः प्रदिश्यताम् । कथं तर्हि पिण्डदानस्य निषेधः क्रियते ? इतिकर्तव्यतानिषेधाभिप्रायतया इति गृहाण । नायं पिण्डदानस्य निषेधः अपि तु तदितिकर्तव्यताया एव । तस्याश्च निषेधात् पिण्डोऽपि न दीयते उत्तरवेदेर्निषेधात् वैश्वदेवे सुनासीरीये च यथा नाग्निः प्रणीयते तद्वत् ।

अपि च कस्मात् कारणदुभयोः प्राधान्यपक्षे पिण्डदानस्य निषेधो न घटते इति तावदसौ प्रष्टव्यः । स यदि ब्रूयात् प्राप्तेरभावादिति, त प्रतिब्रूयात् विध्यन्तेन प्राप्तेरभावेऽपि विध्यादितः प्राप्तिरस्त्येव, कुतः ? श्राद्धपदस्यैवैवमर्थ्यात् । तत्र विध्यादितः प्राप्तः पिण्ड प्रतिषिध्यमानस्तदितरकरणमेव प्रयोजयति । सोऽयं पर्युदासो न निषेधः । यथा सर्वस्वं दद्यात्—इत्यत्र भूम्यादिप्रतिषेधात् तदितरत् सर्वस्वमर्थः, तथैवात्रापि पिण्डेतरत् श्राद्धमर्थ इति न किञ्चिदनुचितम् ।

एतेन 'श्राद्धं सपिण्डकं कृत्वा' इत्यादिवचनान्यपि व्याख्यातानि । गोवृषन्यायात् खल्वेवमुच्यते प्रशंसार्थम् । तदेवमादिवचनवैचित्र्यमृषीणामबुद्ध्वा न बुद्धिमद्भिर्भ्रमितव्यम् । यत् पुनरङ्गभूतपिण्डदानादितरदेव कर्मान्तरं प्रधानं पिण्डदानम् इति वर्णितम्, तत्र पृच्छामः तस्य श्राद्धत्वमिष्यते न वा ? इति । यदि तावत् प्रथमः

पक्षः, तदा विफलप्रयासः ; पिण्डदानस्यापि श्राद्धत्वाभ्युपगमात् । कर्मान्तर-वचनानुपपत्तिश्च स्यात्, सति ब्राह्मणभोजने पिण्डदानमङ्गम्, असति प्रधानम् इति ब्रवीमि, इति चेत् ? नैतत् प्रमाणोपेतं ब्रवीषि । कस्मात् ? रूपभेदाभावाद् यदेव खल्वस्य रूपमङ्गस्य तदेव प्रधानस्यापि, इति सति ब्राह्मणभोजने अङ्ग विपरीतमन्यथा, इत्यत्र विशेषहेतुर्नास्ति फलश्रुतेरुभयत्राप्यविशेषेणैकशेषस्य दुष्करत्वात् । अपि च एतावताऽपि श्राद्धशब्दाभिधेयत्वमस्याभ्युपगच्छत्येव भवान् इति, असतीव ब्राह्मण-भोजने तस्यापि तस्मिन् प्राधान्यमेवास्याभ्युपगम्यतां कृतमर्धंजरतीयेन । कुत्र-चिदकस्य कुत्रचिच्चान्यस्य प्राधान्ये पुनरभ्युपगम्यमाने अनेकार्थत्वमस्य कल्पनीयं स्यात्, तच्चान्याय्यम् ।

उत्तर इति चेन्न, आचार्यविरोधात् ; इति चेत् पश्यसि, उत्तरः पक्षस्तर्हि समा-श्रयिष्यते इति । एतदपि न पारयसि, कस्मात् ? आचार्यविरोधात् । 'तत् श्राद्धम्' इति सूत्रयन्नाचार्यः पिण्डपितृयज्ञस्यापि श्राद्धत्वमुपदिशति, विरुध्यते खल्वेतद् भवताम् । पिण्डप्रधानो हि सः ; तस्मात् पिण्डमन्तरेणैव ब्राह्मणभोजनमन्तरेणापि श्राद्धदर्शनात् नैतदेकतरस्मिन्नेव पक्षे चोदयितव्यं भवति ; द्वयोः समानत्वादिति सन्तोष्टव्यम् । समुच्चयपक्षः खल्वेवमुपोद्वलितो भवति । यस्तु ब्राह्मणभोजनमात्रं प्रधानमाह स कथं पिण्डदानमात्रस्य श्राद्धत्वं समर्थयितुं शक्ष्यतीति न विद्मः ।

यदपि शङ्खवचनमुपन्यस्तं 'श्राद्धं कृत्वा प्रयत्नेन' इत्यादि, सोऽयं केवलान्नोत्सर्ग श्राद्धपदप्रयोग इति वर्णितञ्च तदप्यसङ्गतम् ।

कस्मात् ?

भोजयेदथवाऽप्येकं ब्राह्मणं पङ्क्तिपावनम् ।। इति ।
उच्छिष्टसन्निधौ कार्यं पिण्डनिर्वपणं बुधैः ।। इति ।

च ब्राह्मणभोजनं पिण्डनिर्वपणञ्चाभिधाय पश्चात् तद्वचनारम्भात् । तदनेनाय-मपि समुच्चयपक्षमुपोद्वलयतीत्यवगच्छामः । तस्मात् पौर्वापर्यपरामर्शाभावादन्नोत्सर्गे श्राद्धपदं प्रयुक्तमिति भ्रान्तिरुद्बभूव ।

तथाचोक्तम्—

पौर्वापर्यपरामृष्टः शब्दोऽन्यां कुरुते मतिम् ।। इति ।

यच्च पुलस्त्यवचनमुपदर्शित 'संस्कृतं व्यञ्जनाढ्यान्नम्' इत्यादि, तस्यापि श्रद्धया यस्मादत्रान्नं दीयते तस्मादिदं कर्म श्राद्धमित्युच्यते इति वचनव्यवस्था अन्नदानादति-रिक्तमपि किञ्चिदत्रगम्यत एव । तदिद 'संज्ञायाम्' इति वा, 'तस्येदम्' इति वा भवति । जयादित्यस्तु 'चूडादिभ्य उपसंख्यानम्' इत्यभिधाय चूडा प्रयोजनमस्य चौडम्, श्रद्धा प्रयोजनमस्य श्राद्धम् इत्युदाजहार । रघुनन्दनस्तु पुलस्त्यवचनमालोचनमात्रेण पश्यन्

श्रद्धया अन्नादेर्यद् दानं तत् श्राद्धमिति वैदिकप्रयोगाधीनयौगिकमिति वर्णयाञ्चकार। तदसङ्गतम्, कुतः? तदभिप्रेतस्य योगार्थस्याशब्दत्वात्। न खलु श्रद्धया अन्नादेर्दानमित्ययमर्थः श्राद्धशब्दादवगम्यते, न खलु दानार्थं तद्धितमुपदिशन्त्याचार्याः। वस्तुतस्तु पुलस्त्यवचनं खल्वेतत्, दीयते इति कर्मणि तिङः प्रयोगात् दीयमानस्यान्नस्य श्राद्धत्वमाह न त्वन्नदानस्येति कस्य केनाभिसम्बन्धः। दर्शितञ्चास्माभिः पिण्डपितृयज्ञस्यापि श्राद्धत्वमाचार्यस्यानुमतम्, तदपि न प्रस्मर्तव्यम्। यच्च—

अदैवं भोजयेच्छ्राद्धं पिण्डमेकञ्च निर्वपेत्।

इति वचनम्, तत्र खल्वन्ने श्राद्धशब्दः प्रयुक्तः। यदपि—

आमश्राद्धं यदा कुर्याद् विधिज्ञः श्राद्धदः सुतः।
तेनाग्नौकरणं कुर्यात् पिण्डांस्तेनैव निर्वपेत्॥

इति वाक्यम्। तत्रापि तेनाग्नौकरणम् इति हेतुत्वेनोपादानम्, यतस्तेनाग्नौकरणम्। अतस्तेनैव पिण्डदानमिति तस्यार्थः, अग्नौ करणशेषेण पिण्डदानम् इत्ययमत्र हेतुः। तदिदं वाक्यम्—

आमश्राद्धं यदा कुर्यात् पिण्डदानं कथं तदा।
गृहादाहृत्य पक्वान्नं पिण्डं दद्यात् तिलैः सह॥

इत्येतत्पक्षाननुज्ञानार्थम्। प्रथमोद्दिष्टस्यैव वा श्राद्धस्य 'पिण्डांस्तेनैव निर्वपेत्' इति पर्यायान्तरेण परिकीर्तनम्। पिण्डनिर्वपणस्यैव श्राद्धपदार्थत्वादित्यभिप्रायः। तथा च मनुः—

सहपिण्डक्रियायान्तु कृतायामस्य धर्मतः।
अनयैवाऽऽवृता कार्यं पिण्डनिर्वपणं सुतैः॥ इति।

न च पिण्डनिर्वपणं पित्रे दानम् इति रघुनन्दनव्यानं युक्तमिति वाच्यम्, यथाश्रुतार्थपरित्यागे मानाभावात्, 'अस्य' इति करणाच्चपिण्डदानस्यैवावगतेः, पित्रुद्देश्यकदानमात्रस्यैव तदितिकर्तव्यतापत्तेश्च। 'न निर्वपति यः पिण्डम्' इति 'पिण्डदोऽशहरः' इति 'पिण्डं दद्याद् धनं हरेत्' इति 'त्रिषु पिण्डः प्रवर्तते' इति 'पिण्डोदकक्रियाहेतोः' इति 'नरकस्थाश्च तृप्यन्ति पिण्डैर्दत्तैः' इति चैवमादिषु शतशः पिण्डदानस्य प्राधान्यावगमाच्च।

एवं निर्वपणं कृत्वा पिण्डांस्तांस्तदनन्तरम्।

इति परतस्तेनैव पिण्डनिर्वपणस्योपसंहाराच्चैवमवगच्छामः। उपसंहारः खल्वयं श्राद्धप्रकरणशेषे दृश्यते, तस्मात् पिण्डप्रदानस्यैवायमुपसंहारो न श्राद्धकर्मण इत्यपि न शक्यते वक्तुम्। अपि च पिण्डदान एव पिण्डनिर्वपणपद प्रयुक्तवान् मनुः, इत्यवगच्छामः। कथं कृत्वा? शृणु, पुरस्तात् तावत्—

त्रींस्तु तस्माद्धविःशेषात् पिण्डान् कृत्वा समाहितः ।
औदकेनैव विधिना निर्वपेद् दक्षिणामुखः ॥ इति ।

परस्तादपि—

पिण्ड निर्वपणं केचित् पुरस्तादेव कुर्वते । इति ।

पिण्डप्रदान एव पिण्डनिर्वपणपदप्रयोगो दृश्यते । अपि च कस्यचित् पिण्डदानम् कस्यचिच्च ब्राह्मणभोजनं प्रधानम्, इत्यतो हि कारणात् समुच्चयपक्षः प्रादुर्भवति । तत् किमत्र करिष्यन्ति अन्यतरप्राधान्यावेदकानि वचनानि । स खल्वयमलङ्कारः समुच्चयपक्षस्य न दोषः न दोषः । तस्मात् तत्तद्वाक्यपर्यालोचनया क्वचित् पिण्डः प्रधानम्, यथा गयापिण्ड पितृयज्ञादौ । क्वचिद्ब्राह्मणभोजनम् यथा नित्यश्राद्धादौ । अन्यत्र त्वविशेषादुभयं प्रधानम्, यथा सपिण्डीकरणादौ । इत्यस्तु किं विस्तरणे'त्याह ।

अथान्वष्टक्यप्रयोग उच्यते—अष्टम्यां मध्यष्टकां कृत्वोत्तरेऽहनि नवम्यां दशम्यां वाऽन्वष्टक्यं कुर्यात् । तच्चापराह्णे पैतृकत्वात् । श्राद्धकल्पोक्तनियमाः स्युर्विप्रनिमन्त्रणादिकञ्च । गृहस्याऽऽग्नेय्यां दिश्यष्टमे देशे चतुःप्रक्रमपरिमितां ततोऽधिकप्रक्रमपरिमितां वा दक्षिणपूर्वायतां वा चतुरस्रां वेदिकां निर्माय पश्चिमद्वारं कृत्वा परितः कटादिभिराच्छादयेत् ।

अत्र वक्ष्यमाणं कर्म दक्षिणपूर्वाभिमुखेनैव कर्तव्यम् । प्रक्रमस्त्रिपदो ग्राह्यः । ततोऽपराह्णे यजमानः स्नात्वा यज्ञोपवीत्याचम्य प्राणानायम्य देशकालौ सङ्कीर्त्य प्राचीनावीती गोत्राणां पित्रादीनां तृप्त्यर्थमन्वष्टक्यं करिष्ये इति सङ्कल्प्य परिवृतदेशस्योत्तरार्धे उपलिप्ते देशे विदिक्कोणं समं चतुरस्रं स्थण्डिलमरत्निमात्रं पूर्ववत् संस्कृत्य भूर्भुवः स्वरित्यौपासनाग्निमुपवीती प्रणयति । नात्र ब्रह्मा, ततः प्राचीनावीत्याग्नेय्याभिमुखोऽग्नेः पश्चाद् दक्षिणसंस्थमुलूखलं मुसलं सहविस्सूर्पं चरुस्थालीद्वयं पवित्रद्वयमुदकपात्रं यवोदकं मेक्षणद्वयं स्रुबमाज्यं रजतभूषितं खादिरं शङ्कुं दर्भमुष्टिं सकृदाच्छिन्नकुशान् स्तरणार्थं सकृदाच्छिन्नप्रस्तरमुष्टिं यज्ञियकाष्ठासनं कांस्यपात्रत्रयं समिद्द्वयं तिलान् दर्वीं पिञ्जुलीत्रयं सौवीराञ्जनं तैलचन्दनक्षौमदशासूत्राणि पिञ्जुलीमेकाञ्चाऽऽसादयेत् ।

तत आग्नेयाभिमुखोऽग्नेः पश्चाद् दक्षिणाग्रेषु दर्भेषूलूखलं दृढं संस्थाप्य तस्मिन् सकृद् गृहीतव्रीहिमुष्टिं पितृभ्यस्त्वा जुष्टं निर्वपामीति मन्त्रेण होमपिण्डदानापेक्षितान् तण्डुलान् पितृतीर्थेन सकृन्निरूप्य सव्योत्तराभ्यां पाणिभ्यां मुसलमादाय सकृद् व्रीहीनवहन्ति । ततः सकृत् फलीकृत्य सकृत् प्रक्षालयेत् ।

ततो मध्यमाष्टकायां स्थापित वामसक्थ्नः क्लोमनश्च मांसपेशीमवच्छिद्य नूतनकाष्ठफलके संस्थाप्याणुशश्छिनत्ति यथा मांसमिश्रिताः पिण्डा भवेयुः । ततो-

ऽणुशश्छिन्नं मांसजातं तस्मिन्नेवाग्नौ श्रपयति। पूर्वप्रक्षालिततण्डुलानपि पृथक् पात्रे श्रपयति। मध्यमाष्टकायां स्थालीपाकपक्षे मांसस्थाने अत्रापि पायसचरुं कुर्यात्। मध्यमाष्टकायां मांसस्थानीयस्थालीपाके प्रक्षालिततण्डुलानामेकदेशं श्रपणात् पूर्वं संस्थापितं यत् तेनैवात्र पायसचरुकरण न्याय्यम्। स्थाल्यां तण्डुलावापे एकपवित्रान्तर्धानम्। पृथक् पृथङ् मेक्षणेन मांसमोदनं चापादक्षिण्येन मिश्रीकुर्यात्। मांसाभावे पायसचरुम्। ततः शृत मांसमोदनं चाभिघार्याग्नेर्दक्षिणत उद्वास्य चरुद्वयं न प्रत्यभिघारयेत्।

ततः परिवृतदेशस्य दक्षिणार्धे प्रादेशायामांश्चतुरङ्गुलखातांश्चतुरङ्गुलविस्तृतान् यत्राकारान् सार्वाङ्गुलान्तरालान् वायव्यग्निदिङ्मुखान्तान् त्रीन् गर्तान् शङ्कुना कुर्यात्। ततः पूर्वकृतस्य गर्तस्य पुरस्ताद् विधिवत् संस्कृते देशे गर्तानां पश्चिमेनैकदेशमग्निमाहृत्य प्राङ्मुखो यज्ञोपवीती स्थापयति। ततो मूलसमीपच्छिन्नै र्दर्भैरेतमग्निं परिस्तीर्य मध्ये गर्तान् परिस्तृणोति। अग्निदिगग्रैः। अत्रापि प्राचीनावीतित्वमग्निदिगाभिमुख्यञ्च कर्तुं। ततो गर्तानां पश्चाद् दक्षिणाग्रैः कुशैः प्रस्तरमास्तारयेद् दक्षिणाप्रवणम्। तस्मिन् प्रस्तरे काष्ठमयमासनमुपदध्यात्। आसनस्य स्थापनं नोपवेशनार्थं किन्त्वदृष्टार्थं प्रस्तरे आसनासम्भवात्। तस्मिन् त्रीण्युदकपात्राणि वक्ष्यमाणानि द्रव्याणि चैकैकशः स्थापयेत्। अन्ये तु पुत्रादिः 'पूर्वमासादितानामेकमेकं यजमानस्याप्रादक्षिण्येनाऽऽहरति, यजमान आहृतं प्रस्तरे स्थापयती'-त्याहुः। प्रकृते प्रस्तरे चरुस्थालीद्वयं कांस्यपात्रं दर्वीमुदकं समिद्‌द्वयं पिञ्जुलीमेकां चान्यान्यप्यासादयति। तान्युच्यन्ते—

पत्नीप्रकृते बर्हिषि शिलां संस्थाप्य चन्दनादिगन्धद्रव्यपेषणं करोति। तस्यामेव शिलायां सौवीराञ्जनस्य घर्षणं कृत्वा तेनाञ्जनेन तिस्रो दर्भपिञ्जुलीरार्द्रीकरोति मध्ये मध्ये किञ्चिदन्तरं कृत्वा ततश्चन्दनमञ्जनासक्तदर्भपिञ्जुलीश्च तिलतैलं क्षौमदशाञ्च स्वस्तरे स्थापयति। ततः पूर्वनिमन्त्रितानिन्दितान् श्रेष्ठानुदङ्मुखानयुग्मान् ब्राह्मणान् पित्राद्यर्थं गर्तानां दक्षिणतः शुचौ देश उपवेशयेत्। अत्र निमन्त्रणवरणक्रमावन्यतो ग्राह्यौ। प्रागेवविश्वेदेवार्थं युग्मब्राह्मणोपवेशनञ्च। एतत् सर्वं कल्पसूत्रादौ द्रष्टव्यम्। अत्र तु गृह्यसूत्रोक्तो यावद्विशेषः प्रदर्श्यते।

प्राचीनावीत्युपविष्टेभ्यो ब्राह्मणेभ्य आसनार्थं दर्भान् प्रदाय तूष्णीमुदकं दत्त्वा तिलोदकं ददाति मन्त्रेण। पितुर्नाम गृहीत्वा अमुक शर्मन्नेतत्ते तिलोदकं ये चात्र त्वामनु यांश्च त्वमनु तस्मै ते स्वधा। अथाप उपस्पृश्यैवं पितामहस्य प्रपितामहस्य नामगृहीत्वा तिलोदकं दद्यात्। ततो गन्धान्—अमुकदेवशर्मन्नेष ते गन्धः ये चात्रेत्यूहः। एतत्तिलोदकं पूर्वासादितोदकपात्रेषु तूष्णीं जलमासिच्य

मन्त्रेण दातव्यं न ब्राह्मणहस्तेष्विति केचित्। ब्राह्मणहस्तेषु प्रकृतत्वादित्यन्ये। अस्मिन् काले ब्राह्मणानां गन्धाद्युपचाराः कर्तव्याः। ततोऽग्नौ करिष्यामीति पितॄननुज्ञाप्य कुर्वित्यनुज्ञातस्त्रिरुदकाञ्जलिसेचनं पर्युक्षणं समिदाधानञ्च कृत्वा कांस्यपात्रे चरुद्वयं निःशेषं पृथङ्मेक्षणेनावदाय संमिश्र्य मेक्षणेनातिप्रणीतानामुपघातं जुहोति। तत्र मन्त्रौ—अनयोः प्रजापतिर्ऋषिर्यजुः पितरो देवता होमे विनियोगः। स्वाहा सोमाय पितृमते। पूर्वाहुतिमन्त्रः। स्वाहा अग्नये कव्यवाहनाय। उत्तराहुतिमन्त्रः। स्वाहापदोच्चारेणाग्नौ हुत्वा पश्चान्मन्त्रं समापयेत्। ततः समिदाधानादि। निरग्निश्चेद् यजमानो ब्राह्मणहस्ते जुहुयात्। ततो हुतशेषात् किञ्चित् ब्राह्मणेभ्यो दत्त्वा पिण्डार्थमवशेषयेत्। ब्राह्मणभोजनकाले श्रुत्यादिकं श्रावयेत्। अत्र भोजनार्थं ब्राह्मणोपवेशन-भोजनपात्रालम्भन-संतृप्तिप्रश्नादिकं मासश्राद्धप्रयोगवत् कर्तव्यम्। पिण्डदानं ब्राह्मणानामुत्तरापोशनानन्तरमुच्छिष्टपात्रसन्निधौ छन्दोगानां कर्तव्यमिति श्राद्धकल्पोक्तं ग्राह्यम्।

अत्र ऊर्ध्वं पिण्डदानम्। तत्र प्राचीनावीती वाग्यतो यजमानः सव्येन हस्तेन दर्भपिञ्जुलीं गृहीत्वा सव्याद् दक्षिणेन पिञ्जुलीं गृहीत्वा सव्येनान्वारभ्य दक्षिणायां गर्तानां मध्ये रेखामुल्लिखेद् 'अपहता' इति मन्त्रेण। प्रतिगर्तं मन्त्रावृत्तिः। अस्य प्रजापतिर्ऋषिः पितरो देवता यजुर्लेखोल्लेखने विनियोगः। मन्त्रः। ततः सव्यहस्तेनातिप्रणीताग्नेरुल्मुकं गृहीत्वा दक्षिणेनाऽऽदाय सव्येनान्वारभ्य गर्तानां दक्षिणभागे ये रूपाणीति मन्त्रेण स्थापयेत्। अस्य मन्त्रस्य प्रजापतिर्ऋषिरग्निर्देवता त्रिष्टुप् छन्द उल्मुकस्थापने विनियोगः। मन्त्रः।

गर्तेषु दर्भानास्तीर्य अथ पितॄन् आवाहयेत् 'एत पितर' इति मन्त्रेण। अस्य मन्त्रस्य प्रजापतिर्ऋषिस्त्रिष्टुप् छन्दः पितरो देवता पित्रावाहने विनियोगः। मन्त्रः। अथोदकपात्राणि त्रीणि पूर्वमासादितानि गर्तानां सन्निधौ क्रमेण स्थापयेत्। ततो वामहस्तेन प्रथमगर्ते स्थापितमुदकपात्रं गृहीत्वा दक्षिणेनाऽऽदाय सव्येनान्वारभ्य पितृतीर्थेन पूर्वकृतगर्तदर्भेषूदकं निनयेत्। तत्र पितुर्नाम सम्बोधनान्तमसावित्यस्य स्थाने कृत्वा मन्त्रः पठनीयः। मन्त्रश्च असाववनेनिक्ष्व ये चात्र त्वामनु यांश्च त्वमनु तस्मै ते स्वधा। अथाप उपस्पृश्य द्वितीयोदकपात्रं वामहस्तेन गृहीत्वा द्वितीयगर्तदर्भेषु पितामहस्य सम्बोधनान्तं नाम गृहीत्वा अवनेनिक्ष्व ये चात्रेत्यादिना पितृतीर्थेनोदकं निनयेत्। अथाप उपस्पृश्य तृतीयोदकपात्रं वामहस्तेन गृहीत्वा प्रपितामहनामयुक्तेन पूर्वोक्तमन्त्रेण तृतीयगर्तदर्भेषु पितृतीर्थेन निनयेत्। सर्वत्रोदकनिनयनं दक्षिणहस्तेन वामहस्तेन पात्रग्रहणम्। सव्येनान्वारम्भश्च। ततो हुतशेषस्य ब्राह्मणभोजनार्थं पक्वान्नस्य चैकीकरणम्। ततः सव्येन हस्तेन दर्वीं गृहीत्वा तत् तृतीयांशं

दर्व्याऽवदाय दक्षिणहस्तेन गृहीत्वा सव्येनान्वारभ्य पूर्वकृतगर्तदर्भेषु पिण्डं निदध्यात् पितुर्नामयुक्तमन्त्रेण। अमुकशर्मन्नेष ते पिण्डो ये चात्र त्वेति। अप उपस्पृश्य पितामहप्रपितामहयोः पिण्डौ द्वितीयगर्ते तृतीयगर्ते च पूर्ववत् क्रमेण स्थापयेत्। पितामहपिण्डदानमन्त्रे पितामहस्य प्रपितामहपिण्डदाने च प्रपितामहस्य नामग्रहणमिति विशेषः। यदि पित्रादीनां नामानि न जानाति तदा 'स्वधा पितृभ्यः पृथिवीषद्भ्य' इति पितृपिण्डं स्थापयेत्, 'स्वधा पितृभ्योऽन्तरिक्षसद्भ्यः' इति पितामहपिण्डम्, स्वधापितृभ्यो दिविषद्भ्यः' इति प्रपितामहपिण्डम्।

अत्र केचित् पित्रादौ नामन्यतमस्यनाम्नयज्ञाते त्रयाणामपि सौत्रनामभिः पिण्डनिधानम् बहुवचनार्थत्वाल्लोकत्रयसम्बन्धविधानात् प्रयोगैकरूप्याच्च। अन्ये तु पित्रादीनां मध्ये यस्य नाम न ज्ञायते तस्यैव सौत्रनाम्ना पिण्डदानम्, यस्य तु नाम ज्ञायते तस्य तन्नामयुक्तपूर्वोक्तमन्त्रेण पिण्डदानमिति न्याय्यम्, निमित्ते नैमित्तिकस्य युक्तत्वान्नित्यमन्त्रानुग्रहाच्च इति वदन्ति। यथोचितमत्र ग्राह्यम्।

अत्र पित्रादिनामापरिज्ञाने पृथिवीषदादिनामान्तरविधानाद् इतः पूर्वं विहितेष्वर्घ्यतिलोदकगन्धावनेजनोदकदानेष्वपि तथैव ग्राह्यम्। एवं त्रीन् पिण्डान् निधाय—अस्य मन्त्रस्य प्रजापतिर्ऋषिर्यजुः पितरो देवता जपे विनियोगः।

ॐ अत्र पितरो मादयध्वं यथाभागमावृषायध्वम्। अप्रादक्षिण्येन पर्यावृत्योदङ्मुखोऽनुच्छ्वसन्, अस्य मन्त्रस्य प्रजापतिर्ऋषिर्यजुः पितरो देवता जपे विनियोगः।

ॐ अमीमदन्त पितरो यथाभागमावृषायिषत इति जपेत्। ततस्तेनैव पर्यावर्तमान आगत्योच्छ्वसेत्। ततो वामहस्तेनाञ्जनयुक्तदर्भपिञ्जुलीं गृहीत्वा दक्षिणेनाऽऽदाय सव्येनान्वारभ्य पितृतीर्थेन पितृपिण्डे स्थापयेत् पितृनाम युक्तमन्त्रेण। अमुकगोत्र पितरमुकशर्मन्नेतत् त आञ्जनं ये चात्र त्वेति। अप उपस्पृश्य एवं पितामहप्रपितामहपिण्डयोरपि स्थापयेत्। एवं तिलतैलं सुरभिचन्दनञ्च दद्यात्।

अथ यजमान उत्तानदक्षिणपाण्युपरि बामहस्तमधोमुखमितरेतर संलग्नं कृत्वा पूर्वकृतगर्ते संस्थाप्य ॐ नमो व इत्यादिमन्त्राणां प्रजापतिर्ऋषिरुष्णिक् छन्दः पितरो देवता निह्नवजपे विनियोगः। ॐ नमो वः पितरो जीवाय, ॐ नमो वः पितरः शूषायेति नमस्कुर्यात्। सव्योत्तानौ पाणी कृत्वा द्वितीययगर्ते ॐ नमो वः पितरो घोराय, ॐ नमो वः पितरो रसायेति। तृतीयगर्ते दक्षिणोत्ताणौ पाणी कृत्वा ॐ नमो वः पितरः स्वधायै, ॐ नमो वः पितरो मन्यव इति नमस्करोति। ततः कृताञ्जलिः ॐ नमो वः पितरः पितरो नमः वः इति जपति। ततः पत्नीमवेक्षते। अस्य मन्त्रस्य प्रजापतिर्ऋषिः गायत्री छन्दः पितरो देवता पत्न्यवेक्षणे विनियोगः। ॐ गृहान् नः पितरो दत्त इति। ततः पिण्डानवेक्षते अस्य मन्त्रस्य

प्रजापतिर्ऋषिर्गायत्री छन्दः पितरो देवता पिण्डावेक्षणे विनियोगः, ॐ सदो वः पितरो देष्म । ततो दक्षिणहस्तेन पूर्वासादितसूत्रं गृहीत्वा वामेनान्वारभ्य पितृतीर्थेन प्रथमे निदध्यात्, पितरमुकशर्मन्नेतत्ते वासो ये चात्र त्वेति । अप उपस्पृश्य पितामहप्रपितामहपिण्डयोरपि । तत आचान्तेषु ब्राह्मणेषु मासश्राद्धवत् सुसप्रोक्षितमस्तु इत्याद्यर्घपात्रोत्तानकरणान्तं कर्म कुर्यात् । ततः सव्येन पाणिनोदकपात्रं गृहीत्वा पितृतीर्थेन पिण्डान् परिषिञ्चेत्, अस्य मन्त्रस्य प्रजापतिर्ऋषिः पिपीलिकामध्योष्णिक् छन्दः पितरो देवता पिण्डपरिषिचने विनियोगः । ॐ ऊर्जं वहन्तीरिति । ततो मध्यपिण्डं पत्न्यै प्रयच्छति पुत्रकामा चेत् पत्नी, अस्य मन्त्रस्य प्रजापतिर्ऋषिर्गायत्री छन्दः पितरो देवता पिण्डप्राशने विनियोगः ॐ आधत्त पितरो गर्भमिति । अथवा यजमानपुत्रपौत्रभ्रात्रादिस्तेषां पत्न्यो वा पुत्रकामाः प्राश्नीयुः । पुत्रकामा एकैव समग्रं पिण्डं प्राश्नीयादिति विशेषः । अस्य मन्त्रस्य प्रजापतिर्ऋषिस्त्रिष्टुप् छन्दोऽग्निर्देवता उल्मुकाभ्युक्षणे विनियोगः । ॐ अभून्नो दूतो इति मन्त्रेणोल्मुकं जलेनाभ्युक्ष्य द्वन्द्वं चरुस्थाल्यादिकं प्रक्षाल्यान्यत्र स्थापयेत् । अस्मिन्नेव क्रमे दक्षिणादानादिकं मासश्राद्धवत् कृत्वा ब्राह्मणान् विसर्जयेत् । ततो वामदेव्यं गीत्वा जले पिण्डान् प्रक्षिपेत् प्रणीतेऽग्नौ वा, ब्राह्मणं वा भोजयेत्, गवे वा दद्यादिति ।

———*———

अथ चतुर्थप्रपाठकस्य

चतुर्थीकण्डिका

अन्वष्टक्यस्थालीपाकेन पिण्डपितृयज्ञो व्याख्यातः ॥ १ ॥

* अनाकुला *

अन्वष्टका कार्य में स्थालीपाक की व्यवस्था के समान अनुष्ठान क्रम पिण्डपितृयज्ञ में भी जानना चाहिए ॥ १ ॥

* सरला *

'पिण्डपितृयज्ञः' पिण्डं शरीरं भस्मीभूतं तदुपलक्ष्य यत् पितृपुरुषस्यार्चनम्, तदेव कर्म पिण्डपितृयज्ञ इत्युच्यते। स च यज्ञोऽनेनैव पुरस्तादुक्तेन अन्वष्टक्यविहितेन स्थालीपाकेनैव 'व्याख्यातम्'। तत्र स्थालीपाकनियमो यथा विहितः, अत्रापि तथैवेत्यतिदेशः ॥ १ ॥

अमावास्यायां तच्छ्राद्धम् ॥ २ ॥ इतरदन्वाहार्यमासीनम् ॥ ३ ॥ दक्षिणाग्नौ हविषः सँस्करणं तत्रश्चैवातिप्रणयः ॥ ४-५ ॥

उस पिण्डपितृयज्ञ श्राद्ध को पिता आदि के वियोग होने पर प्रथम अमावस्या को करे ॥ २ ॥ वियोग न होने से वर्ष की किसी अमावस्या को करे। अन्य ११ अमावस्या को भी ११ श्राद्ध इसी प्रकार करे ॥ ३ ॥ आहिताग्नि यजमानगण इस इस श्राद्ध के हवि को दक्षिणाग्नि में संस्कृत करें और उसी में पूर्वोक्त अग्नि का प्रणयन करे ॥ ४-५ ॥

'तत्' पिण्डपितृयज्ञं कर्म 'श्राद्धम्'—इत्याचक्षते; 'अमावास्यायाम्' पित्रादिमरणानन्तरं प्रथमायामेव वर्षमध्ये यस्यां कस्याश्चिद्वा कर्त्तव्यम् ॥ २ ॥ 'इतरत्' अपरमपि श्राद्धम्, 'मासीनम्' मासि मासि क्रमेण संवत्सरं यावत् 'अन्वाहार्यम्' प्रथममनु प्रथममिव व्यवहार्यम् ॥ ३ ॥ अहिताग्नेरिति ॥ ४-५ ॥

शालाग्नावनाहिताग्नेः । ६ । एका कर्षूः । ७ । तस्या दक्षिणतोऽग्नेः स्थानम् ॥ ८ ॥

वह कर्म अनाहिताग्नि के गृह्य अग्नि में होगा ॥ ६ ॥ यहाँ अन्वष्टका कार्य के समान तीन कर्षू नहीं होंगे ॥ ७ ॥ किन्तु एक ही कर्षू होगा । कर्षू के दक्षिण में अन्वष्टका के समान कर्षू के पूर्व भाग में अग्नि स्थान होगा ॥ ८ ॥

अनाहिताग्नेः 'शालाग्नौ' गृह्याग्नौ एव ॥ ६ ॥ नात्रान्वष्टक्यवत् कर्षूत्रयमिति भावः ॥ ७ ॥ 'तस्याः' कर्ष्वाः । नान्वष्टक्यवत् पूर्वम् इति भावः ॥ ८ ॥

नात्रोल्मुकनिधानं न स्वस्तरो नाञ्जनाभ्यञ्जने न सुरभि न निह्नवनमुदपात्रान्तो वासस्तु निदध्यात् ॥ ९–१५ ॥

इस पिण्ड पितृ-यज्ञ में अन्वष्टका कार्य के समान 'उल्मुक निधान', 'स्वस्तर', 'अञ्जनाभ्यञ्जन', 'सुरभिदान' और 'निह्नव' करे । यह उदपात्रान्त ही समाप्त होगा, एवं इसमें पिण्ड पर अन्वष्टका कार्य के समान सूत न देकर वस्त्र डालना चाहिए ॥ ९–१५ ॥

'अत्र' पिण्डपितृयज्ञे अन्वष्टक्यवत् 'उल्मुकनिधानं' 'स्वस्तरः'; 'अञ्जनाभ्यञ्जने' 'सुरभि' 'निह्नवनं' च 'न' भवति, ततश्च 'उदपात्रान्त' एवासौ यज्ञः, 'तु' अपि अत्र 'वासः निदध्यात्' न अन्वष्टक्यवत् दशासूत्रमिति समाप्ता प्रासङ्गिकीकथा ॥ ९–१५ ॥

माघ्या ऊर्ध्वमष्टम्यां स्थालीपाकः ॥ १६ ॥

माघी पूर्णिमा के बाद कृष्णाष्टमी तिथि को 'शाकाष्टका' नामक तृतीय अष्टका करे और उसमें भी पूर्ववत् स्थालीपाक करे ॥ १६ ॥

माघमासीयपौर्णमास्याः परस्तात् कृष्णाष्टम्यां तृतीयाष्टका शाकाष्टकाख्या कर्त्तव्या, तत्र स्थालीपाकः पूर्ववत् पक्तव्यः ॥ १६ ॥

तस्य जुहुयादष्टकायै स्वाहेति जुहोति स्थालीपाकावृतान्यच्छाकं व्यञ्जनमन्वाहार्यम् ॥ १७–२० ॥

स्थालीपाक के कुछ अंश से 'अष्टकायै स्वाहा' से होम करे, अन्यान्य कार्य स्थालीपाक के समान होंगे । विशेषतः इसमें शाक व्यञ्जन लावे ॥ १७–२० ॥

सर्वं पूर्ववत्, विशेषतस्त्विह 'शाक' नाम 'व्यञ्जन' भोजनोपकरणम् 'अन्वाहार्य्यम्' भवेदिति शाकाष्टका ॥ १७–२० ॥

अथ पितृदैवत्येषु पशुषु वह वपां जातवेदः पितृभ्य इति वपां जुहुयाद् देवदेवत्येषु जातवेदो वपयागच्छ देवानित्यनाज्ञातेषु तथादेशं यथाष्टकायै स्वाहेति जुहोति स्थालीपाकावृतान्यत् ॥ २१–२४ ॥

जहाँ पितृगण के निमित्त पशु संहनन करे, वहाँ 'वह वपां जातवेदः पितृभ्यः' आदि मन्त्र से वपा होम करे। जिस स्थान में किन्हीं देवता के लिए पशु हनन करे, वहाँ 'जात वेदो वपया' आदि मन्त्र से वपा होम करे। जहाँ कार्य के देवता सन्देहास्पद हो कि यहाँ कौन देवता होवे वहाँ के लिए विशेष मन्त्र कहा जाता है। ऐसे स्थानों में जो मन्त्र कहा जाय उसी मन्त्र से वपा होम करे। जैसे 'अष्टका' 'अष्टकायै स्वाहा' मन्त्र वपा होम में व्यवहृत होगा। अन्यान्य सब कार्य स्थालीपाक के नियम से होंगे ॥ २१–२४ ॥

'अथ' अष्टकाविधानसमनन्तरम्। सर्वत्रैव 'पितृदैवत्येषु पशुषु' 'वह वपां जातवेदः पितृभ्यो यत्रैन्वेत्थ निहितान् पराचः। मेदसः कुल्या अभितान्त् स्रवन्तु सत्या एषामाशिषः सन्तु कमात्' (स्वाहा) ॥ १८ ॥ (म० ब्रा० २. ३. १८) इति मन्त्रेण—'देवदेवत्येषु' पशुषु 'जातवेदो वपया गच्छ देवाँ्स्त्वँ् हि होता प्रथमो बभूव। सत्या वपा प्रगृहीता मे अस्तु समृध्यतां मे यदिद करोमि' ॥ १९ ॥ (म० ब्रा० २. ३. १९) इति मन्त्रेण—'अनाज्ञातेषु' यत्र संज्ञप्यमानपशौ देवता 'सा' सम्यक् न ज्ञाता, तादृशेषु, सन्दिग्धदेवत्येषु बहुदैवतेषु वा पशुषु 'तथादेशं' तत्र तत्रैव यथा विहितं तथा विहितानुरूपेणैव मन्त्रेण 'वपां जुहुयात्'। अनाज्ञातेषु मन्त्रप्रयोगदृष्टान्तं दर्शयति—'यथा' 'अष्टकायै स्वाहा'—'इति मन्त्रेण 'जुहोति' अष्टकाकर्मणि अष्टकापशोश्च बहुदेवतात्वात् विवदमानदेवतात्वाद्वा अनाज्ञातदेवदैवत्यत्वम्। वपाहोमे 'अन्यत्' सर्वं 'स्थालीपाकावृता' स्थालीपाकरीत्यैव कार्यम् ॥ २१–२४ ॥

ऋणे प्रज्ञायमाने गोलकानां मध्यमपर्णेन जुहुयात्कुसीदमिति । २५ । अथातो हलाभियोगः ॥ २६ ॥

जब यह जाने कि ऋण बहुल हो गया तो 'यत् कुसीदम्' आदि मन्त्र का पाठ करके ऋण सख्यानुसार (जितना कर्ज हो) मध्यम पलाश पत्र का होम करे ॥ २५ ॥

अब हल प्रयोग की विधि कही जाती है ॥ २६ ॥

'ऋणे प्रज्ञायमाने' स्वल्पमृणम्, ऋणमिति न ज्ञातं भवति, तदन्यत्र, बह्वृणे जाते इति यावत्। 'गोलकानां' पलाशानां (?) 'मध्यमपर्णेन'

'यत् कुसीदमप्रदत्तं मयेह येन यमस्य निधिना चरामि।
इदं तदग्ने अनृणो भवामि जीवन्नेव प्रतिदत्तं ददामि' ॥ २० ॥
(प० ब्रा० २. ३. ३०)

'इति' मन्त्रेण जुहुयात् ॥ २५ ॥ 'अथ' अनन्तरम्। 'अतः' आरम्भ 'हलाभियोग' हलप्रयोग उपदिश्यते इति शेषः ॥ २६ ॥

पुण्ये नक्षत्रे स्थालीपाकँ श्रपयित्वैताभ्यो देवताभ्यो जुहुयादिन्द्राय मरुद्भ्यः पर्जन्यायाशन्यै भगाय। २७। सीतामाशामरडामनघाञ्च यजेत ॥ २८ ॥

पुण्य नक्षत्र में कृषि कार्य में प्रवृत्त होकर पहले स्थालीपाक कर वक्ष्माण देवता आदि को अहुति देनी चाहिए। 'इन्द्राय स्वाहा' आदि मन्त्र से देवराट् को, 'मरुद्भ्यः स्वाहा' से मरुद्गण को, 'पर्जन्याय स्वाहा' से पर्जन्यदेव को, 'अशन्यै स्वाहा' से अशनि देवता को और 'भगाय स्वाहा' से भग देवता को और सीता (हल का फाल) आशा, अरडा और अनघा की पूजा करे ॥ २७-२८ ॥

विमर्श १.देवराट् (ऐश्वरीय बल विशेष)— जो वृत्र (मेघ) के साथ युद्ध कर, बहुत वज्र फेंककर, उस असुर (बलवान् जलाधार) के शरीर को खण्ड-खण्ड करते एवं शची (सब कर्मों) के पति, जिनके प्रभाव से सब क्रिया सिद्ध होती है। २. मरुद्गण— (वायु समूह) जो देवगण वृत्रासुर के साथ युद्ध काल में इन्द्र की सहायता करते हैं और पीछे वृक्ष देह के खण्ड-खण्ड होने पर पृथ्वी पर वेगातिवेग कर गिराते हैं। ३. पर्जन्यदेव—(मेघ) जो वेद में वृत्रासुर नाम से परिचित है। ४. 'अशनि'—वज्र। वस्तुतः मेघाश्रित तेजमात्र को अशनि, जिसके प्रकाशमान् ज्योति को 'विद्युत' कहते हैं। ५. 'भग'—(सूर्य) शब्द ऐश्वर्य वाचक और कृषि ही सब प्रकार के ऐश्वर्य की जड़ है। अत एव जिस देवता के अनुग्रह से कृषि सफल होती हो, उन्हीं को 'भग देवता' कहते हैं। ६. 'सीता' प्रभृति चार ही खेती के यन्त्र होते हैं ॥ २७-२८ ॥

स्पष्टम् ॥ २७ ॥ सीतादीनि चत्वारि कृषियन्त्राणि च पूजयेत् ॥ २८ ॥

एता एव देवताः सीतायज्ञ खलयज्ञ प्रवपण प्रलवन पर्य्यंयणेषु । २६ । आखुराजश्चोत्करेषु यजेत् ॥ ३० ॥

जब हल चलावे, खलिहान में दौनी करे, खेत में बीज बोए पके शस्य काटे जाय एवं जिस समय तैयार अन्न घर में लाया जाय, तब-तब इन (पूर्वोक्त) इन्द्रादि देवता का स्मरण करना चाहिए ॥ २९ ॥ शस्य आदि घर में रखने पर चूहे के बिल में भी चूहे की तुष्टि के लिए कुछ अनाज देवे ॥ ३० ॥

यदा सीता 'यज्ञः' सीतायाः लांगलपद्धतेश्चालनम् 'खलयज्ञः' खले शस्यादीनां मर्द्दनम्, 'प्रवपणम्' शस्यबीजानाम्, 'प्रलवनम्' पक्वानां शस्यानां छेदनम्, 'पर्यंयणम्' तृणवियुक्तधान्यादिशस्यानां गृहानयनम्, अत्र सर्वत्रैव 'एताः' पूर्वोक्ताः इन्द्रादयः 'एव' 'देवताः' स्मर्त्तव्याः ॥ २९ ॥

'उत्करेषु' मूषिकास्थानेषु 'आखुराजञ्च' 'यजेत' तत्खाद्य तोषयेत् ॥ ३० ॥

इन्द्राण्याः स्थालीपाकस्तस्य जुहुयादेकाष्टका तपसा तप्यमानेति ॥ ३१-३२ ॥ स्थालीपाकावृतान्यत् स्थालीपाकावृतान्यत् ॥ ३३.४ ॥

इसके बाद इन्द्राणी देवता की प्रसन्नता के लिए स्थालीपाक करे और परिपक्व स्थालीपाक में से थोड़ा सा लेकर 'एकाष्टका तपसा' आदि मन्त्र से आहुति देवे ॥ ३१-३२ ॥ अन्यान्य सब कार्य स्थालीपाक के समान करे ॥ ३३ ॥

विमर्श—द्विरुक्ति खण्ड समाप्ति की सूचक है।

॥ इस प्रकार गोभिलगृह्यसूत्र के चतुर्थ प्रपाठक के चतुर्थ खण्ड की डा० सुधाकर मालवीय कृत 'अनाकुला' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ ४.४ ॥

——*——

इन्द्राणीदेवतातोषणाय 'स्थालीपाकः' पक्तव्यः। पक्तस्य च 'तस्य' स्थालीपाकस्य अंशं गृहीत्वा 'एकाष्टका तपसा तप्यमाना जजान गर्भं महिमानमिन्द्रम्। तेन देवा असहन्त शत्रून् हन्ता सुराणामभवच्छचीभिः ॥ २१ ॥ (म० ब्रा० २. ३.)—'इति' मन्त्रेण जुहुयात् ॥ ३१-३२ ॥

'अन्यत्' सर्वं यदत्रानुपदिष्टं तत, स्थालीपाकावृता' स्थालीपाकरीत्यैव कार्यम्, न तत्र कश्चिदपि विशेष इति भावः। द्विरुक्तं खण्डसमाप्तिसूचकमिति हलाभियोगः ॥ ३३.४ ॥

इति गोभिलगृह्यसूत्रे चतुर्थप्रपाठके चतुर्थखण्डस्य डा० सुधाकर मालवीय कृता सरलाख्या व्याख्या समाप्ता ॥ ४.४ ॥

——*——

अथ चतुर्थ प्रपाठकस्य

पञ्चमीकण्डिका

काम्येष्वत ऊर्ध्वम् ॥ १ ॥

* अनाकुला *

अब काम्य कर्म को कहेंगे ॥ १ ॥

* सरला *

अत ऊर्ध्वङ्काम्येषु 'विधिमुपदेक्ष्याम' इति सूत्रशेषः ॥ १ ॥

पूर्वेषु चैके ॥ २ ॥

प्रधान आचार्यों के मत में वक्ष्यमाण विरूपाक्ष जप आदि कार्य, पूर्वोक्त नित्य नैमित्तिक कार्य में भी करे ॥ २ ॥

पूर्वेषु-नित्य-नैमित्तिकेष्वपि वक्ष्यमाणो विधिर्भवति । इति चैके आचार्या-मन्यन्ते ॥ २ ॥

कोऽसौ विधिरित्युच्यते—

पश्चादग्नेर्भूमौ न्यञ्चौ पाणी प्रतिष्ठाप्ये–'इदं भूमेर्भजामहे' इति ॥ ३ ॥

(मं० ब्रा० २।४।१)

अग्नि के पश्चिम भाग में, अपने दोनों हाथों को अपने सम्मुख वक्रभाव से रख कर 'इदं भूमेर्भंजामहे' आदि मन्त्र का जप करे। (इसी को 'भूमि-जप' कहते हैं) ॥ ३ ॥

न्यञ्चावधोमुखौ । तथा च च्छन्दोगपरिशिष्टम्—

'दक्षिणं वामतो बाह्यमात्माभिमुखमेव च ।
करङ्करस्य कुर्वीत करणे न्यञ्चकर्म्मणः ॥
कृत्वाऽन्यभिमुखौ[१] पाणी स्वस्थानस्थौ सु[२]संयतौ ॥' इति ।

---

(१) 'हस्तौ' इति मुद्रितपुस्तकपाठः ।

(२) 'सुसंहतौ' इति मु० पु० पाठः ।

वामत इति षष्ठीसमर्थात्तसिः। (पा० ५।४।४४ वा०) तेन वामस्य करस्य बाह्यमुपरिस्थम्। आत्माभिमुख-मग्न्यभिमुखं दक्षिणङ्करङ्कुर्वीतेति सम्बन्धः। एवञ्चापरिकृतदक्षिणहस्तः करद्वयमधोमुखमग्न्यभिमुखञ्च भूमावारोप्य भूमिंजपङ्कुर्यादिति पर्यवसितोऽर्थः ॥ मन्त्रमाह—इदमिति। यथा—

'इदम्भूमेर्भजामह इदम्भद्रं सुमङ्गलम्।
परा सपत्नान्बाधस्वान्येषां विन्दते धनम् ॥' इति।

अस्यार्थः। हे अग्ने! यदेतद् 'भूमेः' सम्बन्धि स्थण्डिलम्। (भवताधिष्ठितम्) 'इदं' वयं 'भजामहे' सेवामहे। 'भजसेवायाम्' (भ्वा० आ०) लट्। गृह्णीम इति यावत्। किम्भूतम्? 'भद्रं' कल्याणकरम्[1] भजनीयं वा। 'सुमङ्गलम्' प्रशस्ततरम्। इदमिति पुनर्वचनमादरार्थम्। किञ्च हे अग्ने! 'सपत्नान्' शत्रूनस्माकम् 'पराबाधस्व' सुष्ठु[2] पीडय। किञ्च[3] योऽप्यनेन मन्त्रेण विवाहादियज्ञकर्म्मणि भवदधिष्ठितम्भूमेरवयवं गृह्णाति सोऽपि 'अन्येषाम्' ईश्वराणां (धनिनाम्) सम्बन्धि। 'धनं' विन्दते' प्राप्नोति ॥ १ ॥ इति ॥ ३ ॥

वसवन्तँ रात्रौ, धनमिति दिवा ॥ ४ ॥

रात्रि के समय जप में इस मन्त्र के अन्त में 'वसु' इस पद का प्रयोग करे और दिन में जप करे तो 'धनम्' पढ़े ॥ ४ ॥

रात्रौ क्रियमाणे कर्म्मणि। वसुशब्दान्तोमन्त्रः पठनीयः। दिवा—दिवसे धन शब्दान्तः इत्यर्थः ॥ ४ ॥

'इमँ स्तोममि'ति तृचेन परिसमूहेत् ॥ ५ ॥

(मं० ब्रा० २।४।२-४)

'इमं स्तोम' प्रभृति तीन मन्त्रों से परिसमूहन करे ॥ ५ ॥

विमर्श—ये तीनों मन्त्र उ० आ० ४. १. ७. १-३ और मं० ब्रा० के २।४।२-४ मन्त्र हैं ॥ ५ ॥

---

(१) 'स्वः श्रेयसं शिवं भद्रं कल्याणं मङ्गलं शुभमि'त्यमरः ॥

(२) 'बाधृविलोडने' (भ्वा० आ०) विलोडनं प्रतीघातः। प्रार्थनायां लोट्। 'व्यवहिताश्च' (पा० १।४।८२) इत्युपसर्गस्य व्यवहितप्रयोगः ॥

(३) एषोऽर्थस्तात्पर्यगत्या गुणविष्णवादिभिर्व्याख्यात इहोद्धृतः ॥

'इमं स्तोमम्' इति—एवमादिना। तृचेन। तिसृणामृचां समाहारस्तृचम् 'ऋचित्रेरुत्तरपदादिलोपश्चच्छन्दसि' (पा० ६।१।३४ वा०) इति सम्प्रसारणादौ कृते रूपम्। 'छन्दोवत्सूत्राणि भवन्ती'ति महाभाष्यम्। तेन 'इमं' 'भराम' 'शकेम'–ति ऋक्त्रयेणेत्यर्थः॥

ऋचो यथा—

'इमं स्तोममर्हते जातवेदसे रथमिव सम्महेमा मनीषया।
भद्रा हि नः प्रमतिरस्य संसद्यग्ने सख्ये मारिषारिषामा वयन्तव॥२॥

भरामेध्मं कृणवामा हवींषिते चितयन्तः पर्वणा पर्वणा वयम्॥
जावातवे प्रतरां साधया धियोऽग्ने सख्ये मारिषामा वयन्तव॥ ३॥

शकेम त्वा समिधं साधया धियस्ते देवा हविरदन्त्याहुतम्॥
त्वमादित्याँ२॥ आवहतां२॥ ह्युश्मस्यग्ने सख्येमारिषामा वयन्तव।४।

इति आसामर्थाः। वयम् 'इमं'[1] स्तुतिविशेषं 'सम्महेमा' सम्महेम। सम्यक् पूजोपकरणयुक्तं कुर्याम। छान्दसो दीर्घः (पा० ६।३।१०७) एवमग्रेऽपि। 'हि' यतः। 'नः' अस्माकम्। 'अस्य' अग्नेः सकाशात्। 'भद्रा' कल्याणी 'प्रमतिः' प्रकृष्टा बुद्धिः। 'संसदि' सभायां[2] (जनसमाजे) 'जायते' इति शेषः। जया वयमपि स्तोतुं प्रभवाम इति भावः। तस्मात् हे 'अग्ने,! 'तव' 'सख्ये' मित्रत्वे स्थिता 'वयम्' केनचिदपि दुरात्मना 'मारिषाम' मा हिंसिष्महि[3] (हिंसितामा भावेम) २। हे 'अग्ने 'ते' त्वदर्थम्। 'वयम्' इध्मं' यज्ञियदारुसमिधं 'आभराम' आहराम[4]। तथा 'पर्वणा' पर्वणा[5] प्रतिपर्व (पर्वणि पर्वणि) 'हवींषि' हवनीयानि चरुप्रभृतीनि। 'चितयन्तः' सञ्चितानि कुर्वन्तः। 'कृणवाम' कृणवाम। सम्पादयाम (निर्वपामेति यावत्)

---

(१) सोमसाध्येषु यागेषु छन्दोगैः क्रियमाणा पृष्ठ्यादिसंज्ञिका स्तुतिस्तोमः।

(२) 'सभासमितिसंसदः' इत्यमरः॥

(३) 'रिषहिंसायाम्' (भ्वा० दि० प०) कर्म्मणि लुङ्॥

(४) 'हृग्रहोर्भश्छन्दसि' (पा० ३।१।८४ वा०) इति हस्य भः। हरतिरत्रोपसृष्टार्थे वर्तते॥

(५) प्रतिदर्शपौर्णमासादि॥

किमर्थम् ? 'प्रतराम' प्रकृष्ट-(दीर्घ-) तरकालम्[1] 'जीवातवे' जीवनाय[2]। किञ्च हे 'अग्ने' 'धियः' कर्माणि (निघं० २।१।२१) अस्माभिः क्रियमाणानि। 'साधया' साधय। सफलानि कुरु। 'तव' 'सख्ये' मित्रत्वेस्थिता 'वयं' केनचिद्दुरात्मना 'मा रिषाम' मा हिंसिष्महि (हिंसितामा भवेम) ॥ ३ ॥

हे अग्ने ! त्वमस्माकं धियः बुद्धीः कर्माणि (निघं० २।१।२१) वा। 'साधया' साधय। त्वदाराधनयोग्या (-नि) निष्पादय। पूर्ववद्दीर्घश्छान्दसः। यथा 'वयं' 'समिध' समिन्धयितुं 'शकेम'[3] शुक्नुयाम[4]। 'देवाः' इन्द्रादयः। 'ते' त्वयि।[5] आहुतं प्रहुतं 'हविः' हवनीयं चरुपुरोडाशादिकम्। 'अदन्ति' भक्षयन्ति। त्वन्मुखत्वात्तेषाम्[6]। अतस्त्वं 'तान्' 'आदित्यान्' अदितिपुत्रान्[7] देवान्। 'आवह' आवाहय। अन्तर्भावितण्यर्थोऽत्रावहतिः। 'हि' यस्मात्। 'वयं' 'तान्' 'उश्मसि'[8] उश्मि। कामयामः। हे 'अग्ने' 'तव' 'सख्ये' मित्रत्वे स्थिता वयं केनचिदपि 'मा रिषाम' हिंसिता मा[9] भवेम ॥ ४ ॥ इति।

परिसमूहेत्। विक्षिप्तानग्न्यवयवानेकीकुर्यात्। अन्यत्र क्षिप्रहोमेभ्यः। तथोक्तम्-(छ० प०) 'न कुर्यात्क्षिप्रहोमेषु द्विजः परिसमूहनम् ॥' इति। परिसमूहनञ्चेद दक्षिणहस्तेन। 'यत्र कर्त्तृ रङ्गं न चोच्यते। दक्षिणस्तत्र-

(१) अत्रो 'पसर्गबलेन योग्यक्रियाध्याहार' इति। 'किमेत्तिङव्ययघादाम्वद्रव्यप्रकर्षे' (पा० ५।४।११) इति आमघान्तात्। 'तरप्तमपौ घः' (पा० १।१।२२) इति घसंज्ञा।

(२) 'जीवेरातुः' (उ० १।७९) इति भावे आतुः प्रत्ययः।

(३) 'शकिणमुल्कमुलौ' (पा० ३।४।१२) इति तुमर्थे कमुल्प्रत्ययः।

(४) 'लिङ्याशिष्यङ्' (पा० ३।१।८६) इत्यङ्।

(५) व्यत्ययेन (पा० ३।१।८५) सप्तम्यर्थे षष्ठी।

(६) तथा च श्रुतिः 'अग्निमुखा वै देवाः' इति।

(७) अपत्यार्थेऽण्प्रत्ययः (पा० ४।१।८५) 'यस्येति चे'ती (पा० ६।४।१४८) कारलोपः।

(८) 'वशकान्तौ' (अ० प०) लटोमसि 'ग्रहिज्ये०' (पा० ६।१।१३) त्यादिना सम्प्रसारणे 'इदन्तो मसि' (पा० ७।१।४६) इति मसइ्गागमः।

(९) अत्रादित्याँ ताँ इति 'दीर्घादटिसमानपादे' (पा० ८।३।९) इति नस्य रुत्वं यत्वयलोपौ। 'आतोऽटिनित्यम्' (पा० ८।३।३) इत्यनुनासिकः।

विज्ञेयं इति कातीयपरिभाषणात्। कुशत्रयेण चेति वीरेश्वरादयः। तत्प्रकारमाह—कर्म्मप्रदीपः—

'प्रदक्षिणं तथासीनः कुर्यात्परिसमूहनम्।' इति।

एवञ्चोत्तरपूर्वदक्षिणक्रमेणैकैकयर्चा दक्षिणहस्तेन कुशत्रयङ्गृहीत्वा परिसमूहनङ्कर्त्तव्यमिति द्रष्टव्यम् ॥ ५ ॥

वैरूपाक्षः पुरस्ताद्धोमानाम् ॥ ६ ॥

(म० ब्रा० २।४।५)

नित्य, नैमित्तिक, और काम्य कर्मों के होम के पहले 'विरूपाक्षासि' आदि मन्त्र पढ़े ॥ ६ ॥

वैरूपाक्षः। विरूपाक्षशब्दो यस्मिन्वर्त्तते स विरूपाक्षः। अर्शादित्वान्मत्वर्थीयोऽच्प्रत्ययः (पा० ५।२।१२७)। ततस्वार्थेऽण् (पा० ५।४।३८) प्रत्ययः। होमानाम्—होमयुक्तमन्त्राणाम्। अयमप्यर्शादिरेवावगन्तव्यः। पुरस्तात्—पूर्वम्। 'भवती-'विशेषः। अत्राप्यन्यत्रक्षिप्रहोमेभ्य इति द्रष्टव्यम्। मन्त्रो यथा—

'भूर्भुवःस्वरो महान्तमात्मानं प्रपद्ये विरूपाक्षोऽसि दन्ताञ्जिस्तस्य ते शय्या पर्णं गृहान्तरिक्षे विमितं हिरण्मयं तद्देवानां हृदयान्ययस्मये कुम्भेऽन्तः सन्निहितानि तानि बलभृच्च बलसाच्च रक्षतोऽप्रमनी अनिमिषत्तस्सत्यं यत्ते द्वादशपुत्रास्ते त्वा संवत्सरे सव्वंत्सरे कामप्रेण यज्ञेन याजयित्वा पुनर्ब्रह्मचर्यमुपयन्ति। त्वं देवेषु ब्राह्मणोऽस्यहं मनुष्येषु ब्राह्मणो वै ब्राह्मणमुपधावत्युप त्वा धावामि। जपन्तं मा मा प्रतिजापीर्जुह्वन्तं मा मा प्रतिहौषीः कुर्वन्तं मा मा प्रतिकार्षीस्त्वां प्रपद्ये त्वया प्रसूत इदङ्कर्म्मकरिष्यामि तन्मे राध्यतान्तन्मे समृद्ध्यतान्तन्म उपपद्यतां समुद्रोमा विश्वव्यचा ब्रह्माऽनुजानातु तुथोमा विश्ववेदा ब्रह्मणः पुत्रोऽनुजानातु श्वात्रोमा प्रचेता मैत्रावरुणोऽनुजानातु। तस्मै विरूपाक्षाय दन्ताञ्जये समुद्राय विश्वव्यचसे तुथाय विश्ववेदसे श्वात्राय प्रचेतसे सहस्राक्षाय ब्रह्मणः पुत्राय नमः ॥ ५ ॥' इति।

अस्यार्थः। 'भूः' पृथिवी 'भुवः' अन्तरिक्षम् 'स्वः' द्यौः 'ॐ' ॐकार

---

(१) अत्र (४–५) एतदभिधानेनातः प्राक्तनानामग्न्याधानादिकर्म्मणां यथोक्तानां नित्यनैमित्तिकत्वे यथायथं विज्ञायेते। किन्त्वेतत्परिशिष्टभूतमिति उपक्रमोक्ता नित्यकाम्यव्यवस्था नानुपपद्यते।

आत्मा। एतेयदात्मनः। ततोऽपि 'महान्त' रुद्राग्निरूपम 'आत्मानम्' 'प्रपद्ये' प्रपन्नो भवामि। हे भगवंस्त्वं 'विरूपाक्षोऽसि' विविध (नाना) रूप नेत्रो भवति। तथा च श्रुतिः। 'सर्वतः पाणिपादान्तः सर्वतोऽक्षिशिरोमुखः। विश्वरूपो महानग्निः प्रणीतः सर्वकर्म्मसु' इति। किञ्च 'दन्ताञ्जिः' दन्तानक्ति व्यञ्जयतीति। 'तस्य' एवम्भूतस्य 'ते' तव 'शय्या' शयनस्थानम्। 'पर्णे' पर्णतुल्ये उपलेपनाभ्युक्षणादिभिः संस्कृते स्थण्डिले 'भूमौ स्थानमग्नेः' इति श्रुतेः। 'गृहं' गृहञ्च। सोर्लुक् (पा० ७।१।३९) 'अन्तरिक्षे' भुवर्लोके। 'विमितं' निर्मितं, हिरण्यगर्भप्रभृतिभिः। कीदृशं! हिरण्मयम् हिरण्मय[२]यम्। 'तत्' तस्मिन्। ङेर्लुक् (पा० ७।१।३९) गृहे 'देवानाम्' इन्द्रादीनां 'हृदयानि' 'तिष्ठन्तीति' शेषः। कस्मिन्निव? 'अयस्मये' लौहमये[४] 'कुम्भे' 'इवे'ति शेषः। अन्तःमध्ये' 'सन्निहितानि' एकीभूतानि 'तानि' देवताहृदयानि। 'बलभृच्च' बलमुपचयात्मकं बिभर्त्तीति क्विप्। बलसाच्च' बलंविपक्षाणां सादयति स्फोटयतीति क्विप्। एतन्नामको अग्नेः प्रतीहारो 'अप्रमनी'[५] अप्रमादिनौ। 'अनिमिषत्' अनिमिषन्तौ[६] सन्तौ यदेतौ 'रक्षतः' त्वाम् (अग्निम्) 'तत्सत्यं' ताभ्यां हि रक्षिते अग्नौ यजमानः पशुपुरोडासादि जुहोति। 'यत्' 'ते' तव 'द्वादशपुत्राः'। अग्न्याख्या एव। 'ते' 'सम्वत्सरे' २प्रत्यब्दम्। 'कामप्रेण'[७] अभिलाषपूरकेण 'यज्ञेन' ज्योतिष्टोमादिना। यजमानं 'याजयित्वा' यागेन सम्पाद्य 'पुनः' 'ब्रह्मचर्यम्' ब्रह्मभूतं 'त्वाम्' 'उपयन्ति'। प्रविशन्ति। हे अग्ने! 'त्वं' 'देवेषु' देवलोकेषु ब्राह्मणोऽसि'

---

(१) 'अञ्जूव्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु' (रु० प०) अत औणादिक इन् (उ० ४।१।१६)।

(२) सुवर्णमयम्। 'दाण्डिनायने०' (पा० ६।४।१७४) त्यादिना निपातः। तथा च श्रुतिः 'ज्वलितमग्निं प्रविशन्तमन्तरिक्षम्' इति।

(३) तैर्हृदयैक्यस्थितोऽग्निः प्रार्थ्यते कदा पुनस्त्वमस्माकमग्ने हविरानविष्यसीति।

(४) अयस्मयादीनि च्छन्दसि' (पा० १।४।२०) इति निपातितः।

(५) 'ये सान्तास्ते अदन्ता' इति न्यायेन। प्रगतमनः शब्दादकारान्तान्मत्वर्थ ई-(पा० ५।२।१२२) प्रत्यये भत्वादल्लोपः। (पा० ६।४।१४८) प्रमनी प्रमादी॥ ततो नञ्समासः। 'वाच्छन्दसा-' (पा० ६।१।१०६) ति वा पूर्वसवर्णदीर्घः।

(६) अमीलिताक्षौ। औङो लुक् (पा० ७।१।३९)॥

(७) 'प्रापूरणे' (अ०प०) 'आतोऽनुपसर्गे कः' (पा० ३।२।३) इति के आतो लोपः (पा० ६।४।६४)।

'अहं' 'मनुष्येषु' मनुष्यलोकेषु 'ब्राह्मणः' 'वै' निश्चयेन । लोकः 'ब्राह्मणम्' एव 'उपधावति' आश्रयत्वेन ढौकते । (सेवते) अतः 'त्वा' त्वाम् 'उपधावामि परिचरामि' । उपधावनकारणमाह—'जपन्तं' + + + कार्षीः' इति । एतदुक्तं भवति—जपहोमकर्मकाले मम प्रातिकूल्यम्भागा इति । अतः 'त्वां' 'प्रपद्ये' प्रपन्नोऽस्मि'। 'त्वया' 'प्रसूतः' अभ्यनुज्ञातः । 'इदं' प्रस्तुतं 'कर्म्म' करिष्यामि । यत एवमतः 'तत्' एतत्कर्म्म 'मे' मम 'राध्यताम्'' संसिध्यतु । 'तन्मे' 'समृद्धयताम्'' संवर्द्धताम् । 'तन्मे' 'उपपद्यताम्' फलप्रदानसमर्थं जायताम् । अत्र 'तन्मे' इत्यादरातिशये भूयस्त्वम् । अथ यत्ते द्वादशपुत्रा इत्युक्तन्तान्नामतः कतिचन प्रयोगतो निर्दिशति—'समुद्रः' समुद्र इव 'विश्वव्यचाः' विश्वं व्यचति विविधं गच्छतीति विश्वव्यचाः । 'ब्रह्म' तन्नामा अग्निश्च 'मा' माम् । अत्र कर्म्मणि प्रवृत्तम् 'अनुजानातु' अनुज्ञापयतु । तथा 'तुथः' तन्नामा 'विश्ववेदाः' सर्वस्य कर्म्मजातस्य वेदिता । 'ब्राह्मणः' उक्तरूपस्य 'पुत्रः' 'मा' माम् 'अनुजानातु' । तथा श्वात्रः' तन्नामा 'प्रचेताः' प्रकृष्टमना अग्निः एवं 'मैत्रावरुणः' मित्रवरुणदेवत्यश्च 'मानुजानातु' पूर्ववदर्थः । हे अग्ने ! यतस्त्वमेवमनेकभेदः । तस्मै तुभ्यं 'विरू ... त्राय नमः ॥ ६ ॥ इति ।

काम्येषु च प्रपदः ॥ ७ ॥

(मं ब्रा० २।४।५)

सब काम्य कर्मों में 'तपश्च' आदि मन्त्र को भी पढ़े ॥ ७ ॥

काम्येषु—होमवत्कर्म्मसु' । प्रपदश्च । 'तपश्च तेजश्चे'त्यादि—मामव-

(१) 'व्यवहिताश्च' (पा० १।४।८२) इत्युपोव्यवहितस्य प्रयोगः ॥

(२) अत्र जुह्वन्तमिति छान्दसो नुम् (पा० ६।३।१०९) यर्णागमरूपो नैरुक्तसमयेन । 'नाभ्यस्ताच्छतुरि–' (पा० ७।१।७८) इति नुमो भावस्य बोधनात् ।

(३) 'प्रपन्नः शरणागत' इत्यभिधानम् ।

(४) 'राधसाधसंसिद्धौ' (दि० प०) लोट् प्रार्थनायाम् । श्यन् । अत्र पदव्यत्यय आर्षः (पा० ३।१।८५) ।

(५) 'ऋधुवृद्धौ' (दि० प०) लोट् पूर्ववत् ।

(६) 'अञ्चुगतौ' (भ्वा उ०) ततोऽसुन् (उ० ४।१८८) एवमग्रेऽपि ।

(७) अत्र 'सास्यदेवता' (पा० ४।२।२४) इत्यणादिवृद्धिः । 'देवताद्वन्द्वे च' (पा० ६।३।२६) इति पूर्वपदस्यानङ् ।

न्तु' इत्यन्तो मन्त्रोऽपि जप्तव्यः पुरस्तादेव। मन्त्रो यथा—

'तपश्च तेजश्च श्रद्धाश्च ह्रीश्च
सत्यञ्चाक्रोधश्च त्यागश्च धृतिश्च धर्म्मश्च।
सत्त्वञ्च वाक च मनश्चात्मा च
ब्रह्म च तानि प्रपद्ये तानिमाभवन्तु ॥ ५ ॥

अस्यार्थः—'तपः' उपवासादि। 'तेजः' प्रकाशात्मकं 'श्रद्धा' कालुष्यापगमश्चित्तस्य धर्म्मः। 'ह्रीः' लज्जा। 'सत्यं' यथा—(स्थिता)ऽर्थवादित्वम्। 'अक्रोधः' प्रतिकूलविषयेऽपि मनसः प्रसादः। 'त्यागः' न्यायागतस्य धनस्य विधिनाविसर्गः। 'धृतिः' समीनस्यम्। 'धर्म्मः' यज्ञकर्म्म 'सत्त्वम्' आत्मनि प्रकाशात्मको गुणः। 'वाक्' वचनम्। 'मनः' सङ्कल्पविकल्पवृत्तिमानिन्द्रियविशेषः। 'आत्मा' क्षेत्रज्ञः[२] 'ब्रह्म' परन्तत्त्वम्। चकारः सर्वे परस्परापेक्षया समुच्चयार्थाः। 'तानि' तपःप्रभृतीनि 'प्रपद्ये' शरणं गच्छामि। अतः 'तानि' इमं यज्ञं कुर्वन्तं 'माम्' 'अवन्तु' रक्षन्तु ॥ ५ ॥ इति।

चन्द्रकान्तस्तु—द्विविधानि तावत्काम्यानि (कर्म्माणि) भवन्ति होमसंयुक्तानि अहोमकानि च। तत्र वैरूपाक्षो होमसंयुक्तेष्वेव, प्रपदस्तु सर्वत्रैव स्यादिति। च शब्द एवकारार्थं इति तत्त्वकारः। अस्य प्रपदसमाख्याबीजन्तु वैरूपाक्षस्य प्रथमं पदं स्थानमस्येति। 'पदं व्यवसितत्राणस्थानलक्ष्माङ्घ्रिवस्तुषु' इत्यभिधानात् ॥ ७ ॥

अथेदानीं प्रपदवैरूपाक्षयोर्जपप्रकारोऽभिधीयते—

'तपश्च तेजश्चे'ति जपित्वा प्राणाना[३]यम्यार्थमना वैरूपाक्षमारभ्योच्छ्वसेत् ॥ ८ ॥

[काम्य कर्मों में 'प्रपद' मन्त्र और 'वैरूपाक्ष' मन्त्र दोनों ही के पाठ करने की व्यवस्था है, उनमें प्रपद] मन्त्र पढ़ कर प्राणायाम आरम्भ करे एवं इस प्राणायाम

---

(१) अत्र मत्वर्थीयोऽच्प्रत्ययः। 'अर्शं आदित्वात्' (पा० ५।२।१२७)।

(२) 'क्षेत्रज्ञ आत्मा पुरुषः' इत्यमरः।

(३) अत्र प्राणायाममायम्येति चन्द्रकान्तभाष्ये पाठः। प्राणानामायमनं समन्तात्संयमः प्राणायामः। 'त्रिरभ्यस्तः पूरककुम्भकरेचकाख्यः प्राणायाम' इतिसन्ध्यासूत्राभ्यलक्षणः। तमायम्य कृत्वेतितदर्थः।

काल में 'पूरक' और 'कुम्भक' प्रपद मन्त्र के अर्थ का विचार करे और 'रेचक' प्राणायाम में वैरूपाक्ष मन्त्र जप करे अर्थात् वैरूपाक्ष मन्त्र से वायु छोड़े ॥ ८ ॥

'तपश्च तेजश्चे'—त्युक्तमन्त्रं (प्रपदरूपं) जपित्वा तत्परिसमाप्तौ प्राणान् आयम्य—नियम्यानुछ्वसन्नेव । अर्थमनाः । योऽर्थः साधयितुमिष्ट-स्तन्मनास्त ध्यायन् वैरूपाक्षं—विरूपाक्षोऽसीत्यादिपदघटितम् आरभ्य—आवृत्य । उच्छ्वसेत् । श्वासमुत्सृजेत् । तदुक्तं छन्दोगपरिशिष्टे—

'वैरूपाक्षं जप्तुमनाः प्राणानायम्य शक्तितः ।
भूराद्यारभ्य उच्छ्वसेदेवं सोममतेन तु ॥
मतेनाजातशत्रोस्तु जपित्वा भूर्भुवः स्वरोम' ॥ इति ।

क्षिप्रहामोऽनुदित होमः । एवञ्चात्र निषेधात्तयोर्विधिरन्यत्रायाति । "विशेषविधेःशेषनिषेधाभ्यनुज्ञाफलकत्वस्य तुल्यवित्तिवेद्यन्यायेन कल्पनात् ।

जपोऽयं समिधमेकाङकुशफलपुष्पसहितां गृहीत्वाकार्यः । जपान्ते च कुश-मैशान्यां परित्यज्य फलपुष्पं ब्रह्मणे निवेद्य समिधन्तूष्णीमग्नौ क्षिपेत् । तथैवाचारात् । पद्धतिकृतोऽप्येवम् ॥ अङ्गिराः—

'वैरूपाक्षं जपेन्मन्त्रं प्रपञ्चैव यज्ञवित्' ।

इति । यज्ञवित्पदन्तदाचारलाभाय । इदमपि समिदादिग्रहणे प्रमाण-मिति द्रष्टव्यम् ॥ ८ ॥

विमर्श—काम्य कर्म के अन्त में पूर्णाहुति देनी चाहिए । गोभिलगृह्यसूत्र के १. ८. २९ में जो विधान है वह इस प्रकार है—

अथ यज्ञवास्त्वन्ते पूर्णहोमः (१।८।२९)

तत्र शौनकः—

'अथ पूर्णाहुतिं दद्याद् गन्धपुष्पफलान्विताम् ।
साक्षतामूर्ध्वकायश्च समपाच्छक्रदिङ्मुखः' ॥ इति ।

अथ—यज्ञवास्त्वन्ते ऊर्ध्वकायः तिष्ठन् । अत्र कात्यायनः ।

'ततः पूर्णाहुतिङ्कृत्वा सर्वतन्त्रसमन्विताम् ।
गां दद्याद्यज्ञवास्त्वन्ते ब्रह्मणे वाससी तथा ॥ इति ।

ततो—यज्ञवास्त्वन्ते । पूर्णाहुतिङ्कृत्वेत्यन्वयः । वस्त्र दक्षिणा च विशेषो-पदेशस्थल एव । अन्यथा पूर्णपात्रादिकमेव । 'ब्रह्मणे दक्षिणादेया या यत्र परिकीर्त्तिते'ति वचनात् ।

गोभिलीये—

'पूर्णाहुतिश्च 'मूर्द्धानं दिव' 'इत्यभिपातयेत्' इति। पद्धतौ तु—'पूर्णहोमं यशसे जुहोमी'ति मन्त्रेणायं पूर्णहोम उक्तः। मन्त्रलिङ्गात्तदप्यविरुद्धमेवेति दिक्॥

ततो 'वसुभ्यः स्वाहे'-त्यविच्छिन्नामाज्यधारामग्नौ दद्यात्।

तत्र गृह्यासङ्ग्रहकारः—

'यज्ञवास्तुक्रियाङ्गत्वाद् विधिदृष्टेन कर्म्मणा।
आज्यधारामविच्छिन्नां पातयेदनलोपरि॥' इति।

ततः स्रुवलग्नसघृतभस्मना त्र्यायुषकरणम्। तत्र च—

'ततोऽनामिकया कुर्याद् बिन्दुं सघृतभस्मना।
हृद्यं स योर्ललाटे च त्र्यायुषेतिपदैः क्रमात्॥'

इति। वचनं प्रमाणयन्ति शिष्टाः। ततः—वसुभ्यः स्वाहेति होमानन्तरम्॥ एतत्प्रकार उक्तोऽधस्तात्समन्त्रकः (२।९।२१)॥

अथ भोजननियमः—

काम्येषु त्रिरात्राभोजनं त्रीणि वा भक्तानि॥ ९–१०॥

काम्य कर्म करने के पूर्व दिन, तीन मध्याह्न और दो रात को भोजन छोड़ देना चाहिए। यदि एक साथ दोनों भोजन न छोड़ सके तो कम-से-कम एक भोजन अवश्य छोड़ दें। दिन-रात में केवल एक बार ही भोजन करे॥ ९-१०॥

'काम्येषु' कर्मसु कर्त्तव्येषु 'त्रिरात्राभोजनं' कर्मारम्भदिवसस्याव्यवहितेषु पूर्वेषु त्रिषु दिवसेषु त्रिषु भोजनं माध्याह्निकं नैशं च न कर्त्तव्यम्। 'वा' असमर्थश्चेत् तेषु दिवसेषु त्रीणि' एव 'भक्तानि' भोजनानि कर्त्तव्यानि तथा च तेषु दिवसेषु माध्यन्दिनं नैशं वा एकैकमेव भोक्तव्यम्, न तु यथानियमं वारद्वयम्॥ ९–१०॥

नित्यप्रयुक्तानां तु प्रथमप्रयोगेषु॥ ११॥ उपोष्य तु यजनीयप्रयोगेषु॥ १२॥

जो कर्म, किसी एक उद्देश्य की सिद्धि के लिए अनेक बार करना पड़े, उसे एक ही बार, प्रथम बार में पूर्वोक्त पहले तीन दिन भोजन न करे, या एक भोजन व्यवस्था अर्थात् प्रति बार कार्य आरम्भ के पूर्व तीन दिन भोजन न करे या एक भोजन न करे॥ ११॥ जो सब कर्म बहुत समय में समाप्त हो, उनमें प्रतिदिन प्रातराशादि थोड़ा खा-खाकर काम में प्रवृत्त होना चाहिए॥ १२॥

विमर्श—प्राचीन समय में 'प्रातराश' आदि थोड़े खाने को 'उपवास' कहते थे, यहाँ 'उपवास' शब्द से एकमात्र भोजन नहीं करना समझा जाता है, जो उस समय 'अभोजन' शब्द से व्यवहृत होता था।

कश्चित् काममभिलक्ष्य यत् कर्म द्विवारमनेकवारं वा क्रियते, तदेव नित्यप्रयुक्तमित्युच्यते, तादृशानान्तु कर्मणां 'प्रथमप्रयोगेषु' एव पूर्वोक्तो भोजननियमः कर्त्तव्यः, न तु द्वितीयादिषु ॥ ११ ॥

यानि कर्माणि बहुदिनं यावत् प्रतिदिनं यजनीयतया प्रयुज्यन्ते, तादृशेषु 'यजनीयप्रयोगेषु तु' 'उपोष्य प्रातराशादिकमल्पाहारमेव कृत्वा तत्तद्यजनं विधेयम् ॥ १२ ॥

उपरिष्टाद् दैक्षं सान्निपातिकम् ॥ १३ ॥

निमित्त घटना के पश्चात् नैमित्तिक कर्मसमूह की दीक्षा कर्त्तव्य है, वही वैसे कार्यों के लिए निर्दिष्ट काल है (उसके पूर्व अभोजन, या एक भोजन, या 'उपवास' यथासम्भव व्यस्थित होंगे) ॥ १३ ॥

'सान्निपातिकं' नैमित्तिकं कर्म, उपरिष्टाद्दैक्षं' निमित्तघटनात् परमेव तस्य दीक्षा इति वेदितव्यमिति भोजननियमः ॥ १३ ॥

अथ ब्रह्मवर्च्चसकामकर्म—

अरण्ये प्रपदं प्रयुञ्जीत दर्भेष्वासीनः प्राक्कूलेषु ब्रह्मवर्च्चसकामः ॥ १४ ॥

जो कोई 'ब्रह्मवर्च्चस' की इच्छा करे, वह वन में जाकर पूर्वाग्र रक्खे हुए कुश पर बैठकर 'प्रपद' मन्त्र से पठित मन्त्रों से साधना करे ॥ १४ ॥

यः कश्चन 'ब्रह्मवर्च्चसकामः' स्यात् स एव 'अरण्ये' गत्वा 'प्राक्कूलेषु' दर्भेषु 'आसीनः' सन् 'प्रपद' (तपश्च मं० ब्रा० २.४.५, पृ० ४४९)—इति मन्त्रं 'प्रयुञ्जीत' ॥ १४ ॥

उदक्कूलेषु पुत्रपशुकामः । १५ ।

जो कोई पुत्र या पशु की इच्छा करे, वह वन में जाकर उत्तराग्र कुश पर बैठ कर साधना करे ॥ १५ ॥

यः कश्चन पुत्रकामः पशुकामो वा स्यात्, स खलु अरण्ये गत्वा 'उदक्कूलेषु दर्भेषु आसीनः तमेव प्रपदमन्त्रं 'प्रयुञ्जीत ॥ १५ ॥

अथ ब्रह्मवर्चस-पुत्रपशुकामकर्म—

उभयेषूभयकामः । १६ ।

प्रथम सूत्रोक्त 'ब्रह्मवर्च्चस' एवं द्वितीय सूत्रोक्त पुत्र और पशु, इन दो की जो कामना करे, वह वन में जाकर पूर्वाग्र कुश बिछाकर उस पर उत्तराग्र कुश रखे और उस पर बैठ कर 'प्रपद' मन्त्र से साधना करे ॥ १६ ॥

'उभयकामः' प्रथमसूत्रोपात्तं ब्रह्मवर्च्चसं द्वितीयसूत्रोपात्तं पुत्रं पशुं च यः कामयेत, स खलु अरण्ये गत्वा युगपत् 'उभयेषुः' प्राक्कूलेषु, तदुपरि पातितेषु उदक्कूलेषु च दर्भेषु आसीनः, तमेव प्रपदं नाम मन्त्रं प्रयुञ्जीत ॥ १६ ॥

जो पालतू गौ भेड़ आदि की भलाई चाहे, वह 'सहस्रबाहुः' मन्त्र से धान्य और यव का होम करे ॥ १७ ॥

पशुस्वस्त्ययनकामो व्रीहियवहोमं प्रयुञ्जीत सहस्रबाहुर्गौपत्य इति ॥ १७ ॥

पशूनां गृहपालितानां गवादीनां स्वस्त्ययनं कामयेत चेत् 'सहस्रबाहुर्गौपत्यः स पशूनभिरक्षतु । मयि पुष्टिं पुष्टिपतिर्दधातु मयि प्रजां प्रजापतिः' (स्वाहा) ॥ ७५ ॥ (म० ब्रा० २. ४. ७)—'इति' मन्त्रेण 'व्रीहियवहोमं' व्रीहिणा यवेन च आहुतिमग्नौ 'प्रयुञ्जीत' ॥ १७ ॥

कौतोमतेन महावृक्षफलानि परिजप्य प्रयच्छेद्यस्यात्मनि प्रसादमिच्छेत्तस्मा एकभूयांस्यात्मनायुग्मानि कुर्यात् । १८-१६ ।

किसी व्यक्ति की प्रसन्नता लाभ की इच्छा हो तो उस व्यक्ति को 'कौतोमत्' मन्त्र से पठित कई एक महावृक्ष फल प्रदान करे । इन फलों को गुच्छों से एक-एक कर तोड़ लेवे ॥ १८-१९ ॥

विमर्श—महावृक्ष फल से यहाँ आम, गुवाक (सुपारी) इत्यादि जानना चाहिए ।

अथ प्रसादकामकर्म—'यस्य' कस्य चिज्जनस्य पुरुषस्य स्त्रिया वा 'प्रसादम्' प्रसन्नताम् 'इच्छेत्', 'तस्मै' 'कौतोमत्' संवननं सुभागं करणं मम नाकुली नाम ते माताथाह पुरुषानयः । यन्नो कामस्य विच्छिन्नं तन्नो सन्धे ह्योषधे' ॥ ८ ॥ (म० ब्रा० २. ४. ८) महावृक्षफलानि गुवाकानि

आम्राणि वा 'परिजप्य' 'प्रयच्छेत्'। तानि च फलानि 'एकभूयांसि' एकस्मिन्नेव गुच्छे बहूनि विद्यन्ते चेत्, तर्हि दानात् पूर्वमेव 'आत्मनः' आत्मना स्वयमेव 'अयुग्मानि' विच्छिन्नानि 'कुर्यात्' ॥ १८–१९ ॥

वृक्ष इवेति पञ्चर्चः । २० ।

'वृक्ष इव' इत्यादि जो पाँच मन्त्र हैं। उनका (वाचन यथाक्रम से कहा जाता है) ॥ २० ॥

अथ पार्थिवं कर्म–(म० ब्रा० २.४.१–१३) अधिकृतो वेदितव्य ॥२०॥

---

१. ब्रह्मादिपञ्चानामृचां प्रथमा ऋक्—

ॐ वृक्ष इव पक्वस्तिष्ठसि सर्वान् कामान् भुवस्पते ।
यस्तवैवं वेद तस्मै मे भोगान् धुक्ष्वाक्षतान् बृहन् ॥ इति ।

द्वितीया ऋक्—

ॐ ऋतं सत्ये प्रतिष्ठितं भूतं भविष्यता सह ।
आकाश उपनिरज्जतु मह्यमन्नमथो श्रियम् ॥ इति ।

तृतीया ऋक्—

ॐ अभिभागोऽसि सर्वस्मिस्तदु सर्वं त्वयि श्रितम् ।
तेन सर्वेण सर्वो मा विवासन विवासय ॥ इति ।

चतुर्थी ऋक्—

ॐ कोश इव पूर्णो वसुना त्वं प्रीतो ददसे धनम् ।
अदृष्टो दृष्टमाभर कामान् प्रयच्छ मे ॥ इति ।

पञ्चमी ऋक्—

ॐ आकाशस्यैष आकाशो यदेतद् भाति मण्डलम् ।
एवं त्वा वेद यो वेदेशानेशान् प्रयच्छ मे ॥ इति ।

मन्त्रब्राह्मणम् २।४।९–१३ ।

एतासामृचां व्याख्या—हे भुवस्पते भूम्याः प्रद्योतकद्वारेण पालयितरादित्य, हे बृहन् महन्, बृहस्पते इति केचित् पठन्ति, तस्मिन् पक्षे बृहतो महतो लोकस्य पालयितः, तव मण्डलं पक्वो वृक्ष इव परिणतः, पर्णफलाद्युपेतो वृक्षो यथा पिङ्गलवर्णो दृश्यते तद्वत् तिष्ठसि, अवनौ शोभनवर्णेन युक्तो वर्तसे इत्यर्थः। अतः सर्वान् कामान् काम्यमानान् भोगान् प्रयच्छेति शेषः। यः अह त्वा त्वाम् एवम् उक्तविधं वेद जानामि, तस्मै मे मह्यं तव स्वरूपम् अधिगच्छते अक्षतान् अक्षीणान् भोगान्

तस्मिन् प्रथमं पार्थिवं कर्म । २१ ।

उन्हीं पांच मन्त्रों से पहिले पार्थिव-कर्म (खेत) को ऐसा करे (कि जिससे उसमें सब प्रकार के शस्य भलीभांति उत्पन्न हों, इसको सिद्धि के लिए इस क्रिया का अनुष्ठान किया जाता है ॥ २१ ॥

धुक्ष्व पूरय । सायणाचार्यमते तिष्ठसीत्यत्र तिष्ठतीति पाठः, बृहन् इत्यत्र च बहून् इति । स च बहून् इयत्तारहितान् भोगान् इत्येवं व्याचख्यौ । इति प्रथमायाः ।

सत्ये सत्यभूते प्रत्यक्षेण दृश्यमाने आदित्ये ऋतं व्यावहारिकभूतं कृत्स्न जगत् प्रतिष्ठितम्, सूर्याधीनत्वाज्जगन्निर्वाहस्य । न केवलं वर्तमानमेव किन्तु भूतं भूतकाल-विशिष्टम् अपि जगद भविष्यता आगामिकालविशिष्टेन जगता सह सत्यादित्ये तिष्ठितम्, पूर्वम् उत्पन्नम् उत्पत्स्यमानञ्च सर्वं सूर्याधीनमित्यर्थः, कालात्मकत्वा-दित्यभिप्रायः । आकाश आ समन्तात् काशमान आदित्यो मह्यम् अन्नं प्रदतम् उपनिरज्जतु नितराम् उपरक्तो भवतु, अथापि श्रिय श्रयणीयम् ऐश्वर्यं च जातम् उपनिरज्जतु । यद्वा स आदित्य आकाशे उपनिरज्जतु उपसमीपे समन्ततो नितरां रज्जतु परिविष्टो भवतु इत्यर्थः । अथापि स मह्यम् अन्नं श्रियञ्च ददात्वति शेषः । इति द्वितीयायाः ।

सर्वस्मिन् जगति हे चन्द्र, त्वम् अभिभागोऽसि अभिप्रासभागो भवसि, सर्वेषु भागेषु वर्तसे इत्यर्थः । तद् उ सर्वं तत् सर्वं जगदपि त्वयि श्रितं वर्तते । हे विवासन सर्वस्य विशेषेण विवासयतः सर्वं उक्तरूपेण सर्वात्मकस्त्वम्, तेन त्वयि प्रतिष्ठितेन सर्वेणाजाविकादिना क्षुद्रपशुना मा मां विवासय । यद्वा हे विवासन विवासो वर्जनम्, तमोवर्जनेन त्वया सहाविभक्तेन सर्वेण सर्वः सर्वान्तकस्त्वं मा मां विवासय पापाद वियोजय । इति तृतीयायाः ।

हे आदित्य, वसुना वासकेन धनेन पूर्णः कोश इव धनागार इव स्थितस्त्वं प्रीतोऽस्मत्स्तुत्या परितुष्टः सन् धनं रतिसाधनं गवादिकं दधसे पुष्णासीत्यर्थः । किञ्च अदृष्टः अन्यैर्दुर्विज्ञेयस्त्वं दृष्टं दर्शनयोग्यं धनम् आभर आहर । स्पष्टश्चतुर्थः पादः । इति चतुर्थ्याः ।

हे सूर्य, यद् एतन्मण्डलं भाति एष मण्डल आकाशस्य स्वाश्रयभूतस्य अन्तरिक्षस्य आकाशः सर्वतः प्रकाशः, हे ईशान् सर्वस्य स्वामिन्, त्वाम् एवम् उक्तप्रकारेण यो वेद जानाति स एव वेद तव तत्त्वं जानातीत्यर्थः । अत एवं विदे मे मह्यम् ईशान ईशितव्यान् भोगान् प्रयच्छ । इति पञ्चम्याः ।

'तस्मिन्' अधिकृते पञ्चर्च्चे, तेनैव पञ्चर्च्चेन समुदितेन 'प्रथमम्' एकं 'कर्म' 'पार्थिवं' क्षेत्राद्यर्थं कुर्वीतेति ॥ २१ ॥

अर्द्धमासमभुक्त्वाऽशक्तौ वा पेयामन्यतरं कालम् ।२२-२३।

यह पार्थिव कर्म, अर्द्धमास पर्यन्त अभोजन रहकर करे। यदि बिना खाये न रहा जाय तो एक समय केवल पेय पान करे ॥ २२–२३ ॥

तच्च पार्थिवं कर्म 'अर्द्धमासमभुक्त्वा' एव कार्यम्। अभोजनेऽसमर्थ-श्चेत् 'अन्यतरं कालं' दिवा रात्रौ वा एकवारमेव 'पेयां' मण्ड-दुग्धादकं पिबेदिति ॥ २२-२३ ॥

यत्रात्मानं परिपश्येत् । २४ ।

जिस पेय पदार्थ में अपना मुँह दीखाई पड़े एसा तरल पदार्थ पीये ॥ २४ ॥

'यत्र' पेयाधारु 'आत्मानं' आत्मच्छायां दर्पणादाविव 'परिपश्येत्' तादृशीमेव तरलां पेयां पिबेदिति ॥ २४ ॥

एतद्व्रतमर्द्धमासव्रतेषु । २५ ।

यह पार्थिव-कर्म एक व्रत विशेष है। यह अर्द्धमास व्रतों में गणनीय है। यह व्रत शुक्लपक्ष को प्रतिपदा से आरम्भ कर पूर्णिमा को पूरा करे ॥ २५ ॥

'एतत्' पार्थिवं कर्म 'व्रतम्' उच्यते, तच्च 'अर्द्धमासव्रतेषु' गण्यते। तथा च शुक्लप्रतिपद्यस्यारम्भः पौर्णमास्यां च समाप्तिः सिद्धाः ॥ २५ ॥

पौर्णमास्यां रात्रावविदासिनि ह्रदे नाभिमात्रमवगाह्याक्षत-तण्डुलानृगन्तेष्वास्येन जुहुयात् स्वाहेत्युदके । २६ ।

पूर्णिमा की रात में अविनासी जलाशय (अर्थात् जिसका जल ग्रीष्म ऋतु में भी न सूखे) में नाभि मात्र जल में स्नान कर, मुँह में अक्षत तण्डुल लेकर उन्हीं पाँच मन्त्रों से उसी जल में एक-एक कर पाँच आहुति, देकर पाँच मन्त्रों में से प्रत्येक के अन्त में 'स्वाहा' शब्द को भी जोड़ना चाहिए ॥ २६ ॥

'पौर्णमास्यां रात्रौ' 'अविदासिनि' 'ह्रदे' निदाघेऽपि यस्य विदासः शोषो न, तादृशे जलाशये 'नाभिमात्रमवगाह्य' 'अक्षततण्डुलान्' आस्ये कृत्वा तेनैव 'आस्येन अधिकृतानां पञ्चानामेकैकेनर्चा 'उदके' तत्रैव 'जुहुयात्', 'ऋगन्तेषु' तासां पञ्चानामृचामन्तेषु च 'स्वाहा—इति' ब्रूयादिति पार्थिवं कर्म ॥ २६ ॥

अथ भोगादि कामकर्माणि—

अथापरम् । २७ ।

उक्त पाँच मन्त्रों से पहले पार्थिव कर्म कहा गया है, अब उन्हीं पाँच में से प्रत्येक के व्यवहार में एक-एक अपर कर्म कहा जाता है ॥ २७ ॥

पञ्चानामधिकृतानामृचां समुदितानां व्यवहारेण प्रथमं कर्म पार्थिवं नाम उक्तम्, 'अथ' अनन्तरम्, तासामेवर्चामसमुदितानां व्यवहारेण 'अपरम्' द्वितीय कर्म आदित्योपस्थानादिकं वक्ष्यते इति ॥ २७ ॥

प्रथमयाऽऽदित्यमुपतिष्ठेत भोगकामोऽर्थपतिचक्षुर्विषये सिद्ध्-त्यर्थः । २८ ।

भोग चाहने वाला वह 'वृक्ष इव' मन्त्र से सूर्योपस्थापन करे। प्रयोजन के होने की सम्भावना हो, वहीं करने से मनोरथ सिद्ध होगा ॥ २८ ॥

'भोगकामः' पुरुषः, 'प्रथमया' वृक्ष इव पक्वस्तिष्ठसि सर्वान् कामान् भुवस्पते। यस्त्वैवं वेद तस्मै मे भोगान् धुक्ष्वाक्षतान् बृहन्' (मं० ब्रा० २. ४. ९)—इत्यनयर्चा 'आदित्यमुपतिष्ठेत'। क्वोपतिष्ठेत? इत्याह—'अर्थपतिचक्षुर्विषये' यतोऽर्थपतेः अर्थं कामयते, तस्यैव चक्षुर्गोचरे प्रदेशे तथा च 'अर्थः' प्रयोजनं 'सिद्ध्यति' ॥ २८ ॥

द्वितीययाऽऽदित्ये परिविष्यमाणेऽक्षततण्डुलान् जुहुयाद् बृहत्पत्रस्वस्त्ययनकामः । २९ ।

हाथी आदि बड़े वाहन के कल्याणार्थं 'ऋतं सत्ये' द्वितीय मन्त्र से अक्षत तण्डुल हवन करे। यह कर्म सूर्यमण्डल में परिवेष के समय करना चाहिये ॥ २९ ॥

पत्रं वाहनम्, बृहत्पत्रं हस्त्यश्वादि, बृहत्पत्रस्वस्त्ययनकामः' पुरुषः, 'द्वितीयया' 'ऋतं सत्ये प्रतिष्ठितं भूतं भविष्यता सह। आकाश उपनिरज्जतु मह्यमन्नमथो श्रियम्' ॥ १० ॥ (मं० ब्रा० २. ४. १०)—इत्यनयर्चा 'आदित्ये परिविष्यमाणे' 'अक्षत तण्डुलान्' 'जुहुयात्' 'वातार्त्तमण्डलीभूताः सूर्याचन्द्रमसोः कराः। मालाभा व्योम्नि दृश्यन्ते परिवेषस्तु सः स्मृतः'। इति ॥ २९ ॥

तृतीयया चन्द्रमसि तिलतण्डुलान् क्षुद्रपशुस्वस्त्ययनकामः । ३० ।

गौ, भेड़ आदि छोटे-छोटे पशुओं के कल्याण चाहने वाले 'अभिभगोऽसि' मन्त्र से तिल तण्डुल होम करे, चन्द्रमण्डल में परिवेश काल में यह कर्म करे ॥ ३० ॥

क्षुद्रपशवो गोमेषादयः, तत्स्वस्त्ययनकामः पुरुषः, तृतीयया अभिभागोऽसि सर्वस्मिंस्तदु सर्वं त्वयिश्रितम्। तेन सर्वेण सर्वो मा विवासन विवासय' ॥ ११ ॥ (म० ब्रा० २. ४. ११)—इत्यनयर्चा 'चन्द्रमसि' परिविष्यमाणे एव काले 'तिल तण्डुलान्' जुहुयादित्येव ॥ ३० ॥

चतुर्थ्यादित्यमुपस्थायाथान् प्रपद्येत स्वस्त्यर्थवानागच्छति ।३१।

'कोश इव' से सूर्योपस्थान कर प्रयोजन को लक्ष्य कर, यात्रा करने से प्रयोजन सिद्ध कर घर वापस आयेगा ॥ ३१ ॥

'चतुर्थ्या 'कोश इव पूर्णो वसुना त्वं प्रीतो ददसे। अदृष्टोदृष्ट मा भर सर्वान् कामान् प्रयच्छ मे' ॥ १२ ॥ (मा० ब्रा० २. ४. १२)—इत्यनयर्चा 'आदित्यमुपस्थाय' 'अर्थान्' अभिलक्ष्य 'प्रपद्येत' यात्रां कुर्वीत, तेन सः 'स्वस्त्यर्थवान् सन् आगच्छति' गृहानिति ॥ ३१ ॥

पञ्चम्यादित्यमुपस्थाय गृहान् प्रपद्येत स्वस्तिगृहानागच्छति, स्वस्तिगृहानागच्छति ॥ ३२।५ ॥

॥ इति गोभिलीये गृह्यसूत्रे चतुर्थप्रपाठकस्य पञ्चमी कण्डिका ॥ ५ ॥

—— * ——

'आकाशस्यैष:' इस पञ्चम मन्त्र से सूर्योपस्थान कर अपने घर को लक्ष्य कर प्रति यात्रा में करने से निर्विघ्न घर वापस आयेगा ॥ ३२.५ ॥

॥ इस प्रकार गोभिलगृह्यसूत्र के चतुर्थ प्रपाठक के पञ्चम खण्ड की डा० सुधाकर मालवीय कृत 'अनाकुला' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ ४.५ ॥

—— * ——

'पञ्चम्या' 'आकाशस्यैष आकाशे यदेतद् भाति मण्डलम्। एवं त्वा वेद यो वेद वेदेशानेशान् प्रयच्छ मे' ॥ १३ ॥ (म० ब्रा० २. ४. १३)—इत्यनयर्चा 'आदित्यमुपस्थाय' 'गृहान्' अभिलक्ष्य 'प्रपद्येत' यात्रां कुर्वीत, तेन सः प्रवासात् प्रतिचलितः 'स्वस्ति' यथा स्यात्तथा 'आगच्छति' प्रत्यायाति। द्विर्वचनं खण्डसमाप्तिद्योतनार्थम् ॥ ३२ ॥ ५ ॥

॥ इति गोभिलगृह्यसूत्रस्य चतुर्थप्रपाठके पञ्चमखण्डस्य डा० सुधाकरमालवीय कृता सरलाव्याख्या समाप्ता ॥ ४.३ ॥

—— * ——

अथ चतुर्थप्रपाठकस्य
षष्ठीकण्डिका

भूरित्यनकाममारं नित्यं प्रयुञ्जीत न पापरोगान्नाभिचाद्भयम् ॥ १ ॥

* अनाकुला *

जो विना कष्ट उचित समय मृत्यु की इच्छा करे (अकाल मृत्यु न हो), वे 'भूः' मन्त्र को सतत जप करे, मन्त्र के प्रभाव से शत्रुकृत मारण आदि से भय नहीं रहता, कुष्ठादि पाप रोग से भी भय नहीं होता ॥ १ ॥

* सरला *

भूर्भुवः स्वरों, सूर्य इव दृशे भूयासमग्निरिव तेजसा वायुरिव प्राणेन सोम इव गन्धेन बृहस्पतिरिव बुद्धयाऽश्विनाविव रूपेणेन्द्राग्नी इव बलेन ब्रह्मभाग एवाहं भूयासं पाप्माभागा मे द्विषन्तः ॥ १४ ॥ (म० ब्रा० २. ४. १४) 'इति' अनकाममारं, इच्छामरणसाधनं मन्त्रं 'नित्यं' सततमेव प्रतिदिन वा 'प्रयुञ्जीत' तेन 'न' 'पापरोगात्' कुष्ठादितः, न च 'अभिचारात्, शत्रुकृतात् 'भयम्' स्यात् ॥ १ ॥

अलक्ष्मीनिर्णोदो यजनीयप्रयोगो मूर्ध्नोऽधिम इत्येकैकया ।२।

मूर्ध्नोधिमे इत्यादि मन्त्रों से एक-एक आहुति प्रदान करे । यह यजनीय प्रयोग में गणनीय है । इस क्रिया के फल से दरिद्रता दूर होती है ॥ २ ॥

मूर्ध्नोऽधि मे वैश्रवणाच्छिरसोऽनुप्रवेशिनः । ललाटाद् घस्वरान् घोरान् विघ्नान् विबृहामि वः (स्वाहा) ॥ १ ॥ ग्रीवाभ्यो मे स्कन्धाभ्यां मे नस्तो मेऽनुप्रवेशिनः । मुखान्मे वद्गदान् घोरान् विबृहामि वः (स्वाहा) ॥ २ ॥ बाहुभ्यां मे यतो यतः पार्श्वयोरुत्तुतानधि । उरस्तो वद्गदान् घोरान् विघ्नान् विबृहामि वः (स्वाहा) ॥ ३ ॥ वङ्क्षणाभ्यां मे लोहितादान् योनिहान् पञ्जिहानधि । ऊरुभ्यो निश्लिषो घोरान् विघ्नान् विबृहामि वः (स्वाहा) ॥ ४ ॥ जङ्घाभ्यां मे यतो अतः पाष्णर्योरुत्तु

तानधि। पादयोर्विकारान् विबृहामि वः (स्वाहा)॥५॥ परिबाधं यजामहेऽणु जङ्घ ँ शबलोदरम्। योनोऽयं परिबाधते दानाय च भागाय च (स्वाहा)॥६॥ (म० ब्रा० २. ५. १-८) 'इति' अष्टर्च्चस्य सूक्तस्य 'एकैकया' ऋचा एकैका आहुतिर्होतव्या। अयमेव पूर्वोक्तो यजनीय-प्रयोगः'—इत्युच्यते। एतस्य हि कर्मणः प्रभावात् 'अलक्ष्मीनिर्णोदः दारिद्र्यनाशः भवेदिति॥२॥

या तीरश्चीति सप्तमी वामदेव्यर्चो महाव्याहृतयः प्रजापत इत्युत्तमया॥३-६॥

इस यजनीय प्रयोग में जो आठ आहुति होंगी, उनमें सप्तम मन्त्र से सप्तम आहुति न देकर 'या तिरश्ची' मन्त्र से सप्तम आहुति होगी एवं उसके पश्चात् 'वामदेव्य' आदि (उ० आ० १. १. १२. १) तीन मन्त्रों से और उसके पश्चात् महाव्याहृति आदि का पाठ करे, इसके पश्चात् 'प्रजापते' इस आठवें मन्त्र से आठ आहुति देना चाहिए॥३-६॥

इह यजनीयप्रयोगे या 'सप्तमी' आहुतिः, सा मन्त्रपाठक्रमात् 'अपेहि त्वं परिबाध मा विबाध विबाधथा। सुगं पन्थानं मे कुरु येन मा धन मेष्यति' (स्वाहा) (म० ब्रा० २. ५. ७)—इत्यनया प्राप्ता' परं न तथा-भीष्टा, अपि तस्याः स्थाने 'या तिरश्ची (?)'—इत्येषा प्रयोक्तव्या। किञ्च, ततो 'वामदेव्यर्च्चः (उ० आ० १. १. १२. १)'—महाव्याहृतयः', च जप्तव्याः, ततः 'प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परिता बभूव। यत् कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वय ँ स्याम पतयो रयीणा ँ' (स्वाहा)॥८॥ (म० ब्रा० २. ५. ८) इत्यनया अष्टम्या ऋचा अष्टमी आहुतिः होतव्येति॥३-६॥

अथ यशस्कामकर्म—

यशोऽहं भवामिति यशस्काम आदित्यमुपतिष्ठेत पूर्वाह्णमध्य-न्दिनापराह्णेषु प्रातरह्णस्येति सन्नामयन्॥७॥

जिन्हें यश की कामना हो, वे 'यशोऽहं' इन पाँच मन्त्रों से प्रातः, मध्याह्न और सायं तीन समय सूर्योपस्थान करे। 'प्रातरह्णस्य' यह पाठ यथाकाल परिवर्तन करे।

अर्थात् मध्याह्न काल में उसके स्थान पर 'माध्यन्दिनस्य' और सायं समय 'अपराह्णस्य' ऐसा कहे ॥ ७ ॥

'यशस्कामः' पुरुषः, यशोऽहं भवामि ब्राह्मणानां यशो राज्ञां यशो विशाम् । यशः सत्यस्य भवामि भवामि यशसां यशः ॥ ९ ॥ पुनर्मा यन्तु देवता या मदपचक्रमुः । महस्वन्तो महान्तो भवाम्यस्मिन् पात्रे हरिते सोमपृष्ठे ॥ १० ॥ रूपं रूप मे दिशः प्रातरह्णस्य तेजसः । अन्तमुग्रस्य प्राशिषमस्तु मयि । मयि त्वयीदमस्तु त्वयि मयीदम् ॥ ११ ॥ यदिदं पश्यामि चक्षुषा त्वया दत्तं प्रभासया तेन मा भुञ्ज तेन भुक्षिषीय तेन मा विश ॥ १२ ॥ अहर्नो अत्यपीपरद्रात्रिर्नो अति पारयत् । रात्रिर्नो अत्यपीपरदहर्नो अतिपारयत्' ॥ १३ ॥ (म० ब्रा० २. ५. ९-१३ —'इति' पञ्चर्च्चं सूक्तं पठन्, तत्र च तृतीये मन्त्रे पठितं 'प्रातरह्णस्येति' पदं 'सन्नामयन्' यथाकालं मध्यन्दिनस्येति अपराह्णस्येति च परिवर्त्तयन्, पूर्वाह्णपराह्णेषु, त्रिष्वेव कालेषु 'आदित्यमुपतिष्ठेत्' ॥ ७ ॥

अथ स्वस्त्ययनकामकर्म—

सन्धिवेलयोरुपस्थानँ स्वस्त्ययनमादित्यनावमिति ॥ ८ ॥

प्रातः और सायं दोनों सन्धि बेला में 'आदित्यनाव' मन्त्र से उपस्थान करे, इससे कल्याण होगा ॥ ८ ॥

'सन्धिवेलयोः' उभयोरेव 'आदित्यनावमारोक्षं पूर्णामपरिपारिनीम् । अच्छिद्रां पारयिष्णीँ शतारित्राँ स्वस्तये ॥ (ओन्नम 'आदित्याय नम 'आदित्याय नम आदित्याय) ॥ १४ ॥ (म० ब्रा० २.५.१४) 'इति' मन्त्रं पठन् 'उपस्थानं' कर्त्तव्यम् तथा च 'स्वस्त्ययनं सिध्येत्' ॥ ८ ॥

उद्यन्तं त्वादित्यानूदियासमिति पूर्वाह्णे प्रतितिष्ठन्तं त्वादित्यानुप्रतितिष्ठासमित्यपराह्णे ॥ ९-१० ॥

उपस्थान काल में विशेषतः प्रातः सन्धिकाल में 'उद्यन्त' मन्त्र भी एवं सायं सन्धि काल में 'प्रतिष्ठितं' मन्त्र भी पढ़ना चाहिए । ९-१० ॥

तत्र, पूर्वाह्णे 'उद्यन्तन्त्वादित्यानूदियासम् ॥ १५ ॥ (म० २. ५. १५) 'इति' यजुश्च प्रयोक्तव्यम् । अपराह्णे च 'प्रतितिष्ठन्तं त्वादित्यानु प्रतितिष्ठासमु ॥ १६ ॥ (म० ब्रा० २५. १६)—इति' च यजुः प्रयोक्त-

व्यमेव ॥ ९-१० ॥

आचितशतकामोऽर्द्धमासव्रतः ॥ ११ ॥

जो कोई १०० आचित (२५ मन या एक गाड़ी बोझ) की कामना करे वह अर्द्धमासव्रत का अनुष्ठान करे ॥ ११ ॥

अथ आचितशतकामकर्म । 'आचितशतकामः पुरुषः, 'अर्द्धमासव्रतः' स्यात् ॥ ११ ॥

तामिस्रादौ व्रीहिकांसौदनं ब्राह्मणान् भोजयित्वा तस्य कणान-परासु सन्धिवेलासु प्रत्यग्ग्रामान्निष्क्रम्य चतुष्पथेऽग्निमुपसमाधा-यादित्यमभिमुखो जुहुयाद्भलाय स्वाहा भल्लाय स्वाहेति । १२ ।

कृष्णपक्ष की प्रतिपदा तिथि को सन्धि बेला समय, कांस परिमित तण्डुल पाक करके, कई ब्राह्मणों को भोजन कराना चाहिए। इसके अनन्तर अमावस्या तक प्रति सन्धिबेला में गांव के बाहर पश्चिम ओर चौराहे पर अग्नि जलाकर उसमें 'भलाय' दोनों मन्त्रों से, सूर्य के सम्मुख होकर तण्डुल के कण आदि से होम करना चाहिए ॥ १२ ॥

'तामिस्रादौ' कृष्णप्रतिपदि सन्धिवेलायां 'व्रीहिकांसौदनं' पक्त्वा, तेन च 'ब्राह्मणान् भोजयित्वा' 'अपरासु' द्वितीयादिषु 'सन्धिवेलासु' 'तस्य' व्रीहिकांस्य 'कणान्' 'भलाय स्वाहा ॥ १७ ॥ भल्लाय स्वाहा ॥ १८ ॥ (म० ब्रा० २. १४. १७. १८) इति मन्त्रद्वयेन जुहुयात्। कुत्र प्रदेशे ! 'प्रत्यग्ग्रामान्निष्क्रम्य चतुष्पथे 'अग्निमुपसमाधाय, आदित्यमभिमुखः' सन् ॥ १२ ॥

एतयैवावृतापरौ तमिस्रौ ॥ १३ ॥

पूर्वोक्त रीति से और भी दो कृष्ण पक्ष में अनुष्ठान करे। तीन कृष्ण पक्ष में यह अर्द्धमास व्रत सम्पन्न होग ॥ १३ ॥

'एतया एव आवृता' पूर्वोक्तया एव रीत्या 'अपरौ' 'द्वौ' 'तामिस्रौ' कृष्णपक्षौ व्यवहर्त्तव्यौ। तदेवं त्रिभिः कृष्णपक्षैः एषोऽर्द्धमासव्रतः सम्पाद्य इति ॥ १३ ॥

तामिस्रान्तरेषु ब्रह्मचारी स्यादासमापनादासमापनात् ॥१४॥

॥ इति श्रीमद्गोभिलीये गृह्यसूत्रे चतुर्थप्रपाठकस्य षष्ठीकण्डिका ॥ ४.६ ॥

---*---

जिन तीन कृष्णपक्षों में यह 'अर्द्धमास व्रत' अनुष्ठान किया जाय, उसमें व्रत की समाप्ति तक व्रती ब्रह्मचर्य से रहे ॥ १४.६ ॥

॥ इस प्रकार गोभिलगृह्यसूत्र के चतुर्थ प्रपाठक के षष्ठ खण्ड की डा० सुधाकर मालवीय कृत 'अनाकुला' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ ४.६ ॥

---*---

'तामिस्रान्तरेषु' कृष्णपक्षमध्येष्वहोरात्रेषु व्रती पुरुषः 'आसमापनात्' व्रतसमाप्ति यावत् 'ब्रह्मचारी स्यात्' ॥ १४.६ ॥

इति गोभिलगृह्यसूत्रे चतुर्थप्रपाठके षष्ठखण्डस्य डा० सुधाकर मालवीय कृता सरलाव्याख्या समाप्ता ॥ ४.६ ॥

---*---

अथ चतुर्थप्रपाठकस्य

सप्तमीकण्डिका

अवसानं जोषयेत ॥ १ ॥

* अनाकुला *

दूसरे मकानों से यथासम्भव अलग अपने रहने का मकान बनाने के लिए उपयोगी अच्छी भूमि लेना चाहिए ॥ १ ॥

* सरला *

'अवसान' विरामलक्षणं अन्यवास्तुभिरवेष्टितं वक्ष्यमाणलक्षणं भूखण्डं 'जोषयेत' सेवेत वासायेति ॥ १ ॥

समं लोमसमविभ्रंसि प्राच्य उदीच्यो वा यत्रापः प्रवर्त्तेरन्नक्षीरिण्योऽकण्टका अकटुका यत्रौषधयः स्युः । २ ।

निवास भूमि समतल हो, घासों से छिपी हो, तालाब आदि से हठात् गिर जाने का भय न हो, उसके पूर्व या उत्तर दिशा में बड़ा जलाशय हो, एवं जिस भूमि के पास (बरगद आदि) क्षीरी, (बेर आदि) कण्टकी और कटु ओषधि वृक्ष न हों, यह भूमि वास योग्य है ॥ २ ॥

तच्च अवसानं 'समं' समतलं स्यात् । तच्च 'लोमशं' घासविशिष्टं स्यात् । तच्च 'अविभ्रंसि' विभ्रंशोऽधः पतनं न यत्र सम्भाव्यते तादृशं स्यात् । 'यत्र' 'प्राच्यः उदीच्यः वा' 'आपः' नद्यादिकाः 'प्रवर्त्तेरन्' 'विद्येरन्' । 'यत्र' च समीपे एव 'अक्षीरिण्यः 'अकण्टकाः 'ओषधयः' 'स्युः' ॥ २ ॥

गौरपांसु ब्राह्मणाय लोहितपांशु क्षत्रियस्य कृष्णपांसु वैश्यस्य । ३-५ ।

जहाँ धूलि का रंग गौर, वह ब्राह्मण के लिए, क्षत्रिय के लिए लाल रंग की धूलि वाली एवं वैश्यगण काली मिट्टी वाली भूमि में निवास बनावें ॥ ३-५ ।

पांसवो रेणवः। एवं पांसुपरीक्षां प्रकृत्य तत्र तत्र ब्राह्मणादयो वास्तु-निर्माणं कारयेयुरिति भावः ॥ ३-५ ॥

स्थिराघातमेकवर्णमशुष्कमनूषरममरुपरिहितमक्लिनम् ।६।

जहाँ थोड़े चोट वा आघात से भूमि धस न पड़े, जिस स्थान की धूलि अनेक रंग की न दीख पड़े, जहाँ किसी फूल के पेड़ रोपने से सूख न जावे, जहाँ शस्य आदि के उपजने की शक्ति भी हो, जिसके प्रायः चारो ओर मरुभूमि न हों एवं जहाँ जल न हो, ऐसी भूमि गृह निर्माण के लिए लेना चाहिये ॥ ६ ॥

'स्थिराघातं' स्वल्पाघातेनैव यन्नावटीभवेत् तत्। 'एकवर्णं' क्वचिद्-गौरमेवं बहुवर्णत्वं न दृश्यते यत्र, तादृशम्। 'अशुष्कं' यत्रोत्पद्यमाना ओषधयो न शुष्काः स्युः, तथाविधम्। 'अनुषरं' यत्रोप्तं बीजं प्ररोहेदेव, तादृशम्। 'अमरुपरिहितम्' मरुभूमिभिः अवेष्टितम्। 'अक्लिन्नम्' क्लिन्नं सजलम्, तद्विपरीतम्। एवम् अवसानं जोषयेते त्येव ॥ ६ ॥

दर्भसम्मितं ब्रह्मवर्चसकामस्य बृहत्तृणैर्बलकामस्य मृदुतृणैः पशुकामस्य । ७-९ ।

जहाँ समधिक कुश उत्पन्न हो, ऐसी भूमि ब्राह्मण के लिए, जहाँ घोड़ा आदि के खाने योग्य बड़ी घास आदि बहुत पाई जाये, ऐसी भूमि क्षत्रियों के रहने योग्य और जहाँ कोमल-कोमल घास हो, चारण भूमि के लिए चिन्ता न करनी पड़े, वह भूमि वैश्य के लिए उपयुक्त है ॥ ७-९ ॥

'ब्रह्मवर्चसकामस्य' ब्राह्मणस्य 'दर्भसम्मितं' कुशबहुलं स्थानं स्यात् तथा च दैवं पित्र्यं वा कर्म कर्त्तुं कुशाहरणाय क्लेशो न भवेत्। 'बल-कामस्य' 'क्षत्रियस्य 'बृहत्तृणैः' आकीर्णं स्थानमुचितम्, तथाचाश्वादीनां भोजनं सुलभं स्यात्। 'पशुकामस्य' वैश्यस्य मृदुतृणैः परिव्याप्तं स्थानं वासयोग्यम्, तथाच पशुचारणं सुकरं भवेदिति ॥ ७-९ ॥

शादासम्मितं मण्डलद्वीपसम्मितं वा यत्र वा श्वभ्राः स्वयं खाताः सर्वतोऽभिमुखाः स्युः । १० ।

रहने के मकान का स्थान चतुष्कोण हो, गोल होने से भी कोई हानि नहीं; किन्तु उसका मध्य भाग क्रम से ऊँचा हो। यदि ऐसा स्थान भी दुर्लभ हो तो त्रिकोण, बहुकोण, असमकोण प्रभृति स्थान भी मकान के लिए स्वीकार करे। परन्तु यदि ऐसे स्थान के चारो ओर अकृत्रिम कोई गड्ढा हो तो वह रहने योग्य है ॥१०॥

शादा इष्टका उच्यते, 'तत्सम्मितम्' चतुष्कोणमित्यर्थः। मण्डलं वर्त्तुलमुच्यते, मध्योन्नतं क्रमादभितो निम्नं यत्र, तद्द्वीपमुच्यते। तथाच द्वीपमिव मध्योच्चं वर्त्तुलमपि स्थानं दोषावहम्। अपि 'वा' 'यत्र' स्थाने 'स्वयं' 'खाताः' अकृत्रिमाः 'सर्वतोऽभिमुखाः' 'श्वभ्राः' गर्त्ताः 'स्युः' तत् अचतुरस्रमद्वीपवर्तुलमपि वासार्हमिति ॥ १० ॥

अनुद्वारश्च । ११ ।

घर में चाहे मनुष्य आदि के प्रवेश के लिए चाहे जितने दरवाजे हों, उन दरवाजे आदि के समसूत्रपात से, उसके समान अन्य द्वार भी रहना चाहिए ॥ ११ ॥

'अनुद्वारश्च' गृहे मनुष्यादिप्रवेशाय वायुप्रवेशाय वा यावन्ति द्वाराणि स्युः, तेषां सर्वेषामेव समसूत्रपातानुकृतानि द्वाराणि यत्र, तादृशं गृहं कुर्वीतेत्येव। नात्र नेत्यनुवर्त्तते अप्रसक्तस्य निषेधाप्रवृत्तेः ॥ ११ ॥

तत्रावसानं प्राग्द्वारं यशस्कामो बलकामः कुर्वीतोदग्द्वारं पुत्रपशुकामो दक्षिणाद्वारँ सर्वकामो न प्रत्यग्द्वारं कुर्वीत । १२ ।

पूर्वोक्त स्थानों में घर बनावे। उनमें से जो विशेषतः यश और बल की इच्छा करे, वे मकान का दरवाजा पूर्व मुख, जो विशेषतः पुत्र और पशु की ईच्छा करे, वे उत्तर मुख, जिसको विशेष कामना न हो, किन्तु सब ही कामना हो, वे दक्षिण मुख द्वार करे। परन्तु पश्चिम मुख दरवाजा कभी न करे ॥ १२ ॥

'तत्र' तादृशे स्थाने 'यशस्कामः' 'बलकामः' पुरुषः 'प्राग्द्वारम्' 'अवसानं' वासगृहं 'कुर्वीत'। पुत्रकामः पशुकामश्च पुरुषः 'उदग्द्वारम्' अवसानं कुर्वीत। 'सर्वकामः पुरुषः 'दक्षिणाद्वारम्' अवसानं कुर्वीत। 'प्रत्यग्द्वारं पश्चिमद्वारमवसानं न कोऽपि कुर्वीतेति ॥ १२ ॥

गृहद्वारं यथा न संलोकि स्यात् । १३ ।

मकान के भीतर के घर के द्वार आदि ऐसे हों जहाँ से घर के भीतर के मनुष्य आदि बाहरी दरवाजे से न दीखे ॥ १३ ॥

तथा कुर्वीतेति शेषः ॥ १३ ॥

वर्जयेत् पूर्वतोऽश्वत्थं प्लक्षं दक्षिणतस्तथा ।
न्यग्रोधमपराद् देशादुत्तराच्चाप्युदुम्बरम् ।
अश्वत्थादग्निभयं विद्यात् प्लक्षाद् ब्रूयात् प्रमायुकान् ।

न्यग्रोधच्छस्त्रसम्पीडामक्ष्यामयमदुम्बरात् ।
आदित्यदेवतोऽश्वत्थः प्लक्षोयमदेवतः ।
न्यग्रोधो वरुणो वृक्षः प्राजापत्य उदुम्बरः । १४ ।

पीपल के पेड़ के देवता सूर्य हैं। अतः मकान के पूर्व दिशा में पीपल वृक्ष न रखे। पूर्व दिशा में पीपल के पेड़ रहने से अग्नि का भय रहता है। पाकड़ के देवता यम हैं, अतः मकान के दक्षिण भाग में पाकड़ का पेड़ रहने से आयु की हानि होती है। वट वृक्ष के देवता वरुण हैं, घर के पश्चिम में बड़ का पेड़ रहने से शस्त्राघात का सन्देह रहता है। गूलर वृक्ष के देवता प्रजापति हैं। अतएव मकान से उत्तर भाग में गूलर रहने से नेत्ररोग होता है ॥ १४ ॥

अश्वत्थः—चलदलः स च आदित्यदेवतः, त पूर्वतः स्वावासस्य, वर्जयेत्, पूर्वतः स्थितात् अश्वत्थात् अग्निभयं विद्यात्। प्लक्षः—पर्कटी, स च यमदेवतः, तं दक्षिणतः स्वावासस्य वर्जयेत्, दक्षिणतः स्थितात् प्रमायुकान् ह्रसितायुष्कान् अल्पायुषः स्युस्तत्र वासिन इति ब्रूयात्। न्यग्रोधः—वटः, स च वृक्षः वारुणः' वरुणदेवतः, तम् अपराद्देशात् पश्चिमात् प्रदेशात् स्वावासस्य, वर्जयेत्, पश्चिमस्थितात् न्यग्रोधात् शस्त्रसम्पीडा भवेत्। उदुम्बरः—यज्ञवृक्षः, स च प्राजापत्यः प्रजापतिदेवतः, तम् उत्तरात् स्वावासस्य वर्जयेत्, उत्तरस्थितात् उदुम्बरात् अक्ष्यामयमक्षिरोगो भवेदेवेति ॥ १४ ॥

तानस्वस्थानस्थान् कुर्वीतैताश्चैव देवता अभियजेत । १५ ।

अनुपयुक्त स्थान में समुत्पन्न पीपल आदि के पेड़ों को उखाड़ कर उपयुक्त स्थान में रोप कर उस-उस वृक्ष का उन-उन देवता का होमादि से पूजन करे ॥ १५ ॥

'तान्' अश्वत्थादीन् पूर्वादिष्ववस्थितान्' अस्वस्थानस्थान्' स्वस्थानेभ्य उत्थाप्यान्यत्राभिलषितस्थानेषु संस्थितान् 'कुर्वीत', अपि 'च' तत्तदुत्थानकाले 'एताः देवता' तत्तद्वृक्षदेवताः 'एव' 'अभियजेत' होमादिभिरर्चयेत् ॥ १५ ॥

मध्येऽग्निमुपसमाधाय कृष्णया गवा यजेताजेन वा श्वेतेन सपायसाभ्यां पायसेन वा । १६-१९ ।

वास्तु भूमि पर आग जलाकर काली गौ के दुग्ध आदि से याग करे। सफेद छाग दुग्ध द्वारा भी याग हो सकता है, काली गौ के या सफेद छाग के साथ यदि पायस हो तो और भी उत्तम है, न हो तो केवल पायस से ही याग करे ॥ १६-१९ ॥

'मध्ये' वास्तुभवनस्य, 'अग्निम्' 'उपसमाधाय' पूर्वोक्तविधिना प्रज्वाल्य 'कृष्णया गवा' कृष्णायाः गोः मांसादिना 'यजेत'–इति प्रथमः कल्पः। 'श्वेतेन अजेन वा' यजेतेति द्वितीयः। 'सपायसाभ्याम्' गोऽजाभ्याम्, पायसेन च गोऽजयोरन्यतरेण चेति तृतीयः। 'पायसेन' पायसमात्रेणैव 'वा' इत्यधमः कल्पः ।। १६ – १६ ।।

वसामाज्यं मांसं पायसमिति संयूयाष्टगृहीतं गृहीत्वा जुहुयाद्वास्तोष्पत इति प्रथमा वामदेव्यर्च्चो महाव्याहृतयः प्रजापतय इत्युत्तमा ।। २० – २४ ।।

वसा, घृत, मांस, और पायस, इन चार को एकत्र मिला कर (जिस प्रकार चार बार लेना कहा गया है, उसी प्रकार) प्रतिवार ८ ग्रहण करता हुआ होम करे। उन में से ''वास्तोष्पते'' मन्त्र सें पहली आहुति देवे, अनन्तर 'वामदेव्य' संज्ञक तीन मन्त्रों से, उसके पीछे महाव्याहृति आदि का प्रयोग करे; पीछे ''प्रजापतये''–मन्त्र से शेष आहुति देवे ।। २० – २४ ।।

'इति' इमानि वसादीनि चत्वारि 'संयूय' सम्यक् मिश्रीकृत्य मिश्रितं तत् 'अष्टगृहीतं' चतुर्गृहीतमिव गृहीत्वा 'जुहुयात्'। तत्र

''वास्तोष्पते प्रतिजानीह्यस्मान्त्स्वादेशो अनमीवो भवानः।
यते महे प्रतितन्नो जुषस्व शन्नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे ।।
(म० ब्रा० २, ६.१) इति मन्त्रेण।

'प्रथमा' आहुतिः। ततो 'वामदेव्यर्च्चः' तिस्रः प्रयोक्तव्याः। ततश्च 'महाव्याहृतयः प्रयोक्तव्याः। ततः 'प्रजापतये' एतन्मात्रेणैव मन्त्रेण उत्तमा' आहुतिर्होतव्येति ।। २० – २४ ।।

हुत्वा दश बलीन् हरेत् प्रदक्षिणं प्रतिदिशम् अवान्तरदेशेषु आनुपूर्व्येणाव्यतिहरन् ।। २५ ।।

वास्तु होम करके उसके बाद प्रदक्षिणानुसार प्रत्येक दिशा में और प्रत्येक कोण में क्रम से १० बलि प्रदान करे ।। २५ ।।

'हुत्वा' उक्तवास्तुहोमानन्तरमेव 'प्रतिदिशं' यथा स्यात् तथा कृत्वा, 'अवान्तरदेशेषु' कोणेषु व्यतिहरो यथा न भवेत् तथा च कृत्वा, 'आनुपूर्व्येण' एव 'दश' सङ्ख्याकान् 'बलीन्' 'हरेत्' ।। २५ ।।

बलीनां स्थानानि मन्त्रांश्चोपदिशति –

इन्द्रायेति पुरस्तात् वायव इत्यवान्तरदेशे यमायेति दक्षिणतः पितृभ्य इत्यवान्तरदेशे वरुणायेति पश्चान्महाराजायेत्यवान्तरदेशे सोमायेत्युत्तरतो महेन्द्रायेत्यवान्तरदेशे वासुकय इत्यधस्तादूद्ध्वं नमो ब्रह्मण इति दिवि ।। २६ – ३३ ।।

रहने के मकान से पूर्व दिशा में, फिर अग्निकोण आदि आठ दिशाओं में, फिर नीचे ऊपर, इन दिशाओं में 'इन्द्राय' इत्यादि दश मन्त्रों से बलि प्रदान करे ।। २६ – ३३ ।।

स्पष्टान्येतानि ।। २६ – ३३ ।।

प्राच्यूद्ध्र्वावाचीभ्योऽहरहर्नित्यप्रयोगः संवत्सरे संवत्सरे नवयज्ञयोर्वा ।। ३४ – ३५ ।।

।। इति गोभिलगृह्यसूत्रस्य चतुर्थप्रपाठकस्य सप्तमी कण्डिका ।। ४ । ७ ।।

—— * ——

इन्द्र देवता के लिए ऊपर को, पूर्व दिशा में ब्रह्मा देवता के लिये, एवं नीचे को वासुकि देवता के लिये प्रतिदिन बलिकर्म करे, अथवा प्रति वर्ष जिस समय नया अनाज हो और जिस समय यव आदि शस्य नूतन हों उस उस नवान्न के समय में इन तीन की बलि करने से भी (बलिकर्म) हो सकता है ।। ३४ – ३५ ।।

।। इस प्रकार गोभिलगृह्यसूत्र के चतुर्थ प्रपाठक के सप्तमी कण्डिका
की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत 'अनाकुला' हिन्दी
व्याख्या पूर्ण हुई ।। ४ । ७ ।।

प्राच्यादिदेवताभ्यः पूर्वोक्ताभ्यः 'अहरहः' प्रतिदिनमेव बलिहरणं कर्त्तव्यम्; एवञ्चैषः 'नित्यप्रयोगः' – इति कस्यचिन्मतम् ।

स्वमते तु संवत्सरे सम्वत्सरे यदा यदा नवयज्ञौ ब्रीहियज्ञो यवयज्ञश्च भवतः तदा तदैवासामपि तिसृणां बलिहरणमिति शम् ।। ३४ – ३५ ।। ७ ।।

—— * ——

।। इति गोभिलगृह्यसूत्रे चतुर्थप्रपाठके सप्तमकण्डिकाया
डॉ० सुधाकर मालवीय कृता सरला व्याख्या समाप्ता ।। ४ । ७ ।।

—— * ——

अथ चतुर्थप्रपाठकस्य
अष्टमीकण्डिका

श्रवणाग्रहायणीकर्मणो रक्षताञ्छिष्ट्वा प्राङ् वोदङ् वा ग्रामान्निष्क्रम्य चतुष्पथेऽग्निमुपसमाधाय हये राक इत्येकैकयाञ्जलिना जुहुयात् ।। १ ।।

इसके पहिले 'श्रवणाकर्म' और 'आग्रहायणी कर्म' कहे गये हैं । उन कर्मों में 'अक्षतवलि' भी कही गयी है । इस बलि के समय सब अक्षत आदि हविर्द्रव्य बलि कार्य में व्यवहार न करके, उस में से थोड़ा अक्षत अवशिष्ट रक्खे । इसी को एक एक अञ्जलि कर 'हये राके' इत्यादि चार मन्त्रों से आहुति देवे । यह होम गांव से बाहर पूर्व, या उत्तर दिशा में चौराहे पर आग जला कर करे ।। १ ।।

पुरस्तादुक्ते 'श्रवणाग्रहायणी' कर्मणी । तयोः अक्षतबलयश्च विहिताः । तत्रसर्वैरेवाक्षतैर्बलिहरणमकृत्वा कतिचित् 'अक्षतान्' 'शिष्ट्वा' बलिशेषभूतान् रक्षित्वा तैरेवाक्षतैः 'अञ्जलिना'

"हये राके सिनीवालि सिनीवालि पृथुष्टुके ।
सुभद्रे पथ्ये रेवति यथा नो यश आवह (स्वाहा) ।। २ ।।
ये यन्ति प्राञ्चः पन्थानो य उ वोत्तरत आययुः ।
ये चेमे सर्वे पन्थानस्तेभिर्नो यश आवह (स्वाहा) ।। ३ ।।
यथा यन्ति प्रपदो यथा मासा अहर्जरम् ।
एवं मा श्रीधातारः समवयन्तु सर्वतः (स्वाहा) ।। ४ ।।
यथा समुद्रळं स्रवन्तीः समवयन्ति दिशो दिशः ।
एवं मा सखायो ब्रह्मचारिणः समवन्तु दिशो दिशः (स्वाहा) ।। ५ ।।
(म० ब्रा० २ ६, २.५)'

'इति' सूक्तान्तर्गतानां चतसृणामृचाम् 'एकैकया' 'जुहुयात्' । स च होमः, 'ग्रामात् प्राङ् वा उदङ् वा निष्क्रम्य' 'चतुष्पथे अग्निम् उपसमाधाय' तत्रैव कर्त्तव्य इति ।। १ ।।

प्राङुत्क्रम्य वसुवन एधीत्यूद्ध्र्वमुदीक्षमाणो देवजनेभ्यः ।। २ ।। तिर्यङ्ङितरजनेभ्योऽर्वाङ्वेक्षमाणः ।। ३ ।। अनपेक्षमाणः प्रत्येत्याक्षतान् प्राश्नीयादुपेतैरमात्यैः सह ।। ४ ।।

उसके बाद गृह में घूम कर रास्ते में किसी एक स्थान में ऊपर मुँह कर, देवताओं के लिये 'वसुवन एधि' मन्त्र का पाठ करे । पुनः पश्चिम मुख, या दक्षिणाभिमुख अर्थात् घर के सम्मुख होने ही से टेढ़ा होना पड़ेगा, तभी तिरछे होते समय नीचे देखकर, अन्यान्य प्राणियों के लिये, पुनः इस मन्त्र का पाठ करे । अनन्तर पीछे न देख कर अपने स्थान पर आकर, उस समय उस स्थान में जो सब आत्मीय लोग उपस्थित हों, उन के साथ, होम से बची अक्षत आदि सामग्री का भोजन करें ।। २ – ४ ।।

'उत्क्रम्य' उत्क्रमणं व्युत्क्रमणं विपरीतगमनं प्रतिगमनारम्भणमिति यावत्, तत् कृत्वा तत्र पथ्येव यत्र कुत्रचित् 'प्राङ्' प्राङ्मुखः, 'ऊद्र्ध्वम्' उपरि 'उदीक्षमाणः' 'देवजनेभ्यः' देवगणानुद्दिश्य 'वसुवन एधि वसुवन एधि'' वसुवन एधि ।। ६।। (म० ब्रा० २, ६, ६) – 'इति' मन्त्रं पठेत् । ततः 'तिर्यङ्' गृहगमनाय पश्चिमाभिमुखो दक्षिणाभिमुखो वा भवितुं तिरश्चीनः सन्, 'अर्वाङ्' अध अवेक्षमाणः' इतरजनेभ्यः' देवातिरिक्तप्राणिगणानुद्दिश्य तमेव मन्त्रं पठेत् । 'अनवेक्षमाणः' पश्चादवलोकनमकृत्वैव प्रत्येत्य' स्ववासं 'उपेतैः' तदानीं तत्रोपस्थितैः 'अमात्यैः 'बन्धुवर्गैः 'सह' 'अक्षतान्' होमावशिष्टान् 'प्राश्नीयात् भुञ्जीत ।। २ – ४।।

स्वस्त्ययनम् ।। ५ ।। वशङ्गमौ शंखश्चेति पृथगाहुती व्रीहियवहोमौ प्रयुञ्जीत ।। ६ ।। यस्यात्मनि प्रसादमिच्छेत्तस्मै नित्यप्रयोगः ।। ७ ।।

उक्त श्रवणा और आग्रहायणी दोनों कर्मों के अवशिष्ट अक्षत बलि कर्म का फल–स्वस्त्ययन है, इसलिये जो लोग विशेष 'स्वस्त्ययन' चाहें, वे ही इसे करें ।। ५ ।।

प्रसन्नता चाहने वाला मनुष्य 'वंशगमौ' मन्त्र से व्रीहिहोम और 'शंखश्च' मन्त्र से यव होम करे । जब तक उद्देश्य सिद्ध न हो, तब तक प्रतिदिन यही प्रयोग (अनुष्ठान) करे ।। ६ ।। ७ ।।

उक्तेन श्रवणाग्रहायणी शेषाक्षतबलिकर्मणा 'स्वस्त्ययनं, फलं भवेत्' तथा च स्वस्त्ययनकाम एवास्याधिकारी ।। ५।। अथ प्रसादकामकर्म – 'यस्य' जनस्य 'आत्मनि' स्वे प्रसादम् 'इच्छेत्' 'तस्मै' तदुद्देशतः ''वशङ्गमौ देवयानौ युवळं स्थो यथा युवयोः सर्वाणि भूतानि वशमायन्ति, एवं ममाऽसौ

वशमेतु (स्वाहा) ।।७।। (म० ब्रा०, २, ६, ६) – शंखश्च मन आयुश्च देवयानौ युवळंस्थो यथा युवयोः सर्वाणि भूतानि वशमायन्ति एवं ममाऽसौ वशमेतु (स्वाहा)'' ।।८।। (म० ब्रा० २, ६, ८) – 'इति' आभ्यां मन्त्राभ्यां 'व्रीहियवहोमौ' व्रीहियव द्रव्यकहोमौ 'पृथगाहुती' विभिन्नद्रव्यहवनौ 'प्रयुञ्जीत' कुर्वीत । पृथगाहुतीत्युक्त्या वशङ्गमाविति मन्त्रेण व्रीहिहोमः शंखश्चेति मन्त्रेण च यवहोम इति । नित्यप्रयोगः तत्प्रसादलाभपर्यन्तमहरह एवैषः प्रयोगः कर्त्तव्य इति ।। ६–७।।

एकाक्षर्यायामर्द्धमासव्रते द्वे कर्मणी ।।८।। पौर्णमास्यां रात्रौ खदिरशङ्कुशतं जुहुयादायुष्काम आयसान् वधकामः ।। ६–१०।।

'आकूतिं देवी' आदि मन्त्र को 'एकाक्षरी मन्त्र कहते हैं । इस एकाक्षरी मन्त्र विषयक जो दो कर्म कहे जाने वाले हैं, उन्हीं दो कर्मों को 'अर्द्धमासव्रत' जानना चाहिए । अपनी या दूसरे की आयु बढ़ाने की कामना हो तो खैर की १०० कील (= लकड़ी) से होम करे और अपनी या दूसरे की आयु के हानि की इच्छा हो तो साधक लोहे के १०० कीलकों से होम करे । ये कर्म पूर्णिमा की रात में 'एकाक्षरी' मन्त्र से करे । इसको 'शंङ्कुशत' होम कहते हैं ।। ८–१०।।

'एकाक्षर्यायाम्' ''आकूतीं देवीं मनसा प्रपद्ये यज्ञस्य कातरळं सुहवा मे अस्तु । यस्यास्त एकमक्षरं परळं सहस्रा अयुतं च शाखास्तस्यै वाचे निहवे जुहोम्या मा वरो गच्छतु श्रीर्यशश्च (स्वाहा) ।।६।। (म० ब्रा० २, ६, ६)'' इत्यस्यामृचि 'द्वे कर्मणी' अनुपदवक्ष्यमाणे विद्येते, ते च द्वे एव 'अर्द्धमासव्रते' वेदितव्ये ।।८।। तत्र प्रथमं कर्म शंङ्कुशतहवनं नाम, तच्च कामनाद्वयभेदात् द्विविधम्, तद् द्विविधमेवोपदिशति । स्वस्य अपरस्य वा 'आयुष्कामः' पुरुषः 'खदिरशंकुशतं' खादिराणां शङ्कूनां कीलकानां शतं जुहुयात्, स्वस्य अपरास्य वा वधकामश्चेत् 'आयसान्' लोहविकृतान् शङ्कून् शतं जुहुयादिति । कदेत्युच्यते, —'पौर्णमास्यां रात्रौ' इति ।। ६–१०।।

अथ स्थण्डिलहोमः—

अथापरम् ।।११।। प्राङ् वोदङ् वा ग्रामान्निष्क्रम्य चतुष्पथे पर्वते वारण्यैः स्थण्डिलं प्रताप्यापोह्याङ्गारान् मन्त्रं मनसानुद्रुत्य सर्पिरास्येन जुहुयात् ।।१२।।

(पहले आठवें सूत्र में ही कहा गयां है कि 'एकाक्षरी' मन्त्र से दो कर्म सिद्ध होते हैं, उनमें से इसके पूर्व 'शङ्कुशत' होम कर्म कहा गया है) अब 'स्थण्डिल होम' नामक द्वितीय कर्म कहा जाता है ।। ११ ।।

गांव की वस्ती से पूर्व, या उत्तर जाकर किसी एक चौराहे, या पहाड़ पर जंगली कण्डे से एक स्थण्डिल (वेदी) अच्छी प्रकार तपा कर, उस अङ्गार आदि को हटाकर, इस 'एकाक्षरी' मन्त्र को मन ही मन शीघ्र पाठ कर अपने मुंह में घी लेकर उससे होम करे ।। १२ ।।

यदुक्तं 'द्वे कर्मणी' – इति तत्र नवमदशमसूत्राभ्यां द्विविधं शङ्कुशत–हवनमुक्तम् , 'अथ' क्रमप्राप्तम् 'अपरम्' द्वितीयं कर्म स्थण्डिलहवनमिदमुपदिश्यते । अपि चात्रानि द्वैविध्यमस्ति ।। ११ ।।

'ग्रामात्' स्ववासस्थानात् 'प्राङ्' पूर्वाभिमुखः, 'उदङ् वा' अथवा उत्तराभिमुखः 'निष्क्रम्य, निर्गतो भूत्वा, 'चतुष्पथे पर्वते वा' उपस्थितः सन्, 'आरण्यैः गोमयैः' 'स्थण्डिलं' लोहपात्रं 'प्रताप्य' प्रतप्तं कृत्वा, 'अङ्गारान्' गोमयकृतान् स्थण्डिलस्पृष्टान् 'अपोह्य' दूरीकृत्य; 'मन्त्रं' प्रकृतमेकाक्षरीनामकं 'मनसा' 'अनुद्रुत्य' द्रुतं पठित्वा तत्रैव प्रतप्ते स्थण्डिले 'आस्येन' स्वमुखेन 'सर्पिः' धृतं जुहुयात् ।। १२ ।।

ज्वलन्त्यां द्वादशग्रामाः ।। १३ ।। धूमेत्र्यवरार्द्ध्या ।। १४ ।। अमोघं कर्मेत्याचक्षते ।। १५ ।।

आहुति के देते ही यदि शीघ्र ज्वाला उठे तो अनुष्ठाता को १२ ग्राम लाभ होंगे और यदि ज्वाला न हो धूम दीख पड़े तो तीन गाँव मिलेंगे । बूढ़े लोग इसे 'अमोघ कर्म' कहते हैं । यह भी 'अर्द्धमासव्रत है' ।। १३ – १५।।

तादृशे होमे हुते 'ज्वलन्त्यां' शिखायां यजमानस्य 'द्वादशग्रामाः लभ्याः भवेयुः, प्रज्वलनाभावेन 'धूमे' सति त्र्यवरार्द्ध्याः अवरार्द्ध्यशब्दोऽन्यूनवचनः अतो न्यूनतोऽपि त्रयो ग्रामाः भवेयुः, ज्वालाधूमयोः अल्पत्वबहुत्वाभ्यां लब्धव्यग्रामसङ्ख्यानामल्पत्वबहुत्वे । एवञ्चैतत् सर्वथाप्यनिष्फलमिति 'अमोघं कर्म' 'इति' नाम 'आचक्षते' वृद्धाः । तदेतत् 'स्थण्डिलहोम' – नाम एकाक्षर्यां द्वितीयं कर्म ।। १३ – १५।।

स्थण्डिलहोमस्यैव प्रकारान्तरेण फलान्तरजनकत्वमुच्यते –

वृत्त्यविच्छित्तिकामो हरितगोमयान् सायं प्रातर्जुहुयात् ।। १६।।

जीविका का नाश न हो – ऐसी इच्छा वाला साधक जङ्गली गोबर से तप्त की हुई वेदी पर घी का होम न करके सायं और प्रातःकाल तात्कालिक गोबर को मुंह में रख कर उससे होम करे ।। १६ ।।

यजमानः यदि 'वृत्त्यविच्छित्तिकामः' वृत्तिर्जीवनोपायः तस्य विच्छेदो न स्यात् इत्येवं कामः स्यात्, तर्हि तत्रैव आरण्यगोमयैः प्रतप्ते स्थण्डिले सर्पिर्होमविनिमयतः 'हरितगोमयान्' सद्यो विसृष्टगोमयान् तेनैव आस्येनैव 'सायं' 'प्रातः' 'जुहुयात्' इति समाप्तमेकाक्षरीकृत्यम् ।। १६ ।।

अथ पुण्यहोमः –

त्रिरात्रोपोषितः पण्यहोमं जुहुयादिदमहमिमं विश्वकर्माणमिति वाससस्तन्तून् गोर्वालानेवमितरेभ्यः पण्येभ्यः ।। १७ – २०।।

व्यापार की उन्नति की इच्छा वाले मनुष्य को चाहिए की व्यापार के द्रव्य में से एक एक अंश लेकर, (जैसे कपड़े के किनारे से सूत निकाल ले, गौ का व्यापार हो तो पूँछ से थोड़ा बाल लेकर) ''इदमहमिमं'' आदि मन्त्र से होम करे ।। १७ – २०।।

काम्येषु कर्मसु त्रिरात्राभोजनं विहितम् (प्र० ४ खं० ५ सू० ६) पण्यहोमोऽपि काम्यं कर्म, अत्रापि तत् प्राप्तमिति विशेषं विधत्ते, – त्रिरात्रोपोषितः' उपवासस्तु अल्पभोजनं न त्वभोजनमित्युक्तं पुरस्तात् (प्र० खं० ५ सू० १३ – २६, प्र १ खं० ६ सू० १ – ८) 'पण्यहोमं' पण्यं विक्रय्यद्रव्यं, तस्मै होमः पण्यहोमस्तम् ।

''इदमहमिमं विश्वकर्माणळं श्रीवत्समभिजुहोमि (स्वाहा'') ।। १० ।।
(म० ब्रा० २, ५, १०)

'इति मन्त्रेण 'जुहुयात्' । किं जुहुयादिति होमद्रव्यं विधत्ते, – 'वाससः' वासः पण्यं चेत् तस्य 'तन्तून्' दशासूत्राणि जुहुयात् । गौः पण्यं चेत्, तस्य 'गोः' 'बालान्ः पुच्छलोमानि जुहुयात् । 'इतरेभ्यः' अजाविकादिभ्यः पण्येभ्योऽपि 'एवम्' एव एकदेशं लोमादिक–मुद्धृत्य जुहुयादित्येव ।। १७ – २०।।

अथ यशस्कामसहायकामयोः यजनीयप्रयोगौ –

पूर्णहोमो यजनीयप्रयोग इन्द्रामवदादिति च यशस्कामः पूर्वाळं सहायकाम उत्तराम् ।। २१ – २२ ।। ८ ।।

।। इति गोभिलगृह्यसूत्रस्य चतुर्थप्रपाठकस्य अष्टमी कण्डिका ।। ४ । ८ ।।

——— * ———

"पूर्णहोमं यशसे जुहोमि" से होम करे और "इन्द्रामवदात्" से होम करे, ये दोनों होम 'यजनीय प्रयोग' हैं । यश की इच्छा से प्रथम मन्त्र का और सहायता की इच्छा हो तो शेष मन्त्र का व्यवहार करे ।। २१ – २२ ।। ८ ।।

।। इस प्रकार गोभिलगृह्यसूत्र के चतुर्थ प्रपाठक के अष्टमी कण्डिका
की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत 'अनाकुला' हिन्दी
व्याख्या पूर्ण हुई ।। ४ । ८ ।।

——— * ———

'पूर्णहोमः' – "पूर्णहोमं यशसे जुहोमि, योऽस्मै जुहोति वरमस्मै ददाति । वरं वृणे यशसा भामि लोके (स्वाहा)" ।। ११ ।।

(म० ब्रा० २, ६, ११) – इति होमः

"इन्द्रामवदात् तमो वः परस्तात् ।
अहं वो ज्योतिर्मामभ्येत् सर्वे (स्वाहा)" ।। १२ ।। (म० ब्रा० २, ६, १२)

'इति' मन्त्रेण 'च' होमः 'यजनीयप्रयोगः' (प्र० ४ खं० ५ सू० १२) बोध्यः । तत्र च 'यशस्कामः' चेत् 'पूर्वाम्' ऋचँ प्रयुञ्जीत 'सहायकामः' चेत् 'उत्तराम्' ऋचँ प्रयुञ्जीतेति ।। २१ –२२ ।। ८ ।।

।। इति गोभिलगृह्यसूत्रे चतुर्थप्रपाठके अष्टमी कण्डिकाया
डॉ० सुधाकर मालवीय कृतासरला व्याख्या समाप्ता ।। ४ । ८ ।।

——— * ———

अथ चतुर्थप्रपाठकस्य
नवमीकण्डिका

पुरुषाधिपत्यकामोऽष्टरात्रमभुक्तवौदुम्बरान्त्स्त्रुचमसेध्मा-नुपकल्पयित्वा प्राङ् वोदङ् वा ग्रामान्निष्क्रम्य चतुष्पथेऽग्निमुप-समाधायाज्यमादित्यमभिमुखो जुहुयादन्नं वा एकच्छन्दस्यळं श्रीर्वा एषेति च ।। १ – २।।

बड़े पद के चाहने वाले व्यक्ति को चाहिए कि आठ रात भोजन न करे। इसी बीच में गूलर की लकड़ी का स्त्रुवा चमस और इध्म सङ्ग्रह कर सब को अपने साथ लेकर गांव के पूर्व उत्तर बाहर जाकर किसी चौराहे पर अग्निस्थापन कर ''अन्नं वा'' आदि मन्त्र से घी की आहुति देवे एवं उसी के बाद लगातार ''श्रीर्वा एष'' मन्त्र से दूसरी आहुति देवे ।। १ – २ ।।

पुरुषाणां सैनिकानां साधारणानां वानेकेषाम् आधिपत्यं यदि कामयेत, तर्हि तेन अष्टरात्रमभोजनं कर्त्तव्यम्, तत्रैव चाष्टरात्रे, औदुम्बरान्' स्त्रुवादीन् प्रकल्प्य तदष्टरात्रान्ते तान् स्त्रुवादीन् गृहीत्वा 'प्राङ् उदङ् वा ग्रामात् निष्क्रम्य' यं कञ्चिदपि चतुष्पथं प्राप्य तत्रैव 'अग्निम् उपसमाधाय' 'आदित्यं द्युस्थम् 'अभिमुखः' ''सन् अन्नं वा एकञ्छन्दस्यमन्नळं ह्येकं भूतेभ्यच्छदयति (स्वाहा)'' ।। १३ ।। (म० ब्रा० २, ६, १३) इति मन्त्रेण 'आज्यं जुहुयात्' । ततः ''श्रीर्वा एषा यत्सत्वानो, विरोचनो मयि सत्त्वमवदधातु (स्वाहा)'' ।। १४।। (म० ब्रा० २, ६, १४) 'इति' मन्त्रेण 'च' पुनरपि आज्यमेव जुहुयादिति ।। १ – २।।

अन्नस्य घृतमेवेति ग्रामे तृतीयं गोष्ठे पशुकामो विदूयमाने चीवरम् ।। ३ – ५।।

ग्राम में वापस आकर ''अन्नस्य घृतमेव'' आदि मन्त्र से तृतीय आहुति देवे। यदि पूर्वोक्त व्यक्ति यह भी इच्छा करे कि मुझे बहुत पशु हों, तो उस तृतीय आहुति को गोशाला में देवे और यदि वह गोशाला गीली हो, तो वहां घी की तीसरी आहुति न करके, लोह चूर्ण का होम करें ।। ३ – ५ ।।

ततः 'ग्रामे' प्रत्यागत्य "अन्नस्य घृतमेवरसस्तेजः सम्पत्कामो जुहोमि (स्वाहा)" ।। १५ ।। (म० ब्रा० २, ६, १५) 'इति' मन्त्रेण 'तृतीयाम्' आहुतिं जुहुयात् आज्यस्यैव । स च पुरुषाधिपत्य कामः पुरुषः यदि 'पशुकामः' अपि तर्हि ग्रामे होतव्यां तामाहुतिं 'गोष्ठे' एव जुहुयात् । तत्रापि तद् गोष्ठं 'विदूयमानम्' आर्द्रं चेत् तत्र 'विदूयमाने' गोष्ठे 'चीवरं' लौहचूर्णं जुहुयात् नाज्यमिति ।। ३ – ५ ।।

प्रतिभयेऽध्वनि वस्त्रदशानां ग्रन्थीन् बध्नीतोपेत्य वसनवतः स्वाहाकारान्ताभिः सहायानाञ्च स्वस्त्ययनम् ।। ६ – ७ ।।

यदि रास्ते में एकाएक भय आ पड़े तो झट सहगामी के पास हो कर पूर्वोक्त "अन्नं वा" इन तीन मन्त्रों से स्वाहाकारान्त जप करते हुए कपड़े के किनारे के सूत आदि बांधे । इससे उक्त व्यक्ति का भय तो दूर हो ही जायेगा, किन्तु उसके साथी पथिक का भी मङ्गल होगा ।। ६ – ७ ।।

'अध्वनि' मार्गे 'प्रतिभये' भयहेतौ उपस्थिते 'वसनवतः' सहचारिणो पान्थजनान् 'उपेत्य' तत्समीपं गत्वा 'स्वाहाकारान्ताभिः' ताभिरेव "अन्नं वा" (म० ब्रा० २.६.१३ – १५) इत्यादिभिस्तिसृभिः ऋग्भिः 'वस्त्रदशानां ग्रन्थीन्' 'बध्नीत' । एतेन कर्मणा 'सहायानां' सहचारिणामपि पथिकानां 'स्वस्त्ययनं' भवेत्, किम्पुनः भयप्राप्तस्यैकस्य तस्येति ।। ६ – ७ ।।

अथ आचितसहस्रकामकर्म –

आचितसहस्रकामोऽक्षतसक्त्वाहुतिसहस्रं जुहुयात् ।। ८ ।।

जो कोई सहस्र आचित (२५ मन अर्थात् एक गाड़ी का बोझ) की कामना करे वह तीनों मन्त्रों से अक्षत–सत्तू की एक हजार आहुति देवे ।। ८ ।।

ताभिस्तिसृभिः ऋग्भिः स्वाहाकारान्ताभिरेव, एकैकाहुतिर्होतव्येति च ।। ८ ।।

पशुकामो वत्समिथुनयोः पुरीषाहुतिसहस्रं जुहुयात् ।। ६ ।।

यदि कोई कामना करे कि मुझे गौ आदि बड़े बड़े पशु हों, तो वह दो बछड़े के सूखे गोबर से उक्त तीन मन्त्र से एक हजार आहुति देवे ।। ६ ।।

पशून् गवादीन् कामयते यः पुरुषः, सः 'वत्समिथुनयोःपुरीषाहुतिसहस्रं जुहुयात्' स्वाहाकारान्ताभिस्ताभिस्तिसृभिरेवर्ग्भिरिति ।। ६ ।।

अथ क्षुद्रपशुकामकर्म –

अविमिथुनयोः क्षुद्रपशुकामः ।। १० ।।

यदि कोई चाहे कि मुझे भेड़ आदि छोटे छोटे पशु हों तो वह दो भेड़ के सूखे गोबर से उक्त तीन मन्त्रों से एक हजार आहुति देवे ।। १० ।।

अविमिथुनयोः शुष्कः पुरीषैरिति, ताभिस्तिसृभिः स्वाहाकारान्ताभि–रिति च ।। १० ।।

अथ वृत्त्यविच्छित्तिकामकर्म –

वृत्त्यविच्छित्तिकामः कम्बूकान् सायंप्रातर्जुहुयात् क्षुधे क्षुत्पिपासाभ्याळं स्वाहेति ।। ११ ।।

यदि किसी की कामना हो कि मेरी जीविका निरन्तर बनी रहे, वह प्रतिदिन सायं प्रातःकाल ''क्षुधे... स्वाहा'' से तुष की आहुति देवे ।। ११ ।।

'कम्बूकान्' तुषान्; फलीकरणकक्वशानिति टीकान्तरम् । अन्यद् व्याख्यातमिवैव ।। ११ ।।

अथ विषदोषनाशकामकर्म –

मा भैषीर्नमरीष्यसीति विषवता दष्टमद्भिरभ्युक्षन् जपेत् ।। १२ ।।

विषधर साँप आदि के डसने पर, काटे हुए स्थान को धोकर 'मा भैषीर्न' आदि मन्त्र का जप करे । (इस मन्त्र से सब प्रकार के विष दूर होंगे) ।। १२ ।।

'विषवता' सर्पेण, वृश्चिकादिना वा 'दष्टं' स्थानम् 'अद्भिः अभ्युक्षन्' ''मा भैषीर्न मरिष्यसि जरदष्टिर्भविष्यसि ।

रसं विषस्य नाविदमुग्रं फेनमिवास्यम्'' ।। १८ ।।
(म० ब्रा० २, ६, १८) इति मन्त्रं जपेत् ।। १२ ।।

अथ स्नातकस्वस्त्ययनकर्म –

तुरगोपायेति स्नातकः संवेशनवेलायां वैणवं दण्डमुप– निदधीत स्वस्त्ययनार्थम् ।। १३ ।।

तीनों प्रकार के स्नातक अपने अपने कल्याणार्थ, शयन काल में "तुरगोपाय" मन्त्र से बांस की एक छड़ी वा लाठी पास रक्खें ।। १३ ।।

'स्नातकः' कृतसमावर्त्तनो द्वितीयाश्रमाय उद्युक्तः 'संवेशनवेलायां' शयनसमये 'स्वस्त्ययनार्थम्' "तुरगोपाय मा नाथ गोपाय मा । अशस्तिभ्यो अरातिभ्यः स्वस्त्ययन मसि ।। १६।। (म० ब्रा० २, ६, १६)" – 'इति' मन्त्रेण 'वैणवं दण्डं' वंशयष्टिम् 'उप' समीपे स्वस्यैव 'निदधीत' स्थापयीत ।। १३।।

अथ क्रिमिनाशकामकर्म –

हतस्ते अत्रिणा क्रिमिरिति क्रिमिमन्तं देशमद्भिरभ्युक्षन् जपेत् ।। १४ ।।

घाव, आदि में कीड़े पड़े हों तो उस स्थान को जल से धोकर "हतस्ते" आदि चार मन्त्रों को पढ़े इसी मन्त्र से सब स्थानों के कीड़े नष्ट हो जाएंगे ।। १४।।

विशेष – अत्रि ऋषि ही ने सब से पहिले कृमिनाशक औषधि आविष्कार किया था, बाद में जमदग्नि, और फिर गौतम ऋषि ने ।। १४ ।।

'क्रिमिमन्तं देशम्' 'व्रणादिकमथ उदरादिकञ्च 'अद्भिः अभ्युक्षन्' –
"हतस्ते अत्रिणा क्रिमिर्हतस्ते जमदग्निना ।
गोतमेन तिनीकृतोऽत्रैव त्वा क्रिमे ब्रह्मवद्यमवद्य ।। १ ।।
भरद्वाजस्य मन्त्रेण सन्तिनोमि क्रिमे त्वा ।
क्रिमिळंह वक्त्रतोदिनं, क्रिमिमान्त्रानुचारिणम् ।
क्रिमि द्विशीषमर्जुनं द्विशीर्षळंह चतुर्हनुम् ।। २ ।।
हतः क्रिमीणां क्षुद्रको हता माता हतः पिता ।
अथैषां भिन्नकः कुम्भो य एषां विषधानकः ।। ३ ।।
क्रिमिमिन्द्रस्य बाहुभ्यामवाञ्चं पातयामसि ।
हताः क्रिमयः साशातिकाः सनीलमक्षिकाः ।। ४ ।। ७ ।।

(म० ब्रा० २, ७, १ – ४)'' 'इति' चतुर्ऋचं सूक्तं, 'जपेत्' । एतेनैव क्रिमिनाशो भवेदिति ।। १४ ।।

पशूनाञ्चेच्चिकीर्षेदपराह्णे सीतालोष्ठमाहृत्य वैहायसीं निदध्यात्तस्य पूर्वाह्णे पांशुभिः परिकिरन् जपेत् ।। १५ ।। ६ ।।

।। इति गोभिलगृह्यसूत्रस्य चतुर्थप्रपाठकस्य नवमी कण्डिका ।। ४ । ६ ।।

——— * ———

पशु आदि के कीड़ों को नाश के लिये दिन को दोपहर बाद हल जोतने से जो ढेला निकला हो, उसे लेकर मैदान में ऊपर को रक्खे, दूसरे दिन उस ढेले को फोड़ कर उसकी धूलि, जहाँ कीड़े पड़े हों, उस पर छीट कर ४ मन्त्रों को पढ़े । इससे सब कीड़े नष्ट हो जाएंगे ।। १५ ।। ६ ।।

विशेष – भारद्वाज ऋषि के मन्त्र से आविष्कृत औषधि की सहायता से तीन प्रकार के कृमियों का इन्द्रयव से 'त्रिवृत नाम औषधि से नाश करता हूँ ।। १५ ।।

।। इस प्रकार गोभिलगृह्यसूत्र के चतुर्थ प्रपाठक के नवमी कण्डिका की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत 'अनाकुला' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ।। ४ । ६ ।।

——— * ———

तदेव क्रिमिनाशनं 'पशूनां' गृहपालितानां गवादीनां 'चिकीर्षेत् चेत्' तर्हि 'अपराह्णे' काले 'सीतालोष्ठं' लाङ्गलोत्थं लोष्ठम् 'आहृत्य' 'वैहायसीं' दिशां 'निदध्यात्' अनावृते ऊर्ध्वे स्थापयेदिति यावत् । ततो रात्रिप्रभाते 'पूर्वाह्णे' एव काले 'तस्य' लोष्ठस्य 'पांशुभिः' रजोभिः पशोः क्रिमिमन्तं प्रदेशम् 'परिकिरन्' तमेव सूक्तं, 'जपेत्'। एतेनैव पशूनां क्रिमिनाशो भवेदिति ।। १५ ।। ६ ।।

।। इति गोभिलगृह्यसूत्रे चतुर्थप्रपाठके नवमी कण्डिकाया डॉ० सुधाकर मालवीय कृता सरला व्याख्या समाप्ता ।। ४ । ६ ।।

——— * ———

अथ चतुर्थप्रपाठकस्य
दशमीकण्डिका

अथार्हणाविधि

अथ क्रमप्राप्तानामर्हणामन्त्राणां विनियोगं वक्तुमुपक्रमते – उत्तरत इति ।

उत्तरतो गां बध्वोपत्तिष्ठेरन्–"अर्हणात् पुत्रवाससे"–ति ।। १।।

(मं० ब्रा० १। ८। १)

आचार्य प्रभृति अहर्णीय व्यक्ति के उत्तर भाग में गौ बाँधकर रक्खे और "अर्हणा पुत्र वाससा" मन्त्र से उन अर्हणीय व्यक्ति के आने पर उनका अनुमोदन करे ।। १।।

उत्तरतः उत्तरस्यां दिशि । सार्वविभक्तिकस्तसिः (पा० ५। ४। ४४ वा०) अर्थात् अर्हणप्रदेशस्य । "यत्रैनमर्हयिष्यन्तः स्युः" (४। १०। २) इत्युत्तरसूत्रात् । गां स्त्री– गवीम् । धेनुरित्यादिमन्त्रलिङ्गात् उपतिष्ठेरन् । आराधयेयुः । उपात्तिष्ठतेर्देवपूजायामात्मनेपदविधानात् । (पा० १। ३। २५ वा०) अत्रदेवेत्युपलक्षणं पूज्यमात्रस्येति गामेव । के ? येऽर्हयिष्यन्तः स्युः । तथा च सर्वैरेव गृहस्थितैरर्हणीयार्हणार्थमप्रमत्तैर्भवितव्यमिति तात्पर्यार्थः । मुरारिमिश्रास्तु –

अर्हणीयपरित्राणार्थमुपतिष्ठेरन्नित्युक्त्वा वाजसनेयश्रुतिं दर्शयाम्बभूवुः "यत्र चार्हन्नागच्छति सर्वे गृह्या इतरे तत्र तथेह परित्रातो भवती"–ति । गृह्या यजमानदायादाः उपस्थानञ्चेदमूर्ध्वस्थितेनैव कार्यम् । आचारात् । न्याय्याच्च । नह्यर्हणीये ऊर्ध्वस्थिते स्वयमुपविश्यत इति युज्यते । इति ।। उपस्थानमन्त्रमाह–"अर्हणे" ति । यथा–

"अर्हणा पुत्रवाससा धेनुरभवद्य मे ।
सा नः पयस्वती दुहामुत्तरामुत्तरां समाम्" ।। १ ।। इति ।

अस्य उपस्थानमन्त्रस्यार्थः – 'य'[१] या 'इयं' अर्हणा[२] पूजा

---

१. "ङ्यापोः संज्ञाच्छन्दसोर्बहुलम्" (पा० ६। ३। ६३) इति ह्रस्वः ।

२. अर्ह्यते पूज्यतेऽनयेत्यर्थे "अर्हपूजायाम्" (चु० उ०) इत्यस्मात् "ण्यास्त्रन्थो युच्" (पा० ३। ३। १०७) इति करणे युच् । योरनादेशः (पा० ७। १। १) स्त्रियां टाप् (पा० ४। १। ४) सुलोपः । पूजासम्पादिनी ।

साधनभूता । 'पुत्रवाससा'[1] पुत्रवासानुगामिनी । 'मे' मम । 'धेनुः' सर्वार्थसाधिनी[2] 'अभवत्' भवति । 'सा' 'पयस्वती' प्रशस्तपयाः[3]। 'नः' 'अस्माकम् । ''मनोरथान्'' इति शेषः[4] । उत्तरामुत्तरां 'समाम्'[5] उत्तरोत्तरवर्षं व्याप्य 'दुहाम्' दुग्धाम्[6] ।। १ ।।

एवमर्हणीयेषूपतिष्ठमानेषु स खल्वयमर्हणीयः –

''इदमहमिमां पद्यां विराजमन्नाद्यायाधितिष्ठामि'' – इति प्रतितिष्ठमानो जपेत् ।। २ ।। (मं० ब्रा० २।८।२)

जिस स्थान में इन ''अर्हणीय'' व्यक्ति की पूजा करने के लिये शिष्य आदि की इच्छा हो, (एवं जिस समय अर्चना करनी सम्भव हो,) वहीं अर्हणीय व्यक्ति खड़ा होकर ''इदमहमिमां'' आदि मन्त्र पढ़े ।। २ ।।

प्रतितिष्ठमानः । ऊर्ध्वस्तिष्ठन् ''इदमहमि'' ति मन्त्रं जपेत् । अर्थाज्जपानन्तरमासन[7] उपविशेत् । अर्हणीय इत्यर्थात् । समस्तमन्त्राम्नानं

---

१. पुत्रवासं प्रति सीदति गच्छतीति षट्लृधातोर्गत्यर्थात् (भ्वा० प०) ''अन्येष्वपि दृश्यते'' (पा० ३।२।१०१) इति डप्रत्यये टिलोपः । (पा० ६।४।१४३) नवप्रसूतत्वात् ।

२. दधातेर्धारणपोषणार्थस्य (जु० उ०) ''धेन्वादयश्चे''ति मुकुटेन निपातितः

३. प्रशंसायामत्र मतुप् । (पा० ५।२।६४) मस्य च वः । (पा० ८।२।६) तथा चोक्तम् – ''भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने । सम्बन्धेऽस्तिविवक्षायां भवन्ति मतुबादयः'' ।। इति ।

४. ''सम्बन्धिशब्दः सम्बन्धिनमाक्षिपती''ति न्यायात् ।

५. अत्यन्तसंयोगे द्वितीया । (पा० २।३।५) ''संवत्सरोवत्सरोऽब्दाहायनोऽस्त्रीशरत्समाः'' इत्यमरः । यद्यपि समाशब्दो नित्यबहुवचनान्ततया कोशे पठ्यते तथापि ''समां समां विजायते'' (पा० ५।३।२२) इति पाणिनिनैकवचनान्तोऽपि स्मृतः । श्रुतश्चात्राऽपि ।

६. ''लोपस्त आत्मने पदेषु'' (पा० ७।१।४१) इति तलोपः ।

७. इदमासनमधितिष्ठामतिमन्त्रलिंगात् । उपवेशनञ्चेदम्प्राङ् मुखत्वन्तत एव । साम्मुख्याय । विवाहांगेऽर्हणे तथोक्तत्वाच्च। (२।१।१७) अत्र ''पूज्यपूजकयोर्मध्ये प्राची''–ति तन्त्रान्तरसंवादात् प्रत्यङ्मुखता दातुर्न दोषायेत्यवगन्तव्यम् ।

स्वनामाध्याहार प्रतिषेधार्थम् । "अकर्मकाच्च" (पा० १।३। २६) इत्यात्मनेपदम् ।

मन्त्रार्थस्तु – अर्हणीयो वदति – 'अहम्' 'इदम्' आसनम् । 'इमां' च 'पद्याम्' पादार्हाम् ।[1] कथम्भूताम् ? 'विराजम्' विराजमानाम् । किव्बन्तमेतत् । 'अन्नञ्च तदाद्यमदनीयञ्चेति कर्म्मधारयः । यद्वा – अन्नाद्याय–[2] अन्नादौ भवाय सुखाय । 'अधितिष्ठामि' आक्रामामि ।। २।।

कुत्र प्रतितिष्ठमानो जपेदित्यपेक्षायामाह –

यत्रैनमर्हयिष्यन्तः स्युः ।। ३ ।।

जिस स्थान में इन "अर्हणीय" व्यक्ति की पूजा करने के लिये शिष्य आदि की इच्छा हो, (वहीं अर्हणीय व्यक्ति को खड़ा होकर "इदमहमिमां" आदि मन्त्र पढ़ना चाहिए)।। ३।।

यत्र–यस्मिन्प्रदेशे । एनम् अर्हणीयम् । अर्हयिष्यन्तः । अर्हयितुमिच्छन्तः । अर्हणकर्तारः उपस्थिताः । स्युर्भवेयुः । तत्रेत्यर्थः ।। ३।।

यदा वाऽर्हयेयुः ।। ४ ।।

जिस समय अर्चना करनी सम्भव हो, उसी समय (अर्हणीय व्यक्ति खड़ा होकर "इदमहमिमां" आदि) मन्त्र पढ़े ।। ४।।

यदा – यस्मिन्काले । अर्हयेयुः–अर्हणं कर्त्तुमारभेरन्नित्यर्थः । अत्र वाकारः समुच्चय इति मुरारि मिश्राः[3] ।। ४ ।।

अथेदानीमर्हणाविधिविवक्षयेदमाह –

विष्टरपाद्यार्घ्याचमनीयमधुपर्कानेकैकशस्त्रिर्वेदयेरन् ।। ५ ।।

---

१. पादवद्ध्रीमिति गुणविष्णुः । "पादार्घाभ्यां च" (पा० ५। ४। २५) इति तादर्थ्ये यत्प्रत्ययः ।

२. अत्र "भवेच्छन्दसि" (पा० ४। ४। ११०) इति यत्प्रत्ययः ।

३. तथा चास्य गतेनाभिसम्बन्धः । तदा वा प्रतितिष्ठमानो जपेदिति । न तु अर्हणकर्तृषु कार्यान्तरव्यग्रेषु प्रत्युपस्थानमेवेति । चन्द्रकान्तस्तुवा शब्दस्तु शब्दार्थे । यदा पुनरेनमर्हयेयुस्तदा विष्टरादीनि वेदयेरन्नित्यानागतेनाभिसम्बन्ध इत्यर्थं मतान्तरेण वर्णयाञ्चकार ।

विष्टर, पाद्य अघ्र्य, आचमनीय और मधुपर्क खाने की वस्तु ये पांच वस्तु लावे इनमें से एक एक करके तीन–तीन बार निवेदन करे ।। ५ ।।

विष्टरः – पूर्वोक्तः । ''वृक्षासनयोर्विष्टरः[1]'' (पा० ८।३।६३) इत्यासनार्थे निपातितः । पाद्यं – पादार्थमुदकम्[2] । एवमर्घ्यम् ''पादार्घाभ्याञ्च'' (पा० ५। ४। २५) – इति तादर्थ्ये यत प्रत्ययः । तदेतद्दधितण्डुलपुष्पयुक्तमुदकम् । तथा च गृह्यासङ्ग्रहे कात्यायनः ।।

''दध्यक्षतं सुमनस आप एतच्चतुष्टयम् ।
अर्घ्यमेतत्प्रदातव्यं गृह्येऽर्घ्यार्हाः स्मृतास्तु ये ।।''इति ।

अत्र ''तेभ्य'' इति शेषः । एतच्च न पात्रानवस्थितम्, न चैकेन पाणिना गृह्णीयात् ।

''कांस्येनैवार्हणीयस्य[3] निनयेदर्घ्यमञ्जलौ ।''

---

१. अत्र दर्भसंख्यानियमो नादृतः । छन्दोगपरिशिष्टे कात्यायनेन ''दर्भ–संख्या न विहिता । विष्टरास्तरणेष्वपी''ति तदुक्तेः । गृह्यासङ्ग्रहे तु ''पञ्चाशद्भिः कुशैर्ब्रह्मा तदर्द्धेन तु विष्टरः'' इत्युक्तपूर्वं द्रष्टव्यम् । एवम् अगिरसापि । तदनयो–र्विकल्पः । अत एव भट्टनारायणः स्वभाष्ये –''सम्भवे पञ्चाशदर्द्धैरसम्भवे पुनरपरि–मितैरपि कुशैर्विष्टरो भवती''त्युक्तवान् । अत्र कुशैरित्युपलक्षणम् । कुशपत्रैरपि । अत एव पद्धतिकृतोऽपि तथैव लिखन्ति । अयन्तार्णः पार्णोपीति स्मृत्यन्तरावगत–मित्यवोचाम ।

२. तदेतद्विवृतमुखतैजसबृहत्पात्रस्थं, यतोऽञ्जलिनाऽपआदातुं शक्यते । तथा च वीरपद्धतिः । ''ततो भाजनस्था श्रप उपनीय पाद्याः३ इति त्रिरन्यैरुक्ते ॐ पाद्याः प्रतिगृह्यतामिति यजमानेनोक्ते ॐयतो देवीः...... रागच्छतु'' इतिभाजने अपःप्रेक्षतो ''ततस्ताभ्योऽञ्जलिं गृहीत्वे'' ति।। अत्र पाद्याः इति अप्सम्बन्धात्स्त्रीबहुवचनम् । ''अपःप्रेक्षते''–[६] इति सूत्रदर्शनात् । एवमेव भवदेवभट्टादयोऽपि । अत एव गृह्यान्तरवत् पाद्यमित्यसमस्तमिह सूत्रितम् ।

३. कांस्यपदमत्र प्रशस्तपात्रमात्रपरम् ।''सा तस्यै प्रददौ कांस्यं सपिधानं हिरण्मयम्'' इति विराटपर्व (भा०) दर्शनेन तथा निर्णयात् । सा – सुदेष्णा । तस्यै –सैन्ध्रयै । अत एव पद्धतिरपि जलादियुक्तं पात्रं गृहीत्वेति – इति मुरारिः । विवाहे तु शंखस्थ दूर्वाक्षत जलफलचन्दनयुतार्घपात्रं गृहीत्वेति वीरेश्वरादयो लिखन्ति । तत्रार्हणीयस्य विष्णुरूपत्वाभिधानमत्रमूलम् । विष्णोश्चार्घ्यं शङ्खेनैव भवतीति निर्विवादम् ।

इति कात्यायनवचनात् । आचमनीयम्–आचमनार्थमुदकम्[1] "वृद्धाच्छः" (पा० ४ । २ । ११४) इति छस्तस्येयादेशः । (पा० ७ । १ । २) मधुपर्कश्च "साक्षतं सुमनोयुक्तमुदकं दधिसंयुतम् । अर्घान् – "दधिमधुभ्याञ्च मधुपर्को विधीयते" इति छन्दोगपरिशिष्टोक्तेः । तत्र चकारो वस्त्वन्तरसमुच्चायकः । तथा च दधिमधुयुक्तमुदकम् । दधिमधुघृतं वा । दधिमधुदुग्धं वा[2] मधुपर्कः । स्मृतिः –

"सर्पिषा मधुना दध्ना चार्घ्यार्हानर्हयेत्सदा ।
दधिक्षौद्रपयोभिर्वा मधुदध्युदकेन वा ।।"इति ।

ऐच्छिकोऽत्र विकल्पो व्यवस्थापकाभावात् । गृह्यासङ्ग्रहे –

"कांस्ये त्रितयमादाय कांस्येन परिबृंहितम् ।
परिग्रहेषु देयं स्यान्मधुपर्क इति ध्रुवम् ।।"इति ।

परिबृंहितं–संवृतमाच्छादितमिति यावत् । ऋष्यश्रृंगः–

"कांस्यापिधानं कांस्यस्थं मधुपर्कं समर्पयेत् ।। इति ।

पिधानपात्रमत्राधारपात्रापेक्षया बृहत्कार्षम् – "वर्षीयसा पात्रेण पिहितम्" –इत्याश्वलायनगृह्यात् । दध्यादिकञ्च तुल्यपरिमाणं ग्राह्यम् । "समंस्याद–श्रुतत्वात्" (जै० सू० १० । ३ । १३) इति न्यायात् । केचित्तु–

"आज्यमेकपलं ग्राह्यं दध्नस्त्रिपलमेव च ।
मधुनः पलमेकं तु मधुपर्कः स उच्यते ।।"

---

१. अत्र कालिकापुराणम् –

"दद्यादाचमनीयं तु सुगन्धिसलिलैः शुभैः ।
कर्पूरवासितैर्वापि कृष्णागुरुविधूपितैः ।।
यथातथासुगन्धैर्वा प्रसन्नैः फेनवर्जितैः ।
तत्तैजसेन पात्रेण शंखेनापि प्रदापयेदि"–ति ।
"केवलं तोयमात्रेण तद्वा दद्यान्नमिश्रितम् ।
वासितं तु सुगन्धाद्यैः कर्त्तव्यं यदि लभ्यते ।।" इति च ।

प्रदापयेत् – प्रदद्यात् । शंखेनेति विष्णुपूजाविषयम् । इति द्रष्टव्यम् ।।

२. अत्र तुरीयभेदं मधुपर्कस्य कृतान्ने मधु चेति व्याचक्षते । न तत्र कांस्यापेक्षा ।। एवं मधुपर्कस्यापीति ।।

इति मैत्रावरुणीयशाखापरिशिष्टोक्तं परिमाणमत्रापि ग्राह्यमित्याहुः । तानेतान् विष्टरादीन्मधुपर्कान्तान् पञ्चद्रव्यविशेषान् । एकैकशः । प्रत्येकं, त्रिः । त्रिरुच्चार्य । वैदयेरन्—ज्ञापयेयुरर्हयितुरात्मीयाः[1] ततश्चार्हयिता द्रव्यमुक्त्वा[2] "प्रतिगृह्यतामि" ति सर्वत्र सकृद्वाक्यशेषं कुर्यादित्यर्थः ।। ५ ।।

"या ओषधीः"— इत्युदञ्चं विष्टरमास्तीर्थ्याध्युपविशेत् ।। ६ ।।

(मं० ब्रा० २ । ८ । ३–४)

अर्हणीय व्यक्ति विष्टर पाकर "या ओषधीः" इन दो मन्त्रों का पाठ कर उत्तराग्र आसन पर बैठे ।। ६ ।।

"या ओषधीरि–'ति–अनया ऋचा उदञ्चम्–उत्तराग्रमर्हयित्रा प्रदत्तं विष्टरमास्तीर्य आस्तरणञ्चासनेऽधः । "ता मह्यमस्मिन्नासने" इतिमन्त्रलिङ्गात् । अधि–तदुपरि । उपविशेत् अर्थादर्हणीयः । अत्रोपवेशनस्य पूर्वत एव सिद्धत्वादधःकरणरूपविष्टरस्यास्तरणेऽयं मन्त्रो विनियुक्त इति व्याख्यातारः ।। ६ ।।

द्वौ चेत्पृथगृग्भ्याम् ।। ७ ।।

यदि पूजा करने वाला दो विष्टर देवे तो, पूर्वोक्त दो मन्त्रों में से एक–एक को पढ़कर इन दो विष्टरों को देवे ।। ७ ।।

आस्तीर्याध्युपविशेदित्यनुवर्त्तते । चेद्यदि । द्वौ विष्टरावर्हयित्रा प्रदत्तौ स्यातां तदा पृथक्–नाना ऋग्भ्याम् । 'या ओषधीरि"

---

१. नत्वर्हयिता । बहुवचननिर्देशात् । अत्र मुरारिमिश्राः । "सूत्रे बहुवचन–निर्देशाद्विष्टरादिनिवेदनकर्तृनियमालाभात्तन्नियामकं "पारक्यमविरोधि यदि"–ति । न्यायेन "अन्यस्त्रिस्त्रिःप्राह विष्टरादीनी"–ति पारस्करगृह्यमेव । अतएव कौमुद्यादौ ज्ञापयेयुरिति बहुवचनेनानियतकर्तृकत्वं दर्शयित्वा प्रतिगृह्यतामिति सकृद्वाक्यशेषं कुर्यात् । इत्ये कवचनेनात्र नियतकर्तृत्वन्दर्शितम् । इति । एवञ्च विष्टरादिनिवेदन–मन्यकर्तृकमेवेति तात्पर्यगत्या पद्धतिकृतोवीरेश्वरादयः । तदुक्तं त्रिरन्यैरुक्त इति ।।

२. विष्टरादिष्वन्यतमम् ।।

–त्येताभ्याम्[१] । अत्र चेदिति वचनान्नातीव द्वयोरावश्यकत्वमिति प्रतीयते । तथा च ऋचौ –

"या ओषधीस्सोमराज्ञीर्बह्वीःशतवि चक्षणाः ।
ता मह्यमस्मिन्नासने अच्छिद्राः शर्म यच्छत ।। ३।।
या ओषधीः सोमराज्ञीर्विष्ठिताः पृथिवीमनु ।
ता मह्यमस्मिन्पादयोरच्छिद्राः शर्म यच्छत ।। ४।।"

इति । अनयोरर्थः । हे 'ओषधीः' ओषध्यः[२] ! 'याः' यूयं 'सोमराज्ञीः' सोमराज्ञयः[३] । सोमश्चन्द्रो राजा यासां ताः । 'बह्वीः' बहुप्रकाराः । 'शतविचक्षणयाः' शतं विचक्षणानि मुखानि यासां ताः शतविचक्षणाः शतमुख्यः । 'ताः' यूयम् 'मह्यम्' 'अस्मिन्नासने' "उपविष्टाये" –ति शेषः । 'शर्म' सुखम्[४] । यच्छत' दत्त[५] किम्भूताः? 'अच्छिद्राः' निरन्तराः ।। ३।।

हे 'ओषधीः' ओषध्यः ! 'याः' यूयं 'सोमराज्ञीः' सोमराज्ञ्यः । उक्तवदर्थः । 'पृथिवीमनु'[६] पृथिव्यां 'विष्ठिताः' विशेषेण[७] स्थिताः । 'ता' यूयम् 'मह्यम्' 'अस्मिन्' द्वितीयविष्टरे । 'पादयोः' "अधस्तान्निहिते' इति शेषः । 'अच्छिद्राः' निरन्तराः सत्यः 'शर्म्भ' सुखम् 'यच्छत' दत्त ।। ४।। इति ।। ७।।

---

१. अत्र मन्त्रवर्णे द्वितीयपादयोर्भेदः सर्वथा । तृतीययोस्तु । आसने । पादयोरिति क्रमेण भेदः पठयते । समानमन्यत् । अत्र पृथक् –इति करणान्निवेदनं युगपदवगम्यत इति चन्द्रकान्तः ।

२. अत्र "वाच्छन्दसी" ति (पा० ६। १। १०६) वा पूर्वसवर्णदीर्घः । एवमग्रेऽपि बोध्यम्।

३. अत्र "अन उपधालोपिन०" (पा० ४। १। १८) इति वा ङीष् । "अल्लोपोऽनः" (पा० ४। ६। १३४) इत्युपधानोलोपः ।।

४. "शर्म्म–शात–सुखानि चे" –त्यमरः ।।

५. "दाण् दाने" (भ्वा० प०) लोट् । मध्यम० पुरुष बहुवचने शपि "पाघ्राध्मे०" (पा० ७। ३। ७८) – त्यादिना यच्छादेशः ।।

६. अत्र "अनुर्लक्षणे" (पा० १।४।८४) इत्यनोः कर्म्मप्रवचनीयस्य योगे (पा० २। ३। ८) द्वितीया ।।

७. अत्र "उपसर्गात्सुनोती" – (पा० ८।३। ६५) – त्यादिना षत्वम् ।।

तत्किं द्वितीयमपि विष्टरमासन एव देयमित्यपेक्षायामाह –

पादयोरन्यम् ।। ८ ।।

एक विष्टर आसन पर डाले, दूसरा दोनों पैर के नीचे रक्खे ।। ८ ।।

अत्र–"अधस्ताद्"–इति शेषः । अन्यम् अपरम् । द्वितीयं विष्टरम् ।। ८ ।।

"यतो देवीः"– इत्यपः प्रेक्षते ।। ६ ।। (मं० ब्रा० २ । ८ । ५)

पूजा करने वाले से, पैर धोने के लिए जल दिये जाने पर उस जल को "यतो देवी" आदि मन्त्र से मान्य व्यक्ति निरीक्षण करे ।। ६ ।।

प्रकृतत्वादर्हणीयः । अपः । पादप्रक्षालनार्थं भाजनस्थमुदकम् । मन्त्रस्तु–

"यतो देवीः प्रतिपश्याम्यापस्ततो मा राद्धिरागच्छतु ।।" ५।। इति ।

अस्यार्थः – हे 'आपः !' वृष्ट्युपगताः । अहम् 'यतः' यस्मात्सूर्यात्प्रतिप्रसूता युष्मान् 'देवीः'[1] तद्रूपाः । 'प्रतिपश्यामि' । आलोचयामि । 'ततः' तस्मात्सूर्यात् । 'मा' मां 'प्रति' राद्धिः'[2] संसिद्धिः । 'आगच्छतु' । भवतु ।। २।। इति ।। ५।।

ततस्ताभ्योऽञ्जलिं[3] गृहीत्वाऽर्हणीयः –

"सव्यं पादमवनेनिजे" इति सव्यं पादं प्रक्षालयेत् । "दक्षिणं पादमवनेनिजे" इति दक्षिणं पादं प्रक्षालयेत् ।। १०।।

(मं० ब्रा० २ । ८ । ६, ७)

---

१. "पुंयोगो दाम्पत्य एवेति न नियमस्तेन गोपस्य कन्याऽपि गोपी"ति वृत्तिकृतः प्राहुः । तेनात्र जन्यजनकभावलक्षणे पुंयोगे ङीष् ।"अग्नौ दत्ताऽऽहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते । आदित्याज्जायते वृष्टिरि" तिस्मरणादादित्यप्रसूता आपो देव्योऽभिहिताः ।

२. "राधसाधसंसिद्धौ" (स्वा०प०) भावे क्तिन् । मन्त्रब्राह्मणभाष्ये तु धिः धृतिशीलो यजमानः । मारात्–विघ्नात् । आगच्छतु । विघ्नानुत्सृज्यैतु । इतिव्याख्या–नन्नातिरमणीयम् । गुणविष्णुस्तु मात्रृद्धिरिति पठित्वा ऋद्धिः समृद्धिर्मा मागच्छत्वि–त्याशास्तेऽर्घ्य इत्याह ।।

३. अञ्जल्यवच्छिन्नमुदकम् ।

अनन्तर वह मान्य व्यक्ति थोड़ा जल लेकर "सव्यं पादमवनेनिजे" आदि मन्त्र से वायां पैर धोवे और उस के बाद "दक्षिणपादमवनेनिजे" मन्त्र से दहिना पैर धोवे ।। १०।।

सव्यम् – वामम् । "वामं शरीरं सव्यं स्यादपसव्यं तु दक्षिणम्" इत्यमरः । प्रक्षालयेदिति क्रियाभ्यासः निर्देशक्रमेणैव पादप्रक्षालनार्थः । यथा चान्यत्रापि स्मर्यते –

"पादं प्रक्षालयेद्विप्रो दक्षिणं प्रथमं सदा ।
शूद्रस्तु वामं प्रथमं, सामवेदी, तथा वधूः ।।" इति ।

"सामगः क्षालयेत्सव्यपादमन्यश्च दक्षिणम् ।।" इति चैवमादि । पूर्वत्र विप्र इति क्षत्रियवैश्ययोरप्युपलक्षणम् । एवमप परत्रान्य इति ।। "तेनोदकेनेति शेषः" । मन्त्रौ यथा –

"सव्यं पादमवनेनिजेऽस्मिन्नाष्ट्रे श्रियं दधे" ।। ६।। इति ।
"दक्षिणं पादमवनेनिजेऽस्मिन्नाष्ट्रे श्रियमावेशयामि ।। ७।। इति च ।

अनयोरर्थः – अहं 'सव्यं' वामं 'पादं' चरणम् । 'अवनेनिजे' शोधयामि[1] । (प्रक्षालयामि) 'अस्मिन्' 'राष्ट्रे'[2] देशे (यत्राहं वर्त्ते) 'श्रियं' लक्ष्मीं 'दधे' स्थापयामि ।। ६।। इति ।। 'आवेशयामि' आदधामि । स्थापयामि ।। ७।। इति ।। १०।।

ततः पुनरुदकाञ्जलिं गृहीत्वा –

"पूर्वमन्यमपरमन्यमि"–त्युभौ शेषेण ।। ११।।

(मं० ब्रा० २।८।८)

बाकी जल से "पूर्वमन्य" आदि मंत्र से दोनों पैर एक साथ धोवे ।। ११।।

शेषेण–अवशिष्टोदकेन । उभौ–पादौ । संहतीकृत्य[3] । पूर्वमन्यमि"ति मन्त्रेण । प्रक्षालयेदित्यनुवर्त्तते । अर्हणीय एव । मन्त्रस्तु–

---

१. "निजिरशौचपोषणयोः" (जु० उ०) लट् ।

२. "राष्ट्रं स्यादुपवर्त्तने" इति मेदिनी । "देशविषयौ तूपवर्त्तनमि" तिचामरः ।

३. पूर्वमन्यमित्युभौ शेशेणेति वक्तव्ये गुरुकरणेनैतत्प्रज्ञाप्यते । मन्त्रे पूर्वशब्दोऽग्रिमवचनः । अपरशब्दश्चपश्चाद्वचनः । तथाचाग्रिम प्रक्षालितमन्यं सव्यं, पश्चात्प्रक्षालितमन्यं दक्षिणमित्युभौ पादौ युगपदवनेनिजे । प्रक्षालयामीति मन्त्राथपर्यवसानात् । वीरपद्धतावप्येवमेव पठ्यते ।

''पूर्वमपरमन्यमुभौ पादाववनेनिजे राष्ट्रस्यास्याद्ध्र्या अभयस्याव–रुद्ध्यै' इति ।

अस्यार्थः – अहं 'पूर्वं' प्रथमम् । 'अन्यं' सव्यम् 'अपरं' पश्चात् 'अन्यं' दक्षिणम् एवमेतौ 'उभौ पादौ' 'अवनेनिजे' प्रक्षालयामि । 'अस्य' 'राष्ट्रस्य' देशस्य 'ऋद्ध्यै'[1] वृद्ध्यर्थम् । 'अभयस्य' भयाभावस्य 'अवरुद्ध्यै' परिग्रहाय ।। ११ ।।

''अन्नस्य राष्ट्रिरसी'' – त्यर्घ्यं प्रतिगृह्णीयात् ।। १२।।

(मं० ब्रा० २।८।६)

''अन्नस्य राष्ट्रिरसि'' आदि मन्त्र से मान्य व्यक्ति अर्हयिता का दिया अर्घ्य ग्रहण करे ।। १२ ।।

अर्घ्य–यथोक्तलक्षणम् । ''अन्नस्य राष्ट्रिरसी'' – ति मन्त्रेण । 'प्रतिगृह्णीयादिति यजमानहस्तादर्घ्यमादाय स्तोकं जलं शिरसि निदध्या–दित्यर्थः । बीरपद्धतिरप्येवम् । मन्त्रोयथा –

''अन्नस्य राष्ट्रिरसि राष्ट्रिस्ते भूयासम्'' ।। ६।। इति।

अस्यार्थः । हे अर्घ्य ! जलरूप ! त्वम् अन्नस्य ब्रीह्यादेः । 'राष्ट्रिः' दीप्तिः[2] । 'असि' – भवसि । अहमपि 'ते' तव (प्रसादात्) 'राष्ट्रिः'[3] दीप्तिमान् 'भूयासम्' भवेयम् । इत्याशंसायां लिङ्गः ।। ६।। इति ।। १२।।

''यशोऽसी''–त्याचमनीयमाचामेत् ।। १३।। (मं० ब्रा० २।८।१०)

अनन्तर पूजक से आचमनीय जल पाने पर उस जल से ''यशोऽसि'' मन्त्र से, पूर्वोक्त आचमन विधि के अनुसार, आचमन करे ।। १३ ।।

आचमनीयम् – आचमनार्थमुपकल्पितमुदकम् गोकर्णाकृतिदक्षिणहस्ते ''नाशब्दमनवस्त्रा (१–१–२) वमि''–ति यथोक्तेन विधिना ''यसोऽसी''–ति मन्त्रेणाचामेदर्हणीयः । मन्त्रो यथा –

---

१. आयादेशे यलोपः । (पा० ८।३।१६) ''पूर्वत्रासिद्धम्'' (पा० ८।२।१) इति तस्यासिद्धत्वान्नदीर्घः ।

२. ''राजृदीप्तौ'' (भ्वा० आ०) त्रिन् बाहुलकात्करणे । (पा० ३।३।१) जस्य षत्वम् (पा० ८।२।३६) ष्टुत्वम् ।

३. कर्त्र्यत्रत्रिन् ।

"यशोऽसि यशो मयि धेहि" ।। १० ।। इति ।

अस्यार्थः – हे आचमनीय ! यतस्त्वं 'यशोऽसि' कीर्त्तिरूपं भवसि । अतः 'मयि' विषये 'यशो धेहि' मां यशस्विनं कुर्विति ।। १० ।।

तदेतदाचमनं सकृन्मन्त्रेण । द्विस्तूष्णीमेवेति त्रिः। "एकक्रियायामावृत्तौ सकृन्मन्त्रान्वय" इति वचनात् । तत इन्द्रियाण्युपस्पृशेत् ।

"त्रिराचामेदपः पूर्वं द्विः प्रमृज्यात्ततो मुखम् ।

खानि चैवस्पृशेदद्भिः"–इत्येवं मनुनाऽचमनविधानात् । खानीन्द्रियाणि । "खमिन्द्रिये खमाकाशे" इत्यभिधानात् ।। १३ ।।

"यशसो यशोऽसी" – ति मधुपर्क्कं प्रतिगृह्णीयात् ।। १४ ।।

(मं० ब्रा० २ । ८ । १२)

तब अर्हयिता से 'मधुपर्क' दिये जाने पर मान्य व्यक्ति "यशसो" इत्यादि मन्त्र पढ़ कर उसे ग्रहण करे ।। १४ ।।

मधुपर्कम् – उक्तलक्षणम् । "यशसो यशोऽसी" – ति मन्त्रेण 'प्रतिगृह्णीयात्'। प्रतिगृह्य वामहस्ततले तत्पात्रं स्थापयेत् । अग्रे क्रियोपदेशात् । मन्त्रार्थस्तु – हे मधुपर्क ! यतस्त्वं 'यशोऽसि' कीर्तिरिव मधुरोऽसि । अतस्त्वद्योगादहमपि 'यशसः' कीर्त्तिमान्[1] "भवेयमि"ति शेषः ।। ११ ।। इति ।। १४ ।।

तस्य खल्वस्य मधुपर्कस्य –

"यशसो भक्षोऽसि महसो भक्षोऽसि श्रीर्भक्षोऽसि श्रियं मयि धेहि" ।। इति त्रिः पिबेत् ।। १५ ।। (मं० ब्रा० २ । ८ । १२)

"यशसो भक्षोऽसि, महसो भक्षोऽसि, श्रीर्भक्षोऽसि श्रियं मयि धेहि" आदि मन्त्र से तीन बार मधुपर्क का पान करे ।। १५ ।।

त्रिः त्रिवारम् । क्रियाऽभ्यावृत्तिगणनेऽत्रासुच्प्रत्ययः । (पा० ५ । ४ । १८) 'यशसो भक्षोऽसी" – ति समस्तेन मन्त्रेणार्हणीयः पिबेत् । मन्त्रो यथा –

"यशसो भक्षोऽसि, महसो भक्षोसि, श्रीर्भक्षोसि श्रियं मयि धेहि" ।। १२ ।। इति ।

---

१. अर्शआदित्वान्मत्वर्थायाऽच्प्रत्ययः । (पा० ५ । २ । १२७) ।

अस्यार्थः हे मधुपर्क्क ! यतस्त्वं 'यशसः' यशसे[1] यशोऽर्थं 'भक्षः'[2] भक्षणीयः । 'असि' भवसि । तथा 'महसः' महसे तेजोऽर्थम् 'भक्षः' 'भक्षणीयः' 'असि' भवसि तथा 'श्रीः'[3] भक्षोऽसि' तेन त्वद्भक्षणात्कीर्त्तिस्तेजोलक्ष्मीश्च भवति । अतस्त्वं 'श्रियं' त्रितयस्यापि सम्पदं[4] 'मयि'[5] विषये 'धेहि' अर्पय । मह्यं देहीति यावत् ।। १२।। इति ।

अत्र मन्त्रेण त्रिर्भक्षणोपदेशात् पानञ्चेदं भक्षणरूपमेव । द्रवद्द्रव्यसंयोगाच्च पिबतिशब्दप्रयोगः । मुरारिमिश्रास्तु—"अत्र मधुसंयोगादद्रवश्चेन्मधुपर्कस्स्यात्तदा पात्रेण पातव्योऽथ दध्नः काठिन्यात्पानानुपपत्तिस्तदा हस्तेन भक्षणीय इति । तेन मन्त्रे भक्षशब्दस्य सूत्रे पिबतिशब्दस्य च श्रुतिरुपपद्यते । इति द्रष्टव्यम्" । इति। पानञ्चेदमनाभिकाङ्गुष्ठाभ्यां भक्षयेदिति वीरपद्धतिदर्शनतस्तथैवावगन्तव्यम् । तत्र प्रतिप्राशनं मन्त्रपाठः "चतुर्थं तूष्णीमि" – त्यग्रिमसूत्रात् ।

यत्तु — होरिलपद्धतौ प्रथमं कनिष्ठाङ्गुष्ठयोगेन, मधुपर्कप्राशनमिति लिखितं तच्छाखान्तरविषयमित्यनुपदं स्फुटीभविष्यति । समस्तमन्त्राम्नानञ्च सूत्रात्त्रिः पानविधानं मन्त्रे च स्थानत्रये भक्षशब्दसत्त्वात्तदन्तेनैव मधुपर्कप्राशनं मा भूत् किन्तु मन्त्रान्तेनेति ज्ञापनार्थम् । येषां तु "श्रियो भक्षोऽसी" ति मन्त्रपाठस्तेषां मन्त्रावयवैरेव पानं स्यात् । तथा च छन्दोगगृह्यान्तरम् "मधुपर्कं त्रिः पिबेत् यशसो महसः श्रिय इति तूष्णीं चतुर्थम्" इति। तदत्र मन्त्रप्रतीकोपादानप्रतीकैरेव पानमवगम्यते । "श्रीर्भक्षोऽसी" –ति खल्वस्मच्छाखायां मन्त्रपाठः । अतस्तत्रैव होरिलपद्धतेरुक्तिर्योजनीया । तत्र प्रमाणञ्च –

"यशसो यशोऽसीति त्रि–स्तूष्णीं बहुचतुर्थकम् ।
कनिष्ठादिभिरङ्गुष्ठयोगेन तिसृभिः क्रमात् ।।
मधुपर्क्कप्रयोगे तु प्राशने विधिरिष्यते ।।"

इति परिशिष्टान्तरवचनमिति बोध्यम् ।। १५।।

---

१. तादर्थ्यचतुर्थ्यर्थे षष्ठी (पा० २।३।६२) ।

२. "भक्ष अदने" (चु० प०) कर्म्मणि घञ् (पा० ३।३।१९) अत्र भक्ष्य इत्यपपाठः।

३. ङेः सुः (पा० ७।१।३९) ।

४. "सम्पत्तिः श्रीश्च लक्ष्मीश्चे"त्यमरः । सम्पत्तिः सम्पदित्यनर्थान्तरम् ।

५. " सप्तमब्राह्मणे दानमि" – ति वत्सम्प्रदानेऽधिकरणत्वविवक्षाऽत्र बोध्या ।

तूष्णीञ्चतुर्थम् ।। १६ ।।

चतुर्थ बार बिना मंत्र के उसे पीवे ।। १६ ।।

मधुपर्कस्य पिबेत् ।। १६ ।।

भूय एवाभिपाय शेषं ब्राह्मणाय दद्यात् ।। १७ ।।

यदि मधुपर्क अधिक प्राप्त हो जावे, (जो चार बार पीने पर भी न निघटे) तो पञ्चम बार भी बिना मंत्र उसे पीवे और शेष ब्राह्मण को दे देवे ।। १७ ।।

भूयः । पुनरपि । एवकारकरणात्तूष्णीमेव । अभिपाय आभिमुख्येन पीत्वा शेषमवशिष्टम् । ब्राह्मणायेति । ब्राह्मणपदं पुत्रादिपरम् । ''नोच्छिष्टं कस्यचिद्दद्यादन्यत्र जायापुत्रशिष्येभ्यः'' इति स्मरणात् । ''उच्छिष्टमगुरोरभोज्यमि''–ति वसिष्ठवचनाच्च। तदभावे पुनरब्राह्मणयापि दद्यात् । तच्चाद्भिः प्रोक्ष्येति विशेषः । तथा च द्राह्यायणसूत्रम्–

''तदभावेऽद्भिः संप्रोक्ष्या – ब्राह्मणाये[1]'' – ति (१।२।२१) । लाट्यायनोऽप्येवमेव । (१।३।११) सर्वाभावे ''प्राग्वाऽसञ्चरे निनयेदि'' –ति पारस्करीयैव गतिरन्यशाखीयाऽप्यविरोधिनीति । वीरपद्धतिरप्येवमेव । ''मधुपर्कशेषमसञ्चरदेशं[2] धारयेदि''ति ।। १७ ।।

आचान्तोदकाय गौरिति नापितस्त्रिर्ब्रूयात् ।। १८ ।।

पीछे जब वह मान्य व्यक्ति मुंह आदि धोकर स्वस्थ चित्त होवे, तब शस्त्र हाथ में लेकर नापित आकर उसे तीन बार जतलावे, ''गौ !'' (इसी समय क्या गौ आलम्भन करना पड़ेगा ?) ।। १८ ।।

अत्र सप्तम्यर्थे चतुर्थी । अर्हणीये कृताचमने सति । यद्वा तादर्थ्ये चतुर्थी । यथा स श्रृणोति तथेति (तदर्थम्) अनेनोच्चैस्त्वं वचनस्य

---

१. अत्र शूद्रवर्जमिति तद्भाष्यात्क्षत्रियवैश्ययोरन्यतरायेति प्रतीयते । युक्तं चैतत् । 'नञिवयुक्तसन्यसदृशाधिकरणे, तथाह्यर्थगतिः' इतिपाणिनीयपरिभाषणात् । महाभाष्येऽपि ''नह्यब्राह्मणमानयेत्युक्ते लोष्टमानीयकृती भवती''–त्युक्तन्तेन तद्भिन्नस्थ तत्सदृशस्यैव ग्रहणम्भवतीति ।

२. जनसञ्चारवर्जिते ।

व्यनक्ति । क्रियाग्रहणाद्वा चतुर्थी (पा० १। ४। ३२ वा०) मधुपर्कभक्षणे-नोच्छिष्टतापहत्या आचमनं विधीयते न चानेन (भोजनेन) भुक्त्वा कर्माचरणदोष इत्युक्तमधस्तात् (२।३।१७) ।। १८ ।।

नापितेन त्रिरित्युक्ते खल्वयमर्हणीयस्तमेव नापितमुद्दिश्य–

"मुञ्च गां वरुणपाशाद् द्विषन्तं मेऽभिधेही" ति । 'तञ्जह्यमुष्य' चोभयो रुत्सृज गामत्तु तृणानि पिबतूदकमि"–ति ब्रूयात् ।। १६ ।। (मं ब्रा २।८।१३)

अनन्तर नापित के उत्तर में मान्य व्यक्ति "मुञ्च गां" मन्त्र एवं "तं जह्यमुष्य" मन्त्रों को पढ़ कर (गौ छोड़ने की) आज्ञा देवे ।। १६ ।।

"मुञ्चगामि"ति मन्त्रं ब्रूयात् । मन्त्रार्थस्तु – अर्हणीयो नापितं वदति –एतां 'गां' 'वरुणपाशात्' विशिष्टबन्धनात् 'मुञ्च' मोक्षय । ततश्च 'उत्सृज' विसर्जय । सेयं विसृष्टा सती 'तृणानि' घासान् 'अत्तु' भक्षयतु । 'उदकं च 'पिबतु' एवं नापितमुक्त्वाऽर्हणीयामाह – हे अर्हणीये ![1] (पूजनीये!) एवं मोचिता त्वम् 'मे' ममार्चनीयस्य 'अमुष्य' अर्हयितुः 'च' 'उभयोः' 'द्विषन्तं' द्वेष्टारं तं तवाऽऽनेतारम् 'अभिधेहि' वधान । 'जहि[2]' विनाशय च ।। १३ ।। इति ।

अत्रामुष्येतिपदस्थाने प्रकृतत्त्वादर्हयितुर्यजमानस्य नाम गृह्णीयात् । अदः पदस्थाने नामादेशस्याचार्यसम्मतेः कर्मप्रदीपे कात्यायनेनोक्तत्वात् । तथा च छन्दोगगृह्यान्तरमपि –"सञ्चोदितामनुमन्त्रयते मुञ्च गामित्यमुष्य चेत्यर्हयितुर्नामब्रूयादि" –तिचन्द्रकान्तः । समस्तमन्त्राम्नानञ्च तञ्जह्यमुष्येतिपदयोर्म्मध्ये मम देवदत्तस्य चैवमध्याहारशंकानिवृत्त्यर्थम् ।। मन्त्रमध्ये इतिकारकरणं

---

१. अत्रार्हणसाधनभूते इत्यर्थः । "अर्हणापुत्रवाससे"ति पूर्वोपन्यस्त श्रुतौ तथैवार्थावगतेः । यद्यपि कृत्यप्रत्ययो भावकर्म्मणोरेव विहितस्तथापि "कृत्यल्युटो बहुलम्" (पा० ३।३।१३३) इति बहुलग्रहणादत्स्नानीयञ्चूर्णमिति वदिहकरणेऽ-नीयर् ।

२. अत्राभिपूर्वोदधातिर्बन्धने गुणविष्ण्वादिभिर्व्याख्यातः ।

पूर्वपदानां यथावस्थितानामेव पाठार्थम् इति मुरारिमिश्राः । अत एव[1]तमिति पदेनोहः । तस्येतिकारात्प्राक्तनेन द्विषन्तमित्यनेन सम्बन्धादिति च चन्द्रकान्तः ।। १६ ।।

"माता रुद्राणामि"– त्यनुमन्त्रयेत् ।। २० ।। (मं ब्रा० २ । ८ । १४)

(मान्य व्यक्ति की आज्ञा सुन, गौ को नापित छोड़ दे,) मान्य व्यक्ति, "माता रुद्राणां" मन्त्र से उस गौ का अनुमन्त्रण करे ।। २० ।।

गामित्यनुवर्त्तते । अनुमन्त्रणमिहालोचनम् । तथाच गृह्यासङ्ग्रहः –

"स्पृशन्ननामिकाग्रेण क्वचिदालोकयन्नपि ।
आमन्त्रणीये सर्वत्र सदैवमनुमन्त्रयेत् ।।"इति ।

मन्त्रो यथा –

"माता रुद्राणां दुहिता वसूनां स्वसाऽऽदित्यानाममृतस्य नाभिः ।
प्रणु वोचं चिकितुषे जनाय मागामनागामदितिं वधिष्ट" ।। १४ ।। इति ।

अस्यार्थः – येयमर्हणार्थ – (मालम्भननिमित्त–) गौरानीता सा 'रुद्राणां' 'माता' मातृवन्मान्या 'वसूनां' देवविशेषाणां 'दुहिता' दुहितृवत्पाल्या 'आदित्यानां 'स्वसा' स्वसृवदनुकम्प्या 'अमृतस्य' दुग्धदध्यादेः 'नाभिः' उत्पत्तिस्थानम् । अतएताम् 'गाम्' 'अनागाम्'[2] सर्वथाऽनपराधिनीम् । अत एव 'अदितिम्' अनवखण्डनीयां देवमातरं वा[3] । हे यजमानपरिचारकाः!

---

१. वस्तुतस्तु (सूत्रे) इतिकारो यथास्थितस्वरूपपरामर्शार्थको मध्यमणिन्या येनोभयोरपि सम्बध्नन्नविकृतस्वरूपं परामृशति । वीरपद्धत्यादिष्वेवमेव पाठात् । गृह्यान्तरवचनं तु शाखान्तरविषम् । भवदेवभट्ट–भट्टनारायणादयस्तु–अत्र पठ्यमान–मन्त्रकाण्डे "इति" पदं न पठ्यये । केवलमाचार्येणैवोक्तमथेम्प्रतिपिपादयिषुणा प्रक्षिप्तं तदित्याहुः ।

२. "ये सान्तास्तेऽदन्ताः" इति न्यायेन "आगोऽपराधे" इत्यभिधाने सान्तोऽदन्तश्च वक्ष्यते । तेनात्र बहुव्रीहिः ।

३. "दो अवखण्डने" (दि० प०) इत्यस्मात्कर्म्मणि क्तिनि । "द्यतिस्यति–भास्थामिति किती" (पा० ३ । ३ । १७४) ति धातोरित्वेदिति शब्दो नभसमसितः । निरुक्तेषु तु "अदितिरदीना देवमाते" ति (४ । २२) पठ्यते । तत्र कर्त्तरि संज्ञज्ञा यां क्तिज् (पा० ७ । ४ । ४०) बोध्यः ।

यूयम् 'मा वधिष्ट' मा घ्नत् । अहमेव 'नु भोः'[1] 'चिकितुषे' ज्ञानसम्पन्नाय[2] 'जनाय' अस्मै[3] यजमानाय 'प्रवोचम्' प्रोक्तवानस्मि[4] अनागां गां मा वधिष्टेति ।। १४ ।। इति ।। २० ।।

अत्र (नापितोक्त्यनन्तरं तत्प्रतिवचनादिस्थाने) विशेषमाह –

अन्यत्र यज्ञात् ।। २१ ।।

(विशेष यह है कि श्रौतसूत्रानुसार जो ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ अनुष्ठित होते हैं,) उस श्रौत यज्ञ से भिन्न स्थान में, अर्थात् गृह्यसूत्रोक्त विवाह आदि संस्कार में उक्त गौ मोचन व्यवस्था समझे ।। २१ ।।

यज्ञो ज्योतिष्टोमादिः । ततोऽन्यत्रैवं कुर्यात्[5] ।। २१ ।।

यज्ञे हि किं कुर्यादित्युच्यते –

कुरुतेत्यधियज्ञम् ।। २२ ।।

यज्ञ के खूंटे में इस प्रकार बंधे हुए गौ को मोचनार्थ पूँछने पर "करो" अर्थात् उस "गौ का वध करो" यही आदेश करे ।। २२ ।।

'अधियज्ञम्' यज्ञम् अधिकृत्य आदेशवचनं तु 'कुरुत' बद्धायाः तस्याः गाः आलभनम् 'इति' एव । यज्ञे[6] पुनर्नापितेन गौरित्युच्चैस्त्रिरुक्ते खल्वयमर्हणीयः । कुरुत । आलम्भध्वमित्यग्निस्वामिप्रभृतयः । तथाच लाट्यायनश्रौतसूत्रम् – "कुरुतेति गवि प्रोक्तायां ब्रूयादिति (१ । २ । १२) । अस्यालम्भनादि

---

१. नुशब्दः "नुपृच्छायां विकल्पे चे"त्यमरेण प्रश्ने प्रयुक्त इह सम्बुध्यर्थे प्रयुक्तो योग्यतावशात् । तथा च निरुक्तम् "नुइत्येषोऽनेककर्म्मा" (१–२–२) अनेककर्म्माऽनेदार्थ इति दुर्गः ।

२. "कितज्ञाने" (भ्वा० प०) तस्मात्क्वसौ चतुर्थ्येकवचनम् ।

३. "जनोलोके, महर्लोकात्परलोके च पामरे" इति विश्वः ।

४. अत्र "बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपी"ति (पा० ६ । ४ । ७५) अडागमप्रतिषेधः । व्यत्येयेन (पा० ३ । १ । ८५) नस्य णः ।

५. गवानुमन्त्रणादि ।

६. यज्ञे इतीत्यर्थेऽव्ययीभावः समासः (पा० २ । १ । ६) अन्ये तु यज्ञमधिकृत्येत्यधियज्ञम् । यदर्हणं क्रियते तत्रेति व्याचक्षते ।

श्रपणान्तं कर्म कुरुतेति व्याख्यानं द्राह्ययणीये श्रौतसूत्रभाष्ये धन्वी प्राह । तदेतत्कलिवर्ज्यप्रकरणे पाराशरीये स्मर्यते –

''यज्ञाधानं गवालम्भं सन्यासं पलपैतृकम् ।
देवराच्च सुतोत्पत्तिं कलौ पञ्च विवर्जयेत् ।।''इति।

यज्ञाधानम् – अग्निहोत्रम् । अत्र ''अश्वालम्भमि''–ति केचित्पठन्ति। पलपैतृकं[1] मांसेन पितृश्राद्धम् । विवाहादिगृह्यकर्म्मणि मधुपर्के तु आचार्येणापि यथोक्तं गोर्मोक्षणमनुमन्त्रणञ्चेति द्वयमप्यभिहितम् ।। २२ ।।

षडर्घ्यार्हा भवन्ति ।। २३ ।।

छः व्यक्ति अर्हणीय होते हैं ।। २३ ।।

अर्हणीयपरिगणनम् – अर्घ्यार्हाः अर्घ्यप्राप्तियोग्याः 'षट्' एव भवन्ति । अर्घं पूजाविधिमर्हन्तीत्यर्घ्याः । ''मूल्ये पूजाविधावर्घः'' इत्यमरः । ''दण्डादिभ्यो यत्'' (पा० ५ । १ । ६६) इति यत्प्रत्ययः । ते खल्विमे षड् भवन्ति ।। २३ ।।

ते खल्विमे षडर्हणीया नामतो निर्दिश्यन्ते –

आचार्य ऋत्विक् स्नातको राजा विवाह्यः प्रियोऽतिथिरिति ।। २४।।

आचार्य, ऋत्विग्, स्नातक, राजा, वर और विद्या आदि से युक्त गुणवान् अतिथि । ये छः अर्घ के योग्य हैं ।। २४।।

के ते ? इत्याह, – 'आचार्यः' कल्पादिसहितसमग्रवेदाध्यापकः, 'ऋत्विक् होत्रादीनामन्यतमः, 'स्नातकः' कृतसमावर्त्तनाङ्गस्नानः, 'राजा' अभिषिक्तो राज्ये, 'विवाह्यः' विवाहं कर्त्तुमागतः, 'प्रियोऽतिथिः,' विद्यादिगुणवानभ्यागतः 'इति षट् ।

---

१. ''पलमुन्मानमांसयोरि''ति रुद्राभिधानात् पलेन मांसेन केवलेन पैतृकं श्राद्धं पलपैकमुच्यते ।। ''सहान्नेनोत्तरास्तर्पयन्ती''ति मत्स्यादीन्युपक्रम्य श्राद्धकल्पे सर्वैरेव सूत्रणात् ।

तत्राचार्यो मनुनोक्तः –

"उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद्द्विजः ।
सकल्पं सरहस्यञ्च तमाचार्यं प्रचक्षते ।।" इति ।।

इति यो ब्राह्मणः शिष्यमुपनीय कल्परहस्यसहितां वेदशाखां सर्वा–मध्यापयति तमाचार्यं पूर्वे मुनयो वदन्ति । कल्पो–यज्ञविद्या । श्रौतगृह्य–भेदभिन्नो, रहस्यमुपनिषत्। वेदत्वेऽप्युपनिषदां प्राधान्यविवक्षया पृथग् निर्देशो गोबलीवर्दन्यायेन[1] बोध्यः । ऋत्विगपि तेनैवाभिहितः –

"आग्न्याधेयं पाकयज्ञमग्निष्टोमादिकान्मखान् ।
यः करोति वृतो यस्य स तस्यर्त्विगिहोच्यते ।।" इति ।

आहवनीयाद्यग्न्युत्पादनमग्न्याधेयम् । अष्टकादीन्पाकयज्ञान् । अग्निष्टोमादीन् यज्ञान् । कृतवरणो यो योस्य करोति स तस्य ऋत्विगिह शास्त्रेऽभिधीयते । वेदमधीत्य यः स्नाति स स्नातः । स्नात एव स्नातकः ! ते च स्नातकादयो व्याख्याताः पारस्करेण – "समाप्य वेदसमाप्य व्रतं यः स्नाति स विद्यास्नातकः । समाप्य व्रतमसमाप्य वेदं यः स्नाति स व्रतस्नातकः । उभयं समाप्य यः स्नाति स विद्याव्रतस्नातकः" । इति । राजाअभिषेकादिगुणगणयुक्तो जनेश्वरः । विवाह्यो–विवाहयितव्यो वरः । प्रियः । विद्यातपः प्रभृतिभिर्गुणैः प्रीतिविषयः । अतिथिः (१। ४। २ सू०, पृ० ५६) यथोक्तलक्षणः ।
मनु –

"एकरात्रं हि निवसन्नतिथिर्ब्राह्मणः स्मृतः ।
अनित्यं हि स्थितो यस्मात्तस्मादतिथिरुच्यते ।।"इति ।

प्रियश्चायं वृत्तस्वाध्यायःगुणयोगाद्भवतीत्याह –

"विद्यातपः समृद्धेषु हुतं विप्रमुखाग्निषु ।
निस्तारयति दुर्गाच्च मतिश्चैव किल्विषात् ।।"इति ।। २४ ।।

अर्हणकालनिर्णयं करोत्याचार्यः –

परिसंवत्सरानर्हयेयुः ।। २५ ।।

प्रति–तीसरे वर्ष के अन्त में आचार्य आदि की पूजा करे ।। २५ ।।

---

१. गामानय–बलीवर्दञ्चानयेत्युक्ते बलीवर्दोऽपि गौरवेति पृथक् तस्याभिधानं प्राधान्यख्यापनाय । एष एव ब्राह्मणशिष्टन्यायार्थः ।

'परिसंवत्सरान्' वीप्सायां परि; संवत्सरान् प्रतीति यावत् । तथा च प्रतितृतीयादिवर्षान्ते तानाचार्यादीनर्हणीयान् 'अर्हयेयुः' पूजयेयुः शिष्यादय इति । परिसवंत्सरान्–परिगतः संवत्सरो येषां तानिमानाचार्यादीन् अर्हयेयुः ।। २५।।

पुनर्यज्ञविवाहयोश्च, पुनर्यज्ञविवाहयोश्च ।। २६ ।। १० ।।

।। इति सामवेदीयगोभिलगृह्यसूत्रस्य चतुर्थप्रपाठकस्य दशमी कण्डिका ।। ४ । १० ।।

।। चतुर्थप्रपाठकश्च समाप्तः ।। ४ ।।

।। इति गोभिलगृह्यसूत्रं समाप्तम् ।।

——— * ———

यज्ञ और विवाह के अवसर पर (उक्त ६) मान्य लोग तीन वर्ष के बीच में भी यदि आवें तौ उन का यथावत् सत्कार करे ।। २६ ।।

।। इस प्रकार गोभिलगृह्यसूत्र के चतुर्थ प्रपाठक के दशमी कण्डिका
की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत 'अनाकुला' हिन्दी
व्याख्या पूर्ण हुई ।। ४ । १० ।।

।। इस प्रकार गोभिलगृह्यसूत्र के चतुर्थ प्रपाठक की हिन्दी पूर्ण हुई ।। ४ ।।

——— * ———

पुनरिति परस्तनं काकाक्षिगोलकन्यायेनोभयत्रापि सम्बध्यते । तेन वत्सरात् पूर्वमेतानागतान् पुनः पुनरर्हयेयुरित्यर्थः ।

संवत्सरत्रयमध्येऽप्याह । यज्ञे विवाहे च समागतान् तान् संवत्सरत्रयमध्ये 'पुनः' 'च' अपि अर्हयेयुरित्येव । द्विर्वचनमध्यायसमाप्तिसूचकमिति शम् । यज्ञविवाहौ– व्यख्यातौ । तयोर्निमित्तभूतयोः संवत्सरमध्येऽप्यागतानाचार्यादीन् पुनरर्हयेयुरित्यर्थः । चकारः परिसंवत्सरकालं समुच्चिनोति ।

अन्तेऽभ्यासः प्रपाठकपरिसमाप्तिद्योतनार्थो, मङ्लार्थ इति मुरारिमिश्राः प्राहुः ।। २६ ।। १० ।।

।। इति गोभिलगृह्यसूत्रे चतुर्थप्रपाठके दशमी कण्डिकाया
डॉ० सुधाकर मालवीय कृता सरला व्याख्या समाप्ता ।। ४ । १० ।।

।। चतुर्थप्रपाठकश्चायं समाप्तः ।। ४ ।।

——— * ———

अथ सर्वगृह्यकर्माङ्गाभ्युदयिकसूत्रम्[1]
(श्राद्धकल्पचतुर्थखण्डस्थम्)

अथाभ्युदयिके श्राद्धे युग्मानाशयेत् । प्रदक्षिणमुपचारः । ऋजवोदभीः । यवैस्तिलार्थः । सम्पन्नमिति तृप्तिप्रश्नः । दधिवदराक्षतमिश्रान् पिण्डान् । नान्दीमुखाः पितरः प्रीयन्तामिति वाचयेदिति पितृभ्यः पितामहेभ्यः प्रपितामहेभ्यो मातामहेभ्यः प्रमातामहेभ्यो वृद्धप्रमातामहेभ्यः स्वाहोच्यतामिति । अस्तु स्वाहेत्युक्ते न स्वधाम्प्रपुञ्जीत ।। ४–१–१० ।। इति ।।

गो० गृ० सूत्रम् –

वृद्धिपूर्त्ते युग्मानाशयेत् । प्रदक्षिणमुपचारः । यवैस्तिलार्थः ।
(४ । ३ । ३५ – ३७)

इति च ।। अथेत्यारम्भार्थकमपि[2] मुखतो मङ्गलार्थम् । आभ्युदयिके अभ्युदयप्रयोजनके "तदस्ये –" त्यधिकृत्य "प्रयोजनम्" (पा० ५ । १ । १०६) इतिविहितस्य ठञइकादेशेन (पा० ७ । ३ । ५) पदसिद्धेरुपपादनात् । अभ्युदयः समृद्धिरित्यनर्थान्तरम् । "नान्दी समृद्धिरिति कथ्यते" इति शुभकर्म्मनिर्णयधृतं भविष्यपुराणम् । तथा च नान्दीपदस्य चतुर्थीसमासबलेन तदर्थपरतया नान्दीश्राद्धमप्येतदेवात एवात्र पितरोऽपि नान्दीमुखा एव सूत्रेऽन्यत्र चाभिहिताः । तददिं श्राद्धं मातृकापूजा वसोर्द्धाराऽऽयुष्यमन्त्रजपान्कृत्वा कार्यम्

---

१. तथा च सूत्रम् –"सर्वाण्येवान्वाहार्यवन्ति" (१ । १ । ५) इति । अन्वाहार्यमेतन्मते नान्दीमुखमिति तत्रैवावोचाम ।

२. तथा चामरः "मंगलानन्तराम्भप्रश्नकात्र्न्येष्वथो अथ" इति । तत्र सकृदुच्चरितन्यायेनैकस्यैकत्रानेकार्थत्वमनुपपन्नमिति मुखत इत्युक्तम् । उच्चारणे–नैवायं यात्रायां मृदंगादिध्वनिवन्मंगलं जनयति । तथाचोक्तम् –

"ॐ कारश्चाथ शब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणःपुरा ।
कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातौ तस्मान्मांगलिकावुभौ" ।। इति ।

मांगलिकौ–मंगलप्रयोजनकौ ।। "प्रयोजनम्" (पा० ५ । १ । १०६) इति ठक् । तस्येकः । अत्र "तदस्ये" त्यनुवर्त्तते ।

तथा च कर्मप्रदीपे कात्यायनः –

कर्मादिषु च सर्वेषु मातरः सगणाऽधिपाः ।
पूजनीयाः प्रयत्नेन पूजिताः पूजयन्ति ताः ।।
प्रतिमासु च शुभ्रा(द्धा)सु लिखिता वा पटादिषु ।
अपिवाऽक्षतपुञ्जेषु नैवेद्यैश्च पृथग्विधैः ।।
कुड्यलग्नां वसोर्द्धारां सप्तवारान्घृतेन तु ।
कारयेत्पञ्चवारान्वा नातिनीचां न चोच्छ्रिताम् ।।
आयुष्याणि च शान्त्यर्थं जप्त्वा तत्र समाहितः ।
षड्भ्यः पितृभ्यस्तदनु श्राद्धदानमुपक्रमेत् ।।'' इति ।।
कर्मादिषु – कर्मणामादिषु । सर्वेषु – श्राद्धवत्सु ।
''मातृः सम्पूजयित्वा तु पितृभ्यः सुसमाहितः ।
वृद्धिश्राद्धं ततः कुर्यात्सदाऽभ्युदयकारकम्[1] ।।''

इत्यादिवचनेषु सर्वत्राभ्युदयिकसहभावेनैतद्विधानात् तदेकमूलकत्व–कल्पना लाघवात् ।

''यत्र यत्र भवेच्छ्राद्धं तत्र तत्रैव मातरः''

इति कात्यायनोक्तेश्च । तेन यत्राभ्युदयिकश्राद्धन्न विहितं, यथा निष्क्रमणान्नप्राशनयोस्तत्रैतदपि न भवति । सगणाधिपाः । गणेशपूर्विकाः । ''पूर्वं[2] विनायकः पूज्यो मातरस्तदनन्तरम्'' ।। इति वचनात् ।

---

१. अत्र केचित्–सदाभ्युदयकारकमित्यर्थवादेन सफलत्वेनो पस्थितश्राद्धसमीपे ''मातृः सम्पूजयित्वे''–ति निष्फलनिर्देशाद्विश्वजिन्न्यायेन फलकल्पने गौरवात्त्काश्रुतेश्च मातृपूजनस्य श्राद्धाङ्गत्वनिर्णयात् ''फलवत्सन्निधावफलंतदङ्गमि''ति न्यायेन श्राद्धफलेनैव फलवत्त्वात् आभ्युदयिकसंकल्पानन्तरं मातृपूजनमुचितमित्याहुस्तत्र–''पूजिताः पूजयन्ति ताः'' इति कात्यायनेन सफलत्वबोधनात्त्कश्चाङ्गत्वानभिधायकत्वात् । एवञ्च मातृपूजनं प्रधानं, नैमित्तिकञ्च। ''कर्मादिष्वि'' ति वचनात् । अत एवात्र ''ॐ अद्यामुककर्मणि गणपतिदुर्गाश्रीसहिताः षोडशमातृरहं पूजयिष्ये'' इति पृथक्संकल्पकरणमाजानिकाचार–सिद्धम् । अत एव च दैवादाभ्युदयिकाकरणेएतन्मात्रकरणन्न विरुद्ध्यते ।

२. तथा च बहृचपरिशिष्टम् –

''आदौ विनायकः पूज्यो ह्यन्ते च कुलदेवताः'' ।। इति ।

''सर्वकामसमृध्यर्थमादौ पूज्यो विनायकः'' ।। इति लिंगपुराणञ्च।।

मातरस्तु – यथाह बद्ध च परिशिष्टम् ।

"गौरी पद्मा शची मेधा सावित्री विजया जया ।
देवसेना स्वधा स्वाहा मातरो लोकमातरः ।।
ह्यष्टिः पुष्टिस्तथा तुष्टिरथात्मकुलदेवता" ।। इति।
"गणेशेनाधिकास्त्वेता वृद्धौ पूज्याश्च षोडश ।" इति च।

अत्र प्रयत्नेनेत्यनेनावश्यकता दर्शिता । अत एव शातातपः –

"अकृत्वा मातृकायागं यः श्राद्धे परिवेषयेत् ।
तस्य क्रोधसमाविष्टा हिंसाभिच्छन्ति मातरः ।।"इति।

अत्र–पूजयन्तीत्यस्य–पुत्रधनसमृद्ध्या वर्द्धयन्तीत्यर्थः । अभ्युदय दानेन प्रीणयन्तीति गौडाः । प्रतिमासु –रजतादिमयीषु । "प्रतिष्ठिता" इति शेषः। शुभ्रा–(द्वा)–सु शुक्लासु । पटादिषु लिखितावेत्यन्वयः । वर्णिकाभिश्चित्रिता इत्यर्थः। आदिपदाद्भित्तिकुड्यादिपरिग्रहः । अक्षतपुञ्जेषु–"आवाहिता" इति शेषः ।

अत्र "भूमावप्सु तथाग्नौ चेत्याद्युक्तसामान्याधारव्यावृत्तिर्विशेषाभिधान–स्वरसादिति मुरारिः । अत्र दूर्वासहितगोमयनिर्म्मितरक्षिकादौ पूजनमाचारादेवेति[1] निबन्धारः । नैवेद्यैश्च पृथग्विधैः । अत्र पूर्ववाक्यस्थं पूजनीया इति सम्बध्यते । चकारादुपचारान्तरपरिग्रहः ।

अत्र गणपतिपूजानन्तरं दुर्गापूजनमाचारादेव । सर्वान्तेश्रीरपि पूज्या । "श्रियञ्च पूजयेत्पश्चात्ततः कर्म समारभेत्" इति वचनात् । एवञ्च प्रत्येकङ्गन्धाक्षतैः प्राणप्रतिष्ठाम्[2] "ॐ गणपतिरसी" त्येवं स्पृष्ट्वा "ॐ वाङ्मनः प्राणोऽपानोव्यानश्चक्षुः श्रोत्रं शर्म वर्म भूतिः प्रतिष्ठा" इति मन्त्रेण विधाय ॐ कारादिनमोऽन्तेन चतुर्थ्यन्तस्वस्वनाम्ना गन्धादिभिरभ्यर्च्चनीयाः ।। केचिदत्र "बलिहीने तु दुर्भिक्षं गन्धहीने त्वयाज्यता । धूपहीने तथोद्वेगो वस्त्रहीने धनक्षय" इति भविष्यपुराणाद्वस्त्रदानमपि नियतमाहुः ।।

इत्थं पूजां विधाय कुड्यलग्नाम् – उपलक्षणमेतद्भित्तेरपि । नातिनीचाम् । स्थापितगोमयरक्षिकातः । न चोच्छ्रिताम् । तत एव ।

---

१. " नातिनीचां न चोच्छ्रिताम्" इति ह्यवधिसापेक्षनिर्द्देश एव एतत्करणे मूलं प्रतिभाति ।

२. अस्य विधायेत्यनेनान्वयः । चित्रादौ तु प्रतिष्ठाकरणं दुराचारः मूलाभावेनान्ध–परम्परानुपातित्वात् । सुतरां त्वेकदेति मुरारिमिश्राः प्राहुः ।

सप्तवारान्पञ्चवारान्वा घृतेनगव्येन वसोर्द्धारान्[1] तन्नाम्नीं घृतधारां कारयेत् कुर्यात् । स्वार्थे णिच् । "रामो राज्यमचीकरदितिवत् । अत्र सवृन्तकदलीफलेन फलान्तरेण वा धाराप्रतीक्षणं संस्करणीयमात्रे तत्फलसमर्पणञ्चेति समाचारः । वारत्रयं धाराकरणमिति रूपनारायणादयः । तत्राचार एव शरणम् । यद्यपि धाराणां प्रादक्षिण्यं शास्त्रार्थः । दैवत्वात् । तथापि प्रवामदानमाचारादिति केचित् । आशादित्येन तु धाराणामुत्तरोत्तरत्वे "प्राञ्च्युदञ्चि वा कर्माणि सन्तिष्ठेरन्" इति श्रुतिरेव मूलत्वेनोपन्यस्ता । "दक्षिणाद्युत्तुरापवर्गं पश्चिमादि प्रागपवर्गं वा धाराः पातयेदि" –ति दानोद्योतलिखनमपि तदभिप्रायकमेवेति द्रष्टव्यम् । इति महामहोपाध्यायहर्षनाथशर्माणः संस्कारदीपके प्राहुः ।

सा च धारा "ॐ एतमुत्यमि" त्यादि वसुप्रकाशकमन्त्रेण कार्या । न तु "वसोः पवित्रमि" ति पारक्येण । अक्रियापत्तेः[2] । मन्त्रस्य तु सकृदेवपाठो न त्वावृत्त्या । बीजाभावात् इति मुरारिमिश्राः । वाचस्पतिमिश्रादयोऽप्येवम् । यद्याप्येकजातीयत्वेऽपि धाराकर्मणां भेदात्सर्वत्र मन्त्रान्वयो युक्तः । "मन्त्रान्तैः कर्म्मादिः सान्निपात्यः" इति कात्यायनसूत्रात् । तथापि गोशतादौ संख्याविशेषस्य देवतावच्छेदकत्ववत् इहापि सप्तादेरवच्छेदकत्वात् ।

---

१. अत्र समाख्ययां चेदिराजो वसुरुद्देश्य इति मूलम् । तथा च मोक्षधर्मे (भारते) वसुं प्रति चेदिवाक्यम् –

"यज्ञेषु जुह्वतां विप्रैर्वसोर्द्धारां महात्मभिः ।
प्राप्स्यसेऽस्मदनुध्यानान्मा च त्वां ग्लानिराविशेत् ।।"

इति वाचस्पतिमिश्राः । वस्तुतस्तु–अग्ने; सर्वदेवमुखत्वात् स एवात्रोद्देश्यः । तस्यापि वसुपदार्थत्वात् । तथा च मेदिनी –

"वसु–र्नादेवभेदाऽग्नि–भा–योत्क्र–वक्र–राजसु ।
क्लीवे वृद्धयौषधेऽश्च च–रै–रत्न–मधुरे त्रिषु" ।। इति।
"वसु रत्नं वसु द्रव्यं वसवोऽष्टौ धरादयः" इति चान्यत्र ।

मोक्षधर्मवचनं तु "वसुभ्यः स्वाहे" –ति यज्ञान्ते घृतधारापरत्वेन भिन्नविषयत्वात् । अत एव "यज्ञेषु जुह्वतामि"त्यपि संगच्छते ।

२. तथा च कात्यायनः ।

"अक्रिया त्रिविधा प्रोक्ता विद्वद्भिः कर्मकारिणाम् ।
अक्रिया च परोक्ता च तृतीया चायथाक्रिये"–ति।।

सप्तत्वाद्यवच्छिन्नधारादानमेकमेवकर्मेति सकृदेवपाठो मन्त्रस्य तथा च परिभाषाध्याये कात्यायनः —"एकद्रव्ये कर्मावृत्तौ सकृन्मन्त्रवचनं कृतार्थत्वात्" इति क्रियादौ, मन्त्रवचनमुक्तं, क्रिया च साभ्यासा एकैवेति न पुनर्वचनम् । "सत्कृते कृतः शास्त्रार्थः " इति न्यायादिति तदर्थ इति दिक् ।।

इत्थं धाराकरणानन्तरम् आयुष्याणि[1] – आयुर्वृद्धिकराणि "आयुष्यं ब्रह्मवर्च्चस्यम्" इत्यादीनि सूक्तानि । शान्त्यर्थम्अमङ्गलनिवृत्त्यर्थम् । अत एव नैतज्जपस्य श्राद्धाङ्गत्वं, फलश्रुत्या प्रधानत्वावगमात् । तदनु—तत्पश्चात् । षड्भ्य इति । मात्रादीनामप्युपलक्षणम् तथा च शातातपः –

"मातृणां प्रथमं श्राद्धं पितृणां तदनन्तरम् ।
ततो मातामहानाञ्च वृद्धौ श्राद्धत्रयं भवेत् ।।" इति ।

मत्स्यपुराणम् –

"उत्सवानन्दसन्ताने यज्ञोद्वाहादिमङ्गले ।
मातरः प्रथमं पूज्याः पितरस्तदनन्तरम् ।।
ततो मातामहानाञ्च विश्वेदेवास्तथैव च ।।" इति।

उत्सवानन्दहेतौ सन्ताने । सत्पुत्रोत्पत्ताविति यावत् । अत्रोद्वाहपदमृष्यन्त– रोक्तकन्यापुत्रविवाहपरम् । एकमूलकत्वकल्पनालाघवात् । एतेन यज्ञवत् स्वीयविवाहो ऽप्याभ्युदयिकनिमित्तमित्यपास्तम् । "स्वपितृभ्यः पिता दद्यादि"– ति वचनात् पितुरभावे स्वविवाहस्यापि निमित्तत्वम् । न तु पितरि सत्यपीति श्राद्धकल्पस्मृतिसारादयः । "अपरे च नान्दीमुखेभ्यः श्राद्धं तु पितृभ्यः कार्यमृद्धये । ततो विवाहः कर्त्तव्यः शुद्धः शुभफलप्रदः" इति ब्रह्मपुराणवचनात् स्वविवाहे काम्यमाभ्युदयिकं न तु नित्यमित्याहुः । प्रथमविवाहेऽपि पितुरन्ये नाभ्युदयिकं न कर्त्तव्यम् । पुत्रविवाहस्यैव निमित्तत्वेनान्यस्यानधिकारात् । आदिपदेन ऋष्यन्तरोक्तमङ्गलपरिग्रहः । ततो मातामहानाञ्च पूजेत्यन्वयोऽध्याहृतेन । विश्वेदेवैः सह पाठिकक्रमो नादेयः ।

"तेषामारक्षभूतं तु पूर्वं दैवं निवेदयेत् ।
रक्षांसि हि विलुम्पन्ति श्राद्धमारक्षवर्जितम् ।।"

---

१. आयुषे हितानीत्यर्थे "गवादित्वात्" (पा० ५।१२) यत्प्रत्ययः ।

इति मनूक्तेः । वायुपुराणम् –

"अन्वष्टकायां वृद्धौ च गयायाञ्च क्षयाहनि ।
मातुः श्राद्धं पृथक्कुर्यादन्यत्र पतिना सह ।।" इति ।।

अत्र श्राद्धत्रयेऽपि[1] ।

"तिस्रोऽपि मातरः पूर्वम्पूजनीयाः प्रयत्नतः" । इति च ।।

विश्वेदेवसम्बन्धः । अविशेषात् । "मातृश्राद्धं तु युग्मैः स्यात्सदैवं प्राङ्मुखैः सहे" ति लघुहारीतवचनाच्च । विश्वेदेवविहीनं तु केचिदिच्छन्ति सत्तमाः" इति मातृश्राद्धे मार्कण्डेयपुराणीयो देवश्राद्धनिषेधस्तु शाखान्तरविषयः । अत एव केचिदित्युक्तम् ।

अत्र कात्यायनेन –

"वसिष्ठोक्तो विधिः कृत्स्नो द्रष्टव्योऽत्र निरामिषः" ।।

इत्युक्तम् । वसिष्ठेन पार्वणे यो विधिरुक्तः सोऽत्रामिषव्युदासेन बोध्य इति तदर्थः । तथा च मधुदानं निषिद्धम् । आमिषत्वात् । अत्र श्रीदत्तादिभि "र्नात्रामिषप्रयोग" इति सिद्धवल्लिखितम् ।

यत्तु–"पिण्डाँश्च दधिमध्वक्तान्वदराणि यवां स्तथा" इति ब्रह्मपुराणीय–वचनेनपिण्डे मधुदानविधानात् पिण्डस्य च श्राद्धविहितद्रव्यशेषकर्त्तव्यता विधानेन श्राद्धेऽपि तद्द्रव्यमायाति फलचमसन्यायादिति मध्वत्र देयमेवेति श्राद्धप्रदीपादिलिखनं–तदयुक्तम्–वैषम्यात् । दृष्टान्ते हि राजन्यकर्तृके ज्योतिष्टोमयागे "फलचमसमस्मै भक्षं ददाती" ति श्रुत्या ऋत्विग्भक्ष्यत्वेन दधिमिश्रितवटप्ररोहचूर्णरूपस्य फलचमसस्य विधानादृत्विग्भक्षस्य च परिशेषात्प्रतिपत्तिरूपतया होमीयद्रव्यशेषत्वात् फलचमसस्य होमीय–द्रव्यत्वमायाति । अत्र तु पिण्डस्य श्राद्धशेषान्नकर्त्तव्यतया श्राद्धस्य पिण्ड–द्रव्यसजातीयद्रव्यकत्वं तद्वत्सिध्यतु न तु पिण्डविशेषणीभूतमधुद्रव्यकत्वमपि । अन्यथाबदरादीनामपि श्राद्धेऽवश्यन्देयतापत्तिरिति ।

अत एवात्र मधुमन्त्रपाठोऽपि न । किन्तु अन्नोत्सर्गानन्तरं मधु इति त्रिर्जपमात्रमित्युपरिष्टाद् व्यक्तीभविष्यति । एवं विशेषोऽत्र गोभिलेनाभिहितिः "आभ्युदयिके श्राद्धे युग्मानाशयेदि" त्यादिना सूत्रदशकेन ।

---

१. त्रयोऽत्रविश्वेदेवाः । तत्रैको मात्रादित्रिकसम्बन्धी । द्वितीयः पित्रादित्रिक–सम्बन्धी । तृतीयश्च मातामहादित्रिकसम्बन्धीति बोध्यम् ।

"अतः परं प्रवक्ष्यामि विशेष इह यो भवेत् ।
प्रातरामन्त्रितान् विप्रान् युग्मानुभयतः स्थितान् ।
उपवेश्य कुशान् दद्यादृजुनैव हि पाणिना ।।"

इति । प्रातरिति । तथा चात्र (वृद्धिश्राद्धे) श्राद्धदिने प्रातरेवामन्त्रणं, न तु विकृतिन्यायप्राप्त–पाक्षिक–पूर्वदिने । वैकृतविशेषविधेरधिकबलत्वात् । युग्मानिति । तथा च चतुर्विंशतिरत्र श्राद्धिन इति मुख्यः कल्पः । ऋजुनैवेति । पित्र्यतीर्थनिषेधः ।। तथा –

"निपातो नहि सव्यस्य जानुनो विद्यते क्वचित् ।
सदा परिचरेद्भक्त्या पितॄनप्यत्र देववत् ।।" इति ।

सव्यस्य–वामस्य । देववत्दक्षिणजानुपातेन । प्राङ्मुखोपवेशनेन च ।। तथा–

"नात्रापसव्यकरणं न पित्र्यन्तीर्थमिष्यते ।
पात्राणां पूरणदीनि दैवेनैव हि कारयेत् ।।" इति ।

प्रित्र्यतीर्थम्तर्जन्यङ्गुष्ठयोर्म्मध्यरूपम् । दैवेन – अङ्गुल्यग्ररूपदेवतीर्थेन अत्रैतदनन्तरं –

"सव्येन सोपवीतेन ऋजुदर्भैश्च धीमता ।
पितॄणां रूपमास्थाय देवाह्यन्नं समश्नुते ।।
तस्मात्सव्येन दातव्यं वृद्धिश्राद्धेषु नित्यशः" ।

इति शुभकर्म्मनिर्णये मुरारिमिश्राः प्राहुः ।। केचिदत्रभूस्वाम्यन्नदानेऽपि दैवविधिमिच्छन्ति । तन्न । तस्याभ्युदयिकबहिर्भूतत्वेन दैवविधौ प्रमाणाभावात् । तस्मात्पित्र्यविधिनैव तत्कर्त्तव्यम्।

आभ्युदयिकबहिर्भावादेव तत्रामिष – (मध्वादि) प्रयोगोऽपि न निषिद्धः ।।

तथा – "ज्येष्ठोत्तरकरां युग्मां कराग्राग्रपवित्रकान् ।
कृत्वाऽर्घ्यं संप्रदातव्यं नैकैकस्यात्र दीयते ।।" इति ।

ज्येष्ठोत्तरकरान् पूर्वोपवेशितोज्येष्ठ स्तदुत्तरकरान् – तत्प्रधानकरान् । ज्येष्ठस्योत्तरे उपरि कारा येषान्तादृशानिति वा । युग्मब्राह्मणपक्षे यो यदपेक्षया पश्चादुपवेशितस्तद्दक्षिणकरोपरि पूर्वोपवेशितदक्षिणकरो यथाभवति तथाऽवस्थितानिति यावत् । कराग्राग्रपवित्रकान् – कराग्रेऽग्रं यस्य तथाभूतं पवित्रं येषां तादृशान् । कराग्रेऽग्रपवित्रकं पवित्राग्रं येषामिति गौडीयव्याख्यानं तु न युक्तम् । अग्रपदस्य परनिपातापत्ते आर्षत्वानुसरणं तु सत्याङ्गत्यामयुक्तम् । नैकैकस्येति । तथा च युग्मब्राह्मणपक्षे मिलितहस्त एवार्घ्यं देयम् ।

तथा –

"मधुमध्विति यस्तत्र त्रिर्जपोऽशितुमिच्छताम् ।
गायत्र्यनन्तरं, सोऽत्र मधुमन्त्रविवर्जितः ।।" इति ।।

मधुमध्विति । त्रिरभ्यस्तो यो जपस्तत्र–प्रकृतौ–पार्वणे । अन्नोत्सर्गानन्तरम् । भोजनपूर्वकाले गायत्रीमधुपाठानन्तरं, स इह विकृतौ आभ्युदयिके मधुमन्त्रविवर्जितः कार्य इत्यर्थः । एवञ्च नेदानीमधुमती[1] पाठः । अन्यदातु तत् पाठ एवेति परिशिष्टप्रकाशः तेनान्नाभिमन्त्रण एव मधुमन्त्रपाठो नात्यत्रेति निर्बाधा एवेति श्रीदत्तोपाध्यायवर्द्धमानोपाध्यायादयः ।

अत एव पितृभक्तौ "नात्रमधुवाता पाठः" इति सामान्यत एवोक्तम् । प्रयोगे च तदुल्लेखो न कृतः रुद्रधरीयश्राद्धविवेकेऽथेवम् ।।

किन्तु कात्यायनेन तथानोक्तमिति गोभिलीयैरन्नाभिमन्त्रणे मधुमन्त्रः पाठ्य इति मे प्रतिभातीति महामहोपाध्यायहर्षनाथशर्माणः संस्कारदीपके प्राहुः ।

तथा–

"न चाश्नत्सु जपेदत्र कदाचित्पितृसंहिताम् ।
अन्य एव जपः कार्यः सोमसामादिकः शुभः ।।
यस्तत्र प्रकरोऽन्नस्य तिलवद्यववत्तथा ।
उच्छिष्टसन्निधौ सोऽत्र[2]तृप्तेषु विपरीतकः ।।" इति ।।
"सम्पन्नमिति तृप्तास्थ ! प्रश्नस्थाने विधीयते ।
सुसम्पन्नमिति प्रोक्ते शेषमन्नं निवेदयेत् ।।" इति ।।
"प्रागग्रेष्वथ दर्भेषु आद्यमामन्त्र्य पूर्ववत् ।
अपः क्षिपेन्मूलदेशेऽवनेनिक्ष्वेति निस्तिलाः[3] ।।
द्वितीयञ्च तृतीयञ्च मध्यदेशाग्रदेशयोः ।
मातामहप्रभृतींस्तु तेषामेव हि वामतः ।।
सर्वस्मादन्नमुद्धृत्य व्यञ्जनैरुपसिच्य च ।
संयोज्ययवकर्कन्धूदधिभिः प्राङ्मुखस्तथा ।।

---

१. मधुमन्त्र एव मधुमती शब्देन ऋक्परतयाऽभिहितः ।
२. अत्र "कर्त्तव्यो विपरीतक" इति संस्कारदीपके पाठः ।
३. अत्र "पात्रत" इति मुद्रितपुस्तके (कातीयस्मृतौ) पाठः ।

अवनेजनवत्पिण्डान्दत्त्वा बिल्वप्रमाणकान् ।
तत्पात्रक्षालनेनाथ पुरप्यवनेजयेत् ।।" इति च।।

पितृसंहितामिति । पितृमहत्त्वप्रकाशकमन्त्रमात्रोपलक्षणम् । तथा च पारस्करः "पितृमन्त्रवर्जञ्जपः" इति । पितृमन्त्र उदीरतामित्यादिः । तं वर्जयित्वाऽन्येषां पवित्राणाञ्जपः कार्य इत्यर्थः । सोमसामादिक इति । आदिपदात्पुरुषसूक्तादीनि पवित्राणि विशेषतो वाजसनेयिभिः सोमसामस्थाने जप्यानि । यस्तत्रेति । तत्र–प्रकृतौ (पार्वणे) । तृप्तेषु – ब्राह्मणेषु सत्सु अन्नस्य प्रकरः विकिरणम् । उच्छिष्टसन्निधौ तिलवत्–तिलवान् । आर्षन्नपुंसकत्वम् क्रियाविशेषणं वा । (तिलवद्यथास्यात्तथेति) स अत्र–आभ्युदयिके । विपरीतकः । तृप्तेः प्राक् । यववत्–यववान् कार्यः । अत्र विपरीतकः । देवतीर्थादिनेति प्राञ्चः । सम्पन्नमिति । अत्रेति वर्त्तते । पार्वणे तृप्ताः स्थेति यः प्रश्नस्तत्स्थानेऽत्र सम्पन्नमिति । तृप्तिप्रश्नः कार्यः । प्रोक्ते–ब्राह्मणैः कथिते । अत्र मात्रादिपिण्डानां दक्षिणे पित्रादिपिण्डा देयाः । तद्दक्षिणे मातामहादिपिण्डाः । "प्रदक्षिणमुपचार" इति गोभिलसूत्रात् । इति भ्राम्यतः प्रत्याह – प्रागग्रेऽष्विति । आद्यं पितरम् । तदेतत्पार्वणीयकृत्यमनुसन्धायोक्तं, प्रकृते तु, "मातरः प्रथमं पूज्याः पितरस्तदनन्तरम्" इति मात्स्योक्ते "स्तिस्रोऽपि मातरः पूर्वं पूजनीयाः प्रयत्नत" इति वायवीयात् । "अनिष्ट्वा तु पितॄन् श्राद्धे न कुर्यात्कर्म वैदिकम् । तत्रापि मातरः पूर्वं पूजनीयाः प्रयत्नतः" इति कात्यायनोक्तेश्च । मात्रादिपिण्डापेक्षया पित्रादिपिण्डनांप्रवामतेति बोध्यम् । मूलदेशे – दर्भस्येति शेषः । द्वितीयं पितामहम्, तृतीयं–प्रपितामहम्, मध्यदेशाग्रदेशयोः । दर्भस्य तेषां – पित्राद्यवनेजनस्थानानां, वामतः[१] उत्तरतः । न च प्रत्यङ्मुखोपविष्टानां पितृणांतद्ब्राह्मणानां वामत इत्येव वचनार्थः । तेन प्रादक्षिण्यलाभ इति वाच्यम् तेषामित्यनेन पूर्वोपक्रान्तानामास्तरणकुशाना–मवनेजनस्थानानां वा प्रत्यवमर्शौचित्यात् । किञ्च प्रत्यङ् मुखतायां प्रमाणाभावः । "प्राङ् मुखेभ्य उदङ्मुखो दद्यादुदङ्मुखेभ्यः प्राङ्मुख" इत्येवं श्रुतेः । कर्कन्धूर्बदरम् । उदङ्मुख इति वचनं यद्यपि लौकिकीं

---

१. वामत उत्तरतो मातामहाद्यवनेजनस्थाने सिद्धे "यथावनिक्तं पिण्डान् ददाती"–ति वचनात्तत्रैव पिण्डदाने नियमिते प्रवामत्वस्यैव सिद्धेः । एवञ्च मात्रादिपिण्डापेक्षया पितृपिण्डानामपि प्रवामतैव "एकत्रनिर्णीत" इति न्यायात् । पितृभक्तिकृत्यप्रदीपादयोऽप्येवम् ।

प्रसिद्धिमवगमयति । तथापि[1] साम्मुख्योपपत्तये "पूज्यपूजकयोः[2] प्राची"ति तान्त्रिकीं प्रसिद्धिमनुसरन्तो मैथिलाः प्रत्यङ्मुखतैत्र कर्तुरभिप्रयन्ति । सर्वदति चामुमर्थमाजानिकस्तेषामाचारः । "पश्चिमाभिमुखो भूत्वा श्राद्धं माङ्गलिकञ्चरेद् –" इति शिष्टपरम्परापठितवचनमपि ।।

आभ्युदयिककालमाह–ब्रह्मपुराणम् –

"कर्म्मण्यथाभ्युदयिके मङ्गल्यवति शोभने ।
जन्मन्यथोपनयने विवाहे पुत्रकस्य च ।।
पितृन्नान्दीमुखान्नाम तर्पयेद्विधिपूर्वकम् ।।"

इति । आभ्युदयिके–दृष्टाभ्युदयसाधने ग्रहयागादौ । मङ्गल्यवति – मङ्गल बहुले–कन्याविवाहे । शोभने–प्रकृष्टे । पारलौकिके देवप्रतिष्ठातुलापुरुषादौ । एवम्मत्स्यपुराणाद्युक्तेऽपि ।

तदित्थं छन्दोगपरिशिष्टवचनैर्व्याख्यातप्राये गोभिलीयसूत्रनिचये विशेषतोऽ–वशिष्टपदानां व्याख्या प्रस्तूयते – तथा चाश्वलायनः "आभ्युदयिके युग्मा ब्राह्मणाः। समूला दर्भाः प्राङ्मुखेभ्य उदङ्मुखो दद्यादुदङ्मुखेभ्यः प्राङ्मुखो वा । द्वौ दर्भौ पवित्रे । पवित्राणि चत्वारि । शन्नो देवीत्यनुमन्त्रितास्वप्सु यवानावपति –

"यवोऽसि पितृदेवत्यो गोसवो देवनिर्मितः ।
प्रत्नमद्भिः पृक्तः पुष्ट्या नान्दीमुखान्पितॄँल्लोकान्प्रीणाहि नः स्वाहे"।।

इति। नान्दीमुखाः पितरः प्रीयन्तामित्यपाङ्ग्रहणं विसर्जनञ्चे"ति । अत्र समूला इति विशेषविधानादत्र (आभ्युदयिके) पिण्डास्तरणेऽपि समूला एव।

तत्कारिकाऽपि –

"तिलोऽसीतिपदस्थाने यवोऽसीतिपदं वदेत् ।
स्वधयेतिपदस्थाने पुष्ट्याशब्दं वदेदिह ।।

पितृनिति पदात्पूर्वं वदेन्नान्दीमुखान्" इति । अत्र "पितृनितिपदस्थाने पठेन्नान्दीमुखानिति" इति प्राचांसम्मतः पाठः । यवैस्तिलार्थ इत्यनेन प्रकृत्युक्तस्य तिलादेर्विकृत्युक्तेन यवादिना बाधः । "शरमयं बर्हिर्भवति" इतिविकृत्युक्तेन शरेण प्रकृत्युक्तानां बर्हिषां बाधवत् । दधीति – मधुनोऽप्युपलक्षणम् । तथा च ब्रह्मपुराणम् –

---

१. अतएव पूर्वाभिमुखीदेवप्रतिमा पूर्वाभिमुखेनैव पूज्यते ।

२. तथा चोक्तं मन्त्रमहोदधौ–

"देवता पूजने प्राची मध्ये पूजकपूज्ययोः ।।"इति

"शाल्यन्नं दधिमध्वक्तं बदराणि यवाँस्तथा ।
मिश्रीकृत्य च चत्वारि पिण्डान् श्रीफलसन्निभान् ।।
दाद्यान्नान्दीमुखेभ्यस्तु पितृभ्यो विधिपूर्वकम् ।
अर्घ्यम्पुष्पञ्च धूपञ्च प्रशस्तमनुलेपनम् ।
वासश्चाप्यहतंतत्र देयञ्च सदशं समम् ।
द्राक्षामलकमूलानि यवांश्च विनिवेदयेत् ।।
तान्येव[1] दक्षिणाञ्चैव दद्याद्विप्रेषु सर्वदा ।।"

इति। दधिमुधनोमिलितयोरुपादानाच्चतुष्ट्वसिद्धिः । नान्दीमुखाः पितर इति तेनात्रमात्रादीनान्नवानामपि नान्दीमुखत्वविशिष्टानांदेवतात्वम् । "दद्यान्नान्दीमुखेभ्यस्त्व"– त्यादिवचनात् । तेन सर्वत्र त्यागवाक्ये नान्दीमुखपदप्रयोगः कार्यः । आवाहनादौ तु विशेषोपदेशादेव तत्प्रयोगः ।

यत्तु–"नान्दीमुखान्पितृगणानभ्यर्च्चेत्प्रयतो गृही"–त्यादिवचनात्तेन रूपेण देवतात्वावगमात् सर्वत्रमन्त्रादावपि नान्दीमुखपदं प्रक्षेप्यमिति । तन्न । एवमप्यर्च्चा–प्रयोजकवाक्यएवैतत्प्रयोगलाभात् । अतएव "तिलोऽसी" –तिमन्त्रे "पितृनितिपदात्पूर्वं वदेन्नान्दीमुखानिती" त्याश्वलायनविशेषोपदेशः सङ्गच्छते । अन्यथा तद्वैयर्थ्यमापद्येत। अत्र यद्यपि–"नान्दीमुखाः पितरः प्रीयन्तामि–"ति गोभिलसूत्रात् "पितृनितिपदात्पूर्वं वदेन्नान्दीमुखानिती" –त्याश्वलायनवचनादेश्च नान्दीमुखपदस्य पितृपदात्पूर्वनिपात आयाति । तथापि वैदिकपदप्रयोग एवायं नियमो न तु लौकिकत्यागवाक्येऽपि । "पितृन् नान्दीमुखान्नाम तर्पयेदिविधिपूर्वकमि"–ति ब्रह्मपुराणसंवादाच्छिष्टाचाराच्चेति बहवः ।

अत्र पित्रादित्रिकपूर्वाण मेव नान्दीमुखत्वमेवं संकल्पवाक्ये प्रपितामह पूर्वकत्वंकुतोनेत्यादि सुबहूपन्यस्य खण्डितं शुभकर्म्मनिर्णये तत्तत एवावगन्तव्यम् ।।

गो० सूत्रान्ते न स्वधामिति । एतच्च स्वायत्तवाक्ये न तु वैदिकमन्त्रादावपि । अन्यथा स्वधास्थेतिमन्त्रभागेऽपि स्वाहास्थेतिपदोहः स्यात् । न चेष्टापत्तिः शिष्टाचारविरोधात् एवञ्च "ये चात्रे" –तिमन्त्रः स्वधान्तएवपठनीयो न तु तत्राप्यूहः । हेत्वभावात् । न च त्यागार्थकतैव हेतुरितिवाच्यम् । समस्तमन्त्रस्यैव त्यागार्थत्वात् ।

वाचस्पतिमिश्रादयोऽप्येवम् । इदं च नान्दीमुखश्राद्धं पिण्डरहितमपि कर्तुमर्हति ।

---

१. द्राक्षामलकमूलानि । फलमूले एवात्र दक्षिणा संकल्पवाक्ये तथैव प्रार्चा वीरेश्वरादीना पद्धतिकृतामुल्लेखोऽपि ।

तदाह मार्कण्डेयपुराणम् –

"पिण्डनिर्वापणं कुर्यान्न वा कुर्याद्विचक्षणः ।
वृद्धिश्राद्धे कुलाचारदेशकालाद्यवेक्ष्य हि ।।"इति ।

परन्त्वस्मिन्कल्पे–आवाहनादिनिवृत्तिरपि । तदुक्तम् –

"अग्नौकरणमर्घञ्च आवाहनावनेजनम् ।
पिण्डश्राद्धे प्रकुर्वीत पिण्डहीने विवर्जयेत् ।।"इति ।

इदञ्च श्राद्धङ्क्वचिदङ्गं तदुक्तं भविष्यपुराणे –

"निषेककाले सोमे च सीमन्तोन्नयने तथा ।
इष्टौ पुंसवने चैव श्राद्धं कर्माङ्गमिष्यते ।।" इति ।।

तथा – "यज्ञे पुंसवने चैव सीमन्तोन्नयने तथा ।
एतेष्वेव प्रधानेषु श्राद्धं कर्माङ्गमिष्यते ।।" इति ।

पुत्रजन्मादौ तु नैमित्तिकम् । तथा च मार्कण्डेयपुराणम् –

"नैमित्तिकमथो वक्ष्ये श्राद्धमभ्युदयात्मकम् ।
पुत्रजन्मनि तत्कार्यं जातकर्मसमं नरैः ।।" इति ।।

अत्र जातकर्म्मसमकालविधानादच्छिन्ननाड्यान्तत्कार्यम् । एवं –

"कन्यापुत्रविवाहेषु प्रवेशे नववेश्मनः ।
नामकर्म्मणि बालानां चूडाकर्म्मादिके तथा ।।
सीमन्तोन्नयने चैव पुत्रादिमुखदर्शने ।
नान्दीमुखं पितृगणं पूजयेत्प्रयतो गृही ।।"

इत्यादिविष्णुपुराणादिवचने भविष्यपुराणोक्तातिरिक्ते कन्यापुत्रविवाहादावपि तन्नैमित्तिकमेव । निमित्तसप्तमीश्रवणात् । एतेष्वेवप्रधानेष्वित्युक्त्याऽन्यत्र नैमित्तिकमिति प्रतीतेश्च । इत्थञ्चाकृतसपिण्डनस्य ज्येष्ठस्यापि कन्यापुत्रविवाहोऽर्हत्येव । आभ्युदयिकस्य विवाहानङ्गत्वेन तदकरणेऽपि वैगुण्यविरहात् । अनधिकारे नैमित्तिकाकरणे विहिताकरणदोषोऽपि नेति बोध्यम् ।।

एवं पितरि देशान्तरस्थे पुत्रविवाहरूपस्याभ्युदयिकनिमित्तस्याज्ञानेन श्राद्धाकरणेऽपि न विवाहवैगुण्यं, न वा नैमित्तिकाकरणात्प्रत्यवायः । निमित्तत्ता–ज्ञानेनानधिकारात् । अधिकारिण एवाकरणे प्रत्यवायात् ।

इदम्पुनरत्रावधेयम् । यत्राभ्युदयिकमङ्गं तत्र तदकरणे प्रत्यवायोन तु कर्म्मवैगुण्यमिति ।

तथा यत्राङ्गं तत्रामुककर्म्माङ्गभूतमाभ्युदयिकश्राद्धमहं करिष्ये इति निमित्तसप्तमीसहितं संकल्पवाक्यं करणीयमिति ।।

प्रकृतमनुसरामः । चूड़ाकर्मादिकइत्यादिपदादुपनयनादिपरिग्रहः । तेन चूड़ाकरणात्प्रक्तनयोर्न्निष्क्रमणान्नप्राशनयोर्नाभ्युदयिकम् । नामकरणे तु विशेषो–पदेशादेवाऽभ्युदयिकानुष्ठानम् । न चादिपदस्य प्रकारार्थत्वान्निष्क्रमणान्नप्राशनयोरपि परिग्रह इति वाच्यम् । नामकरणस्य पृथगुपादानवैयर्थ्यापत्तेः । पुत्रादिमुखदर्शने । पुत्रस्य प्रथममुखदर्शने । अत्र "पुत्राद्यमुखदर्शने" इत्यपि पठन्ति । तेन द्वितीयादिमुखदर्शने न भवति ।। इति ।।

अत्रसंस्कारदीपके विशेषः –

तत्र कात्यायनः ।

"स्वपितृभ्यः पिता दद्यात् सुतसंस्कारकर्म्मणि ।
पिण्डानोद्वाहनात्तेषांतदभा (स्याऽभा) वे तु तत्क्रमात् ।।"इति।

अत्र निष्क्रमणान्नप्राशनातिरिक्तत्वेन सुतसंस्कारपदं सङ्कोचनीयम् । "कन्यापुत्रविवाहेष्वि" –त्याद्युपदर्शितविष्णुपुराणेन सहैकमूलकत्वकल्पना–लाघवात् । सुतेति पुंस्त्वमविवक्षितं तेन सुताया अपि परिग्रहः । सुतापदसुतपदयोः "पुमान् स्त्रिया" (पा० १।२। ६७) इत्येकशेषाद्वा । ओद्वाहनादित्यभिविधावाङ् । वचनान्तरेणैकवाक्यतानुरोधात् । तेन विवाह–पर्यन्तमपत्यसंस्कारजनककर्म्मसु पिता स्वपितृभ्यः पिण्डान्दद्यात् । आभ्युदयिकश्राद्धं कुर्यादित्यर्थः । अङ्गमुखेन प्रधानविधानात् । पुत्रस्य प्रथमविवाह एवाभ्युदयिकं, संस्कारजनककर्मणि प्रकृतवचनेन तद्विधानात् । द्वितीयादेश्च तदजनकत्वात् । संस्कारवति सजातीयसंस्कारान्तरानुत्पत्तेः । इत्थञ्चैतदेकमूलकत्वानुरोधात् "विवाहे पुत्रकस्य चे" ति ब्रह्मपुराणमपि प्रथमविवाहपरमेव द्रष्टव्यम् । तदभावे त्विति । तदभावे संस्कार्यपितुरभावे[1] । तेषां पितृणां कृते दाने प्राप्ते तत्क्रमात् । संस्कार्यक्रमादित्यर्थः। तथा च संस्करणीयः संस्करणीया वा यथा करोत् तथा संस्काराधिकारिणाऽभ्युदयिकं कर्त्तव्यमिति कल्पितोऽर्थः ।

---

१. अभावोऽत्र जीवतः कर्मकर्तृत्वस्य । मरणञ्च । तत्र जीवतः पितृणां कृते पितृसोदरेणाऽपि तत्प्रतिनिधिना तत्कर्मकरणेमाणवकपितृपितेत्यादिरूपेणैवाभ्युदयिकं कार्यम् । मरणपक्षे तु माणवकपितेत्येवमेवेत्युभययथाप्ययं तत्क्रमशब्दार्थः । किन्तु यो यो जीवति तं तं परित्यज्येति सर्वसम्मतः पन्थाः।

इत्थञ्च मातामहादयोऽपि संस्कार्यस्यैवेति लब्धम् ।[1]

यत्तु – तत्क्रमादित्यस्य संस्कार्यपितृक्रमादित्यर्थ इति । तन्न । तु शब्दप्रतिपाद्यपूर्वोक्तव्यवच्छेदानुपपत्तेः । "स्वपितृभ्यः पिता दद्यादि" – त्यनेनैव तल्लाभे "तदभावे तु तत्क्रमादि" ति चतुर्थचरणवैयर्थ्यापत्तेश्चेति सकलनिबन्ध–सिद्धान्त इति दिक् ।

तथा च पितरि जीवत्यन्यः संस्कर्ता संस्करणीयपितृक्रमेणैवश्राद्धं कुर्यात् ।

"अष्टौ संस्कारकर्म्माणि गर्भाधानमिव स्वयम् ।
पिता कुर्यात्तदन्यो वा तस्याभावे तु तत्क्रमात् ।।"

इति वचनात् । वाकारस्वरसे न तस्य पितृवत्कर्त्तव्यप्रतीतेः । यथा गर्भाधानं स्वयमेव कुर्यात्तथा स तदन्यो वा संस्काराष्टकं कुर्यादित्यर्थः ।

शातातपः – "नानिष्ट्वा तु पितॄन् श्राद्धे कर्म्मवैदिकमारभेत् " इति ।

अत्र पितृपदं श्राद्धार्हं पितृपरम् । न तु सम्बन्धिकशब्दत्वेन स्वपितृपरं कर्त्रन्तरेण संस्कार्यपितामहादिश्राद्धकरणप्रसङ्गात् । न चेष्टापत्तिः । शिष्टा–चारविरोधात् । "तदभावे तु तत्क्रमादि"–ति विधिविरोधाच्च । कर्म्मपदञ्च ऋष्यन्तरोक्तविशेषविषयकं बोध्यमिति नातिप्रसङ्गः । इति ।।

मातृकापूजाभ्युदयिकापवादमाह कात्यायनः –

"असकृद्यानि कर्म्माणि क्रियन्ते कर्म्मकारिणा ।
प्रतिप्रयोगं नैव स्युर्मातरः श्राद्धमेव च ।।" इति ।

यानि कर्म्माणि – श्रावण्याग्रहायण्यादीनि । असकृद् – वारम्बारम् । आहिताग्निना क्रियन्ते । तेषु प्रथमप्रयोग एव मातृकापूजाभ्युदयिके भवतः । न तु प्रतिप्रयोगमित्यर्थः ।

तथा – "आधाने होमयोश्चैव वैश्वदेव तथैव च ।
बलिकर्म्मणि दर्शे च पौर्णमासे तथैव च ।।
नवयज्ञे च यज्ञज्ञा वदन्त्येवं महर्षयः ।
एकमेव भवेच्छ्राद्धमेतेषु च पृथक्पृथक् ।।" इति ।

आधाने– अग्न्याधाने । होमयोः सायं प्रातर्होमयोः । नवयज्ञ आग्रयणेष्टिः । एतेषु आधानादिषु प्रतिकर्म न कार्यम्, किन्त्वाधानादेरादौ कृते सर्वेष्वेव कृतं स्याद् इत्यर्थः ।

तथा – "नाष्टकासु भवेच्छ्राद्धं न श्राद्धे श्राद्धमिष्यते ।
न सोष्यन्तीजातकर्म्मप्रोषितागतकर्म्मसु ।।" इति ।।

---

१. तथा चाहुः –"पितरो यस्य पूज्यन्ते तस्य मातामहादयः" इति ।

अष्टकासु – तिसृषु[1] । श्राद्धे–पिण्डपितृयज्ञे । सोष्यन्त्याम् – आसन्न–प्रसवायाः सुखप्रसवनिमित्तमनुष्ठेये सोष्यन्तीहोमे । जातकर्मणि–विप्रकर्षादिना त्वज्ञानवशात्कालान्तरे क्रियमाणे । न तु तत्काल एव क्रियमाणेऽपि । तत्र पुत्रजन्मनिमित्तकस्य विहितत्वेन निषेधानर्थक्यात् । प्रोषितागतकर्मणि । "विप्रोष्य ज्येष्ठस्य पुत्रस्योभाभ्यां पाणिभ्यां मूर्द्धानं परिगृह्य जपेत् " (गो० गृ० २।८।८१) इत्यादिना विहिते प्रवासादागतस्य पितुः पुत्रमूर्द्धादिस्पर्शरूपे च न श्राद्धमित्यर्थः ।

तथा– "विवाहादिः कर्मगणो य उक्तो गर्भाधानं शुश्रुम यस्यचान्ते ।
विवाहादावेकमेवात्र कुर्याच्छ्राद्धं नादौ कर्म्मणः कर्म्मणः स्यात् ।।

इति – अन्ते परसमीपे[2] । विवाहादारभ्य गर्भाधानात्प्राक् यश्चतुर्थी होमांङ्ग–समशनीयचरुहोम – गृहप्रवेश – यानारोहण – चतुष्पथामन्त्रणाऽक्षभङ्गसमाधान–होमादिरूपः कर्म्मगणउक्तः । तत्र विवाहोपक्रम एव श्राद्धं न तु तत्तत्कर्मोपक्रमेऽपीत्यर्थः। एकेनैव श्राद्धेन सर्वाण्यपि तानि श्राद्धवन्तीत्याशयः ।।

तथा – "गणशः क्रियमाणेषु मातृभ्यः पूजनं पृथक् ।
सकृदेव भवेच्छ्राद्धमादौ न पृथगादिषु ।।" इति।

गणशः । समुदायेन एकस्मिन्दिने । क्रियमाणेषु कर्म्मसु । यथा यजनीयेऽहनि नवयज्ञ – वास्तुयज्ञ – गोयज्ञा – ऽश्वयज्ञेषु सर्वोद्देशेनैकमेव मातृपूजनमेकमेव च वृद्धिश्राद्धं न तु कर्म्मसमसंख्याकमित्यर्थः । आग्नेयादीनां षण्णामप्युद्देशेन सकृदेव प्रयाजादिवत् तन्त्रेणैव सिद्धिरिति भावः । अतएवैकस्मिन्दिने क्रियमाणेषु चूड़ाकरणोपनयनादिषु सकृदेवमातृकापूजनमाभ्युदयिकञ्चाचरन्तीति ।।

।। इत्याभ्युदयिकश्राद्धविचारः ।।

——— * ———

१. "ऊर्ध्वमाग्रहायण्यास्तिस्राऽष्टकाः" इति प्रतिज्ञासूत्रात् । वस्तुतस्तु– "चतसृषु" इति व्याख्येयम् । ऐन्द्री–वैश्वदेवी–प्राजापत्या–पित्र्येति तदनन्तरसूत्रे देवताभिधाने चतुर्थ्या अप्युपादानात् । तत्राद्यास्तिस्रोऽष्टकाः पौषादिमासत्रयस्य कृष्णाष्टम्याम्–अपूप मांस–शाकैः क्रमेण होतव्याः । चतुर्थ्यपि आश्विनकृष्णाष्टम्यां कालशाकेन । "तुरीयाशाकाष्टके"ति कण्डिकोपसंहारसूत्रणात् । तुरीया–चतुर्थी ।

२. तथा च पाणिनीयैः परिभाषिते "द्वन्द्वान्ते द्वन्द्वादौ वे"ति वचने परसमीपार्थ एवान्तशब्दः पठित इति न पाणिपिहितं पाणिनीयानाम् ।



गोभिलगृह्यसूत्रपाठ

प्रथमप्रपाठकस्य

[प्रथमकण्डिकायाम्]

१ अथातो गृह्याकर्माण्युपदेक्ष्यामः ।

२ यज्ञोपवीतिमाचान्तोदकेन कृत्यम् ।

३ उदगयने पूर्वपक्षे पुण्येऽहनि प्रागावर्तनादह्नः कालं विद्यात् ।

४ यथादेशश्च ।

५ सर्वाण्येवान्वाहार्यवन्ति ।

६ अपवर्गेऽभिरूपभोजनं यथाशक्ति ।

७ ब्रह्मचारी वेदमधीत्यान्त्यां समिधमभ्याधास्यन् ।

८ जायाया वा पाणिं जिघृक्षन् ।

९ अनुगुप्ता अप आहृत्य, प्रागुदक्प्रवणं देशं समं वा परिसमुह्योपलिप्य मध्यतः प्राचीं लेखामुल्लिख्योदीचीञ्च संहतां पश्चान्मध्ये प्राचीस्तिस्र उल्लिख्याभ्युक्षेत् ।

१० लक्षणावृदेशः सर्वत्र ।

११ भूर्भुवः स्वरित्यभिमुखमग्निं प्रणयन्ति ।

१२ प्रेते वा गृहपतौ परमेष्ठिकरणम् ।

१३ तथा तिथिनक्षत्रपर्वसमवाये ।

१४ दर्शे वा पौर्णमासे वाऽग्निसमाधानं कुर्वीत ।

१५ वैश्यकुलाद् वाऽम्बरीषाद् वाऽग्निमाहृत्याभ्यादध्यात् ।

१६ अपि वा बहुयाजिन एवाऽगाराद् ब्राह्मणस्य वा राजन्यस्य वा वैश्यस्य वा ।

१७ अपि वाऽन्यं मथित्वाऽभ्यादध्यात् ।

१८ पुण्यस्त्वेवाऽनद्धुंको भवतीति ।

१९ यथा कामयेत् तथा कुर्यात् ।

२० स यदेवान्त्यां समिधमभ्यादधाति, जयाया वा पाणिं जिघृक्षन् जुहोति तमभिसंयच्छेत् ।

२१ स एवास्य गृह्योऽग्निर्भवति ।

२२ तेन चैवास्य प्रातराहुतिर्हुता भवतीति ।

२३ सायमाहुत्युपक्रम एवात ऊर्ध्वं गृह्येऽग्नौ होमो विधीयते ।

२४ पुरा प्रादुष्करणवेलायाः सायं प्रातरनुगुप्ता अप आहरेत् परिचरणीयाः ।

२५ अपि वा सायम् ।

२६ अपि वा कुम्भाद् वा मणिकाद्वा गृह्णीयात् ।

२७ पुराऽस्तमयादग्निं प्रादुष्कृत्यास्तमिते सायमाहुतिं जुहुयात् ।

२८ पुरोदयात् प्रातः प्रादुष्कृत्योदितेऽनुदिते वा प्रातराहुतिं जुहुयात् ।

[द्वितीयकण्डिकायाम्]

१ यज्ञोपवीतं कुरुते सूत्रं वस्त्रं वा अपि वा कुशरज्जुमेव ।

२ दक्षिणं बाहुमुद्धृत्य शिरोऽवधाय सव्येऽंसे प्रतिष्ठापयति दक्षिणं कक्षमन्ववलम्बं भवत्येवं यज्ञोपवीती भवति ।

३ सव्यं बाहुमुद्धृत्य शिरोऽवधाय दक्षिणेऽंसे प्रतिष्ठापयति सव्यं कक्षमन्ववलम्बं भवत्येवं प्राचीनावीती

भवति ।

४ पितृयज्ञे त्वेव प्राचीनावीति भवति ।

५ उदङ्ङग्नेरुत्सृप्य प्रक्षाल्य पाणी पादौ चोपविश्य त्रिराचामेत् द्विः परिमृजीत ।

६ पादावभ्युक्ष्य शिरोऽभ्युक्षेत् ।

७ इन्द्रियाण्यद्भिः संस्पृशेत् ।

८ अक्षिणी नासिके कर्णाविति ।

९ यद् यद् मीमांस्यं स्यात् तत् तदद्भिः संस्पृशेत् ।

१० तत्र तदाहुः ।

११ नोपस्पृशेद् व्रजन् ।

१२ न तिष्ठन् ।

१३ न हसन् ।

१४ न विलोकयन् ।

१५ नाऽप्रणतः ।

१६ नाङ्गुलीभिः ।

१७ नातीर्थेन ।

१८ न सशब्दम् ।

१९ नानवेक्षितम् ।

२० न बाह्यांशः ।

२१ नान्तरीयैकदेशस्य कल्पयित्वोत्तरीयताम् ।

२२ नोष्णाभिः ।

२३ न सफेनाभिः ।

२४ न च सोपानत्कः क्वचित् ।

२५ कासक्तिकः ।

२६ गले बद्धः ।

२७ चरणौ न प्रसार्यं च ।

२८ अन्ततः प्रत्युपस्पृश्य शुचिर्भवति ।

२९ हृदयस्पृशस्त्वेवाप आचामेत् ।

३० उच्छिष्टो ष्ठैवातोऽन्यथा भवतीति ।

३१ अथ प्रत्युपस्पर्शनानि ।

३२ सुप्त्वा भुक्त्वा क्षुत्वा स्नात्वा पीत्वा विपरिधाय च रथ्यमाक्रम्य श्मशानञ्चाऽऽचान्तः पुनराचामेत् ।

[तृतीयकण्डिकायाम्]

१ अग्निमुपसमाधाय परिसमुह्य दक्षिणजान्वक्ता दक्षिणेनाग्निम् 'अदितेऽनुमन्यस्वे'त्युदकाञ्जलिं प्रसिञ्चेत् ।

२ 'अनुमतेऽनुमन्यस्वे'ति पश्चात् ।

३ 'सरस्वत्यनुमन्यस्वे'त्युत्तरतः ।

४ 'देव सवितः प्रसुवे'ति प्रदक्षिणमग्निं पर्युक्षेत् सकृद् वा त्रिर्वा ।

५ पर्युक्षणान्तान् व्यतिहरन्नभिपर्युक्षन् होमीयम् ।

६ अथ हविष्यस्यान्नस्याग्नौ जुहुयात् कृतस्य वाऽकृतस्य वा ।

७ अकृतं चेत् प्रक्षाल्य जुहुयात् प्रोदकं कृत्वा ।

८ अथ यदि दधि पयो यवागूं वा ।

९ कंसेन वा चरुस्थाल्या वा स्रुवेण वैव ।

१० अग्नये स्वाहेति पूर्वां तूष्णीमुत्तरां मध्ये चापराजितायाञ्च दिशीति सायम् ।

११ अथ प्रातः सूर्याय स्वाहेति पूर्वां तूष्णीमेवोत्तरां मध्ये चैवापराजितायाञ्चैव दिशि ।

१२ समिधमाधायानुपर्युक्ष्य तथैवोद-

काञ्जलीन् प्रसिञ्चेदन्वमंस्था' इति मन्त्रविशेषः ।

१३ प्रदक्षिणमग्निं परिक्रम्यापां शेषं निनीय पूरयित्वाचमनं प्रतिष्ठाप्य यथार्थम् ।

१४ एवमत ऊर्ध्वं गृह्येऽग्नौ जुहुयाद् वा हावयेद् वा आ जीवितावभृथात् ।

१५ अथाप्युदाहरन्ति ।

१६ कामं गृह्येऽग्नौ पत्नी जुहुयात् सायंप्रातर्होमौ गृहाः पत्नी गृह्य एषोऽग्निर्भवतीति ।

१७ निष्ठिते सायमाशप्रातराशे भूतमिति प्रवाचयेत् ।

१८ न्यूते भगया वाचा शुचिभूत्वा ।

१९ प्रतिजपत्योमित्युच्चैस्तस्मै नमस्तन्माक्षा इत्युपांशु ।

[चतुर्थकण्डिकायाम्]

१ अथ वाग्यतो बलीन् हरेत् ।

२ भाषेतान्नसंसिद्धिमतिथिभिः कामं सम्भाषेत ।

३ अथ हविष्यस्यान्नस्योद्धृत्य हविष्यैर्व्यञ्जनैरुपसिच्याग्नौ जुहुयात् तूष्णीं पाणिनैव ।

४ प्राजापत्या पूर्वाहुतिर्भवति सौविष्टकृत्युत्तरा ।

५ अथ बलीन् हरेद् बाह्यतोऽन्तर्वा सुभूमिं कृत्वा ।

६ सकृदपो निनीय चतुर्धा बलिं निदध्यात् सकृदन्ततः परिषिञ्चेत् ।

७ एकैकं वाऽनुनिधानमुभयतः परिषिञ्चेत् ।

८ स यत् प्रथमं निदधाति स पार्थिवो बलिर्भवत्यथ यद् द्वितीयं स वायव्यो यत् तृतीयं स वैश्वदेवो यच्चतुर्थं स प्राजापत्यः ।

९ अथापरान् बलीन् हरेत् उदधानस्य मध्यमस्य द्वारस्याब्दैवतः प्रथमो बलिर्भवत्योषधिवनस्पतिभ्यो द्वितीय आकाशाय तृतीयः ।

१० अथापरं बलिं हरेच्छयनं वाऽधिवर्चं वा स कामाय वा बलिर्भवति मन्यवे वा ।

११ अथ संस्तूपं स रक्षोजनेभ्यः ।

१२ अथैतद् बलिशेषमद्भिरभ्यासिच्यावसलवि दक्षिणा निनयेत् तत् पितृभ्यो भवति ।

१३ आसीन एवाग्नौ जुहुयात्, आसीनः पितृभ्यो दद्यात् ।

१४ यथोपपादमितरान् ।

१५ स्वयं त्वेवैतान् यावद् वसेद् बलीन् हरेत् ।

१६ अपि वाऽन्यो ब्राह्मणः ।

१७ दम्पती एव ।

१८ इति गृहमेधिव्रतम् ।

१९ स्त्री ह सायं प्रातः पुमानिति ।

२० सर्वस्य त्वेवान्नस्यैतान् बलीन् हरेत् पित्र्यस्य वा स्वस्त्ययनस्य वाऽर्थस्य वा ।

२१ यज्ञादेव निवर्तते ।

२२ यद्येकस्मिन् काले व्रीहियवौ प्रक्रि-

येषामन्यतरस्य कृत्वा कृतं मन्येत ।

२३ यद्येकस्मिन् काले पुनः पुनरन्नं पच्येत सकृदेवैतद् बलितन्त्रं कुर्वीत ।

२४ यद्येकस्मिन् कुले बहुधाऽन्नं पच्येत गृहपतिमहानसादेवैतद् बलितन्त्रं कुर्वीत ।

२५ यस्य त्वेषामग्रतः सिध्येत्, नियुक्तमग्नौ कृत्वाऽग्रं ब्राह्मणाय दत्त्वा भुञ्जीत ।

२६ यस्यो जघन्यं भुञ्जीतैवेति ।

२७ अथाप्युदाहरन्ति । एतस्यैव बलिहरणस्यान्ते कामं प्रब्रूवीत भवति है वास्य ।

२८ स्वयं त्वेवाऽऽशस्यं बलिं हरेद् यवेभ्योऽध्याव्रीहिभ्यः व्रीहिभ्योऽध्यायवेभ्यः स त्वाशस्यो नाम बलिर्भवति ।

२९ दीर्घायुर्हैव भवति ।

३० विश्राणिते फलीकरणानामाचामस्यापामिति बलिं हरेत् स रौद्रो बलिर्भवति स रौद्रो बलिर्भवति ।

पञ्चमकण्डिकायाम्

१ अथ दर्शपौर्णमासयोः ।

२ सन्ध्यां पौर्णमासीमुपवसेत् ।

३ उत्तरामित्येके ।

४ अथ यदहश्चन्द्रमा न दृश्येतताममावास्याम् ।

५ पक्षान्ता उपवस्तव्याः पक्षादयोऽभियष्टव्याः ।

६ आमावास्येन हविषा पूर्वपक्षमभियजते पौर्णमासेनापरपक्षम् ।

७ यः परमो विकर्षः सूर्याचन्द्रमसोः सा पौर्णमासी यः परमः सङ्कर्षः साऽमावास्या ।

८ यदहस्त्वेव चन्द्रमा न दृश्येत माममावास्यां कुर्वीत ।

९ दृश्यमानेऽप्येकदा ।

१० गताध्वा भवतीति ।

११ त्रयः पौर्णमासीकाला भवन्ति सन्ध्या वाऽस्तमितोदिता वोच्चैर्वा ।

१२ अथ यदहः पूर्णो भवति ।

१३ पृथगेवैतस्य ज्ञानस्याध्यायो भवति अधीवीत वा तद्विद्भ्यो वा पर्वाऽऽगमयेत ।

१४ अथ यदहरुपवसथो भवति तदहः पूर्वाह्ण एव प्रातराहुतिं हुत्वैतदग्नेः स्थण्डिलं गोमयेन समन्तं पर्युपलिम्पति ।

१५ अथेध्मानुपकल्पयते खादिरान् वा पालाशान् वा ।

१६ खादिर-पालाशालाभे विभीदक-तिल्वक-बाधक-नीव- निम्ब-राजवृक्ष-शाल्मल्य रलु दधित्थ-कोविदार श्लेष्मातकवर्जं सर्ववनस्पतीनामिध्मो यथार्थं स्यात् ।

१७ विशाखानि प्रतिलूनाः कुशा बर्हिः ।

१८ उपमूललूनाः पितृभ्यः ।

१९ तेषामलाभे शूकतृणशरशीर्यबल्वजमुतवनललुण्ठवर्जं सर्वतृणानि ।

२० आज्यं स्थालीपाकीयान् व्रीहीन् वा यवान् वा चरुस्थालीं मेक्षणं स्रुवमनुगुप्ता अप इति ।

२१ यानि चानुकल्पमुदाहरिष्यामः ।

२२ न तदहः परिसृज्येत ।

२३ दूरादपि गृहानभ्येयात् ।

२४ अन्यतस्तु धनं क्रीणीयान्न विक्रीणीत ।

२५ अबहुवादी स्यात् ।

२६ सत्यं विवदिषेत् ।

२७ अथापराह्ण एवाऽऽप्लुत्यौपवसथिकं दम्पती भुञ्जीयातां यदेनयोः काम्यं स्यात् सर्पिर्मिश्रं स्यात् कुशलेन ।

[षष्ठकण्डिकायाम्]

१ मानतन्तव्यो होवाचाहुता वा एतस्य मानुष्याहुतिर्भवति य औपवसथिकं नाश्नाति ।

२ अनीश्वरो ह क्षोधुको भवत्यकाम्यो जनानां पापवसीयसी हाऽस्य प्रजा भवति ।

३ य औपवसथिकं भुङ्क्ते ईश्वरो ह भवत्यक्षोधुकः काम्यो जनानां वसीयसी हाऽस्य प्रजा भवति ।

४ तस्माद् यत् कामयेतौपवसथिकं भुञ्जीयाताम् ।

५ अध एवैतां रात्रिं शयीयाताम् ।

६ तौ खलु जाग्रन्मिश्रावेवैतां रात्रिं विहरेयाताम् इतिहासमिश्रेण वा केनचिद् वा ।

७ जुगुप्सेवातां त्वेवाव्रतेभ्यः कर्णेभ्यः ।

८ न प्रवसन्नुपवसेदित्याहुः ।

९ पत्न्या व्रतं भवतीति ।

१० यथा कामयेत तथा कुर्यात् ।

११ एवमेवाऽऽहिताग्नेरप्युपवसथो भवति ।

१२ यत्राऽऽम्नायो विद्व्यात् ।

१३ अथ पूर्वाह्ण एव प्रातराहुतिं हुत्वाऽग्रेणाग्निं परिक्रम्य दक्षिणतोऽग्नेः प्रागग्रान् दर्भानास्तीर्य ।

१४ तेषां पुरस्तात् प्रत्यङ् मुखस्तिष्ठन् सव्यस्य पाणेरङ्गुष्ठेनोपकनिष्ठिकयाचाङ्गुल्या ब्रह्मा आसनात् तृणमभिसंगृह्य दक्षिणापरमष्टमदेशं निरस्यति–'निरस्तः परावसुरिति' ।

१५ अप उपस्पृश्याथ ब्रह्मा आसने उपविशत्या वसोः सदने सीदामी'ति ।

१६ अग्निमभिमुखो वाग्यतः प्राञ्जलिरास्ते आ कर्मणः पर्यवसानात् ।

१७ भाषेत यज्ञसंसिद्धिम् ।

१८ नायज्ञियां वाचं वदेत् ।

१९ यद्ययज्ञियां वाचं वदेद् वैष्णवीमृचं यजुर्वा जपेत् ।

२० अपि वा 'नमो विष्णवे' इति ब्रूयात् ।

२१ यद्यु वा उभयं चिकीर्षेद होत्रञ्चैव ब्रह्मत्वं चेवैतेनैव कल्पेन छत्रं वोत्तरा सङ्गं वोदकमण्डलुं दर्भवटुं वा ब्रह्मासने निधाय

तेनैव प्रत्याव्रज्याथान्यच्चेष्टेत् ।

[सप्तमकण्डिकायाम्]

१ अथोलूखल-मुषले प्रक्षाल्य सूर्पञ्च पश्चादग्नेः प्रागग्रान् दर्भानास्तीर्योप सादयति ।

२ अथ हविर्निर्वपति व्रीहिन् वा यवान् वा कंसेन वा चरुस्थाल्या वा ।

३ अमुष्मै त्वा जुष्टं निर्वपामीति देवता नामादेशं सकृद् द्विष्तूसणीम् ।

४ अथ पश्चात् प्राङ् मुखोऽवहन्तुमुपक्रमते दक्षिणोत्तराभ्यां पाणिभ्याम् ।

५ त्रिः फलीकृतांस्तण्डुलांस्त्रिर्देवेभ्यः प्रक्षालयेदित्याहुर्द्विर्मनुष्येभ्यः सकृत् पितृभ्य इति ।

६ पवित्रान्तर्हितांस्तण्डुलानावपेत् ।

७ कुशलश्रृतमिव स्थालीपाकं श्रपयेत् प्रदक्षिणमुदायुवन् ।

८ श्रृतमभिघार्योदगुदवास्य प्रत्यभिघारयेत ।

९ अग्निमुपसमाधाय कुशैः समन्तं परिस्तृणुयात्, पुरस्ताद् दक्षिणगत उत्तरतः पश्चादिति ।

१० सर्वतस्त्रिवृतं पञ्चवृतं वा ।

११ बहुलमयुग्मसंहतम् ।

१२ प्रागग्रै रग्रैर्मूलानि च्छादयन् ।

१३ पश्चाद् वास्तीर्यं दक्षिणतः प्राञ्चं प्रकर्षति तथोत्तरेण दक्षिणोत्तराण्यग्राणि कुर्यात् ।

१४ एष परिस्तरणन्यायः सर्वेष्वाहुतिमत्सु ।

१५ परिधीनप्येके कुर्वन्ति शामीलान् पार्णान् वा ।

१६ उत्तरतोऽपां पूर्णः स्रुवः प्रणीताः ।

१७ भावे न वा स्यादित्येके ।

१८ बर्हिषि स्थालीपाकमासाद्येध्ममभ्याधायाऽऽज्यं संस्कुरुते, सर्पिस्तैलं दधि पयो यवागूं वा ।

१९ तत एव बर्हिषः प्रादेशमात्रे पवित्रे कुरुते ।

२० ओषधिमन्तर्धाय छिनत्ति न नखेन 'पवित्रे स्थो वैष्णव्या'विति ।

२१ अथैने अद्भिरनुमार्ष्टि 'विष्णोर्मनसा पूते स्थः' इति ।

२२ सम्पूयोत्पुनात्युदगग्राभ्यां पवित्राभ्याम् ।

२३ अङ्गुष्ठाभ्यां चोपकनिष्ठिकाभ्यां चाङ्गुलिभ्यामभिसंगृह्य प्राक्शस्त्रिरुत्पुनाति, 'देवस्त्वा सवितोत्पुनात्वच्छिद्रेण पवित्रेण वसोः सूर्यस्य रश्मिभिरि'ति सकृद् यजुषा द्विष्तूष्णीम् ।

२४ अथैने अद्भिरभ्युक्ष्याग्नावभ्यजंयेत् ।

२५ अथैतदाज्यमधिश्रित्योदगुद्वासयेत् ।

२६ एवमाज्यस्य तंस्करणकल्पो भवतीति ।

[अष्टमकण्डिकायाम्]

१ पूर्वमाज्यमपरः स्थालीपाकः ।

२ पर्युक्ष्य स्थालीपाक आज्यमानीय मेक्षणेनोपघातं होतुमेवोपक्रमते ।

३ यद्यु वा उपस्तीर्णाभिघारितं

जुहुयात् ।

४ आज्यभागावेव प्रथमौ जुहुयात् ।

५ चतुर्गृहीतमाज्यं गृहीत्वा पश्चावत्तन्तु भृगूणामग्नये स्वाहे'त्युत्तरतः 'सोमाय स्वाहे'ति दक्षिणतः प्राक्शो जुहुयात् ।

६ अथ हविष उपस्तीर्याविद्यति ।

७ मध्यात् पूर्वार्धात् चतुरवत्ती चेद् भवति मध्यात् पूर्वार्धात् पश्चार्धादिति पञ्चावत्ती चेद् भवति ।

८ अभिघारयत्यवदानानि प्रत्यनक्त्यवदानस्थानान्ययातयामतायै ।

९ अग्नये स्वाहेति मध्ये जुहुयात् सकृद् वा त्रिरेवैतेनैव कल्पेन ।

१० अथ स्विष्टकृत उपस्तीर्याविद्यत्युत्तरार्धपूर्वार्धात् सकृदेव भूयिष्ठं द्विरभिघारयेत् ।

११ यद्य् पञ्चावत्ती स्याद् द्विरुपस्तीर्यावदाय द्विरभिघारयेत् ।

१२ न प्रत्यनक्त्यवदानस्थानं यातयामतायै ।

१३ अग्नये स्विष्टकृते स्वाहेत्युत्तरार्धपूर्वार्धे जुहुयात् ।

१४ महाव्याहृतिभिराज्येनाभिजुहुयात् ।

१५ प्राक् स्विष्टकृत आवापः ।

१६ गणेष्वेकं परिसमूहनमिध्मो बर्हिः पर्युक्षणमाज्यमाज्यभागौ च ।

१७ सर्वेभ्यः समवदाय सकृदेव सौविष्टकृतं जुहोति ।

१८ हुत्वैतन्मेक्षणमनुप्रहरेत् ।

१९ प्रक्षाल्य वैनेनोद्धृत्य भुञ्जीत ।

२० न स्रु्वमनुप्रहरेदित्येक आहुः ।

२१ आग्नेय एवानाहिताग्नेरुभयोर्दर्शपूर्णमासयोः स्थालीपाकः स्यात् ।

२२ आग्नेयो वाऽग्नीषोमीयो वाहिताग्नेः पौर्णमास्याम् ।

२३ ऐन्द्रो वैन्द्राग्नो माहेन्द्रो वा अमावास्यायाम् ।

२४ अपि वाहिताग्नेरप्युभयोर्दर्शपूर्णमासयोराग्नेय एव स्यात् ।

२५ समिधमाधायानुपर्युक्ष्य यज्ञवास्तु करोति ।

२६ तत एव बर्हिषः कुशमुष्टिमादायाऽऽज्ये वा हविषि वा त्रिरवदध्यादग्राणि मध्यानि मूलानी'त्यक्तं रिहाणा व्यन्तु वयः' इति ।

२७ अथैनमद्भिरभ्युक्ष्याग्नावप्यर्जयेत्—'यः पशूनामधिपती रुद्रस्तन्तिचरो वृषा, पशूनस्माकं मा हिंसीरेतदस्तु हुतं तव स्वाहा' इति ।

२८ एतद् यज्ञवास्त्वित्याचक्षते ।

[नवमकण्डिकायाम्]

१ अथैतद्धविरुच्छिष्टमुदगुदवास्योद्धृत्य ब्रह्मणे प्रयच्छेत् ।

२ तं तितर्पयिषेत् ।

३ ब्राह्मणस्य तृप्तिमनुतृप्यामीति ह यज्ञस्य वेदयन्ते ।

४ अथ यदस्यान्यदन्नमुपसिद्धं स्यात् ।

५ अथ ब्राह्मणान् भक्तेनोपेप्सेत् ।

६ पूर्णपात्रो दक्षिणा तं ब्रह्मणे दद्यात् ।

७ कंसं चमसं वाऽन्नस्य पूरयित्वा कृतस्य वाऽकृतस्य वाऽपि वा फलानामेवैतं पूर्णपात्रमित्याचक्षते ।

८ ब्रह्मवैक ऋत्विक् पाकयज्ञेषु स्वयं होता भवति ।

९ पूर्णपात्रोऽवमः पाकयज्ञानां दक्षिणा ।

१० अपरिमितं परार्ध्यम् ।

११ अपि ह सुदाः पैजवन ऐन्द्राग्नेन स्थालीपाकेनेष्ट्वा शतं सहस्राणि ददौ ।

१२ अथ यदि गृह्येऽग्नौ सायं प्रातर्होमयोर्वा दर्शपूर्णमासयोर्वा हव्यं वा होतारं वा नाधिगच्छेत् कथं कुर्यादिति ।

१३ आ सायमाहुतेः प्रातराहुतिर्नात्येत्या प्रातराहुतेः सायमाहुतिरमावास्यायः पौर्णमासं नात्येत्या पौर्णमास्या आमावास्यम् ।

१४ एते नैवावकाशेन हव्यं वा होतारं वा लिप्सेत् ।

१५ अपि वा यज्ञियानामेवौषधिवनस्पतीनां फलानि वा पलाशानि वा श्रपयित्वा जुहुयात् ।

१६ अप्य एवान्ततो जुहुयादित ह स्माह पाकयज्ञ ऐडो हुतं ह्येव ।

१७ अहुतस्य प्रायश्चित्तं भवतीति ।

१८ नाव्रतो ब्राह्मणः स्यादिति ।

१९ अथाप्युदाहरन्ति यावन्न ह्येताभोजनेनैव तावत् सन्तनुयात्, अथ यदाऽधिगच्छेत् प्रतिजुहुयात् एवमप्यस्य व्रतं सन्ततं भवतीति ।

२० एषोऽत ऊर्द्ध्वं हविराहुतिषु न्यायः ।

२१ मन्त्रान्ते स्वाहाकारः ।

२२ आज्याहुतिष्वाज्यमेव संस्कृत्योपघातं जुहुयात् नाज्यभागौ न स्विष्टकृत् ।

२३ आज्याहुतिष्वनादेशे पुरस्ताच्चोपरिष्टाच्च महाव्याहृतिभिर्होमः ।

२४ यथा पाणिग्रहणे तथा चूडाकर्मण्युपनयने गोदाने च ।

२५ अप्रवृत्ते कर्मणि वामदेव्यगानं शान्त्यर्थं शान्त्यर्थम् ।

—*—

द्वितीयप्रपाठकस्य

[प्रथमकण्डिकायाम्]

१ पुण्ये नक्षत्रे दारान् कुर्वीत ।

२ लक्षणप्रशस्तान् कुशलेन ।

३ तदलाभे पिण्डान् ।

४ वेद्याः सीताया ह्रदाद् गोष्ठाच्चचतुष्पथादादेवनादादहनादीरिणात् सर्वेभ्य सम्भार्यं नवमम् ।

५ समान् कृतलक्षणान् ।

६ प्राणावधाय कुमार्या उपनामयेद् 'ऋतमेव प्रथममृतं नात्येति कश्चनर्तं इयं पृथिवी श्रिता सर्वमिदमसौ भूयादि'ति तस्य नाम गृहीत्वैषामेकं गृहाणेति ब्रूयात् ।

७ पूर्वेषां चतुर्णां गृह्णन्तीमुपयच्छेत् ।

८ संभार्यमपि त्वेके ।

९ क्लीतकैर्यवैर्माषैर्वाप्लुतां सुहृत् सुरोत्तमेन सशरीरां त्रिमूर्धन्यभिषिञ्चेत् 'काम वेद ते नाम मदो नामासीति, समानयामुमि'ति पतिनाम गृह्णीयात् स्वाहाकारान्ताभिरुपस्थम् उत्तराभ्यां प्लावयेत् ।

१० ज्ञातिकर्मैतत् ।

११ पाणिग्रहणे पुरस्ताच्छालया अग्निरुपसमाहितो भवति ।

१२ अथ जन्यानामेको ध्रुवाणामपां कलसं पूरयित्वा सहोदकुम्भः प्रावृतो वाग्यतोऽग्रेणाग्निं परिक्रम्य दक्षिणत उदङ्मुखोऽवतिष्ठते ।

१३ प्राजनेनान्यः ।

१४ शमीपलाशमिश्रांश्च लाजांश्चतुरञ्जलिमात्राञ्छूर्पेणोपसादयन्ति पश्चादग्नेः ।

१५ दृशत् पुत्रश्च ।

१६ अथ यस्याः पाणिं ग्रहीष्यन् भवति सशिरस्का साप्लुता भवति ।

१७ अहतेन वसनेन पतिः परिदध्याद् 'या अकृन्तन्नि'त्येतया ऋचा ।

१८ परिधत्त धत्त वाससेति च प्रावृतां यज्ञोपवीतिनीम् अभ्युदानयञ्जपेत् सोमोऽददद् गन्धर्वायेति ।

१९ पश्चादग्नेः संवेष्टितं कटमेवं जातीयं वाऽन्यत् पदा प्रवर्तयन्तीं वाचयेत्—प्र मे पति या नः पन्थाः कल्पतामिति ।

२० स्वयं जपेदजपन्त्यां प्रास्या इति ।

२१ बर्हिषोऽन्तं कटान्तं प्रापयेत् ।

२२ पूर्वे कटान्ते दक्षिणतः पाणिग्राहस्योपवशति ।

२३ दक्षिणेन पाणिना दक्षिणमंसमन्वारब्धायाः षडाज्याहुतीर्जुहोत्यग्निरेतु प्रथम इत्येतत्प्रभृतिभिः ।

२४ महाव्याहृतिभिश्च पृथक् ।

२५ समस्ताभिश्चतुर्थीम् ।

[द्वितीयकण्डिकायाम्]

१ हुत्वोपोत्तिष्ठतः ।

२ अनुपृष्ठं पतिः परिक्रम्य दक्षिणत उदङ्मुखोऽवतिष्ठते बध्वञ्जलिं गृहीत्वा ।

३ पूर्वा माता लाजानादाय भ्राता वा वधूमाक्रामयेदश्मानं दक्षिणेन प्रपदेन ।

४ पाणिग्राहो जपति इममश्मानमारोहेति ।

५ सकृत् संगृहीतं लाजानामञ्जलिं भ्राता वध्वञ्जलावावपति ।

६ तं सोपस्तीर्णाभिघारितमग्नौ जुहोत्यविच्छिन्दत्यञ्जलिम्—इयं नार्युपब्रूते इति ।

७ अर्यमणं नु देवं पूषणमित्युत्तरयोः ।

८ हुते पतिर्यथेतं परिव्रज्य दक्षिणमग्निं परिणयति मन्त्रवान् वा ब्राह्मणः कन्यला पितृभ्यः इति ।

९ परिणीता तथैवावतिष्ठते तथाक्रामति तथा जपति तथावपति तथा जुहोति एवं त्रिः ।

१० शूर्पेण शेषमग्नावोप्य प्रागुदीचीमभ्युत्क्रामयन्ति—एकमिषे इति ।

११ दक्षिणेन प्रक्रम्य सव्येनानुक्रामेत् ।

१२ मा सव्येन दक्षिणमतिक्रामेति ब्रूयात् ।

१३ ईक्षकान् प्रति मन्त्रयेत् सुमङ्गलीरियं वधूरिति ।

१४ अपरेणाग्निमौदकोऽनुसंव्रज्य पाणिग्राहं मूर्धदेशेऽवसिञ्चति तथेतरां समञ्जन्त्वित्येतयर्चा ।

१५ अवसिक्तायाः सव्येन पाणिनाऽञ्जलिमुपोदगृह्य दक्षिणेन पाणिना दक्षिणं पाणिं साङ्गुष्ठमुत्तानं गृहीत्वैताः षट् पाणिग्रहणीया जपति—गृभ्णामि ते इति समाप्तासु ।

[तृतीयकण्डिकायाम्]

१ उद्वहन्ति प्रागुदीच्यां दिशि यद् ब्राह्मणं कुलमभिरूपम् ।

२ तत्राग्निरुपसमाहितो भवति ।

३ अपरेणाग्निमानडुहं रोहितं चर्म प्राग्ग्रीवम् उत्तरलोमाऽऽस्तीर्णं भवति ।

४ तस्मिन्नेनां वाग्यतामुपवेशयन्ति ।

५ सा खल्वास्त एव आ नक्षत्रदर्शनात् ।

६ प्रोक्ते नक्षत्रे षडाज्याहुतीर्जुहोति 'लेखासन्धिष्वि'त्येतत्प्रभृतिभिः ।

७ आहुतेराहुतेस्तु सम्पातं मूर्धनि बध्वा अवनयेत् ।

८ हुत्वोपोत्थायोपनिष्क्रम्य ध्रुवं दर्शयति ।

९ ध्रुवमसि ध्रुवाऽहं पतिकुले भूयासम् अमुष्यासाविति पतिनाम गृह्णीयादात्मनश्च ।

१० अरुन्धतीं च ।

११ रुद्धाऽहमस्मीत्येवमेव ।

१२ अथैनामनुमन्त्रयते ध्रुवा द्यौरित्येतयर्चा ।

१३ अनुमन्त्रिता गुरुं गोत्रेणाभिवादयते ।

१४ सोऽस्या वाग्विसर्गः ।

१५ तावुभौ तत्प्रभृति त्रिरात्रमक्षारलवणाशिनौ ब्रह्मचारिणौ भूमौ सह शयीयाताम् ।

१६ अत्रार्घ्यमित्याहुः ।

१७ आगतेष्वित्येके ।

१८ हविष्यमन्नं प्रथमं परिजपितं भुञ्जीत ।

१९ श्वोभूते वा समश्नीयं स्थालीपाकं कुर्वीत ।

२० तस्य देवता अग्निः प्रजापतिर्विश्वेदेवा अनुमतिरिति ।

२१ उद्धृत्य स्थालीपाकं व्युह्यैकदेशं पाणिनाऽभिमृशेत्रपाशेन मणि-

नेति ।

२२ भुक्त्वोच्छिष्टं वध्वै प्रदाय यथार्थं गौर्दक्षिणा ।

[चतुर्थकण्डिकायाम्]

१ यानमारोहन्त्यां सु-किंशुकं शाल्मलिमित्येतामृचं जपेत् ।

२ अध्वनि चतुष्पथान् प्रतिमन्त्रयेत, नदीश्च विषमाणि च महावृक्षान् श्मशानञ्च—'मा विदन् परिपन्थिन' इति ।

३ अक्षभङ्गे नद्धविमोक्षे यानविपर्यासेऽन्यासु चाऽऽपत्सु यमेवाग्निं हरन्ति तमेवोपसमाधाय व्याहृतिभिर्हुत्वाऽन्यद् द्रव्यमाहृत्य 'य ऋते चिदभिश्रिष' इत्याज्यशेषेणाऽभ्यञ्जेत् ।

४ वामदेव्यं गीत्वारोहेत् ।

५ प्राप्तेषु वामदेव्यं ।

६ गृहागतां पतिपुत्रशीलसम्पन्ना ब्राह्मण्योऽवरोप्याऽऽनडुहे चर्मण्युपवेशयन्ति—इह गावः प्रजायध्वमिति ।

७ तस्याः कुमारमुपस्थ आदध्युः ।

८ तस्मै शकलोद्यानञ्जलावावपेयुः फलानि वा ।

९ उत्थाप्यकुमारं ध्रुवा आज्याहुतीर्जुहोत्यष्टाविह धृतिरिति ।

१० समाप्तासु समिधमाधाय यथावयसं गुरून् गोत्रेणाभिवाद्य यथार्थम् ।

[पञ्चमकण्डिकायाम्]

१ अथातश्चतुर्थीकर्म ।

२ अग्निमुपसमाधाय प्रायश्चित्ताज्याहुतीर्जुहोति अग्ने प्रायश्चित्त इति चतुः ।

३ अग्नेः स्थाने वायुचन्द्रसूर्याः ।

४ समस्य पञ्चमीं बहुवद्रूह्य ।

५ आहुतेराहुतेस्तु सम्पातमुदपात्रेऽवनयेत् ।

६ तेनैनां सकेशनखामभ्यज्य ह्लासगित्वा प्लावयन्ति ।

७ ऊर्द्ध्वं त्रिरात्रात् सम्भव इत्येके ।

८ यदर्तुमती भवत्युपरतशोणिता तदा सम्भवकालः ।

९ दक्षिणे पाणिनोपस्थमभिमृशेद् विष्णुर्योनिं कल्पयत्वित्येतयर्चा गर्भं धेहि सिनीवालीति च ।

१० समाप्यर्चौ सम्भवतः ।

[षष्ठकण्डिकायाम्]

१ तृतीयगर्भमासस्याऽऽदिसदेशे पुंसवनस्य कालः ।

२ प्रातः सशिरस्काप्लुतोदगग्रेषु दर्भेषु पश्चादग्नेरुदगग्रेषु दर्भेषु प्राच्युपविशति ।

३ पश्चात् पतिरवस्थाय दक्षिणेन पाणिना दक्षिणमंसमन्ववमृश्यानन्तर्हितं नाभिदेशमभिमृशेत् पुमांसौ मित्रावरुणावित्येतयर्चा ।

४ अथ यथार्थम् ।

५ अथापरम् ।

६ प्रागुदीच्यां दिशि न्यग्रोधशुङ्गामु-

भयतःफलामस्रामामकृमिपरिसृप्तां त्रिःश्वेतैर्यवैर्माषैर्वा परिक्रीयोत्था-पयेत् ।

७ यद्यसि सौमी सोमाय त्वा राज्ञे परिक्रीणामि, यद्यसि वारुणी वरुणाय त्वा राज्ञे परिक्रीणामि, यद्यसि वसुभ्यो वसुभ्यस्त्वा परिक्रीणामि यद्यसि रुद्रेभ्यो रुद्रेभ्यस्त्वा परिक्रीणामि, यद्यस्यादित्येभ्य आदितेभ्यस्त्वा परिक्रीणामि, यद्यसि मरुद्भ्यो मरुद्भ्यस्त्वा परिक्रीणामि, यद्यसि विश्वेभ्यो देवेभ्यो विश्वेभ्यो देवेभ्यस्त्वा परिक्रीणामि, ओषधयः सुमनसो भूत्वाऽस्यां वीर्यं समाधत्तेयं कर्म करिष्यति इत्युत्थाप्य तृणैः परिवायाऽऽहृत्य वैहायसीं निदध्यात् ।

८ दृषदं प्रक्षाल्य ब्रह्मचारी व्रतवती वा ब्रह्मबन्धुः कुमारी वाऽप्रत्याहरन्ति पिनष्टि ।

९ प्रातः सशिरस्काप्लुतोदगग्रेषु दर्भेषु पश्चादग्नेरुदगग्रेषु दर्भेषु प्राक्शिराः संविशति ।

१० पश्चात् पतिरवस्थाय दक्षिणस्य पाणेरङ्गुष्ठेन उपकनिष्ठिकया चाऽङ्गुल्याऽभिसंगृह्य दक्षिणे नासिकास्रोतस्यवनयेत् — पुमानग्निः पुमानिन्द्र इत्येतयर्चा ।

११ अथ यथार्थम् ।

[सप्तमकण्डिकायाम्]

१ अथ सीमन्तकरणम् ।

२ प्रथमगर्भे चतुर्थे मसि षष्ठेऽष्टमे वा ।

३ प्रातः सशिरस्काप्लुोदगग्रेषु दर्भेषु पश्चादग्नेरुदगग्रेषु दर्भेषु प्राच्युपविशति ।

४ पश्चात् पतिरवस्थाय युग्मं तमौदुम्बरं शलाटुग्रथनमाबध्नाति—अयमूर्जावतो वृक्ष इति ।

५ अथ सीमन्तमूर्ध्वमुन्नमयति भूरिति दर्भपिञ्जुलीभिरेव प्रथमं भुवरिति द्वितीयं स्वरिति तृतीयम् ।

६ अथ वीरतरेण येनादितेरित्येतयर्चा ।

७ अथ पूर्णचात्रेण राकामहमित्येतयर्चा ।

८ त्रिश्वेतया च शलल्या यास्ते राके सुमतय इति ।

९ कृसरः स्थालीपाक उत्तरधृतस्तमवेक्षयेत् ।

१० किं पश्यसीत्युक्त्वा प्रजामिति वाचयेत् ।

११ तं सा स्वयं भुञ्जीत ।

१२ वीरसूर्जीवसूर्जीवपत्नीति ब्राह्मण्यो मङ्गल्याभिर्वाग्भिरुपासीरन् ।

१३ अथ सोष्यन्तीहोमः ।

१४ प्रतिष्ठिते वस्तौ परिस्तीर्याग्निमाज्याहुती जुहोति—या तिरश्चीत्येतयर्चा विपश्चित् पुच्छमभरदिति च ।

१५ पुमानयं जनिष्यतेयऽसौ नामेति नामधेयं गृह्णाति यत् तद् गुह्यमेव भवति ।

१६ यदाऽस्मै कुमारं जातमाचक्षीरन्नथं ब्रूयात् काङ्क्षत नाभिकृन्तनेन

स्तनप्रतिधानेन चेति ।

१७ व्रीहियवौ पेषयेत् तयैवाऽवृता यया शुङ्गाम् ।

१८ दक्षिणस्य पाणेरङ्गुष्ठेनोपकनिष्ठिकया चाङ्गुल्याऽभिसंगृह्य कुमारस्य जिह्वां निर्मार्ष्टि इयमाज्ञेति ।

१९ तथैव मेधाजननं सर्पिः प्राशयेत् जातरूपेण वा आदाय कुमारस्य मुखे जुहोति—मेधां ते मित्रावरुणावित्येतयर्चा सदसस्पतिमद्भुतमिति च ।

२० कृन्तत नाभिमिति ब्रूयात् स्तनञ्च प्रतिधत्तेति ।

२१ अत ऊर्ध्वमसमालम्भनम् आ दशरात्रात् ।

[अष्टमकण्डिकायाम्]

१ जननाद् यस्तृतीयो ज्यौत्स्नस्तस्य तृतीयायां प्रातः सशिरस्कं कुमारमाप्लाव्यास्तमिते श्रीते लोहितिम्नि अञ्जलिकृतः पितोपतिष्ठते ।

२ अथ माता शुचिना वसनेन कुमारमाच्छाद्य दक्षिणत उदञ्चं पित्रे प्रयच्छत्युदक्शिरसम् ।

३ अनुपृष्ठं परिक्रम्योत्तरतोऽवतिष्ठते ।

४ अथ जपति—यत्ते सुसीम इति यथाऽयं न प्रमीयेत पुत्रो जनित्र्या अधि इति ।

५ उदञ्चं मात्रे प्रदाय यथार्थम् ।

६ अथ येऽत ऊर्ध्वं ज्यौत्स्नाः प्रथमोदिष्ट एव तेषु पितोपतिष्ठितेऽपामञ्जलिं पूरयित्वाऽभिमुखश्चन्द्रमसम् ।

७ यददश्चन्द्रमसीति सकृद् यजुषा द्विस्तूष्णीमुत्सृज्य यथार्थम् ।

जननाद् दशरात्रे व्युष्टे शतरात्रे संवत्सरे वा नामधेयकरणम् ।

९ अथ यस्तत् करिष्यन् भवति पश्चादग्नेरुदगग्रेषु दर्भेषु प्राङुपविशति ।

१० अथ माता शुचिना वसनेन कुमारमाच्छाद्य दक्षिणत उदञ्चं कर्त्रे प्रयच्छत्युदक्शिरसम् ।

११ अनुपृष्ठं परिक्रम्योत्तरत उपविशत्युदगग्रेष्वेव दर्भेषु ।

१२ अथ जुहोति प्रजापतये तिथये नक्षत्राय देवताया इति ।

१३ तस्य मुख्यान् प्राणान् संस्पृशन् कोऽसि कतमोऽसीत्येतन्मन्त्रं जपति ।

१४ आहस्पत्यं मासं प्रविशासावित्यन्ते च मन्त्रस्य घोषवदाद्यन्तरन्तस्थं दीर्घाभिनिष्ठानान्तं कृतं नाम दध्यात् ।

१५ एतदतद्धितम् ।

१६ अयुग्दान्तं स्त्रीणाम् ।

१७ मात्रे चैव प्रथमं नामधेयमाख्याय यथार्थम् ।

१८ गौर्दक्षिणा ।

१९ कुमारस्य मासि मासि संवत्सरे सांवत्सरिकेषु वा पर्वस्वग्नीन्द्रौ

द्यावापृथिवी विश्वान् देवांश्च यजेत ।

२० दैवतमिष्ट्वा तिथिं नक्षत्रं च यजेत ।

२१ विप्रोष्य ज्येष्ठस्य पुत्रस्याभिभ्यां पाणिभ्यां मूर्धानं परिगृह्य जपेत्, यदा वा पिता म इति विद्यादुपेतस्य वा अङ्गादङ्गात् संश्रवसीति ।

२२ पशूनां त्वा हिङ्कारेणाभिजिघ्रामीत्यभिजिघ्रय यथार्थम् ।

२३ एवमेवावरेषां यथाज्येष्ठं यथोपलम्भं वा ।

२४ स्त्रियास्तूष्णीं मूर्धन्यभिजिघ्रणं मूर्धन्यभिजिघ्रणम् ।

[नवमकण्डिकायाम्]

१ अथातस्तृतीये वर्षे चूडाकरणम् ।

२ पुरस्ताच्छालया उपलिप्तेऽग्निरुपसमाहितो भवति ।

३ तत्रैतान्युपक्लृप्तानि भवन्ति ।

४ एकविंशतिर्दर्भपिञ्जुल्य उष्णोदककंस औदुम्बरः क्षुर आदर्शो वा क्षुरपाणिर्नापित इति दक्षिणतः ।

५ आनडुहो गोमयः कृसरः स्थालीपाको वृथापक्व इत्युत्तरतः ।

६ व्रीहियवैस्तिलमाषैरिति पृथक् पात्राणि पूरयित्वा पुरस्तादुपनिदध्युः ।

७ कृसरो नापिताय सर्वबीजानि चेति ।

८ अथ माता शुचिना वसनेन कुमारमाच्छाद्य पश्चादग्नेरुदगग्रेषु दर्भेषु प्राच्युपविशति ।

९ अथ यस्तत् करिष्यन् भवति पश्चात् प्राङवतिष्ठते ।

१० अथ जपत्यायमगात् सविता क्षुरेणेति सवितारं मनसा ध्यायन् नापितं प्रेक्षमाणः ।

११ उष्णेन वाय उदकेनैधीति वायुं मनसा ध्यायन्नुष्णोदककंसं प्रेक्षमाणः ।

१२ दक्षिणेन पाणिनाऽप आदाय दक्षिणां कपुष्णिकाम् उन्दत्याप उन्दन्तु जीवसे इति ।

१३ विष्णोर्दंष्ट्रोऽसीत्यौदुम्बरं क्षुरं प्रेक्षत आदर्शं वा ।

१४ ओषधे त्रायस्वैनमिति सप्त दर्भपिञ्जुलीर्दक्षिणायां कपुष्णिकायामभिशिरोग्रा निदधाति ।

१५ ता वामेनाभिगृह्य दक्षिणेन पाणिनौदुम्बरं क्षुरं गृहीत्वादर्शं वाऽभिनिदधाति स्वधिते मैनं हिंसीरिति ।

१६ येन पूषा बृहस्पतेरिति त्रिः प्राञ्चं प्रोहत्य प्रच्छिन्दन् सकृद यजुषा द्विस्तूष्णीम् ।

१७ अथाऽयसेन प्रच्छिद्याऽऽनडुहे गोमये निदधाति ।

१८ एतयैवावाऽऽवृता कपुच्छलम्, एतयैवोत्तरां कपुष्णिकाम् ।

१९ उन्दनप्रभृति त्वेवाभिनिवर्तयेत् ।

२० उभाभ्यां पाणिभ्यां मूर्धानं परिगृह्य जपेत् त्र्यायुषं जमदग्नेरिति ।

२१ एतयैवाऽऽवृता स्त्रियास्तूष्णीम् ।

२२ मन्त्रेण तु होमः ।

२३ उदङ्ग्नेरुत्सृप्य कुशलीकारयन्ति यथागोत्रकुलकल्पम् ।

२४ आनडुहे गोमये केशान् कृत्वाऽरण्यं हृत्वा निखनन्ति ।

२५ स्तम्बे हैके निदधाति ।

२६ यथार्थं गोर्दक्षिणा ।

[दशमकण्डिकायाम्]

१ गर्भाष्टमेषु ब्राह्मणमुपनयेत् ।

२ गर्भैकादशेषु क्षत्रियं गर्भद्वादशेषु वैश्यम् ।

३ आ षोडशाद् वर्षाद् ब्राह्मणस्यानतीतः कालो भवति आ द्वाविंशात् क्षत्रियस्य आ चतुर्विंशाद् वैश्यस्य ।

४ अत ऊर्ध्वं पतितसावित्रीका भवन्ति ।

५ नैनानुपनयेयुर्नाध्यापयेयुर्न याजयेयुर्नैभिर्विवहेयुः ।

६ यदहरुपैष्यन्माणवको भवति प्रग एवैनं तदहर्भोजयन्ति कुशलीकारयन्त्याप्लावयन्त्यलङ् कुर्वन्त्यहतेन वाससाच्छादयन्ति ।

७ क्षौमशाणकार्पासोर्णान्येषां वसनानि ।

८ ऐणेयरौरवाजान्यजिनानि ।

९ मुञ्जकाशताम्बल्यो रशनाः ।

१० पार्णबैल्वाश्वत्था दण्डाः ।

११ क्षौमं शाणं वा वसनं ब्राह्मणस्य कार्पासं क्षत्रियस्याऽविकं वैश्यस्य।

१२ एतेनैवतराणि द्रव्याणि व्याख्यातानि ।

१३ अलाभे वा सर्वाणि सर्वेषाम् ।

१४ पुरस्ताच्छालाया उपलिप्त अग्निरुपसमाहितो भवति ।

१५ अग्ने व्रतपते इति हुत्वा पश्चादग्नेरुदगग्रेषु दर्भेषु प्राङाचार्योऽवतिष्ठते ।

१६ अन्तरेणाग्न्याचार्यौ माणवकोऽञ्जलिकृतोऽभिमुख आचार्यमुदगग्रेषु दर्भेषु ।

१७ तस्य दक्षिणतोऽवस्थाय मन्त्रवान् ब्राह्मणोऽपामञ्जलिं पूरयत्युपरिष्टाच्चाऽऽचार्यस्य ।

१८ प्रेक्षमाणो जपत्यागन्त्रा समगन्महीति ।

१९ ब्रह्मचर्यमागामिति वाचयति ।

२० को नामासीति नामधेयं पृच्छति तस्याऽऽचार्यः ।

२१ अभिवादनीयं नामधेयं कल्पयित्वा देवताश्रयं वा नक्षत्राश्रयं वा गोत्राश्रयमप्येके ।

२२ उत्सृज्यापामञ्जलिमाचार्यो दक्षिणेन पाणिना दक्षिणपाणिं साङ्गुष्ठं गृह्णाति—'देवस्य ते सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां हस्तं गृह्णाम्यसावि'ति ।

२३ अथैनं प्रदक्षिणमावर्तयति 'सूर्यस्याऽवृतमन्वावर्तस्वासौ' इति ।

२४ दक्षिणेन पाणिना दक्षिणमंसम-

न्ववमृष्यानन्तर्हितां नाभिमभिमृशेत् 'प्राणानां ग्रन्थिरसी'ति ।

२५ उत्सृज्य नाभिदेशमहुर इति ।

२६ उत्सृज्य हृदयदेशं कृशन इति ।

२७ दक्षिणेन पाणिना दक्षिणमंसमन्वालभ्य प्रजापतये त्वा परिददाम्यसाविति ।

२८ सव्येन सव्यं देवाय त्वा सवित्रे परिददाम्यसाविति ।

२९ अथैनं सम्प्रेष्यति ब्रह्मचार्यस्यसाविति ।

३० समिधमाधेह्यपोऽशान कर्म कुरु मा दिवा स्वाप्सीरिति ।

३१ उदङग्नेरुत्सृप्य प्राङाचार्य उपविशत्युदगग्रेषु दर्भेषु ।

३२ प्रत्यङ् माणवको दक्षिणजान्वक्तोऽभिमुख आचार्यमुदगग्रेष्वेव दर्भेषु ।

३३ अथैनं त्रिः प्रदक्षिणं मुञ्जमेखलां परिहरन् वाचयतीयं दुरुक्तात् परिबाधमानेति, ऋतस्य गोप्त्रीति च ।

३४ अथोपसीदत्यधीहि भोः सावित्रीं मे भवाननुब्रवीत्विति ।

३५ तस्मा अन्वाह—पच्छोऽर्द्धर्चशं ऋक्शा इति ।

३६ महाव्याहृतीश्च विहृता ॐकारान्ताः ।

३७ वार्क्षं चास्मै दण्डं प्रयच्छन् वाचयति—सुश्रवः सुश्रवसं मा कुर्विति ।

३८ अथ भैक्षं निवेदयते ।

३९ मातरमेवाग्रे द्वे चान्ये सुहृदौ यावत्यो वा सन्निहिताः स्युः ।

४० आचार्याय भैक्षं चरति ।

४१ तिष्ठत्यहः शेषं वाग्यतः ।

४२ अस्तमिते समिधमादधात्यग्नये समिधमाहार्षमिति ।

४३ त्रिरात्रमक्षारलवणाशी भवति ।

४४ तस्यान्ते सावित्रश्चरुः ।

४५ यथार्थं गौर्दक्षिणा ।

——*——

तृतीयप्रपाठकस्य

[प्रथमकण्डिकायाम्]

१ अथातः षोडशे वर्षे गोदानम् ।

२ चूडाकरणेन केशान्तकरणं व्याख्यातम् ।

३ ब्रह्मचारी केशान्तान् कारयते ।

४ सर्वाण्यङ्गलोमानि संहारयते ।

५ गोमिथुनं दक्षिणा ब्राह्मणस्याश्वमिथुनं क्षत्रियस्याविमिथुनं वैश्यस्य ।

६ गौर्वैव सर्वेषाम् ।

७ अजः केशप्रतिग्राहाय ।

८ उपनयनेनैवोपनयनं व्याख्यातम् ।

९ न त्विहाहतं वासो नियुक्तम् ।

१०. नालंकारः ।

११. नाऽऽचरिष्यन्तं संवत्सरमुपनयेत् ।

१२. वार्क्ष चास्मै दण्डं प्रयच्छन्नादिशति ।

१३. आचार्याधीनो भवान्यत्राधर्मचरणात् ।

१४. क्रोधानृते वर्जये ।

१५. मैथुनम् ।

१६. उपरि शय्याम् ।

१७. कौशीलवगन्धाञ्जनानि ।

१८. स्नानम् ।

१९. अवलेखनदन्तप्रक्षालनपादप्रक्षालनानि ।

२०. क्षुरकृत्यम् ।

२१. मधुमांसे ।

२२. गोयुक्तारोहणम् ।

२३. अन्तर्ग्राम उपानहोर्धारणम् ।

२४. स्वयमिन्द्रियमोचनमिति ।

२५. मेखलाधारणभैक्षचर्यदण्डधारणसमिदा धानोदकोपस्पर्शनप्रातरभिवादा इत्येते नित्यधर्माः ।

२६. गोदानिकव्रातिकादित्यव्रतौपनिषद ज्यैष्ठसामिकाः संवत्सराः ।

२७. तेषु सायं प्रातरुदकोपस्पर्शनम् ।

२८. आदित्यव्रतं तु न चरन्त्येके ।

२९. ये चरन्त्येकवाससो भवन्ति ।

३०. आदित्यञ्च नान्तर्दधतेऽन्यत्र वृक्ष शरणाभ्याम् ।

३१. नापोऽभ्यवयन्त्यूर्द्ध्व जानुभ्यामगुरु–प्रयुक्ताः ।

[द्वितीयकण्डिकायाम्]

१. द्वादश महानाम्निकाः संवत्सराः ।

२. नव षट् त्रय इति विकल्पः ।

३. संवत्सरमप्येके ।

४. व्रतं तु भूयः ।

५. पूर्वैश्चेत् श्रुता महानाम्न्यः ।

६. अथापि रौरुकिब्राह्मणं भवति, कुमारान् ह स्म वै मातरः पाययमाना आहुः, शक्करीणां पुत्रका व्रतं पारयिष्णवो भवतेति ।

७. तास्वनुसवनमुदकोपस्पर्शनम् ।

८. नानुपस्पृश्य भोजनं प्रातः ।

९. सायमुपस्पृश्याभोजनमा समिदाधानात् ।

१०. कृष्णवस्त्रः कृष्णभक्षः ।

११. आचार्याधीनः ।

१२. अपन्थदायी ।

१३. तपस्वी ।

१४. तिष्ठेद दिवासीत नक्तम् ।

१५. वर्षति च नोपसर्पेच्छन्नम् ।

१६. वर्षन्तं ब्रूयादापः शक्कर्य इति ।

१७. विद्योतमानं ब्रूयादेवंरूपाः खलु शक्कर्यो भवन्तीति ।

१८. स्तनयन्तं ब्रूयान्मह्या महान् घोष इति ।

१९. न स्रवन्तीमतिक्रामेदनुपस्पृशन् ।

२०. न नावमारोहेत् ।

२१. प्राणसंशये तूपस्पृश्याऽऽरोहेत् ।

२२. तथा प्रत्यवरुह्य ।

२३. उदकसाधवो हि महानाम्न्य इति ।

२४. एवं खलु चरतः कामवर्षी पर्जन्यो भवति ।

२५. अनियमो वा कृष्णस्थानासनपन्थभक्षेषु ।

२६. तृतीये चरिते स्तोत्रीयामनुगापयेत् ।

२७. एवमितरे स्तोत्रीये ।

२८. सर्वा वाऽन्ते सर्वस्य ।

२९. उपोषिताय संमीलितायानुगापयेत् ।

३०. कंसमपां पूरयित्वा सर्वौषधीः कृत्वा हस्तावववधाय प्रदक्षिणमाचार्योऽहतेन वसनेन परिणह्येत् ।

३१. परिणहनान्ते वाऽनुगापयेत् ।

३२. परिणद्धो वाग्यतो न भुञ्जीत त्रिरात्र महोरात्रौ वा ।

३३. अपि वाऽरण्ये तिष्ठेदाऽस्तमयात् ।

३४. श्वोभूतेऽरण्येऽग्निमुपसमाधाय व्याहृति-भिर्हुत्वाऽथैनमवेक्षयेद् अग्निमाज्यमा-दित्यं ब्राह्मणमनड्वाहमन्नमपो दधीति स्वरभि व्यख्यं ज्योतिरभिव्यख्यमिति ।

३५. एवं त्रिः सर्वाणि ।

३६. शान्तिं कृत्वा गुरुमभिवादयते ।

३७. सोऽस्य वाग्विसर्गः ।

३८. अनड्वान्कंसो वासो वर इति दक्षिणाः ।

३९. प्रथमे विकल्पः ।

४०. आच्छादयेद् गुरुमित्येके ।

४१. ऐन्द्रः स्थालीपाकस्तस्य जुहुयादृचं साम यजामह इत्येतयर्चा सदसस्पतिमद्-भुतमिति वोभाभ्यां वा ।

४२. अनुप्रवचनीयेष्वेवं सर्वत्र ।

४३. सर्वत्राचारिषं तदशकं तेनारातसमुपा गामिति मन्त्रविशेषः ।

४४. आग्नेयेऽज ऐन्द्रे मेषो गौः पावमाने पर्वदक्षिणाः ।

४५. प्रत्येत्याऽऽचार्य सपरिषत्कं भोजयेत् ।

४६. सब्रह्मचारिणश्चोपसमेतान् ।

४७. ज्येष्ठसाम्नो महानाम्निकेनैवानुगापन कल्पो व्याख्यातः ।

४८. तत्रैतानि नित्यव्रतानि भवन्ति ।

४९. न शूद्रामुपेयात् ।

५०. न पक्षिमांसं भुञ्जीत ।

५१. एकधान्यमेकदेशमेकवस्त्रञ्च वर्जयेत् ।

५२. उद्धृताभिरद्भिरुपस्पृशेत् ।

५३. आदेशनात् प्रभृति न मृन्मयेऽश्नीयात् ।

५४. न पिबेत् ।

५५. श्रवणादित्येके ।

[तृतीयकण्डिकायाम्]

१. प्रौष्ठपदीं हस्तेनोपाकरणम् ।

२. व्याहृतिभिर्हुत्वा शिष्याणां सावित्र्यनुवचनं यथोपनयने ।

३. सामसावित्रीञ्च ।

४. सोमं राजानं वरुणमिति ।

५. आदितश्छन्दसोऽधीत्य यथार्थम् ।

६. अक्षतधाना भक्षयन्ति धानावन्तं करम्भिणमिति ।

७. दध्नः प्राश्नन्ति दधिक्राव्णोऽकारिषमिति ।

८. आचान्तोदकाः खाण्डिकेभ्योऽनुवाक्या अनुगेयाः कारयेत् ।
९. सावित्रमहः काङ्क्षन्ते ।
१०. उदगयने च पक्षिणीं रात्रिम् ।
११. उभयत एके त्रिरात्रम् ।
१२. आचार्याणाञ्चोदकोत्सेचनमुभयत्र ।
१३. श्रवणामेक उपाकृत्यैतमा सावित्रात् कालं काङ्क्षन्ते ।
१४. तैषीमुत्सृजन्ति ।
१५. प्राङ् वोदङ् वा ग्रामान्निष्क्रम्य या आपोऽनवमेहनीयास्ता अभ्येत्योपस्पृश्यछन्दांस्यृषीनाचार्यांश्च तर्पयेयुः।
१६. तस्मिन् प्रत्युपाकरणेऽध्यानाध्याय आ पुनरुपाकरणाच्छन्दसः ।
१७. विद्युतस्तनयित्नुपृषितेष्वाकालम् ।
१८. उल्कापातभूमिचलज्योतिपोरुपसर्गेषु ।
१९. निर्घाते च ।
२०. अष्टकामावास्यासु नाधीयीरन् ।
२१. पौर्णमासीषु च ।
२२. तिसृषु कार्त्तिक्यां फाल्गुन्यामाषा ढ्याञ्चाहोरात्रम् ।
२३. सब्रह्मचारिणि च प्रेते ।
२४. स्वे च भूमिपतौ ।
२५. त्रिरात्रमाचार्ये ।
२६. उपसन्ने त्वहोरात्रम् ।
२७. गीतवादितरुदितातिवातेषु तत्कालम् ।
२८. शिष्टाचारोऽतोऽन्यत्र ।
२९. अद्भुते कुलपत्योः प्रायश्चित्तम् ।
३०. वंशमध्यमयोर्मणिके वा भिन्नं व्याहृतिभिर्जुहुयात् ।
३१. दुःस्वप्नेष्वद्य नो देव सवितरित्येतामृचं जपेत् ।
३२. अथापरं चित्ययूपोपस्पर्शनकर्णक्रोशाक्षिवेपनेषु सूर्याभ्युदितः सूर्याभिनिम्लुप्तः इन्द्रियैश्च पापस्पर्शे पुनर्मामैत्विन्द्रियमित्येताभ्यामाज्याहुती जुहुयात् ।
३३. आज्यलिप्ते वा समिधौ ।
३४. जपेद् वा लघुषु ।

[चतुर्थकण्डिकायाम्]

१. ब्रह्मचारी वेदमधीत्य ।
२. उपन्याहृत्य गुरवेऽनुज्ञातो दारान् कुर्वीत।
३. असगोत्रान् ।
४. मातुरसपिण्डान् ।
५. नग्निका तु श्रेष्ठा ।
६. अथाऽऽप्लवनम् ।
७. उत्तरतः पुरस्ताद् वाचार्यकुलस्य परिवृतं भवति ।
८. तत्र प्रागग्रेषु दर्भेषूदङ्ङाचार्य उपविशति ।
९. प्राग् ब्रह्मचार्युदग्रेषु दर्भेषु ।
१०. सर्वौषधिविफाण्टाभिरद्भिर्गन्धवतीभिः शीतोष्णाभिराचार्योऽभिषिञ्चेत् ।
११. स्वयमिव तु ।
१२. मन्त्रवर्णो भवति ।
१३. येऽप्स्वन्तरग्नयः प्रविष्टा इत्यपामञ्जलि

मवसिञ्चति ।

१४. यदपां घोरं यदपां क्रूरं यदपामशान्तमिति च ।

१५. यो रोचनस्तमिह गृह्णामीत्यात्मान–मभिषिञ्चति।

१६. यशसे तेजस इति च ।

१७. येन स्त्रियमकृणुतमिति च ।

१८. तूष्णीं चतुर्थम् ।

१९. उपोत्थायाऽऽदित्यमुपतिष्ठत उद्यन् भ्राजभृष्टिभिरित्येतत्प्रभृतिना मन्त्रेण।

२०. यथालिङ्गं वा ।

२१. विहरंश्चक्षुरसीत्यनुबध्नीयात् ।

२२. मेखलामवमुञ्चत उदुत्तमं वरुण पाशमिति।

२३. ब्राह्मणान् भोजयित्वा स्वयं भुक्त्वा केशश्मश्रुरोमनखानि वापयीत शिखा–वर्जम् ।

२४. स्नात्वाऽलङ्कृत्याहते वाससी परिधाय स्रजमाबध्नीत श्रीरसि मयि रमस्वेति।

२५. नेत्र्यौ स्थो नयतं मामित्युपानहौ ।

२६. गन्धर्वोऽसीति वैणवं दण्डं गृह्णाति ।

२७. आचार्यं सपरिषत्कमभ्येत्याऽऽचार्य–परिषदमीक्षतेयक्षमिव चक्षुषः प्रियो वो भूयासमिति।

२८. उपोपविश्य मुख्यान् प्राणान् संमृशन्नो–ष्ठापिधाना नकुलीति ।

२९. अत्रैनमाचार्योऽर्हयेत् ।

३०. गोयुक्तं रथमुपसंक्रम्य पक्षसी कूबरबाहू–वाऽभिमृशेद् वनस्पते वीड्वङ्गो हि भूया इति।

३१. आस्थाता ते जयतु जेत्वानीत्यातिष्ठति।

३२. प्राङ्वोदङ् वाऽभिप्रयाय प्रदक्षिण–मावृत्योपयाति।

३३. उपयातायार्घ्यमिति कौहलीयाः

[पञ्चमकण्डिकायाम्]

१. अत ऊर्ध्वं वृद्धशीली स्यादिति समस्तोद्देशः।

२. तत्रैतान्याचार्याः परिसञ्चक्षते ।

३. नाजातलोम्न्योपहासमिच्छेत् ।

४. नायुग्वा ।

५. न रजस्वलया ।

६. न समानर्ष्या ।

७. नापरया द्वारा प्रपन्नमन्नं भुञ्जीत ।

८. न द्विः पक्वम् ।

९. न पर्युषितम् ।

१०. अन्यत्र शाकमांसयवपिष्टविकारेभ्यः।

११. न वर्षति धावेत् ।

१२. नोपानहौ स्वयं हरेत् ।

१३. नोदपानमवेक्षेत् ।

१४. न फलानि स्वयं प्रचिन्वीत ।

१५. नागन्धां स्रजं धारयेत् ।

१६. अन्यां हिरण्यस्रजः ।

१७. न मालोक्ताम् ।

१८. स्रगिति वाचयेत् ।

१९. भद्रमित्येतां वृथावाचं परिहरेत् ।

२०. भद्रमिति ब्रूयात् ।
२१. तत्रैते त्रयः स्नातका भवन्ति ।
२२. विद्यास्नातको व्रतस्नातको विद्याव्रत–स्नातक इति ।
२३. तेषामुत्तमः श्रेष्ठस्तुल्यौ पूर्वौ ।
२४. नाऽऽर्द्र परिदधीत ।
२५. नैकं परिदधीत ।
२६. न मनुष्यस्तुतिं प्रयुञ्जीत।
२७. नादृष्टं दृष्टतो ब्रुवीत ।
२८. नाश्रुतं श्रुततः ।
२६. स्वाध्यायविरोधिनोऽर्थानुत्सृजेत् ।
३०. तैलपात्रमिवाऽऽत्मानं दिधारयिषेत् ।
३१. न वृक्षमारोहेत् ।
३२. न प्रतिसायं ग्रामान्तरं व्रजेत् ।
३३. नैकः ।
३४. न वृषलैः सह ।
३५. न कासृत्या ग्रामं प्रविशेत् ।
३६. न चाननुचरश्चरेत् ।
३७. एतानि समावृत्तव्रतानि ।
३८. यानि च शिष्टा विदध्युः ।

[षष्ठकण्डिकायाम्]

१. गाः प्रकाल्यमाना अनुमन्त्रयेतेमा मे विश्वतो वीर्य इति ।
२. प्रत्यागता इमा मधुमतीर्मह्यमिति ।
३. पुष्टिकामः प्रथमजातस्य वत्सस्य प्राङ्मातुः प्रलेहनाजिह्वया ललाट–मुल्लिह्य निगिरेद गवां श्लेष्माऽसीति।
४. पुष्टिकाम एव संप्रजातासु निशायां गोष्ठेऽग्निमुपसमाधाय विलयनं जुहुयात् संग्रहण संगृहाणेति ।
५. पुष्टिकाम एव सम्प्रजातास्वौदुम्बरेणा–सिना वत्समिथुनयोर्लक्षणं करोति पुंसएवाग्रेऽथ स्त्रिया भुवनमसि साह–स्रमिति ।
६. कृत्वा चानुमन्त्रयेत लोहितेन स्वधि–तिनेति ।
७. तन्तीं प्रसार्यमाणां बद्धवत्सां चानु–मन्त्रयेतेयं तन्ती गवां मातेति ।
८. तत्रैतान्यहरहः कृत्यानि भवन्ति निष्का–लनप्रवेशने तन्तीविहरणमिति।
६. गोयज्ञे पायसश्चरुः ।
१०. अग्निं यजेत पूषणमिन्द्रमीश्वरम् ।
११. ऋषभपूजा ।
१२. गोयज्ञेनैवाश्वयज्ञो व्याख्यातः ।
१३. यमवरुणौ देवतानामत्राधिकौ ।
१४. गन्धैरभ्युक्षणं गवां, गन्धैरभ्युक्षणं गवाम्।

[सप्तमकण्डिकायाम्]

१. अथातः श्रवणाकर्म ।
२. पौर्णमास्यां कृत्यम् ।
३. पुरस्ताच्छालाया उपलिप्य शालाग्नेरग्निं प्रणयन्ति।
४. अभितश्चत्वार्युपलिम्पति ।
५. प्रतिदिशम् ।
६. साधिके प्रक्रमे ।

७. अग्नौ कपालमाधाय सकृत् संगृहीतं यवमुष्टिं भृज्जत्यनुपदहन् ।

८. पश्चादग्नेरुलूखलं दृंहयित्वा वहन्त्यु-द्वेचम्।

६. सुकृतान् सक्तृन् कृत्वा चमस ओप्य शूर्पेणापिधाय निदधाति ।

१०. दक्षिणपश्चिमे अन्तरेण सञ्चरः ।

११. अस्तमिते चमसदर्व्यावादाय शूर्पं चाति प्रणीतस्यार्धं व्रजति ।

१२. शूप सक्तृनावपति चमसे चोदकमादत्ते।

१३. सकृत् संगृहीतान् दव्यां सक्तृन् कृत्वा पूर्व उपलिप्त उदकं निनीय बलिं निवपति यः प्रा च्यां दिशि सर्पराज एष ते बलिरिति ।

१४. उपनिनयत्यपां शेषं यथा बलिं न प्रवक्ष्यतीति।

१५. सव्यं बाहुमन्वावृत्य चमसदर्व्यावभ्युक्ष्य प्रताप्यैवं दक्षिणैवं प्रतीच्येवमुदीची यथालिमव्यावर्तमानः ।

१६. शूर्पेण शेषमग्नावोप्यानतिप्रणीत स्यार्धं व्रजति।

१७. पश्चादग्नेर्भूमौ न्यञ्चौ पाणी प्रतिष्ठाप्य नमः पृथिव्या इत्येतं मन्त्रं जपति ।

१८. प्रदोषे पायसश्चरुः ।

१६. तस्य जुहुयात् श्रवणाय विष्णवेऽग्नये प्रजापतये विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहेति।

२०. स्थालीपाकावृताऽन्यत् ।

२१. उत्तरतोऽग्नेर्दर्भस्तम्बं समूलं प्रतिष्ठाप्य सोमो राजेत्येतं मन्त्रं जपति यां सन्धां समधत्तेति च ।

२२. श्वस्ततोऽक्षतसक्तून् कारयित्वा नवे पात्रे पिधाय निदधाति ।

२३. अहरहस्तूष्णीं बलीन् हरेत् सायं प्राग्घो-मादाग्रहायण्याः ।

[अष्टमकण्डिकायाम्]

१. आश्वयुज्यां पौर्णमास्यां पृषातके पायस-श्चरूरौद्रः ।

२. तस्य जुहुयाद् आ नो मित्रावरुणेति प्रथमां मानस्तोक इति द्वितीयाम् ।

३. गोनामभिश्च पृथक् काम्याऽसीत्येतत्-प्रभृतिभिः।

४. स्थालीपाकावृताऽन्यत् ।

५. पृषातकं प्रदक्षिणमग्निं पर्याणीय ब्राह्म-णानवेक्षयित्वा स्वयमवेक्षेततच्चक्षुर्देव-हितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् । पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतमिति ।

६. ब्राह्मणान् भोजयित्वा स्वयं भुक्त्वा जातु-षान् मणीन् सर्वौषधिमिश्रानाबध्नीरन् स्वस्त्ययनार्थम्।

७. सायं गाः पृषातकं प्राशयित्वा सहवत्सा वासयेत्।

८. स्वस्ति हाऽऽसां भवति ।

६. नवयज्ञे पायसश्चरुरैन्द्राग्नः ।

१०. तस्य मुख्यां हविराहुतिं हुत्वा चतसृभि-राज्याहुतिभिरभिजुहोति शतायुधायेत्ये-

तत्प्रभृतिभिः ।

११. स्थालीपाकावृताऽन्यत् ।

१२. हविरुच्छिष्टशेषं प्राशयेद् यावन्त उपेताः स्युः ।

१३. सकृदपामुपस्तीर्य द्विश्चरोरवद्यति त्रिर्भृ–गूणामपां चैवोपरिष्टात् ।

१४. असंस्वादं निगिरेद् भद्रान् नः श्रेय इति।

१५. एवं त्रिः ।

१६. तूष्णीं चतुर्थम् ।

१७. भूय एवावदाय कामं तत्र संस्वादयेरन्।

१८. आचान्तोदकाः प्रत्यभिमृशेरन् मुखं शिरोऽंगानीत्यनुलोमममोऽसीति ।

१६. एतयैवाऽऽवृता श्यामाकयवानाम् ।

२०. अग्निः प्राश्नातु प्रथम इति श्यामाका–नाम्।

२१. एतमुत्यं मधुना संयुतं यवमिति यवानाम्।

[नवमकण्डिकायाम्]

१. आग्रहायण्यां बलिहरणम् ।

२. तत् श्रावणेनैव व्याख्यातम् ।

३. नमः पृथिव्या इत्येतं मन्त्रं न जपति ।

४. अथ पूर्वाह्ण एव प्रातराहुतिं हुत्वा दर्भान् शमीं वीरणां फलवतीमपामार्गं शिरी–षमेतान्याहारयित्वा तूष्णीमक्षतसक्तूना–मग्नौ कृत्वा ब्राह्मणान् स्वस्ति वाच्यैतैः सम्भारैः प्रदक्षिणमग्न्यागारात् प्रभृति धूमं शातयन् गृहाननुपरीयात्।

५. उत्सृजेत् कृतार्थान् सम्भारान् ।

६. जातशिलासु मणिकं प्रतिष्ठापयति वास्तोष्पत इत्येतेन द्विकेन सर्चेन ।

७. द्वावुदकुम्भौ मणिक आसिञ्चेत् समन्या यन्तीत्येतयर्चा ।

८. प्रदोषे पायसश्चरुः ।

६. तस्य जुहुयात् प्रथमा हव्युवास सेति ।

१०. स्थालीपाकावृताऽन्यत् ।

११. पश्चादग्नेर्बर्हिषिन्यञ्चौ पाणी प्रतिष्ठाप्य प्रति क्षत्र इत्येता व्याहृतीर्जपति ।

१२. पश्चादग्नेःस्वस्तरमास्तारयेदुदगग्रैस्तृणै–रुदक्प्रवणम् ।

१३. तस्मिन्नहतान्यास्तरणान्यास्तीर्य दक्षिणतो गृहपतिरुपविशति ।

१४. अनन्तरा अवरे यथाज्येष्ठम् ।

१५. अनन्तराश्च भार्याः सजाताः ।

१६. समुपविष्टेषु गृहपतिः स्वस्तरे न्यञ्चौ पाणी प्रतिष्ठाप्य स्योना पृ वि नो भवेत्येतामृचं जपति ।

१७. समाप्तायां संविशन्ति दक्षिणैः पार्श्वैः ।

१८. एवं त्रिरभ्यात्ममावृत्य ।

१६. स्वस्त्ययनानि प्रयुज्य यथाज्ञानम् ।

२०. अरिष्टं सामसंयोगमेके ।

२१. अप उपस्पृश्य यथार्थम् ।

[दशमकण्डिकायाम्]

१. अष्टका रात्रिदेवता पुष्टिकर्मा ।

२. आग्नेयी पित्र्या वा प्राजापत्यर्तुदेवता वैश्वदेवीति देवताविचाराः ।

३. चतुरष्टको हेमन्तः ।

४. ताः सर्वाः समांसाश्चिकीर्षेदिति कौत्सः।

५. त्र्यष्टक इत्यौद्गाहमानिः ।

६. तथा गौतमवार्कखण्डी ।

७. योर्ध्वमाग्रहायण्यास्तामिस्राऽष्टमी ताम–पूपाष्टकेत्याचक्षते ।

८. स्थालीपाकावृता तण्डुलानुपस्कृत्य चरुं श्रपयति।

९. अष्टौ चापूपान् ।

१०. कपालेऽपरिवर्तयन् ।

११. एककपालानमन्त्रानित्यौद्गाहमानिः ।

१२. त्रैयम्बकप्रमाणान् ।

१३. श्रृतानभिघार्योदगुद्वास्य प्रत्यभिघारयेत्।

१४. स्थालीपाकावृताऽवदाय चरोश्चापूपानां चाष्टकायै स्वाहेति जुहोति ।

१५. स्थालीपाकावृताऽन्यत् ।

१६. तैष्या ऊर्ध्वमष्टम्यां गौः ।

१७. तां सन्धिवेलासमीपं पुरस्तादग्नेरवस्था–प्योपस्थितायां जुहुयाद् यत् पशवः प्रध्यायतेति।

१८. हुत्वा चानुमन्त्रयेतानु त्वा. माता मन्यतामिति।

१९. यवमतीभिरद्भिः प्रोक्षेदष्टकाय त्वा जुष्टं प्रोक्षामीति ।

२०. उल्मुकेन परिहरेत् परि वाजपतिः कविरिति।

२१. अपः पानाय दद्यात् ।

२२. पीतशेषमधस्तात् पशोरवसिञ्चेद् आत्तं देवेभ्यो हविरिति ।

२३. अथैनामुदगुत्सृप्य संज्ञपयन्ति ।

२४. प्राक्शिरसमुदक्पदीं देवदैवत्ये ।

२५. दक्षिणशिरसं प्रत्यक्पदीं पितृदैवत्ये ।

२६. संज्ञप्तायां जुहुयाद् यत् पशुर्मायुमकृतेति।

२७. पत्नी चोदकमादाय पशोः सर्वाणि स्रोतांसि प्रक्षालयेत् ।

२८. अग्रेण नाभिं पवित्रे अन्तर्धायानुलोम–माकृत्य वपामुद्धरन्ति ।

२९. तां शाखाविशाखयोः काष्ठयोरव सज्याभ्युक्ष्य श्रपयेत् ।

३०. प्रच्युतितायां विशसथेति ब्रूयात् ।

३१. यथा न प्रागग्नेर्भूमिं शोणितं गच्छेत् ।

३२. श्रृतामभिघार्योदगुद्वास्य प्रत्यभिघारयेत्।

३३. स्थालीपाकावृता वपामवदाय स्विष्ट–कृदावृता वाऽष्टकायै स्वाहेति जुहोति।

३४. स्थालीपाकावृताऽन्यत् ।

– –*– –

चतुर्थप्रपाठकस्य

प्रथमकण्डिकायाम् ,

१. अनुप्रहरति वपाश्रपण्यौ ।

२. प्राचीमेकशूलां प्रतीचीमितराम् ।

३. अवद्यन्त्यवदानानि सर्वाङ्गेभ्यः ।

४. अन्यत्र वामाच्च सक्थ्नः क्लोम्नश्च ।

५. वामं सक्थ्यन्वष्टक्याय निदध्यात् ।

६. तस्मिन्नेवाग्नौ श्रपयत्योदनचरुञ्च मांस–चरुञ्च पृथङ्मेक्षणाभ्यां प्रदक्षिण–मुदायुवन् ।

७. श्रृतावभिघार्योदगुद्वास्य प्रत्यभिघारयेत्।

८. कंसे रसमवासिच्य ।

६. प्लक्षशाखावति प्रस्तरेऽवदानानि कृत्वा।

१०. स्थालीपाकावृताऽवदानानां कंसेऽवद्यति।

११. स्विष्टकृतश्च पृथक् ।

१२. चरोरुद्धृत्य विल्वमात्रमवदानैः सह यूषेण सन्नयेत् ।

१३. चतुर्गृहीतमाज्यं गृहीत्वाऽष्टर्चप्रथमया जुहुयादग्नावग्निरिति ।

१४. सन्नीतात् तृतीयमात्रमवदाय द्वितीया तृतीयाभ्यां जुहोति ।

१५. उत्तरस्यां स्वाहाकारं दधाति ।

१६. एवमेवावरे चतुर्थीपञ्चमीभ्यां षष्ठी–सप्तमीभ्याञ्च ।

१७. शेषमवदाय सौविष्टकृतमष्टम्या जुहु–यात्।

१८. यद्यु वा अल्पसम्भारतमः स्यादपि पशुनैव कुर्वीत ।

१६. अपि वा स्थालीपाकं कुर्वीत ।

२०. अपि वा गोर्ग्रासमाहरेत् ।

२१. अपि वाऽरण्ये कक्षमुपाधाय ब्रूयादेषा मेऽष्टकेति।

२२. न त्वेव न कुर्वीत न त्वेव न कुर्वीत ।

[द्वितीयकण्डिकायाम्]

१. श्वस्ततोऽन्वष्टक्यम् ।

२. अपरश्वो वा ।

३. दक्षिणपूर्वेऽष्टमदेशे परिवारयन्ति ।

४. तथायतम् ।

५. तथामुखैः कृत्यम् ।

६. चतुरवरार्द्धान् प्रक्रमान् ।

७. पश्चादुपसञ्चारः ।

८. उत्तरार्धे परिवृतस्य लक्षणं कृत्वाऽग्निं प्रणयन्ति।

६. पश्चादग्नेरुलूखलं दृंहयित्वा सकृत् संगृ–हीतं व्रीहिमुष्टिवहन्ति सव्योत्तराभ्यां पाणिभ्याम् ।

१०. यदा वितुषाः स्युः ।

११. सकृदेव सुफलीकृतान् कुर्वीत ।

१२. अथामुष्माच्च सक्थ्नो मांसपेशीमवकृत्य नवायां सूनायामणुशश्छेदयेत् ।

१३. यथा मांसाभिघाराः पिण्डा भविष्यन्तीति।

१४. तस्मिन्नेवाग्नौ श्रपयत्योदनचरुञ्च मांस–चरुञ्च पृथङ्मेक्षणाभ्यां प्रसव्यमुदा–युवन् ।

१५. शृतावभिघार्य दक्षिणोद्वास्य न प्रत्यभि–घारयेत्।

१६. दक्षिणार्धे परिवृतस्य तिस्रः कर्षूः खानयेत् पूर्वोपक्रमाः ।

१७. प्रादेशायामाश्चतुरंगुलपृथ्वीस्तथाऽ–वखाताः ।

१८. पूर्वस्याः कर्ष्वाः पुरस्ताल्लक्षणं कृत्वाऽग्निं प्रणयन्ति ।

१६. अपरेण कर्षूः पर्याहृत्य लक्षणे निदध्यात्।

२०. सकृदाच्छिन्नं दर्भमुष्टिं स्तृणोति ।

२१. कर्षूश्च ।

२२. पूर्वोपक्रमाः ।

२३. पश्चात् कर्षूणां स्वस्तरमास्तारयेत् दक्षिणाग्रैः कुशैर्दक्षिणाप्रवणम् ।

२४. वृषीञ्चोपदध्यात् ।

२५. तत्रास्मा आहरन्त्येकैकशः सव्यं बाहुमनु।

२६. चरुस्थाल्यौ मेक्षणे कंसं दर्वीमुदकमिति।

२७. पत्नी बर्हिषि शिलां निधाय स्थगरं पिनष्टि।

२८. तस्यां चैवाञ्जनं निघृष्य तिस्रो दर्भ–पिञ्जुलीरञ्जयति सव्यन्तराः ।

२६. तैलञ्चोपकल्पयेत् ।

३०. क्षौमदशाञ्च ।

३१. शुचौ देशे ब्राह्मणाननिन्द्यानयुग्मानुदङ्–मुखानुपवेश्य ।

३२. दर्भान् प्रदाय ।

३३. उदकपूर्वं तिलोदकं ददाति पितुर्नाम गृहीत्वाऽसावेतत् ते तिलोदकं ये चात्र त्वामनुयांश्च त्वमनु तस्मै ते स्वधेति।

३४. अप उपस्पृश्यैवमेवेतरयोः ।

३५. तथा गन्धान् ।

३६. अग्नौ करिष्यामीत्यामन्त्रणं होष्यतः ।

३७. कुर्वित्युक्ते कंसे चरुं समवदाय मेक्षणेनो–पघातं जुहुयात् स्वाहा सोमाय पितृमत इति पूर्वां स्वाहाऽग्नये कव्यवाहनाये–त्युत्तराम् ।

[तृतीयकण्डिकायाम्]

१. अत ऊद्ध्वं प्राचीनावीतिना वाग्यतेन कृत्यम्।

२. सव्येन पाणिना दर्भपिञ्जलीं गृहीत्वा दक्षिणाग्रां लेखामुल्लिखेदपहता असुरा इति ।

३. सव्येनैव पाणिनोल्मुकं गृहीत्वा दक्षि–णार्धे कर्षूणां निदध्याद ये रूपाणि प्रतिमुञ्चमाना इति ।

४. अथ पितृनावाहयत्येत पितरः सोम्यास इति ।

५. अथोदपात्रान् कर्षूषु निदध्यात् ।

६. सव्येनैव पाणिनोदपात्रं गृहीत्वाऽवसलवि पूर्वस्यां कर्ष्वां दर्भेषु निनयेत् पितुर्नाम गृहीत्वाऽसाववनेनिक्ष्व ये चात्र त्वामनु

यांश्च त्वमनु तस्मै ते स्वधेति ।

७. अप उपस्पृश्यैवमेवेतरयोः ।

८. सव्येनैव पाणिना दर्वीं गृहीत्वा सन्नीतात् तृतीयमात्रमवदायावसलवि पूर्वस्यां कर्ष्वां दर्भेषु निदध्यात् पितुर्नाम गृहीत्वाऽसावेष ते पिण्डो ये चात्र त्वामनु यांश्च त्वमनु तस्मै ते स्वधेति ।

९. अप उपस्पृश्यैवमेवेतरयोः ।

१०. यदि नामानि नं विद्यात् स्वधा पितृभ्यः पृथिवीषद्भ्य इति प्रथमं पिण्डं निदध्यात्, स्वधा पितृभ्योऽन्तरिक्षसद्भ्य इति द्वितीयम्, स्वधा पितृभ्यो दिविषद्भ्य इति तृतीयम् ।

११. निधाय जपत्यत्र पितरो मादयध्वं यथाभागमावृषायध्वमिति ।

१२. अपपर्यावृत्य पुरोच्छ्वासादभिपर्यावर्त्तमानो जपेदमीमदन्त पितरो यथाभागमावृषायिषतेति ।

१३. सव्येनैव पाणिना दर्भपिञ्जुलीं गृहीत्वाऽवसलवि पूर्वस्यां कर्ष्वां पिण्डे निदध्यात् पितुर्नाम गृहीत्वाऽसावेतत् ते आञ्जनं ये चात्र त्वामनु यांश्च त्वमनु तस्मै ते स्वधेति ।

१४. अप उपस्पृश्यैवमेवेतरयोः ।

१५. तथा तैलम् ।

१६. तथा सुरभि ।

१७. अथ निह्नुते ।

१८. पूर्वस्यां कर्ष्वां दक्षिणोत्तानौ पाणीकृत्वा नमो वः पितरो जीवाय नमो वः पितरः शूषायेति।

१९. मध्यमायां सव्योत्तानौ नमो वः पितरो घोराय नमो वः पितरो रसायेति ।

२०. उत्तमायां दक्षिणोत्तानौ नमो वः पितरः स्वधायै नमो वः पितरो मन्यव इति ।

२१. अथाञ्जलिकृतो जपति नमो वः पितरः पितरो नमो वः इति ।

२२. गृहानवेक्षते गृहान् नः पितरो दत्तेति ।

२३. पिण्डानवेक्षते सदो वः पितरो देष्मेति।

२४. सव्येनैव पाणिना सूत्रतन्तुं गृहीत्वाऽवसलवि पूर्वस्यां कर्ष्वां पिण्डे निदध्यात् पितुर्नाम गृहीत्वाऽसावेतत् ते वासो ये चात्र त्वामनु यांश्च त्वमनु तस्मै ते स्वधेति ।

२५. अप उपस्पृश्यैवमेवेतरयोः ।

२६. सव्येनैव पाणिनोदपात्रं गृहीत्वाऽवसलवि पिण्डान् परिषिञ्चेदूर्जं वहन्तीरिति ।

२७. मध्यमं पिण्डं पत्नी पुत्रकामा प्राश्नीयात् आधत्त पितरो गर्भमिति ।

२८. यो वा तेषां ब्राह्मणानामुच्छिष्टभाक् स्यात्।

२९. अभून्नो दूतो हविषो जातवेदा इत्युल्मुकमद्भिरभ्युक्ष्य ।

३०. द्वन्द्वं पात्राणि प्रक्षाल्य प्रत्यतिहारयेत्।

३१. अप्सु पिण्डान् सादयेत् ।

३२. प्रणीते वाऽग्नौ ।

३३. ब्राह्मणं वा भोजयेद् गवे वा दद्यात् ।

३४. वृद्धिपूर्तेषु युग्मानाशयेत् ।

३५. प्रदक्षिणमुपचारः ।

३६. यवैस्तिलार्थः ।

[चतुर्थकण्डिकायाम्]

१. अन्वष्टक्यस्थालीपाकेन पिण्डपितृयज्ञो व्याख्यातः।

२. अमावास्यायां तत् श्राद्धम् ।

३. इतरदन्वाहार्यम् ।

४. मासीनम् ।

५. दक्षिणाग्नौ हविषः संस्करणम् ।

६. ततश्चैवातिप्रणयः ।

७. शालाग्नावनाहिताग्नेः ।

८. एका कर्षूः ।

९. तस्या दक्षिणतोऽग्नेः स्थानम् ।

१०. नात्रोल्मुकनिधानम् ।

११. न स्वस्तरः ।

१२. नाञ्जनाभ्यञ्जने ।

१३. न सुरभि ।

१४. न निह्नवनम् ।

१५. उदपात्रान्तः ।

१६. वासस्तु निदध्यात् ।

१७. माघ्या ऊर्ध्वमष्टम्यां स्थालीपाकः ।

१८. तस्य जुहुयाद् अष्टकायै स्वाहेति जुहोति।

१९. स्थालीपाकावृताऽन्यत् ।

२०. शाकं व्यञ्जनमन्वाहार्यम् ।

२१. अथ पितृदेवत्येषु पशुषुवह वपां जातवेदः पितृभ्य इति वपां जुहुयात् ।

२२. देवदेवत्येषु जातवेदो वपया गच्छ देवानिति।

२३. अनाज्ञातेषु तथादेशं यथाऽष्टकायै स्वाहेति जुहोति ।

२४. स्थालीपाकावृताऽन्यत् ।

२५. ऋणे प्रज्ञायमाने गोलकानां मध्यमपर्णेन जुहुयात्यत् कुसीदमिति ।

२६. अथातो हलाभियोगः ।

२७. पुण्ये नक्षत्रे स्थालीपाकं श्रपयित्वैताभ्यो देवताभ्यो जुहुयात् इन्द्राय मरुद्भ्यः पर्जन्यायाशन्यै भगाय ।

२८. सीतामाशामरडामनघां च यजेत् ।

२९. एता एव देवताः सीतायज्ञखलयज्ञप्रवपणप्रलवन पर्ययणेषु ।

३०. आखुराजं चोत्करेषु यजेत ।

३१. इन्द्राण्याः स्थालीपाकः ।

३२. तस्य जुहुयादेकाष्टका तपसा तप्यमानेति।

३३. स्थालीपाकावृताऽन्यत् स्थालीपाकावृताऽन्यत् ।

[पञ्चमकण्डिकायाम्]

१. काम्येष्वत ऊर्ध्वम् ।

२. पूर्वेषु चैके ।

३. पश्चादग्नेर्भूमौ न्यञ्चौ पाणी प्रतिष्ठाप्येदं भूमेर्भजामह इति ।

४. वस्वन्तं रात्रौ धनमिति दिवा ।

५. इमं स्तोममिति तृचेन परिसमूहेत् ।

६. वैरूपाक्षः पुरस्ताद्धोमानाम् ।

७. काम्येषु च प्रपदः ।

८. तपश्च तेजश्चेति जपित्वा प्राणायाम-मायम्यार्थमना वैरूपाक्षमारभ्योच्छ्वसेत्।

९. काम्येषु त्रिरात्राभोजनम् ।

१०. त्रीणि वा भक्तानि ।

११. नित्यप्रयुक्तानान्तु प्रथमप्रयोगेषु ।

१२. उपोष्य तु यजनीयप्रयोगेषु ।

१३. उपरिष्टाद् दैक्षं सान्निपातिकम् ।

१४. अरण्ये प्रपदं प्रयुञ्जीत दर्भेष्वासीनः प्राक्कूलेषु ब्रह्मवर्चसकामः ।

१५. उदक्कूलेषु पुत्रपशुकामः ।

१६. उभयेषूभयकामः ।

१७. पशुस्वस्त्ययनकामो व्रीहियवहोमं प्रयु-ञ्जीत सहस्रबाहुर्गौपत्य इति ।

१८. कौतोमतेन महावृक्षफलानि परिजप्य प्रयच्छेत्।

१९. यस्याऽऽत्मनि प्रसादमिच्छेत् तस्मै ।

२०. एकभूयांस्यात्मनो युग्मानि कुर्यात् ।

२१. वृक्ष इवेति पञ्चर्चः ।

२२. तस्मिन् प्रथमं पार्थिवं कर्म ।

२३. अर्धमासमभुक्त्वा ।

२४. अशक्तौ वा पेयामन्यतरं कालं यत्राऽऽ-त्मानं परिपश्येत् ।

२५. एतद् व्रतमर्धमासव्रतेषु ।

२६. पौर्णमास्यां रात्रावविदासिनि ह्रदे नाभिमात्रमवगाह्याक्षततण्डुलानृगन्ते-ष्वास्येन जुहुयात् स्वाहेत्युदके।

२७. अथापरम् ।

२८. प्रथमयादित्यमुपतिष्ठेत भोगकामोऽर्थ-पतिचक्षुर्विषये सिध्यत्यर्थः ।

२९. द्वितीययादित्ये परिविष्यमाणेऽक्षत तण्डु-लान् जुहुयाद् बृहत्पत्रस्वस्त्ययन-कामः ।

३०. तृतीयया चन्द्रमसि तिलतण्डुलान् क्षुद्र-पशुस्वस्त्ययनकामः ।

३१. चतुर्थ्यादित्यमुपस्थायार्थान् प्रपद्येत स्व-स्त्यर्थवानागच्छति ।

३२. पञ्चम्यादित्यमुपस्थाय गृहान् प्रपद्येत स्वस्ति गृहानागच्छति, स्वस्ति गृहाना-गच्छति ।

[षष्ठकण्डिकायाम्]

१. भूरित्यनकाममारं नित्यं प्रयुञ्जीत ।

२. न पापरोगान्नाभिचाराद् भयम् ।

३. अलक्ष्मीनिर्णोदः ।

४. यजनीयप्रयोगः ।

५. मूर्ध्नोऽधि म इत्येकैकया ।

६. या तिरश्चीति सप्तमी ।

७. वामदेव्यर्चः ।

८. महाव्याहृतयः ।

९. प्रजापत इत्युत्तमा ।

१०. यशोऽहं भवामीति यशस्काम आदित्य-मुपतिष्ठेत पूर्वाह्नमध्यन्दिनापराह्णेषु प्रातरह्नस्येति सन्नामयन् ।

११. सन्धिवेलयोरुपस्थानं स्वस्त्ययन–मादित्यनावमित्युद्यन्तं त्वादित्या–नूदियासमिति पूर्वाह्णे प्रतितिष्ठन्तं त्वादित्यानुप्रतितिष्ठासमित्यपराह्णे ।

१२. आचितशतकामोऽर्धमासव्रतस्तामिस्रादौ व्रीहिकांसौदनं ब्राह्मणान् भोजयित्वा।

१३. तस्य कणानपरासु सन्धिवेलासु प्रत्यग्ग्रामान्निष्क्रम्य चतुष्पथेऽ–ग्निमुपसमाधायाऽऽदित्यमभिमुखो जुहुयात् भल्लाय स्वाहा भल्लाय स्वाहेति ।

१४. एतयैवाऽऽवृताऽपरौ तामिस्रौ ।

१५. तामिस्रान्तरेषु ब्रह्मचारी स्यादा समापनादा समापनात् ।

[सप्तमकण्डिकायाम्]

१. अवसानं जोषयेत ।

२. समं लोमशमविभ्रंशि ।

३. प्राच्य उदीच्यो वा यत्राऽऽपः प्रवर्त्तेरन्।

४. अक्षीरिण्योऽकण्टका अकटुका यत्रौ–षधयः स्युः।

५. गौरपांसु ब्राह्मणस्य ।

६. लोहितपांसु क्षत्रियस्य ।

७. कृष्णपांसु वैश्यस्य ।

८. स्थिराघातमेकवर्णमशुष्कमनूषरममरुपरिहितमकिलिनम् ।

९. दर्भसम्मितं ब्रह्मवर्चसकामस्य ।

१०. बृहत्तृणैर्बलकामस्य ।

११. मृदुतृणैः पशुकामस्य ।

१२. शादासम्मितं मण्डलद्वीपसम्मितं वा।

१३. यत्र वा श्वभ्राः स्वयं खाताः सर्वतोऽभि–मुखाः स्युः ।

१४. तत्रावसानं प्राग्द्वारं यशस्कामो बलकामः कुर्वीत ।

१५. उदग्द्वारं पुत्रपशुकामः ।

१६. दक्षिणद्वारं सर्वकामः ।

१७. न प्रत्यग्द्वारं कुर्वीत ।

१८. अनुद्वारं च गृहद्वारम् ।

१९, यथा न संलोकी स्यात् ।

२०. वर्जयेत् पूर्वतोऽश्वत्थं प्लक्षं दक्षिणतस्तथा । न्यग्रोधमपराद् देशाद् उत्तरा–च्चाप्युदुम्बरम्।

२१. अश्वत्थादग्निभयं ब्रूयात् प्लक्षाद् ब्रूयात् प्रमायुकान् । न्यग्रोधाच्छस्त्रसंपीडा–मक्ष्यामयमुदुम्बरात् ।

२२. आदित्यदेवतोऽश्वत्थः प्लक्षो यमदेवतः। न्यग्रोधो वारुणो वृक्षः प्राजापत्य उदु–म्बरः।

२३. तानस्वस्थानस्थान् कुर्वीत ।

२४. एताश्चैव देवता अभियजेत ।

२५. मध्येऽग्निमुपसमाधाय कृष्णया गवा यजेत ।

२६. अजेन वा श्वेतेन ।

२७. सपायसाभ्याम् ।

२८. पायसेन वा ।

२९. वसामाज्यं मांसं पायसमिति संयूय ।

३०. अष्टगृहीतं गृहीत्वा जुहुयात् ।

३१. वास्तोष्पत इति प्रथमा वामदेव्यर्चो महाव्याहृतय इत्युत्तमा ।

३२. हुत्वा दश बलीन् हरेत् ।

३३. प्रदक्षिणं प्रतिदिशम् ।

३४. अवान्तरदेशेषु ।

३५. आनुपूर्व्येणाव्यतिहरन् ।

३६. इन्द्रायेति पुरस्ताद् वायव इत्यवान्तरदेशे यमायेति दक्षिणतः पितृभ्य इत्यवान्तर-देशे वरुणायेति पश्चान्महा राजायेत्य-वान्तरदेशे सोमायेत्युत्तरतो महेन्द्राये-त्यवान्तरदेशे वासुकय इत्यधस्तादूर्ध्वं नमो ब्राह्मण इति दिवि ।

३७. प्राच्यूर्ध्वावाचीभ्योऽहरहर्नित्यप्रयोगः ।

३८. संवत्सरे संवत्सरे नवयज्ञयोर्वा ।

[अष्टमकण्डिकायाम्]

१. श्रवणाग्रहायणीकर्मणोरक्षताञ्छिष्ट्वा ।

२. प्राङ् वोदङ् वा ग्रामान्निष्क्रम्य चतुष्पथे-ऽग्निमुपसमाधाय हये राक इत्येकै-कयाऽञ्जलिना जुहुयात् ।

३. प्राङुत्क्रम्य वसुवन एधीत्यूर्ध्वमुदीक्षमाणो देवजनेभ्यः ।

४. तिर्यङ्ङितरजनेभ्योऽर्वाङ्वेक्षमाणः ।

५. अनवेक्षमाणः प्रत्येत्याक्षतान् प्राश्नीयात्।

६. उपेतैरमात्यैः सह ।

७. स्वस्त्ययनम् ।

८. वशंगमौ शंखश्चेति पृथगाहुती व्रीहियव-होमौ प्रयुञ्जीत ।

९. यस्याऽऽत्मनि प्रसादमिच्छेत् तस्मै ।

१०. नित्यप्रयोगः ।

११. एकाक्षर्यायामर्धमासव्रते द्वे कर्मणी ।

१२. पौर्णमास्यां रात्रौ खदिरशंकुशतं जुहुया-दायुष्कामः ।

१३. आयसान् वधकामः ।

१४. अथापरम् ।

१५. प्राङ् वोदङ् वा ग्रामान्निष्क्रम्य चतुष्पथे पर्वते वारण्यैर्गोमयैः स्थण्डिलं प्रताप्या-पोह्यांगारान् मन्त्रं मनसाऽनुद्रुत्य सर्पि-रास्येन जुहुयात् ।

१६. ज्वलन्त्यां द्वादश ग्रामाः ।

१७. धूमे त्र्यवराद्धर्याः ।

१८. अमोघं कर्मेत्याचक्षते ।

१९. वृत्त्यविच्छित्तिकामो हरितगोमयान् सायं प्रातर्जुहुयात् ।

२०. त्रिरात्रोपोषितः पण्यहोमं जुहुयादिद-महमिमं विश्वकर्माणमिति ।

२१. वाससस्तन्तून् गोर्बालान् ।

२२. एवमितरेभ्यः पण्येभ्यः ।

२३. पूर्णहोमो यजनीयप्रयोगः ।

२४. इन्द्रामवदादिति च ।

२५. यशस्कामः पूर्वौ सहायकाम उत्तराम् ।

[नवमकण्डिकायाम्]

१. पुरुषाधिपत्यकामोऽष्टरात्रमभुक्त्वा ।

२. औदुम्बरान् स्रुवचमसेध्मानुपकल्पयित्वा।

३. प्राङ् वोदङ् वा ग्रामान्निष्क्रम्य चतुष्पथेऽ–ग्निमुपसमाधाय ।

४. आज्यमादित्यमभिमुखो जुहुयात्अन्नं वा एकच्छन्दस्यं श्रीर्वा एषेति च ।

५. अन्नस्य घृतमेवेति ग्रामे तृतीयाम् ।

६. गोष्ठे पशुकामः ।

७. विदूयमाने चीवरम् ।

८. प्रतिभयेऽध्वनि वस्त्रदशानां ग्रन्थीन् बध्नीत ।

९. उपेत्य वसनवतः स्वाहाकारान्ताभिः ।

१०. सहायानाञ्च स्वस्त्ययनम् ।

११. आचितसहस्रकामोऽक्षतसक्त्वाहुतिसहस्रं जुहुयात् ।

१२. पशुकामो वत्समिथुनयोः पुरीषाहुतिसहस्रं जुहुयात् ।

१३. अविमिथुनयोः क्षुद्रपशुकामः ।

१४. वृत्त्यविच्छित्तिकामः कम्बूकान् सायं प्रातर्जुहुयात् क्षुधे स्वाहा क्षुत्पिपासाभ्यां स्वाहेति ।

१५. मा भैषीर्न मरिष्यसीति विषवता दष्ट–मद्भिरभ्युक्षञ्जपेत् ।

१६. तुर गोपायेति स्नातकः संवेशनवेलायां वैणवं दण्डमुपनिदधीत ।

१७. स्वस्त्ययनार्थम् ।

१८. हतस्ते अत्रिणा क्रिमिरिति क्रिमिमन्तं देशमद्भिरभ्युक्षञ्जपेत् ।

१९. पशूनां चेच्चिकीर्षेदपराह्णे सीतालोष्ठ–माहृत्य वैहायसं निदध्यात् ।

२०. तस्य पूर्वाह्णे पांशुभिः परिकिरञ् जपेत् ।

[दशमकण्डिकायाम्]

१. उत्तरतो गां बद्ध्वोपतिष्ठेरन् अर्हणा पुत्रवाससेति ।

२. इदमहमिमां पद्यां विराजमन्नाद्याया–धितिष्ठामीति प्रतितिष्ठमानो जपेत् ।

३. यत्रैनमर्हयिष्यन्तः स्युः ।

४. यदा वाऽर्हयेयुः ।

५. विष्टरपाद्यार्घ्याचमनीयमधुपर्कानेकैक–शस्त्रिस्त्रिर्वेदयेरन् ।

६. या ओषधीरित्युदञ्चं विष्टरमास्तीर्याध्युपविशेत् ।

७. द्वौ चेत् पृथगृग्भ्याम् ।

८. पादयोरन्यम् ।

९. यतो देवीरित्यपः प्रेक्षेत ।

१०. सव्यं पादमवनेनिज इति सव्यं पादं प्रक्षालयेत् दक्षिणं पादमवनेनिज इति दक्षिणं पादं प्रक्षालयेत् ।

११. पूर्वमन्यमपरमन्यमित्युभौ शेषेण ।

१२. अन्नस्य राष्ट्रिरसीत्यर्घ्यं प्रतिगृह्णीयात् ।

१३. यशोऽसीत्याचमनीयमाचामेत् ।

१४. यशसो यशोऽसीति मधुपर्कं प्रति–गृह्णीयात् ।

१५. यशसो भक्षोऽसि महसो भक्षोऽसि श्रीर्भ–क्षोऽसि श्रियं मयि धेहीति त्रिः पिबेत् ।

१६. तूष्णीं चतुर्थम् ।

१७. भूय एवाभिपाय शेषं ब्राह्मणाय दद्यात् ।

१८. आचान्तोदकाय गौरिति नापितस्त्रि-ब्रूयात्।

१६. मुञ्च गां वरुणपाशाद् द्विषन्तं मेऽभिधेहीति तं जह्यमुष्य चोभयोरुत्सृज गामत्तु तृणानि पिबतूदकम् इति ब्रूयात्।

२०. माता रुद्राणामित्यमुमन्त्रयेत् ।

२१. अन्यत्र यज्ञात् ।

२२. कुरुतेत्यधियज्ञम् ।

२३. षडर्घ्यार्हा भवन्ति ।

२४. आचार्य ऋत्विक् स्नातको राजा विवाह्यः प्रियोऽतिथिरिति ।

२५. परिसंवत्सरानर्हयेयुः ।

२६. पुनर्यज्ञविवाहयोश्च पुनर्यज्ञविवाहयोश्च।

— —*— —

गोभिलीयश्राद्धकल्प–सूत्रपाठः

[प्रथमकण्डिकायाम्]

१. अथ श्राद्धम् ।

२. अमावस्यायां पितृभ्यो दद्यात् ।

३. पञ्चमीप्रभृति वाऽपरपक्षस्य ।

४. यदहरुपपद्येत ।

५. तदहर्ब्राह्मणानामन्त्र्य पूर्वेद्युर्वा ।

६. अनिन्द्येनाऽऽमन्त्रितो नापक्रामेत् ।

७. स्नातकान् ।

८. एके यतीन् ।

६. गृहस्थसाधून् वा ।

१०. श्रोत्रियान् ।

११. वृद्धान् ।

१२. अनवद्यान् ।

१३. स्वकर्मस्थान् ।

१४. अभावेऽपि शिष्यान् स्वाचारान् ।

१५. द्विर्नग्नशुक्ल विक्लिधश्यावदन्तविद्ध-प्रजनन व्याधिताधिकव्यंगिश्वित्रि कुष्ठि कुनखिवर्जम्।

१६. स्नातान् शुचीनाचान्तान् प्राङ्मुखानुप-वेश्य दैवे युग्मान् ।

१७. अयुग्मान् यथाशक्ति पित्र्य एकैक-स्योदङ्मुखान् ।

१८. द्वौ वा दैवे त्रीन् पित्र्ये ।

१६. एकैकमुभयत्र वा ।

२०. मातामहानाञ्चैवम् ।

२१. तन्त्रं वा वैश्वदेविकम् ।

२२. दैवपूर्वं श्राद्धं कुर्वीत ।

२३. पिण्डपितृयज्ञवदुपचारः ।

२४. पित्र्ये द्विगुणांस्तु दर्भान् ।

२५. पवित्रपाणिर्दद्यादासीनः ।

२६. सर्वत्र प्रश्नेषु पंक्तिमूर्धन्यं पृच्छति ।

२७. सर्वान् वा ।

[द्वितीयकण्डिकायाम्]

१. आसनेषु दर्भानास्तीर्य ।

२. यवानादायोंङ्कारं कृत्वा विश्वान् देवानावाहयिष्ये इति पृच्छति ।

३. आवाहयेत्यनुज्ञातः विश्वे देवास आगत। श्रृणुता म इमं हवमेदं बर्हिर्निषीदत, विश्वेदेवाः श्रृणुतेमं हवं मे ये अन्तरीक्षे य उप द्यवि ष्ठ ये अग्निजिह्वा उत वा यजत्रा आसद्यास्मिन् बर्हिषि मादयध्वम् । ओषधयः संवदन्ते सोमेन सह राज्ञा यस्मै कृणोति ब्राह्मणस्तं राजन् पारयामसीति ।

४. अथ पितृनावाहयिष्य इति पृच्छति ।

५. आवाहयेत्यनुज्ञातः उशन्तस्त्वा निधीमह्युशन्तः समिधीमहि उशन्नुशत आवह पितृन् हविषे अत्तवे । एत पितरः सोम्यासो गम्भीरेभिः पथिभिः पूर्वीणेभिर्दत्तास्मभ्यं द्रविणेह भद्रं रयिञ्च नः सर्ववीरं नियच्छत । आयन्तु नः पितरः सोम्यासोऽग्निष्वात्ताः पथिभिर्देवयानैः। अस्मिन् यज्ञे स्वधया मदन्तोऽधि ब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मानिति ।

६. अपहता असुरा रक्षांसि वेदिषद इति तिलैरन्ववकीर्याप उपस्पृशति ।

७. यज्ञियवृक्षचमसेषु पवित्रान्तर्हितेषु ।

८. एकैकस्मिन्नप आसिञ्चतिशन्नो देवीरिति।

९. एकैकस्मिन्नेव यवानावपति यवोऽसि यवयास्मद्द्वेषो यवयारातीरिति ।

१०. पितृनेकैकस्मिन्नेव तिलानावपति– तिलोऽसि सोमदेवत्यो गोसवो देवनिर्मितः । प्रत्नमद्भिः पृक्तः स्वधया पितृन् लोकान् प्रीणाहि नः स्वाहेति।

११. सौवर्णराजतौदुम्बरखड्गमणिमयानां पात्राणामन्यतमेषु वा ।

१२. पत्रपुटेषु ।

१३. यानि वा विद्यन्ते ।

१४. एकैकस्यैकैकेन ददाति सपवित्रेषु हस्तेषु ।

१५. या दिव्या आपः पयसा सम्बभृवुर्या अन्तरिक्ष्या उत पार्थिवीर्या हिरण्यवर्णा यज्ञियास्ता न आपः शिवाः शं स्योनाः सुहवा भवन्तु असावेतत् ते अर्घ्यं ये चात्र त्वामनु यांश्च त्वमनु तस्मै ते स्वधेति ।

१६. अप उपस्पृश्यैवमेवेतरयोः ।

१७. प्रथमे पात्रे संस्रवान् समवनीय पात्रं न्युब्जं कृत्वा शुन्धन्तां लोकाः पितृषदनाः पितृषदनमसि पितृभ्यः स्थानमसीति ।

१८. अत्र गन्धपुष्पधूपदीपाच्छादनानां प्रदानम् ।

१९. उद्धृत्य घृताक्तमन्नं पृच्छत्यग्नौ करिष्या–मीति।

२०. कुर्वित्यनुज्ञातः पिण्डपितृयज्ञवद्धुत्वा ।

२१. हुतशेषं ब्राह्मणाय दत्त्वा ।

२२. पात्रमालभ्य जपेत्पृथिवी ते पात्रं द्यौः पिधानं ब्राह्मणस्य मुखे अमृते अमृतं जुहोमि स्वाहेति।

२३. वैष्णव्यर्चा यजुषा वाऽंगुष्ठमन्नेऽवधाय।

२४. सकृत् सकृदपो दत्त्वा ।

२५. मधु वाता इति तृचं जपित्वा मधु च त्निर्जप्त्वाऽश्नत्सु जपेत् ।

२६. व्याहृतिपूर्वां सावित्रीं तस्याञ्चैव गायत्रं पित्र्याञ्च संहितां माधुच्छन्दसीञ्च ।

२७. स्वर्गे लोके महीयते दत्तञ्चास्याक्षयं भवति ।

२८. तृप्तिं ज्ञात्वाऽन्नं प्रकीर्य ये अग्नि दग्धा जीवा येऽप्यदग्धाः कुले मम। भूमौ दत्तेन तृप्यन्तु तृप्ता यान्तु परां गतिमिति ।

२९. सकृत् सकृदपो दत्त्वा पुनर्मधुवातां मधु च त्रिर्जप्त्वा तृप्ताः स्थेति पृच्छति ।

३०. तृप्ताः स्म इत्युक्ते शेषमन्नमनुज्ञाप्य ।

३१. सर्वमन्नमेकत्रोद्धृत्योच्छिष्टसमीपे दर्भेषु त्रींस्त्रीन् पिण्डानवनेनिज्य दद्यात् ।

३२. आचान्तेषूदकं पुष्पाण्यक्षतानक्षय्योद–कञ्च दद्यात् ।

३३. अघोराः पितरः सन्तु, सन्त्वित्युक्ते, गोत्रं नो वर्धताम्, वर्धतामित्युक्ते, स्वधानिनयनीयान् दर्भान् सपवित्रानास्तीर्य, स्वधां वाचयिष्य इति पृच्छति ।

३४. वाच्यतामित्यनुज्ञातः पितृभ्यः पितामहेभ्यः प्रपितामहेभ्यो मातामहेभ्यः प्रमाता–महेभ्यो वृद्धप्रमातामहेभ्यश्च स्वधोच्य–तामिति ।

३५. अस्तु स्वधेत्युक्ते स्वधानिनयनीये धारां दद्यादूर्जं वहन्तीरित्युत्तानं पात्रं कृत्वा।

३६. विश्वे देवाः प्रीयन्तामिति दैवे वाचयित्वा पिण्डपात्राणि चालयित्वा यथाशक्ति दक्षिणां दद्यात् ।

३७. दातारो नोऽभिवर्धन्तां वेदाः सन्ततिरेव च । श्रद्धा च नो मा व्यगमद् बहुदेयञ्च नो अस्तु, अन्नञ्च नो बहु भवेदतिथींश्च लभेमहि, याचितारश्च नः सन्तु मा च याचिष्म कञ्चनेत्येता एवाऽऽशिषः सन्तु ।

३८. सन्त्वित्युक्ते स्वस्ति वाच्याऽऽशिषः प्रतिगृह्य।

३९. वाजे वाजेऽवत वाजिनो नो धनेषु विप्रा अमृता ऋतज्ञाः, अस्य मध्वः पिबत मादयध्वं तृप्ता यात पथिभिर्देवयानैः।

४०. आ मा वाजस्य प्रसवो जगम्यादेमे द्यावापृथिवी विश्वरूपे, आमा गन्तां पितरा मातरा चामा सोमो अमृतत्वेन गम्यादित्यासीमान्तमनुव्रज्याभिवाद्य प्र–दक्षिणीकृत्य वामदेव्यं गीत्वा प्रविशति ।

[तृतीयकण्डिकायाम्]

१. अथैकोद्दिष्टम् ।
२. एकं पवित्रम् ।
३. एकोऽर्घ्यः ।
४. एकः पिण्डः ।
५. नाऽऽवाहनम् ।
६. नाग्नौकरणम् ।
७. नात्र विश्वे देवाः ।
८. स्वदितमिति तृप्तिप्रश्नः ।
९. उपतिष्ठतामित्यक्षय्यदाने ।
१०. अभिरम्यतामिति विसर्गः ।
११. अथ सपिण्डीकरणम् ।
१२. पूर्णे संवत्सरे षण्मासे त्रिपक्षे वा ।
१३. यदहर्वा वृद्धिरापद्येत ।
१४. तदहश्चत्वार्युदकपात्राणि सतिलगन्धोदकानि पूरयित्वा ।
१५. त्रीणि पितृणामेकं प्रेतस्य ।
१६. प्रेतपात्रं पितृपात्रेष्वासिञ्चतिये समानाः समनसः पितरो यमराज्ये । तेषां लोकः स्वधा नमो यज्ञो देवेषु कल्पताम् । ये समानाः समनसो जीवा जीवेषु मामकाः । तेषां श्रीर्मयि कल्पतामस्मिन् लोके शतं समा इति ।

[चतुर्थकण्डिकायाम्]

१. अथाऽऽभ्युदयिकं श्राद्धे ।
२. युग्मानाशयेत् ।
३. प्रदक्षिणमुपचारः ।
४. ऋजवो दर्भाः ।
५. यवैस्तिलार्थः ।
६. सम्पन्नमिति तृप्तिप्रश्नः ।
७. दधिवदराक्षतमिश्राः पिण्डाः ।
८. नान्दीमुखाः पितरः प्रीयन्तामित्यक्षय्यदाने।
९. दैवे वाचयित्वा नान्दीमुखेभ्यः पितृभ्यः, पितामहेभ्यः, प्रपितामहेभ्यो मातामहेभ्यः प्रमातामहेभ्यो वृद्धप्रमातामहेभ्यश्च स्वाहोच्यताम् ।
१०. न स्वधां प्रयुञ्जीत ।
११. श्रद्धान्वितः श्राद्धं कुर्वीत ।
१२. शाकेनापि नापरपक्षमतिक्रामेत् ।
१३. मासि मासि वोऽशनमिति श्रुतेरिति श्रुतेरिति।

[पञ्चमकण्डिकायाम्]

१. अथ धर्माः ।
२. तदहस्तत्परः शुचिरक्रोधनोऽत्वरितोऽप्रमत्तः सत्यवादी स्यात् ।
३. अध्व–मैथुन–श्रम–स्वाध्यायान् वर्जयेत्।
४. आवाहनादिवर्ज वाग्यतः ।
५. ओपस्पर्शनात् ।
६. अपि चात्रोदाहरन्ति ।
७. यश्च व्याकुरुते शब्दान् यश्च मीमांसतेऽध्वरम् । सामस्वरविधिज्ञश्च पंक्तिपावनपावनाः, इति ।
८. वागीश्वरो याज्ञिकश्च पंक्तिपावनपावनः,

इति च ।

६. नियोज्यानामभावेऽप्येकं वेदविदं पंक्ति–मूर्धनि नियुञ्ज्याात् काममितरान् ।

१०. अवेदविद्भिराक्रान्तां पंक्ति योजनमाय–ताम्। पुनाति वेदविद्ध्योको नियुक्तः पंक्तिमूर्धनि नियुक्तः पंक्तिमूर्धनि ।

[षष्ठकण्डिकायाम्]

१. अथ तृप्तीः ।

२. ग्राम्याभिरोषधीभिर्मासं तृप्तिः ।

३. तदलाभे आरण्याभिः ।

४. मूलफलैरद्भिर्वा ।

५. सहान्नेनोत्तरास्तर्पयन्ति ।

६. छागोस्त्रमेषा आलभ्याः ।

७. शेषाणि क्रीत्वा लब्ध्वा वा स्वयं मृतानां वा आहृत्य पचेत् ।

८. मासद्वयं मत्स्यैः ।

६. मासत्रयं हारिणेन मृगमांसेन ।

१०. चतुरः शाकुनेन ।

११. पञ्च रौरवेण ।

१२. षट् छागेन ।

१३. सप्त कौर्मेण ।

१४. अष्टौ वाराहेण ।

१५. नव मेषमांसेन ।

१६. दश माहिषेण ।

१७. एकादश पार्षतेन ।

१८. संवत्सरन्तु गव्येन पयसा ।

१६. पायसेन वा ।

२०. वार्ध्रीणसस्य मांसेन द्वादश वर्षाणि ।

[सप्तमकण्डिकायाम्]

१. अथाक्षय्यतृप्तीः ।

२. खड्गः ।

३. कालशाकम् ।

४. लोहितच्छागः ।

५. मधु ।

६. महाशल्कः ।

७. वर्षासु मघाश्राद्धम् ।

८. हस्तिच्छायायाञ्च ।

६. मन्त्राध्यायिनः ।

१०. पूताः ।

११. शाखाध्यायी ।

१२. षडंगवित् ।

१३. ज्येष्ठसामगः ।

१४. अपि गायत्रीसारमात्रः ।

१५. त्रिणाचिकेतः ।

१६. त्रिमधुः ।

१७. त्रिसुपर्णः ।

१८. पञ्चाग्निः ।

१६. स्नातकः ।

२०. मन्त्रब्राह्मणवित् ।

२१. धर्मज्ञः ।

२२. ब्राह्मोढापुत्रश्च ।

२३. इति पंक्तिपावनाः ।

२४. आ सहस्रात् पंक्ति पुनातीति वचनादा–सहस्रात् पंक्ति पुनातीति वचनात् ।

[अष्टमकण्डिकायाम्]

१. अथ काम्यानां तिथयः ।
२. पुत्रोऽभिरूपः प्रतिपदि ।
३. द्वितीयायां स्त्रीजन्मा ।
४. अश्वास्तृतीयायाम् ।
५. चतुर्थ्यां क्षुद्रपशवः ।
६. पञ्चम्यां पुत्रभागी ।
७. द्यूतर्द्धिः षष्ठ्याम् ।
८. कृषिः सप्तम्याम् ।
९. अष्टम्यां वाणिज्यम् ।
१०. आरोग्यं नवम्याम् ।
११. दशम्यां गावः ।
१२. परिचारका एकादश्याम् ।
१३. द्वादश्यां धनधान्यं कुप्यं हिरण्यञ्च।
१४. ज्ञातिश्रैष्ठ्यञ्च त्रयोदश्याम् ।
१५. युवानस्तत्र म्रियन्ते ।
१६. शस्त्रहतस्य चतुर्दश्याम् ।
१७. अमावस्यायां सर्वमित्यमावस्यायां सर्व–मिति।

— —*— —

गोभिलीयसन्ध्यासूत्रपाठः

[प्रथमकण्डिकायाम्]

१. अथातः सन्ध्योपासनविधिं व्याख्या–स्यामः।
२. सुप्रक्षालितपाणिपादवदन उप विश्योप–स्पृश्य ।
३. प्रागग्रेषु दर्भेषु प्राङ्मुख उदङ्मुखो वा बद्धशिखी यज्ञोपवीती ।
४. तत ॐपूर्वा भूर्भुवः स्वर्महर्जनस्तपः सत्यमिति सप्त व्याहृतयः सप्रणवा गायत्र्यापोज्योती रसोऽमृतमिति शिरः।
५. दशप्रणवसंयुक्तस्त्रिरभ्यस्तः पूरककुम्भ–करेचकाख्यः प्राणायामः ।
६. एवं त्रीन् कृत्वा सप्त वा षोडश वा आचामेत्।
७. ततो मार्जनम् ।
८. प्रणवेन महाव्याहृतिभिस्तिसृभिर्गायत्र्या आपोहिष्ठाभिस्तिसृभिः ।
९. अथोदकं हस्ते कृत्वा तत्र नासिकाम–वधायाऽऽयतासुरनायतासुर्वा जपेदृतञ्च सत्यञ्चेति ।
१०. त्रीनुदकाञ्जलीनादित्यं प्रति क्षिपेत् सावित्र्या ।
११. तत उपस्थानम् उदु त्यं चित्रमिति ।

१२. ध्यानयुक्तमावर्तयेदोंपूर्वां गायत्रीम् ।

१३. अष्टकृत्व एकादशकृत्वो द्वादशकृत्वः पञ्चदशकृत्वः शतकृत्वः सहस्रकृत्वश्चेति ।

१४. अष्टकृत्वः प्रयुज्य पृथिवीमभि जयत्येकादशकृत्वोऽन्तरीक्षं द्वादशकृत्वो दिवं पञ्चदशकृत्वः सर्वा दिशो जयति शतकृत्वः सर्वान् सहस्रकृत्वो यत्किञ्चित् सर्वमिति ।

१५. अथ य इमां सन्ध्यां नोपास्ते नाऽऽचष्टे न स जयति ।

१६. ये तूपासते श्रोत्रिया भवन्तीति ।

१७. उपनीताश्छेदनभेदनभोजनमैथुनस्वप्नस्वाध्यायानाचरन्ति ये सन्ध्याकाले ते श्वशूकरशृगालगर्दभसर्पयोनिष्वभि सम्पद्यमानास्तमोऽभिसम्पद्यन्ते ।

१८. तस्मात् सायं प्रातः सन्ध्यामुपासीत । उदुत्यं चित्रमुद्वयं तमसम्परि भासं प्रागन्यदनुवर्तते । उन्नयं गायत्र्यनुगानं प्रातः प्राङ्मुखस्तिष्ठन् जपेत् ।

२०. एषो उषा अपूर्व्या आवुन्दं वृत्रहा ददे ऋजुनीतिनो वरुणः प्रत्यु अदर्श्यायत्युद्वेदभिश्रुता हवमिति वर्गमस्तं गते शतशो धारा अवकीर्य गायत्र्यनुविसृज्य प्राङ्मुख उपविश्य जपेत् ।

२१. मध्यन्दिने विभ्राड् बृहदासीनो जपेदासीनो जपेदिति ।

— —*— —

गोभिलीयस्नानसूत्रपाठः

[प्रथमकण्डिकायाम्]

१. अथ स्नानविधिं व्याख्यास्यामः ।

२. नदीदेवखातगर्तप्रस्रवणादीन् गत्वा ।

३. शुचौ देशे मृत्तिलकुशगोमयाक्षतानुपकल्प्य ।

४. पारक्यनिपाने पञ्च पिण्डानुद्धृत्य ।

५. नमस्कृत्य तीर्थं पावका नः सरस्वतीति ।

६. पादावारभ्य मृद्भिर्गात्राणि प्रक्षाल्य उपविशेत् ।

७. बद्धशिखो यज्ञोपवीती प्राङ्मुख उदङ्मुखो वा कुशहस्तः शुचिः समाहितः ।

८. अथ सप्त व्याहृतीः सावित्रीं च जप्त्वा ।

९. सप्तकृत्वः सावित्र्याऽनुमन्त्रितं सकृद् उदकमाचामेत् ।

१०. तत आचम्यापो यथा विध्याचम्यापो यथाविधि ।

[द्वितीयकण्डिकायाम्]

१. अथ देवताऽभिसन्धिं कृत्वा ।

२. सहस्रशीर्षा घृतवत्यश्चक्रान्ताभिर्ऋग्भिर्मृत्तिकामादाय ।

३. इदं विष्णुर्विचक्रमे इति षड्चेन संमृज्य।

४. उद्वयं तमसस्परि उदुत्तममिति चोद्ध्वौ पाणी कृत्वादित्यमवेक्षेत ।

५. उद्धृतासि वराहेणामोसीति च प्रति लोमान्यंगान्यभिमृशेरन् ।

६. द्विरेतयैवाऽऽवृता कृत्वा ।

७. गावश्चिदधा समन्यव इत्येतेन गोमयं गात्रेषु मृत्तिकावत् ।

८. ऋतञ्च सत्यञ्चेति त्रिः शुष्काघभर्षणं जपेत् ।

९. ततो देवताऽभिसन्धिं कृत्वा ।

१०. नाभिमात्रजले स्थित्वा ।

११. शन्नो देव्यापोहिष्ठीयाभिः पावमानीभिस्तरत्समन्दीभिरेतोन्विन्द्रं तमुष्टवामनकि इन्द्र इत्याभिर्ऋग्भिः पवित्रवतीभिर्मार्जयित्वा ।

१२. त्रिः प्राणायामं कृत्वा त्रिः प्लुत्य ।

१३. सहस्रशीर्षा इति तृचेनाघमर्षणं जपेत्।

१४. ततस्त्रिराप्लुत्य ।

१५. पुनः शन्नोदेव्यादिभिर्मार्जनञ्च मार्जनञ्च।

[तृतीयकण्डिकायाम्]

१. अथ नित्यवत् सन्ध्यामुपासीत ।

२. उदु त्यं चित्रमायं गौरपत्ये तरणिरुद्यामेष्याभिर्ऋग्भिः सवितुरुपस्थानम् ।

३. नमो ब्राह्मणे इत्युपजाय चेत्यन्ते ।

४. अग्निस्तृप्यत्विति च तृप्यतां वा ।

५. सर्वत्र सव्येनैतांस्तर्पयेत् ।

६. अथापसव्येन ।

७. राणायनिशटीति ।

८. अथ कव्यंबालादयो दिव्या यमाश्च ।

९. अथाऽऽत्मीयांस्त्रीन् पितृतस्त्रीन् मातृतो मातामहांश्च तत्पत्नीश्चेति पितृतर्पणम्।

१०. सनकादयश्च निवीतमिति मनुष्यधर्माः।

११. ततः प्रत्युपस्थानं गायत्र्यष्टशतादीन् जप्त्वा ।

१२. भासं दशस्तोभमुन्नयं गायत्रीसामौशनं शुद्धाशुद्धीय राजनरौहिणके बृहद्रथन्तरे पुरुषगतिर्महानाम्न्यो महादिवाकीर्त्त्यं ज्येष्ठसामानि देवव्रतानि पुरुषव्रतानुगानं तवश्यावीयमादित्यव्रतमेकविंशत्यनुगानम् ।

१३. पर्कादारभ्य यथाशक्त्यहरहर्ब्रह्मयज्ञ इति गोभिलीया गोभिलीयाः ।

— —*— —



प्रधान शाखा :

फोन (दु.) ३२०४१४
(घर) ३३५९२९

चौखम्भा संस्कृत भवन

पोस्ट बाक्स नं० ११६०

चौक (दी बनारस स्टेट बैंक बिल्डिंग)

वाराणसी - २२१००१ (भारत)